आचार्य

बाबू गुलाबराय

स्मृति अंक

★

साहित्य-सन्देश

सम्पादक

महेन्द्र

(इस अंक का मूल्य १)

वार्षिक शुल्क

वर्ष

२५

अङ्क

'साहित्य-सन्देश' आगरा की विगत १२ वर्षों की फाइलों का विवरण

सन्	पाठ्य सामग्री की पृष्ठ संख्या	लेखों की संख्या	विशेषाङ्क जो सम्मिलित हैं	मूल्य	डाक-व्यय
१९५१-५२	५३२	१०५	आलोचनाङ्क	१)	१)६६
१९५२-५३	५१८	११४	कहानी अङ्क	१)	१)५४
१९५३-५४	५१८	१०९	आधुनिक काव्याङ्क	१)	१)६६
१९५४-५५	४८०	९६			१)६६
१९५५-५६	५०१	१०८	अन्त: प्रान्तीय नाटकाङ्क	१)५०	१)५४
१९५६-५७	५०१	११८	आधुनिक उपन्यास अङ्क	१)	१)७८
१९५७-५८	५५६	१२८	(१) भाषा विज्ञान विशेषाङ्क	२)	१)८४
			(२) प्रगति विशेषाङ्क	१)	
१९५८-५९	५५८	१३४	(१) सन्त-साहित्य विशेषाङ्क	१)५०	१)९०
			(२) ऐतिहासिक उपन्यास अङ्क	२)	
१९५९-६०	५२०	१२४	(१) रीतिकाव्यालोचनाङ्क	२)	१)८४
			(२) प्रगति अङ्क १९६०	१)	
१९६०-६१	५०८	१०५	(१) शोध विशेषाङ्क	२)	१)९०
			(२) प्रगति विशेषाङ्क १९६१	१)	
१९६१-६२	५८४	१३४	(१) निबन्ध विशेषाङ्क	२)	१)९५
			(२) निराला विशेषाङ्क	१)	
१९६२-६३	५२५	१२४	(१) साहित्य-शास्त्र विशेषांक	१)५०	१)९५
			(२) रांगेय राघव स्मृति अंक	१)	

मोटी वसली की जिल्द, आवरण पृष्ठ और विषय-सूची के साथ

प्रत्येक फाइल का मूल्य ६) है। पृथक-पृथक मँगाने पर डाक-व्यय २१)२२ न० पै० लगेंगे जैसा प्रत्येक फाइल के सामने लिखा है। पूरा सैट एक साथ मँगाने पर ७२) में रेल से हम अपने खर्चे पर आपके पास भेज देंगे। आर्डर भेजते समय आप अपने रेलवे स्टेशन का नाम लिखें।

पहले पाँच वर्षों की फाइल बहुत कम बची हैं।

'साहित्य-सन्देश'

आलोचना-प्रधान मासिक-पत्र वार्षिक मूल्य ५)

पता—'साहित्य-सन्देश' कार्यालय, आगरा।

बा० गुलाबराय स्मृति अङ्क

विषय-सूची

साहित्य सन्देश

सम्पादक : महेन्द्र सहकारी : मक्खनलाल शर्मा

भाग २५] आगरा—जुलाई-अगस्त १९६३ [अङ्क १–२

श्रद्धांजलि

स्वर्गीय श्री बा० गुलाबराय के प्रति

साहित्य-साधना से सुयश-ज्योति को जगाय।
तन त्याग स्वर्ग चल दिये बाबू गुलाबराय!

दर्शन-शास्त्र-प्रवीण सुधी, साहित्य-प्रसारक,
लेखक, वक्ता, नेता, चेता, विज्ञ विचारक।
निस्पृह जन-सेवक, सद्गुरु, अध्यापक, पण्डित,
विनय, स्नेह, शुचिता, ऋजुता, गुण-गरिमा-मण्डित।

समता रही सदैव कर्म्म में और कथन में,
सत् सेवा-व्रत धार रमे साहित्य-सृजन में।
हो सजीवता जीवन में वह वृद्ध नहीं है,
विना धर्म्म के कोई सुखी समृद्ध नहीं है।

सहृदयता से धर्म्म-कर्म्म का स्रोत बहाता,
वही वस्तुतः 'मानव' या 'मनुष्य' कहलाता।
बाबूजी ने भी यह 'मानवता' अपनाई,
इसीलिये तो कीर्ति-कौमुदी दस दिशि छाई।

शङ्कर सदन, आगरा

—हरिशङ्कर शर्मा

बाबू गुलाबराय की आत्मकथा

बाबूजी की 'मेरी असफलताएँ' से सङ्कलित

सङ्कलनकर्त्ता—श्री महेन्द्रजी

मेरे जीवन की सबसे बड़ी असफलता यह थी कि मैंने बसन्त पंचमी से एक दिन पहले इस पृथ्वी को भाराक्रान्त किया। मेरा जन्म इटावे में हुआ था। मुहल्ले का नाम तो याद है, उसे छपैटी कहते हैं; लेकिन उस घर का पता नहीं लगा सका जिसमें मेरा जन्म हुआ था। घर का वातावरण धार्मिक था। माताजी सूर और कबीर के पद गाया करती थीं। मुझ पर प्रह्लाद की कथा का बड़ा प्रभाव था। मुझे पूरा विश्वास था कि—'राम कृपा कछु दुर्लभ नाहीं।' मेरे पिताजी ने मेरे पढ़ाने में बहुत दिलचस्पी ली। पढ़ने लिखने के सम्बन्ध में यह कह सकता हूँ कि पढ़ने में तो मुझको रुचि थी लिखने में नहीं।

मेरे पिता सरकारी नौकर थे। उर्दू से उन्हें द्वेष न था। इतना ही नहीं, वे उसका पढ़ना जरूरी समझते थे। तो भी कुछ धार्मिक संस्कार के कारण मेरी शिक्षा का प्रारम्भ 'विस्मिल्ला इर रहमानुर्रहीम' से नहीं हुआ। एक पण्डितजी आये। मुझसे हाथ पकड़ कर, श्री गणेशायनमः' लिखाया गया। अक्षरारम्भ कुछ घर पर हुआ, कुछ पाठशाला में। मुझे मालूम नहीं अक्षर-ज्ञान कराने में किसको कितना श्रेय है। हाँ, इतना अवश्य याद है कि मुझे कोई किताब नहीं दी गई थी। जब तक पाठशाला में पढ़ा तब तक तो दण्ड-विधान लागू नहीं हुआ, शायद तब तक 'पञ्च वर्षाणि लालयेत्' की बात चल रही थी। लेकिन तहसीली स्कूल में आते ही दण्ड-विधान दावे के साथ शुरू हुआ। तहसीली स्कूल के पश्चात् मैं अंग्रेजी शिक्षा के लिये जिला स्कूल में भरती हुआ। वहाँ अँग्रेजी की अतिरिक्त शिक्षा पिताजी ने दी और उर्दू की अतिरिक्त शिक्षा के लिए मकतब जाना पड़ा। मैंने आठवें दर्जे तक फारसी पढ़ी। नवें दर्जे में जब अरबी पढ़ने का सवाल आया तब मैं घबरा उठा। साइन्स पिताजी ने नास्तिक हो जाने के भय से नहीं लेने दी। संस्कृत ली और खुशी से ली। स्कूल के दिनों अंग्रेजी और संस्कृत से मुझे रुचि थी। शेष विषय तो कर्त्तव्य समझ कर अरुचि के साथ पढ़ लेता था। हिसाब से जी चुराकर भागता था। एन्ट्रेंस की परीक्षा के लिये आगरे आया। बाबू बनारसीदास जी की कृपा से वैश्य बोर्डिंग हाउस में ठहरा। आगरा कालेज के हाल में परीक्षा दी। उन दिनों 'लीडर' का जन्म नहीं हुआ था। परीक्षा फल जानने के लिये यू० पी० गजट ही एक मात्र साधन था। बधाइयाँ मिलीं और बड़े-बड़े लोगों के घर जाकर स्वयं प्राप्त की गईं। पास होने पर सभी को मन ही मन धन्यवाद दिया गया। मेरी स्कूल की शिक्षा की इतिश्री हुई।

× × ×

मैं आगरा कालेज का विद्यार्थी रहा हूँ और सेन्ट-जॉन्स का भी। मुझ अनगढ़ प्रस्तर खण्ड की बाहरी रूपरेखा मिशन हाई स्कूल मैनपुरी में मिली थी। वह आगरा कालेज में गढ़ा गया और उसे सैण्टजॉन्स कालेज में पालिश दिया गया। उस मूर्ति की वैश्य बोर्डिङ्ग में प्राण प्रतिष्ठा हुई।

यद्यपि मैं परीक्षाओं के सम्बन्ध में 'शनैः विद्या वित्तं च' के सिद्धान्त में विश्वास करता था। तथापि मैंने फिलासफी के एम० ए० के सम्बन्ध में अपने नियम को कुछ शिथिल कर दिया और कालेज में अध्यापकी करते हुए भी परीक्षा में इस प्रकार उत्तीर्ण होगया जिस प्रकार कि हरिभक्त भवसागर को गोपद इव सहज ही पार कर जाते हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय से, जिसके विराट उदर से अब चार और विश्वविद्यालय उत्पन्न हो गये हैं, केवल छः विद्यार्थी दर्शन-शास्त्र के एम० ए० में बैठे थे। उनमें से केवल दो उत्तीर्ण हुए थे। इस प्रकार मैं थर्ड क्लास

फर्स्ट नहीं तो, थर्ड क्लास सेकिण्ड अवश्य था। कालिज में एक साल प्रोफेसरी कर मैं अपना प्रभाव जमा चुका था। उस पद पर मैं बना भी रहता किन्तु उसमें एक बहुत बड़ी बाधा यह थी कि मुझ में तुलसीदासजी की सी अनन्यता का अभाव था। मैं दो नावों में पैर रखना चाहता था। एम० ए० के साथ एल-एल० बी० के तीन अक्षर और जोड़ने का मोह संवरण नहीं कर सकता था।

× × ×

फिर मैं नौकरी की चाह में डाकखाने की आमदनी बढ़ाने में योग देने लगा। मैं कौतूहलवश 'पायनियर' के पन्ने उलटने लगा। उसमें छतरपुर राज्य के लिये दर्शन शास्त्र के एक ऐसे अध्यापक की माँग थी जो पूर्वीय और पश्चिमी दर्शन में दक्ष हो। मैंने अर्जी भेज दी। अर्जी देकर मैं उसे भूल गया, लेकिन समय पाकर कर्म अपना फल देते ही हैं। एक महीने के पश्चात् मुझे छत्तरपुर के प्राइवेट सेक्रेटरी का पत्र मिला। लिफाफा खोलने पर अनुमान ठीक निकला। उस पत्र में उन्होंने पूछा था कि मैंने उनके पहले पत्र का उत्तर क्यों नहीं दिया। महाराज साहब मुझसे मिलने के लिए उत्सुक हैं। छतरपुर जाने की तैयारी होने लगी। मैं छतरपुर पहुँच गया, हिज हाइनेस महाराज साहब के सामने मेरी पेशी हुई। बड़ी प्रसन्नता और कृपा भरी मुद्रा से महाराज ने मेरा स्वागत किया। उन्होंने मुझसे पूछा कि मैंने हर्बर्ट स्पेन्सर का अध्ययन किया है? महाराज ने बड़े आश्चर्य की मुद्रा धारण कर मुझसे पूछा कि बिना हर्बर्ट स्पेन्सर के पढ़े एम० ए० कैसे होगये। अंत में महाराज ने मुझ को पान दिया। इस संकेत को मैं समझ गया और सब को प्रणाम कर अपने वास-स्थान को आगया। महीने भर बाद मेरी नियुक्ति होगयी।

नौकरी की जड़ें बहुत गहरी नहीं बतलाई जातीं। मैंने कई बार रस्सा तुड़ाकर भागने की कोशिश की। परमविनम्र भाव से महाराजा साहब से निवेदन किया, "जो काम मैं करता हूँ, उसे कोई मूर्ख से भी मूर्ख अधिक सफलता के साथ कर सकता है, मुझे घर जाने की छुट्टी दीजिये।" किन्तु उन्होंने यही कहा, "बड़े मूर्ख हो जो ऐसा सोचते हो, प्रत्येक काम में व्यक्तित्व की छाप रहती है। प्राइवेट सेक्रेटरी का काम तो बहुत भारी है, मुझे जूते पहनाने का भी काम जो करता है, वही कर सकता और कोई नहीं।" वैसे तो अठारह वर्ष में अठारह ही शिशिर बसन्त आये होंगे लेकिन मैं उनसे ऊबा नहीं, हर एक बसन्त नई छटा लेकर आता था। प्राइवेट सेक्रेटरी के नाते मेरी निजी ड्यूटियाँ तो थीं हीं, किन्तु तबेले के बन्दर की भाँति दूसरों की अलाय-बलाय भी मेरे सिर पड़ जाती थीं। मेरे कर्त्तव्य दो प्रकार के थे—एक खासगत के, दूसरे रियासत से सम्बन्ध रखने वाले। प्राइवेट सेक्रेटरी का सबसे कठिन कार्य था मेहमानों की खातिरदारी और विदाई। महाराज के देहावसान के पश्चात् मुझे अवकाश ग्रहण करना पड़ा, क्योंकि उनके साथ ही उनके प्राइवेट सेक्रेटरी का पद भी गया। मुझे अठारह वर्ष में बीस वर्ष के हक की पेंशन मिल गई।

× × ×

छतरपुर राज्य से लौटने पर मैंने जैन बोर्डिङ्ग हाउस आगरा की अनाहारी वा अनारी आश्रमाध्यक्षता स्वीकार की। जलेसर में मेरा पैतृक घर है किन्तु वहाँ न तो बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध था और न मेरे स्वाध्याय का सुभीता। आगरा में विद्यार्थी जीवन व्यतीत करने के कारण उससे विशेष मोह हो गया था। उसको छोड़ने की इच्छा नहीं होती थी। मेरे आर्थिक सलाहकार मकान बनाने में सहमत न थे। किन्तु चिड़ियाँ अपने नीड़ में विश्राम लेती हैं, साँप के भी बाँबी होती है, भेड़िया अपनी माँद में रहता है, चूहे भी अपने बिल खोद लेते हैं, तो मेरे शरीर को आतप और मेघ से सुरक्षित रखने के लिए टूटा-फूटा मकान भी न हो, आत्मभाव जाग उठा। मुझे किराये के मकानों से चिढ़ सी हो गयी थी। मुफ्त के मकान अब भाग्य में कहाँ? जेल जाने की शरीर में सामर्थ्य नहीं। अब बस अपना ही मकान बनाने का कठोर सङ्कल्प किया। मकान के लिए जमीन तलाशने लगा। जहाँ मैं जमीन चाहता था वहाँ की एक-एक इञ्च जमीन बिक चुकी थी। एक गड्ढा अछूता था। प्रेमान्ध की भाँति उसके प्रत्यक्ष दोष भी मैं न देख सका। जमींदार महो-

दय ने मेरे सिर पर उल्लू की लकड़ी फेरी। दो सौ रुपये में गड्ढा भर जाने की बात में आगया और बात की बात में बयनामा करा लिया। जमीन मिलते ही कारीगर और ठेकेदार उसी भाँति मँडराने लगे, जिस प्रकार मुर्दे को देखकर गिद्ध मँडराते हैं। बिना आगा पीछा देखे, विघ्नेश का नाम लेकर, नींव खुदाई शुरू हुई। नींव के लिए समझता था, गड्ढे होने के कारण कम खुदाई की आवश्यकता होगी। जिधर गड्ढा नहीं था उधर थोड़ी ही दूर पर पक्की जमीन निकल आई और गड्ढे की ओर जितना खोदा जाता, उतनी ही पक्की जमीन दूर होती थी। नींव जैसे-जैसे नीचे जाती, वैसे-वैसे ही मेरा दिल भी गड्ढे में बैठता जाता। अन्त में सभी ने मुक्तकण्ठ से बड़ी बुद्धिमत्ता प्रदर्शित करते हुये, तहखाने का परामर्श दिया, मानो तहखाना कोई ऐसा छू-मन्तर था जिससे मेरी कठिनाइयों का अन्त हो जायगा। तहखाना बनना शुरू हुआ और ईंट चूने का स्वाहा होने लगा। लखनऊ निवासी मेरे मित्र शिवकुमारजी ने आशीर्वाद दिया कि मुझे गड्ढे में गुप्त धन गढ़ा मिल जायगा। मैंने कहा कि गढ़ा हुआ धन तो क्या मिलेगा, किन्तु मैं अपना कठिनता से सञ्चित किया हुआ धन ईंटों के रूप में पृथ्वी में गाढ़ रहा हूँ। पुराने लोग धन जमीन में ही गाढ़ते थे। सनातन धर्म की रीति से मेरा रुपया बसुन्धरा बैङ्क में जमा होने लगा।

दूसरे प्रोफेसरों को कोठियों में रहते देख में भी प्रोफेसरों में करीब-करीब बेमुल्क का नवाब था। मुझे भी कोठी बनाने का शौक चर्राया था। मेरे सामने दो आदर्श थे। श्री भोंदारामजी ठेकेदार चाहते थे कि अकबर की इस नगरी में कम से कम लाल पत्थर के किले की टक्कर का एक दूसरा किला बनवाऊँ और मेरी इच्छा थी कि अपने पड़ोस के काछियों के अनुकरण में एक झोंपड़ी डाल लूँ। इन्हीं परस्पर विरोधिनी इच्छाओं के फलस्वरूप मेरा मकान तैयार होगया।

सितम्बर (१९३९) के महीने में, पानी की त्राहि-त्राहि मची हुई थी। खैर फिर भी गरीब किसानों की सार को भस्म करने वाली आहों के बादल बनते दिखाई दिये। ऐसा मालूम होने लगा कि अब दीनदयाल के कान में भनक पड़ी। "घूम घूमँरे कारे कजरारे" श्याम घनों को देखकर मेरा मन मयूर नृत्य करने लगा। मेह के कारण शरीर में जो स्फूर्ति आई थी उससे प्रेरित हो लिखने बैठ गया। कभी-कभी बाहर जाकर मेघाच्छादित गगन मण्डल की शोभा निरख लेता था। किन्तु मैं यह नहीं समझता था कि इस सौन्दर्य में इतना विष भरा है। पीछे की तरफ प्रायः एक फुट पानी भर गया। मेरी सौन्दर्योपासना अविचलित रही। क्योंकि ऐसा कई बार हो चुका था। सायंकाल तक सारा दृश्य रस के दोनों अर्थों में रसमय था। वह जलमय था और आनन्दमय भी। यद्यपि पानी के साथ थोड़ी-थोड़ी आशङ्का बढ़ रही थी। तथापि मामला रस से विरस नहीं हुआ था। यह सब ऊहापोह हो ही रहा था कि पास की जमीन का पानी मर्यादा के बाहर होकर मेरी जमीन में आगया। थोड़ी ही देर में पानी रोशनदान के मुँह तक पहुँच गया और उनमें होकर जल प्रपात होने लगा। नाइग्रा फाल मैंने देखा तो नहीं है किन्तु फिर भी कह सकता हूँ कि वास्तविकता पर कल्पना का रँग चढ़ा लेने से उसी का सा कुछ-कुछ दृश्य उपस्थित हो गया। एक साथ बिजली ठप होगई। सूचीभेद्य अन्धकार का साम्राज्य हो गया। लालटेन की पुकार होने लगी। एक टूटी-फूटी टार्च थी किन्तु उसके ढूँढ़ने के लिए भी टार्च की जरूरत पड़ती। खैर जैसे-तैसे दीपक का आयोजन हुआ। उसको झंझावात का सामना करना पड़ा। मेरे चाकर देव पड़ौस से लालटेन लाये। इतने में मेरा चालीस फुट लम्बा सेलर सैण्टजान्स कालेज के स्विमिंग बाथ की होड़ करने लगा। प्रलयपयोधि उमड़ रहे थे। पालेय हालाहल नीर बरसने लगा। मेरे दरिया में तूफान आ गया। मैं अपने हाल को नूह की किश्ती या मनु की नौका समझ रहा था। उसी समय मेरी गुर्विणी (भैंस) की समस्या मेरे सामने आई। उसका छप्पर भी तालाब बन चुका था। मेरे घर के सामने भी पानी बहने लगा और मेरा मकान प्रायद्वीप से द्वीप बन गया। बरान्डे और शयनागार का भी फर्श बैठ गया और उनकी टाइल मेरे बैठते हुए दिल की

समता करने लगे। तब जल्दी से मैंने बनर्जी साहब का निमन्त्रण स्वीकार किया। मकान से ताला लगाकर उनका द्वार खटखटाया। उन्होंने मुझे, मेरे नौकर तथा मेरी भैंस को अपने यहाँ आश्रय दिया। सुबह उठकर जलप्लावन का व्यापक एवं भयंकर दृश्य देखा। मेरा घर भी पानी में था, फिर मेरे नारायण होने में क्या कसर थी? इस प्रकार बिना करनी के ही मैं नर से नारायण बना।

प्रातःकाल ही आगरे के महेन्द्रजी अपने नामरासी नन्दन कानन विहारी सुरराज की काली करतूतों की आलोचना करने निकल पड़े थे। वे अजानु जल को पार कर मेरे यहाँ पधारे। उन्होंने चुन्नी देवी के रसिकपति श्री सेठ ताराचन्दजी से आग बुझाने का इञ्जन, पानी की बाधा शमन करने के लिए, माँगने का वायदा कर लिया। इञ्जन आया भी लेकिन अधिक प्रभावशाली और मुझसे कम मुसीबत जदा लोगों के हाथ पड़ गया। उस रोज सिवाय सहानुभूति प्राप्त करने के कुछ न कर सका। दूसरे दिन अगस्त ऋषि का यांत्रिक अवतार फायर ब्रिगेड का पम्प टन-टन करता हुआ आया। उस रोज की भीषण वर्षा के कारण फायर ब्रिगेड को भी हार माननी पड़ी। जितना पानी निकलता उतना ही रक्तबीज की भाँति और बढ़ आता। बेचारे विद्यार्थियों ने—जिनमें नृपतसिंह, सत्यदेव पालीवाल, चिरञ्जीलाल एकाकी, पद्मसिंह शर्मा, तारासिंह धाकरे, प्रमोद चतुर्वेदी का नाम मुझे स्मरण है, कमर-कमर पानी में घुस कर बाहर का पानी रोकने के लिए मिट्टी भरे बोरों का बाँध बाँधा। किन्तु सब निष्फल हुआ। तीसरे दिन फिर टिटहरी प्रयत्न शुरू हुए। परातों से पानी उलीचा गया। चौथे दिन बड़ी सिफारिसों से इञ्जन मिला। सेलर का पानी निकला और इस प्रकार पूरे सप्ताह बाद जल बाधा मिटी। शायद ब्रज पर भी ब्रजराज का सात रोज कोप रहा था।

× × ×

मेरे पिताजी ने मुझ से एक बार पूछा कि बेटा नौकरी में कुछ रुपया जमा किया है? मैंने कहा "हाँ, वह खेत में जमा है।" मेरी खेती नितान्त निष्फल नहीं थी। व्यापार का मुझे अधिक विस्तृत अनुभव है। खेती में रुपया न खराब कर मैं रुपया घर भेजने लगा। वह रुपया एक समीपवर्ती अन्न और कपड़े के व्यापारी के यहाँ आठ आना सैंकड़े की व्याज पर जमा होना शुरू हुआ। एक या डेढ़ वर्ष के बाद ही मेरे सेठजी को दस-पन्द्रह हजार का टोटा आया, उसमें वे मेरे भी चार हजार दे बैठे। व्याज के लोभ में मूल भी गया। मैंने तीन-चार बार शेयर भी खरीदे, किन्तु जिस कम्पनी में मैंने भाग लिया उस कम्पनी का भाग फूटा और साथ ही मेरा भी। रिजर्व बैङ्क के शेयरों का भाव गिरने पर मैंने उनको बेच डाला किन्तु जब से मैंने उनको बेचा है तब से उनका भी भाव बढ़ गया है। लोग बीमा कराना कम जोखिम का काम समझते हैं। जोखिम कम्पनी का अधिक रहता है। किन्तु दो एक कम्पनियों में तो पालिसी लैप्स होगई और जिसमें चलती रही वह लिक्वीडेशन में आगयी। मैंने रुई और सोने में भी अपनी भाग्य परीक्षा की। किन्तु उसमें एक साथ अढ़ाईसौ रुपये की हानि हुई। सोना जब बाईस रुपया तोला हुआ तो पचास तोला सोना खरीदने की सूझी। कानपुर में वह सोना चोर के हाथ लगा और उसके बाद भाव भी ऊँचा चढ़ गया। मैं हाथ मलता रह गया। अब तो धक्के खाकर होशियार हो गया हूँ। गाँठ में कुछ न रहने पर यह बात गाँठ बाँध ली है कि 'आधी छोड़ एक को धावे, आधी रहे न पूरी पावे।'

× × ×

पहले पहल मेरे लेखों को इलाहाबाद के 'विद्यार्थी' ने अपनाया था। पहला लेख 'साहित्य के क्रम विकास' पर था। कलाओं में काव्य के स्थान पर शायद मैंने ही पहला लेख लिखा था। यह १६१२ या १३ की बात है। १६१३ में छतरपुर पहुँच गया था। उसी साल 'शान्ति धर्म' नाम की मेरी पहली किताब निकली थी। देवेन्द्रप्रसाद जैन के प्रकाशन को देखकर मैं मुग्ध हो गया था। जिस प्रकार एक फ्रान्सीसी महिला ताजमहल को देखकर इस शर्त पर प्राण त्याग करने को तैयार हो गई थी कि उसकी भी कब्र ताजमहल जैसी बनादी

जाय, उसी प्रकार मैं भी लेखक बनने को इस शर्त पर तैयार हो गया कि देवेन्द्रप्रसाद के अन्य प्रकाशनों की सी सजधज के साथ मेरी भी पुस्तक इण्डियन-प्रेस में छपवा दी जाय। पुस्तक प्रकाशित तो प्रेम-मन्दिर आरा से हुई किन्तु छपी इण्डियन प्रेस में ही। फैदरवेट पेपर और चाँदी के वर्कों के साथ घुटी हुई स्याही के कारण उसका गेटअप बड़ा आकर्षक हो गया था। मुझे लेखक जीवन की सबसे बड़ी प्रसन्नता तब हुई जब एक रोज व्हीलर की बुकस्टाल के छोकरे ने मुझे मेरी ही पुस्तक यह कहकर दिखाई कि "बाबू साहब! यह नई पुस्तक आई है, बड़ी अच्छी निकली है।" दूसरी किताब 'फिर निराशा क्यों?' के नाम से छपी। मेरे मन में यह बात आई कि मैं गद्य ऐसी लिखूँ कि जो पद्य के कान काटे। इसी प्रेरणा से 'फिर निराश क्यों?' लिखी। उस समय गद्य काव्य का लिखना बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था में था। उस पुस्तक का सम्पादन श्री शिवपूजनसहाय ने किया था। इसी ने मुझे हिन्दी के निबन्ध लेखकों की पंक्ति में बैठने का प्रवेश पत्र दिलाया। श्री शुकदेवबिहारी मिश्र की सिफारिश से मुझे 'मनोरञ्जन पुस्तकमाला' में 'कर्तव्यशास्त्र' लिखने को मिला। लोकमान्य तिलक के गीता-रहस्य के सुनने से मेरी यह धारणा हुई कि भारतीय दृष्टिकोण से कर्तव्यशास्त्र लिखा जा सकता है। मनोरञ्जन पुस्तक-माला में एक पुस्तक छप जाने से मैं अपने को लिक्खाड़ समझने लगा। नागरी प्रचारिणी सभा से मेरा सीधा सम्बन्ध हो गया, उसके लिए 'तर्कशास्त्र' और 'पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास' लिखा। अभी तक मैंने दार्शनिक पुस्तकें ही लिखी थीं। मैंने छतरपुर जाते ही 'नवरस' के विषय का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। उस समय अयोध्या नरेश के लिखे हुए 'रस रत्नाकर' के अतिरिक्त हिन्दी गद्य में इस विषय का और कोई ग्रन्थ न था। इस विषय पर पहला लेख इन्दौर के पहले साहित्य-सम्मेलन के लिए लिखा। उसी को विस्तृत कर पुस्तकाकार कर दिया। 'ठलुआ क्लब' के शीर्षक का सुझाव जैराम के० जैराम से हुआ था। ये पुस्तकें स्वान्तः सुखाय लिखीं, शेष पुस्तकों का अधिकांश में 'उदर निमित्त' निर्माण हुआ। लेखक भी मैं ठोकपीट कर ही बना हूँ। प्रतिभा अवश्य है किन्तु यह एक तिहाई से अधिक नहीं। मेरे लेखन में दो तिहाई परिश्रम और चोरी रहती है। लेखन के पीछे ठोस पाण्डित्य का प्रदर्शन अधिक रहता है। मुझ में पाण्डित्य का विस्तार चाहे हो किन्तु गहराई नहीं है और बावन तोले पाव रत्ती वाली यथार्थता और निश्चयता और भी कम। किन्तु मैं इस कमी को सफलापूर्वक छिपा लेता हूँ। लेखन से मुझे अर्थ लाभ भी हुआ और यश लाभ भी, किसकी मात्रा अधिक रही यह नहीं कह सकता। मुझे शिकायत किसी और से नहीं है। मैंने अपने जीवन में कोई कहानी नहीं लिखी। इसलिए नहीं कि वह लिखने योग्य चीज नहीं है वरन् इसलिये कि मुझमें कहानी लिखने की योग्यता नहीं है। इसी प्रकार कवि हृदय पाकर भी मैं कविता नहीं लिख सका। इसका कारण तो यह है कि जब तक गहरी वेदना न हो तब तक कल्पना जाग्रत नहीं होती।

× × ×

लेखन के सम्बन्ध में संक्षेप में मैं यह कह सकता हूँ कि मुझे चोरी की कला आ गई है। मुझे दूसरों की कृतियों में बिना ताला तोड़े या एक्सरे का प्रयोग किये ही रत्न मिल जाते हैं। रत्न अपने ही प्रकाश से प्रकट हो जाते हैं। उन रत्नों को मैं वैसा ही बाजार में नहीं ले जाता। उनको थोड़ा बहुत गढ़ता हूँ, जिससे पहचान में नहीं आवें। सम्भव है कि वे इस प्रयत्न में थोड़े बहुत विकृत भी हो जाते हों। लेकिन मेरी चोरी आज तक पकड़ी नहीं गई। बस मेरे जीवन की यही सफलता है। मेरी रचनाओं में तार्किक क्रम अधिक रहता है। यह मेरे दार्शनिक संस्कारों का फल है। मुझे हास्य का एक पुट देने में उतनी ही प्रसन्नता होती है जितनी कि प्राचीन समय के सूत्रकारों को एक अक्षर या मात्रा के बचाने में। मैं लिखता तो बिना विचारे ही हूँ, इससे कभी-कभी पछताना भी पड़ता है। लेकिन बहुत कम। लेख के प्रारम्भ में थोड़ा बहुत अधिक परिश्रम कर लेता हूँ। बिना तीन चार कागजों का बलिदान किये किसी सफल लेख का श्री गणेश नहीं होता। मेरे लेख में

काट-छाँट और घटा बढ़ी भी होती है। बीच में से ऐरो लगाकर जोड़ा भी अधिक जाता है। मेरी शैली में बहुत से दोष हैं जो कभी-कभी उसके गुणों को दबा लेते हैं। मैं अपनी भाषा को आडम्बरपूर्ण बनाने से बचाता हूँ। लेकिन सरल भाषा को गौरवशालिनी बनाना मुझे नहीं आता। इसी कारण मेरी भाषा में शैथिल्य आ जाता है। बहुत से दोष होते हुए भी लोगों ने मेरे लेखों को पढ़ने योग्य समझा है। इसका यही कारण है कि मैं कहने के लिए कुछ तथ्य की बात खोजता हूँ और उसे येनकेन प्रकारेण पूर्णतया हृदयङ्गम करने का प्रयत्न करता हूँ। उसमें हास्य का पुट देकर उसे ग्राह्य बना देता हूँ। यही मेरी कलम का राज़ है।

मैं उन लोगों में से हूँ जो अपने निजी निबन्धों के लिए बिना कुछ पढ़े नहीं लिख सकते। वास्तव में मेरे लेखन में एक तिहाई दूसरे से पढ़ा होता है। एक बटा छह उसके आधार से स्वयं प्रकाशित और ध्वनित विचार होते हैं, एक बटा छह सप्रयत्न सोचे विचार रहते हैं और एक तिहाई मलाई के लड्डू की बर्फी बना कर चोरी को छिपाने वाली अभिव्यक्ति की कला रहती है।

मैं अब यह अनुभव करता हूँ कि लेखक रुपयों के बदले में अपना क्या कुछ नहीं देता। किन्तु शोषण में किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं है। उससे मुझे धन और ख्याति प्राप्त करने का अवसर मिलता है। लेखन कार्य ने मेरे जीवन का भारहल का करने में सहायता की है। लिखने से ही मेरा जीवन सरस और सम्पन्न बना है।

× × ×

ख्याति की चाह को मिल्टन ने बड़े आदमियों की अन्तिम कमजोरी कहा है, लेकिन शायद यह मेरी आदिम कमजोरी है, क्योंकि मैं छोटा आदमी हूँ। यश लोलुपता के पीछे दुःख भी काफी उठाना पड़ता है। ख्याति की चाह ही जिसको मैं दूसरों की आँखों में धूल झोंकने के लिए साहित्य-सृजन की अदम्य प्रेरणा कह दूँ, मुझे इस समय जाड़े की रात में गद्दे लिहाफ का सन्यास करा रही है। मान मद तो मुझ में नहीं है, फिरभी बड़े आदमियों द्वारा अपमान को सहन नहीं कर सकता हूँ। गरीब आदमी द्वारा किया हुआ अपमान मैं महर्षि भृगु की लात की भाँति सहर्ष स्वीकार कर लेता हूँ क्योंकि वह बिना किसी कसक के या बिना किसी हीनता ग्रन्थि के सहज में दूसरों का अपमान नहीं करता। क्रोध भी मैं अपने से बड़ों पर ही करता हूँ। छोटों पर दिखावटी क्रोध भी नहीं करता। द्वेष तो मैं किसी से नहीं रखता।

× × ×

जिस प्रकार एक देव मन्दिर में देवता तो बहुत से होते हैं किन्तु प्रधान पद पर एक ही देवता प्रतिष्ठित होता है, अथवा राजनीतिक उपमान चाहिए तो यों कह लीजिए कि जिस प्रकार एक राष्ट्र में छोटे पूरे बहुत से राज्य हो सकते हैं किन्तु प्रधान सत्ता एक ही की होती है उसी प्रकार मेरे शरीर में रोग तो बहुत हैं किन्तु ब्रिटिश सत्ता की भाँति प्रधान सत्ता मधुमेह की है।

यद्यपि मैं अभी "अङ्गं गलितं पलितं मुण्डम्, दशन विहीनं जातं तुण्डम्, करधृतकम्पित शोभित दण्डम्" वाली श्री शङ्कराचार्यजी द्वारा की हुई वृद्ध की परिभाषा से कम से कम दो तिहाई अंश में दूर हूँ और इस भय से कि कोई यह न कह दे कि 'वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डम्' मैं दण्ड धारण भी नहीं करता, फिर भी निशक्त होकर यदि पातक राजा रोग इन तीनों में से किसी का भी शिकार बनूँ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

ईश्वर की कृपा से बाइबिल में बताई हुई मनुष्य की आयु को मैंने पार कर लिया है और उसके लिए मैं हृदय से अनुगृहीत हूँ क्योंकि साठ वर्ष के पश्चात् मैं एक-एक दिन को ईश्वरीय देन समझता हूँ। अब 'जीवेम् शरदः शतम्' के वैदिक आदर्श को कहाँ तक पूरा कर सकूँगा इसको वेदों का कर्त्ता ईश्वर ही जाने। मैं तो पन्द्रह का पहाड़ा पाँच तक पढ़ लेने में अपने को कृतकार्य समझूँगा। मैं चाहता हूँ कि जब तक जीऊँ तब तक 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छितं समाः' की उक्ति चरितार्थ करूँ।

(सौभाग्य से बाबूजी की दोनों इच्छाएँ पूरी हो गई। उनका स्वर्गवास ७५ की आयु पूरी होने के बाद ही हुआ और वे जब तक जीवित रहे साहित्य की सेवा करते रहे। —सम्पादक)

बाबूजी का व्यक्तित्व

डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना

स्वर्गीय बाबू गुलाबरायजी से मेरा परिचय तो बहुत पहले से था। उनकी ही अनुकम्पा एवं उदारता के फलस्वरूप आगरे में आकर मैंने अध्ययन एवं अध्यापन-कार्य आरम्भ किया था और उनकी प्रेरणा से ही मैं आलोचना के क्षेत्र में कुछ कदम रखने योग्य बना। इतना होने पर भी बाबूजी के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य मुझे उस समय से प्राप्त हुआ, जब से मैंने बाबूजी के निर्देशन में पी-एच० डी० के लिए अपना शोध-कार्य आरम्भ किया था। शोध-कार्य करते हुए मुझे प्रायः यह गर्व रहता था कि मैं हिन्दी के एक मूर्धन्य आलोचक, समीक्षक एवं निबन्धकार के निर्देशन में अपना कार्य कर रहा हूँ और उनके समीप बैठकर उनसे जो-जो सुझाव मुझे प्राप्त होते थे उनमें मुझे एक अलौकिक एवं दिव्य अनुभूति एवं प्रौढ़ मनीषा के दर्शन होते थे। इतना ही नहीं बाबूजी के निर्देशन में कार्य करने वाले शोध-कर्त्ताओं में प्रथम स्थान ग्रहण करने का श्रेय भी मुझे प्राप्त है। बाबूजी की महती अनुकम्पा एवं वात्सल्यमयी प्रवृत्ति ने मेरे हृदय पर कुछ ऐसा जादू-सा डाल दिया था कि मैं प्रायः उन्हें आराम के समय पर भी तङ्ग करने पहुँच जाता था और वे कभी मुझे निराश नहीं लौटाते थे। अपितु उचित परामर्श एवं सही राय देकर ही मुझे उठने देते थे। उनके व्यक्तित्व में कतिपय ऐसी विशिष्टताएँ थीं, जो आज भी मेरे हृदय पर अङ्कित हैं और जिन्हें मैं कभी भुलाने पर भी भूल नहीं सकता।

शारीरिक गठन एवं वेष-भूषा—यद्यपि बाबूजी कभी-कभी हास्य एवं विनोद में भी रुचि दिखाया करते थे, तथापि उनकी आकृति बड़ी भव्य एवं गम्भीर दार्शनिकों के समान थी। उनके मुख पर सरलता एवं सौम्यता सदैव विद्यमान रहती थी। वे मँझोले कद के उज्ज्वल गौर वर्ण के व्यक्ति थे। जब वे छतरपुर राज्य में महाराजा के प्राइवेट सैक्रेटरी थे तब कोट और पाजामा पहना करते थे, किन्तु जब से आगरा आये तब से वे आँखों पर चश्मा और कुर्त्ता कोट तथा धोती ही पहना करते थे। वैसे सादगी से अत्यन्त प्रेम होने के कारण घर पर वे कुर्त्ता और धोती ही पहना करते थे, किन्तु जब कभी बाहर जाते तब वे कोट अवश्य साथ में ले जाते थे। वह कोट आपके कंधे पर ही पड़ा रहता था और गर्मियों में छाते का भी काम देता था। बाबूजी कभी छाता लेकर घर से बाहर नहीं जाते थे क्योंकि वे प्रायः छाता कहीं न कहीं भूल आते थे। इसलिए उन्होंने छाता लेकर चलना ही छोड़ दिया था। साहित्यिक समारोहों में जाते समय तो बाबूजी अपनी पोशाक का बड़ा ध्यान रखते थे, किन्तु वैसे उन्हें पोशाक की अधिक परवाह नहीं रहती थी। उनकी सादगी एवं आडम्बरहीनता 'सादा जीवन उच्च विचार' के सिद्धान्त को पूर्णतया चरितार्थ करती थी।

स्वभाव—वृद्धोचित गम्भीरता के साथ-साथ बालोचित सरलता एवं स्पष्टता रहने के कारण बाबूजी का स्वभाव बड़ा ही मृदुल, कोमल एवं सरल था। वे बड़े ही विनम्र एवं निरभिमानी व्यक्ति थे। उनके मुख पर हास्य की छटा तो यदा-कदा दिखाई पड़ जाती थी, किन्तु क्रोध की लालिमा कभी दृष्टिगोचर नहीं होती थी। यद्यपि उनके कमरे में आकर बच्चे शोरगुल भी मचाया करते थे और कभी-कभी बहुत ऊधम भी करते थे, तथापि वे कभी न तो बच्चों को डाँटते थे और न कभी उन्हें कमरे से बाहर जाने के लिए कहते थे। सहिष्णुता एवं उदारता की तो आप साक्षात् मूर्ति थे। कटु से कटु आलोचना करने वालों के लिए भी वे कभी कटुता का व्यवहार नहीं किया करते थे। अपितु व्यंग्य एवं हास्य का सहारा लेकर ही उनकी बातों का उत्तर दे दिया करते थे। यदि वे किसी की आलोचना भी

करते थे तो उसमें भी कटुता एवं तीक्ष्णता न होकर स्निग्धता एवं मधुरता ही होती थी और वह व्यंग्य पर आश्रित होती थी। उन्होंने 'आत्म-विश्लेषण' में लिखा भी है—"मेरी आलोचना खीर और मक्खन की-सी मीठी, स्निग्ध और मुलायम होती है। कहीं-कहीं व्यंग्य का बादाम निकल आता है। यद्यपि मैं स्वार्थी अवश्य रहा हूँ, तथापि मैंने परकीर्ति को नष्ट करके कीर्ति नहीं चाही है। स्वार्थी होकर भी सिद्धान्ततः मानवतावादी रहा हूँ। 'परहित निरत निरन्तर मन क्रम वचन नेम निबहोंगो' के संकल्प को तो आलस्य और स्वार्थवश न निभा सका, किन्तु 'सर्वेभवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' की मानसिक शिव-सङ्कल्प चारपाई पर पड़े-पड़े कम से कम अपने स्वजनों के लिए अवश्य कर लेता हूँ।"[१] इससे स्पष्ट है कि वे कभी दूसरे की हानि नहीं करते थे और सदैव दूसरों का भला करने के लिए ही उद्यत रहते थे।

सामाजिकता—बाबूजी की समन्वयवादी प्रवृत्ति प्रसिद्ध है। उनकी इस समन्वयवादी प्रवृत्ति का मूल कारण यह था कि उनकी मनोवृत्ति बहिर्मुखी थी और वे कभी किसी का जी दुखाना नहीं चाहते थे। इसी कारण जो कोई व्यक्ति अपनी जो भी बात बाबूजी के सामने कहता था, उससे असहमत होते हुए भी वे उसका कभी खण्डन नहीं करते थे। बाबूजी में दुराग्रह की भावना तनिक भी न थी। वे दूसरों के मत को भी निस्संकोच स्वीकार कर लेते थे और दूसरे के दृष्टिकोण को समझने तथा उसके प्रति आदर प्रकट करने के लिए भी सदैव तैयार रहते थे। इसी कारण वे कभी ऐसा सत्य नहीं बोलते थे, जो दूसरों को अप्रिय जान पड़े और इसी वजह से उनके निर्णय दो-टूक या केवल किसी निश्चित मत या पूर्वाग्रह से युक्त नहीं होते थे। अपनी हँसी मनोवृत्ति की ओर संकेत करते हुए उन्होंने लिखा भी है—कभी-कभी 'मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' की वृत्ति समाज के लिए अहितकर सिद्ध हुई है। मेरी दार्शनिक प्रवृत्ति ने असत्य में भी सत्य की चिनगारी देखने के लिए मजबूर किया इसलिए मेरे निर्णय दो-टूक कटे-छटे नहीं होने पाते।"[१] वे समाज के प्रत्येक व्यक्ति से स्नेह करते थे, किन्तु 'दुर्बल को न सताइये वाकी मोटी हाय' के सिद्धान्त को मानने के कारण वे सदैव कमजोर एवं निर्बल के पक्ष का समर्थन किया करते थे और उसकी भरसक सहायता भी करते थे। वे कभी दूसरे की न्यूनता एवं कमजोरी को देखकर नाक-भौं नहीं सिकोड़ते थे, अपितु उसकी न्यूनता के प्रति भी आपका दृष्टिकोण सदैव उदार रहता था क्योंकि वे जानते थे कि सभी व्यक्तियों में कुछ न कुछ न्यूनताएँ एवं दुर्बलतायें अवश्य रहती हैं। अपने इसी उदार दृष्टिकोण के कारण वे न तो कभी किसी को बुराई एवं भ्रष्टाचार से रोकते थे और न कभी किसी अनाचार या अत्याचार का विरोध करते थे। उन्होंने स्वयं स्वीकार भी किया है—"सत्य की मैंने हृदय से सराहना की, किन्तु भीरुतावश असत्य का उग्र विरोध करने का साहस न कर सका। भ्रष्टाचार से मैं स्वयं यथासम्भव बचा, किन्तु दूसरों को भ्रष्टाचार से न रोक सका। शहर के अंदेशे से लटने की मुझे उदारता नहीं आई।"[२]

बाबूजी कभी घर के पचड़े में पड़ना पसन्द नहीं करते थे। घर का सारा प्रबन्ध उनकी धर्मपत्नी ही किया करती थीं। गृहस्थ की अन्य बातों को भी वे एक दार्शनिक की भाँति दूर से ही देखना अधिक अच्छा समझते थे। वे कभी सक्रिय भाग लेना या उनमें माथा पच्ची करना अच्छा नहीं समझते थे। घर पर चाहे कितनी ही हानि हो जाय, वे कभी न तो कुछ कहते थे और न उनका हृदय ही दुःखी होता था। उनकी यह धारणा थी कि एक-दो रुपये के लिए घर के पचड़े में समय एवं शक्ति व्यय करने की अपेक्षा एक-दो पृष्ठ पुस्तक के लिखना कहीं अच्छा है। वे कभी गृहस्थ में व्यस्त एवं तल्लीन नहीं रहे। फिर भी घर के प्रत्येक सदस्य के प्रति उनके हृदय में सहज स्नेह एवं वात्सल्य भरा हुआ था। किसी सभा या सोसाइटी में आमन्त्रित होने पर वहाँ जाने के लिए सदैव तत्पर रहते थे और प्रायः ठीक समय पर ही पहुँच जाते थे। वे साहित्यिक

[१] मेरे निबन्ध—जीवन और जगत, पृ० १३

[१] वही, पृ० १२

[२] वही, पृ० ११

सभाओं में तो जाते ही थे, किन्तु अन्य धार्मिक एवं सामाजिक सभाओं में भी बुलाये जाने पर अवश्य पधारते थे। वे किसी गुटबन्दी में पड़ना बुरा समझते थे। साहित्यिक झगड़ों से भी सदैव दूर रहते थे और राजनीतिक पचड़ों में पड़ना भी उन्हें पसन्द न था। वे सदैव रागद्वेष से दूर रह कर साहित्य-साधना में ही लगे रहते थे।

बाबूजी मिथ्याडम्बर से सदैव दूर रहते थे। उनके व्यवहार में कृत्रिमता न थी। वे बड़े ही सहज एवं सरल स्वभाव के होने के कारण कभी किसी पर अपना आतंक जमाने की चेष्टा नहीं करते थे। वे साहित्यिक एवं असाहित्यिक सभी व्यक्तियों के साथ बन्धुवत व्यवहार करते थे और उच्चकोटि के लेखक होते हुए भी कभी किसी की निन्दा नहीं करते थे। यदि कोई व्यक्ति उनके सामने बैठकर किसी की निन्दा करता था, तो वे उससे कुछ न कहकर चुपचाप उठकर चले जाते थे। वे बातचीत के समय भी बोलते कम थे और दूसरे को अधिक बोलने का अवसर देते थे। वे सूक्ष्म से सूक्ष्म बात को भी बड़ी गहराई के साथ सोचा करते थे और सामाजिक कल्याण के लिए सदैव कार्य किया करते थे। इसीलिए उन्होंने विविध विषयों पर लेख लिखे और नाना प्रकार के महत्वपूर्ण सुझाव देकर साहित्यिकों, व्यवसाइयों, राजनीतिज्ञों, समाज-सुधारकों आदि को प्रोत्साहित किया।

रुचि एवं व्यसन—बाबूजी के हृदय में सौन्दर्य के प्रति एक सहज रुचि थी। उन्हें तड़क-भड़क पसन्द न थी। अतएव घर में कलात्मक सजावट को महत्व न देकर वे सहज सौन्दर्यमयी सजावट को अधिक पसन्द करते थे। वे बगीचे में साग-सब्जी के साथ ही खिले हुए फूलों को देखकर अधिक प्रसन्न होते थे और स्वयं बागवानी में बड़ी रुचि लेते थे। वे गाय-भैंस भी पालते थे और जानवरों के प्रति भी एक सहज वात्सल्य भाव रखते थे। इन सबसे परे बाबूजी को विद्यार्थियों के पढ़ाने, साहित्यिक चर्चा करने और साहित्य-साधना का व्यसन था। वे द्विवेदी काल से ही लिखते चले आरहे थे और जो कोई सम्पादक उनसे लेख या निबन्ध के लिए आग्रह करता था उसके आग्रह को कभी टालते न थे। उपयोगितावादी साहित्य के अतिरिक्त बाबूजी ने बिना कुछ पारिश्रमिक लिए हुए भी बहुत लिखा। प्रतिमास दो-तीन लेख, आलोचना या पुस्तकों की भूमिका लिखना तो रुग्णावस्था में भी चलता रहा। वे जिस बात को भी अपने लेख में लिखते थे उसे अधिक से अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा करते थे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता ही यह थी कि नयी-नयी व्याख्या करके साहित्य के प्रत्येक विषय को छात्रों के लिए सरल एवं सुबोध बना देते थे। खाने-पीने एवं वेश-भूषा की ओर विशेष रुचि न दिखाकर वे सदैव साहित्य-साधना में ही व्यस्त रहे आते थे और अपने हृदय में विद्यमान सत्य एवं सौन्दर्य को लेखों एवं निबन्धों के माध्यम से जन साधारण के लिए शिव या मङ्गल रूप प्रदान किया करते थे। बाह्य प्रकृति के प्रति बाबूजी के हृदय में सहज आकर्षण था। वे नित्य प्रातः घूमने जाया करते थे और प्रातःकालीन प्रकृति की मनोरम छटा देखकर एक सहज आनन्द में विभोर हो जाते थे। कभी-कभी बाहर न जाकर अपने बगीचे में ही घूम लेते थे और बगीचे के प्रत्येक पुष्प एवं प्रत्येक पत्ती के साथ बार्त्तालाप सा करते हुए जान पड़ते थे।

योग्यता एवं कौशल—बाबूजी ने सन् १९११ में आगरा कालेज से बी० ए० पास किया था और सन् १९१३ में दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत सेन्टजॉन्स कालेज से एम० ए० पास किया था। उन्होंने आगरा कालेज से ही एल-एल० बी० की भी परीक्षा उत्तीर्ण की थी। शिक्षा समाप्त करके पहले वे छतरपुर राज्य में सन् १९१३ में महाराजा के प्राइवेट सैक्रेटरी नियुक्त हुए और सन् १९३२ तक छतरपुर राज्य में नौकरी करके वे आगरा चले आये। आगरे में आकर पहले वे जैन बोर्डिङ्ग हाउस में रहे। इसके उपरान्त सेण्टजॉन्स कालिज में अवैतनिक हिन्दी के प्रोफेसर हो गये। आगरे में ही रहकर सन् १९३७ से उन्होंने 'साहित्य-सन्देश' का सम्पादन-कार्य आरम्भ किया और कितनी ही पुस्तकों की रचना की। बाबूजी ने साहित्य-रचना का कार्य सन् १९१३ में ही आरम्भ कर दिया था। उनकी

सबसे पहली पुस्तक 'शान्तिधर्म' है। इसके पश्चात् १६१६ ई० में 'फिर निराशा क्यों' पुस्तक लिखी और १६१६ ई० में 'कर्तव्य-शास्त्र' की रचना की। उन्होंने सन् १६२१ में सुप्रसिद्ध 'नवरस' ग्रन्थ का निर्माण किया और १६२६ ई० से १६२६ ई० तक तर्कशास्त्र के तीन भागों की रचना की। इसी बीच में १६२६ ई० में ही बाबूजी ने 'पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास' लिखा और १६२७ में 'मैत्रीधर्म' पुस्तक लिखी। १६२८ ई० में उनका 'ठलुआ क्लब' प्रकाशित हुआ और १६३४ ई० में 'प्रवन्ध-प्रभाकर' लिखा गया। १६३६ ई० में आपकी 'विज्ञानवार्ता' पुस्तक प्रकाशित हुई और १६३८ ई० में 'हिन्दी-साहित्य का सुबोध इतिहास' तथा 'प्रसादजी की कला' नामक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। १६३८ ई० में ही बाबूजी का 'हिन्दी नाट्य-विमर्श' प्रकाशित हुआ। १६४० ई० में 'मेरी असफलताएँ' तथा 'सिद्धान्त और अध्ययन' नानक ग्रन्थ लिखे गये तथा १६५१ ई० में 'काव्य के रूप' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसके अनन्तर 'साहित्य और समीक्षा' तथा 'हिन्दी काव्य विमर्श' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुए। सद् १६५५ में 'मेरे निबन्ध' और सन् १६५६ में 'कुछ उथले कुछ गहरे' नामक दो निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए। तदनन्तर 'अध्ययन और आस्वाद' प्रकाशित हुआ। इस प्रकार बाबूजी ने लगभग ५० वर्ष तक हिन्दी-साहित्य की अनवरत सेवा करते हुए हिन्दी के निबन्ध-साहित्य तथा समीक्षा-साहित्य की श्रीवृद्धि की। बाबूजी एक सफल निबन्धकार, समीक्षक एवं सम्पादक थे। उनमें साहित्य-रचना की अद्भुत क्षमता थी। वे एक कुशल समीक्षक एवं सुयोग्य आलोचक होते हुए भी कुशल साहित्य-स्रष्टा थे। उनमें गहन अनुभूति एवं गम्भीर विचार-शक्ति विद्यमान थी। उनके वैयक्तिक निबन्ध उनकी सहृदयता, वाक्-पटुता, भावानुभूति एवं सृजनशीलता के परिचायक हैं। इन निबन्धों में बाबूजी ने हास्य और व्यंग्य के साथ भावों एवं तर्कपूर्ण विचारों की जो त्रिवेणी प्रवाहित की है, उसमें अवगाहन करने से पाठकों को काव्य के सहज एवं स्वाभाविक आनन्द की प्राप्ति होती है। बाबूजी का सम्पूर्ण साहित्य, उनकी गहन अनुभूति, उत्कट साहित्य-प्रेम, तीव्र लगन एवं अपार सामर्थ्य का द्योतक है। वे कलम के सिपाही थे, विचारों के धनी थे और लेखन-कला में पूर्ण निष्णात थे। उनमें सम्पादन-कार्य की अद्भुत क्षमता थी। 'साहित्य-सन्देश' जैसा आलोचनात्मक मासिक-पत्र उनकी ही अनवरत साधना का फल है। जो आज भी अपने सहज जिज्ञासु छात्रों एवं ज्ञान-लिप्सु पाठकों की साहित्यिक पिपासा को शान्त करता चला आ रहा है।

अन्य चारित्रिक विशेषताएँ—बाबूजी बड़े ही सत्य-निष्ठ एवं न्यायप्रिय व्यक्ति थे। वे व्यवहार-कुशल तो इतने न थे, जितने कि वे व्यापार-कुशल थे। वे सरस्वती के साथ-साथ लक्ष्मी के भी उपासक थे और प्रायः वही लिखते थे, जिससे यश के साथ-साथ अर्थ की भी पर्याप्त प्राप्ति हो सके। वे वैष्णव थे और भगवान कृष्ण में अत्यधिक आस्था रखते थे। परन्तु 'गीतावली' और 'विनयपत्रिका' दोनों आपके अत्यन्त प्रिय ग्रन्थ थे और 'विनय पत्रिका' के "कबहुँक हों यह रहनि रहोंगो" पद में एक सन्त के जो-जो लक्षण बताये गये हैं, उनका आचरण करने का सदैव प्रयत्न करते रहते थे। अपने जन्म-दिवस पर प्रायः इस पद का सस्वर पाठ सुनकर बाबूजी को सन्तोष प्राप्त होता था। गृहस्थ में रहते हुए भी वे कबीर के कथनानुसार 'गृही में वैराग्य' की उक्ति को अक्षरशः चरितार्थ करते थे। क्योंकि गृहस्थ में ही वैराग्य-सा ग्रहण करके वे जीवन-यापन करते थे। किन्तु परिवार के सभी सदस्यों, नौकर-चाकर, पशु-पक्षियों आदि से अत्यधिक प्रेम करते थे। अतिथि-सेवा को परम धर्म समझते थे और घर पर आये हुए साहित्यिक बन्धुओं का तो रुग्णावस्था में भी सदैव स्वागत-सत्कार करने के लिए तत्पर रहते थे। वे असहाय एवं दीनों को भरसक दान दिया करते थे। विद्या-दान एवं धन-दान के अतिरिक्त वे पुस्तक-दान को भी बड़ा महत्व देते थे और प्रायः परीक्षार्थी आपसे पुस्तकें ले जाते थे। बाबूजी का हृदय अत्यन्त विशाल था, मन सात्विक था और बुद्धि तर्कशीला थी। इसी कारण वे ईर्ष्या, द्वेष, विरोध-वैमनस्य, राग-मोह आदि

(शेष पृष्ठ १८ पर देखिए)

मेरी असफलताएँ

श्री विश्वम्भर 'मानव'

हिन्दी में बहुत कम ग्रंथ ऐसे हैं जो केवल अपने नाम से आकर्षित करते हों। इस दृष्टि से मुझे तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' अत्यन्त प्रिय लगी। इसके उपरान्त मुझे 'निरालाजी' की 'अनामिका' का नाम कुछ नया-नया-सा प्रतीत हुआ। 'बच्चन' के 'निशा-निमंत्रण' ने न जाने कितनी करुण मधुर भावनाएँ मन में जगायीं। यह काव्य के क्षेत्र की बात हुई। उपन्यासों में से एक ने भी अपने नाम की छाप मेरे हृदय पर नहीं छोड़ी। तुलना के लिए शरच्चन्द्र का 'चरित्रहीन' हमारे मन में जैसी उत्सुकता जगाता है वैसा हिन्दी का कोई उपन्यास नहीं। कहानियों में कुछ ने केवल अपने नाम से मुझे पढ़ने के लिए विवश किया। इनमें चतुरसेन शास्त्री की 'दुखवा मैं कासों कहूँ मोरी सजनी' और भगवतीचरण वर्मा के 'दो बाँके' का स्मरण मुझे अभी तक है। हास्य व्यंग्य के लेखकों से मुझे ऐसी आशा थी कि कम से कम वे तो अपने ग्रन्थों के हृदय-ग्राही नाम रख सकेंगे; पर वहाँ और भी निराशा का सामना करना पड़ा। इस क्षेत्र में जिससे सबसे कम आशा थी, उसने यह काम कर दिखाया। मेरा तात्पर्य बाबू गुलाबराय और उनके ग्रन्थ 'मेरी असफलताएँ' से है। पता नहीं यह नाम उन्हें किसी ने सुझाया था, या यह उन्हीं की मौलिक सूझ थी, पर सुनते ही इस ग्रन्थ को देखने और पढ़ने की मेरी इच्छा हुई। मैं अब भी कभी-कभी सोचता हूँ कि इतना अच्छा नाम आखिर इन्हें सूझा कैसे ?

'मेरी असफलताएँ' बाबू गुलाबराय के हास्य-प्रधान निबन्धों का संग्रह है जिनमें उनका आत्म-चरित वर्णित है। ये निबन्ध समय-समय पर लिखे गए हैं। अतः उनमें एक सम्पूर्ण ग्रन्थ की व्यवस्था और सौन्दर्य का तो अभाव है, पर एक मुख्य विषय की प्रधानता होने के कारण एक प्रकार की एकसूत्रता विद्यमान है। सृजनात्मक स्तर पर इसे उनकी सबसे सफल कृति इसलिए कहा जा सकता है कि इसमें उनके व्यक्तित्व के सभी पहलुओं का दिग्दर्शन होता है। इसमें उनका दार्शनिक का रूप भी लक्षित है और निबन्धकार का रूप भी। हास्य तो यहाँ से वहाँ तक बिखरा पड़ा है। इसमें वे एक लेखक के रूप में ही नहीं, व्यक्ति के रूप में भी हमारे सामने आते हैं और उनका यह अन्तिम रूप अत्यन्त आकर्षक है। इन सब बातों पर विचार करते हुए इस कृति को हम उनकी प्रतिनिधि रचना कह सकते हैं।

सन् १९३९ में मैं आगरा कालेज, आगरा के हिन्दी विभाग में लेक्चरर होकर आया था। बाबू गुलाबराय उस नगर से प्रकाशित होने वाले 'साहित्य-सन्देश' के सम्पादक थे। अन्य अनेक लेखकों के अतिरिक्त उन दिनों जैनेन्द्रजी, नगेन्द्रजी एवं सत्येन्द्रजी उसमें लिखा करते थे और महेन्द्रजी तो उसके सञ्चालक ही थे। इन इन्द्रों के बीच गुलाबरायजी की स्थिति गुलाब के बड़े फूल जैसी ही थी। इस पत्रिका के माध्यम से न जाने कितने लेखकों को प्रारम्भ में उनसे प्रेरणा मिली। आज के ख्यातनामा अनेक व्यक्तियों के निर्माण में उनका हाथ था। जिसकी चर्चा उन्होंने कभी कहीं नहीं की। बाबू गुलाबराय सभी दृष्टियों से अत्यन्त सज्जन व्यक्ति थे। जहाँ तक मेरी जानकारी है आचार्य नरेन्द्र-देव के समान उनका भी कोई शत्रु नहीं था। मैंने आज तक किसी के भी मुँह से उनकी किसी प्रकार की कोई निन्दा नहीं सुनी। आलोचक का धर्म बहुत कठोर होता है और शायद ही कोई आलोचक सबको प्रसन्न कर सके पर उनसे कोई अप्रसन्न नहीं था। उनका अपना मकान था। आर्थिक दृष्टि से उन्हें कोई अभाव नहीं था। लोग उनके नाम से परिचित थे और साहित्य के विविध क्षेत्रों में उन्होंने इतना काम किया है जिससे इतिहास

में उनके नाम का उल्लेख हो सके। एक व्यक्ति के लिए इतना बहुत है। अतः इस ग्रन्थ का नाम जो उन्होंने 'मेरी असफलताएँ' रखा है, वह विनम्रता प्रदर्शन के लिए ही है।

'मेरी असफलताएँ' का विशेष महत्त्व मध्यवर्ग के एक व्यक्ति की जीवनी की दृष्टि से है। बाबूजी की प्रामाणिक जीवनी के लिए यह एक उपयोगी सन्दर्भ-ग्रन्थ सिद्ध होगा। जन्म से लेकर सत्तर वर्ष की अवस्था तक की सभी महत्वपूर्ण घटनाएँ कहीं संकेत से और कहीं विस्तार के साथ इसमें वर्णित है। अतः तिथियों, तथ्यों और घटनाओं के जो उल्लेख यहाँ-वहाँ दिए गए हैं, उन्हें लेकर कोई चाहे तो उनकी एक छोटी सी जीवनी तैयार कर सकता है। इस आत्म-कथा में आत्म-श्लाघा का एकदम अभाव है। इसके विपरीत विनय और विनम्रता की ओर यह आवश्यकता से कुछ अधिक झुकी हुई है। सामान्य वर्ग के लोगों का स्मरण जिस आत्मीयता के साथ इसमें किया गया है, वह लेखक के हृदय की विशालता का परिचायक रहेगा।

आत्म-कथा लिखना एक सङ्कट मोल लेना है, इसी से यह काम केवल महान पुरुषों को सौंप दिया गया है। इसमें अपनी प्रशंसा कीजिए तो झंझट, निन्दा कीजिए तो झंझट। हास्य का क्षेत्र तो और भी कठिन है। बाबू गुलाबराय का कमाल यह है कि उन्होंने जीवनी और हास्य दोनों को मिला दिया है और उससे जो परिणाम उत्पन्न हुआ है, वह साहित्य के लिए अत्यन्त शुभ सिद्ध हुआ है। जीवन इनका बहुत घटनापूर्ण नहीं था। इसी से जीवन के कुछ प्रसङ्गों को रोचक दृष्टि से देखकर इन्होंने रोचक साहित्य की सृष्टि की है। इस आत्म-कथा में यह दृष्टिकोण ही महत्वपूर्ण है। सुख में दुःख में, श्रम में विश्राम में, नौकरी में व्यापार में, सोने-चाँदी के सट्टे में, परिचितों से मिलने में, गाय-भैंस पालने में, तात्पर्य यह कि सभी कहीं इन्होंने अपने विनोद की सामग्री ढूँढ़ ली है और इस प्रकार अपना जीवन जीने योग्य बना लिया था।

बाबू गुलाबराय का हास्य एक शिष्ट व्यक्ति का हास्य है। वह एक ऐसे व्यक्ति का हास्य है जो हास्य में भी दूसरों की मर्यादा का ध्यान रखता है। एक भी स्थल ऐसा नहीं है। जहाँ किसी व्यक्ति की भावना को ठेस पहुँचे। इनके निबन्धों को पढ़कर जोर से हँसने की बात तो दूर, मन्द मुस्कान भी ओठों पर नहीं दौड़ती। केवल भीतर ही भीतर एक प्रकार के आत्म-विस्तार और आत्म-सुख का अनुभव होता है। इनकी रचनाओं में सन्दर्भ बहुत पाये जाते हैं। स्थान-स्थान पर फ्रायड और डार्विन, टेनीसन और कालरिज, भवभूति और कालिदास, सूर और तुलसी, गांधी और टैगोर, मैथिलीशरण और प्रेमचन्द के ग्रन्थों से उद्धरण देकर जब ये हास्य उत्पन्न करते हैं तो ऐसा लगता है जैसे ये एक सन्दर्भ-प्रेमी व्यक्ति हैं और हास्य को अधिकतर साहित्यिकता तक सीमित रखना चाहते हैं। इनके हास्य की सफलता का रहस्य यह है कि सबसे अधिक ये अपने ऊपर हँसे हैं। इन लेखों में बार-बार इन्होंने अपनी अपरिपक्वता अव्यावहारिकता, अव्यवस्था, अनुभवहीनता और भुलक्कड़पन की खिल्ली उड़ाई है। ऐसा उन्होंने अपने दोषों को छिपाने के लिए नहीं किया इनका आत्म विश्लेषण आत्म-रति से हीन तथा आत्म-स्वीकृतियाँ एक निश्छल व्यक्ति की आत्म-स्वीकृतियाँ हैं। उन्हें पढ़कर इनके प्रति सहानुभूति और सम्मान की भावना जागृत होती है। इस स्पष्टवादिता पर ध्यान दीजिए—

१—मुझे अपने मिडियोकर (Midiocre) होने पर गर्व है।

२—लेखक भी मैं ठोक-पीटकर ही बना हूँ। प्रतिभा अवश्य है, परन्तु यह एक तिहाई से अधिक नहीं। मेरे लेखन में दो-तिहाई परिश्रम और चोरी रहती है। मुझमें पाण्डित्य का विस्तार चाहे हो, किन्तु गहराई नहीं है और यथार्थता और निश्चयता और भी कम। किन्तु मैं इस कमी को सफलतापूर्वक छिपा लेता हूँ।

बाबू गुलाबराय को दृष्टि से उनके जीवन की असफलताएँ चाहे कुछ भी रही हों, पर इसमें सन्देह नहीं कि शिष्ट हास्य की साहित्यिक कृति के नाते 'मेरी असफलताएँ' एक अत्यन्त सफल आत्म-कथा है।

—८८८, कल्याणीदेवी इलाहाबाद-३

बाबू गुलाबरायजी के साहित्यादर्श

प्रो० देवीप्रसाद गुप्त

बाबू गुलाबरायजी ऐसे सुधी समीक्षक थे, जिन्होंने काव्य की परम्पराओं के अध्ययन और सामयिक रचनाओं के अनुशीलन के उपरान्त अपने अनुभव अनुस्यूत निष्कर्षों को सिद्धान्तों के रूप में प्रस्तुत किया। बाबूजी के साहित्यादर्शों का हिन्दी के विद्यार्थी और विद्वत् समाज द्वारा समुचित सत्कार और सम्मान भी हुआ। उनके मत और मान्यतायें मूल्याङ्कन का मानदण्ड बनने के साथ-साथ साहित्यानुशीलन में भी अत्यधिक सहायक हुईं।

श्री गुलाबरायजी की साहित्य विषयक मान्यतायें यद्यपि समसामयिक पत्र-पत्रिकाओं (विशेष रूप से साहित्य-सन्देश में), पुस्तकों की भूमिकाओं और प्राक्कथनों, समीक्षा टिप्पणियों आदि में प्राप्त होती रही हैं, तथापि उनका सम्यक् विवेचन निम्न पुस्तकों में प्राप्य है—१–सिद्धान्त और अध्ययन, २–काव्य के रूप, ३–नवरस, ४–अध्ययन और आस्वाद, ५–साहित्य-समीक्षा, ६–हिन्दी नाट्य विमर्श, ७–हिन्दी काव्य विमर्श। उपर्युक्त पुस्तकों में भी प्रथम दो तो विशुद्ध सिद्धान्त विवेचक पुस्तकें हैं। वास्तव में बाबूजी के सिद्धान्त व्याख्याता का स्वरूप इन्हीं में प्रकट हुआ है। उनके साहित्य-सिद्धान्त विवेचन का ढङ्ग यह है कि वह किसी भी साहित्याङ्ग या विधा का विवेचन करने से पूर्व उसके सम्बन्ध में दिये गये भारतीय अभारतीय विद्वानों के मतों का सव्याख्या विवेचन करते हैं और अन्त में अपना निश्चित मत या मान्यता (स्थापना) सतर्क प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार एक ओर उन्होंने परम्परा के स्वरूप की रक्षा की है और साथ ही प्रगति के पथ को भी प्रस्तुत किया है।

'काव्य के रूप' नामक पुस्तक में बाबूजी ने साहित्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—"साहित्य संसार के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया अर्थात् विचारों, भावों, सङ्कल्पों की शाब्दिक अभिव्यक्ति है और वह किसी न किसी प्रकार के हित का साधन करने के कारण संरक्षणीय हो जाती है।" इस परिभाषा में भारतीय और पाश्चात्य मान्यताओं का सुन्दर समन्वय हुआ है। क्योंकि जहाँ वह साहित्य को हित साधन करने वाला कहकर 'सहितस्य भावं साहित्य, का समर्थन करते हैं वहीं उसे भावों और विचारों की शाब्दिक अभिव्यक्ति कहकर उसमें मनस् और बुद्धि तत्त्वों की अनिवार्यता की पाश्चात्य धारणा को भी स्वीकृति प्रदान करते हैं। 'काव्य' को परिभाषाबद्ध करते हुए उन्होंने लिखा है कि—"काव्य संसार के प्रति कवि की भाव-प्रधान मानसिक प्रतिक्रियाओं की श्रेय को प्रेय देने वाली अभिव्यक्ति है।" (काव्य के रूप, पृष्ठ १८) प्रस्तुत परिभाषा में बाबू गुलाबरायजी ने संसार के प्रति कहकर उसके (काव्य) सामाजिक और मानसिक प्रतिक्रिया कहकर वैयक्तिक अर्थात् दोनों पक्षों को महत्ता दी है। काव्य के भेदों का विवेचन करते हुए उन्होंने महाकाव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—"महाकाव्य वह विषय प्रधान काव्य है जिसमें कि अपेक्षाकृत बड़े आकार में जाति में प्रतिष्ठित और लोकप्रिय नायक के उदात्त कार्यों द्वारा जातीय भावनाओं, आदर्शों, आकांक्षाओं का उद्घाटन किया जाता है।" (वही, पृ. ८६) महाकाव्य के सम्बन्ध में बाबूजी ने संस्कृत आचार्यों के परम्परित आदर्शों को ही ग्रहण किया है। हाँ, जातीय जीवन को परिभाषा का अङ्ग बनाकर उन्होंने एतद्विषयक विवेचन में महाकाव्य के आधुनिक युगादर्शों की भी स्वीकृति की है।

गद्य रूपों में उपन्यास के विषय में बाबूजी की मान्यता इस प्रकार है—"उपन्यास कार्य-कारण शृङ्खला में बँधा हुआ वह गद्य का कथानक है। जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों

से सम्बन्धित वास्तविक या काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।" स्पष्ट है कि बाबूजी उपन्यास को वास्तविक जीवन का चित्र मानते हैं। किन्तु उपन्यास में यथार्थवाद के महत्व को स्वीकार करने के साथ-साथ उन्होंने रसात्मकता को भी महत्त्व दिया है। कहानी में उन्होंने पाश्चात्य विचारकों की भाँति कौतूहल को महत्व दिया है। "छोटी कहानी एक स्वतः पूर्ण रचना है जिसमें एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्ति केन्द्रित घटना या घटनाओं के आवश्यक परन्तु कुछ-कुछ अप्रत्याशित ढङ्ग से उत्थान पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला कौतूहल पूर्ण वर्णन हो।" (काव्य के रूप पृ० २०३) गद्य रूपों के ही विवेचन में उन्होंने निबन्ध के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा है कि—"निबन्ध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजोपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक सङ्गति और सम्बद्धता के साथ किया जाता है।" इस परिभाषा में हम देखते हैं कि बाबूजी ने निबन्ध रचना के सभी आवश्यक गुणों का सुन्दर ढङ्ग से समाहार किया है। इसी प्रकार बाबूजी ने जीवनी आत्मकथा, रिपोर्ताज, गद्य काव्य, नाटक, रेखाचित्र, संस्मरण और समालोचना की भी परिभाषाएँ दी हैं और सिद्धान्तों तथा आदर्शों का भी प्रतिपादन किया है यही नहीं इन विधाओं के रचयिताओं के लिए अपेक्षित गुणों का भी विवेचन किया है। उदाहरण के लिए समालोचक के लिये उन्होंने लिखा है कि—"वह (आलोचक) वास्तव में ग्रन्थ कर्त्ता और पाठक के बीच मध्यस्थ या दुभाषिया का कार्य करता है। उसका दोनों के प्रति उत्तरदायित्व है। (पृ० २५२) आलोचना का मूल्य बताते हुए बाबूजी ने लिखा है कि—"समालोचना केवल आलोचक की वाणी का विलास मात्र नहीं है वरन् उसका मूल्य साहित्य और समाज दोनों के लिए है।......अच्छी आलोचनाएँ केवल लेखकों के लिए ही अंकुश का काम नहीं करती वरन् वे सीधी तौर से भी सामाजिक आदर्शों को प्रभावित करती रहती है।" (पृ० २५३)

बाबूजी के साहित्यादर्शों के अवलोकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह साहित्यिक रचनाओं को व्यक्ति हित और सामाजिक उत्थान की वस्तु समझते थे। वह कला को जीवन चेतना से सम्पृक्त करके देखते थे। इसीलिये उन्हें कला कला के लिये और कला जीवन के लिये दोनों दृष्टिकोण युग, जीवन और समाज की प्रवृत्तियों के अनुसार मान्य थे। वे सदैव ही वादों के विवाद से विलग रहकर साहित्य साधना में रत थे। इसीलिए उनके सिद्धान्त प्रतिपादन में कट्टरता, आग्रह और अन्धानुकरण न होकर परम्परानुमोदिनी प्रगतिशीलता है। बाबूजी के साहित्यादर्शों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अनुभव अनुस्यूत हैं। उनके निर्माण की पृष्ठभूमि में वर्षों की अमोघ साहित्य-साधना सन्निहित है। सिद्धान्तों के अतिरिक्त उनके समीक्षात्मक साहित्य में भी पूर्व और पश्चिम का अपूर्व समन्वय हुआ है। जिसके कारण उनकी समीक्षाएँ पुष्ट और पूर्ण हैं। डा० विजयेन्द्र स्नातक के शब्दों में—"बाबूजी का समस्त आलोचनात्मक साहित्य मूल रूप से भारतीय शास्त्र परम्परा पर आधृत उसी का स्वच्छ और स्पष्ट विवेचन है। यत्र-तत्र उसमें पाश्चात्य मीमांसकों की विचारधारा का संमिश्रण हुआ है। जो केवल पुट के रूप में ही माना जायगा। चिन्तन, मनन, अध्ययन और उपस्थापन की भित्ति शुद्ध भारतीय है। इसीलिए उनके सिद्धान्तों में बल है, शक्ति है, आर्जव भाव है। काव्य शास्त्र के पुनराख्यान काल में बाबूजी की हिन्दी को यह महान देन है। इससे लाभान्वित होने वाला आज का हिन्दी विद्यार्थी और साहित्यानुरागी भली भाँति परिचित है। निश्चय ही उनके आभार को विस्मृत नहीं किया जा सकता।" (समीक्षात्मक निबन्ध पृ० १२०) इस प्रकार हिन्दी साहित्य सिद्धान्त और समालोचना दोनों ही क्षेत्रों में बाबूजी ने अपूर्व योगदान दिया। साहित्य के इन दोनों पक्षों की अमूल्य श्रीवृद्धि और समृद्धि की।

—गवर्नमेण्ट कालेज, सीकर (राज०)

बाबूजी का सैद्धान्तिक आलोचना को योगदान

डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

बाबूजी के आलोचनाशास्त्र की दृष्टि से तीन ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। नवरस (संवत् १९८६ वि०), सिद्धान्त और अध्ययन तथा काव्य के रूप। इसका यह अर्थ नहीं है कि बाबूजी की व्याख्यात्मक आलोचना-पुस्तकों में सैद्धान्तिक आलोचना का अभाव है। रामचन्द्र शुक्ल-युग के और आज के नवीनतम आलोचकों की व्याख्यात्मक आलोचनाओं की विशेषता ही यह है कि उनमें मिश्रित आलोचनात्मक शैली प्रयुक्त होने के कारण व्याख्यात्मक आलोचना के साथ-साथ सैद्धान्तिक आलोचना भी चलती है।

नवरस १९२९-३० ई० की कृति थी। इस समय तक जिस प्रकार राजनीति के क्षेत्र में विदेशी सिद्धान्तों को भारतीय परिस्थिति की अनुकूलता की दृष्टि से उन्हें अपनाया जा रहा था, उसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में देशी-विदेशी साहित्य-सिद्धान्तों का मिश्रित रूप प्रयुक्त हो रहा था। 'नवरस' सबसे पहली पुस्तक है जिसमें शास्त्र की पीटी हुई लकीर से हटकर नये दृष्टिकोण से रस के सिद्धान्तों पर विचार किया गया है। वह पहली पुस्तक है जिसमें काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण के उदाहरणों को छोड़ हिन्दी के प्राचीन और नवीन कवियों के उदाहरणों को मान दिया गया है (उसमें कुछ उदाहरण अनुपयुक्त भी हैं) और उसमें पहली बार रस के मनोवैज्ञानिक पक्ष को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया तथा स्थायीभावों का मौलिक सहज वृत्तियों से सम्बन्ध जोड़ा गया है। (सिद्धान्त और अध्ययन की भूमिका, पृष्ठ २७)।

नवरस का योगदान बाबूजी के शब्दों में ही स्वयं स्पष्ट है। १९२९-३० में रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का कार्य बाबूजी ने ही किया, यह स्मरणीय है। यह अवश्य है कि बाबूजी का 'मनोविज्ञान' मैगडूगल और फ्रायड तक ही सीमित था। उदाहरणतः स्थायीभावों का सहज वृत्तियों से जो सम्बन्ध उक्त मनोवैज्ञानिक बताते हैं, वह प्रामाणिक इसलिए नहीं है क्योंकि उनमें सामाजिक विकास के दौरान में मनुष्य की विकसित भाव-राशि अथवा उदात्तीकृत भाव-प्रक्रिया पर विचार नहीं किया गया किन्तु यह कमी केवल बाबूजी में ही नहीं है, हिन्दी के सभी परम्परावादी आचार्यों में यह दोष मिलता है। हिन्दी में जिस मनोविज्ञान का प्रयोग होता आया है, वह 'शरीर-शास्त्र' के ज्ञान से वञ्चित रहा आया है। अतएव बाबूजी के रस और मनोविज्ञान के सम्बन्ध में उनकी उपलब्धि मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित करने में तथा सामान्य मनोविज्ञान (जीवन-निरीक्षण पर आधारित) से साहित्य को सम्बद्ध करने में है।

नवरस की कठोर आलोचना सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी 'रसमञ्जरी' में प्रकाशित की थी। निश्चित रूप से सेठजी द्वारा प्रदर्शित 'शास्त्रीय अशुद्धियाँ' नवरस में हैं किन्तु सेठजी की शास्त्रीय शुद्धता के बावजूद बाबूजी युग-प्रवर्तक आलोचक हुए क्योंकि उन्होंने परम्परा का अन्धानुकरण न करके पाश्चात्य ज्ञान से लाभ उठाया और नए ढङ्ग से विचार करने का साहस किया।

बाबूजी की प्रतिभा विषय और व्यक्ति दोनों तत्वों को लेकर चली है। यही कारण है कि उनके सिद्धान्तों में किसी एक पक्ष का द्वितीय पर अधिक दबाव नहीं पड़ता। आचार्य शुक्ल की 'विचारसङ्गति' और 'दृढ़ता' की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है कि "शुक्लजी की प्रतिभा विषय प्रधान थी, इसी कारण वे भावपक्ष की अपेक्षा विभावपक्ष को अधिक महत्ता देते हैं.......वे अभिव्यञ्जना की शैली की अपेक्षा काव्य की वस्तु पर अधिक बल देते हैं।" इस विषयप्रधानता के कारण ही शुक्लजी जहाँ छायावाद, रहस्यवाद तथा कृष्णभक्त कवियों की सीमाओं को दिग्दर्शित करने में अधिक

सफल हुए, वहीं वे इनकी उपलब्धियों का अवगाहन नहीं कर सके। यह कार्य बाबू गुलाबराय के दृष्टिकोण से अधिक सम्पन्न हुआ है। सूरदास, सुमित्रानन्दन पन्त, प्रसाद, निराला आदि कवियों की आलोचनाओं में बाबूजी विषय विषयीगत सन्तुलित दृष्टिकोण के कारण अपेक्षाकृत शुक्लजी से अधिक सफल हुए हैं।

भारतीय साहित्यशास्त्र में कुछ मौलिक अभाव हैं। यहाँ यह विचार नहीं हुआ कि "अनुभूति किस प्रकार उत्पन्न होती है", और यह कि किस प्रकार ये अनुभूतियाँ सामाजिक कार्यों के लिए प्रेरक बनती हैं। रामवत् आचरण का उपदेश अवश्य है परन्तु बदलती हुई सामाजिक स्थितियों में उसका क्या रूप होगा, यह अविचारित ही रहा है। इसी प्रकार "रसवादियों की सबसे बड़ी भ्रान्ति भाव को समाज निरपेक्ष वस्तु समझने में है"। "अनुभावों का सामाजिक कर्मप्रेरकत्व" भी यहाँ बिलकुल स्वीकृत नहीं हुआ। "रसवाद को देशकाल निरपेक्ष सार्वजनीन मानवसत्य" के रूप में देखने के कारण, एक बार इस तथ्य को स्वीकृति मिलते ही फिर इस विषय में केवल नायक-नायिकाओं के वर्गीकरण ही चलते रहे और फलतः हमारा परम्परावादी शास्त्र नये साहित्य की समीक्षा में ही अपर्याप्त प्रमाणित नहीं हुआ अपितु वह समाज के नूतन विधान के मार्ग में बाधक भी बनता गया। आज के सभी परम्परावादी साहित्यशास्त्री, जो पुराने साहित्यशास्त्र को "सोशल कण्टेंण्ट" देने में असमर्थ हैं, वे साहित्यिक और सामाजिक दोनों दृष्टियों से प्रतिक्रियावाद के अनजान में ही समर्थक हैं। हिन्दी की सैद्धान्तिक आलोचना में एक सीमा तक संक्रान्ति या गतिरोध का कारण यही है।

उक्त कमी न पण्डित रामचन्द्र शुक्ल दूर कर सके, न बाबू गुलाबराय, न अन्य परम्परावादी आलोचक किन्तु यह स्मरणीय है कि नये साहित्य की माँगों के अनुरूप शुक्लजी, बाबू गुलाबराय, पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र आदि आलोचकों ने पुराने शास्त्र की नवीन व्याख्याएँ अवश्य की हैं, और ये रोचक हैं। शुक्लजी, श्यामसुन्दरदास, वाजपेयीजी, नगेन्द्रजी, बाबूजी तथा अन्य आलोचक रस और साधारणीकरण की व्याख्याओं में पूर्णतः इसीलिए सहमत नहीं हो पाए क्योंकि इनमें प्रत्येक नए साहित्य की माँगों के अनुरूप शास्त्र से 'नये' सिद्धान्तों का दोहन करना चाहता है। शुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से इनमें प्रत्येक की व्याख्याएँ 'पूर्णतः शास्त्र सम्मत' नहीं हैं, अनजान में ही इनके मन की चाह, शास्त्र को, ग्रन्थकर्त्ताओं के वास्तविक मन्तव्य को स्वीकार नहीं करने देती और यह हिन्दी के लिए एक सीमा तक हितकर ही हुआ है। भट्टलोल्लट, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि के मन्तव्यों को लेकर हिन्दी में जो विवाद चला है, वह मेरे कथन का प्रमाण है।

इस सम्बन्ध में बाबूजी ने आचार्यों की जो व्याख्या की है वह स्पष्टतः निर्भ्रान्त नहीं हो सकती थी। इसका एक कारण आचार्यों की संक्षिप्तवाद भी है परन्तु इससे अधिक उक्त कारण है। 'सिद्धान्त और अध्ययन' में बाबूजी की उपलब्धि इस बात में है कि वह सर्वत्र सजग हैं कि ये सब सिद्धान्त आज कहाँ तक उपयोगी हैं। उदाहरणतः शंकुक के मत की व्याख्या में वह कहते हैं कि उनके मत के अनुसार उपन्यासों के कल्पित पात्रों की व्याख्या नहीं हो सकती। इसी प्रकार शुक्लजी के 'व्यक्तिवैचित्र्यवाद और साधारणीकरण' के सम्बन्ध में बाबूजी ने लिखा है कि "व्यक्ति कुछ समान धर्मों की ही प्रतिष्ठा के कारण नहीं वरन् अपने पूर्ण व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा में सहृदयों का आलम्बन बनता है।" (पृ० १६९)

इस सम्बन्ध में बाबूजी 'आलम्बनगत गुणों के साधारणीकरण' पर बल देने वाले शुक्लजी के सिद्धान्त के सम्मुख सीता के साथ डैसडेमोना का उदाहरण रखते हैं। वह सीता और हेलेन को भी साथ रखकर विचार करते थे। बाबूजी न्याय शास्त्री भी थे। अतः न्यायशास्त्र पर शुक्लजी के आक्षेपों का भी बाबूजी ने युक्तियुक्त उत्तर दिया है। किन्तु साथ ही बाबूजी ने शुक्लजी का एक अन्य उद्धरण देकर बाबू श्यामसुन्दरदास द्वारा शुक्लजी पर किए गए आक्षेपों का भी उत्तर दिया है। यद्यपि अभिनवगुप्त का अनुसरण कर शुक्लजी द्वारा उठाये गये तादात्म्यवादी झगड़े का समाधान भी कर दिया है। बाबूजी ने डा० नगेन्द्र की व्यक्तिवादी शास्त्र व्याख्या पर भी विचार किया है। डा० नगेन्द्र के

अनुसार "साधारणीकरण का अर्थ है, कवि की अनुभूति का साधारणीकरण जो भट्टनायक और अभिनवगुप्त का प्रतिपाद्य है।"

स्पष्टतः डा० नगेन्द्र ने अपने मत का शास्त्र से दोहन किया है और यह इस अर्थ में उपयुक्त भी है कि युग धर्म के अनुसार कामधेनु रूपी शास्त्र से नए-नए सिद्धान्तों का दोहन करना चहिये किन्तु भट्टनायक और अभिनवगुप्त कवि की अनुभूति का साधारणीकरण मानते थे, यह कहना कठिन है। डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने रस गङ्गाधर पर अपने शोध-प्रबन्ध में शास्त्र की काफी अंशों में प्रामाणिक व्याख्या की है। यद्यपि अब भी यह विचारणीय है कि अन्ततः आचार्यों का मन्तव्य क्या था। बाबूजी जानते थे कि यह विवादास्पद है अतः वह शुक्लजी के वाक्य का संकेत लेकर डा० नगेन्द्र की व्यक्तिवादी व्याख्या को संतुलित करते हैं। बाबूजी के अनुसार "राम सीतादि का रूप विभिन्न कवियों की भावनाओं की अभिव्यक्ति पर ही आश्रित रहता है तथापि जनता के मन में भी परम्परागत संस्कारों से एक सामान्य भावना बनी रहती है। वही आलम्बन का विषयगत अस्तित्व है।" (पृ० १७७) इस प्रकार यहाँ बाबूजी शुक्लजी के साथ हैं और साथ ही डा० नगेन्द्रजी के साथ भी हैं। उदार दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक व्याख्या में सत्य का अंश है और बाबूजी का योगदान यही है कि वह प्रत्येक सिद्धान्त से कुछ उपयोगी तत्त्व निकाल लेते हैं। उन्होंने शुक्लजी के आलम्बनगत गुणों के साधारणीकरण का विरोध किया और श्यामसुन्दरदासजी की इस व्याख्या का समर्थन किया कि साधारणीकरण पूर्ण परिस्थिति का होता है किन्तु साथ ही डा० नगेन्द्र की केवल विषयीगत व्याख्या को भी स्वीकार नहीं किया और आलम्बन के कुछ सामान्य गुणों की लोकधारणा को सम्भव मानकर शुक्लजी के "लोक हृदय की पहचान" का समर्थन किया। शुक्लजी की प्रतिभा के विषय में लिखा कि वह विषयगत प्रतिभा थी और डा० नगेन्द्र की प्रतिभा के विषय में लिखा है कि वह विषयीगत है। (पृष्ठ १७६) बाबूजी के समन्वयवाद का यह उत्कृष्टतम उदाहरण है।

"काव्य की आत्मा, सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् जैसे निबन्धों में बाबूजी ने व्यावहारिक और स्वानुभूतिपरक दृष्टि अपनाई है। यहाँ भी प्रत्येक सम्प्रदाय से उपयोगी तत्त्व ग्रहण करने पर बल है किन्तु कोई नया सिद्धान्त प्रवर्तित नहीं है। कलाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि शायद सर्वप्रथम बाबूजी ने ही हेगेल के कलावर्गीकरण पर हिन्दी में लिखा था कि कविता और स्वप्न शीर्षक निबन्ध कुछ अधिक मौलिक है क्योंकि यह बाबूजी का अपना क्षेत्र है। सत्य और सौन्दर्य के विचार में "बदलते हुए सत्य" पर विचार नहीं है, यद्यपि इस तथ्य पर बल दिया गया है कि लौकिक सत्य काव्य का मेरुदण्ड है। रस और मनोवेग में बाबूजी ने अपने मनोविज्ञान का चमत्कार दिखाया है और अनुभावों के प्रसङ्ग में चार्ल्स डार्विन नक को उद्धृत किया है। इससे इस तथ्य पर बल दिया गया है कि हमारे पूर्वजों की अन्तर्दृष्टि कितनी गम्भीर थी या यह कि मानव जीवन की निरीक्षण करने में हमारे पूर्वज कितने निपुण थे। शब्दशक्ति भारतीय साहित्य-शास्त्र का एक उज्ज्वल पक्ष है। शब्द पर तथा शब्द-शक्ति पर जितना सूक्ष्म और उपयोगी विचार इस देश में हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं हुआ, इस तथ्य पर बाबूजी की अलोचना से भलीभाँति प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः भारतीय आलोचना का यह पक्ष प्रौढ़तम है।

अभिव्यञ्जनावाद और कलावाद निबन्ध में बाबूजी शुक्लजी से कहीं अधिक प्रामाणिक भूमि पर हैं। शुक्लजी का क्रोचे पर रोष का कारण यह युगधर्म था कि कलावाद को क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद में शरण मिलती थी किन्तु क्रोचे के साथ कई स्थानों पर अन्याय होगया है। बाबूजी ने क्रोचे को अधिक उदारता के साथ देखा है। एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि चिन्तामणि भाग २ के पृष्ठ ९७ पर शुक्लजी ने क्रोचे के कथन का विकृतीकरण कर दिया है (२४२)। अतः यह कहना बाबूजी के प्रति अन्याय होगा कि बाबूजी अपने सामन्वयवाद के कारण 'अस्पष्ट' हो जाते हैं। आवश्यकता पड़ने पर वह स्पष्ट कहना भी जानते हैं।

काव्य के रूप में बाबूजी व्यावहारिक स्तर पर अधिक दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने काव्य के विभिन्न रूपों की व्याख्या में भारतीय और पाश्चात्य दोनों मानदण्डों का प्रयोग किया है। सरलता और सम्पूर्णता के कारण उक्त दोनों ग्रन्थों का प्रचार छात्रों में ही नहीं अध्यापकों में भी खूब हुआ। किसी एक क्षेत्र के विशेषज्ञ अध्यापक बाबूजी पर प्रायः खीझते हैं कि बाबूजी ने यहाँ भूल कर दी है, वहाँ भूल कर दी है, किन्तु हिन्दी में साहित्यालोचन के पश्चात् सबसे अधिक जनप्रिय पुस्तकों के लेखक बाबूजी ही थे। हम उन्हें बाबू श्यामसुन्दरदास की ही परम्परा में कार्य करते हुए पाते हैं, अन्तर यह है कि बाबू श्यामसुन्दरदास ने केवल पाठ्यपुस्तकों का निर्माण किया था जबकि बाबूजी के ग्रन्थों में पाठ्यपुस्तकनिर्माण और स्वतन्त्रचिन्तन का कुछ इस ढङ्ग से मिश्रण हुआ है कि उन्हें केवल पाठ्यपुस्तक लेखक कह कर बड़ी सुविधा से उनके साथ अन्याय किया जा सकता है। किन्तु साथ ही उनका दूसरा मौलिक पक्ष भी उनके ग्रन्थों में इतना स्पष्ट है कि उन्हें बड़ी सरलता से सर्वथा मौलिक युगप्रवर्तक समालोचक और सर्वाधिक सन्तुलित समीक्षक के रूप में भी देखा जा सकता है। इस सम्बन्ध में भी स्वयं बाबूजी ही वस्तुतः प्रमाण हैं, वह अपने को कभी केवल पाठ्यपुस्तक लेखक के रूप में नहीं मानते थे और अपनी मौलिकता से परिचित थे किन्तु साथ ही उनका यह कभी आग्रह नहीं रहा कि उन्हें सर्वश्रेष्ठ आलोचक मान लिया जाए। बाबूजी वस्तुतः शुक्लयुग और शुक्लोत्तर युग के एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मौलिक आलोचक थे, इस तथ्य को जो स्वीकार नहीं करता, वह स्वर्गीय आलोचक के प्रति ही अनुदार नहीं है, स्वयं अपने प्रति भी अनुदार है। प्रसन्नता का विषय है कि हिन्दी में ऐसे अनुदार व्यक्ति नगण्य हैं।

—गवर्नमेन्ट कॉलिज, नैनीताल।

(पृष्ठ ११ का शेषांश)

से दूर रहकर साहित्यिक सन्त की भाँति जीवन व्यतीत करते थे।

इस प्रकार मैंने बाबूजी के निकट रहकर उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व का जो कुछ अध्ययन किया, उसके बल पर कहा जा सकता है कि बाबूजी अनवरत साहित्य-साधना में लीन रहने वाले साहित्यिक योगी थे। उनका जीवन छल-छद्म से सर्वथा दूर सात्विकता, सरलता, सज्जनता एवं कर्तव्य परायणता से परिपूर्ण था। वे सौजन्यपूर्ण विनम्रता की साकार मूर्ति थे। सहिष्णुता उनकी रग-रग में भरी हुई थी। इसी कारण अपने उग्र से उग्र एवं कटु से कटु आलोचक को वे मुस्कराहट के साथ उत्तर दिया करते थे। उनमें बाल सुलभ सरलता एवं वृद्धोचित गम्भीरता का अद्भुत सम्मिश्रण था। बाबूजी का हृदय संवेदनशील था और इसीलिए दूसरों की समस्याओं,, मुसीबतों एवं कठिनाइयों को बड़ी सहानुभूति एवं समवेदना के साथ सुनते थे और उन्हें दूर करने का भरसक प्रयत्न करते थे। ऐसे आस्तिक, अहिंसावादी, अध्यात्मवादी एवं समन्वयवादी बाबूजी के व्यक्तित्व का सभी साहित्यकार लोहा मानते थे और उनके पथ-प्रदर्शन से लाभान्वित होते थे। बाबूजी बड़े ही सौम्य एवं निर्लिप्त थे। इसीलिए प्रथम भेंट में ही व्यक्ति को अपना प्रशंसक बना लेते थे। वे अपने युग की समस्त प्रगतिशील धारणाओं एवं मान्यताओं से अवगत थे और इसी कारण वे अपने साहित्य के माध्यम से समाज एवं राष्ट्र की उन्नति एवं मानवता की सेवा के लिए अनवरत प्रयास करते रहे।

—अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, खुर्जा

शास्त्रीय आलोचक—बाबूजी

डा० कैलाशचन्द्र भाटिया

हिन्दी-संसार में बाबूजी का नाम सर्वविदित है। निबन्धकार के आप सर्वमान्य थे सम्भवतः कोई ही ऐसी पाठ्य पुस्तक हो जिसमें आपका निबन्ध सङ्कलित न हो। हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र के प्रधान पत्र 'साहित्य-सन्देश' के सम्पादक रहने के नाते समय-समय पर विभिन्न पुस्तकों पर बाबूजी की समीक्षात्मक टिप्पणियाँ प्रकाशित होती रहती थीं। आपके आलोचनात्मक निबन्ध भी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित होते रहे। वैयक्तिक निबन्धों के क्षेत्र में तो बाबूजी का विशिष्ट स्थान है। अन्य विषयों के साथ-साथ आपकी लेखनी शास्त्रीय विषयों पर भी चलती रही। रस, अलङ्कार, दोष आदि शास्त्रीय विषयों के सम्यक् विवेचन साहित्य-सन्देश के विभिन्न अङ्कों[1] में बिखरे पड़े हैं। साथ ही इन विषयों का विवेचन करने वाले सभी शास्त्रीय ग्रन्थों का आपने सम्यक् अनुशीलन भी किया था। इन सब ग्रन्थों के गुण-दोष से आप परिचित थे।

इस क्षेत्र में सर्वप्रथम पुस्तक 'नवरस' प्रकाशित हुई।[2] इस पुस्तक में बाबूजी ने 'रस-सिद्धान्त' पर नये दृष्टिकोण से विचार करने का सूत्रपात किया। 'रस' के मनोवैज्ञानिक पक्ष को प्रकाश में लाने का श्रेय बाबूजी को ही है। इस प्रकार इस पुस्तक में रस के मनोवैज्ञानिक पक्ष का स्थायीभाव की मौलिक सहज वृत्तियों से सम्बन्ध जोड़ा गया है। इस पुस्तक पर टिप्पणी करते हुए डॉ० स्नातक लिखते हैं "मैं 'नवरस' ग्रन्थ को बाबू जी के भारतीय समीक्षा के प्रेम और आग्रह का प्रतीक मानता हूँ और मेरी धारणा है कि पाश्चात्य दर्शनशास्त्र तथा काव्यशास्त्र का विधिवत अध्ययन करने के बाद भी बाबूजी भारतीय आचार्यों की रस, अलङ्कार, वक्रोक्ति तथा ध्वनि विषयक मान्यताओं को ही अपने समीक्षा विषयक ग्रन्थों के लिए उपादेय मानते रहे हैं।"

नाट्यशास्त्र के सभी विषयों का विवेचन करते हुए आपने 'हिन्दी नाट्य विमर्श'[1] पुस्तक प्रस्तुत की। वस्तुतः बाबूजी के मौलिक विचार इन दो पुस्तकों में ही हैं। पर सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में सर्वाधिक प्रसिद्धि आपके निम्नलिखित दो ग्रंथों के आधार पर हुई।

१. सिद्धान्त और अध्ययन २. काव्य के रूप।

यह निर्विवाद है कि आचार्य शुक्ल के "शास्त्रीय निबन्धों", बाबू श्यामसुन्दरदास के "साहित्यालोचन" तथा पं० रामदहिन मिश्र के "काव्य दर्पण" के पश्चात् हिन्दी-संसार ने बाबूजी का "सिद्धान्त और अध्ययन" ही एक ऐसा ग्रंथ पाया जिसने इस परम्परा को अग्रसर ही नहीं किया वरन् अनेक उलझी हुई समस्याओं को स्पष्ट भी किया। डा० सत्येन्द्र के शब्दों में "द्विवेदी युग की शैली में अधुनातन विचारों का ऐसा प्रतिपादन सचमुच ही हिन्दी साहित्य को एक देन है।"[2]

इस क्षेत्र में आपकी विशेषता यह है कि आपने विषयों का विवेचन एकाङ्गी दृष्टिकोण से नहीं किया। आपके हृदय में आकांक्षा थी सत्यान्वेषण की और इस अन्वेषण के लिए ही आपने संस्कृत साहित्य से लेकर

---

[1] कुछ उल्लेखनीय निबन्ध इस प्रकार हैं—
आलोचना का मान, अक्टूबर १९३९।
समालोचक के कर्त्तव्य और गुण, जून १९४७।
हिन्दी में सैद्धान्तिक आलोचना, नवम्बर, १९५१।
मनोविश्लेषण और आलोचना, जुलाई, १९५२।
कहानी का मनोवैज्ञानिक सत्य, १९५२-५३, पृ० २९०
काव्येषु नाटक सम्यक्, १९५५, पृ० ५।

[2] नवरस, प्रथम संस्करण १९३३ तथा द्वितीय संस्करण आरा नागरी प्रचारिणी सभा, १९३४ ई०।

[1] हिन्दी नाट्य-विमर्श, सन् १९४२ प्रकाशक मेहरचन्द लक्ष्मणदास लाहौर फिर दिल्ली।

[2] साहित्य-सन्देश, अगस्त १९४६, पृ० ८५।

आज तक के शास्त्रीय ग्रन्थों के विचारों की छानबीन के साथ पाश्चात्य विचारों से तुलनात्मक विवेचन मीमांसकों के रूप में प्रस्तुत किया। एक ओर प्राचीन विचारों की पुष्टि आपने की और दूसरी ओर अपनी पीढ़ी के आलोचकों द्वारा विरोध होते हुये भी रहस्यवाद, छायावाद आदि नवीनतम प्रवृत्तियों के गुणों का अनुशीलन किया। बाबूजी ने इस ग्रन्थ में आवश्यकतानुसार पाश्चात्य सिद्धान्तों के आलोक में विषयों को स्पष्ट करने तथा बोधगम्य कराने की चेष्टा की है जिसको ग्रन्थ की भूमिका में स्वीकार किया है।[1]

"प्राच्य एवं पाश्चात्य विचारों का अनुशीलन एवं सम्यक् विवेचन करने के पश्चात् आपका ध्यान अधिकाधिक समन्वित रूप की ओर अधिक गया है। "काव्य की आत्मा" के अन्तर्गत सभी समुदायों का विवेचन करते हुए बाबूजी ने उसके समन्वित रूप को भी प्रस्तुत किया। अलङ्कार और अलङ्कार्य के भेद जैसे विवादास्पद विषय पर भी आपने अपने विचार प्रस्तुत किये। क्रोचे ने इसके भेद को स्पष्टतः अस्वीकार करते हुए कला या काव्य में अभिव्यञ्जना को ही सब कुछ माना है। उसने यह भी कहा कि कला संवेदनों की अभिव्यञ्जना है न कि अभिव्यञ्जनाओं की अभिव्यञ्जना। इसके विपरीत शुक्लजी ने उतने ही प्रबल शब्दों में कहा, 'अलंकार-अलंकार्य का भेद मिट नहीं सकता।' गुलाबरायजी ने कुन्तक के मत को देते हुए उसी की पुष्टि की। कुन्तक ने अलङ्कार और अलङ्कार्य के भेद को मानते हुए भी अलङ्कारों को सर्वदा ऊपरी मानना स्वीकार किया है। यदि शरीर को ही अलङ्कार कहा जाय तो यह किसी दूसरी वस्तु का ? बाबूजी ने अलंकारों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहा है, "वे महात्मा कर्ण के कवच और कुण्डल की भाँति सहज होकर ही शक्ति के द्योतक बनते हैं।"

—सिद्धान्त और अध्ययन, (पृष्ठ ४)

डॉ० नगेन्द्र[2] ने भी इस विषय पर विचार प्रकट करते हुए कुन्तक के मत का ही समर्थन किया है और मन्तव्य को शुद्ध बतलाया है।

इस प्रकार काव्य की परिभाषा पर विचार करते हुए आपने प्रान्तीय एवं पाश्चात्य परिभाषाओं को स्थान दिया है और अन्त में अपनी एक समन्वित परिभाषा प्रस्तुत की, "काव्य-संसार के प्रति कवि की भाव-प्रधान किन्तु क्षुद्र वैयक्तिक संबंधों से युक्त मानसिक प्रतिक्रियाओं की कल्पना के ढाँचे में ढली हुई श्रेय की प्रेय रूप उद्घाटन करने वाली प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।"

इसमें कवि, पाठक तथा उसका सम्बन्ध स्थापित करने वाली शैली की महत्ता पर प्रकाश पड़ता है। हम सर्वत्र बाबूजी का समन्वित मत प्राप्त कर सकते हैं। जहाँ कहीं भी शुक्लजी से आपका मतभेद है आपने उस को बहुत स्पष्ट किन्तु नम्र शब्दों में व्यक्त किया है। "मैं आचार्य शुक्लजी के साथ यह मानने को अवश्य तैयार हूँ कि क्रोचे ने वस्तु को गौण रखकर कल्पना को अधिक महत्व दिया है किन्तु कल्पना नितान्त निराधार नहीं होती। क्रोचे ने कल्पना का आधार भाव माना है, वह निरे हवाई किले नहीं बनाता। गुलाबरायजी ने यह स्वीकार किया है और उसमें सङ्कोच नहीं किया कि क्रोचे के विचारों को आपने शुक्लजी के माध्यम से ग्रहण किया है यद्यपि उनके पास क्रोचे की पुस्तक विद्यमान थी। यह उनकी महानता का परिचायक है पर उनकी इस स्पष्टवादिता का परिणाम यह निकला कि कुछ आलोचक उनके इस कथन को लेकर उन पर टूट पड़े[1]।

बाबूजी मूलतः दर्शन के विद्वान् थे और दर्शन से आपने साहित्य में प्रवेश किया था। अतएव यह स्वाभाविक है कि आपके लिखित साहित्य में दर्शन का पुट हो। मनोवैज्ञानिक दृष्टि होने के नाते आपने रस और मनोविज्ञान के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। समालोचना के भेद करते हुए आपने आत्मप्रधान आलोचना को ही सर्वप्रथम स्थान दिया है क्योंकि वह मनोविज्ञान पर आधारित है। इस क्षेत्र में आपने जैनेन्द्रजी को स्मरण किया। समालोचना के अन्य भेदों पर दृष्टिपात करते हुए आपका दृष्टि-बिन्दु

[1] सिद्धान्त और अध्ययन, भूमिका पृ० ख।
[2] डॉ० नगेन्द्र—अलंकार और अलंकार्य, देवनागर २। ३, पृष्ठ ७०।

[1] नागरमल साहित्य-सन्देश, वर्ष १०।३, पृष्ठ ९३।

मनोविश्लेषण शास्त्र पर केन्द्रित हुआ। क्योंकि इसके अन्तर्गत कवि की कुण्ठाओं का भी विवेचन किया गया है। इस क्षेत्र में डॉ० नगेन्द्र का नाम उल्लेखनीय समझा गया है और वस्तुतः है भी ऐसा ही। शब्दों की सारिणी के मूल में भी आपने कवियों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन का ही दर्शन किया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि बाबूजी दर्शन एवं मनोविज्ञान के प्रति पक्षपाती रहे। जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि बाबूजी का दृष्टिकोण एकाङ्गी नहीं है। इसके अनुरूप ही आपने उन मनोवैज्ञानिकों के प्रति बड़ी मीठी चुटकी ली है जो मनोविज्ञान के आधार पर भक्ति को भी शृङ्गार के अन्तर्गत रखना चाहते हैं। पाश्चात्य परम्परा में मनोविज्ञान के आधार पर काव्य के भेद किये गये हैं—१ अन्तर्मुखी और २ बहिर्मुखी। फिर भी बाबूजी ने लिखा है कि "यह विभाजन मनोवैज्ञानिक है तथापि सदोष।" इस कथन में आपकी सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है।

इस क्षेत्र में चौथी महत्वपूर्ण पुस्तक है 'काव्य के रूप' जिसमें निम्नलिखित विषयों पर विचार-विवेचन प्रस्तुत किया गया है—

साहित्य का स्वरूप।

काव्य की परिभाषा।

नाटक : सिनेमा और रेडियो नाटक जैसे विषय भी समाहित हैं।

श्रव्य काव्य : पद्य—प्रबन्ध काव्य—महाकाव्य—खण्डकाव्य।

मुक्तककाव्य।

गद्य—उपन्यास।

कहानी।

उपन्यास।

जीवनी और आत्मकथा।

पत्र-साहित्य।

समालोचना।

हास्य और व्यंग्य आपकी शैली के विशिष्ट अङ्ग हैं। आपके निबन्धों में इसका प्राधान्य है पर शास्त्रीय ग्रन्थ भी इस 'हास्य संश्लिष्ट शैली' से अछूते न रहे। अन्योक्तियों के पक्ष में अपना मत निर्धारित करते हुए आपने कहा, "गूँगा भी सैना बैना का प्रयोग किये बिना नहीं रह सकता फिर यदि कबीर ने अन्योक्तियों और रूपकों का सहारा लिया तो क्या आश्चर्य ?" शैली की वस्तु से पृथकता असिद्ध करते हुए आपने स्पष्ट लिखा है "वस्तु और शैली का पार्थक्य उतना ही असम्भव है जितना 'म्याँउ की ध्वनि का बिल्ली से।" एक स्थान पर आप लिखते हैं जिस प्रकार शारीरिक सौन्दर्य केवल इस बात में सीमित नहीं है कि मनुष्य काना, खुतरा, लूला-लँगड़ा, नकटा, बूचा, काला-कलूटा न हो उसी प्रकार काव्य-सौन्दर्य लक्षणा-व्यञ्जना में ही सीमित नहीं है 'वह चितवन और कछू जिहि बस होत सुजान' जहाँ विषयी प्रधानता का सवाल आता है वहाँ पर जैनेन्द्रजी की सहज बुद्धि का आश्रय लेना पड़ता है। जहाँ मनोभावों का राज्य आ जाता है वहीं आनन्द की सृष्टि होती है, वहीं रस मिलता है।"

ध्वनि के विवेचन में उसके भेदों पर व्यंग्यात्मक हास्य देखिये—हमारे यहाँ के भेदों को देखकर दूसरे साहित्य वाले ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठे हुए छद्म वेषधारी मुसलमान की भाँति चिल्ला उठते हैं' या अल्लाह गौड़ों में भी और 'इन भेदों को गोड़ों तक यानी मोटे-मोटे भेदों तक ही सीमित रक्खूँगा। उपन्यासों का स्रोत खोजते हुए चिड़िया की कहानी का बाबूजी को स्मरण आ जाता है और जालिम राजा की निर्दयता।' शायद हम उतने जालिम नहीं है जितना कि वह था क्योंकि प्रेस की कृपा से हमें निर्दयता करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। हमारे उपन्यासकारों का तो वैसे ही प्रेस में दबकर कचूमर निकल जाता है फिर मरे को कोई क्या मारे।

अभिधा शुक्लजी को प्रिय थी, वह उसको उत्तम काव्य कहते हैं। कुछ विद्वान् अभिधा को निकृष्ट मानते हैं। आपने बड़ी स्पष्टता से अपना मत दिया कि ये चमत्कार के प्रकार हैं दर्जे नहीं।……लक्षणा अभिधा को दिवालिए से साहूकार बना देती है किन्तु उसे व्यञ्जना के बैङ्क का सहारा लेना पड़ता है।

(शेष पृष्ठ २५ पर)

निबन्धकार बाबू गुलाबरायजी

डा० ओंकारनाथ शर्मा

हिन्दी-निबन्ध-साहित्य में डा० बाबू गुलाबरायजी एक ऐसे प्रतिभाशाली निबंधकार थे, जिनका अपना विकास भी हिन्दी-निबंध के साथ ही साथ हुआ। उन्होंने भारतेन्दु युग में जन्म लिया तथा तभी उनका लालन-पालन हुआ। द्विवेदी-युग उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा व्यक्तित्व-निर्माण का समय था। इसी समय उन्होंने निबंध लिखना आरम्भ किया और आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने भाषा को संस्कार-सम्पन्न बनाया। शुक्ल-युग में उनकी निबंध-कला प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हुई तथा अद्यतन-युग में भी वे समय के साथ चलते हुए निबन्ध-साहित्य की श्रीवृद्धि करते रहे। बाबूजी ने स्वयं अपने बारे में लिखा है, "निबन्ध-लेखन द्विवेदी-युग में ही आरम्भ किया था, किन्तु वह द्विवेदीजी का कृपा-पात्र न बन सका।" बाबूजी द्विवेदी-युग के निबंधकारों में अग्रगण्य थे, क्योंकि उन्होंने उस समय भी कुछ निबन्ध लिखे, किन्तु शुक्ल-युग के प्रमुख निबन्धकारों में वे गिने गए क्योंकि उनका भी यही निर्माण-काल प्रमुखतः रहा।

कतिपय समीक्षकों के कथन को कि हिन्दी-निबंध पाश्चात्य-साहित्य की देन है, इस धारणा को बाबूजी ने कभी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने उदिक्त शब्दों में लिखा कि निबन्ध-साहित्य का उदय किसी बाहरी-प्रेरणा से नहीं हुआ, वरन् उसका जन्म परिस्थिति की आवश्यकताओं में हृदय की उमङ्ग से हुआ।" इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि हिन्दी-निबन्ध की उत्पत्ति जिस समय हुई उस समय की परिस्थितियाँ भिन्न थीं। राजकीय अत्याचारों के विरुद्ध लोकमत जागृत करना था। मुसलमानों के लगातार धार्मिक तथा सामाजिक कुठाराघातों से जनता पहले ही बिलख उठी थी, इधर अंगरेजी सत्ता द्वारा आर्थिक स्थिति को भी खोखला कर दिया। ठीक इसी समय और इसी कारण संस्कृत परम्परा से अधिक प्रभावित हो हिन्दी-निबन्ध की उत्पत्ति हुई।

बाबूजी सर्व-प्रथम निबन्धकार थे जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में आलोचनात्मक निबन्धों को ही उच्चकोटि के निबन्ध माना। वे लिखते हैं, "हमारे लेखकों की रुचि सामाजिक और राजनीतिक विषयों की अपेक्षा आलोचनात्मक निबन्धों की ओर अधिक है और इस विषय में कुछ गहराई तक भी पहुँचे हैं। इस गहराई के लिए हम गर्व कर सकते हैं।" इतना ही नहीं अद्यतन-युग के आलोचनात्मक निबन्धों की प्रगति को देखकर उन्होंने "मेरे-निबन्ध" नामक पुस्तक की परिचायिका के अन्तर्गत लिखा है कि आज का हिन्दी-निबन्ध-साहित्य अधिकांश में आलोचना की ओर दौड़ रहा है। हम देखते हैं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भाँति बाबूजी ने भारतीय-समीक्षा-सिद्धान्तों को ही अधिक अपनाया। भारतीय-संस्कृति की विचार-धारा से विशेषतः प्रभावित होने के कारण उन्होंने विशिष्ट कोटि-क्रम के निबन्ध लिखे।

बाबूजी में समयानुकूलता थी। यही कारण है कि शैली में द्विवेदी-युगीन निर्वैयक्तिकता को प्रश्रय देते हुए भी साहित्यिक आलोचना में उन्होंने शुक्ल-युगीन समस्त विशेषताओं को अपना लिया। उधर मुक्त निबन्धों में जहाँ एक ओर गम्भीर दार्शनिकता का परिचय दिया गया है तो बाद के शुक्ल-युगीन प्रभाव की प्रधानता में लिखे उन्मुक्त निबन्धों में उन्होंने एक विशेष साहित्यिक हास-सुषमा का अर्जन किया, जिसकी मनोरमता स्पृहणीय है। बाबूजी ने दर्शन-शास्त्र का भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों प्रणालियों से गम्भीर अध्ययन किया था। उनका ज्ञान-वैविध्य भी प्रशंसनीय है। विषय की दृष्टि से बाबूजी के मुख्यतः निबन्ध चार प्रकार के हैं—

(१) **दार्शनिक विचारात्मक**—ये गम्भीर निबन्ध शैली में और गहन समस्याओं पर विचार करते हुए

लिखे गये हैं। "फिर निराशा क्यों" आदि ऐसे ही निबन्धों के संग्रह हैं।

(२) **साहित्यिक आलोचनात्मक**—ये निबन्ध साहित्य के सिद्धान्तों तथा रूपों की आलोचना करने अथवा उनका प्रतिपादन के निमित्त लिखे गये हैं। इस वर्ग में इन्होंने नये और पुराने सभी साहित्यकारों पर आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे हैं, जो कई साहित्यिक निबन्ध-संग्रहों में प्रकाशित हैं।

(३) **आत्म संस्मरणात्मक**—इन निबन्धों में लेखक ने बहुधा अपने ही जीवन के विशेष पहलुओं का परिचय कराने की चेष्टा की है, यही अँग्रेज समीक्षक जे० बी० प्रीस्टले के अनुसार उत्कृष्ट निबन्धकार के लक्षण हैं। इन्हें बाबूजी की आत्म-कथा के ही अंश कहा जा सकता है। "मेरी असफलताएँ" आदि पुस्तकें इस वर्ग के निबन्धों के सङ्कलन हैं।

(४) **हास्य-विनोदात्मक**—बाबूजी के ऐसे निबन्ध वे हैं, जिनमें आख्यानक संकेतों का हास्य-रस की दृष्टि के लिए साधारण प्रयोग हुआ है।

बाबूजी ने अपने निबन्धों में जीवन-सामग्री के साथ-साथ विनोद का पुट भी रखा है। यह हास्य पुष्ट, शिष्ट और स्वच्छ है, जिसकी महत्ता इसलिए और भी बढ़ जाती है कि लेखक स्वयं इस हास्य का आलम्बन बन जाता है। अन्य लेखक तो दूसरों को हास्य का विषय बनाते हैं, परन्तु इस लेखक ने स्वयं अपने व्यक्तित्व, कृतित्व और विचारों को ही हास्य का विषय बनाया है। हास्य लेखकों की रचनाओं में जो कटुक्तियाँ आक्षेप, आरोप इत्यादि आ जाते हैं उनसे यह लेखक सर्वथा बचा हुआ है। बाबूजी के हास्य-निबन्धों की शैली में दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि वह साहित्यिक वातावरण लिए हुए है। प्रायः विषय के अन्तर्गत साहित्यिक संदर्भों के संयोजन से हास्य का प्रादुर्भाव किया गया है। कहीं-कहीं चमत्कार लाने के लिए ऐसी उक्तियाँ भी की गई हैं, यथा—मुझे दरअसल राजा और रोग तो नहीं सताते किन्तु मधुमेह का राजरोग अवश्य तङ्ग करता है।" उनके निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता है "दुराव" का अभाव। स्पष्टता और सरलता उनके आकर्षक गुण हैं। अब तक बाबूजी के निम्नलिखित निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—"ठलुआ क्लब", "मेरी असफलताएँ", "फिर निराशा क्यों", "प्रबन्ध प्रभाकर", "मन की बातें", "सिद्धान्त और अध्ययन", "काव्य के रूप", "हिन्दी-काव्य विमर्श", "साहित्य-समीक्षा", "कुछ उथले कुछ गहरे", "मेरे निबन्ध", "अध्ययन और आस्वाद" इत्यादि।

"मेरे निबन्ध" (जीवन और जगत्) बाबूजी के वैयक्तिक निबन्धों का संग्रह है। "मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ", "आत्म विश्लेषण", "मेरा मकान", मेरे नापिताचार्य" इत्यादि वैयक्तिक निबन्ध हैं। बाबूजी ने "मेरे निबन्ध" की भूमिका में लिखा है, "साहित्य में मेरे दो रूप हैं—आलोचक और निबन्धकार। निबन्धों की शैली मेरी है और उस पर मुझे गर्व भी है। मैं अपने निबन्धों में अपेक्षाकृत वैज्ञानिक और विषयगत होते हुए भी उनकी साहित्यिकता को अक्षुण्ण रख सका हूँ यही मेरे लेखन की विशेषता है।" इसमें सन्देह नहीं कि बाबूजी के निबन्ध विषय-निष्ठ होते हुए भी वैयक्तिकता से ओत-प्रोत हैं। साहित्यिक विषयों पर भी उन्होंने प्रचुर मात्रा में लिखा। साहित्यिक आलोचना की दृष्टि से बाबूजी के निबन्ध उच्चकोटि के हैं। शैली की दृष्टि से व्यास-प्रतय व्यंग्य शैली है, इसी कारण निबन्धों में बोधगम्यता मार्दव तथा आत्मीयता है। "मेरे निबन्ध" के अन्तर्गत-जीवन और जगत् में अपने वैयक्तिक निबन्धों के विषय में स्वयं लिखते हैं, "इन निबन्धों में जीवन और जगत से प्राप्त अनुभूतियाँ हैं और उन पर मेरी शैली और उसमें व्यक्त होने वाले व्यक्तित्व की छाप है।"

बाबूजी ने व्यावहारिकता तथा साधारण भाषा में व्यंग्यात्मक शैली का सुन्दर विनियोग किया है। उपयुक्त स्थलों पर संस्कृत-अंगरेजी के उद्धरण देते जाते हैं। मनोवैज्ञानिक विषयों पर भी कुछ निबन्ध लिखे हैं। यथा—"हीनता ग्रन्थि", "पूर्व निर्णय", "डकुरिया पुराण", "फैशन का मनोविज्ञान", "प्रोपेगेंडा", "रस-राज हास्य", "प्रदर्शन", "स्वप्न संसार", "अन्तर्द्वन्द्व",

"प्रभुत्व कामना", इत्यादि। उनके मनोवैज्ञानिक निबंधों का संग्रह "मनकी बातें" शीर्षक से प्रकाशित हुआ है, और कुछ "मेरे निबन्ध" में सङ्कलित है। इन निबन्धों में निजी विचारात्मकता के ऊपर भारतीय चिन्तनधारा का प्रभाव परिलक्षित होता है।

बाबूजी की रचना-पद्धति प्रधानतः विचारात्मक है, जिस पर दार्शनिकता की छाप भी विद्यमान है। "अध्ययन और आस्वाद" विचारात्मक निबन्धों का संग्रह है। साहित्यिक निबन्धों में रसमयता का निर्वाह करने का प्रयत्न किया है। इन निबन्धों की शैली संयत और शिष्ट है, पर उनमें सांकेतिक व्यंग्य का पुट भी कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होता है। विचारात्मक निबन्धों में तार्किक शैली का प्रयोग किया है। संस्कृत साहित्य तथा दर्शन-शास्त्र के विद्वान होने के कारण उनके निबन्धों में दार्शनिकता की छाप लगी रहना स्वाभाविक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की शैली के वे आंशिक अनुकर्ता दीख पड़ते हैं।

बाबूजी के निबन्धों की दूसरी प्रवाही शैली है, जिसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित उद्धरण से होता है—"फाउण्टेन पेन, छड़ी, छाता और टोपी खो जाना तो साधारण सी बात है, मैं ओवर कोट खो चुका हूँ। यदि नहीं भूला हूँ तो दो चीजें—एक अपने को और दूसरा अपना चश्मा।"......"एक बार सोते से उठने पर एक साथ यह निर्णय नहीं कर सका था कि मैं राजा-की-मंडी के स्टेशन पर सोया था या वैश्य-बोर्डिङ्ग में। सड़क पर खड़े हुए सड़क के एञ्जिन में लगी हुई लाल रोशनी ने यह भ्रम उत्पन्न कर दिया था। सुबह अपने भ्रम को मैंने अपने एक मित्र से कह दिया। उन्होंने न जाने क्या-क्या गढ़ डाला।

डा० बाबू गुलाबरायजी का वैदग्ध्य तथा प्रतीति उनके निबन्धों से सुप्रकट है। विचारात्मक तथा आलोचनात्मक निबन्धों के अतिरिक्त उनके वैयक्तिक निबन्ध भी महत्व पा सके हैं। उन्होंने हिन्दी निबन्ध-साहित्य के विकास में विशिष्ट योग दिया। हिन्दी-निबन्ध के श्रेष्ठ निबन्धकारों में बाबूजी की गणना मूर्द्धन्य की जाती है।

—हिन्दी अध्यक्ष, जनता कालिज, चांदा (महाराष्ट्र)

(पृष्ठ २२ का शेषांश)

रस का निष्कर्ष निकालते हुए आपने कहा कि काव्य का रस न तो नालियों में बहा फिरता है और न वह ऊख के रस की भाँति निष्पीड़ित होता है जैसा कि कभी केशवादि के काव्य में इस प्रकार गूढ़ और गम्भीर शास्त्रीय विवेचनों को आपकी हँसती हुई शैली ने सरस एवं सरल ही नहीं वरन् उसको बोधगम्य एवं स्पष्ट तथा सजीव बना दिया है यथार्थ बात को कहते समय आप हिचकिचाते नहीं वरन् और अधिक दृढ़ता से कहते हैं।

'कविता और स्वप्न', कवि और पाठक क्रियात्मक व्यक्तित्व एवं 'रस और मनोविज्ञान' आपके सर्वदा नूतन निबन्ध सिद्धान्त और अध्ययन में है। 'कविता और स्वप्न' के प्रारम्भ में आपने अपना प्रसङ्ग भी छेड़ दिया है जिससे समझाने में सरलता होती है। वैज्ञानिक और साहित्यिक दृष्टिकोण आपने कितने सरल शब्दों में सूक्ति रूप में कह दिया है, वैज्ञानिक मनुष्य को प्रकृति के धरातल से घसीट लाता है और साहित्यिक प्रकृतिक को मानव के समकक्ष बना देता है। निबन्धों के अन्त में बाबू श्यामसुन्दरदासजी की भाँति बाबूजी भी 'सारांश' देकर समझाते चलते हैं। इस प्रकार शास्त्रीय आलोचकों में बाबूजी का अपना निजी स्थान है और यदि पिछली दशक का मूर्द्धन्य आलोचक कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। इस क्षेत्र में जो अभाव हो गया है उसकी पूर्त्ति कठिन ही है।

—विष्णुपुरी, अलीगढ़।

हास्य-व्यंग्य के निबन्धकार : बाबू गुलाबराय

श्री महावीर कोटिया

हिन्दी-ग्रालोचना व हिन्दी-निबन्ध साहित्य के क्षेत्र में बाबू गुलाबरायजी की सेवायें ग्रनन्य हैं। निबन्ध के क्षेत्र में तो ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पश्चात् बाबूजी सर्वश्रेष्ठ थे। उन्होंने सभी तरह के निबन्ध लिखे हैं, इनमें गम्भीर विषयों पर भी हैं, मनोवैज्ञानिक भी हैं, हास्य ग्रौर व्यंग्य से परिपूर्ण भी हैं तथा साहित्यिक-निबन्ध भी हैं। ग्राये दिन हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाग्रों में उनके निबन्ध पढ़ने को मिल ही जाते थे। उनके निबन्धों के जो विभिन्न सङ्कलन निकले हैं उनमें मेरे निबन्ध (जीवन ग्रौर जगत) 'कुछ उथले कुछ गहरे' 'ग्रध्ययन ग्रौर ग्रास्वाद' ग्रादि प्रमुख हैं। प्रस्तुत लेख में हम विषय-वर्णन की दृष्टि से बाबूजी के हास्य-व्यंग्य वाले निबन्धों तक ही सीमित हैं।

बाबूजी ने 'कुछ उथले कुछ गहरे' नामक सङ्कलन के उथले वाले भाग में उनके हास्य-व्यंग्य से परिपूर्ण विभिन्न निबन्ध सङ्कलित हैं। इनमें कुछ निबन्ध तो विभिन्न पत्र-पत्रिकाग्रों में प्रकाशित हैं, यथा तुलसी के जीवन पर नया प्रकाश, सम्पादक राज, ग्रक्ल बड़ी कि भैंस, जय उलूकराज ग्रादि तथा 'चोरी एक कला, डाक्टर स्तोत्र में से कुछ निबन्ध 'मेरी ग्रसफलताएँ' व 'ठलुग्रा क्लब' से सङ्कलित हैं।

हास्य-व्यंग्य से परिपूर्ण ये निबन्ध बाबूजी ने 'स्वान्तः सुखाय' लिखे हैं। इनमें जिस मीठी चुटकी के दर्शन होते हैं, वह ग्रन्यत्र दुर्लभ है। इन निबन्धों में यद्यपि किसी पर सोद्देश्य छींटाकशी नहीं की गई है, न ही किसी व्यक्ति विशेष की मज़ाक उड़ाने की दृष्टि से ही इनका सृजन हुग्रा है, परन्तु जिस कटु सत्य के दर्शन इनमें होते हैं, वह सामाजिक दृष्टि से ग्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के लिये 'डाक्टर स्तोत्र' नामक निबन्ध में डाक्टर समाज की एक बहुत बड़ी ग्रसामाजिकता, या कहिये व्यवसायिकता पर बाबूजी ने एक करारा व्यंग्य किया है। रोगी चाहे मर जाय, कुटुम्ब पर चाहे कैसा भी वज्रपात हो, पर ग्रधिकांश डाक्टर उस समय भी ग्रपनी फीस की मांग करते हैं ग्रौर उसे लेकर ही वहाँ से जाते हैं। इस बात को एक वाक्य में किस मीठे व्यंग्य के साथ बाबूजी ने प्रस्तुत किया है—"ग्राप योगी की भाँति स्थिर ग्रौर ग्रचल रहकर फीस की बातचीत करने में जरा भी संकोच नहीं करते।" (पृष्ठ २)

इस निबन्ध के कुछ ग्रन्य सुन्दर व्यंग्य देखिये—"मनुष्य चाहे मर भी जाय, तब भी उसकी मृत्यु प्रमाणित करने के लिये ग्रापके प्रमाण-पत्र की बड़ी ग्रावश्यकता रहती है।" (पृष्ठ १)

"जिसको चाहे कसौली ग्रौर शिमला भेज देते हैं ग्रौर कभी-कभी ग्रागरा एवं बरेली भेजने के लिये भी प्रमाण-पत्रों पर हस्ताक्षर कर देते हैं। (पृष्ठ ३) पाठकों को ध्यान होगा कि ग्रागरे ग्रौर बरेली के पागलखाने प्रसिद्ध हैं।

सरकारी नौकरी से पहले जो डाक्टरी परीक्षा की जाती है, उस पर बाबूजी ने क्या मीठी चुटकी ली है—"जिस प्रकार बैल के खरीदने से पूर्व दाँत देखे जाते हैं, उसी प्रकार नौकरी के पूर्व उम्मेदवार लोग ग्रापकी परीक्षा के लिये भेजे जाते हैं।" (पृष्ठ ५)

बाबूजी ने इस निबन्ध के प्रारम्भ में डॉक्टर साहब को 'नमो भगवते डाक्टराय !' कह कर स्मरण किया है। डाक्टर साहब भगवान से हैं भी किस कदर कम ? जिस प्रकार कोई व्यक्ति बहुत दिनों तक भगवान की सेवा में लगा रहता है तथा उनका भक्त बन जाता है, तब उसका मन सब प्रकार के सांसारिक सुखों से उचट जाता है ग्रौर वह एक मात्र भगवान के दर्शनों को लालायित रहता है, उसी प्रकार—"यदि रोगी को बहुत दिनों ग्रापकी सेवा का सौभाग्य मिला, तो उसका मन संसार के सभी सुखों से उचट जाता है। ××

उसको केवल आप ही के दर्शनों की चाट रहती है।" (पृष्ठ ४) क्या छिपा हुआ व्यंग्य है ?

एक अन्य निबन्ध 'गोस्वामीजी के जीवन पर नया प्रकाश' में वर्तमान काल के आलोचकों पर शानदार चुटकियाँ ली गई हैं। क्योंकि 'रामचरित मानस' की विभिन्न चौपाई दोहों में अनेकों बार 'नाना' शब्द का प्रयोग हुआ है, अतः इससे यह निष्कर्ष निकालना कि गोस्वामीजी बचपन में नाना के घर रहे—हास्य की अच्छी सामग्री है। इसी प्रकार 'गोद लिये हुलसी फिरै' में हुलसी शब्द के उल्लेख को इस प्रयोग के आधार पर तुलसी की नानी का नाम मानना भी जहाँ विनोद की अच्छी सामग्री है, वहाँ आधुनिक आलोचकों की बे सिर-पैर की मान्यताओं पर करारा व्यंग्य भी है। इस लेख में फ्रायड और फ्रायडवादी आलोचकों पर भी बाबूजी ने बड़ा मीठा व्यंग्य किया है। 'हृदय राखि कौशलपुर राजा' पंक्ति के अन्तिम शब्दों 'पुर राजा' को फ्रायड के स्थान विपर्यय सिद्धान्त के अनुसार तुलसी का जन्म-स्थान 'राजा पुर' सिद्ध करना भी पाठकों को हँसाये बिना नहीं रहता। 'अक्ल बड़ी या भैंस' निबन्ध में सिद्धान्तवादियों पर व्यंग्य किया गया है। इसमें प्रगतिवादियों और प्रगतिशीलता को विनोद का अच्छा साधन बना दिया गया है। भैंस को प्रगतिशीलता का द्योतक बताया गया है, क्योंकि भैंस अड़कर चलती है। अड़ना प्रगतिशीलता है। जो व्यक्ति अपनी बात पर अड़ना जानता है, वह सच्चा प्रगतिशील है और "भैंस की भाँति किसी बात पर अड़ना भैंस के दूध से आता है।" इस तर्क को, और प्रगतिशील होने की उक्त मान्यताओं को पढ़कर पाठक मन ही मन मुस्कराता रह जाता है। इसी प्रकार 'पृथ्वी पर कल्प वृक्ष' 'सम्पादक-राज' व 'जय उलूक राज' आदि निबन्धों में क्रमशः आधुनिक विज्ञान बाजी सम्पादकों व लक्ष्मी के कृपा-पात्रों पर अच्छा व्यंग्य मिलता है। आधुनिक विज्ञापन बाजी की ये Specimen Examples देखियेः—"गैस हर गोलियाँ आपके पेट की गैस को इस सफाई और वीरता के साथ हर ले जावेंगी जिस सफाई से दिल्लीपति पृथ्वीराज संयोगिता को हर ले गये थे।" (पृष्ठ २७) "यदि आपका लड़का क्रिकेट या फुटबाल कैप्टेन नहीं बन सकता तो उसे विटामिन विशिष्ट डालडा घी का पकवान खिलाइये।" (पृष्ठ २८)

सम्पादक महाराज को सम्बोधन करके कहा गया है—"नारदावतार ! आप नारद मुनि की भाँति मिनिस्टरों के स्वर्गलोक की खबरें हम मर्त्य लोगों के पास पहुँचाते हैं।" (पृष्ठ ३४) पुनः—"लीडरों के आप विधाता हैं। आपके प्रोपेगेण्डा के अमोघ रामबाण के बिना कोई चुनाव युद्ध में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है।"

ये जीवन के कटु सत्य हैं। इस वर्ग के प्रायः सभी लोगों पर ये बातें लागू होती हैं। आज के हर मिनिस्टर की कोठी स्वर्गलोक से किसी कदर कम नहीं। प्रोपेगेण्डा आज की राजनीति का महान अस्त्र है, इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता। पर जिस ढङ्ग से बिना किसी को आधार बनाये ये व्यंग्य किये गये हैं, वह बाबूजी के निबन्धों की अपनी विशेषता है। इन निबन्धों के लिये उन्होंने लिखा है कि—"ये निबन्ध अधिकतर शुद्ध विनोद के रूप में जीवन की ऊब दूर करने को लिखे गये हैं।" (परिचायिका पृष्ठ २) वस्तुतः यह शुद्ध विनोद ही है। इनका व्यंग्य कहीं भी चोट करने वाला या सोद्देश्य नहीं है। 'चोरी—एक कला' जैसे निबन्ध तो पूरी तरह ही विनोद के लिए लिखे गये हैं। चोरी और चोर के लिये लिखे गये निम्न हमारे कथन की सत्यता प्रमाणित करते हैं—

१—"चोरी के बराबर कोई दूसरा पेशा नहीं, क्योंकि इसमें सरकार की भी मदद रहती है।" पृ. २२

२—"चोरी की आमदनी को न चोर का भय, न चन्दे का।" (पृष्ठ २२)

३—"चोर लोग धन को ऊँची जमीन से नीचे धरातल पर लाने में सच्चे साम्यवादी का काम करते हैं।"

सब मिलकर बाबूजी के हास्य-व्यंग्य वाले ये निबन्ध अपने ही ढङ्ग की चीज हैं। इनमें व्यंग्य है, पर विनोदात्मकता की प्रधानता है। मीठी चुटकियाँ हैं, पर हास्य के आवरण में। जिस उद्देश्य को लेकर ये लिए गये हैं—अर्थात् जीवन की ऊब को दूर करने के लिए उसमें ये खरे हैं।—४८२० सौंतियों की गली, जयपुर।

समीक्षक और शैलीकार : गुलाबराय

डा० शिवनाथ

गुलाबराय हिन्दी-साहित्य के पुराने लेखकों में से थे, जिन्होंने द्विवेदी युग से लेकर विद्यमान काल तक कार्य किया और हिन्दी-साहित्य के कई मोड़ों को देखा, उन्हें परखा भी। साहित्य के मान के क्षेत्र में उनमें कभी आग्रह नहीं देखा गया; दुराग्रह और पूर्वाग्रह तो देखा ही नहीं गया। इसी कारण साहित्य के नवीन तथा प्राचीन दोनों रूपों को उन्होंने अपनी परख के अनुसार समदृष्टि से देखा है। उन्होंने सदैव प्राचीन का आदर और नवीन का स्वागत किया। यह समदृष्टि ही साहित्यकार के व्यक्तित्व को स्थायी रूप से आदर देती है। भारतीय जीवन और साहित्य में जो स्थायी हुआ है, जो बढ़ा है और जिसने अपने साथ औरों को भी आगे बढ़ाया है चाहे जीवन के क्षेत्र में, चाहे साहित्य के क्षेत्र में—वह सब समय प्राचीन तथा नवीन को, पूरव तथा पश्चिम को मिलाकर चला है। गुलाबराय के साहित्य-सम्बन्धी मान में यह समदृष्टि—समन्वय-दृष्टि बहुत ही मूल्यवान है। यह समदृष्टि साहित्य के क्षेत्र में उनके यश: शरीर को बहुत दिनों तक बनाये रखेगी, उन्हें सम्मान देगी।

इस समदृष्टि से दर्शन के कारण समीक्षक गुलाबराय कभी प्राचीन तथा नवीन साहित्य की व्यावहारिक समीक्षा करते हुये अथवा सैद्धान्तिक समीक्षा के दौरान मे भी निर्णय देने नहीं उतरे हैं। उन्होंने दोनों प्रकार की समीक्षाओं मे विवरण और विवेचन पद्धति का अवलम्बन किया है, जिस अवलम्बन में सहानुभूति है, समानानुभूति है। इसीलिए हम देखते हैं कि समीक्षक के रूप में यथार्थ और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से साहित्य के नाना रूपों, उसके नाना वादों को देखने पर उन्हें सब अच्छा लगा है, इसीलिए वे अरोचक की प्रकृति के समीक्षक नहीं थे; इसीलिए वे किसी वाद के घेरे वाले समीक्षक नहीं थे; इसीलिए किसी वाद-विशेष के साहित्यकार उन्हें ले नहीं उड़े और यह भी कहूँ कि वाद-विशेष के साहित्यकार ऐसे निस्संग समीक्षाकों को कोई सम्मान नहीं देते। जिससे उनका उल्लू सीधा न होता हो उसे कोई सम्मान देने से लाभ भी क्या ? ऐसे वादी लोग उनके लिये विवाद करने वाले ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे को जरूर सम्मान देते हैं। ये जुगुनुओं को पकड़ते हैं, सूर्य से इनकी दुश्मनी है।

गुलाबराय का समीक्षक रूप उनके साहित्यिक जीवन के उत्तरार्द्ध में दिखाई पड़ा, जब वे 'साहित्य-सन्देश' के संपादक हुए। इसके पूर्व वे प्रधानत: दर्शनवेत्ता के रूप में और निबन्धकार के रूप में हम से परिचित थे। निबन्धकार के रूप में भी वे प्राय: दर्शन के एक विभाग आचार सम्बन्धी निबन्ध लिखने वाले लेखक जाने-माने जाते थे। कहना तो यह चाहिए कि उनके साहित्यिक जीवन के उत्तरार्द्ध में ही उनके निबन्धकार का रूप भी चमका।

यहां मैं दो शब्द 'साहित्य-सन्देश' के सम्बन्ध में कहूँगा। 'साहित्य-सन्देश' से गुलाबराय को अलग नहीं किया जा सकता। इस साहित्य समीक्षा के पत्र का संपादन जैसे उनके लिए वरदान सिद्ध हुआ। क्योंकि इसी के संपादन का दायित्व-निर्वाह करते हुए उनके भीतर बैठे समीक्षक के रूप को विकृत होने, समीक्षा के क्षेत्र में खुलकर काम करने का स्वच्छन्द सुयोग मिला। इसी समय उन्होंने व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक समीक्षा के सम्बन्ध में काफी काम किया।

'साहित्य-सन्देश' के माध्यम से ही उनका एक रूप यह भी प्रकट हुआ कि वे साहित्य के प्रेरणाकेन्द्र हैं। कितने ही लोगों को प्रेरणा और प्रोत्साहन देकर उन्होंने इस पत्र के लिए लेख लिखवाया, उनमें लिखने की प्रकृति जागरित की, उनमें लिखने का आत्म-विश्वास भरा, उन्हें लेखक बनाया। इस प्रकार इस

पत्र के माध्यम से उन्होंने बहुत से लोगों को आलोचनात्मक विषयों के सम्बन्ध में लिखने वाला साहित्यिक बनाया। सीमित क्षेत्र में ही सही, उन्होंने इस दृष्टि से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का-सा कार्य किया। मुझे विश्वास है कि आज सैकड़ों लेखक इसे सहर्ष स्वीकार करेंगे कि गुलाबराय की प्रेरणा तथा उनके प्रोत्साहन से वे लेखक बने हैं।

निबन्धकार के रूप में गुलाबराय की प्रतिष्ठा हिन्दी साहित्य में कभी कम नहीं होगी, विशेषतः उस निबन्धकार गुलाबराय की जो वे 'मेरी असफलताएँ' में हैं। उनके जैसे आत्मभिव्यञ्जक निबन्धकार वर्तमान युग में नहीं हैं, कैसे कहूँ, अगर यह कह सकता हूँ कि बहुत ही कम हैं। भारतेन्दु-युग में जो प्रतापनारायण मिश्र जैसे निबन्धकार दिखाई पड़ते हैं, मैं गुलाबराय को उसी परम्परा में मानता हूँ, जहाँ तक 'मेरी असफलताएँ' के निबन्धों तथा वैसे ही अन्य निबन्धों का सम्बन्ध है।

कुछ-कुछ विदेशी व्यक्ति-प्रधान निबन्धों का जो प्रतिमान है उस ढाँचे के आदर्श निबन्ध हमें उन्हीं के जान पड़ते हैं, जिनमें, किन्तु, वातावरण पूर्णतः भारतीय है। उनमें अपने वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन का निश्छद्म प्रकाश है, पाठक के साथ आत्मीयता का स्थापन है, मोदमय और भारविहीन अभिव्यक्ति का ढंग है। उद्धरणों से भरी सीधी-सरल भाषा है। हास्य का पूर्ण सन्निवेश है, और है कहीं-कहीं व्यंग्य का मिर्च। उनकी निबन्ध रचना की एक अपनी ही कला है, जो अनुकरणीय है।

यदि गुलाबराय ऐसे निबन्ध न लिखते तो उनका साहित्यिक रूप अपूर्ण ही रह जाता। समीक्षक के रूप में उनकी भावयित्री प्रतिभा (क्रिटिकल जीनियस) का प्रकाश तो हम पाते, किन्तु उनकी कारयित्री प्रतिभा (क्रिएटिव जीनियस) का प्रकाश न पा सकते। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों प्रतिभाओं का समन्वय साहित्य में विरल रूप से ही मिलता है। हिन्दी में इन दोनों प्रतिभाओं का अद्भुत समन्वय गुलाबराय के अतिरिक्त रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी में भी मिलता है।

गुलाबराय दर्शनवेत्ता, समीक्षक तथा निबन्धकार ही नहीं हैं, शैलीकार भी हैं—विशेषतः अपनी निबन्ध रचना में लेखक होना सरल हो सकता है किन्तु शैलीकार होना कठिन है। कोई लेखक शैलीकार तब होता है जब उसके भाव तथा विचार उसके जीवन में इस प्रकार उतर जाते हैं कि उसके निःश्वासों की भाँति वे बिना प्रयास, स्वाभाविक रूप से उसकी अपनी भाषा में अभिव्यक्त होते रहते हैं। ऐसी अभिव्यक्ति में भावों-विचारों के कहने का उसका एक अपना ढङ्ग हो जाता है। वाक्य विन्यास का उसका अपना ढंग बन जाता है। अपनी बात को कहने के लिए भाषागत सजीव-सिङ्गार की उसकी अपनी पद्धति हो जाती है। इसी कारण उसका अपना व्यक्तित्व उसकी रचना में उतरता रहता है। शैलीकार गुलाबराय के सम्बन्ध में विचार करने से उनकी शैली में ये सभी उनकी अपनी विशेषताएँ प्रकट होती हुई दिखाई पड़ती हैं। हिन्दी में लेखक तो बहुत हैं, किन्तु शैलीकार कम। उन कम शैलीकारों में गुलाबराय भी एक हैं। ऐसे साहित्यकार की विशेषताओं का नित नूतन ढङ्ग से उद्घाटन करते हुए यदि हम उसे अपने बीच रखें तो हिन्दी साहित्य का उपकार होगा।

—शान्ति निकेतन, पश्चिमी बङ्गाल।

———

गुलाबरायजी के निबन्धों में कहावतों एवं मुहावरों का प्रयोग

डा० कुन्दनलाल उप्रेतिः

ललित निबन्धों या आत्मव्यञ्जक निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता होती है—हास्य-व्यंग्य एवं विनोद ! विनोद तो आत्मव्यञ्जक निबन्ध का सहचर होता है। निबन्धों में निबन्धकार अपनी अनुभूति एवं कल्पना को ही अधिक महत्त्व देता है। इसी के द्वारा वह जीवन की आलोचना करता है ! 'लैंब' के निबन्ध इसी कोटि के थे। इस प्रकार के निबन्ध लिखने वाले को परिहास-प्रिय स्वभाव का होना आवश्यक है साथ ही साथ उसका भाषा पर भी पूर्व अधिकार हो नहीं तो वह इसमें सफल नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है—और वह महत्त्वपूर्ण भी है कि ऐसे निबन्धकार को वाक्पटु भी होना चाहिए। 'हाजिर जवाबी', 'लहज़ा' 'लफ्फ़ाजी' ऐसे निबन्धों की जान हैं। इस प्रकार ललित-निबन्ध लेखक वही हो सकता है जो पैनी दृष्टि से जिन्दगी को देख सकता हो। 'मच्छर' और 'जूते की कील' से लेकर मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक विषयों पर भी ललित निबन्ध लिखे जा सकते हैं। ऐसे निबन्धों में स्तरीय-शैली के स्थान पर मनोरञ्जक शैली अधिक रहती है और मनोरञ्जन के लिए व्यंग्य, क्षोभ, भावुकता आदि का प्रयोग अनिवार्य है और शैली की दृष्टि से वाक्चातुर्य का[1] और वाक्चातुर्य के लिए लाक्षणिकता, कहावतों एवं मुहावरों का चलन आवश्यक है।

बाबूजी में ये सब गुण पूर्णरूप से विद्यमान थे। इसका कारण यह है कि वे अपने 'आचार्य' और 'कलाकार' को अलग-अलग रख सकने में समर्थ थे। शुक्लजी कहीं भी आचार्यत्व छोड़ नहीं सके। यही कारण है कि बाबूजी में रचनात्मक प्रतिभा शुक्लजी से अधिक है। "बाबूजी के निबन्धों का अध्ययन, मनन और चिन्तन करने के उपरान्त एक तथ्य जो सहज ही स्फुरित हो जाता है, वह यह कि उन्होंने अपने निबन्धों में सारल्य, प्रभावोत्पादकता, वैचारिकता का विधान करने के लिए मुहावरों का प्रतिष्ठान किया है। इसीलिए उनके शिल्प पक्ष और शैली में व्यावहारिक कुशलता के साथ प्रवाह सुगमता भी दृष्टिगत होती है।[1]

मुहावरों का विधान करने में लक्षणा और व्यञ्जना सबसे अधिक सहायक है। बाबूजी ने अपने वैयक्तिक निबन्धों (मेरी असफलताएँ, मन की बात आदि) में इसका अधिक सहारा लिया है। बाबूजी स्वभाव से भी विनोदप्रिय थे। हास्य एवं व्यंग्य बाबूजी की शैली की विशेषताएँ रही हैं। एक स्थान पर बाबूजी ने स्वयं स्वीकार किया है—

"हास्य-व्यंग्य का पुट मेरी शैली की विशेषताओं में से है। मेरा व्यंग्य यथा सम्भव कई उपमाओं में[2] तथा पुराने प्रयोगों को नए रूप देने में ही सीमित रहता है। और इसके लिए बाबूजी अधिकतर मुहावरों एवं कहावतों का प्रयोग किया है।

मुहावरों एवं कहावतों का प्रयोग लेखक कई कारणों से करता है—

(१) हास्य एवं व्यंग्य के लिए।
(२) विचारों की स्पष्टता के लिए।
(३) जन-साधारण से सम्पर्क बनाने के लिए।
(४) सरलता के लिए (विषय-प्रतिपादन में)
(५) चमत्कार के लिए।
(६) शैली मनोरञ्जक बनाने के लिए।
(७) आत्मीयता के वातावरण के लिए।
(८) लघिमा के लिए आदि।

अब हम इस आलोक में बाबूजी के निबन्धों में प्रयुक्त मुहावरों एवं कहावतों का अध्ययन करेंगे।

---

[1] डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय।

[1] श्री देवेन्द्रकुमार जैन।

[2] देखिए 'युवक मासिक' में बाबूजी पर लिखित मेरा लेख।

बाबूजी ने अपने हास्य एवं व्यंग्य में विचारों की स्पष्टता और व्याख्या का ध्यान रखा है। उनमें विषय की प्रधानता न होकर भावाभिव्यक्ति प्रधान बन गई है। उन्होंने दैनिकी के एक पृष्ठ में लिखा है—

"कहाँ साधारणीकरण और अभिव्यञ्जनावाद की चर्चा और कहाँ भुस का भाव। भुस खरीदकर मुझे भी गधे के पीछे-पीछे ही चलना पड़ता है जैसे बहुत से लोग अक्ल के पीछे लाठी लेकर चलते हैं।"

एक मुहावरे द्वारा लेखक सारी चोट अपने ऊपर ले लेता है। अपने को मूर्ख बनाकर अपने ही ऊपर व्यंग्य कर पाठकों को मुग्ध कर देता है। चार्ल्स लैंब में भी यही गुण था और साथ ही पाठक के साथ आत्मीयता का वातावरण प्रस्तुत कर शिष्ट हास्य की सृष्टि करता है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि मुहावरे और कहावतें भाषा की व्यञ्जनाशक्ति के सहायक होते हैं। जिस भाव को व्यक्त करने के लिए एक पैराग्राफ की जरूरत पड़ती है उसकी अभिव्यक्ति केवल एक मुहावरे द्वारा हो जाती है। मुहावरे और कहावतें भाषा की शक्ति माने जाते हैं। एक छोटे वाक्य द्वारा बहुत कुछ कह दिया जाता है—

"खैर, आजकल उस (भैंस) का दूध कम हो जाने पर भी और अपने मित्रों को छाछ भी न पिला सकने की विवशता की झूँझल के होते हुए भी (सुरराज इन्द्र की तरह मुझे भी मठा दुर्लभ हो जाता है—तक्र शक्रस्य दुर्लभम्) उसके लिए भुस लाना अनिवार्य हो जाता है।

'तर्क शक्रस्य दुर्लभम्' में बाबूजी ने क्या कुछ नहीं कहा?

बाबूजी के मुहावरे लाक्षणिकता से ही ओतप्रोत रहते हैं। मुहावरों के लिए तो लक्षणा का प्रयोग किया ही जाता है। जैसे—

"बात यह है कि डाक्टरों का दिल मुर्दे चीरते-चीरते मुर्दा हो जाता है।" —ठलुआ क्लब।

'दिल मुर्दा हो जाना' उर्दू का मुहावरा है—यानी समझ बूझ का अभाव हो जाना और यह अर्थ प्रयोजन के कारण है। अतः प्रयोजनवती लक्षणा इस मुहावरे के पीछे कार्य कर रही है।

इसके साथ ही साथ बाबूजी ने कहीं-कहीं कई मुहावरों का प्रयोग लगातार किया है। साथ ही कहावतें भी देखिए—

"बद अच्छा, बदनाम बुरा। कवि, लेखक और दार्शनिक प्रायः इस बात के लिए बदनाम हैं कि वे कल्पना के आकाश में विहार करते हैं। उनके पैर चाहे जमीन पर रहें, किन्तु निगाहें आसमान की ओर रहती हैं और झोंपड़ियों में रहकर भी ख्वाब महलों का देखते रहते हैं।"

"बद अच्छा बदनाम बुरा', कहावत और 'आकाशरी विहार करना', 'निगाह आसमान की ओर रखना', 'झोंपड़ी में रहकर महलों के ख्वाब देखना' मुहावरे हैं।

एक उदाहरण और द्रष्टव्य है—

"भाई! आध्यात्मिक बल के आगे भौतिक बल पानी भरता है। महात्मा गांधी ही को देख लो। डेढ़ पसली के आदमी थे! मगर सारी दुनिया को उँगली पर नचाए फिरते थे।" —मन की बातें

'पानी भरना' मुहावरा प्रयोग कर बाबूजी ने आध्यात्मिक बल की श्रेष्ठता निरूपित की। 'पानी भरना' मुहावरा 'हीनत्व' दिखाने के लिए प्रयुक्त किया गया है। गांधीजी को 'डेढ़ पसली' का कहकर भी उनकी विशाल गुप्त शक्ति का अन्दाज लगाने पर मजबूर कर दिया है। 'उँगली पर नचाना' भी मुहावरा है। इससे विद्वता, श्रेष्ठता एवं योग्यता ही सूचित की गई है। उनकी योग्यता के आगे अन्य लोग कठपुतली की तरह नाचते हैं। अतः यह पर चमत्कार, व्यंग्य, मनोरञ्जन आदि के लिए ही इन मुहावरों का प्रयोग बाबूजी ने किया है।

विचारात्मक निबन्धों में भी स्पष्टता, सरलता एवं आत्मीयता का वातावरण प्रस्तुत करने के लिए बाबूजी ने मुहावरों एवं कहावतों का प्रयोग किया है, उदाहरणार्थ—"राष्ट्रीय पर्व का मनाना कोरी भावुकता नहीं है। इस भावुकता का मूल्य है.................भाव भी

(शेष पृष्ठ ३४ पर)

'साहित्य-सन्देश' और बाबू गुलाबराय

डा० मुरारिलाल शर्मा 'सुरस'

पत्र-सम्पादन भी कला है। सम्पादक को पत्र की नीति निर्धारित करने और उसका अक्षरशः पालन करने का कठिन कर्त्तव्य तो निभाना ही पड़ता है, साथ ही लेखक और पाठक की रुचियों को परिष्कृत करने का गुरुतर भार भी उसी पर रहता है। यदि सम्पादक इस कार्य का ठीक प्रकार समायोजन न कर सका तो वह अपने कर्तव्य से च्युत होता ही है, उसका पत्र या तो डूब जाता है या दलबन्दी का माध्यम बनकर अस्वास्थ्य-कर वातावरण पैदा कर देता है। यह प्रसन्नता की बात है कि साहित्य-सन्देश के सम्पादक बाबू गुलाबरायजी ने साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रेरक महारथी आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी की इस मङ्गल कामना—

"साहित्यस्य समृद्धिश्च लोकानां रञ्जनं तथा,
कृत्वा साहित्य-सन्देश तिष्ठत्वं शरदां शतम्।'

से साहित्य-सन्देश का प्रथम अङ्क जुलाई १९३७ में निकाला। यह पत्र आज भी उनका सन्देश साहित्यिक जनता तक उसी अप्रतिहत गति से निरन्तर पहुँचा रहा है।

पत्र की नीति—साहित्य-सन्देश को 'साहित्य-सुरुचि-प्रसारक मासिक पत्र' के रूप में प्रारम्भ किया गया था जिसमें कविता, कहानी तथा आलोचनाएँ छापी गईं, किन्तु सितम्बर १९३७ के अङ्क में सम्पादकजी ने 'सामयिक प्रसङ्ग' शीर्षक के अन्तर्गत एक टिप्पणी दी जिसके अनुसार पत्र की नीति में परिवर्तन किया गया और कविता तथा कहानी को त्याग कर केवल आलोचना को ही साहित्य-सन्देश में प्रश्रय देने का सङ्कल्प किया गया। इसके बाद बाबूजी ने वरेण्य साहित्यकारों से पत्र के सुधार के सम्बन्ध में सुझाव देने का अनुरोध किया। इस सम्बन्ध में प्राप्त हुए सुझावों का उन्होंने स्वागत तो किया किन्तु डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के कतिपय सुझावों से असहमत होते हुए उन्होंने अपना सङ्कल्प पुनः दुहराया—"साहित्य-सन्देश आलोचना प्रधान पत्र है.........अधिकांश बड़े पत्रों की तरह 'साहित्य-सन्देश' विश्वभर की समस्त समस्याओं को अपने कलेवर में धारण करने की सामर्थ्य नहीं रखता। वह तो एक क्षुद्र प्रयास है और एक दिशा में अपनी सारी क्षुद्र शक्ति लगाना अच्छा समझता है।" यद्यपि इसके बाद भी नवम्बर १९३७ तथा अप्रैल १९३९ के अङ्कों में कुछ कविताएँ छपीं किन्तु उसके बाद से तो साहित्य-सन्देश पूर्णतः आलोचना प्रधान पत्र बन गया जिसमें साहित्यकारों के कृतित्व—कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि—एवं उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में विश्लेषणात्मक एवं आलोचना प्रधान निबन्ध छापे गये।

आलोचक एवं सम्पादक—पाठकों तथा लेखकों को किसी भी प्रकार का भ्रम न हो इसलिए बाबू गुलाबरायजी ने 'आलोचक के कठिन कर्त्तव्य' की ओर ध्यान आकर्षित किया और व्यक्तिगत राग-द्वेष को नगण्य मानकर सचाई और ईमानदारी से ग्रन्थों की आलोचना की। पं० शुकदेव बिहारी मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'मिश्रबंधु विनोद' की प्रतिकूल आलोचना का भी स्वागत किया और इसे 'विचार स्वतन्त्र्य' का ही लक्षण माना।

अपने सम्पादकीय दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए सितम्बर १९३७ के अङ्क में बाबूजी ने किसी भी आलोचक के मत से सोलह आने सहमत न होते हुए भी उसे उसकी लिखी हुई आलोचना का अविकल रूप से छापने का निश्चय प्रकट किया। वह भी केवल एक ही शर्त पर कि लेख में कोई बात शिष्टता के विरुद्ध न हो। बाबूजी स्वयं किसी भी प्रकार के वाद-विवाद के हामी न थे फिर भी उन्होंने अपना अभिमत प्रकट किया—यदि कोई ग्रन्थकर महोदय यह समझें कि उनके साथ अन्याय हुआ है तो हम प्रत्यालोचना भी छापने को तैयार रहेंगे।" अपने इस कथन को उन्होंने अन्त तक निभाया।

अपने पाठकों को साहित्य के नये प्रकाशनों से निरन्तर अवगत कराते रहने के लिए बाबूजी ने 'अपने सम्बन्ध में' शीर्षक के अन्तर्गत एक त्रिसूत्री फार्मूला प्रकाशित किया जिससे साहित्य-सन्देश को अधिक सुरुचि सम्पन्न बनाया जा सके।

इसलिए उन्होंने साहित्य-सन्देश में कतिपय स्थायी स्तम्भ—हमारा मासिक साहित्य, साहित्योद्यान की झलक, मासिक सुपाठ्य सामग्री, साहित्य समाचार, सामयिक प्रसङ्ग, पते की बातें आदि—प्रारम्भ किये जिनसे पाठकों को हिन्दी साहित्य की विभिन्न गतिविधियों एवं उसकी कार्य-दिशाओं का ज्ञान हो सके। 'साहित्य-परिचय' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित पुस्तकों की आलोचना उसी विषय के अधिकारी विद्वानों से कराई जिससे पुस्तक का सही मूल्याङ्कन हो सके। इसके अतिरिक्त 'साहित्यिक पत्र' शीर्षक से एक नई विधा का श्रीगणेश किया जिसमें आलोचना एवं साहित्य के सम्बन्ध में श्री सत्येन्द्र और श्री गुलाबराय, तथा श्री जैनेन्द्रकुमार और श्री रामकुमार वर्मा के प्रश्नोत्तर दिए गये।

कलाकार के प्रति उनका दृष्टिकोण—सच्चे कलाकार को झूठी प्रशंसा के लालच में भटक न जाना चाहिए अतः इसके बारे में बाबूजी की स्पष्ट राय थी कि "........पाठक की अपेक्षा लेखक का अधिक उत्तरदायित्व है क्योंकि उसका स्थान शिक्षक का है। पाठकों की दाद पाने के लिए बहुत से लेखक अपने परिमाण से नीचे झुक जाते हैं और ठकुर सुहाती साहित्य की रचना करने लगते हैं। सच्चे कलाकार को न तो एकदम ऊँचा उठ जाना चाहिए कि उसकी कृति जनता के लिए एकदम दुरूह हो जाय और न इतना नीचा गिर जाना चाहिए कि वह जनता के उत्थान में कुछ भी सहायता न दे सके। उसे जनता को साथ लेकर आगे बढ़ना चाहिए।.......लेखक और पाठक की रुचि का जब साम्य होता है तभी साहित्य की वृद्धि होती है। हमको गुणी बनाने के साथ गुणग्राह बनाने की भी आवश्यकता है।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने लेखकों को याद दिलाया कि हमारा अभिप्रेत केवल आधुनिक साहित्य की चर्चा ही नहीं है हमें प्राचीन साहित्य की चर्चा कर के समालोचना के सिद्धान्तों एवं आदर्शों का पुनर्निर्माण एवं पुनर्परीक्षण करना चाहिए। हिन्दी में जिस प्रकार के साहित्य (बाल साहित्य, प्रौढ़ साहित्य, जीवनी साहित्य, हास्य-व्यंग्य साहित्य आदि) की कमी है उसकी पूर्ति करने के लिए भी उन्होंने लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

साहित्यकारों से सम्बन्ध—रियायत करके मैत्री निभानेवाला आलोचक किसी भी कृति या लेखक की आलोचना करने में सचाई से अपना कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता। बाबू गुलाबरायजी की यह विशेषता थी कि वे मैत्री को यथावत् रखते हुए भी आलोचक के कर्त्तव्य के प्रति सदैव जागरुक रहते थे। जिन साहित्यकारों से बाबूजी के घनिष्ठ सम्बन्ध थे उनकी पुस्तकों की आलोचना करने में भी उन्होंने कोई कसर न रखी। ऐसा करते समय भी उनके मन में किसी भी प्रकार का द्वेष या ईर्ष्या भाव न होता था। अपने प्रति किये गए उपकारों को सादर स्मरण करके और उनका आभार स्वीकार करते हुए उन्होंने मिश्रबन्धुकृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' की आलोचना की। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा—"प्रस्तुत पुस्तक की आलोचना के साथ यदि मैं उसके रचयिता के प्रति अपने निजी सम्बन्ध की दो-एक बातें लिख दूँ तो पाठक गण सम्पादकीय अधिकार के इस दुरुपयोग को क्षमा कर देंगे।....आलोच्य पुस्तक के लेखकों ने मिश्रबन्धुविनोद में मुझे अपना मित्र कहा है यह उनकी कृपा है छतरपुर राज्य में वे दीवान थे, उनकी कृपा का मैंने लाभ उठाया।.... मैं उनका बहुत कुछ आभारी हूँ। इस आभार को स्वीकार करते हुए भी यहाँ मैं उनके साथ पक्षपात करने नहीं जारहा। जो बातें मुझे खटकी हैं, उन्हें मैंने निस्सङ्कोच पाठकों के सम्मुख रखा है। 'दोषावाच्या गुरोरपि'। समालोचक कीट का रूप धारण कर मुझमें भी वृश्चिक की भाँति डङ्क मारने की आदत हो गई है। आशा है उदार लेखक गण मुझे मेरे कर्त्तव्य के लिए क्षमा करदेंगे।" इस प्रकार उन्होंने उक्त ग्रन्थ की शिष्ट-व्यंग्यात्मक शैली में आलोचना करते हुए गुण-दोष विवेचन किया। (साहित्य-सन्देश जून

१९३९ पृ०.४१७)।

इसी प्रकार उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' की भी आलोचना की—"कुछ लोगों की दृष्टि में इसमें विस्तार तथा सन्तुलन का अभाव है अर्थात् किसी को आवश्यकता से कम और किसी को अधिक विस्तार देना इसका मुख्य दोष है। यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि इतने विस्तृत वर्णनों में कभी-कभी पाठक यह भूल जाते हैं कि वे इतिहास पढ़ रहे हैं या आलोचना ग्रन्थ। इस ग्रन्थ में संश्लेषण और प्रवृत्तियों के अध्ययन की कमी नहीं है, तथापि इसका झुकाव विश्लेषण की ओर अधिक है।"

आलोचना के मानदण्ड—साहित्य की विविध विधाओं की आलोचना के मानदण्ड स्थिर करने के लिए बाबूजी ने स्वयं लेख लिखे और अधिकारी विद्वानों से भी लिखाए। उनका कहना था कि आलोचना के भी कुछ ऐसे स्थिर मान दण्ड निश्चित होने चाहिए जिससे किसी भी रचना का सही मूल्याङ्कन हो सके क्योंकि जिस रचना पर एक आलोचक ९५ प्रतिशत अङ्क दे, दूसरा उसी को ५ प्रतिशत के योग्य समझे तो ऐसी दशा में आलोचना का क्या मानदण्ड रहेगा? लेखक और उसकी कृति के साथ ईमानदारी और सचाई से न्याय किया जाना चाहिए।

बाबू गुलाबरायजी का निश्चित मत था कि साहित्य के आलोचक को शिष्ट होना चाहिए। मतभेद का होना तो स्वस्थ मनोवृत्ति का ही निदर्शन है, परन्तु मतभेद और गालीगलौज में बड़ा अन्तर है। साहित्य-सन्देश में प्रकाशित आलोचना और प्रत्यालोचनाओं में उन्होंने सदैव विनम्र दृष्टिकोण रखा और किसी के प्रति कभी भी दुराग्रह प्रकट नहीं किया।

गुलाबरायजी का व्यक्तित्व और साहित्य-सन्देश—प्रधान सम्पादक के रूपमें जिस साहित्य-सन्देश को उन्होंने पल्लवित और पुष्पित किया वह आज भी उन्हीं की निर्दिष्ट दिशा में चल रहा है। हिन्दी जगत् के आलोचना प्रधान मासिक पत्रों में आज भी साहित्य-सन्देश का मूर्द्धन्य स्थान है। आज भी सभी श्रेष्ठ आलोचकों का सहयोग उसे प्राप्त है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि साहित्य-सन्देश बाबू गुलाबरायजी के साहित्यकार और आलोचक व्यक्तित्व का मूर्तिमान रूप है और हिन्दी साहित्य के आलोचना पात्रों में यह पत्र आज भी उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये हुए है।

—लाड़ली कटरा, आगरा।

(पृष्ठ ३१ का शेषांश)

जब वैयक्तिक रहते हैं तब 'एक चना भाड़ नहीं फोड़ सकता' की बात सार्थक करते हैं। 'एकला चलो रे' की बात बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, कबीर, नानक, रवीन्द्र और गांधी के लिए ठीक हो सकती है।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरण में किस कमाल के साथ गुजराती कहावत का भी प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है बाबूजी ने विषय की Clarity के लिए, मनोरञ्जन के लिए, तथा चमत्कार प्रस्तुत करने के लिए और अपने निबन्धों को पाठकों के गले में तथा दिल में उतारने के लिए ही मुहावरों एवं कहावतों का प्रयोग किया है। उनकी कारयित्री प्रतिभा इस बात की गवाह है। आश्चर्य तो यह है कि बाबूजी ने विचारात्मक तथा मनोवैज्ञानिक निबंधोंमें भी इन्हीं का प्रयोग कर निबन्धों को सरल एवंसुबोध बना दिया है। इस क्षेत्र में बाबूजी अपना सानी नहीं रखते।

—बारहसैनी कालेज, अलीगढ़।

समीक्षक प्रवर बाबू गुलाबराय की प्रगतिशीलता

श्री मक्खनलाल शर्मा

बाबू गुलाबराय को रसवादी कहना ही समीचीन है। वैसे उन्हें पौर्वात्य एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की वे सभी मान्यताएँ स्वीकृत हैं, जिनमें कुछ भी तत्त्व उन्हें दिखाई दिया है और तो और उन्होंने क्रोचे और फायड को भी स्वीकृति प्रदान की है। फ्रायड के सम्बन्ध में उन्होंने स्वतन्त्र रूप से लिखा है तथा उसके सिद्धान्तों का व्यावहारिक जीवन से उदाहरण दे देकर विवेचन किया है। वे मानवतावाद, कला जीवन के लिए, समन्वयवाद, उपयोगितावाद, ऐतिहासिकता, समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण आदि के समर्थक हैं। समीक्षा के सम्बन्ध में उनकी मान्यता है कि वह परिवेश, युग परम्परा तात्कालिक सांस्कृतिक परिपार्श्व को दृष्टि में रखकर आगे चलते हैं। वे साहित्यकार की व्यक्तिगत सीमाओं को भी स्वीकार करना चाहते हैं। गुलाबरायजी की सैद्धान्तिक समीक्षा में मौलिकता की शोध उपयुक्त नहीं है, वे मूलतः व्यावहारिक समीक्षक हैं जो समन्वय के आधार पर रस सिद्धान्त को लेकर चले हैं। उनमें आचार्य शुक्ल के समान पूर्वाग्रह नहीं है। वे समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाकर चलते हैं। उनकी शैली विस्तारवादी है, और विवेचन ऋजु। बीसवीं शताब्दी में रहते हुए भी वे आदर्शवाद को ही आग्रह पूर्वक ग्रहण किये रहे हैं। विषय प्रतिपादन में विस्तार के साथ-साथ सतह का स्पर्श अधिक है और गहराई कम।

उनका रसवाद परम्परागत है। साधारणीकरण को वे उपयोगितावादी दृष्टिकोण देखते हैं। "साधारणीकरण की उपयोगिता काव्यानुशीलन की उपयोगिता है उसके द्वारा हमारी सहानुभूति विस्तृत हो जाती है। हम दूसरे के साथ भाव तादात्म्य करना सीखते हैं। हमारे भावों का परिष्कार होकर उनका पारस्परिक सामञ्जस्य भी होने लगता है।"[1] अपनी रस मीमांसा पुस्तक में उन्होंने रस का जो विवेचन किया है उसे अन्यत्र मनोविज्ञान के साथ जोड़ने का प्रयत्न भी किया है। मार्क्सवादियों के समान वे फ्रायड के विरोधी नहीं हैं। उन्होंने साहित्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या को स्वीकृति प्रदान की है।[1] रस की वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए मनोविज्ञान को रस से पीछे रह जाने वाला—रस के स्तर तक न पहुँचने वाला, स्वीकार किया है।[2] जीवन और साहित्य का सम्बन्ध आधुनिक युग के सभी समीक्षक किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं और बाबूजी ने भी ऐसा किया है। साहित्य के जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं। "साहित्य मुखरित जीवन है। वह जीवन का ही आत्मचिन्तन है। जीवन आवश्यकताओं को भूलकर हम साहित्य का चिन्तन नहीं कर सकते।"[3]

कलावाद के नाम से साहित्य और जीवन के सम्बन्ध न मानने वाले सौन्दर्य शास्त्रियों की मान्यताएँ उन्हें स्वीकार नहीं हैं वे कला और साहित्य को जीवन का चित्र मान कर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते वरन् उनका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध घोषित करते हैं। इस प्रकार उन्हें जीवन का साहित्य को और साहित्य का जीवन को अग्रसारित करना मान्य है। "हमारा साहित्य हमको एक संस्कृति और एकजातीयता के सूत्र में बाँधता है। जैसा साहित्य होता है वैसी ही हमारी मनोवृत्तियाँ हो जाती हैं और हमारी मनोवृत्तियों के अनुकूल हमारा कार्य होने लगता है, इसलिए साहित्य हमारे समाज का प्रतिबिम्ब ही नहीं वह उसका नियामक और उन्नायक भी है[4]।"

---

[1] सिद्धान्त और अध्ययन : पृष्ठ ५५

[1] डा० वेंकट शर्मा आधुनिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना का विकास : पृष्ठ २६७

[2] वही : पृष्ठ २६७

[3] कुछ उथले कुछ गहरे : पृष्ठ १५६

[4] काव्य के रूप—पृष्ठ ८

बाबूजी को सामयिकता स्वीकार है। उनकी दृष्टि में साहित्यकार अपने समाज का प्रतिनिधि होता है उसकी रचना में सामयिकता की पूरी-पूरी छाप होती है "जिस प्रकार बे तार के तार का ग्राहक आकाश मण्डल में विचरती हुई विद्युत् तरङ्गों को पकड़ कर उनको भाषित शब्द का आकार देता है, ठीक उसी प्रकार कवि के साहित्य में अपने समय के जातीय भावों की छाप होती है व लेखक अपने समय के वायुमण्डल में घूमते हुए विचारों को पकड़ कर मुखरित कर देता है[1]।" लोकजीवन और साहित्य को एक दूसरे से सम्बन्धित मानने वाला समीक्षक उपयोगितावादी होगा। बाबूजी ने न केवल व्याख्यात्मक आलोचना उपयोगितावादी दृष्टि से लिखी है वरन् सिद्धान्तों का विवेचन भी इसी आधार पर किया है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में पीछे दिए गए उद्धरण से यह बिल्कुल स्पष्ट है। वे कला और साहित्य को नीति और उपयोगितावाद से जोड़ते हुए लिखते हैं—"कला का सम्बन्ध जब मनुष्य के पूर्णजीवन से है तब वह नीति, सदाचार और उपयोगिता की अवहेलना नहीं करती[2]।" इसका यह अर्थ नहीं है कि वे कलात्मक सौन्दर्य को महत्त्व न देते हों। वे साहित्य और कला का मुख्य उद्देश्य सौन्दर्य की सृष्टि मानते हैं। साहित्य में सौन्दर्य के लिए जिन-जिन उपकरणों का प्रयोग शास्त्र समझते हैं उन सबको गुलाबरायजी मान्य करते हैं किन्तु सौन्दर्य को शिवत्व के साथ जोड़ना अनिवार्य प्रतीति होता है "सौन्दर्य कलाकर का मुख्य ध्येय है किन्तु नीति, आचार और उपयोगिता को अपनाकर उसको सुसम्पन्नता प्रदान करना भी उसके पुनीत कर्तव्यों में है। सौन्दर्य को मङ्गलमय बनाना उसकी प्राणप्रतिष्ठा करना है। यह प्राण-प्रतिष्ठा दक्षिणा के लिए नहीं होनी चाहिए वरन् श्रद्धा-भक्ति से प्रेरित होकर सच्चा दाक्षिण्य प्राप्त करने के हेतु कलाकार को प्रयत्नशील होना वांच्छनीय है। श्रेय और प्रेय का समन्वय ही सच्ची कला है[3]।"

[1] प्रबन्ध प्रभाकर—पृष्ठ २६, २७

[2] प्रबन्ध प्रभाकर—पृष्ठ ४३

[3] प्रबन्ध प्रभाकर—पृष्ठ ४८

अस्तित्ववादी अँगरेजी समीक्षक टी० एस० ईलियट ने बताया है कि कलाकार का अनुभव करने वाला मन और रचना करने वाला मन अलग-अलग होते हैं और जिस साहित्यकार में यह अन्तर जितना अधिक होता है वह उतना ही महान सिद्ध होता है। अस्तित्ववाद की इस मान्यता का खण्डन करते हुए बाबू गुलाबराय जी ने जैसे इसके साथ असहमति प्रकट करते हुए ही लिखा हो कि कलाकार जब कला की रचना करता है तब तथा उसके अतिरिक्त काल में भी निरन्तर नागरिक बना रहता है। अतः साहित्य में उद्देश्यहीनता को स्वीकृति प्राप्त नहीं हो सकती। "काव्य का क्षेत्र रेखा-गणित की भाँति संकुचित नहीं। जितना ही राज्य व्यापक होगा, उतना ही बन्धन अधिक होगा। कलाकार समाज से बाहर नहीं रह सकता, उसका नागरिक रूप उसके कलाकार रूप से पृथक नहीं। तीन लोक से न्यारी अपनी मथुरा बसा कर रहे तो केवल सौन्दर्य भी नीति से विच्छिन्न हो अपूर्ण रहेगा। अतः नीति का प्रश्न उपेक्षणीय नहीं है।"[1] साहित्य और समाज का सम्बन्ध स्थापित करते हुए वे साहित्य के कलापक्ष को साहित्य की सामाजिकता का अनिवार्य परिणाम मानते हैं। प्रेषणीयता में सामाजिकता एक अनिवार्य तत्व है। उसे स्वीकार करते हुए बाबूजी ने लिखा है कि "साहित्य मानव की सामाजिकता का परिणाम है। वह अपने हृदय के आनन्द को दूसरों तक पहुँचा कर उसका मिल बाँट कर उपयोग करना चाहता है। यदि दूसरे साथी न भी हों तो उसे अपने भावों और विचारों को मूर्तिमान होते हुए देखकर प्रसन्नता होती है। यही कलाओं की प्रेषणीयता है।"[2] इस उपयोगितावादी और मानवीय दृष्टि को इस युग का कोई भी हिन्दी समीक्षक अस्वीकार नहीं कर सका है। इस युग में जातीयता की जो लहर देश में परिव्याप्त हुई है उसने साहित्य को जनता तक पहुँचाने में तथा जनता को साहित्य के माध्यम से अपनी निजी भावनाओं को विस्तार देने में यथेष्ट योग दिया है। एक सीमा तक

[1] सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ २०५

[2] वही, पृष्ठ १७७

साहित्य ने जनता और जन आन्दोलनों को नेतृत्व भी प्रदान किया है। साहित्य ने देश में एकता, जातीयता तथा राष्ट्रीयता के भाव उत्पन्न करने में जो सहायता दी है उसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। साहित्य की इस अपूर्व शक्ति को स्वीकृति प्रदान करते हुए बाबू गुलाबरायजी ने लिखा है कि "साहित्य हमारे अव्यक्त भावों को व्यक्त कर हमको प्रभावित करता है। हमारे ही विचार साहित्य के रूप में मूर्तिमान हो हमारा नेतृत्व करते हैं। साहित्य ही विचारों की गुप्त शक्ति को केन्द्रस्थ कर उसे कार्यकारिणी बना देता है। साहित्य हमारे देश के भावों को जीवित रख कर हमारे जातीय व्यक्तित्व को स्थिर रखता है।"[1]

बाबू गुलाबराय युग से कभी पिछड़ कर नहीं चले हैं। उन्होंने यदि युग को मार्ग नहीं दिखाया तो कम से कम युग को कन्धा अवश्य दिया है। उन्होंने युगीन प्रवृत्तियों में प्रगतिशील मान्यताओं को यथेष्ट सीमा तक स्वीकार किया है। उनकी प्रगतिशीलता में अनेक तत्व आते हैं।

यथार्थवाद के सम्बन्ध में उनकी मान्यता उसे मार्क्सवादी विचारधारा के साथ जोड़कर देखने के अतिरिक्त उसे आदर्श के विरोधी रूप में भी स्वीकार करने की है। उनका यथार्थवाद प्रगतिवाद के साथ जुड़कर चला है। वैसे तो उन्हें जहाँ नवीनता हो वहीं प्रगति के दर्शन होते हैं[2] और उन्होंने साहित्य को उसके प्रारम्भ से ही प्रगतिशील माना है। उनकी दृष्टि में जो जन-हितकारी है वही प्रगतिशील है।[3] यथार्थवाद को वे जीवन का सच्चा रूप कहते हैं। इसमें वास्तविकता रहती है, किन्तु दृष्टि नगण्य, हेय और लघु की ओर रहती है, यही उन्हें मान्य है। 'यथार्थ वह है जो नित्य-प्रति हमारे सामने घटता है। उसमें पाप-पुण्य, धूप-छाँह और सुख-दुःख मिश्रित रहता है। यह सामान्य भाव-भूमि के समतल रहता है और वर्तमान की वास्तविकता में सीमाबद्ध रहता है। स्वर्ग के स्वर्णिम सपने उसके लिये परी देश की वस्तु हैं जो उनकी पहुँच से बाहर हैं। भविष्य उसके लिए कल्पना का खेल है। वह संसार हाहाकार और करुणा-क्रन्दन का यथा तथ्य वर्णन करता है। वह कठोर सत्य को कहने में नहीं हिचकिचाता। वास्तविकता के नाते संसार में पाप और बुराई का विजय घोष करने में संकुचित नहीं होता। वह संसार की कलुष-कालिमा पर भव्य आवरण नहीं डालना चाहता। वह स्वर्ण को भी कालिमामय मिट्टी के कणों से मिश्रित देखना चाहता है। वह उसे तपा गलाकर और उसमें चमक उत्पन्न कर लोगों को चकाचौंध में नहीं डालना चाहता।'[1] यथार्थवाद के सम्बन्ध में इनकी यह धारणा प्रेमचन्दजी की धारणा के समकक्ष है। संभवतः वे प्रसादजी की यथार्थवाद सम्बन्धी मान्यताओं से सहमत हैं। उन्होंने फ्रांस के यथार्थवादी लेखकों के साहित्य को यथार्थवाद का उदाहरण मानकर ही ऊपर के उद्धरण में यथार्थवाद की 'कु' पर दृष्टि रखने की मान्यता को स्वीकार किया है। संभवतः वे समाजवादी-यथार्थवाद के उस रूप को स्वीकार करते हैं जिसमें आज की वर्तमान स्थिति का यथार्थवादी चित्र हो तथा साथ ही भविष्य के लिए एक सन्देश तथा मङ्गलमय कल्पना जो यथार्थ परिस्थितियों से ही विकसित होने वाली हो। इस यथार्थवाद को प्रेमचन्दजी ने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की संज्ञा दी है। बाबूजी को भी यही रूप स्वीकृत है, क्योंकि इसमें यथार्थ स्थिति और मङ्गलकारी आदर्श समन्वित रूप में रहते हैं। 'दूसरी ओर यथार्थता के भी अपने गुण और दोष हैं। इसमें यथार्थता, स्वाभाविकता, सरलता, सुस्पष्टता, मूर्तता और वर्तमान जीवन से प्रेम विद्यमान रहता है। परन्तु इसके लिये नग्न चित्रण आवश्यक नहीं। कल्पना का पुट आवश्यक है। नहीं तो यथार्थ, नीरस, अश्लील और अशान्ति की पोषक होकर पूर्णता तथा औचित्य का विरोध करने लगती है। यथार्थ में सत्य रहता है, परन्तु कटुसत्य बहुधा भलाई में सहायक नहीं होता। कोरी नामावली और घटनाओं का विशद वर्णन इतिहास हो उठता है

[1] प्रबन्ध प्रभाकर पृष्ठ २५
[2] हिन्दी काव्य विमर्श : पृष्ठ २८९
[3] प्रबन्ध प्रभाकर : पृष्ठ १३७

[1] प्रबन्ध-प्रभाकर : पृष्ठ १८७

दोनों के गुण-दोषों का विवेचन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि दोनों का सामञ्जस्य और समन्वय ही लाभकारी हो सकता है। दोनों एक दूसरे को पारस्परिक पूर्णता प्रदान करते हैं।........आदर्श यथार्थ को ऊँचा उठाता है और यथार्थ आदर्श को खोखला होने से बचाता है।[१] यथातथ्यवादी यथार्थवाद को वे अनेक कारणों से असमीचीन मानते हैं।

(१) बुराइयों के उद्घाटन से लोगों में कुरुचि उत्पन्न होती है। (२) जब पाठक बुराई को फलते-फूलते देखते हैं और साधुता को दुःख उठाते देखते हैं तब वे निराश हो उठते हैं और सदाचार तथा सद्गुणों के प्रति आकर्षण कम हो जाता है। तथा (३) दुःख-सङ्घर्ष आदि का जो वर्णन यथार्थ में रहता है, इन तत्त्वों का भारी समावेश हमारे जीवन में पहले से ही है, साहित्य द्वारा इनकी इतनी अभिवृद्धि और भी उबाने वाली होगी।[२] इस प्रकार यथार्थ के सम्बन्ध में वे व्यवहारवाद से काम लेना चाहते हैं। वे यथार्थ के भीतर छिपे हुए आदर्श का उद्घाटन साहित्यकार का मुख्य उद्देश्य स्वीकार करते हैं जिसमें पाठकों का ध्यान उस आकर्षक रूप की ओर खिंच जाय। इस प्रकार का यथार्थवाद उन्हें सच्चा यथार्थवाद लगता है तथा इसे वे प्रगतिशील भी मानते हैं।[३] क्योंकि इससे मानव-समाज के विकास में सहायता मिलती है। आदर्शों की अतिवादिता एवं समस्या की सीमा से उनका बाहर जाना भी उन्हें अमान्य है। अन्यथा वह उस उद्देश्य (उपयोगिता) की पूर्ति न कर सकेगा। जिसके लिए उसकी आयोजना की गई है।

बाबूजी अपनी समीक्षा में सामयिक समस्याओं के चित्रण के पक्ष में हैं। उन्होंने स्वयं भी आजकी समाज-दशा के सच्चे चित्र दिये हैं जिनमें साधारण जनता के स्तर, शासकीय अपव्यय, आर्थिक असमानता, नौकर-शाही, शोषकवर्ग की विलासिता तथा निम्नवर्ग की दयनीयता आदि के लिए चिन्ता प्रकट की गई है। इस

[१] प्रबन्ध प्रभाकर : पृष्ठ १८०
[२] काव्य के रूप पृ० १८१
[३] वही पृ० १८२

युग-समीक्षा का आधार सामाजिक-आर्थिक है, जो मार्क्सवादी समीक्षा के आधारभूत तत्त्व हैं[१]। मार्क्स-वादी-विचारधारा जब साहित्य में प्रयुक्त हुई तो हिन्दी में उसे प्रगतिवाद कहा गया। बाबूजी ने प्रगतिवाद पर भी अपने विचार अनेक स्थानों पर प्रकट किये हैं। उन्हें प्रगतिवादी मान्यताएँ जहाँ तक वे मानवतावादी हैं, स्वीकार हैं, किन्तु इन मान्यताओं को ही सब कुछ मानकर अन्य तत्त्वों को अप्रमुखता देना उन्हें अस्वीकार है। प्रगतिवाद के अनेक गुणों को उन्होंने स्वीकार किया है जैसे हिन्दू मुस्लिम एकत्व सर्वहारा को उत्थान देना, साम्यभावना को लाना, व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठना तथा समष्टिवाद तक पहुँचना।

"प्रगतिवाद ने हमारे जीवन का मुख जीवन की ओर मोड़ा। जीवन की विषमताओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। सर्वहारा वर्ग को उत्थान दे उसने साम्य भावना को प्रमुखता दी और हिन्दू मुसलमानों को भी एक दूसरे के निकट लाने का प्रयत्न किया प्रगतिवाद हमको स्वार्थपरायण व्यक्तिवाद से हटाकर समष्टिवाद की ओर ले गया है। उसने लेखकों को शय्या-सेवी अकर्मण्य नहीं रखा है[२]।" ये राष्ट्रीयता के इसलिए समर्थक हैं कि वह मानवों को एक जाति में बाँधती है उस भावना से हम साम्प्रदायकता तथा जातियता आदि की सीमाओं से ऊपर उठजाते हैं "राष्ट्र सबके हित के लिये है। उसके लिये हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिक्ख सब बराबर हैं। वह किसी जाति विशेष का नहीं है और न किसी जाति विशेष को उसमें विशेष अधिकार है सभी उसके संरक्षण और पोषण के समान रूप से अधिकारी हैं[३]।"

बाबूजी पूँजीवादी व्यवस्था की नारी सम्बन्धी मान्यताओं से असहमत हैं। वे नहीं चाहते कि नारी को नर से नीचा दर्जा मिले। आज जो विषम परिस्थिति है और नारी का जो शोषण हो रहा है उसके विरुद्ध समाज को चेतावनी देते हैं। इस दृष्टि से प्रगतिवादियों

[१] मेरे निबन्ध—पृष्ठ २०४।
[२] प्रबन्ध प्रभाकर—पृष्ठ १४२।
[३] मेरे निबन्ध—पृष्ठ १८२।

के समकक्ष हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि—"सदाचार के सारे बन्धन स्त्रियों के लिए ही होते हैं। बहुत सी स्त्रियाँ बेचारी रोटी कपड़े के नौकर की तरह काम करती हैं। पति के दाम्पत्य अधिकार और बच्चों के रोने के वात्सल्य अधिकार की दो रज्जुओं से मन्थित होकर रई की भाँति वह इधर से उधर घूमती रहती है।"[1]

प्रगतिवाद का आधार आर्थिक सम्बन्ध है। गुलाबरायजी अर्थ को महत्व देते हैं, किन्तु यह नहीं चाहते कि दूसरों को शोषण करके दूसरों का पोषण किया जाय। वे ये भी मानते हैं कि समाज में जब तक पीड़ा, यातना, असमानता रह गई है तब तक कोई भी सुखी नहीं रह सकता। सच्ची नैतिकता असमानता के मिटने पर ही पैदा होगी। अन्याय के रहते हुए समाज के सभी वर्गों का पतन होता रहता है। अतः हमारे साहित्य में वह शक्ति आनी चाहिए जो इन दुर्गुणों को मिटाकर सब के कल्याण का मार्ग खोज सके।" धन ही मनुष्य को नीचा गिराता है और धन ही उसे ऊँचा उठाता है। यदि धन का उपार्जन उचित साधनों से अर्थात् कठिन परिश्रम से, दूसरों की बेबसी का लाभ न उठाकर हो और धोखा-धड़ी से बचाकर हो, तो उसका स्वागत करना बुरा नहीं·······पीड़ाओं, यातनाओं और असमानताओं के रहते हुए सुखी लोग भी सुखी नहीं हो सकते। सुखी का सुख, वह चाहे जितना भी निर्भय हो, दुखित वातावरण में नीरस बन जाता है। समाज की प्रतिक्रिया व्यक्ति पर होती है। सुखी समाज में ही व्यक्ति का पूर्ण विकास हो सकता है। जहाँ नैतिक स्तर नीचा होता है वहाँ असमानताएँ जड़ पकड़ती हैं, सच्ची नैतिकता 'सर्वभूत हित' की ओर ले जाती है। मानव-उत्थान तभी हो सकता है जब हमारा नैतिक स्तर ऊँचा उठे। तभी समाज में न्याय-व्यवस्था पनप सकती है। अन्याय न शोषक को ही पनपने देता है और न शोषित को। धन-वैभव का यदि नीति से विच्छेद हो जाय तो वह कल्याणकारी न रहकर विनाशकारी बन जाता है। हमको शक्ति के साथ शिव की भी उपासना करनी चाहिए।"[1] प्रगतिवादियों ने जो नारेबाजी की है और रूस तथा लाल सेना पर कविताएँ लिखी हैं उनका उन्होंने समर्थन नहीं किया है। इसके विपरीत राष्ट्रीय समस्याओं पर लिखे गए रागात्मक साहित्य को श्रेष्ठ माना है। बङ्गाल के अकाल का जो यथार्थवादी चित्र प्रगतिवादी साहित्यकारों ने खींचा है उसकी उन्होंने प्रशंसा की है[2] और बताया है कि यह वर्णन करुणा प्रेरित है एवं साथ ही इसके मूल में पूँजीपतियों एवं चोरबाजारी करने वालों के लिए घृणा का भाव भी है।

बाबू गुलाबराय ने हिन्दी-साहित्य का सुबोध इतिहास लिखा है। यद्यपि इस इतिहास में कोई मौलिक उद्भावनाएं नहीं हैं फिर भी इतिहास के प्रति, भावना स्पष्ट हो जाती हैं। यह इतिहास को साहित्यकारों और ग्रन्थों का सङ्कलन मात्र नहीं है वरन् तत्कालीन जातीय जीवन और उसमें प्रभावित होने वाली समाज-चेतना का परिणाम है वीरगाथा काल की युग-चेतना किस प्रकार तत्कालीन साहित्य में प्रकट हुई है इस सम्बन्ध में उनका निम्न उद्धरण स्थिति को स्पष्ट करता है।

"साहित्य का विकास तत्कालीन जातीय जीवन और ससमें प्रवाहित होने वाली विचारधाराओं पर निर्भर रहता है। कवि और साहित्यकार अपनी विशेष संवेदन शीलता के कारण समाज के वायु-मण्डल में बिखरी हुई विचार-तरङ्गों को रेडियो के आकाशी की भाँति ग्रहण कर अपनी कल्पना और अभिव्यञ्जना के बल पर जनता के लिए ग्राह्य बना देता है। हिन्दी-साहित्य समाज की गति के साथ प्रतिस्पन्दित हुआ है। वीरगाथा काव्य सङ्घर्ष युग की देन है किन्तु उसमें सङ्घर्ष की मारकाट और एक छोटे राज्य को ही देश मानने की संकुचित पर सच्ची वीर भावना के साथ प्रेमाश्रित स्त्री-परित्राण भावना से उत्पन्न शृङ्गारिकता का भी पुट है। फलतः यह स्पष्ट है कि गुलाबरायजी ने प्रगतिशीलता को यथेष्ट सीमा तक मान्यता प्रदाम कर उसे अपने व्यवहार में लिया है। —आगरा कालेज, आगरा।

[1] मेरे निबन्ध, पृ० १६५

[1] कुछ उथले कुछ गहरे, पृ० २०४, २०५
[2] काव्य के रूप, पृ० १५१

डा० गुलाबरायजी की प्रगतिशीलता

डा० नत्थनसिंह

प्रगतिशीलता की शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार बाबूजी प्रगतिशील लेखक नहीं ठहरते। प्रगतिशील तत्त्वों का बाबूजी की रचनाओं में अभाव है, इसका कारण यह नहीं कि प्रगतिवादियों की भाँति उनमें दीन-दुखियों के प्रति प्रेम, शोषित और उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति और सब प्रकार के शोषण के प्रति घृणा का अभाव था, वरन् इस अभाव का कारण था, बाबूजी के हृदय का मार्दव होना और उनके मानस पर गांधीवादी नैतिकता का अतिशय प्रभाव होना। गांधीवादी अहिंसात्मक नैतिकता ने बाबूजी को समन्वय की ओर उन्मुख किया। समन्वयवादी होने के उपरान्त उन्होंने मध्यम मार्ग ग्रहण कर लिया। फलतः वे जीवन और साहित्य में दो अतियों से सर्वथा मुक्त रह सके। बाबूजी ने आस्था और अनास्था परुष और कोमल, नवीन और प्राचीन, रूढ़ि और प्रगति एवं भौतिकता तथा आध्यात्मिकता को समन्वयकारी दृष्टिकोण से देखा, परखा और प्रस्तुत किया। इस कार्य में उनके मन की सर्वोदयी भावना ही मुखर रही। इस सर्वोदयी समन्वय के प्रयास में वे प्रगतिशीलता के लिये अपेक्षित शक्ति और क्षमता का संग्रह नहीं कर पाये।

प्रगतिशीलता का सामान्य अर्थ गतिवान होना होता है। किसी विशेष स्थान, विचार, गतिरोध अथवा मत से आगे बढ़ना प्रगति की दिशा में कदम बढ़ाना है। इस अर्थ में लगभग सभी लेखक अपने पूर्ववर्ती लेखकों से प्रगतिशील होते हैं। इस दृष्टि से घोर प्रतिक्रियावादी लेखक भी कुछ सीमा तक प्रगतिशील कहा जा सकता है। बिहारी और देव को भी नायिका के नख-शिख चित्रण की नवीन शैली के लिए प्रगतिशील कहा जा सकता है, फिर बाबूजी इस मत के अपवाद कैसे ठहराये जा सकते हैं ?

प्रगतिशीलता की सामान्य परिभाषा के अनुसार ही बाबूजी प्रगतिशील नहीं ठहरते, वरन् कुछ अन्य तत्त्वों के आधार पर भी उनको प्रगतिशील ठहराया जा सकता है। प्रगतिवाद का एक दार्शनिक पहलू है। उसके मूल में एक सैद्धान्तिक मान्यता है। प्रगतिवादी लेखक शोषण का विरोध और परिश्रम का समर्थन करता है। वह वैयक्तिक अहं का विरोध और सामाजिक प्रगति का प्रतिपादन करता है। वह साम्राज्य लिप्सा, उत्पादन के साधनों पर अधिकार, मुनाफाखोरी, युद्ध-प्रियता और जन-संहार को घृणा की दृष्टि से देखता है तथा इसके विपरीत मानवता और लोक-कल्याण का हामी होता है। मानवीय सभ्यता और जन-संस्कृति के विकास-पथ में आने वाले अपराधों का वह निवारण करता है। मनुष्य-मनुष्य के बीच जाति, धर्म, वर्ण और वर्ग की खड़ी की गई दीवारों को धराशायी करता हुआ, मानवीय समता और एकता का पाठ पढ़ाता है। रङ्ग-भेद और पूँजीगत वैषम्य से मुक्त एक शोषण-विहीन समाज का वह स्वप्न देखता है। वैयक्तिक कुण्ठा और उद्दाम-वासना की अभिव्यक्ति से उसे विरोध है। वह नारी के सम्मान और गौरव का प्रबल समर्थक है।

इस सीमा तक डा० गुलाबराय को अपनी मान्यताओं में प्रगतिशील कहा जा सकता है। 'राष्ट्रीयता' और 'मेरे निबन्ध' नामक अपने संग्रहों के कितने ही निबन्धों में आपने साम्प्रदायिक विषमता, पूँजीगत शोषण, हरामखोरी, मुनाफाखोरी, राजनीतिक दाँव-पेच, अमानवीय षडयन्त्र, सङ्कीर्ण राष्ट्रीयता, दलगत लाभ और उत्कर्ष की भावना तथा अमानवीय और अनैतिक कार्यों का प्रबल विरोध किया है। अपनी इस विचार-धारा के आधार पर बाबूजी शुद्ध प्रगतिशील लेखक ठहराए जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रगतिवाद के सैद्धान्तिक पक्ष तक तो बाबूजी को कोई विरोध नहीं है,

किन्तु मार्क्सवादी दर्शन के आधार पर प्रगतिवादी जब अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं को अमली जामा पहनाने की बात करता है, तब बाबूजी भारतीय आध्यात्मिकता गांधीवादी अहिंसा और अन्य दार्शनिकों की आशावादिता की शरण चले जाते हैं। प्रगतिवाद के साथ यहीं से बाबूजी का अलगाव हो जाता है। उनके हृदय की सहृदयता, कोमलता और मार्दवभावना उनको प्रगतिवादियों की क्रान्तिवादिता की ओर नहीं बढ़ने देती। वे गांधीजी की भाँति उपदेश और हृदय परिवर्तन के द्वारा मानव-विकास के अवरोधों का उन्मूलन करना चाहते हैं। उनका यही दृष्टिकोण उनको समन्वय की ओर बढ़ाता है।

मार्क्सवादी भौतिकता और गांधीवादी आध्यात्मिकता के समन्वय का प्रसार करने वाले बाबूजी कुछ सीमा तक यथार्थ में प्रगतिशील थे, इसमें सन्देह नहीं। आप प्रयोगवादियों की भाँति साहित्य का सम्बन्ध वैयक्तिक कुण्ठाओं की व्यञ्जना तथा अहं के विस्फोट तक न मानकर उसका सम्बन्ध मुखरित जीवन के साथ जोड़ते हैं, देखिए—"साहित्य मुखरित जीवन है। वह जीवन का ही आत्म-चिन्तन है। जीवन की आवश्यकताओं को भूलकर हम साहित्य का चिन्तन नहीं कर सकते।"[1] बाबूजी साहित्य के मूल्य को जीवन के मूल्य से भिन्न नहीं मानते। आध्यात्मिकता का उनके जीवन में ऊँचा स्थान है, पर आध्यात्मिक गरिमा की प्राप्ति वे भौतिक साधनों द्वारा मानते हैं। कोरे अध्यात्मवादियों की भाँति वे हवा में बातें नहीं करते—आध्यात्मिक मूल्य भौतिक मूल्यों से ऊँचे अवश्य हैं, किन्तु उनकी उपेक्षा नहीं करते। भौतिक सोपानों द्वारा ही आध्यात्मिक की प्राप्ति होती है।"[2] आपने साहित्य को साम्य का उन्नायक माना है। वे साहित्य द्वारा सब प्रकार की विषमता निवारण की बात कहते हैं। देखिए—"जो साहित्य मनुष्य जीवन में उसकी सभी वृत्तियों और जीवन के सभी स्तरों में साम्य की ओर

[1] अध्ययन और आस्वाद, पृष्ठ ५

[2] वही, पृष्ठ ७

ले जाता है वही हमारे लिए मान्य होगा।"[1]

एक स्थान पर बाबूजी श्रेष्ठ साहित्य का सम्बन्ध जीवन में एकता और विकास के साथ जोड़ते हैं—"सत्साहित्य जीवन के व्यापक क्षेत्र में विविधता में एकता स्थापित करने वाले विकासवाद के चरम लक्ष्य को चरितार्थ करता है। मनुष्य केंचुए से तथा उससे भी उच्च श्रेणी के जीवधारियों से अधिक विकसित इसलिए कहा जाता है कि उसके अङ्गों में कार्यों के वैविध्य के साथ पूर्ण अन्विति है। सत्साहित्य का क्षेत्र न किसी वर्ग-विशेष में सीमित होगा और न उसमें किसी का बहिष्कार होगा। जहाँ उसको मानवता के दर्शन होंगे उसकी वह उपासना करेगा।"[2] यहाँ बाबूजी ने एक सच्चे प्रगतिशील लेखक की भाँति साहित्य के माध्यम से मानवता के विकास का समर्थन किया है।

बाबूजी अनेक प्राचीनवादी और रूढ़िप्रिय आलोचकों की तरह प्राचीन मतों को आँख बन्द कर स्वीकार नहीं कर लेते। इस दृष्टि से वे निश्चय ही अन्यों की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील ठहरते हैं। शास्त्रीय नियमों के विषय में उनकी मान्यता अवश्य ही अपेक्षाकृत अधिक प्रगतिशील है—"शास्त्रीय नियमों के पालन का मुझको विशेष मोह नहीं है, नायिका भेद के आचार्यों की भाँति सभी नियमों के पालन के लिए प्रयत्नशील होना, मैं काव्य के रस के लिए घातक भी समझता हूँ किन्तु जहाँ किसी शास्त्रीय का प्रयोग स्वाभाविक और मौलिक ढङ्ग से होता है वहाँ मैं उसका आदर करता हूँ।"[3]

साहित्य में मनोवैज्ञानिकता के प्रश्न पर भी बाबूजी आधुनिक प्रयोगवादियों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रगतिशील हैं। वे फ्रायड और जुङ्ग की मान्यताओं को आँख बन्द करके स्वीकार नहीं करते और न अवचेतन की अस्पष्ट तथा कुण्ठित अभिव्यक्ति को काव्य का सर्वस्व मानते हैं। इस प्रकार वे वैयक्तिक कुण्ठाओं और यौन-विषमताओं को साहित्य में विशेष स्थान न देकर व्यक्ति

[1] वही, पृष्ठ ८

[2] वही, पृष्ठ ९–१०

[3] वही, पृष्ठ ४५

के संस्कार और उसके वातावरण के चित्रण को महत्त्व देते हैं। देखिए—"मनोविश्लेषण में फ्रायड की भांति सब समस्याओं का हल यौन-वासना में नहीं मानता। लोक-एषणा और वित्त एषणा को भी महत्त्व देता हूँ। मनुष्य का अहं कभी-कभी सैक्स से भी प्रबल होता है। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ जातीय संस्कार होते हैं, कुछ माता-पिता के और कुछ वातावरण के। इस सबका अध्ययन मैं आवश्यक समझता हूँ।"[1]

अन्य साहित्यिक विधाओं के समान ही बाबूजी कहानी की श्रेष्ठता की कसौटी मनोवैज्ञानिकता के नाम पर मानवीय दुर्बलताओं, उसकी चारित्रिक शिथिलताओं उसकी यौनि-विकृतियों और जीवन की अन्य विषमताओं के चित्रण को नहीं मानते और न दुर्दमनीय अहं की व्यञ्जना को ही स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत मानव जीवन के प्रति गहरी सहानुभूति और संवेदना को वे कहानी का मूल्य मानते हैं—"कहानी की रोचकता उसके कौतूहल के अतिरिक्त मानव-समाज के प्रति सहानुभूति में है। हम मनुष्य हैं और मनुष्य के विचारों आशाओं और अभिलाषाओं, उसकी सफलताओं और विफलताओं के प्रति सहानुभूति पूर्ण रुचि रखते हैं। यह सहानुभूति जो सारे साहित्य का मूल है कहानी का भी आधार है।"[2] प्रेमचन्दजी तथा निरालाजी के कथा-साहित्य में यही सहानुभूति और संवेदना पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है; जिसने उनको प्रगतिशील लेखक की संज्ञा प्रदान की है। इसी सहानुभूति का समर्थन करके गुलाबरायजी ने अपनी प्रगतिशीलता का परिचय दिया है।

रीतिकालीन साहित्य के मूल्याङ्कन में भी बाबूजी की प्रगतिशीलता आगे बढ़ कर आई है। अर्थ और वैभव के प्रलोभन ने रीतिकालीन कवि को साधारण चारण के स्थान पर ला बिठाया था और कविता विलासप्रियता एवं रस-लोलुपता की संयोजक बन चुकी थी। इस स्थिति पर बाबूजी ने व्यंग्य किया है—रीतिकाल में राधा-कृष्ण का सजीव व्यक्तित्व नहीं रहा था, वरन् वे रीति के साँचों पर ढली मूर्तियाँ बन गये थे। कविता हुक्मी हो गई थी। सरस्वती देवी का हंस मोतियों के प्रलोभन उनको शीघ्र ही कवियों की जिह्वा पर ला खड़ा कर देता था। कभी-कभी वे स्वयं भी कृपा करती थी।"[1]

बाबूजी ने साहित्य में व्यक्तिवाद का समर्थन न करके उसे लोक-कल्याण की भावना से युक्त होना आवश्यक माना है। गोस्वामी तुलसीदास के काव्य में 'स्वान्तःसुखाय' का स्वरूप निर्धारित करते हुए बाबूजी ने उसे 'बहुजन हिताय' होना श्रेयस्कर कहा है—अब प्रश्न यह होता है कि तुलसी ने 'स्वान्तःसुखाय' की बात कहकर क्या व्यक्तिवाद को आश्रय दिया? तुलसी व्यक्तिवादी नहीं थे। वे लोक-संग्रह और समाज-व्यवस्था में विश्वास रखते थे। उनका स्वान्तःसुखाय रामभक्ति की प्रतिष्ठा में था और उस समय समाज को व्यवस्था देने और उसकी रक्षा के लिए राम के आदर्श चरित्र का अनुशीलन आवश्यक था। इसलिए उनका 'स्व' संकुचित स्व न था, उनका विश्वात्मा से जिसके प्रतीक भगवान राम थे, तारतम्य था।"[2]

बाबूजी गोस्वामीजी की बहुजन हिताय अथवा लोकहिताय भावना और परोपकार प्रियता पर मुग्ध हैं यह मुग्धता उसी व्यक्ति में आ सकती है, जो स्वयं उसी मत का हो। बाबूजी का यह मत ही उनको प्रगतिशील बनाता है। बाबूजी के हृदय की विशालता और चिंतन की सामाजिकता ने उनको व्यक्तिवादिता से घृणा करना सिखलाया। यह घृणा-भाव यहाँ तक विकसित हुआ कि जन्म-दिवस मनाने तक में वैयक्तिकता के समावेश के कारण उन्हें सङ्कोच होने लगा। देखिए—"इस उत्सव में जहाँ तक सामाजिकता है वहाँ तक मुझे प्रसन्नता है, किन्तु इसमें जो वैयक्तिकता है उसके लिए मैं लज्जित हूँ, क्योंकि अपने लिए दूसरों को कष्ट देना (चाहे वह लेख पढ़ने का ही क्यों न हो) अक्षम्य दोष है।"[3]

यही बात 'मिल मजदूर' शीर्षक निबन्ध में वर्तमान है। यहाँ भी बाबूजी वैयक्तिकता पर सामाजिकता को

[1] वही पृष्ठ ४७
[2] वही पृष्ठ ८३

[1] वही पृष्ठ १३२
[2] अध्ययन और आस्वाद – पृ० १४६।
[3] मेरे निबन्ध पृष्ठ, ७।

प्रश्रय देते हैं। बाबूजी के हृदय की सरसता, स्वाभाव की निर्वैयक्तिकता, सिद्धान्त की समाजवादिता और जन-हितैषिता उनको प्रगतिशील बनाती है। सद्व्यवहार की महत्ता प्रतिपादित करते हुए आपने मिल मालिकों को मजदूरों के साथ हिल-मिलकर रहने और उनके सामाजिक जीवन का अङ्ग बनने की सलाह दी है। बाबूजी सच्चे हृदय से चाहते हैं कि मिल मालिक और मजदूर का भेद मिट जाय और एकता की स्थापना हो जाय। उनके बीच में अधिकारी और अधिकृत का अन्तर न रहे। आज के युग में जब कि लेखक मनुष्य की हीन भावना, कुण्ठा और विकृत्तियों का चित्रण ही लेखन-कार्य का गौरव मानते हैं, बाबूजी द्वारा साम्य और एकता की दिशा में सोचना निश्चय उनके हृदय की विशालता और प्रगतिशीलता का प्रतीक है।

मैं पहले लिख चुका हूँ कि साम्प्रदायिकता, पूँजीगत शोषण, राजनीतिक चालबाजी, अमानवीय आचरण, दलगत मालिन्य, वर्गगत स्वार्थपरता, सङ्कीर्णतावादी राष्ट्रीयता, चारित्रिक अनैतिकता, राष्ट्रीय चरित्र के विकास का अभाव, चोरबाजारी, सङ्घर्ष प्रियता, अधिकारवादिता, पूँजी सङ्कलन की भावना और मानव-सभ्यता-विरोधी तत्वों का जबरदस्त विरोध करने में ही बाबूजी की उच्चकोटि की प्रगतिशीलता अभिव्यक्त हुई है। उनके हृदय की देशभति उनको इस दिशा में और भी आगे बढ़ाती है। देशप्रेम और मानव-हित को महत्त्व देते हुए आप लिखते हैं—"पार्टी या दल की अपेक्षा देश बड़ा है। पार्टी के पीछे देश के हितों का बलिदान करना मूर्खता होगी। इसी प्रकार सिद्धातों की अपेक्षा मनुष्य का अधिक महत्व है। सिद्धान्तों के पीछे मनुष्यों की हत्या करना सिद्धान्तों की अमानवतावादी सिद्ध करना होगा।"[1]

एक सच्चे प्रगतिवादी की भाँति आप यह स्वीकार करते हैं कि किसी राष्ट्र का उत्कर्ष उसकी समस्त जनता के उत्कर्ष में निहित होता है। किसी एक-दो व्यक्ति अथवा वर्ग की सम्पन्नता में नहीं। देखिए—"यदि राष्ट्र में कारें और वायुयान बढ़ जायें और साथ ही लोगों में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष की मात्रा बढ़े, बेईमानी और भ्रष्टाचार का बोलवाला रहे तो वह उन्नति किस काम की। यदि समृद्धि और सम्पन्नता कुछ भाग्यवानों के एकाधिकार की वस्तु रह जाय और अधिकांश लोग रोग, गरीबी और गन्दगी के शिकार बने रहें तो वह समृद्धि किस काम की? यदि लोग दूसरों पर अत्याचार और उत्पीड़न करके गगन चुम्बी महल खड़े कर लें तो वे विद्युत-प्रकाश से जगमगाते विशाल भवन किस काम के?"[1] इन पंक्तियों में उनका साम्य अथवा समतावादी सिद्धान्त तथा दुःखी एवं उपेक्षितों के प्रति उनका प्रेम अभिव्यक्त हुआ है। 'पड़ौस के काछी-कुम्हार सज्जनों और सज्जनाओं की करुण पुकार सुनकर बाबूजी की नींद प्रायः भङ्ग होती रही है। उन्हें अपनी भैंस का नहीं, पर गरीबों के जानवरों की चीख-पुकार का दुःख होता है। बाबूजी का यह जन प्रेम ही उनको प्रगतिशील बनाता है।

'राष्ट्रीयता और उसके बाधक' नामक निबन्ध में बाबूजी ने देश को पतन की ओर ले जाने वाले तत्वों पर जबरदस्त प्रहार किए हैं—भ्रष्टाचारी, कामचोरी, सरकारी वस्तुओं का दुरुपयोग, चोर बाजारी, अपनी योग्यता से ऊँचे पद के लिए प्रयत्नशील होना या धन या जाति बिरादरी के मोह से किसी अयोग्य व्यक्ति को कोई पद देना, या किसी दूसरे के प्राप्य अधिकार से उसे वंचित रखना, ये सब दूषित व्यक्तिवाद के अन्तर्गत आते हैं। आलस्य, कामचोरी, चोर-बाजारी, बेईमानी आदि से राष्ट्र की उत्पादन क्षमता घटती है और राष्ट्र सम्पन्नता की ओर न जाकर गरीबी और पर-निर्भरता की ओर जाता है।"[2] हम देखते हैं कि वैयक्तिकता, कुनबापरस्ती, दलबन्दी, जातिवादिता, प्रान्तीयता और संकीर्णता का बाबूजी ने सदैव विरोध किया है। यह उनका विशेष गुण है। उनकी प्रगतिशीलता का स्वरूप स्थान और धर्म की सीमाओं के उलङ्घन का समर्थन करने और देश के प्रत्येक धर्म और स्थान को भारत का धर्म और स्थान मानने में है। देखिए—

[1] राष्ट्रीयता, पृष्ठ ९

[1] राष्ट्रीयता, पृष्ठ ४०

[2] वही, पृष्ठ ५८

"सभी भाषाएं राष्ट्र भाषायें हैं, सब के कवि राष्ट्र के कवि हैं। रविबाबू बङ्गाली के ही कवि नहीं हैं वे भारतीय विचारधारा के प्रमुख गायक हैं। मणिपुर के नृत्यों पर कुल भारत को गर्व है। दक्षिण के आचार्य सारे भारत के आचार्य हैं। हिन्दू तीर्थ सारे भारत में फैले हैं।"[1] बङ्गाली, राजस्थानी और दक्षिणी भाषाओं का झगड़ा खड़ा करने वाले तथाकथित देश-भक्तों और दक्षिणी व उत्तरी सभ्यता एवं संस्कृति की बातें करने वाले संस्कृति के उपासकों से बाबूजी कितने अधिक प्रगतिशील हैं, यह देखना चाहिए। बाबूजी की प्रगतिशीलता की कुछ अन्य विशेषताएँ हैं– सैद्धान्तिक हठवादिता का विरोध, सैद्धान्तिक-सङ्घर्ष में कटुता के समावेश को निन्द्य मानना और मानवतावादी बने रहना।

कहीं-कहीं बाबूजी एक विरोधी दल के नेता की भाँति सरकारी नीति और अधिकारियों की कार्य-शैली की आलोचना करने पर उतर पड़े हैं—"सरकार जितनी कड़ी निगाह परमिटों के जारी करने पर रखती है उतनी कड़ी निगाह उनके उपयोग पर भी रखे तो बहुत कुछ सुधार हो सकता है। रिश्वत जितनी कम होगी उतना ही शीघ्र चोर बाजारी का अन्त होगा। बिना अधिकारियों की दर-गुजर के चोर बाजार नहीं चल सकता।"[2]

'अधिकारी और अधिकृत' नामक निबन्ध में बाबूजी ने अधिकारी की दूषित मनोवृत्ति की आलोचना करते हुए उपेक्षित अधिकृत के प्रति सहानुभूति व्यक्त की है। अधिकारी को अधिकृत की अवस्था समझने, उसकी समस्याओं पर विचार करने, उन्हें नीचा और त्यक्त न समझने, उन्हें अपमानित न करने, उनके साथ समता का व्यवहार करने, केवल अपने लाभ और स्वार्थ में न भूले रहने, सचाई और ईमानदारी का पल्ला न छोड़ने, दम्भ और वैयक्तिक लाभ का मोह छोड़ने और उनके साथ भाई चारे तथा समता का व्यवहार करने के सुन्दर परामर्श दिए हैं। मिल मालिकों को स्पष्ट चेतावनी देते हुए आपने लिखा है—"मिल मालिकों को त्याग के साथ भोग की शिक्षा लेनी चाहिए। मजदूर अपनी गरज से काम करने आते हैं, किन्तु उनकी गरज का लाभ उठाना या उसके कारण दवाना पाप है। गरज मिल मालिक की भी उतनी ही है जितनी मजदूर की। दूसरे की गरज का अनुचित लाभ उठाना मानवता के विरुद्ध है।"[3]

इस संक्षिप्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि बाबूजी प्रगतिवादी विचारधारा को कुछ सीमाओं तक स्वीकार करते थे। उन्हें प्रगतिवाद के एक पक्ष से असहमति थी, वह केवल उनकी कोमल प्रकृति और दार्शनिक स्वभाव के कारण। उन्होंने वर्ग भेद की बुराई को दूर करने के लिए प्रयत्न किया, पर वर्ग-संघर्ष को कभी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने मजदूर और किसान के शोषण को बुरा कहा, पर जमीदार और मिल-मालिक का अहित नहीं चाहा। पूँजीवाद की बुराइयों को वे खोल-खोलकर दिखाते रहे, किन्तु पूँजीपतियों को मिटाकर मजदूरों के बराबर करने की बात उन्होंने कभी नहीं सोची। उन्होंने भ्रष्ट अधिकारी, वेईमान नेता और शोषक व्यक्ति को जी भर कर कोसा है, पर उन्हें मृत्यु के मुँह में डालने के लिए नहीं, वरन् उसके हृदय की बुराई का निवारण करने के लिए। इस तरह बाबूजी प्रगतिवाद की अपेक्षा महात्मा गांधी और अरविंद दर्शन के अधिक समीप हैं। बाबूजी का गौरव प्रगतिवादी या मनोविज्ञानवादी होने में नहीं, एक सच्चे मानव होने में है और मैं गर्व के साथ कहता हूँ कि वे एक सच्चे मानव थे।

—जाट वैदिक कालिज, बड़ौत (मेरठ)

[1] राष्ट्रीयता, पृष्ठ ७५

[2] मेरेनिबन्ध, पृष्ठ ७२।

[3] वही, पृष्ठ १५६

गुलाबरायजी का निधन हिन्दी-आलोचना की अपार क्षति

श्री रामगोपालसिंह चौहान

बाबू गुलाबरायजी का निधन हिन्दी आलोचना-क्षेत्र की एक बहुत बड़ी क्षति है। यह क्षति इस समय और भी दुखदायी है जब हिन्दी आलोचना और हिन्दी साहित्य पूरे राष्ट्रीय जीवन के साथ-साथ अपने नए मान-मूल्यों की निर्माण-प्रक्रिया से गुजर रहा है। गुलाबरायजी ने अपने जीवन के बहुमूल्य वर्ष हिन्दी साहित्य की सेवा में अर्पित किए हैं। आलोचना के क्षेत्र में उनकी महान और अविस्मरणीय देन है। उन्होंने अपने प्रखर पाण्डित्य, निर्भ्रम दृष्टि और व्यापक अनुभव के द्वारा आलोचना सिद्धान्तों को समृद्ध किया है। आज पहले से भी अधिक उनके जीवित रहने की आवश्यकता थी।

स्वतन्त्रता के बाद के हिन्दी-आलोचना-साहित्य का और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि इस काल में हिन्दी-आलोचना-साहित्य ने परिमाण की दृष्टि से पर्याप्त प्रगति की है, सैद्धान्तिक आलोचना, पाठ्यग्रन्थों की आलोचना, शोधपरक आलोचना आदि आलोचना की विविध विधाओं में पर्याप्त कार्य हुआ है, प्राचीन भारतीय-काव्य-शास्त्र तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के ज्ञान से हिन्दी-आलोचना में महत्वपूर्ण मानदण्डों की स्थापना हुई है। साहित्य के विविध अङ्गों में निहित उन गूढ़ मन्तव्यों, जीवन-सत्यों, जीवन मूल्यों, जन-साधारण को जीवन सौन्दर्य की परख बुद्धि देने वाले भाव-बोध तथा मानव में स्थाई मानवता के तत्वों को बद्धमूल कर मानव और उसके मानवीय भावों को अमरता देने वाले राग-बोधों एवं कृति में निहित कला-सौष्ठव के विविध पक्षों को शोध के साथ-साथ साहित्य के उन मूलभूत तत्वों की शोध भी हुई है जो विविध कालों के साहित्य के आन्तरिक समन्वय का उद्‌घाटन करते हुए साहित्य की एक अजस्र धारा के रूप में करते तथा मानव के विकास-क्रम को भी स्पष्ट करते हैं। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद देश जिन अन्तर्बाह्य राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सङ्घर्षों में जीवन मूल्यों के विघटन एवं निर्माण की प्रक्रिया से गुजर रहा है, उसको स्वर देने वाली, जनता को नया सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण देने वाली तथा नवयुगानुकूल मर्यादाओं की सापेक्षता में उसका संस्कार करने वाली चेतना अभी दिखाई नहीं दे रही। साहित्य की मर्यादा का निर्देश करने वाले नये उभरते जीवन-मूल्यों के समान-धर्मा साहित्यिक मूल्यों के निर्धारण का कार्य भी अभी नहीं हुआ है। इसके बिना हिन्दी-आलोचना नये साहित्य का सारवाही, सही और जीवन तथा साहित्य के सम्बन्धों को स्पष्ट करने वाला, साहित्य में वर्तमान जीवन को अपनी सम्पूर्णता में प्रशिक्षित करने वाला तथा साहित्य के सच्चे शिल्प-सौन्दर्य की परख करने वाला साहित्य मूल्याङ्कन नहीं कर सकती और न नये साहित्य को सृजन की कोई स्वस्थ दिशा ही दे सकती है। साहित्य के वस्तु एवं शिल्पगत सौन्दर्य को परखने में पाठक का प्रशिक्षण करने की भी उससे आशा नहीं की जा सकती। अतः वर्तमान युग की इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले समीक्षा सिद्धान्त के निर्धारण की आवश्यकता वर्तमान हिन्दी आलोचना की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

वर्तमान हिन्दी-आलोचना की जो धाराएँ चल रही हैं, वे पूरी तरह नए-पुराने साहित्यकार का विश्वास नहीं जीत पा रही हैं। आलोचना की जो परम्परावादी धारा है उससे न्याय पाने का भरोसा नया लेखक नहीं करता। उसे इस धारा से नए प्रयोगों तथा नए विन्यासों के प्रति उदार दृष्टिकोण तथा सही मूल्याङ्कन की आशा नहीं है। प्रगतिवादी आलोचना भी पूरी तरह साहित्यकारों का विश्वास नहीं जीत पा रही है और प्रयोगवादी सिद्धान्तों की नई आलोचना पुराने

लेखकों को 'बीते हुए लेखक' कहकर उनकी उपेक्षा कर रही है। अतः पुराने लेखक को इस नई आलोचना से न्याय पाने का विश्वास नहीं है। इस स्थिति ने आलोचना के क्षेत्र में विभिन्न चिन्तनीय अराजकता उत्पन्न करदी है जिसके कारण पाठक भी भ्रम में पड़ जाता है। इस प्रकार वर्तमान आलोचना सही रूप में अपने दायित्व का निर्वाह नहीं कर पा रही है।

हिन्दी आलोचना की ऐसी स्थिति के अवसर पर गुलाबरायजी जैसे समर्थ और अनुभवी उदार आलोचक का हमारे बीच से चला जाना निश्चय ही बड़ा दुखद है। ऐसे अवसर पर उनकी सबसे बड़ी आवश्यकता थी। गुलाबरायजी मुख्यतः एक उदार समन्वयवादी आलोचक थे। उन्होंने सदैव आग्रहों से ऊपर उठ कर विभिन्न मतों का समन्वय कर आलोचना के व्यापक मान दण्डों का निर्धारण किया है। आज यह आवश्यकता है कि हिन्दी-आलोचना के ऐसे समन्वित मानदण्डों का निर्धारण किया जाय जो एक साथ नए-पुराने समस्त साहित्यिक वर्ग का विश्वास प्राप्त कर सके जो कृति के भाव-विचार-वस्तु तथा उसकी कला दोनों ही दृष्टियों से सन्तुलित मूल्याङ्कन कर सके, जो साहित्य की भव्य परम्परा के विकास-क्रम में नए विकासों शैली-शिल्प के नए प्रयोगों तथा नए विचारों एवं भावों का स्वागत कर साहित्य निर्माण को एक स्वस्थ प्राणवान धरातल प्रदान कर सके। जो नए पुराने विचारों, साहित्य प्रवृत्तियों और परम्पराओं का स्वस्थ सन्तुलित समन्वय कर सके। निःसन्देह इस काम में गुलाबरायजी से बड़ी आशाएँ थीं।

आज वह हमारे बीच में नहीं रहे, अतः विभिन्न आलोचना सिद्धान्तों के स्वस्थ समन्वय से ऐसे सर्वमान्य जो एक साथ नए-पुराने साहित्यकार का विश्वास प्राप्त कर सके जो नए विकासों का स्वागत कर अपनी परम्परा की अनुरूपता में उन्हें नया मोड़ दे सके और पाठक के सौन्दर्य-बोध को भी विकसित कर सके। नए आलोचना-सिद्धान्तों के निर्धारण द्वारा ही गुलाबराय जी के प्रति उचित श्रद्धाञ्जलि दी जा सकती है। इस कार्य को पूरा करके ही उनकी स्मृति की प्रतिमा हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में स्थापित करनी चाहिए।

—आगरा कालेज, आगरा।

काशी विश्वविद्यालय, २०-७-६३

श्री बाबू गुलाबराय जन्म भर हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा करते रहे। वे उस युग के प्रतिनिधि थे, जिसमें हिन्दी अपनी प्रतिष्ठा के लिए सङ्घर्ष कर रही थी और जब उसे आज का सम्मानित पद प्राप्त नहीं हुआ था। बाबू गुलाबरायजी का अपना प्रिय विषय तर्कशास्त्र और दर्शन था किन्तु मातृभाषा का उत्कृष्ट प्रेम उन्हें हिन्दी सेवा के क्षेत्र में खींच लाया। और फिर उन्होंने अपनी समस्त बुद्धि और श्रम का सदुपयोग हिन्दी की सेवा में किया। उन्होंने भारतीय इतिहास, संस्कृति, बौद्ध धर्म आदि विषयों का भी अध्ययन किया एवं हिन्दी के काव्य-शास्त्र में भी रुचि ली। वे एक संस्था थे और अपने चारों ओर साहित्यिक कार्यों का वायु-मण्डल बनाये रखते थे। उनकी सज्जनता जैसी आकर्षक थी, वैसा ही हँसमुख स्वभाव अपनी ओर खींचता था। साहित्य का जैसा भी कार्य हो गुलाबरायजी का सहज सहयोग उसमें प्राप्त होता था। उनमें बालक जैसी सरलता थी, तरुण जैसा उत्साह था और वृद्ध जैसा गम्भीर अनुभव था। वे संस्थाओं के बहुत अच्छे पथप्रदर्शक और व्यक्तियों के बहुत अच्छे मित्र थे। वे अपने पीछे व्यक्तित्व की जो सुगन्धि छोड़ गए हैं उससे उनके मित्र बहुत दिन तक आनन्दित होते रहेंगे।

—वासुदेवशरण अग्रवाल

डा० गुलाबराय : व्यक्तित्व-विश्लेषण

डा० मोहनलाल शर्मा

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।।

बाबू गुलाबरायजी का उदय एक ऐसे समय में हुआ था जबकि हिन्दी भाषा अपने साहित्य-भाण्डार की पूर्ति के लिए अपने पैरों पर खड़े होने का प्रयत्न कर रही थी । बाबूजी ने अपने जीवन में भाषा और साहित्य की अनेक गतिविधियों का अवलोकन किया । बाबूजी ने परतन्त्र भारत की साहित्यिक सेवाओं को भलीभाँति निरखा परखा और स्वतन्त्र भारत की हिन्दी-साहित्य सेवा के अवलोकनार्थ भी वे १५ वर्ष तक जीवित रहे । किन्तु शिशु साहित्यकार से लेकर वयोवृद्ध साहित्यकार तक पहुँचते-पहुँचते बाबूजी ज्यों के त्यों बने रहे । उन्होंने अपने जीवन में किसी परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया । उनका जीवन-दर्शन शाश्वत था । वे स्वयं जिस प्रकार अपने जीवन में रहे, साहित्य में भी ठीक वैसे ही दृष्टिकोण को स्थायी रूप प्रदान किया । जिस प्रकार सूर्य के उदय और अस्त के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता । बाबूजी इसी प्रकार जीवन-पर्यन्त अपने सिद्धान्तों पर अटल रहे । परिवर्तन जैसा शब्द उनके जीवन कोश में नहीं था ।

धोती, कुर्ता अथवा कमीज और टोपी—साधारणतया यही बाबूजी के वस्त्र थे । देखने में जितने सरल साहित्यिक अभिरुचि में उतने ही उत्कृष्ट, परिश्रमी इतने कि अच्छे-अच्छे साहित्यिक मल्ल उनके सामने से अखाड़ा छोड़ कर चम्पत हो जायँ, तिस पर भी लड़े आज तक वे किसी से नहीं । मेरी जहाँ तक जानकारी है, बाबूजी की लड़ाई शायद ही किसी व्यक्ति से हुई हो । बाल-सुलभ स्वभाव, प्रकृति से सहनशील, सब कुछ आगा-पीछा देख लेने वाले ये महारथी कभी किसी से अबे तबे बोलते भी तो नहीं सुने गये ।

पैंसठ वर्ष की अवस्था तक आते-आते उनका स्वास्थ्य बहुत कुछ गिर चुका था । साहित्य-सन्देश के सहायक सम्पादक के रूप में मैं चार छै बार उनसे मिला किन्तु अपनी पिछली भेंट की वर्तमान भेंट से तुलना करके देखता तो लाख प्रयत्न करने पर भी उनके स्वभाव और रहन-सहन में कोई अन्तर नहीं देख पाता था । बाबू गुलाबराय अङ्क के सिलसिले में एक बार यों ही धृष्टतावश मैं चर्चा करने पहुँच गया, देखा कि उनका मुखमण्डल नितान्त भावशून्य था । मुखाकृति और समस्त मनोभाव वैसे के वैसे ही । आगरा विश्वविद्यालय ने उनको डी० लिट० की उपाधि से सम्मानित किया किन्तु बाबूजी के जीवन में तो जैसे कोई घटना ही नहीं घटी हो, वैसे ही शान्त स्वभाव, परिवर्तनहीन स्वरूप और किसी भी प्रकार के सम्मान से विचलित न होने वाले साहित्यकारों में से थे ।

बाबूजी की महत् एकरूपता को संस्कृत के निम्न श्लोक से अधिक स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है—

उदेति सविता ताम्रः एवास्तमेति च ।
संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ।।

अर्थात् जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है सूर्य के उदय और अस्त होने की एकरूपीय अवस्था के समान बाबूजी सम्पत्ति और विपत्ति सभी अवस्थाओं में स्थित-चित्त रहने वाले थे ।

अँग्रेजी में एक कथन है "Style is the man himself." यह बात बाबू गुलाबरायजी के विषय में पूर्णरूपेण सार्थक होती है । बाबूजी की कृतियों में हमें उनके व्यक्तित्व की झलक बराबर मिल जाया करती है । वे जिस अखण्ड शान्ति के साथ साहित्य-सृजन करते रहे वह सराहनीय है । अपने स्वभाव के अनुरूप ही उनके साहित्य में हमारा परिचय एक ऐसे वातावरण से होता है जो अत्यन्त शान्तिपूर्ण एवं सुखद है । बाबूजी ने सदैव समन्वय को महत्व दिया अथवा यह भी कहा जा

सकता है कि उन्हें कभी बात का विरोध करने का समय ही नहीं मिला। उनका प्रभाव ऐसा कि विरोध कभी उनके सामने टिक ही नहीं पाया।

दर्शनशास्त्र का अध्ययन बाबूजी ने मनोयोग पूर्वक किया था, अतएव दार्शनिकता के प्रति आग्रह होना भी उनकी कृतियों से प्रतिभासित होता है। किन्तु उनके दर्शन से विषय अधिक कठिन बन गया हो ऐसी बात भी नहीं, उन्होंने सदैव विषय को बोधगम्य बनाने का भरसक प्रयास किया।

बाबूजी एक सफल शिक्षक थे। सफल शिक्षकपन उनके साहित्य से भी झलकता है। प्रत्येक विषय का सुबोध रूपमें प्रस्तुत करना उनकी आदत में आगया था। हिन्दी साहित्य के सुबोध इतिहास से विद्यार्थी वर्ग का जितना हितसाधन किया है उतना सम्भवतः अन्य किसी पुस्तक ने नहीं किया होगा। इतिहास का यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय बन गया।

हमें इस बातका स्मरण रखना चाहिए कि बाबूजी पत्रकार भी थे। उन्होंने जहाँ तक भी बन पड़ा 'साहित्य सन्देश' के द्वारा साहित्य की वर्षों तक सेवा की। साहित्य सन्देश की नीति जो कि अब स्थायी बन गई है उनके समय में ही पूर्णरूप से निश्चित हो चुकी थी। इसके स्थायित्व में विशेषतः इसके वर्तमान सम्पादक महोदय का भी बहुत बड़ा हाथ है जो स्वयं स्वभाव से शान्तिप्रिय व्यक्ति हैं।

गद्य के लेखक होने के नाते लोग यह भी कल्पना कर सकते हैं कि बाबूजी एक शुष्क प्रकृति के व्यक्ति होंगे। किन्तु उनके विषय में बात बिलकुल विपरीत है। बाबूजी अत्यन्त विनोद प्रिय व्यक्ति थे और अपनी रचना में हास्य का पुट देने का प्रयत्न बराबर किया करते थे। यह हास्य उनके आत्म परिचयात्मक निबन्धों में तो और अधिक मुखरित हो गया है। यह हास्य दो प्रकार से उत्पन्न हुआ है; प्रथम हास्यप्रद घटनाओं की सृष्टि द्वारा और दूसरे शैली के द्वारा। बाबूजी के आत्म परक निबन्धों में हास्य के ये दोनों रूप मिल जाते हैं।

बाबूजी का व्यक्तित्व भारतीयता के रँग में रँगा हुआ था यद्यपि उन्होंने आलोचना के विभिन्न रूपों के विवेचन में पाश्चात्य समालोचना से सहायता ली है किन्तु जीवन में उन्हें शायद ही विदेशियों की कोई वस्तु पसन्द आई हो। वे विशुद्ध भारतीय थे, भारतीय संस्कृति और साहित्य की सच्ची झलक हमें उनके ग्रन्थों में मिलती है।

व्यंग्य एवं कटोक्तियों को बाबूजी कोई महत्त्व नहीं देते थे। परिणामस्वरूप उनके साहित्य में हमें बहुत कम उदाहरण व्यंग्य के मिलते हैं। इस विचार से उनका साहित्य उनके जीवन से पूर्णरूपेण प्रभावित है।

बाबूजी के व्यक्तित्व में हमें बाल-सुलभ सरलता तथा दार्शनिकोचित गाम्भीर्य का पूर्ण समन्वय मिलता है। ये ही गुण उनके साहित्य में भी आ गये हैं। उनके साहित्य में सरल से सरल विषयों का विवेचन भी उतने ही कौशल के साथ किया गया है। जितने कौशल के साथ गम्भीर विषयों का विवेचन। काव्य के रूप तथा सिद्धान्त और अध्ययन नामक पाण्डित्यपूर्ण विषयों पर सफल लेखनी चलाने वाला साहित्यकार 'व्यवसायी के आवश्यक गुण' जैसे विषयों पर भी सफलतापूर्वक लिख सकता था, इस बात को जानकर हमें उनकी बहुमुखीय दक्षता की प्रशंसा करनी पड़ती है।

संक्षेप में, बाबूजी का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। उन्होंने अपने जीवन के स्वयं के अनुभवों से जितना सीखा उतना किसी ग्रन्थ विशेष से नहीं। साहित्य के विभिन्न परीक्षाओं पर भी उनके जीवन के विभिन्न अनुभवों का आभास पड़ा है। उनका जीवन किसी पर्वतीय सरिता के समान पहाड़ी चट्टानों को पार करने वाला नहीं था वरन् एक ऐसी मैदानी सरिता की भाँति था जिसने अपने सम्पूर्ण जीवन में कभी कोई राह नहीं बदली तथा जो सदैव से मन्द-मन्द मन्थर-मन्थर गति से प्रवाहित होती रही हो। उनका जीवन परिवर्तनहीन रहा जिसकी गहरी छाप उनके व्यक्तित्व पर पड़ी। उनके व्यक्तित्व में हमें सारल्य, गाम्भीर्य, पाण्डित्य, बौद्धिकता, हास्य एवं एकरूपता आदि अनेक गुणों का समन्वय मिलता है। उनका व्यक्तित्व आकर्षक और महान था जिसका अमिट प्रभाव उनके साहित्य पर भी है। —५६, ए० बी० रोड, देवास (म० प्र०)

बाबूजी : एक पुण्य स्मरण

डॉ० त्रिलोचन पाण्डेय

इसी वर्ष मार्च की बात है, आगरा गया हुआ था। ज्ञात हुआ कि पूज्य श्री बाबू गुलाबरायजी गम्भीर रूप से अस्वस्थ हैं। बाबूजी अस्वस्थ तो थे ही, इस "गंभीर" विशेषण को सुनकर चौंका। मैं जब कभी आगरा गया हूँ, उनके दर्शन अवश्य किये हैं, फिर इस बार तो मैं जाता ही क्योंकि विदेश चले जाने के उपरान्त हिन्दी-साहित्यकारों से कुछ दूर पड़ गया था। तुरन्त 'गोमती-निवास' पर जा पहुँचा जिसके द्वार प्रत्येक हिन्दी-सेवक के लिए सदैव खुले रहे हैं। मैं तो एक प्रकार से उनका "घरेलू व्यक्ति" रहा हूँ, सो तुरन्त भीतर पहुँच गया। बाबूजी शय्या पर बैठे थे और उनके पुत्र एवं डाक्टर समीप खड़े थे। मुझे पहचान लिया और संकेत किया बैठ जाओ। वे कुछ अस्पष्ट बुदबुदा से रहे थे, जिसे डाक्टर समझ ले रहे थे। जब उन्होंने जाने का संकेत किया तो मैं लौट आया।

तीसरे दिन ही उनके दिवंगत होने का दारुण समाचार पढ़कर स्तब्ध रह गया। क्या मालूम था कि उनका यह क्षणिक दर्शन अन्तिम दर्शन होगा? यही आभास हो जाता तो दो-चार मिनट और बैठ लेता! दूसरे दिन डा० नगेन्द्र उन्हें देखने के लिए दिल्ली से आए हुए थे, वे भी संभवतः रुक जाते। मैं स्थिति इतनी गम्भीर नहीं समझ पाया था कि बाबूजी चले ही जायेंगे। फिर एक-दो दिनों में जब राहुलजी और नेपालीजी के ऐसे ही समाचार पढ़े तो मन उदास हो गया। हिन्दी-साहित्य का दुर्भाग्य है जो ऐसे मूर्धन्य विद्वान चल बसे!

अब बाबूजी के व्यक्तित्व की एकाधिक रेखाएँ उभर रही हैं। वे एक शिक्षक रहे, एक दार्शनिक रहे, एक समालोचक और एक सम्पादक रहे। मुझे तो दो वर्ष तक उनका "प्रिय विद्यार्थी" बने रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था अतः मैंने उन्हें और-निकट एक व्यक्ति के रूप में भी देखा। तब से सम्पर्क घनिष्ठ होता रहा। उनके हास्य-पूर्ण निबन्धों एवं तर्क प्रधान आलोचनात्मक लेखों से परिचित था, "व्यक्ति" देखने का भी सौभाग्य जब सेंट जान्स कालेज, आगरा में मिला तो मैंने अपने को धन्य समझा। उनके दो-ग्रन्थ 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' एम० ए० में मेरे आधार भूत ग्रन्थ रहे उस समय विषय-प्रतिपादन एवं सरल-शैली की दृष्टि से ये ग्रंथ अद्वितीय थे, आज भी कहीं शास्त्रीय विवेचन में उलझन होने पर मैं इन्हें फिर पढ़ता हूँ।

बाबूजी का अध्ययन गम्भीर था। संस्कृत साहित्य से लेकर आधुनिक हिन्दी-साहित्य तक की कोई विधा ऐसी नहीं थी जिसके सम्बन्ध में वे साधिकार पूर्वक न बोल सकते हों। काव्य-शास्त्र के तो वे पूर्ण पण्डित थे। कहीं पर भी शङ्का हुई, वे उसका तुरन्त समाधान करते। मैंने उन्हें खीझते हुए, क्रुद्ध अथवा टालते हुए कभी देखा ही नहीं। सदैव समान स्नेह। वे निरन्तर कुछ न कुछ अध्ययन करते ही रहते चाहे घर में बैठे हों या किसी पुस्तक-विक्रेता के यहाँ। यह प्रवृत्ति इतनी जागरूक थी किभी-कभी तो सड़क के किनारे खड़े-खड़े ही किसी पुस्तक के पृष्ठ उलट-पलट लेते। उन्हें देख कर मुझे ऐसा प्रतीत होता था जैसे द्विवेदी-युग से लेकर शुक्ल-युग की परम्परा को आत्मसात् करते हुये वर्तमान युग की धारा मूर्त्तिमान हो उठी हो!

बाबूजी 'साहित्य-सन्देश' के दीर्घ काल तक सम्पादक रहे। इस शताब्दी के आरम्भिक बीस वर्षों में जो महत्त्व हिन्दी-निर्माण की दृष्टि से 'सरस्वती' पत्रिका तथा उसके यशस्वी सम्पादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का रहा, वही महत्व हिन्दी आलोचना की दृष्टि से पिछले २०-२५ वर्षों में 'साहित्य-सन्देश' का रहा। यदि कहा जाय कि वर्तमान हिन्दी के पाँच-सात उत्कृष्ट आलोचक इसी 'सन्देश' की देन हैं, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

इसका बहुत कुछ श्रेय बाबूजी को ही है। वे केवल सैद्धान्तिक परामर्श ही नहीं देते थे प्रत्युत् निबन्धों में आवश्यक सुधार करके, प्रकाशित करके नवीन लेखकों को प्रोत्साहित करते थे। हिन्दी सेवी होने के नाते सब नए पुराने लेखकों से उनकी आत्मीयता हो जाती, इतना व्यापक था उनका व्यक्तित्व।

एक बार की बात है, आगरा जाने के पूर्व मैंने एक निबन्ध 'सन्त साहित्य का मूल' शीर्षक से लिख कर बिना किसी भूमिका के उनके पास भेज दिया। संपादक महोदय की प्रतिक्रिया जानने के लिए उत्सुक था। एक दिन मुझे अचानक उनका एक पत्र मिला जिसमें न केवल उक्त लेख की प्रशंसा की गई थी अपितु मुझसे मिलने की इच्छा भी व्यक्त की गई थी। मुझे आश्चर्य हुआ कि हिन्दी-पत्र का कोई सम्पादक किसी अपरिचित लेखक की प्रशंसा करे और मिलना भी चाहे! अप्रत्याशित बात थी। खैर, मैं तब-तक आगरा पहुँच चुका था, बाबूजी से मिला। उन्होंने मुझे और लिखने के लिये प्रोत्साहित किया एवं 'साहित्य-रत्न-भण्डार' के विपुल पुस्तक भण्डार में मेरे लिए अध्ययन की व्यवस्था कर दी। हिन्दी में प्रकाशित वह मेरा प्रथम समीक्षात्मक निबन्ध था।

बाबूजी अपने विद्यार्थियों को विविध प्रकार से आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया करते थे। उनके नूतन काव्य अथवा निबन्ध-संग्रहों की भूमिका लिखने से लेकर सम्पादकों, प्रकाशकों के पास परिचय-पत्र देकर भेजने तक वे अपना कर्तव्य समझते। वे चाहते थे कि जिसमें लेखन की प्रतिभा है, वह अवश्य आगे बढ़े और उसे आगे बढ़ने का पूर्ण अवसर भी प्राप्त हो। हिन्दी के बहुत कम आलोचक इस प्रकार के हैं—यह बात मैं आज स्पष्ट कह सकता हूँ।

अर्थाभाव में भी बाबूजी यथासम्भव सहायता करते रहते। इसका मुझे अनुभव है। मैं विश्वविद्यालय में अनुसन्धान-कार्य कर रहा था, कुछ अर्थ कष्ट हो गया। यदि वे स्वयं कुछ धनराशि देते तो उनकी दृष्टि में सम्भवतः मुझे कुछ ठेस पहुँचती, अतः कुछ पुस्तकों का एक निर्णायक बना दिया तथा धनराशि अग्रिम भेज दी जबकि उन्हें उसकी प्राप्ति एक वर्ष पश्चात् हुई होगी। वे प्रायः 'सन्देश' में प्रकाशित मेरे निबन्धों की सराहना करते। उनकी धारणा रही कि मैं आगे चल कर कुछ लिखूँगा ही। मेरा विवाह हुआ तो उनका आशीर्वाद मिला—पति-पत्नी दोनों श्रेष्ठ-साहित्य-निर्माण में सफल हों।

दो वर्ष पूर्व मेरी अमेरिका जाने की योजना बनी। एक एशियाई सम्मेलन में भारतीय लोकगीतों की विषय-वस्तु पर निबन्ध पढ़ना था और 'फोकलोर' का विशेष अध्यय न करना था। बाबूजी को मैंने जब यह समाचार सुनाया तो गद्गद हो उठे। बोले कि "यह तो सर्वथा नूतन विषय है, हिन्दी में तो इस दिशा में कार्य हुआ ही नहीं। तुम सौभाग्यशाली हो जो इस विषय में दक्षता प्राप्त कर वहाँ से लौट कर 'फोकलोर' के विशेषज्ञ बनोगे।" मैं अमेरिका से लौट आया हूँ, बाबूजी के दर्शन करने गया था, किन्तु वहाँ तो विधि का विधान ही कुछ दूसरा था।

एक निष्ठावान साहित्यकार की कल्पना करते हुए जो सरलता, औदार्य सहानुभूति एवं लेखन-सक्रियता के गुण उभरते हैं, बाबूजी उनके साकार रूप थे। आक्रोश या सङ्घर्ष की भावनाओं को तो वे शङ्कर की भाँति आत्मसात् कर चुके थे। निरन्तर प्रत्येक का स्वागत करने हेतु उद्यत रहते थे। यही कारण है जिससे बाबूजी का हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट स्थान बन गया है। उनसे किसी का मतभेद नहीं सुन पड़ा। वे तो उस आत्म-त्याग के मूर्त्तिमान स्वरूप थे जिस त्याग के आधार पर हिन्दी साहित्य पिछली अर्द्ध-शताब्दी में नाना विधाओं द्वारा पल्लवित, पुष्पित एवं विकसित हुआ है। अब उनका स्मरण कर यही पंक्ति याद आ जाती है कि पुष्प समाप्त हो गए हैं, केवल गन्ध शेष रह गई है—"उड़ गए फुलवा रह गई बास।"

—गवर्नमेन्ट डिग्री कालेज, पिथौरागढ़ (उ० प्र०)

बाबू गुलाबराय : एक मूल्याङ्कन

डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा

यह एक रोचक संयोग है कि हिन्दी-साहित्य में बाबू गुलाबराय का प्रवेश बाबू शिवपूजन सहाय के सहयोग से हुआ। उनकी पहली कृति 'नवरस' बाबू शिवपूजन-सहाय की सहायता से ही पुस्तकाकार प्रकाशित हुई थी। इन दो दूरवासी साहित्यकारों का यह संयोग सिद्ध करता है कि समान-शील-व्यसन व्यक्ति कदाचित् किसी अदृष्ट सूत्र से एक दूसरे की ओर अनायास खिंच जाते हैं। यह भी एक संयोग है कि हिन्दी-साहित्य के ये दोनों निर्मत्सर सेवी लगभग साथ-साथ दिवंगत हुए। अजातशत्रु सरलता दोनों के स्वभाव की सबसे बड़ी विशेषता थी।

पण्डितों की परम्परा में खण्डन-मण्डन, स्वपक्ष-प्रतिपादन का प्रबल आग्रह और प्रतिपक्ष का निर्मम विरोध जो व्यक्तिगत आक्षेप की सीमा पर भी पहुँच जाए, स्वाभाविक माना जाता है। प्राचीन-काल से ऐसा ही होता आया है और आधुनिक हिन्दी-साहित्य के 'आचार्य' और आलोचक भी इससे मुक्त नहीं हैं। ब्रज-भाषा और खड़ी बोली, तथाकथित भारतीयता और पाश्चात्य आधुनिकता, छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद प्रयोगवाद, रसमीमांसा के विविध सम्प्रदाय तथा उसकी समस्याओं के समाधान, समालोचना के प्राचीन और नवीन मानदण्ड कितने ही विषय हैं जिन पर घनघोर वाद-विवाद, वितण्डावाद, प्रतिवाद, परिवाद हुए हैं। जिस समय बाबू गुलाबराय ने साहित्य में प्रवेश किया, उस समय भी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के कालम में खण्डन-मण्डन, आलोचना-प्रत्यालोचना, अनुमोदन-विरोध भरे पड़े थे। परन्तु बाबू गुलाबराय बड़ी सरलता और सहजता से नवरस लेकर आए और शास्त्रीय विचारकों की पंक्ति में सम्मिलित हो गए, कोई धूम-धाम नहीं सुनाई दी, पण्डितों की मण्डली में काना-फूसी भी नहीं हुई, त्यौरियाँ चढ़ने और चहरे तमतमाने की तो कल्पना भी नहीं हो सकती। ऐसा नहीं है कि 'नवरस' में केवल सरल व्याख्या ही हो, समर्थन-अनुमोदन ही हो, प्राचीन आचार्यों और पूर्व लेखकों के परस्पर विरोधी मतों से सर्वत्र बचकर निकल जाने की प्रकृति हो, सरलता, सुबोधता और स्पष्टता तो बाबू गुलाब-की शैली का अनिवार्य लक्षण है ही, के शब्दाडम्बर के द्वारा अल्प को वृहत् और अज्ञात् को हस्ताकमलवत् प्रदर्शित करने की कला से सदैव दूर रहे, इसीलिए उनकी शैली विषय के जिज्ञासु विद्यार्थियों में सर्वाधिक लोकप्रिय रही है। परन्तु 'नवरस' सुबोधिनी टीका नहीं है। उसमें मौलिक चिन्तन भी है, आचार्यों' के मतों का यथावसर प्रतिवाद भी है तथा कुछ ऐसा भी है जो रस-मीमांसा में उस समय नया योगदान कहा जा सकता था। परन्तु इस सरल, विनम्र, श्रद्धावान् सच्चे वैष्णव लेखक ने पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ पण्डितों के चिन्तन में स्वचिन्तन का योग देते समय कहीं मौलिकता का ऐसा दावा नहीं किया, जिसमें उसके आत्म-विश्वास में किंचिन्मात्र अहङ्कार का आभास हो, उसने कहीं ऐसा खण्डन नहीं किया जिसमें किसी के मत के प्रति तिरस्कार या संकेत भी हो, नया योगदान करते हुए कहीं भी उसने उत्साहातिरेक नहीं दिखाया।

मतभेद को बचा जाना कठिन नहीं है। प्रायः ऐसी चतुरता देखी जाती है जहाँ किसी के खण्डन का प्रश्न हो, बात कुछ घुमा-फिरा कर लपेट कर कह दी जाये। परन्तु बाबू गुलाबराय ऐसी कला के अनुयायी नहीं थे। वे सीधी बात को सीधे ढङ्ग से कहने के आदी थे, यह अवश्य है कि वे सीधी बात सादे ढङ्ग से कह सकते थे। खरे ढङ्ग को अपनाने की उन्हें आवश्यकता नहीं होती थी। उनकी सादगी ही मतभेद की तीक्ष्णता को समाप्त करने में सक्षम थी, उनका व्यंग्य-विनोद उनकी सादगी को सरसता और मधुरता प्रदान करता था। उनके

व्यंग्र में तीखेपन का लेश भी नहीं था, क्योंकि उसका लक्ष्य वे किसी अन्य से स्थान पर स्वयं अपने को बनाने के अभ्यासी थे। बाबू गुलाबराय की शैली के ये गुण उनके व्यक्तित्व की सहज अभिव्यक्ति के परिणाम थे, उनके 'निर्वैरः सर्वभूतेषु' की भावना प्रेरित समन्वयवादी दृष्टिकोण से निःसृत थे।

नवरस के बाद बाबू गुलाबराय ने अनेक शास्त्रीय विषयों पर लिखा—कह सकते हैं सैद्धान्तिक समालोचना का विरला ही कोई विषय हो जिस पर उनकी लेखनी न चली हो, परन्तु साहित्य क्षेत्र में न तो वे किसी दल विशेष में सम्मिलित हुए और न उनका कोई ऐसा दल बना जो उनके सिद्धान्तों को लेकर साहित्य संघर्ष में प्रवृत्त होता। उनके श्रद्धालु छात्रों और प्रशंसकों की संख्या कम नहीं है और उनमें अनेक प्रतिष्ठा-प्राप्त मान्य विद्वान और समालोचक हैं। परन्तु बाबू गुलाबराय का कोई साहित्यिक सम्प्रदाय नहीं है।

यह सही है कि बाबू गुलाबराय के मुख्य पाठक और भावुक विद्यार्थी ही थे। साहित्य के गूढ़, गम्भीर विषयों को सुबोध शैली में हृदयङ्गम करा देने की कला में वे अद्वितीय थे। बहुत कुछ इस कारण भी शास्त्र-पण्डितों ने उनके मौलिक चिन्तन और नवीन योगदान की ओर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया। यदि वे 'पण्डितन केर पछिलाग' वाले श्रद्धावनत भाव से इतने अधिक अभिभूत न होते और अपना मौलिक चिन्तन-भले ही वह अनेक चिन्तनों की भाँति छद्म वेशधारी ही क्यों न होता—सीधे पण्डितों के समाज में तनिक तड़भ-भड़क के साथ पहुँचाते तो निश्चय ही उनके द्वारा मान्य सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समालोचना के अनेक विषय रोचक वाद-विवाद के विषय बन सकते थे। परन्तु बाबू गुलाबराय तो एक सच्चे वैष्णव की भाँति पण्डितों को नमन् करते हुए भक्तों में प्रियता का प्रसार करने में विश्वास करते थे। फलतः आज वे साहित्य के जिज्ञासु अभ्यासियों और अध्येताओं के विश्वासभाजन 'साथी' अधिक हैं, पण्डितों के समाज में भय, विस्मय या आतङ्क पैदा करने- वाले 'आचार्य' नहीं। परन्तु हमें विश्वास करना चाहिए कि समय यह अवश्य बताएगा कि उनके शास्त्रीय चिन्तन तथा साहित्यिक मूल्याङ्कन की मौलिकता की हम उपेक्षा नहीं कर सकते, उनका अपना योगदान नगण्य नहीं है।

बाबू गुलाबराय के साहित्यिक कृतित्व में समालोचना को अधिक प्रमुखता मिली है। इसका कारण बहुत कुछ हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी-समाज की दिनानुदिन वर्द्धमानता तथा उसमें बाबू गुलाबराय की अद्वितीय लोकप्रियता है। परन्तु वस्तुतः हिन्दी साहित्य में उनका अधिक मूल्यवान योग उनका निबन्ध साहित्य है। 'प्रबन्ध प्रभाकर' जैसी छात्रोपयोगी पुस्तक के 'निबन्धों' की विद्यार्थियों द्वारा की गई पूरी-अधूरी प्रतिलिपियों पर खीझ कर हिन्दी-अध्यापक और आलोचक प्रायः भूल जाते हैं कि बाबू गुलाबराय का साहित्य में वास्तविक स्थान टीकाकार और व्याख्याकार के रूप में नहीं, एक सच्चे साहित्यिक निबन्धकार के रूप में है। इस रूप में वे अमर हैं, उनकी कदापि उपेक्षा नहीं की जा सकती।

निबन्धकार गुलाबराय जिस सरस आत्मीयता, अनाडम्बर और सुप्रियता के साथ हमारे सम्मुख आते ही हमारे अपने बन जाते हैं, इससे प्रकट होता है कि क्यों ? यह व्यक्ति किसी का शत्रु हो ही नहीं सकता। क्यों इससे मतभेद होने पर भी उसे प्रखर बनाया ही नहीं जा सकता। आत्मनिष्ठता, निश्छलता और आत्मीय निकटता के साथ निबन्धकार गुलाबराय तरल व्यंग्य-विनोद और सरस गीति तत्व मिला कर अपने निबन्धों में जो आकर्षण भर देते हैं, उसकी तुलना करना कठिन है। उनके निबन्धों को पढ़ कर भारतेन्दुकालीन निबन्धकारों का स्मरण हो आता है। पं० प्रतापनारायण मिश्र और बाबू गुलाबराय के निबन्धों को साथ-साथ पढ़ें तो लगेगा कि दोनों में कैसी समानता है, अन्तर केवल इतना है कि प्रतापनारायण मिश्र जिनके लिए लिख रहे हैं उनके ज्ञान और शिक्षा-दीक्षा के प्रति वे अधिक आश्वस्त नहीं हैं, जबकि गुलाबराय के मन में न केवल ऐसी कोई बड़प्पन की भावना ही है, अपितु वे अपने पाठकों को सदैव ही अपने से अधिक गौरव देना चाहते हैं। यह अन्तर बहुत बड़ा अन्तर है। विशेष

रूप से उस स्थिति में जब यह निर्विवाद है कि गुलाबराय प्रतापनारायण मिश्र की अपेक्षा कहीं अधिक ज्ञान-सम्पन्न और बहुश्रुत थे। इस अन्तर के साथ दोनों में निबन्धकार की अनेक आवश्यक प्रवृत्तियों में साम्य मिलता है। प्रतापनारायण जिस प्रकार बात-बात में मुहावरों का प्रयोग करते हैं, गुलाबराय भी मुहावरों की झड़ी लगा देते हैं। दोनों कभी-कभी अपनी शैली के प्रवाह में स्वयं बह जाते हैं तथा पाठकों को भी बहा ले जाते हैं। गुलाबराय में बालमुकुन्द गुप्त जैसी तीक्ष्णता तो ढूंढ़े भी न मिलेगी, परन्तु उस ज़बाँदानी के कहीं-कहीं दर्शन अवश्य हो जाते हैं जो बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों की एक बड़ी विशेषता है। गुलाबराय जिस युग में हुए उसमें हिन्दी-उर्दू का विवाद अधिक प्रखर और कटुतापूर्ण हो गया था तथा हिन्दी में उर्दू से बच कर निकल चलने की प्रवृत्ति बढ़ गई थी। अन्यथा गुलाबराय के निबन्धों में शैली का निखार, बाँकापन और चटकीलापन कुछ आ सकता था। यह हमारा दुर्भाग्य था कि हमारे साहित्य में परिस्थितिवश गम्भीरता और गहनता इतनी अधिक मात्रा में आ गई कि हलकी-फुलकी, व्यंग्य विनोदपूर्ण, मनोवृत्ति को खो बैठे। गद्य-शैली का निखार भी इस कारण अधिक नहीं हो सका। गुलाबराय जैसे निबन्धकार यदि अधिक संख्या में उत्पन्न होते और शैली के क्षेत्र में परस्पर प्रतिस्पर्द्धा की भावना विकसित होती तो गद्य की उन साहित्यिक शैलियों का और अधिक विकास, होता, निबन्ध जिनकी कसौटी है।

बाबू गुलाबराय के निबन्धों में पाण्डित्य-प्रदर्शन तो नहीं है, परन्तु कदाचित् अधिक साहित्यिकता लाने के लिये वे कहीं-कहीं प्रयत्न पूर्वक संदर्भों का प्रयोग करते हैं तथा प्रायः अपनी शैली की मुहावरेदानी पर स्वयं मुग्ध होकर उसका अतिरेक भी कर जाते हैं। परन्तु ये दोष यदि वैयक्तिक लेखन में भी इन्हें कोई दोष कहने का साहस कर बैठे—उनकी वैष्णव विनयशीलता और स्वयं अपने को परिहास का विषय बना लेने की व्यंग-विनोद की सर्वश्रेष्ठ कला के द्वारा कहीं अधिक परिमार्जित हो जाते हैं।

साहित्यकार गुलाबराय के कृतित्व का सच्चा मूल्याङ्कन कदाचित् उस समय होगा, जब उनके शुद्ध छात्रोपयोगी साहित्य का स्थान कोई अन्य टीकाकार ले लेंगे और गुलाबराय शुद्ध निबन्धकार और गद्य शैलीकार के रूप में अवशिष्ट रह जाएँगे। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं उनके छात्रोपयोगी साहित्य का महत्व नहीं है। वस्तुतः वही वह नींव है जिस पर उनके साहित्यिक कृतित्व का भवन निर्मित हुआ है। उनके विद्या-व्यसन को व्यवसाय बनाने में उनके जिन प्रकाशकों ने योग दिया, उन्हें भी गुलाबराय के साहित्यिक विकास का श्रेय है।

—महानिर्देशक केन्द्रीय हिन्दी-शिक्षक मण्डल, आगरा।

चिरगाँव

प्रिय महेन्द्रजी,

स्व० गुलाबरायजी के दर्शन पहले-पहल मुझे यहीं हुए थे। वे तब छतरपुर में थे। रसों पर उन्होंने एक पुस्तक लिखी थी। उसी की पाण्डुलिपि लेकर वे पधारे थे। पहली ही भेंट में उनके प्रति मेरे मन में आदर उत्पन्न हुआ था। वह निरन्तर बढ़ता ही गया। फिर भी मैं उनके निकट सम्पर्क में आने का सुयोग नहीं पा सका। परन्तु जब भी भेंट हुई तब उनके प्रति आस्था बढ़ी।

एकबार मैंने आकाशवाणी से असहयोग किया था। उन्होंने मुझे ऐसा न करने के लिए लिखा था। मैंने उन्हें विश्वास दिलाया था कि वह एक समय के लिए है। यह ठीक भी था। परन्तु उन्हें रुचा न था। मैं विवश था।

आपका—मैथिलीशरण गुप्त

आदर्श अध्यापक बाबू गुलाबराय

डॉ० टीकमसिंह तोमर

सरस्वती के वरद पुत्र स्वर्गीय बाबू गुलाबराय के दर्शन करने का सर्वप्रथम अवसर मुझे १९३५ अथवा १९३६ ई० में मिला था। श्री महेन्द्रजी ने साहित्य-रत्न-भण्डार में किसी साहित्यिक आयोजन की व्यवस्था की थी। उस उत्सव में देखी हुई बाबूजी की वह सरल, निश्छल एवं भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रतिमूर्ति आज भी मेरे हृदय पलट पर अङ्कित है।

जुलाई १९३६ ई० में सेंटजॉन्स कालेज, में हिन्दी एम० ए० की कक्षायें प्रारम्भ हुईं। बाबूजी अवैतनिक प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुये। उस समय उस कालेज के हिन्दी विभाग में तीन अध्यापक—डा० हरिहरनाथ टण्डन, पं० अम्बिकाचरण शर्मा तथा बाबूजी थे और छात्र-संख्या पाँच थी। इस प्रकार गुरु तथा शिष्य का निकट सम्पर्क अत्यन्त सुगम था। समस्त गुरुजन जिस लग्न, परिश्रम और आत्मीयता से शिक्षण कार्य करते थे उसे देखकर प्राचीन भारतीय परिपाटी का स्मरण हो आना स्वाभाविक था।

बाबू गुलाबराय आलोचना के सिद्धान्त तथा हिन्दी-साहित्य के इतिहास का अध्यापन करते थे। इस गम्भीर एवं गहन विषय को सरल, सुबोध एवं स्पष्ट शैली में हृदयङ्गम कराने में आप अत्यन्त पटु थे। भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों की विभिन्न दृष्टियों से विश्लेषणात्मक पद्धति से व्याख्या करके उनका समन्वित स्वरूप प्रस्तुत करने में बाबूजी अधिक चतुर थे। आपकी अध्यापन-शैली स्पष्ट, स्वाभाविक एवं सरल थी

हरी पर्वत थाने के पास जिस स्थान पर आजकल दिगम्बर जैन इण्टर कालेज है वहाँ पर उन दिनों जैन छात्रावास था। महेन्द्रजी ने बाबूजी को वहाँ का वार्डन बनवा दिया था। कालेज के अतिरिक्त अध्ययन विषयक समस्याएँ लेकर मैं बिना किसी रोक-टोक बाबूजी के निवास-स्थान पर पहुँच जाया करता था। आप बड़े स्नेह और सौजन्यपूर्ण व्यवहार में मिलते और उचित मार्ग-दर्शन करते थे। मेरे छात्र-जीवन में आप मेरी जो उत्तर-पुस्तकें जाँचा करते थे वे मेरे पास आज भी सुरक्षित हैं। उन पर दृष्टिपात करने पर मुझे बाबूजी के आलोचक और अध्यापक के उस समन्वित रूप की झाँकी मिल जाती है जो उनके शास्त्रीय ग्रन्थों 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'काव्य के रूप' आदि में प्रस्फुटित हुई है। आपकी रचनाओं में जिस व्याख्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग हुआ है वह आपके सफल अध्यापक होने का यथेष्ट प्रमाण है।

१९३८ ई० में मैंने एम० ए० की परीक्षा दी थी। जिस दिन परीक्षाफल घोषित हुआ उसी दिन बाबूजी मेरे निवास-स्थान पर आ पहुँचे। आह्लाद मिश्रित स्नेहपूर्ण स्वर में उन्होंने कहा—"तुम परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये हो। तुम्हें हार्दिक बधाई है।" मैं अवाक् रह गया। उस समय मैं सङ्कोच, लज्जा और आत्मग्लानि की भट्टी में तच रहा था। सोच रहा था कि यह कर्तव्य तो मेरा था कि गुरुजनों के पास जाऊँ पर हुआ इसके विपरीत। मई के महीने की दोपहर की तपन की चिन्ता न करते हुए पसीने में सराबोर बाबूजी स्वयं आ उपस्थित हुये। यह था उनका शिष्य के प्रति स्नेह। उस समय से अनेक बार मेरे हृदय में यह भाव आए हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक एवं यान्त्रिक युग में बाबू गुलाबराय के अध्यापकीय आदर्श का अनुकरण बहुत कुछ कल्याणकारी हो सकता है।

बाबूजी सदैव दार्शनिक विचारधारा में निमग्न रहा करते थे। १९४४-४५ ई० की बात है। मैं एम० ए० संस्कृत की तैयारी कर रहा था। मुझे 'टेन प्रिंसिपल उपनिषद्स' नामक पुस्तक की आवश्यकता पड़ी। मैं बाबूजी से यह ग्रन्थ लेने के लिए जा रहा था कि मार्ग

में ही भेंट हो गई। उनके घर पहुँचते ही मैं बराण्डे में कुर्सी पर बैठ गया, और बाबूजी घर के भीतर चले गये। बहुत देर तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त मैंने आवाज लगाई। "कौन है ? कैसे आए ?" कहते हुए बाबूजी मेरे सामने आकर खड़े हो गये। मैंने अपनी बात दुहराई। बाबूजी ने सहज भाव से कहा, "अरे ! मैं एकदम भूल गया। क्षमा करना।" और वह पुस्तक अन्दर से लाकर मुझे देदी। उनका यह व्यवहार मेरे प्रति उनकी उपेक्षा-भाव का द्योतक नहीं था वरन् उनके मनन, चिन्तनशील स्वभाव का परिचायक था।

बाबू गुलाबराय को जितने निकट से मैंने देखा उतने निकट सम्पर्क का सौभाग्य सम्भवतः उनके किसी और शिष्य को नहीं मिला होगा। वह द्विवेदी-युग से लेकर मरण-पर्यन्त साहित्य-सर्जना में रत रहे। उनकी कृतियों के विषय में उनसे जब कभी भी चर्चा चलाई जाती तो वह नम्रतापूर्वक कह दिया करते थे—'मुझे जो कुछ आता है, वह लिख देता हूँ। उसके गुण-दोष का विवेचन पाठकों पर छोड़ देता हूँ। वस्तुतः समालोचक ही सच्चा पारखी है, जैसा गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

मनि-मानिक-मुकता छवि जैसी।
अहि-गिरि-गज-सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई।
लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं।
उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं॥

इस प्रकार बाबूजी का व्यक्तित्व अद्वितीय था। उनकी प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी। उनकी साहित्य-साधना अनुकरणीय थी। वे एक आदर्श अध्यापक थे। यद्यपि उनका पार्थिव शरीर नष्ट हो गया है, पर उनकी आत्मा हमें सदैव सत् प्रेरणा-प्रदान करती रहेगी।

—राजपूत कालेज, आगरा।

अन्तिम प्रणाम

डा० नगेन्द्र

डा० गुलाबराय के शरीर-पात के साथ हिन्दी का एक और गौरव-स्तम्भ ढह गया—उनके लौकिक-जीवन की समाप्ति से हिन्दी-साहित्य की द्विवेदी-युगीन नैतिक-सांस्कृतिक परम्परा का अन्त हो गया। जिस प्रकार महामहिम डा० राजेन्द्रप्रसाद बिहार के बाबूजी थे और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन प्रयाग के, इसी प्रकार स्वर्गीय गुलाबराय आगरा के बाबूजी थे।

बाबूजी के साहित्यिक व्यक्तित्व की मूल पूँजी थी भारतीय इतिहास के जागरण-सुधार काल की नैतिक सांस्कृतिक चेतना। अपने समसामायिक राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की तरह (उपमा सदा एकाङ्गी होती है, और मेरी यह उपमा भी उसी रूप में ग्रहण करनी चाहिए) बाबूजी को आस्तिक बुद्धि प्राचीन के प्रति युग-निष्ठामयी रह कर भी अत्यन्त जागरूक और ग्रहणशील थी; अतः उन्होंने अपने जीवन-मूल्यों में कभी स्थविरता नहीं आने दी। अपनी पीढ़ी के वे पहले आलोचक थे जिन्होंने छायावाद को निश्छल भाव से मान दिया।

तीस वर्ष की वह बात मुझे आज भी स्मरण है जब महादेवी वर्मा पर उनका पहला लेख प्रकाशित हुआ था और महादेवीजी ने कवि के स्वाभिमान की रक्षा करते हुए नव-प्रकाशित 'नीरजा' की प्रति तुरन्त ही उनके पास भेजकर अपनी मौन कृतज्ञता व्यक्त की थी। छायावाद के बाद प्रगतिवाद आया और उसके बाद नये साहित्य का सृजन और प्रचार हुआ। आयु-क्रम के अनुसार मुझे अधिक गतिशील होना चाहिए था, किन्तु मैं दोनों में से किसी के साथ समझौता न कर पाया, और बाबूजी की उदारता दोनों को निरन्तर मान देती रही।

इस चरित्र-भेद के रहने पर भी मैं बाबूजी का मानस-पुत्र हूँ। मेरे आरम्भिक संस्कारों का निर्माण उन्हीं के अभिभावकत्व में हुआ था। उनकी मृत्यु से कोई तीस घण्टे पहले ही मैं उन्हें प्रणाम करके आया था। जब उनके ज्येष्ठ पुत्र आयुष्मान् रामशङ्कर ने जोर से कहा —बाबूजी, नगेन्द्रजी खड़े हैं, तो मुझे केवल मूक दृष्टि से ही आशीर्वाद दे सके। मैं उनका चरण-स्पर्श करना चाहता था, लेकिन सहसा एक शोकमयी घटना मेरी आँखों के सामने घूम गई। ठीक दो सप्ताह पहले जब स्वर्गीय सियारामशरण जी परिचर्या-गृह में थे, एक भावुक भक्त ने उनके चरण छू लिये। इस पर एक छोटा सा वाक्य उनके मुँह से निकल गया—'सोते हुए आदमी के पैर नहीं छूते।' सामान्यतः इस उक्ति का अर्थ अपने संस्कारों के कारण मैं न समझ पाता, किन्तु प्रसंग से इसकी व्यञ्जना तत्काल ही मेरे मन में कौंध गई। इस प्रकार अपने मन में तर्क करने के बाद मैंने चरण नहीं छुए, झुक कर प्रणाम कर लिया। मैं जानता था कि यह अन्तिम प्रणाम है!

—दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

आलोचक—बाबू गुलाबराय

डॉ० इन्द्रपालसिंह 'इन्द्र'

साहित्य-साधना में अपने जीवन को खपाने वाले साहित्यकारों में बाबू गुलाबराय का नाम अग्रगण्य है। द्विवेदी युग में साहित्य के उपवन में पदार्पण करके उन्होंने उसे समयानुकूल जीवन देकर पुष्पित एवं फलित किया। अतः यदि उन्हें द्विवेदी युग से लेकर आधुनिक काल तक का साकार इतिहास कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। दर्शन के महान् पण्डित होकर, बुद्धि का अखण्ड वैभव पाकर तथा मेधा की गहन चिन्तन शीलता पाकर भी उनमें सरसता का अजस्र स्रोत बहता है, जो उनकी असफलता के सफल निबन्धों में गतिवान दिखाई पड़ता है। आत्माभिव्यक्ति पर आधारित उच्चकोटि के ललित निबन्धों का लेखक उन जैसा अन्य निबन्धकार नहीं दिखाई देता। अपने को ही व्यंग्य का आधार बना कर हास्य के सरल वातावरण की सृष्टि करके जीवन के व्यापक तथ्यों का सफल उद्घाटन उनके निबन्धों की विशेषता है। आचार्य शुक्ल यद्यपि हिन्दी के श्रेष्ठतम निबन्धकार हैं तथापि उन पर शुष्कता एवं गहनता का आरोप किया जाता है, किन्तु बाबूजी इस दोष से सर्वथा मुक्त हैं, प्रत्युत उनमें जो गहनता है, वह रसाप्लुत है तथा हृदय को छूती है। व्यक्तिगत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के प्राधान्य ने विषय की जटिलता को सरलता एवं मधुरता में परिवर्तित कर दिया है। इस दृष्टि से वे अपनी कोटि के अकेले निबन्धकार हैं। साथ ही उनका आलोचक रूप भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

आलोचक का सबसे प्रधान गुण है सहृदयता। पूर्वाग्रह से मुक्त होकर तटस्थ भाव से साहित्य का अनुशीलन कर उसके सम्बन्ध में निष्पक्षता से विचारों को व्यक्त करना आलोचक के लिए वांछनीय है। बाबूजी में ये दोनों ही विशेषतायें मिलती हैं। द्विवेदी युग के प्रायः सभी आलोचक काव्य में आगत नूतन भावों एवं उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति के विरोधी थे। आचार्य शुक्ल तक रहस्यवादी काव्य के प्रति न्याय नहीं कर पाये, किन्तु बाबूजी ने सरलता के साथ साहित्य की समयानुकूल गतिमती धारा में अवगाहन किया तथा उसमें जो वरेण्य था, उसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की। उन्होंने कभी भी किसी विशिष्ट भाव धारा से समन्वित साहित्य के प्रति अपना पक्षपात नहीं प्रकट किया। 'नई कविता' के प्रति भी उनका दृष्टिकोण सहानुभूति पूर्ण रहा। साहित्य समय की उपज है, इस तथ्य को उन्होंने भली भांति समझा था, इसी कारण वे साहित्य की प्रत्येक गतिविधि के प्रति आस्थावान् रहे।

बाबू गुलाबराय ने सैद्धान्तिक एवं व्याख्यात्मक दोनों ही प्रकार की आलोचना को अपनी कृतियों से समृद्ध किया। सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में वे 'नव रस' के रूप में आये और 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' में उनका आलोचक सशक्त एवं प्रौढ़ रूप में व्यक्त हुआ। 'साहित्य और समीक्षा' नामक पुस्तक भी सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत ही आती है जो उन्होंने हिन्दी साहित्य में पदार्पण करने वाले छात्रों के लिए लिखी है। बाबूजी की यह विशेषता रही है कि वे केवल विद्वत्समाज के लिए ही नहीं लिखते थे, अपितु साधारण पाठकों और छात्रों के लिए भी साहित्यानुराग उत्पन्न करने के हेतु सरल कृतियों का सृजन करते थे। 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' उनकी इसी प्रवृत्ति का प्रतिफलन है, जिसने बड़ी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि पाई है। व्याख्यात्मक आलोचना सम्बन्धी कृतियों में 'हिन्दी काव्य विमर्श', 'हिन्दी नाट्य विमर्श' आती हैं। 'अध्ययन और आस्वाद' नामक पुस्तक में उनके व्याख्यात्मक आलोचना सम्बन्धी निबन्ध संगृहीत हैं। उनके द्वारा सम्पादित 'प्रसादजी की कला' तथा 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' नामक कृतियाँ भी व्याख्यात्मक आलोचना में ही आती हैं जिनमें अन्य लेखकों के साथ बाबूजी के भी

निबन्ध हैं। वर्षों तक 'साहित्य-सन्देश' का सम्पादन कर उन्होंने आलोचना को गति देने का स्तुत्य कार्य किया।

बाबूजी की दोनों ही कोटियों की आलोचनाओं में उनका समन्वयात्मक दृष्टिकोण दिखाई देता है। सैद्धान्तिक आलोचना में उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों ही काव्य सिद्धान्तों की व्याख्या करके अपने जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनमें समन्वय की भावना ही दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए 'काव्य की परिभाषा' के सम्बन्ध में उन्होंने भारतीय मनीषी मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ, पाश्चत्य विद्वान् शेक्सपियर, वर्ड्स्वर्थ, मिल्टन, कालरिज, कारलायल, हडसन, मेथ्यू आर्नल्ड तथा जानसन आदि, हिन्दी के आचार्य द्विवेदी, शुक्लजी, एवं प्रसादजी आदि के मतों को उद्धृत करते हुए उनकी समीक्षा की है तथा प्रत्येक की परिभाषा में किसी पक्ष विशेष के प्रति आग्रह पाया है। कोई भावपक्ष को प्रधानता देता है तो कोई कलापक्ष को। किसी ने कल्पना को अपेक्षित माना है तो किसी ने यथार्थता को। और कोई कवि को महत्व देता है तो कोई सहृदय को। बाबूजी कहते हैं—"इन सब बातों को परिभाषा के एक संकुचित घेरे में बाँधना कठिन है, फिर भी नीचे के शब्दों में यह समन्वित भावना रखी जा सकती है। "काव्य संसार के प्रति कवि की भावप्रधान किन्तु क्षुद्र वैयक्तिक सम्बन्धों से मुक्त मानसिक प्रतिक्रियाओं की कल्पना के ढाँचे में ढली हुई श्रेय का प्रेय रूप उद्घाटन करने वाली प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।"[1] बाबूजी की इस परिभाषा में सभी प्रकार के विचार समाहित हैं। भावप्रधान में भावपक्ष और प्रभावोत्पादक में कलापक्ष का समन्वय है। 'कवि को वैयक्तिक सम्बन्धों से मुक्त मानसिक प्रतिक्रिया और वह भी प्रभावोत्पादक' कह कर कवि और सहृदय का समन्वय किया है। 'श्रेय का प्रेय' स्वरूप आदर्श और यथार्थ का समन्वय करता है। अतः बाबूजी ने सभी विचारों को समाविष्ट करके जो परिभाषा दी है, वह मौलिक एवं आधुनिकतम है।

काव्य के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत हैं। एक मत पाश्चात्य अभिव्यञ्जनावादियों और कलावादियों का है जो काव्य का जीवन से कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते और कला को विधि निबन्ध के प्रपञ्च से परे मानते हैं और दूसरा मत 'हितेन सह साहित्य' एवं 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' के समर्थकों का है जो काव्य को जीवन से असम्पृक्त नहीं मानते। बाबूजी दोनों ही मतों का समन्वय करते हुए कहते हैं—"काव्य का क्षेत्र रेखागणित की भाँति संकुचित नहीं। जितना ही राज्य व्यापक होगा उतना ही बन्धन अधिक होगा। कलाकार समाज से बाहर नहीं रह सकता। उसका नागरिक रूप उसके कलाकार रूप से पृथक नहीं। तीन लोक से न्यारी अपनी मथुरा बसाकर रहे तो केवल सौन्दर्य की नीति से विच्छिन्न हो अपूर्ण रहेगा। अतः नीति का प्रश्न उपेक्षणीय नहीं है।"[1] यह समन्वयात्मक दृष्टिकोण भी बाबूजी की सहृदयता का द्योतक है।

बाबूजी के आलोचक की दूसरी विशेषता यह है कि वे गहन एवं जटिल विषय को भी बोधगम्य बना कर प्रस्तुत करते हैं। गम्भीर गुत्थियों को सुलझाने एवं समझाने की उनमें अपूर्व क्षमता है। यही कारण है कि उनके आलोचनात्मक ग्रन्थ जहाँ विद्वानों द्वारा आदृत हैं, वहाँ विद्यार्थी समाज को भी प्रिय हैं। साधारणीकरण जैसे जटिल विषय के सम्बन्ध में संस्कृत के आचार्यों के मतों की व्याख्या करने के बाद डा० श्यामसुन्दरदास और आचार्य शुक्ल के मतभेद का उल्लेख करते हुये वे सारांश के रूप में अपना मत देते हैं—"संक्षेप में हम कह सकते हैं कि साधारणीकरण व्यक्ति का नहीं, वरन् उसके सम्बन्धों का होता है। जलवायु, नीलाकाश की भाँति उस पर किसी का विशेषाधिकार नहीं रहता। उसमें न महत्व जन्य मुख और न महत्व जन्य ईर्ष्यादिभावों की गुञ्जाइश रहती है। कवि भी अपने निजी व्यक्तित्व से उठकर साधारणीकृत हो जाता है। वह लोक का प्रतिनिधि होकर भावाभिव्यक्ति करता है। पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि वह अपने क्षुद्र बन्धनों को तोड़कर लोक सामान्य भावभूमि में आ जाता है। उसका हृदय कवि और लोक हृदय के साथ प्रतिस्पन्दित होने लगता है। भावों

[1] सिद्धान्त और अध्ययन पृ० ११२।

[1] वही पृ० २०५।

का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि उनसे भी 'अयं निज: परोवा' की भावना जाती रहती है और इस कारण उनमें लौकिक अनुभव की स्थूलता, कटुता, तीक्ष्णता और रुक्षता नहीं रहती है।"[१] साधारणीकरण की इस व्यापकता को अत्यन्त सुबोधता के साथ बाबूजी ने समझाने का सफल प्रयत्न किया है। अपने 'सिद्धान्त और अध्ययन' नामक ग्रन्थ में बाबूजी ने काव्य की आत्मा, रस निष्पत्ति, साहित्य की प्रेरणायें काव्य, शब्द-शक्ति, ध्वनि, समालोचना इत्यादि पर गम्भीरता के साथ सरल शैली में विवेचन किया है। एक कुशल अध्यापक के लिये जितनी विषय की स्पष्टता और समझाने की शक्ति अपेक्षित है, वह बाबूजी की आलोचना में मिलती है।

बाबूजी का आलोचक कभी प्राचीन परम्पराओं का अन्ध भक्त नहीं रहा, उसने नवीनता का मुक्त हृदय से स्वागत किया तथा आधुनिकतम गतिविधियों के सम्बन्ध में भी अपनी लेखनी चलाई। 'काव्य के रूप' में उन्होंने दृश्यकाव्य का विवेचना करते समय 'रेडियो-नाटक' का भी उल्लेख किया है।[२] 'गद्य काव्य' के विवेचन में जीवनी, रेखाचित्र, संस्मरण एवं रिपोर्ताज जैसी नवीनतम विधाओं पर भी विचार किया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि बाबूजी साहित्य के प्रति कितने सजग थे एवं वे उसकी गति के साथ चलने में पूर्ण समर्थ थे।

बाबूजी ने केवल सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन मात्र नहीं किया अपितु उसके व्यवहारिक पक्ष का वर्णन करके उन्हें हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में देखा है। 'काव्य के रूप' की यह विशेषता है कि उसमें काव्य की विभिन्न विधाओं की समीक्षा भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों के आधार पर करते हुए हिन्दी में उनका विकास दिखाया गया है। काव्य के रूपों के विवेचन में भी उन्होंने वही समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। उदाहरणार्थ 'महा-काव्य' के भारतीय तथा पाश्चात्य लक्षणों की समीक्षा करते हुए उन्होंने उनका समन्वय करते हुए इस प्रकार अपनी परिभाषा दी है। "महाकाव्य वह विषय-प्रधान काव्य है, जिसमें कि अपेक्षाकृत बड़े आकार में जाति में प्रतिष्ठित और लोकप्रिय नायक के उदात्त कार्यों द्वारा जातीय भावनाओं, आदर्शों और आकांक्षाओं का उद्घाटन किया जाता है।" इस कसौटी पर भारतीय महाकाव्य तथा पाश्चात्य महाकाव्य दोनों ही कसे जा सकते हैं। बाबूजी ने काव्य की सभी विधाओं के विवेचन में प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य काव्य रूपों की तुलना भी प्रस्तुत की है, जिससे हमें उनका स्वरूप समझने में सुविधा होती है और हम अपने साहित्य के स्तर के सम्बन्ध में सचेष्ट रह सकते हैं। उन्होंने पश्चात्य प्रभाव को स्वीकार करते हुए भी भारतीय मनीषा के मौलिक स्वरूप को स्पष्ट किया है।

व्याख्यात्मक समीक्षाओं में 'हिन्दी काव्य विमर्श', 'हिन्दी नाट्य विमर्श' तथा 'अध्ययन और आस्वाद' नामक कृतियाँ प्रमुख हैं। प्रथम कृति में हिन्दी के १४ प्रमुख कवियों, तीन कृतियों एवं आधुनिक काव्य की प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। 'हिन्दी नाट्य विमर्श' में नाटक सिद्धान्तों का विवेचन करके भारतीय नाट्य साहित्य का विवेचन किया है तथा 'अध्ययन और आश्वाद' में साहित्य की प्रमुख धाराओं, प्रमुख कृतियों एवं प्रमुख साहित्यकारों के सम्बन्ध में बिवेचनात्मक निबन्ध हैं। इन कृतियों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुलाबरायजी का दृष्टिकोण उदार रहा है जो कि एक सहृदय आलोचक के लिए अपेक्षित है। उन्होंने जहाँ शुक्लजी के रहस्यवाद सम्बन्धी विचारों को स्वीकार किया है वहाँ उनके आक्षेपों का उत्तर भी दिया है। यथा—"हम यह मानते हैं कि आजकल के रहस्यवादी कवियों में कबीर की सी साधना और अनुभूति नहीं है, किन्तु प्रत्येक आदमी के जीवन में कुछ क्षण ऐसे अवश्य आते हैं, जिनमें वह साधारण अनुभव से अपने को ऊँचा उठा पाता है। ऐसे क्षण उपर्युक्त (प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी) रहस्यवादी कवियों के जीवन में विशेषकर प्राकृतिक सौन्दर्य की रसानुभूति में अवश्य आये हैं। फिर कल्पना भी थोड़ा-बहुत काव्य

[१] सिद्धान्त और अध्ययन—पृष्ठ ५४
[२] काव्य रूप—पृष्ठ ८३

गत महत्व है।''[1] इससे प्रतीत होता है कि बाबूजी का दृष्टिकोण छायावादी और रहस्यवादी काव्य के प्रति शुक्लजी जैसा कठोर नहीं था, अपितु वे उसके गुणों के प्रशंसक थे। व्याख्यात्मक आलोचना में उन्होंने साहित्यकार की आत्मा में प्रवेश कर उसके उद्घाटन का सफल प्रयत्न किया है।

आलोचना एक शुष्क विषय समझा जाता है। क्योंकि उसका सम्बन्ध हृदय से है। बाबूजी ने अपनी शैली से उसे सरस बना दिया है। उनकी शैली सुबोध एवं सरल है। शब्दाडम्बर एवं भाषा की कृत्रिमता से उनकी शैली कोसों दूर है। बीच-बीच में हास्य और व्यंग्य का पुट उसे और भी सजीव बना देता है। इसी से जटिल विषय भी सरल बनकर आता है। तथा साधारण कोटि का पाठक भी उसे हृदयङ्गम करने में समर्थ होता है। बाबूजी विषय को स्पष्ट करने के लिए संस्कृत की उक्तियों को प्रायः अपनाते हैं तथा लोकोक्तियों के प्रयोग से उसमें प्रेषणीयता भर देते हैं।

बाबूजी के आलोचक में प्राचीन और नवीन का सुन्दर सामञ्जस्य मिलता है। वे जितने प्राचीन साहित्य के उपासक थे, उतने ही नवीन साहित्य के भी और दोनों का रसास्वादन कराने में ही उनको सफलता प्राप्त थी। उनके निधन से वास्तव में हिन्दी का वह मूर्धन्य आलोचक नहीं रहा जो द्विवेदी युग से लेकर आज तक के समूचे साहित्य का प्रतिनिधित्व करता हो। उनका स्थान भरने वाला कोई दृष्टिगत नहीं होता।

—बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा।

[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ १२६

उदारमना सन्त बाबू गुलाबराय

श्री रामस्वरूप आर्य

बाबू गुलाबराय जहाँ एक ओर अप्रतिम हास्य-निबन्ध लेखक, उच्चकोटि के दार्शनिक, सुधी समालोचक और सफल अध्यापक थे वहाँ इन सबसे ऊपर वे एक अत्यन्त उदारमना सन्त थे।

मैंने उनके दर्शन केवल एक बार किए। उन्होंने उस समय मेरे प्रति जो उदारता और स्नेह-भाव दिखाया वह आज भी मेरे हृत्पटल पर अङ्कित है। उन दिनों मुझे क० मुं० हिन्दी विद्यापीठ, आगरा के तत्कालीन निर्देशक डॉ० विश्वनाथप्रसाद से कुछ कार्य था किन्तु उनसे मेरा नाम मात्र का भी परिचय नहीं था। मेरे एक गुरुवर बाबू गुलाबरायजी के छात्र रह चुके थे। अतः बाबूजी के माध्यम से ही मैंने डॉ० प्रसाद से मिलना उचित समझा। अपने गुरुदेव से एक पत्र लेकर मैं बाबूजी की सेवा में उपस्थित हुआ।

उस समय बाबूजी का शरीर वृद्धावस्था से जर्जरित हो रहा था। स्वास्थ्य भी गड़बड़ चल रहा था। फिर भी वे अत्यन्त स्नेहपूर्वक मिले। उन्होंने उस समय जो आत्मीय भाव दिखाया, वह भुलाया नहीं जा सकता। मैंने अपनी कठिनाई उनके सम्मुख रखीं। उन्होंने उसे शान्तिपूर्वक सुना और उस समय डॉ० प्रसाद के पास चलने में असमर्थता प्रकट करते हुए उनके नाम एक पत्र मुझे दिया। उन्होंने मेरे लिए डा० साहब को बहुत कुछ लिख दिया था; उस पत्र का अन्तिम वाक्य था "इनकी सहायता एक हिन्दी अध्यापक की सहायता होगी" हिन्दी अध्यापकों का इतना ध्यान रखने वाला अब कौन है ?

मेरे जैसे न मालूम कितने लोग बाबूजी से उपकृत होते रहे हैं। हिन्दी लेखकों की एक बड़ी संख्या उनकी छत्र-छाया में फली, फूली। उनके लगाए हुए बिरवे आज फूल-फल रहे हैं। 'साहित्य-सन्देश' उनकी स्मृति का जीता जागता रूप है।

दिवङ्गत आत्मा के चरणों में शतशः प्रणाम।

—वर्द्धमान कॉलेज, बिजनौर (उ० प्र०)

बाबूजी का आचार्यत्व : एक मूल्याङ्कन

श्री प्रेमस्वरूप गुप्त

बाबूजी आज हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु उनके ग्रन्थों ने हिन्दी-संसार के एक बहुत बड़े भाग का भारी उपकार किया है। उनके उपयोगी साहित्य के प्रति हिन्दी के विद्यार्थी एवं बहुत दूरी तक अध्यापक भी बहुत दिनों तक आभारी रहेंगे।

हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में बाबूजी का स्थान व्यावहारिक की अपेक्षा सैद्धान्तिक आलोचक के रूप में अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके नाम को इस क्षेत्र में सर्वाधिक प्रसृति उनके दो-ग्रन्थों से मिली है—"सिद्धान्त और अध्ययन" तथा "काव्य के रूप"। यों "अध्ययन और आस्वाद" का अपना महत्त्व है, "नवरस" का अपना।

बाबूजी अपने आलोचना-सम्बन्धी ग्रन्थों में हमारे सामने एक आलोचक की अपेक्षा आलोचना के एक अध्यापक के रूप में अधिक आते हैं। वे आलोचना के सिद्धान्त विधायक न होकर सिद्धान्त-परिचायक रहे हैं, किन्तु संस्कृत आलोचना-शास्त्र, पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र, पाश्चात्य मनोविज्ञान तथा एक दूरी तक भारतीय दर्शन की उपलब्धियों के बीच उन्होंने आलोचना-शास्त्रोपयोगी सामञ्जस्य स्थापित करने का एक अविस्मरणीय एवं पर्याप्तरूपेण सफल प्रयास किया है। इस प्रयास से हिन्दी के अपने काव्य-शास्त्र के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हुआ है। सब मिलाकर बाबूजी के आचार्यत्व की मूल आधार-भूमि भारतीय काव्यशास्त्र की ही रही है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों एवं मान्यताओं को परिचित कराने का काम केशव के भी कुछ पहिले से शुरू हुआ था और आज तक भी जोर-शोर से चलता चला आरहा है। पर इस परिचय-कार्य में कितनी गुत्थियाँ-ग्रन्थियाँ रहती रही हैं, यह छिपा नहीं है। पर बाबूजी ने जो विषय लिया है उसके प्रस्तुतीकरण में, निरूपण विवेचन में उल्टी-सीधी गाँठें नहीं हैं, जो है—साफ़ है। जिन ग्रन्थों को आधार बनाया है भले ही सम्बद्ध विषय के सभी ग्रन्थ उन्होंने न टटोले हों, उनको ठीक समझा है, उनका मत सार-रूप में स्पष्ट और व्यवस्थित भाषा में प्रस्तुत किया है। इससे हिन्दी-काव्यशास्त्र का एक "गैप" भरा है।

सरलता और सचाई बाबूजी की विशेषताएँ रही हैं; अतः उन्होंने जो चीज जहाँ से ली है, अता-पता देकर ली है। जिन ग्रन्थों का उपयोग नहीं किया गया, नहीं पढ़ा गया, उनकी भी जानकारी का दम्भ उन्होंने कहीं नहीं किया। यों उन्होंने काव्यशास्त्र के नये-पुराने अनेक आचार्यों के मूल ग्रन्थों का अध्ययन किया है, किन्तु संस्कृत काव्यशास्त्र में से उन्हें काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण और दशरूपक अधिक प्रिय रहे हैं। वे रसवाद के समर्थक रहे हैं और विश्वनाथ से प्रभावित। शैली में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की हलकी छाया रहती है, कहीं-कहीं व्यङ्ग-विनोद की फुलझड़ी। सिद्धान्त की व्याख्या और व्यक्तिगत टिप्पणी-सम्मति का कृती अध्यापक का कर्तव्य भी उन्होंने पूर्णतः निबाहा है। उनका विषय-क्षेत्र काव्यशास्त्र के प्रमुख विषय ही अपना कर चला है, अति रूढ़ और "आउट आफ डेट" बातें उन्होंने प्रायः छोड़ दी हैं। हिन्दी की आवश्यकता उनके सामने रही है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के अनेक विषय उलझे चले आ रहे हैं, आज भी उनमें बड़ी उलझन हैं। बाबूजी प्रायः उन उलझनों से अपने को बचाना ही चाहते हैं। प्रायः बहुत गहराई और छान-बीन से उन्हें सरोकार नहीं रहता। जिसे यह करना हो संस्कृत आचार्यों के मूल ग्रन्थों का द्वार उसके लिये खुला है। कम से कम झंझट के साथ अधिक से अधिक पर मोटा-मोटा विषय का परिचय प्रायः उनकी सीमा रहती है।

सब मिलाकर नई-पुरानी दिशाओं का पर्यटन कर बाबूजी ने शास्त्रीय सिद्धान्तों का सार-भाग प्रस्तुत करते हुए हिन्दी-संसार को एक आलोचना-अध्यापक के नाते बहुत कुछ दिया है तथा हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा की एक दिशा के अभाव को बहुत दूर तक पूरा किया है। उनके इस उपकार के प्रति हमारी श्रद्धाञ्जलि है।

यहाँ उदाहरणस्वरूप एक विषय की चर्चा कर देना अप्रासङ्गिक न होगा। 'काव्य के रूप' में नाटक की अर्थप्रकृतिगों, कार्यावस्थाओं और सन्धियों का निरूपण आता है—(पृष्ठ २९–३४) साथ ही स्पष्टीकरण के लिए चित्र भी दिये गये हैं। बाबूजी के निरूपण का आधार दशरूपक है, साथ ही उन्होंने साहित्य-दर्पण को भी टटोला है। तीनों का परस्पर सम्बन्ध इस प्रकार निरूपित किया गया है :—

अर्थप्रकृति	**सन्धि**	**अवस्था**
बीज	मुख	आरम्भ
बिन्दु	प्रतिमुख	प्रयत्न
पताका	गर्भ	प्राप्त्याशा
प्रकरी	विमर्श	नियताप्ति
कार्य	निर्वहण	फलागम

प्रायः हिन्दी के सभी आलोचना-शास्त्रीय सम्बद्ध ग्रन्थों में इस सम्बन्ध को इसी रूप में प्रस्तुत किया गया है। दशरूपककार का आधार जो है। बाबूजी ने भी उसी का परिचय दे दिया है। पर बाबूजी ने इस संबंध की दुर्बलता की ओर संकेत किया है—"कार्य और फलागम तो मिल जाते हैं किन्तु प्राप्त्याशा और नियताप्ति, पताका और प्रकरी से मेल नहीं खातीं" (पृ. ३२) पर इतना होते हुए भी उन्होंने निरूपण उसी गड़बड़ी की परम्परा बनाये रखकर कर दिया है जिसे दशरूपककार ने जन्म दिया है—"सन्धि कहते हैं मेल या जोड़ को। इसमें अवस्थाओं और अर्थप्रकृतियों का मेल कराया जाता है। प्रारम्भ नाम की अवस्था के साथ योग होने से जहाँ बीज की उत्पत्ति होती है, वहाँ मुख-सन्धि होती है। गर्भसन्धि में पताका और प्राप्त्याशा का योग रहता है। अवमर्श में नियताप्ति और प्रकरी का योग रहता है। निर्वहण-सन्धि में कार्य, फलागम का योग हो कर नाटक पूर्णता को प्राप्त होता है।" (पृ० ३२)

बाबूजी के आचार्यत्व का अनेक विषयों में यही रूप है। आधार-रूप में स्वीकृत-प्रचलित ग्रन्थ की मान्यता को ठीक-ठीक, व्यवस्था और स्पष्टता से रख देना, उसमें आपाततः कमी दिखायी पड़ती है, तो उसकी ओर भी संकेत कर देना; पर इससे आगे बढ़ कर उस कमी—गड़बड़ी की छान-बीन करना, उसके कारणों का स्पष्टीकरण करना और अन्ततः निश्चित शास्त्रीय मान्यता सामने रखना—इस झंझट में वे नहीं पड़ते, प्रायः नहीं पड़ते। यदि उन्होंने इस विषय में भरत और अभिनवगुप्त की मूल मान्यता को सामने रख कर समझा दिया होता और हिन्दी के पाठकों को यह बता दिया होता कि सही चीज यह है, इस बारे में दशरूपककार की बात प्रामाणिक नहीं है, तो एक अधिक ठिकाने का काम हो जाता। भरत और अभिनवगुप्त की मान्यता इस सम्बन्ध में यह है—

अर्थप्रकृतियाँ—नाटक में एक 'इतिवृत्ति' होता है। इसे हम कथावस्तु कह सकते हैं। इसकी परिणति किसी 'फल' में जाकर होती है जिसे 'प्रयोजन' या 'अर्थ' भी कहा गया है। 'प्रकृति' शब्द का अर्थ अभिनव के अनुसार 'उपाय' या 'साधन' है। शायद "प्रकरोतीति प्रकृतिः" इस व्युत्पत्ति को अपना कर। अतः अभिनव के शब्दों में फल की या अर्थ की सिद्धि के उपायों या साधनों को 'अर्थप्रकृति' कहते हैं। 'अर्थः फलं, तस्य प्रकृतय उपायाः फलहेतव इत्यर्थः' (अभिनव भारती भा० ३, पृ० १२) तो यह तात्पर्य निकला कि इतिवृत्त को फल-प्रवण बनाने के लिए प्रयुक्त किये गये उपाय अर्थप्रकृतियाँ हैं, ये ५ हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य। इनमें परस्पर क्रमिक विकास जैसा कोई सम्बन्ध नहीं है। ये एक दूसरे से स्वतन्त्र जैसे ५ उपाय हैं। किसी एक ही उपाय की क्रमिक विकसित 'स्टेजेज' नहीं। इस तथ्य को यहाँ और स्पष्ट कर लेना चाहिए।

'बीज' नाटक के प्रारम्भ में उपनिहित इतिवृत्त-बीज है। यही विकसित होता-होता समूचे नाटक में फैल जाता है और अभीष्ट 'फल' के रूप में फलित

होता है। अतः रूपान्तर के साथ बीज समूचे नाटक में व्याप्त रहता है। उसका स्थान केवल मुख-सन्धि नहीं है। हाँ यह संयोग है कि मुख-सन्धि से ही वह भी प्रारम्भ हो जाता है। मूल इतिवृत्त से जब कथा विच्छिन्न हो-हो कर जाने लगती है, तब उससे पुनः जोड़ देने वाले उपाय को 'बिन्दु' कहा गया है। यह बिन्दु भी प्रतिमुख-सन्धि में ही नियत हो यह भी बात नहीं है। नाटक में न जाने कितने बार इसका उपयोग हो सकता है। अतः यह भी समूचे नाटक में वर्तमान होता है, अन्त तक रहता है। केवल प्रारम्भ में नहीं आता, क्योंकि प्रारम्भ में ही इतिवृत्त के मूल प्रयोजन से वहकने की गुञ्जाइश नहीं होती। 'बीज' और 'बिन्दु' की समस्त इतिवृत्त में व्यापकता का स्पष्ट उल्लेख अभिनवगुप्त ने किया है—"द्वे अपि तु समस्तेतिवृत्तव्यापके" अ० भा०, भा० ३, पृ० १४।

पताका और प्रकरियाँ उपकथाएँ हैं, कहीं से भी प्रारम्भ हो सकती हैं, कहीं भी समाप्त। शर्त केवल इतनी है कि नाटक के उपसंहार से पहिले-पहिले अर्थात् निर्वहण-सन्धि से पूर्व इनका प्रसार सिमिट लेना चाहिये नहीं तो प्रयोजन बिखर जाएगा। इस प्रकार पताका के लिए गर्भ-सन्धि और प्रकरी के लिए विमर्श निर्धारित करना भी असङ्गत है। यों दशरूपककार ने भी 'पताका स्यान्न वा' कह कर इसकी अनिवार्यता का खण्डन किया है। पर सम्बन्ध जोड़ा अवश्य है।

कार्य नामक पञ्चम उपाय को तो नाटक के अन्तिम भाग निर्वहण सन्धि में रखना तथा फलागम अवस्था से जोड़ना अत्यन्त असङ्गत है। आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम नामक ५ अवस्थाएँ स्वयं कार्य की ही क्रमशः विकसित अवस्थाएँ हैं। उन्हें कहते ही 'कार्यावस्थाएँ' हैं। 'कार्य' उनमें आरम्भ से लेकर फलागम तक फैला रहता है। फिर उसे अन्तिम सन्धि में ही कैसे जोड़ा जा सकता है? यह एक मोटा तथ्य है।

तो यह निश्चित हुआ कि बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य पाँचों परस्पर विभिन्न दृष्टियों से देखे गये, इतिवृत्त को फल-सिद्धि तक पहुँचाने वाले स्वतन्त्र उपाय हैं जिनका उपयोग नाटककार करता है। इनमें क्रमिक सम्बन्ध जोड़ना और सन्धियों से सम्बद्ध करना भ्रामक है। आरम्भ, यत्न आदि ५ अवस्थाएँ तो इनमें से एक उपाय 'कार्य' की क्रमिक अवस्थाएँ हैं।

अभिनवगुप्त ने इन पाँचों को जड़-चेतन के रूप में भी वर्गीकृत किया है। बीज और कार्य को जड़ कहा है, बिन्दु, पताका और प्रकरी को चेतन। इस मान्यता के आधार पर नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इन चेतन अर्थ-प्रकृतियों को नायकादि पात्रों के रूप में देखा है। किन्तु भरत में इस बात का उल्लेख नहीं है, और न ही अन्य आचार्यों द्वारा इसका अनुगमन हुआ है।

कार्यावस्थाएँ—अभी 'कार्य' नामक अर्थप्रकृति का उल्लेख हुआ है। यह नाटकीय पात्रों का क्रिया-व्यापार है जो नाटक में आदि से लेकर अन्त तक फैला रहता है। कथावस्तु इसी व्यापार-शृङ्खला के रूप में बढ़ती हुई 'फल' तक पहुँचती है। अभिनव ने इसमें जनपद-कोश-दुर्ग आदि से सम्बद्ध समस्त व्यापार-कलाप को सम्मिलित किया है—"तेन जनपदकोशदुर्गादिकव्यापार वैचित्र्यं सामाद्युपायवर्ग इत्येतत्सर्वं कार्येऽन्तर्भवति।" (अभि० भा०, भा० ३, पृ० १६)

इसी कार्य की क्रमशः विकसित, नाटकीय विधान के अनुरूप विचित्र मोड़ें लेती हुई, ५ अवस्थाएँ होती हैं जिनके नाम हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। अतः अर्थप्रकृतियों और कार्यावस्थाओं का वह सम्बन्ध नहीं जो प्रायः हिन्दी ग्रन्थों और दशरूपक में दिखाया गया है।

सन्धियाँ—सन्धि को दो वस्तुओं के जोड़ के रूप में लेना भी अपने में ठीक नहीं है। सन्धियाँ दो चीजों का मिलन-बिन्दु नहीं, नाटकीय इतिवृत्त के ५ विभाग हैं—

> इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकल्पितम्।
> पंचभिः सन्धिभिस्तस्य विभागः संप्रकल्पितः॥
> —नाट्यशास्त्र, अध्याय १९, श्लोक १।

समूचे इतिवृत्त को ५ भागों में विभाजित करके प्रत्येक भाग को 'सन्धि' कहा गया है। अभिनव के अनुसार इन भागों का नाम सन्धि इसलिए है कि इनमें कथावस्तु के विविध अङ्गों-उपाङ्गों की कड़ी-से-कड़ी जुड़ कर एकसूत्रता प्राप्त होती है—

"तेनार्थावयवाः सन्धीयमानाः परस्परमंगैश्च सन्धय इति समाख्या निरुक्ता।" (अभि० भा०, भा० ३, पृ० २३) इसीलिए साहित्य-दर्पणकार ने ठीक ही इन्हें 'इतिवृत्तस्य भागाः' कहा है, जिसका उल्लेख बाबूजी ने भी किया है, किन्तु वे उसकी कड़ी खोजने नहीं गये। हाँ, उन्होंने इन सन्धियों को एक बिन्दु-स्थल के रूप में न देख कर एक-एक अवस्था तक ठीक ही फैला हुआ माना है—"ये सन्धियाँ एक-एक अवस्था तक चलती हैं, अर्थप्रकृतियों से योग कराती हैं।" (काव्य के रूप, पृ० ३२) उनका सन्धियों को फैला हुआ मानना ठीक है। अर्थप्रकृतियों से योग कराने वाली मानना सिद्धान्त-विरूप। इन सन्धियों का कार्यावस्थाओं के साथ तो क्रमशः सम्बन्ध बैठ जाता है, क्योंकि सन्धियाँ इतिवृत्त के विभाग हैं, अवस्थाएँ इतिवृत्त में फैले हुए कार्य-व्यापार के विभाग।

इस प्रकार अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं और सन्धियों का सम्बन्ध इस रूप में निर्धारित होता है—

अर्थप्रकृतियाँ—इतिवृत्त की फल-सिद्धि तक पहुँचाने वाले ५ परस्पर स्वतन्त्र उपाय।

बीज—आरम्भ में उपनिहित, अन्त तक विकसित उपाय।

बिन्दु—आरम्भ से कुछ आगे बढ़कर प्रयुक्त, मूल प्रयोजन से एकसूत्रता—विधायक नाटक में अनेकशः प्रयुक्त, अतः अन्त तक उपस्थित द्वितीय उपाय।

पताका—उपनायक के स्वार्थ को भी पूरा करने वाली, मूल कथा में सहायक, चाहे जहाँ से प्रारब्ध, किन्तु उपान्त्य में सिमिट जाने वाली उपकथा। तृतीय उपाय।

प्रकरी—अपना अलग फल न रखने वाली, मूल इतिवृत्त की सहायिका, चाहे जहाँ प्रारब्ध, शीघ्र समाप्य, उपान्त्य तक ही प्रयुक्त लघु उपकथाएँ—चतुर्थ उपाय।

कार्य—आरम्भ से अन्त तक विविध रूपों, प्रयासों क्रिया-प्रतिक्रियाओं के रूप में फैला हुआ नाटकीय पात्रों का कार्य-कलाप जो विकास की दृष्टि से ५ अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है—फलसिद्धि का सबसे प्रमुख उपाय।

कार्यावस्थाएँ—अन्तिम अर्थप्रकृति 'कार्य' की क्रमशः विकसित ५ अवस्थाएँ।

कार्य-व्यापार के ५ विभाग—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम।

सन्धियाँ—नाटकीय इतिवृत्त या कथावस्तु के क्रमशः विकसित ५ विभाग—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, निर्वहण।

नोट—इनमें इतिवृत्त के विभागों रूप सन्धियों में तथा कार्य-व्यापार के विभागों रूप अवस्थाओं में ही परस्पर क्रमशः सम्बन्ध है।

अतः दशरूपककार की यह मान्यता कि पाँच अर्थप्रकृतियाँ ही पाँच अवस्थाओं से मिलकर पाँच सन्धियाँ बन जाती हैं,[1] भ्रमात्मक है। यह समझा जाता है कि दशरूपककार धनञ्जय ने अपने समकालीन अभिनवगुप्त की कृतियों का अवलोकन नहीं किया था। सम्भव है उनके सामने नाट्यशास्त्र की कोई और प्राचीन टीका रही होगी जिसमें इस प्रकार का सम्बन्ध दिखाया गया होगा। उन्होंने उसी को अपना लिया होगा। यों अभिनव ने भी एक स्थल पर अर्थ कृतियों के क्रमिक उपनिबन्धन का उल्लेख किया है—"तासामौद्देशिकोक्तिवदुपनिबन्धकमनियम इत्यर्थः (अभि० भा०, भा० ३ पृष्ठ १२) किन्तु यह भिन्न दृष्टि से कही हुई बात है, जिसकी व्याख्या के लिए यहाँ अवसर नहीं है। यह भी सम्भव है कि धनञ्जय को इसी प्रकार के किसी आचार्य के उल्लेख से अपनी भ्रमात्मक धारणा बनाने का अवकाश मिला हो।

दशरूपक अपने क्षेत्र में एक प्रसिद्ध रचना रही है, उसका पठन-पाठन बहु-प्रचलित रहा है। हिन्दी के क्षेत्र में भी उसकी मान्यताएँ स्वीकृत हैं। अतः अन्य अनेक हिन्दी-आचार्यों के समान बाबूजी ने भी इस विषय का निरूपण दशरूपक के आधार पर, किन्तु

(शेष पृष्ठ ६६ पर)

[1] "अर्थप्रकृतयः पंच पंचावस्थासमन्विताः।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पंच सन्धयः।"
(दशरूपक, प्रथम प्रकाश, का० २२।२३)

बाबूजी की लेखन-पद्धति

श्री गोपालप्रसाद व्यास

बाबूजी मूलतः लेखक थे। गङ्गा का ध्येय जैसे समुद्र में मिलना है, वैसे ही उनका परम ध्येय लिखना ही था। वह वैश्य परिवार में उत्पन्न हुए थे। छतरपुर महाराज के प्राइवेट सेक्रेटरी रह चुके थे। चाहते तो कोई भी अच्छा रोजगार अपना सकते थे। परन्तु उन्होंने लेखन-वृत्ति ही चुनी। 'यथालाभ सन्तोष' के सिद्धान्त पर लेखन से जो मिल जाता, उस पर ही अपनी गुजर करते थे।

बाबूजी की दिन-चर्या भी लेखनमय थी। वह उतना ही पढ़ते जितने से उन्हें लेखन में सहायता मिलती। वह उतना ही सोते जिससे लिखने में उन्हें ताजगी प्राप्त हो सके। वह इतना ही जागते कि लिखने में थकावट न हो। उन्हीं पत्र-पत्रिकाओं, सम्पादकों और प्रकाशकों से उनका सम्बन्ध रहता, जो उनका लिखा छाप दें। व्यर्थ के जग-व्यवहार में फँसकर, संस्थाओं के प्रपञ्चों में उलझकर या अलग से अपनी गोल्डन बनाकर उन्होंने अपनी लेखनी-तटस्थता को बन्द नहीं किया। पूरे पचास वर्ष तक वह लिखते ही गए। पचास-साठ से कम पुस्तकें उन्होंने नहीं लिखीं। उन पुस्तकों के विषय, आकार और वर्णन-शैलियों को देखकर आश्चर्य होता है कि बाबूजी इतना वृहद्, इतना विविध और ऐसा विशिष्ट कैसे लिख गए ?

उनके लिखने का तरीका भी निराला था। रद्दी कागज हों, बच्चों की स्कूल की कापियाँ हों, छपे हुए नोटस् हों; विज्ञप्तियों के खाली पृष्ठ हों; गर्ज यह कि जो भी सामने आया, उस पर वे लिखना शुरू कर देते थे। लिखने के लिए सादे या विशेष कागज शायद ही उन्होंने कभी खरीदे हों। यही हाल कलम-दावात का भी था। न उनका कोई अपना पेन था, न अपनी दावात। लिखने का कोई अपना कमरा भी उन्होंने नहीं बनाया था। छोटे-छोटे बच्चे मेज-कुर्सियाँ लगाकर स्कूल का काम करते थे और बाबूजी बड़े-बड़े ऐतिहासिक ग्रन्थ अपनी खाट पर बैठकर लिखा करते थे। उनके लिखने का कोई समय भी न था। सुबह, दोपहर, शाम, रात जब जैसी आवश्यकता हो और जहाँ ध्यान जम जाये, वहीं जम जाते थे।

उनके बड़े-बड़े ग्रन्थों में सभी पंक्तियाँ उन्हीं की लिखी नहीं होती थीं। कभी-कभी वह अपने मित्रों और शिष्यों से भी मदद ले लिया करते थे। वह उन्हें बता दिया करते थे कि अमुक विषय पर यह-यह लिखना है और इस सम्बन्ध में अमुक-अमुक पुस्तक से यहाँ-यहाँ सहायता मिल सकती है। लिख देने पर वह स्वयं उसे देखते थे, ठीक करते थे और कभी-कभी तो लिखे हुए को पूरा-पूरा बदल भी देते थे। उनके कई ग्रन्थों में ऐसी छोटी-मोटी सेवाएँ करने का सुयोग मुझे भी प्राप्त हुआ था। ये अमूल्य सेवाएँ बड़ी सुखद और ज्ञान वर्धक हुआ करती थीं। इनसे बहुत कुछ सीखने को मिला करता था। बाबूजी के सौम्य-सम्पर्क में आने का सुयोग तो इनसे मिलता ही था।

बाबूजी के लेखन से कम्पोजीटर घबराया करते थे। कागज ही नहीं उनकी लिखावट भी अस्त-व्यस्त होती थी। दोनों तरफ के हाशियों का उपयोग भी वह लिखने में वाक्य के वाक्य बढ़ाकर किया करते थे। कोई नई बात सूझी और उन्होंने पलट कर पुराने वाक्य के साथ नया वाक्य और जोड़ दिया। पन्ना सीधा भी लिखा हुआ करता था और उल्टा भी लिखा हुआ करता था। आड़ा भी लिखा हुआ करता था और तिरछा भी। हमेशा स्याही से ही नहीं, ये परिवर्तन और परिवर्धन पेन्सिल से भी किए जाते थे। यह सिलसिला पाण्डुलिपि में ही नहीं, बाबूजी अन्तिम प्रूफ तक में भी परिवर्धन करते रहते थे।

बात यह है कि वह वास्तव में ज्ञान के भण्डार थे।

जब किसी विषय पर लिखने बैठते, तो सूक्तियाँ, पद, श्लोक, देशी-विदेशी विद्वानों के विचार और अनेकानेक मौलिक भाव उनके सामने उपस्थित होते जाते थे और उदार भाव के बाबूजी किसी को भी उदास करना नहीं चाहते थे। उनके कुछ मित्र इस लेखन-शैली का अक्सर परिहास उड़ाया करते थे, बाबूजी के पीछे भी और उनके सामने भी। पर उन्होंने ऐसी आलोचनाओं पर ध्यान नहीं दिया। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था—"लोग किसी लेख या पुस्तक को भाषा या शैली के लिए नहीं पढ़ते, रचनाएँ हमेशा ज्ञानवर्धन और सिद्धान्त समर्थन के लिए पढ़ी जाती हैं। मेरे पास जो कुछ है, उसे मैं सहज रूप से पाठकों के सम्मुख रख देता हूँ। सार-असार देखना उनका काम है।" बाबूजी ने जीवन में किसी का उग्र विरोध नहीं किया। अपने विरोधियों का भी नहीं। वह विरोधियों में भी सद्गुण खोजने के अभ्यासी थे। किसी लेखक या पुस्तक में उन्हें कमी नजर आती, तो उसे कहने से पूर्व वह उस व्यक्ति या रचना के गुणों का पहले वर्णन करते और विरोध करते दबी जबान में ऐसे कि—"यदि ऐसा हुआ होता तो अधिक अच्छा था।"

बाबूजी की इसी वृत्ति के कारण हिन्दी समालोचना में एक नई समीक्षा-पद्धति का जन्म हुआ। इसे लोग गुलाबरायी शैली या समन्वय-पद्धति कहने लगे। इसमें न प्रबल समर्थन न उग्र विरोध, गुणों की चर्चा अधिक, दोषों का केवल दिग्दर्शन। उद्देश्य लेखक को प्रोत्साहन और पाठकों को कृति का परिचय। 'साहित्य-सन्देश' ने उनके निर्देशन में इसी पद्धति को स्वीकार किया था। साहित्य-सन्देश ही नहीं बाबूजी का समस्त लेखन और जीवन दर्शन भी इसी शैली का है। उनका मत था कि लेखक को मताग्रही नहीं होना चाहिए। नए विचारों के लिए उसे अपने ज्ञान-कपाट हमेशा खोले रखने चाहिए। मतवाद तो मूढ़ाग्रह है। मूढ़ाग्रही कभी भी कल्याणकारी और श्रेयस्कर लेखक नहीं हो सकता। बाबूजी के समस्त लेखन का निचोड़ अगर दो शब्दों में प्रकट किया जाए तो वे हैं—कल्याण और श्रेय। निस्सन्देह उन्होंने हमारे साहित्य का कल्याण किया और श्रेय के भागी बने।

—१८१५, बिस्सोमल कालोनी, चाँदनी चौक, दिल्ली।

प्रिय महेन्द्रजी,

बाबू गुलाबराय "स्वर्गीय" कैसे हो सकते हैं जब उनके प्राण उनकी अनेक कृतियों में स्पन्दित होरहे हैं। कलाकार की कभी मृत्यु नहीं होती। उन्होंने हिन्दी-साहित्य को जो दिया है उससे हिन्दी-जगत् सदा लाभान्वित होता रहेगा और उनका यशगान करता रहेगा।

—विनयमोहन शर्मा

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय।

× × × ×

प्रियवर,

बाबूजी के जाने से हिन्दी साहित्य का एक सुदृढ़ स्तम्भ टूट गया और उसका एक महारथी उठ गया। बाबू साहब का सा अगाध पाण्डित्य और विशाल हृदय बहुत कम लोगों में देखा जा सकता है। बाबू साहब के उठ जाने से सम्पूर्ण हिन्दी जगत की अपार क्षति हुई है।

—डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र

श्री राजनांद गाँव।

'मेरी असफलताएँ' : एक सफल आत्मकथा खंड

डा० विजयेन्द्र स्नातक

स्वर्गीय बाबू गुलाबरायजी के साहित्य का मूल्याङ्कन करते समय बहुधा आलोचकों का ध्यान उनके समीक्षात्मक साहित्य की ओर ही गया है। बाबूजी आलोचना के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्ष को सरल-सुबोध शैली में प्रस्तुत करने के कारण विद्यार्थी समाज में अधिक आदृत हुए और उनकी प्रसिद्धि आलोचक के रूप में हो गई। किन्तु बाबूजी एक सिद्ध-हस्त निबन्ध लेखक थे। निबन्ध की आत्मा को जितनी सहजता से बाबूजी ने अपने निबन्धों में अक्षुण्ण रखा है, हिन्दी के बहुत कम निबन्ध लेखक उतनी सजगता से रख पाये हैं। मैं उनके निबन्धों की व्यापक धरातल पर समीक्षा इस लेख में नहीं करूँगा, केवल उनकी एक प्रसिद्ध रचना पर ही संक्षेप में विचार व्यक्त करूँगा।

बाबूजी ने हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण तो नव-रस की शास्त्रीय मीमांसा से किया था किन्तु उनकी अभिव्यञ्जना शैली में प्रारम्भ से ही वैयक्तिकता का इतना अधिक मिश्रण था कि वे शास्त्र चर्चा से हट-कर आत्म-चर्चा की ओर उन्मुख हुए बिना न रह सके। 'मेरी असफलताएँ' शीर्षक उनकी रचना उनके शैली वैशिष्ट्य से अनुप्राणित इसी प्रकार की एक सुप्रसिद्ध कृति है। 'मेरी असफलताएँ' के प्रकाशित होते ही बाबूजी की निबन्ध शैली ने पाठकों को बरबस अपनी ओर आकृष्ट किया और ऐसा प्रतीत हुआ कि निबन्ध की स्वच्छन्द और स्वच्छ शैली के निदर्शन रूप में ये निबन्ध हिन्दी की शोभा बढ़ाने वाले बने रहेंगे। 'मेरी असफलताएँ' व्यक्तिगत जीवन की अनुभूतियों का हास्य-व्यंग्य की मधुरिमा से मण्डित एक सजीव चित्रण है जिसमें बाबूजी के भीतर छिपा हुआ रसप्रवण मन गुप चुप ढङ्ग से बोल रहा है। यों तो सम्पूर्ण साहित्य ही आत्माभिव्यक्ति है किन्तु 'आत्म' को केन्द्रित कर जो लिखा जाता है उसमें ही आत्माभिव्यक्ति का प्राधान्य होता है। साहित्य की अन्य विधाओं में आत्माभिव्यक्ति परोक्ष होती है किन्तु अपने निजी जीवन की अनुभूतियों और संस्मरणों पर आधृत लेखन में वह प्रत्यक्ष रूप से सामने आ जाती है। 'मेरी असफलताएँ' शीर्षक रचना में 'स्व' को केन्द्र बनाकर अपनी अनुभूतियों का ताना-बाना इस रूप में बुना गया है कि पाठकों के मनोरञ्जन के साथ लेखक के असफल जीवन की झाँकी भी मिलती जाती है। सभी के जीवन में असफलताएँ आती हैं किन्तु सभी उनकी अभिव्यक्ति की क्षमता नहीं रखते। सभी अपनी असफलता को सत्याश्रित बनाकर समाज के सम्मुख नहीं रखते या रखना चाहते। सत्य कटु भी होता है और कठोर भी। असफलता तो प्रायः कटु अप्रिय ही होती है। अतः उनकी ज्यों की त्यों अभि-व्यक्ति आत्मग्लानि का कारण भी हो सकती है। आत्म-ग्लानि, निराशा और दुःख से समन्वित अनुभूति का चित्रण केवल कला के माध्यम से ही प्रिय और आह्लाद-जनक हो सकता है। बाबूजी ने अपनी असफलताओं का चित्रण कला के माध्यम से किया है अतः वह लेखक को ही आनन्दप्रद नहीं हुआ वरन् पाठक के मन में भी आह्लाद और रस की सृष्टि करने में समर्थ हो सका है। अतीत की स्मृतियों को पुनरुज्जीवित करने की इच्छा से ही बाबूजी ने यह पुस्तक नहीं लिखी थी उनका अभिप्रेत यह भी था कि उनका पाठक इसके द्वारा असफलता के साक्षात्कार से उद्विग्न न हो। असफलता का वरण करने की क्षमता अपने भीतर जुटा सके और असफलता पर वैसी ही आनन्दप्रद स्थिति में रहने का अभ्यास कर सके जैसा सफलता के क्षणों में करता है।

असफलता जीवन का दुर्बल पक्ष है। केवल दुर्बलता जीवन की समग्रता नहीं होती। जीवन का प्राणतत्व

सबल पक्ष पर निर्भर करता है। किन्तु दुर्बलताओं को समझने, सहेजने और आलिङ्गन करने का साहस विरलों में ही होता है। आलोच्य पुस्तक में बाबूजी ने अपनी भूलों को, पराजयों को और विषमताओं को बड़े साहस के साथ, सचाई के साथ, सजीवता के साथ चित्रण किया है। व्यंग्यात्मक शैली के कारण असफलताओं पर लेखक की पश्चाताप या पछतावे की भावना लुप्त हो गई है। व्यंग्यात्मक शैली के कारण लेखक को अपने ऊपर हँसने का भी अवकाश प्राप्त हो गया है। स्वयं पुस्तक की भूमिका में लिखा है—"आत्मकथा-लेखक के दो व्यक्तित्व होते हैं, एक चरित्रनायक का, दूसरा लेखक का। इसमें चरित्र-नायक के व्यक्तित्व में कोई आकर्षण नहीं। लेखक के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यदि 'आपुन करनी भाँति बहु बरनी' की बात न समझी जाय तो मैं कहूँगा कि इसमें साहित्यिक हास्य का काफी मसाला मिलेगा।" हास्य-व्यंग्य के अतिरञ्जित पुट के कारण लेखक का पूर्ण व्यक्तित्व दब गया है यह कहना भी किसी हद तक सही है।

'मेरी असफलताएँ' लेखक के व्यक्तिगत जीवन में से चुने हुए कुछ ऐसे घटना-प्रसङ्ग हैं जिन्हें उसने एक विशेष दृष्टिकोण से छाँटा है। अभावों की गोद में पलने पर भी लेखक की ज्ञानपिपासा प्रबल से प्रबलतर होती गई है। वह अध्ययन के पथ पर अडिग होकर बढ़ता चला गया, यह भी असफलताओं के तुमुल निनाद में सुनाई दे जाता है। कॉलेज-जीवन में लेखक होनहार विद्यार्थी सिद्ध न हो सका—वह फैशन परस्ती से बचा रहा—सादगी की ओर झुका रहा—दार्शनिकता की ओर उसकी प्रवृत्ति होने पर भी अपने वंशगत व्यापारिक हानि-लाभ के संस्कारों से मुक्ति न पा सका। साहित्यिक क्षेत्र में लेखक ने अपनी असफलताओं को अतिरञ्जित रूप से अङ्कित करते हुए उसको व्यापार-चौर्य-कला ठहरा दिया है। हास्य की सीमा तक तो लेखक का यह कथन पचाया जा सकता है किन्तु आत्मकथा के सत्य की कसौटी पर यह दैन्य ही समझा जायगा—यथार्थ सत्य नहीं।

'मेरी असफलताएँ' अपने सामाजिक गुण के लिए स्तुत्य है। वर्ण-व्यवस्था, छूआछूत, सङ्कीर्णता, रूढ़िप्रियता आदि सामाजिक विचारों का इसमें बड़े सूक्ष्म धरातल पर वर्णन किया गया है। इन निबन्धों के सामाजिक धरातल को स्पष्ट करने पर तत्कालीन समाज की अनेक मान्यताओं से पाठक परिचय प्राप्त कर सकता है। राजनीतिक आन्दोलनों का भी आभास इन निबन्धों में प्रासङ्गिक रूप से हुआ है। किन्तु यह धरातल व्यंग्य ही है।

इस पुस्तक में वर्णित असफलताओं का क्षेत्र लेखक के विद्यार्थी जीवन तथा प्रौढ़ावस्था तक—नौकरी करने तक सीमित है। वैश्य बोर्डिङ्ग हाउस में रहते समय व्यावहारिक बुद्धि की कमी के कारण लेखक को जिन असफलताओं का सामना करना पड़ा उन्हें लेखक ने शुद्ध मनोरञ्जन का साधन बनाया है। छतरपुर राज्य में सेवा करते समय दरबारी वातावरण की असफल अनुभूतियों का चित्रण तो सचमुच हास्य-व्यंग्य का सुन्दरतम निदर्शन है, नौकरी से पृथक् होकर मकान ढूँढ़ने, मकान बनवाने, बाढ़ में मकान के डूबने आदि का वर्णन अनेकानेक प्रवृत्तियों पर कटाक्ष प्रस्तुत करता है। बाबूजी वैश्यकुल में पैदा हुए थे। वे अपनी व्यापारी प्रवृत्ति को कभी भूल नहीं पाये किन्तु दुर्भाग्य के कठोर प्रहार से वे कभी सफल व्यापारी न बन सके। जब कभी व्यापार की ओर उन्मुख हुए तभी असफलता का सामना करना पड़ा। अन्ततः उन्होंने स्वीकार कर लिया कि वर्णव्यवस्था का आधार भले ही जन्म हो किन्तु यथार्थ व्यवस्था तो कर्माश्रित ही रहती है। संस्कार मनुष्य का पीछा तो करते हैं किन्तु कर्मगति उन्हें ढकेल कर दूर फेंक देती है। बड़े सौभाग्य शाली हैं वे जो संस्कार से सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं। बाबूजी अपने को उनमें नहीं मानते क्योंकि उन्हें तो व्यापार-वाणिज्य में घोर असफलता ही मिली है।

इन घटनाओं के अङ्कन में लेखक ने घटना का तथ्यात्मक रूप कम और भावात्मक रूप ही अधिक ग्रहण किया है। भावात्मक शैली से किसी घटना को यदि अङ्कित किया जाय तो निश्चिय ही उसमें कल्पना, शैली शिल्प और आत्मपरकता का सम्मिश्रण करना

अनिवार्य हो जायगा। 'मेरी असफलताओं' में इसी प्रकार की कला-कल्पना का प्राचुर्य दृष्टिगत होता है। बाबूजी ने इन निबन्धों में बोलचाल के मुहावरे तथा लोकोक्तियों का बड़ा सुष्ठु प्रयोग किया है! व्यंग्य को चमकाने के लिए भी मुहावरे सजाये गये हैं और अर्थ को व्यंजक बनाने के लिए भी। संस्कृत की सूक्तियों का प्रयोग करने का तो बाबूजी को मर्ज़ था। यदि बाबूजी के साहित्य से संस्कृत की सूक्तियाँ, उद्धरण आदि का चयन किया जाय तो उनकी विपुल मात्रा उपलब्ध होगी। संस्कृत को सूक्तियों को तोड़ने-मरोड़ने, उनमें प्रासङ्गिकता भरने और व्यंग्य का पुट देने में तो बाबूजी प्रवीण थे। कालिदास की उक्ति है—'योगेनान्ते तनुःत्यजाम्' बाबूजी ने अपने सन्दर्भ में उसे परिवर्तित किया 'रोगेणान्ते तनुः त्यजाम्'। प्रसङ्ग में रोग से मरने की बात योग से कहीं अधिक युक्तियुक्त है। पठकों के मनोरञ्जन के लिए मीठी चुटकी लेने के लिए भी इस प्रकार के अनेक प्रयोग इन निबन्धों में मिलते हैं। अपने पाठक के लिए शोभन और श्लील धरातल पर मनोरञ्जन की सामग्री प्रस्तुत करना बाबूजी का ध्येय था। अतः असफलताओं के बीच भी वे हँसते हैं, मुसकराते हैं और जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टि को बलप्रदान करते हैं। असफलताओं पर रोने-झीकने वाले इस संसार में कम नहीं हैं। हम सभी अपनी दुर्बलता को बिना समझे, असफलता को कोसने लगते हैं। बाबूजी असफलता के मध्य से अपनी दुर्बलता को उभार कर समाने लाने की चेष्टा करते हैं। इन निबन्धों का प्रच्छन्न ध्येय यही था कि अभाव और असफलता का कठोर सत्य है, उसे स्वीकार करो और मस्त रहो। आत्म प्रशंसा तो सभी करना जानते हैं, परोप देश के पाण्डित्य में भी सभी कुशल हैं किन्तु कितने ऐसे हैं जो आत्मदैन्य को विवृत करके भी जीवन को हास्यमय बनाने का साहस रखते हैं। 'मोची का मोची' रहजाने में लेखक के आत्मदैन्य की प्रतीति है तो साथ ही उसके आत्मगौरव की झलक भी इसमें मिलती है।

मैंने इन निबन्धों में शिष्ट हास्य का जैसा प्राणवान रूप पाया वैसा हिन्दी के हास्य-व्यंग्य लेखकों में कम ही है। लेखक ने अपने व्यक्तित्व के सबल पक्ष को आवृत रख कर दुर्बल पक्ष को अनावृत करने का प्रयास किया है। इन निबन्धों की शैली वैयक्तिक कोटि के निबधों में सदैव मार्ग स्तम्भ बनी रहेगी। इनमें जीवन्त कथा का आह्लाद और कल्पित-कथन शैली का रस आद्यन्त भरा हुआ है।

—ए, ५/३ राणा प्रताप बाग, दिल्ली—६

प्रिय बन्धु,

श्रद्धेय बाबूजी चले गये। सभी को जाना है। आयु भी कम नहीं थी, लेकिन जब सुनते हैं कि वे नहीं रहे तो हृदय में कसक सी उठती है। एक सरल, सौम्य, परदुखकातर, सहृदय साधक चला गया। उनके भक्तों और मित्रों की संख्या बहुत बड़ी है। वाद और पक्षपात से ऊपर जिनकी दृष्टि रहती है, ऐसे खरे साधक आज हिन्दी में कहाँ रह गए हैं, इसलिए उनका जाना और भी खलता है। मैंने उनका स्नेह पाया है इसलिए व्यक्तिगत रूप से मुझे ऐसा लगता है जैसे मेरा बुजुर्ग ही मुझ से बिछुड़ गया हो। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने आज से २५ वर्ष पूर्व बिना किसी जान-पहचान के मुझे प्रोत्साहन दिया था। उनकी निश्छलता और सरलता और पैनी दृष्टि अनुपमेय है।

—विष्णु प्रभाकर
दिल्ली —६

हिन्दी के साहित्यिक बाबूजी

डा० बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे

स्वर्गीय बाबू गुलाबरायजी का व्यक्तित्व हिन्दी के एक सरस एवं सहज आलोचक के रूप में प्रसिद्ध है। प्रकृति से वे दार्शनिक थे परन्तु हिन्दी की सेवा करते समय उनकी यह दार्शनिकता हिन्दी के निबन्ध तथा आलोचना साहित्य को एक विशेष प्रकार का आलोक देने में समर्थ हुई। बाबूजी ने निबन्ध और आलोचना की अपनी कृतियों द्वारा द्विवेदी युग और आधुनिक युग का सुगम समझौता अपने पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न किया है। बाबू श्यामसुन्दरदास, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की साहित्यिक परम्परा का सुबोध रूप उनके सम्पादन कार्य में मिलता है। बाबूजी ने 'साहित्य-सन्देश' पत्रिका द्वारा अपने व्यक्तित्व एवं साहित्य का सन्देश अपने पाठकों को देकर हिन्दी के विकास में अपना स्थान निश्चित किया है।

बाबूजी का साहित्य सम्बन्ध साहित्यकारों की अपेक्षा हिन्दी के विद्यार्थियों के साथ अधिक रहा है। 'साहित्य-सन्देश' द्वारा वे सुदूर प्रान्त में रहने वाले अहिन्दी भाषी विद्यार्थियों तक पहुँचाकर हिन्दी के विकास एवं प्रचार में सहयोग दे सके। ऐसा शायद ही कोई विद्यार्थी मिलेगा जिसने बाबूजी की साहित्यिक कृतियों से सहायता न लेकर हिन्दी का अध्ययन किया हो। उनका 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' अहिन्दी प्रान्त के विद्यार्थियों की हिन्दी-साहित्य की परम्परा और विकास का सुरस परिचय देने में सफलता प्राप्त कर सका। एम० ए० की पढ़ाई तक उनकी यह पुस्तक विद्यार्थियों का मार्ग प्रदर्शन करने में सहायक बनी।

बाबूजी के साहित्यक कार्य की समीक्षा करते समय उन्हें केवल निबन्ध लेखक या समालोचक के रूप में देखना गलती होगी। उनकी दार्शनिकता साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश करते समय अपने जीवन की सादगी और शालीनता भी हिन्दी को सरस रूप देने में समर्थ बनी। इसलिए कभी-कभी उनकी कृतियों में उनके साहित्यिक गुणों को ढूँढ़ना भी कठिन हो जाता है।

बाबूजी की साहित्यिक कृतियों का सूक्ष्म अध्ययन करते समय इस बात का पूर्ण पता लगता है कि उन्होंने अपनी साहित्यिक रचनाओं का निर्माण जन साधारण के लिए ही किया है। स्वयं कभी गहरे पानी में बैठकर पाठकों के भाव-कुसुमों को डुबा देने की प्रक्रिया उन्होंने कभी नहीं की है। खुद किनारे पर बैठकर साहित्य-सागर मन्थन करने का कार्य उन्होंने किया है। बाबूजी यदि प्रारम्भ से ही हिन्दी के विद्यार्थी रहते तो हिन्दी की गहराई को अत्यन्त दक्षता से नापने का कार्य अत्यन्त कौशल से करने में समर्थ हो सकते थे। परन्तु अध्ययन और चिन्तन के बाद जो भी विचार उनके मन में निर्माण होते थे उन्हें अपनी शैली में प्रकट कर दूसरे के उपयोगार्थ देने का महान कार्य उन्होंने किया है। बाबूजी का यह कार्य भविष्य के साहित्य-प्रेमियों को भी योग्य मार्ग-प्रदर्शन करने में सहायक होगा। ऐसा मेरा विश्वास है।

—लिंगराज कालेज, बेलगाँव

(पृष्ठ ६३ का शेषांश)

पूर्ण स्पष्टता से, और सब अता-पता देकर प्रस्तुत किया है। साथ ही उसकी उलझन की ओर भी संकेत किया है। उसे सुलझाने का उद्देश्य उनके सामने न था। यदि इस उद्देश्य से उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना की होती तो वे अवश्य उसे सुलझाते और निश्चय ही सफलता से सुलझाते। पर उनके सामने हिन्दी के विद्यार्थी और सामान्य अध्यापक थे, शोधार्थी नहीं। और यह कहने में किसी को सङ्कोच नहीं हो सकता कि अपने सीमित उद्देश्यों में बाबूजी को जो सफलता मिली है, वह अन्य कम आलोचकों को मिलती है।

हिन्दी-जगत् उनके महत्त्व एवं योगदान के लिए चिर आभारी रहेगा, इसमें सन्देह नहीं।

—अलीगढ़ विश्वविद्यालय

आलोचक गुलाबरायजी का व्यंग्य

सुश्री प्रमिला शर्मा

बाबू गुलाबराय स्मृति-ग्रन्थ के लिए उनके कृतित्व का दस रूपों में विभाजन हुआ.......और उस परिधि से बाहर भी एक प्रोज्ज्वल रूप की दुनिया आबाद है—काव्य के रूप, सिद्धान्त और अध्ययन, हिन्दी-काव्य-विमर्श, हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, प्रसादजी की कला के रचयिता आलोचक गुलाबरायजी का जीवन्त हास्य और अमोघ व्यंग्य हिन्दी-साहित्य में युग-युगान्तरों तक उनकी यशः पताका को फहराता रहेगा।

शैली में व्यक्तित्व का सन्निवेशन होने के कारण तर्काश्रयी तत्वचिन्तन अथवा शुष्क वस्तु प्रधान विवेचन में हास्य और व्यंग्य की धूपछांही खेल रही है। बाबूजी की जिन्दादिली का प्रमाण, ठलुआ क्लब, मेरी असफलताएँ में तो बोलता ही है, इसके साथ ही साथ आलोचनात्मक कृतियों की पंक्तियों में भी वही आभा निखर उठी है। बाबूजी के मर्यादित हास्य की मधुर कलिकाएँ अपनी मौन मन्द मुस्कान में उसी प्रकार खिल उठती है जैसे फाल्गुन की सन्ध्या के श्रान्त गगन में सतरङ्गी इन्द्रधनुष पुष्पधन्वा सा गुदगुदाता है। गम्भीरता संवेद्य निश्रत्प्राण पर इनका हास शतदल बनकर ईषत् लोहित हो जाता है—इस सम्बन्ध में उनका अपना मत है—"अब मैं प्रायः गम्भीर बातों में भी हास्य का समावेश करने लगा हूँ। जहाँ हास्य के कारण अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना हो अथवा अत्यन्त करुण प्रसङ्ग हो तो मैं हास्य से बचूँगा अन्यथा हास्य का उतना ही स्वागत करता हूँ जितना कि कृपण क्या कोई भी अनायास आए हुए धन का।"

लाक्षणिकता के सहारे बाबूजी मधुर मुस्कान को आमन्त्रित करते हैं। कहानी को संकेतमूलक कला सिद्ध करते हुए 'काव्य के रूप' में कहते हैं—"ऐसे स्थल पर लुहार की एक चोट काम करती है सुनार की सौ चोट नहीं।" आधुनिक कहानी—"खद्दर के सूट की तरह से है जिसमें सामग्री तो देशी पर काट-छाँट विदेशी हो गयी है।" कहानी जीवन-व्यापार के किसी अपूर्ण अंश को भी पूर्ण रूप में दिखाती है—यह सिद्ध करने के लिए बाबूजी की सूक्ष्मावलोकिनी दृष्टि (चश्मे से युक्त) में छिपकली की पूँछ कौंध गई—"कहानी का वह भाग छिपकली की पूँछ की तरह जीवन से स्वतः पूर्ण होता है।" आधुनिक काल में बढ़ती हुई जनसंख्या का कलरव तथा मकानों की समस्या भी उनसे अछूती नहीं रही—"जैसे नगर जीवन में रहने वाले व्यक्ति के कक्ष में आगन्तुकों के लिए स्थान नहीं होता इसी प्रकार कहानीकार के क्षेत्र में नाना घटनाओं के लिए गुञ्जाइश नहीं।" आलोचकप्रवर गुलाबरायजी के उदाहरण एवं दृष्टान्त शास्त्रीय गाम्भीर्य के साथ उपस्थित नहीं किये गए, उनमें या तो विचारक्रम को अधिक सुबोध और व्यापक बनाने की आकांक्षा प्रकट होती है अथवा अवसर और सन्धि पाकर लेखक की परिहासप्रियता झलकती है। इस पद्धति के कारण विषयगत रूक्षता भी बच गई है और अभिव्यञ्जना शैली भी सरल हो गई है।

उदाहरण प्रस्तुतीकरण का एक दूसरा रूप है जिसमें उनके व्यक्तिगत अनुभवों की विस्तृत राशि इतस्ततः विकीर्ण है। "यद्यपि मैं कविता करने के सौभाग्य से वञ्चित रहा हूँ तथापि मैं क्षम्य गर्व के साथ कह सकता हूँ कि स्वप्नों के सम्बन्ध में मेरी मस्तिष्क भूमि बड़ी उर्वरा है। किन्तु मेरे स्वप्न किसी कवि, सुधारक, आविष्कारक या राष्ट्र निर्माता के से नहीं होते वरन् ऐसे होते हैं जो चिन्ताग्रस्त तथा भावाक्रान्त लोगों को संतप्त और उत्तेजित मस्तिष्क को क्रियाशील बनाये रखते हैं और जिनकी थकावट "हार्लिक्स माल्टेड मिल्क" के विज्ञापनों को मिथ्या प्रमाणित करने का श्रेय प्राप्त कर सकती है।"[1] इसी प्रकार

[1] सिद्धान्त और अध्ययन पृष्ठ० ६५

कवि और पाठक के अयात्मक व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण में अपना एक उदाहरण देकर सिद्ध करते हैं कि कलाकार का व्यक्तित्व साधारणीकृत होता है, उसका निजी अनुभव निजत्व और परत्व से परे होता है—"मैं अपना उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करना चाहता हूँ पाठक इस आत्मविज्ञापन को क्षमा करें। १९३९ की घोर वर्षा में बाढ़ से मेरा घर जब जल से परिवेष्टित हो गया था और मुझमें उसके भावी अस्तित्व के प्रति शङ्का होने लगी थी उस समय मैं हँसने का प्रयास भी नहीं कर सकता था किन्तु थोड़ी देर बाद जब यह शङ्का मेरे मन से ओझिल हो गई तब मेरे भीतर का कलाकार जाग उठा और मैं उस समय भूल गया कि मेरा सर्जन (मेरी सारी उम्र की कमाई मकान में ही लगी थी) नाश होने की सम्भावना है। मैं नाना प्रकार की कल्पनाओं में निमग्न हो गया। मैं नारायण नारा: (जल) अयनं यस्य। और कामायनी के मनु से अपनी तुलना करने लगा।"[१]

भारतीय आलोचना में भेदोपभेद की प्रवृत्ति अत्यन्त व्यापक है। भेदोपभेद लक्षणों के व्यर्थ विस्तार की ओर आलोचक गुलाबरायजी कभी प्रवृत्त नहीं हुए इसी का स्पष्टीकरण करते हैं—"हमारे यहाँ के भेदों को देखकर दूसरे साहित्य वाले ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठे हुए छद्म वेशधारी मुसलमान की भाँति चिल्ला उठते हैं—"या अल्लाह गौड़ों में भी और"....[२] गुलाबरायजी कहावतों और संस्कृत अवतरणों में अपने मतलब के अनुकूल हेर-फेर कर लेते हैं—

"प्रणाली की भाँति अभिव्यञ्जनावाद की गली भी अति साँकरी है—"जा में दो न समाय"[३]

× × ×

जब तक 'टाड़ोवाच' का खण्डन 'बुलरोवाच' से नहीं हुआ तब तक उसकी प्रामाणिकता में सन्देह की चर्चा आगे बढ़ न सकी।[४]

तर्क और शास्त्रीय मीमांसा की नींव पर खड़ा आलोचना-प्रासाद उसी दशा में पाठक को अपनी अन्यतम मञ्जिल तक ले जाने में सक्षम होगा जब हास्य और व्यंग्य की आश्रयदायिनी शलाखें घुमावदार जीने के संग संग लहराती चली गई हों। इसी से आलोचना के मान प्रस्तुत करते-करते उनकी लेखनी निरालाजी के श्यामल वर्ण को रँग जाती है—

"निरालाजी का काली वस्तुओं के प्रति झुकाव है और पंतजी का श्वेत वस्तुओं की ओर (शायद वैयक्तिक वर्ण का प्रभाव हो) यह बात निरालाजी ने मुझे स्वयं बताने की कृपा थी।"[१] "कृपा" द्वारा संप्रेषित हास्य की छींटे आपको भाव-विभोर करने में सक्षम हैं। इसी प्रकार महाकवि केशव की हृदयहीनता पर सहृदय बाबूजी का मत है "मरुभूमि में भी 'ओसिस' नामक जलपूर्ण स्थान मिलते हैं फिर केशव भी कवि थे।" कितनी गहरी चुटकी ली है—कहा नहीं जा सकता यह सान्त्वना है या संवेदना!

शुक्लजी, प्रेमचन्दजी, निरालाजी के समान आपका व्यंग्य अमोघ कहा जा सकता है। यह सत्य है कि उनके व्यंग्य बाणों का घात-प्रतिघात देखने के लिए साहित्य के उच्च धरातल पर खड़ा होना पड़ेगा। बाबूजी के इन व्यंग्य बाणों को समझने के लिए बुद्धि भी चाहिए और काव्य-शास्त्रीय परम्परा का ज्ञान भी! प्रतिपक्षी के मर्म के आघातित करने के लिए व्यंग्य का सहारा लिया जाता है। अञ्चलजी के 'किरण वेला' के दुपहर के स्वप्न को उद्धृत करते हुए आपका कहना है—"इस स्वप्न में वास्तविकता है, करुणा है किन्तु इसके सौन्दर्य को योगी ही देख सकते हैं; साधारण मनुष्य नहीं।"

कहीं-कहीं आपका व्यंग्य क्रोधाग्नि में तपे तीर के समान हो गया है—"जैसे बहुत से भक्त लोग कह देते हैं कि बिहारी सतसई की सब प्रतियाँ समुद्र में डुबो देनी चाहिए। ऐसे लोग आलोचक बनने की योग्यता नहीं रखते।" कहना न होगा कि यह आक्षेप 'अशोक के फूल' की भूमिका पर किया गया है। अन्यत्र चाटुकारों

---

[१] सिद्धान्त और अध्ययन पृ० २३२
[२] " " "
[३] " " पृ० २४५
[४] हिन्दी काव्य विमर्श

[१] सिद्धान्त और अध्ययन पृष्ठ २७१

के प्रकरण पर आकुंचित व्यंग्य, आक्रोश और आक्षेप का प्रस्फुटन हो गया है—"ऐसे विजित लोगों की जो लात मारने वाले पाँव को भी चाटते हैं, इस युग में कमी नहीं।" विलियम जेम्स के इस मत को कि "हम अश्रुमोचन के कारण स्वयं को दुःखी अनुभव करते हैं"; आलोचना करते हुए आपका कथन है—"वे शायद ऐसी परिस्थितियों को भूल गए जहाँ ज़रा सी बात तीर का काम करती है और बिना अश्रु के भी विषय-वेदना का दुःखद अनुभव सारी चेतना को व्याप्त कर लेता है।" ऐसे ही एक आध अन्य उदाहरण बानगी के तौर पर देखिए :—

"नवीनता और मौलिकता का अर्थ उच्छृङ्खलता नहीं। यदि ऐसा होता तो पागल को सबसे अधिक मौलिक कहा जाएगा।"

× × ×

अधिकांश साहित्यिकों के यहाँ चील के घोंस्ले में माँस की भाँति धन का अभाव ही रहता है।"

आधुनिक काल में उन्होंने साहित्यकारों तथा सहृदयों के बीच फैलते सुरा, सुन्दरी प्रभाव को देखा! साहित्यालोचनकार मधुमति भूमिका के विषय में लिखा है कि इसका साक्षात्कार होते ही साधक की शुद्ध सात्विकता देख कर देवता अपने-स्थान से पुकारने लगते हैं कि इधर आइए, यहाँ रमिए, इस भोग के लिए लोग तरसा करते हैं देखिए कैसी सुन्दर कन्या है।" (पृष्ठ २८१) बाबूजी इस सम्बन्ध में किसी बात को कहने में सङ्कोच का अनुभव करते हैं क्योंकि अपनों से बड़े और विशेषतः स्वर्गीय लोगों की बात के सम्बन्ध में विनोद करना हास्यरसाभास है परन्तु फिर भी उचित प्रकरण पर एक मर्मभेदी तीर छोड़ने से क्यों चूकें? आखिर कह ही दिया—"मधुमति भूमिका को प्राप्त कवियों और सहृदयों के लिए यह निमन्त्रण देवताओं की ओर से अब नहीं आता नहीं तो वे देह का भी मोह छोड़ दें।" हिन्दी साहित्य के सुचि आलोचक बाबू गुलाबरायजी इस रुचि अरुचि सम्बन्धी कठोर मृजुता के अतिरिक्त स्वभाव से गम्भीर दीखते हुए भी हास्य विनोद के प्रकाण्ड पण्डित थे।

यों तो उनका हास्य और व्यंग्य समस्त साहित्योद्यान में बिखरा पड़ा है परन्तु लेखन की सीमाओं को दृष्टि में रख कर कुछ प्रमुख आलोचनात्मक कृतियों की आधार पीठिका पर ही यह खुशनुमा फूलों की शबनम सहेज कर रखी है—मत भूलिए इन स्वप्न कोमल हास्य की पाटल पंखुरियों के तले सुतीक्ष्ण व्यंग्य का काँटा भी कसकता है। यद्यपि यह उनके बहुमुखी व्यक्तित्व का एकाङ्गी दिग्दर्शन है परन्तु क्या एक फूल उपवन का प्रतिनिधि नहीं होता—साहित्योद्यान के इस प्रतिनिधि पुष्प डॉ० गुलाबराय का स्थान कभी माँ भारती की भावस्नात् आँखों में अश्रुबिन्दु बन कर तैरेगा तो कभी नम्र पलकों पर छाता हुआ ज्वार करुण मुस्कान में बदल जाएगा।

—"हृदय निवास", सहारनपुर।

———

प्रिय श्री महेन्द्रजी,

मुझे श्री गुलाबरायजी से मिलने का सौभाग्य कई बार मिला। विशेष रूप से जब वे छत्तरपुर महाराज के सहायक थे। उनका विद्या-प्रेम और हिन्दी-संस्कृत साहित्य के विपुल अध्ययन का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा और मैंने उन्हें वार्त्तालाप करने में बहुत ही दक्ष पाया। मैंने उनके लेख जरूर पढ़े हैं पर उनके लिखे ग्रन्थों का अध्ययन इस प्रकार नहीं किया कि उनके सम्बन्ध में कोई अच्छा लेख लिख सकूँ। हाँ, मैं उनके व्यक्तित्व की और उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा किए बिना न रहूँगा। वे एक सच्चे मानव थे।

—डॉ० सुनीतकुमार चटर्जी
कलकत्ता।

बाबूजी तथा उनके आलोचना-ग्रन्थ

श्री गोपीचन्द गुप्त

बाबू गुलाबरायजी आलोचना साहित्य-वाटिका के एक मंजुल गुलाब सुमन के समान थे जिसके सौरभ से सारी वाटिका सौरभान्वित हो जाती थी। आलोचना साहित्य की उनकी नूतन देन उनकी समन्वय शैली थी जिसकी सहायता से वे समय के साथ कदम बढ़ाते हुए अग्र पथ पर बढ़े।

सैद्धान्तिक आलोचना में साहित्य के अङ्ग तथा उपाङ्गों का विश्लेषण करने के पश्चात् कुछ सिद्धान्तों का निर्धारण होता है जब कि व्यावहारिक आलोचना में उन सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप दिया जाता है। बाबू गुलाबरायजी ने दोनों आलोचना पद्धतियों पर काव्य ग्रन्थों का सृजन किया।

सैद्धान्तिक आलोचना—बाबूजी का सैद्धान्तिक आलोचना का सर्वप्रथम ग्रन्थ 'नवरस' है। इसका प्रथम संस्करण सन् १९२७ के लगभग प्रकाशित हुआ, इसी ग्रन्थ का संशोधित संस्करण सन् १९३२ में प्रकाशित किया गया। हिन्दी साहित्य में यह ग्रन्थ अपना महत्व पूर्ण स्थान रखता है। बाबूजी ने इस ग्रन्थ में शास्त्रीय सिद्धान्तों का ही आश्रय नहीं लिया प्रत्युत पश्चिमी मनोविज्ञान एवं रस से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके यह सिद्ध कर दिया कि रस के क्षेत्र में भारतीय मनीषियों की बड़ी महत्वपूर्ण देन है। उन्होंने स्थायी भावों का प्रारम्भिक सहज वृत्तियों से सम्बन्ध स्थापित किया तथा ऋतु वर्णन को ज्योतिष ज्ञान के आधार पर मिलाया जिससे उनके व्यक्तित्व की सार्थकता प्रकट होती है। बाबूजी ने अपने इस ग्रन्थ में भक्ति रस के साथ ही वात्सल्य, दाम्पत्य एवं सांख्य का भी विवेचन किया है जिससे इस ग्रन्थ की उपयोगिता में वृद्धि हुई। उन्होंने इस ग्रन्थ में कहीं-कहीं पर अपना मौलिक चिन्तन भी प्रस्तुत किया है जिससे उनकी गहन अनुभूति लक्षित होती है।

बाबूजी ने मनोविज्ञान की सहायता से अपने विचारों को समझाने का प्रयास किया। 'नवरस' में लगभग ३०० पृष्ठों में रसराज का वर्णन प्रस्तुत किया है एवं दो सौ पृष्ठों में अन्य रसों का विवेचन किया गया हैं। लेखक ने लक्षण तो साहित्य-दर्पण से ग्रहण किये एवं श्रृङ्गारी कवियों से उदाहरण लेकर उनकी पुष्टि की है। यह ग्रन्थ १८ अध्यायों में लिखा गया है। उन्होंने चौथे अध्याय में ह्यूमर तथा ह्विट का अन्तर, पाँचवें अध्याय में दुःखान्त नाटकों का विवेचन एवं अठारहवें अध्याय में रस निष्पत्ति के सिद्धान्त को विशेष रूप से समझाया है। यह ग्रन्थ लगभग ६३४ पृष्ठों में समाप्त हुआ है।

सैद्धान्तिक आलोचना पर बाबूजी का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'सिद्धान्त और अध्ययन' है। इस ग्रन्थ में बाबूजी ने साहित्यालोचन पर भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के मतों का विश्लेषण किया है। इस ग्रन्थ में लेखक का दृष्टिकोण समन्वयात्मक रहा है। लेखक ने कहीं-कहीं अपनी विचारधारा भी पाठकों के सामने प्रस्तुत की है।

साधारणीकरण का विश्लेषण करते हुए उन्होंने शुक्लजी से आलम्बन की वस्तुगत वास्तविकता एवं डा० नगेन्द्र से कवि की कल्पना लेकर दोनों का समन्वित रूप पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है।

बाबूजी ने शैली के क्षेत्र में भी मौलिकता रखी। उन्होंने शैली के दोषों को भावात्मक रूप देकर शैली के गुणों का निर्धारण किया। उन्होंने शैली के आवश्यक उपकरणों के रूप में दोषों के अभाव को रखा।

आलोचना के मानों का विवेचन करके उन्होंने उनमें सम्बन्ध स्थापित किया। उन्होंने व्याख्यात्मक आलोचना को विशेष महत्त्वपूर्ण बताया क्योंकि इसमें कवि अथवा लेखक की कृति को व्याख्यात्मक विधि से पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जाता है। कला को

कला के लिए नहीं मानते हैं, वे उसे जीवन के लिये तथा लोक मांगल्य के लिये मानते हैं। उनका कथन है जब तक लोक हित के साथ अन्तः रस नहीं मिलेगा तब तक किसी भी कृति को काव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती है, उसको हम नीति ग्रन्थ कह सकते हैं। वे सौन्दर्य के पुजारी थे जबकि शुक्लजी ने भाव सौन्दर्य की अपेक्षा कर्म सौन्दर्य को विशेष महत्त्व दिया परन्तु गुलाबरायजी कर्म सौन्दर्य को अनिवार्य समझते हुये भी भाव सौन्दर्य के महत्व को स्वीकार करते थे। उनका हित किसानों तथा मजदूरों तक ही सीमित नहीं रहा वे लोक मांगल्य की कामना चाहते थे। संघर्ष के लिए उनके हृदय में तनिक भी स्थान नहीं था। साहित्य में वे सहित की भावना खोजने का प्रयास करते थे। वे भीतरी समाज में ही नहीं प्रत्युत बाह्य समाज में भी साम्य चाहते थे। वे मार्क्स के आर्थिक मूल्यों को ही नहीं प्रत्युत भारतीय दृष्टिकोण से धर्म अर्थ तथा काम के क्षेत्र में भी समन्वय चाहते थे। बाबूजी के सिद्धान्त तथा अध्ययन ग्रन्थ की मुख्य विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं।

१. इस ग्रन्थ में बाबूजी ने भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों का मत उल्लेख किया है।

२. यह ग्रन्थ प्रसाद पूर्ण शैली में लिखा गया है।

३. उन्होंने संस्कृत तथा अँग्रेजी के विद्वानों के अतिरिक्त हिन्दी के विद्वानों के मतों का भी उल्लेख किया है।

४. ग्रन्थ की भाषा सरस है।

५. कई स्थलों पर बाबूजी ने अपना मौलिक चिन्तन भी पाठकों के सामने प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

सैद्धान्तिक आलोचना पर बाबूजी का तीसरा महत्त्व पूर्ण ग्रन्थ "काव्य के रूप" हैं। इसमें बाबूजी ने काव्य की विविध विधाओं पर शास्त्रीय विधि से विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसके पश्चात् उन्होंने उनका हिन्दी इतिहास भी दिया है। 'काव्य के रूप' एवं 'सिद्धान्त और अध्ययन' दोनों ग्रन्थ साहित्यालोचन की समग्र सामग्री पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं। महाकाव्य तथा नाटक का विवेचन करते हुए बाबूजी ने भारतीय दृष्टिकोण सामने रखा, जबकि उपन्यास का विवेचन करते हुए उन्होंने पाश्चात्य सिद्धान्तों का आश्रय ग्रहण किया। निबन्धकारों के निबन्धों का विवेचन करते हुए उन्होंने प्रलाप, विक्षेप तथा व्यास आदि शैलियों का उल्लेख किया जिससे निबन्ध लेखकों का व्यक्तित्व, समझने में सुगमता होती है।

व्यवहारिक आलोचना—बाबूजी ने व्यावहारिक आलोचना में व्यावहारिक पद्धति को ग्रहण किया। इसमें भाव पक्ष तथा कला पक्ष के अतिरिक्त मानसिक तथा सामाजिक प्रभावों का चित्रण भी होता है। 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' एवं 'हिन्दी काव्य विमर्ष उनकी व्यावहारिक आलोचना के प्रमुख ग्रन्थ हैं। व्यावहारिक आलोचना में बाबूजी मुख्य रूप से कवि के ध्येय को प्रकट करना चाहते हैं। वे कवि की कृति का रसास्वावन करना तथा कराना ही अभीष्ट समझते हैं, उन्होंने कलापक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष को अध्ययन का केन्द्र विन्दु बनाया।

गद्य लेखक की आलोचना करते समय वे लेखक के हृदय को ढूँढ़ने का प्रयास करते थे। इससे आलोचक को लेखक के दृष्टिकोण का पता लग जाता है तथा आलोचक सुन्दर आलोचना प्रस्तुत करने में सफल होता है। उन्होंने इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर आलोचना लिखी। इसी सिद्धान्त को सामने रखकर उन्होंने शुक्लजी के निबन्धों की भी आलोचना प्रस्तुत की। वह अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है। बाबूजी की आलोचना में कटुता लेशमात्र को भी नहीं मिलती है, कहीं-कहीं उसमें मंजुल हास्य तथा व्यंग्य की झलक मिलती है। उनकी आलोचना तुलसी की भाँति स्वान्तःसुखाय है।

उनकी भाषा शैली भी उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही है। उन्होंने उस बात को कभी नहीं लिखा जिसको वे नहीं समझते। वे शुष्क से शुष्क विषय की सरस भाषा में व्यक्त करना जानते थे। साहित्य जैसे क्लिष्ट विषय का उन्होंने बड़ी सरस भाषा में विश्लेषण किया है। भिन्न-भिन्न पुस्तकों में उनकी शैली भी प्रायः भिन्न-भिन्न है। वह विषय के अनुरूप परिवर्तित होती जाती हैं। उनको संस्कृत के शब्दों का विशेष मोह था परन्तु हास्य रस का विवेचन

(शेष पृष्ठ ७७ पर)

बाबू गुलाबराय : एक संस्मरण

प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त

डा० गुलाबराय के प्रथम दर्शन मुझे आगरा में हुए थे, जब वे छतरपुर राज्य की सेवा से अवकाश ग्रहण करके आए थे। वे आगरा में ही बस गए थे और जैन बोर्डिङ्ग हाउस के निरीक्षक पद पर नियुक्त थे। इस प्रकार उन्हें निवास-स्थान की चिन्ता से मुक्ति मिली थी।

बाबूजी दर्शनशास्त्र के एम० ए० थे, किन्तु उनकी साहित्यिक अभिरुचि गहरी थी। उन्होंने 'नवरस' नाम का ग्रन्थ लिखा था, जिसमें आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में रस-सिद्धान्त की परीक्षा की गई थी। आगरा आकर बाबूजी शीघ्र ही आगरा के साहित्यिक जीवन में घुल-मिल गए। साहित्यिक दृष्टि में बाबूजी का आगरा-आवास बहुत महत्व का है। एक प्रकार से उनके जीवन का यह सबसे सार्थक पक्ष था।

सभी साहित्यिक गोष्ठियों में बाबूजी शामिल होते थे। वे अपने दिमाग में सदा खुली हवा का स्वागत करते थे। छायावाद की विवेचना उन्होंने अपने आगरा काल में ही की और मुक्त कण्ठ से उसकी उपलब्धियों का स्वागत किया। प्रगतिशील लेखक संघ की सभी बैठकों में वे भाग लेते थे। उस समय इन बैठकों में डा० नगेन्द्र, श्री विश्वम्भर 'मानव', श्री सत्येन्द्र, नेमिचन्द जैन, भारतभूषण अग्रवाल, गोपालप्रसाद व्यास और रांगेयराघव शामिल होते थे।

बाबूजी अपने सरल, निश्छल और मधुर स्वभाव के कारण सर्वप्रिय बन गये थे। उनके शुभ्र केश अवस्था के पूर्व ही उनके स्वभाव की बुजुर्गियत के प्रतीक बन गए थे। उन्हें आगरा के सभी 'बाबूजी' कह कर सम्बोधित करते थे। वे आगरा के साहित्यिक संसार में अनायास ही पितामह के आसन पर बैठ गए। दो साहित्यिक पीढ़ियों के अग्रज के रूप में वे इस आसन पर विराजमान थे। ये घटनाएँ लगभग सन् १९३५ से १९४० के बीच की हैं।

आगरा की साहित्यिक हलचलों का केन्द्र महेन्द्रजी का साहित्य-रत्न-भण्डार था। यह उचित ही था कि इस साहित्यिक सक्रियता के फलस्वरूप आगरा से 'साहित्य-सन्देश' का प्रकाशन आरम्भ हो। बाबूजी इस पत्र के सम्पादक थे और हम सभी इसमें नियमित रूप से लिखते थे। बाबूजी 'सन्देश' में सम्पादकीय टिप्पणियों के अतिरिक्त लेखादि भी लिखते रहते थे। उनकी आलोचनाओं में निर्भीकता और स्पष्टवादिता के गुण रहते थे, जिससे पाठक के मन में उनके प्रति आदर का भाव बढ़ता ही जाता था।

फिर बाबूजी ने दिल्ली दरवाजे के पास नीची भूमि में घर बनवाया। बाढ़ में घर के फ़र्श बैठ गये और गोदाम में रखे चीनी गुड़ और के बोरे पानी में घुलकर बरसाती शर्बत बन गए। बाबूजी ने सहज हास्य के अस्त्र से इस विपत्ति का सामना किया और इस प्रकार 'मेरी असफलताएँ' शीर्षक लेख-माला का सूत्रपात हुआ।

सेण्ट जॉन्स कॉलिज में हिन्दी एम. ए. की कक्षाएँ खुलने पर बाबूजी यहाँ अध्यापक नियुक्त हुए। वे दो-एक घण्टा पढ़ाते थे और कॉलिज से कुछ पारिश्रमिक भर पाते थे। बाबूजी ने सेन्टजॉन्स से ही कभी एम. ए. किया था और उनके पुराने शिक्षक, रेवरैण्ड सले, अब कॉलेज के प्रिंसिपल थे। वैसे देखने में बाबूजी सले साहब के भी गुरू लगते थे।

दीर्घ काल की इन साहित्यिक सेवाओं के कारण आगरा विश्वविद्यालय ने बाबूजी को डाक्टर की पदवी से विभूषित किया। इस कार्य के लिए आगरा विश्वविद्यालय प्रशंसा और बधाई का पात्र है। जब अन्य विश्वविद्यालयों में शासन के अधिकारियों को डॉक्टर की पदवी देने की होड़ लगी थी आगरा विश्वविद्यालय ने अपने नगर के अग्रणी साहित्यिक व्यक्तित्व को सम्मानित करके अपना भी गौरव बढ़ाया।

बाबूजी के सौम्य व्यक्तित्व का भी यह एक प्रकार से आदर था। स्वभाव से बाबूजी किसी राजर्षि के समान थे। उनकी मृदु, निश्छल हँसी भूलना असम्भव है। उनकी साहित्य-साधना, लगन और अध्यवसाय नवयुवकों के लिए एक आदर्श और उदाहरण प्रस्तुत

(शेष पृष्ठ ८१ पर)

बाबू गुलाबराय : कुछ संस्मरण

डॉ० शिवनाथ

श्रद्धेय बाबू गुलाबराय के दर्शन मैंने काशी में ही किये थे सन् १९३८ ई० में, जब 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' का एक अधिवेशन वहाँ हुआ था। वे इस अधिवेशन में 'दर्शन-परिषद्' के अध्यक्ष थे। पूरे बाँह की कमीज, धोती, गले से दोनों घुटनों तक लटकती चादर, गौर वर्ण चेहरे पर स्वेत 'भूरी मूँछें', आँखों पर ढीला-साधारण चश्मा, केश-विहीन चमकती चाँदनी, जिससे मिला उच्चतर दिखता चमचमाता ललाट, कानों और गर्दन को घेरता सफेद बालों का पट्टा। सौम्य, गम्भीर मुखमण्डल। सभी स्वेत—'सर्व शुक्ला सरस्वती'। तब उनसे परिचय नहीं कर सका। उनसे अनदेखा परिचय तब हुआ जब वे 'साहित्य-संदेश' के सम्पादक थे। उन के कहने और अपने मन से 'साहित्य-संदेश' में कितना लिखा है—इस पत्र की फाइलें गवाह हैं।

उनसे साक्षात् परिचय किया अप्रैल, सन् ४६ ई० में 'ब्रज साहित्य मण्डल' तथा 'संयुक्त प्रांतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के संयुक्त अधिवेशन के अवसर पर शिकोहाबाद में। 'मंडल' के ब्रज-साहित्य परिषद में उन्हीं के निमन्त्रण पर 'ब्रज-साहित्य में समीक्षा का स्वरूप' नामक निबन्ध पढ़ने गया था।

हम लोग भोर में शिकोहाबाद स्टेशन पहुँचे। बाबूजी भी उसी समय आए। गंतव्य स्थान पर जाने के लिए हम 'बस' में अगल-बगल बैठे। मैंने परिचय दिया कि "मैं शिवनाथ हूँ।" तुरत स्नेह मिश्रित "अच्छा!" उनके मुख से निकला। उनका यह स्नेह मेरे ऊपर उनके जीवन के अन्त तक ढलता रहा। विभिन्न लेखकों के निबंधों के संग्रह की योजना होगी, तो उसमें मेरा लेख जरूर होगा। 'साहित्य-संदेश' का विशेष अङ्क निकलेगा, तो कृपापूर्वक मुझसे लेख अवश्य माँगेंगे।

'बस' में ही बाबूजी ने अपने रेल दर्शन की घटना बतलाई। कहा कि "जब मैं दसवें दर्जे की परीक्षा देने मैनपुरी से आगरे गया तब रेल नहीं चली थी। एम.ए. करने के लिए जब आगरे आया तब रेल चल चुकी थी और तभी पहली बार मैं रेल पर बैठा।"

'संयुक्त प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन' के अवसर पर हुआ कवि सम्मेलन लगभग १ बजे रात को समाप्त हुआ। मैं बाबूजी के साथ ही आगरा जाने वाला था। अतः उन्हीं के एक छात्र के यहाँ रात में सोने जा रहा था—उन्हीं के साथ। रास्ते में बाबूजी ने कहा कि "एक सज्जन कहने लगे, आपको बहुत तकलीफ हुई होगी। मैंने कह दिया ईश्वर की कृपा से अभी तकलीफ सहने की शक्ति मुझमें है।" बाबूजी फिर कहने लगे "पंडित माखनलाल चतुर्वेदी अस्वस्थ रहते हुये भी इतना और ऐसा भाषण कैसे दे लेते हैं?"

माखनलाल चतुर्वेदी भी शिकोहाबाद गये थे और 'सम्मेलन' तथा 'मण्डल' में उनके कई भाषण हुए थे। इसमें सन्देह नहीं कि बाबूजी अपनी वृद्धावस्था में भी काफी दिनों तक पूरे स्वस्थ और कार्यक्षम रहे।

मैं उनके साथ आगरे गया और उन्हीं के यहाँ ठहरा। मैंने देखा कि उनके सम्मुख छोटे-बड़े की कोई भेद नहीं था। 'गुणाः पूजास्थानं न च लिंगं च वयः'। वे बड़े ही सरल और सीधे थे। अहं तो छू तक नहीं गया था।

यदि अवसर रहता तो वे लेख प्रायः बोल कर लिखवाते थे। उक्त दोनों सम्मेलनों तथा 'साहित्यकार संसद्' के एक अधिवेशन के सम्बन्ध में आपने 'मेरी साहित्यिक यात्रा' नामक लेख के आरम्भिक अंश को लिपि बद्ध करने का सौभाग्य मुझे भी उन्होंने दिया था।

बाबूजी की ६२ वीं बरस गाँठ के अवसर पर आगरे का 'सरस्वती-संवाद' एक 'अभिनन्दनाङ्क' निकालना चाहता था। बाबूजी चाहते थे कि मैं इसमें उनके निबन्धों के सम्बन्ध में लिखूँ। मैंने उनकी आज्ञा का पालन भी किया था। लेख देख कर अपने १५-४-५६ के पत्र में उन्होंने अपने भाव इस प्रकार प्रकट किये थे—

"आप से जैसी प्रतीक्षा की वैसा ही लेख है। यदि पुस्तक—('मेरे निबन्ध : जगत् और जीवन') प्रकाशित न हो चुका होता तो इसे भूमिका स्वरूप देता। ऐसे लेखों से 'गुणग्राहक हिरानों' की शिकायत कम हो जाती है और आत्मभाव की वृद्धि होती है।"

मैं सन् ४६ ई० से शान्तिनिकेतन में हूँ। आगे मैं उनके १७-८-५६ ई० के पत्र का कुछ अंश उद्धृत कर रहा हूँ। इससे ज्ञात होगा कि वे इतर भारतीय साहित्य में हिन्दी साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए कितने उत्कण्ठित थे। इससे यह भी विदित होगा कि वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों का कितना मूल्य मानते थे। लिखते हैं—"आज कल आप क्या लिख रहे हैं। कुछ बँगला में लिखने लगे हो क्या ? मैं चाहता हूँ कि कुछ हिन्दी पुस्तकों की बँगला में भी आलोचना हो। बङ्गाल के लोगों को शुक्लजी के निबन्धों का तो परिचय कराना चाहिए। लिख सको तो आधुनिक हिन्दी साहित्य पर एक पुस्तक बँगला में लिखो या लिखवाओ। उसका प्रकाशन 'हिन्दी भवन' से कराओ।"

सन् १९५७ में 'आगरा विश्वविद्यालय' ने उन्हें 'डी० लिट्०' की उपाधि दी थी। इस अवसर पर एक पत्र के उत्तर में १६-१२-५७ को उन्होंने जो लिखा था उससे समर्थशील कैसी विनम्रता तथा कर्म की कैसी आकांक्षा अभिव्यक्त होती है। पत्र का एक अंश है—"इस डिग्री का यह भी फल हुआ कि बहुत से इष्ट-मित्रों ने याद कर लिया। आपकी शुभकामनाओं से मुझे बल मिलेगा। इच्छा तो बहुत होती है कि डिग्री के अनुरूप मैं कुछ काम कर सकूँ, किन्तु शारीरिक शैथिल्य के कारण विवश हूँ।"

बाबू गुलाबराय का ऐसा सरल, निर्मल और निश्छल व्यक्तित्व था कि उनके सम्पर्क में जो भी आया वह उनसे प्रभावित हुआ। उनके जैसा व्यक्ति ही अजातशत्रु होता है, जो अपनी धुन में काम करता चलता है—आजीवन, जो न ऊधो के लेने में पड़ता है और न माधव के देने में। देवलोक में उनके व्यक्तित्व से देवता भी प्रभावित होंगे, क्योंकि वे नर होते हुए भी देवतुल्य थे।

—शान्ति निकेतन

(पृष्ठ ७४ का शेषांश)

करने में वे उर्दू के शब्दों का भी यथा-स्थान प्रयोग करते थे। बाबूजी की शैली में उनका व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है। साधारण सी बात जब उनके व्यक्तित्व के रंग में रंग जाती है तो वह सुन्दर एवं सरस हो जाती है। विज्ञान-विनोद के वैज्ञानिक निबन्धों तक में उनके व्यक्तित्व की छाप है। सूर्य के धब्बों का विश्लेषण करते हुए बाबूजी ने लिखा है—"चन्द्र के कलङ्क को सब कोई बतलाते हैं, सूर्य के कलङ्क के बारे में किसी कवि ने भी नहीं लिखा। बड़े आदमियों के कलङ्क उनके तेज में छिप जाते हैं।"

बाबूजी की शैली के मुख्य विशेषता हास्य एवं व्यंग्य है। इससे विश्लेषित विषय और भी रोचक हो जाता है। उनके साहित्यिक निबन्धों में ही नहीं सैद्धान्तिक आलोचना के निबन्धों तक में इस विशेषता के दर्शन होते हैं।

बाबूजी को तर्क शास्त्र का गहन अध्ययन था। इसलिये वे लिखते समय तर्क तथा संगति का विशेष ध्यान रखते थे। कभी-कभी विचारों की सङ्गति विठलाने के लिये वे एक रचना को दो-तीन बार तक पढ़ा करते थे तथा उसमें संशोधन किया करते थे। यही कारण है कि उनके ग्रन्थों में सुबोधता तथा सरसता स्वतः आ जाती है।

मुहावरे तथा लोकोक्तियों के प्रयोग भी बाबूजी ने विषय को सुगम बनाने के लिये किया। कहानी की परिभाषा पर विचार करते हुये बाबूजी ने लिखा है कि "कहानी अपने छोटे मुँह से बड़ी बात कहती है।"

बाबूजी ने निधन से हिन्दी आलोचना क्षेत्र का एक प्रकाश स्तम्भ बुझ गया जो अपनी ज्योतिमय रश्मि से आलोचना क्षेत्र को आलोकित किया करता था। हिन्दी साहित्य का एक ऐसा आलोचक चला गया जो निष्पक्ष रूप से सबकी कहता हुआ कहीं-कहीं अपन बात भी पाठकों के सामने प्रस्तुत करता था। उनके निधन से हिन्दी-साहित्य को जो क्षति पहुँची है वही बड़ी कठिनता से पूरी हो सकती है।

—किशनपोल बाजार, जयपुर

स्वर्गीय बाबू गुलाबराय

डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

स्वर्गीय बाबू गुलाबराय से मेरा परिचय सन् ३४ से था, जबकि वे छतरपुर से पेन्शन लेकर आगरा आये थे और दि० जैन बोर्डिङ्ग (अब इण्टर कालेज) में रहने लगे थे। उस समय से पूर्व ही वे साहित्य-क्षेत्र में विख्यात हो चुके थे और अब सारा समय साहित्य-सेवा में लगाते थे। उन दिनों मैं हॉकर था और 'नेशनल काल' लेकर बाबूजी के यहाँ जाता था। उन्हीं दिनों मैं 'विशेष योग्यता' परीक्षा की तैयारी भी करता था। कुछ साहित्यिक अंकुर भी हृदय की अभावग्रस्त भूमि में फूटने लगे थे। पता नहीं कैसे बाबूजी ने मुझे अपना लेखक बना लिया। लिखना कुछ सुन्दर था। इसलिए वे मुझसे प्रसन्न हो गए और 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' की प्रेस कापी का बहुत कुछ भाग मैंने तैयार किया। क्रम यह था कि बाबूजी पुस्तकें बता देते थे या डिक्टेट करा देते थे। मैं उसे 'फेयर' कर देता था।

जहाँ तक मुझे याद है उन्हीं दिनों उनका मकान भी बन रहा था। कभी-कभी वे मुझे भी साथ ले जाते थे। वे घर के सारे कामों में वैसी ही दिलचस्पी लेते थे जैसी साहित्य-रचना या साहित्य-सभाओं के उत्सवों में। उनमें वह झूठा दम्भ नहीं था जो उन हलके साहित्यिकों में होता है जो साहित्यिक होकर यह समझते हैं कि वे दुनिया से कुछ ऊपर हैं—असाधारण हैं।

उनकी सरलता दर्शनीय थी। इसका प्रमाण मुझे उनके साथ रहते हुए मिला। वे अक्सर साहित्यिक उत्सवों का सभापतित्व करने जाते थे। विशेष रूप से कवि-सम्मेलनों का सभापतित्व उन्होंने जब जब किया अपनी सरलता ने लोगों को मुग्ध कर दिया। एक बार सिरसागञ्ज में वे सभापतित्व करने गये तो किराया अपने पास से देकर आये। जब मैंने कहा कि 'बाबूजी यह अच्छा टैक्स लगा' तो बोले—'हिन्दी की सेवा में इतना तो करना ही होगा।'

वे अपना सारा काम ब्रह्ममुहूर्त में उठकर कर लेते थे और नियमित रूप से घूमने निकल जाते थे। अपनी कोठी के बगीचे में भी समय देते थे और भैंस के चारे की भी व्यवस्था करते थे। इस प्रकार वे सब कामों में तारतम्य बनाए रखने की अद्भुत क्षमता रखते थे।

मैंने उन्हें एक बार डिप्थीरिया से सात दिन तक लड़ते और विजयी होते देखा था। उस दिन मुझे उन की इच्छा शक्ति का रहस्य समझ में आया था। उनकी इच्छा शक्ति बड़ी ही प्रबल थी। ऊपर से वे निरीह दिखते थे पर धुन के ऐसे पक्के थे कि कोई काम हाथ में लेकर अधूरा छोड़ना उन्हें पसन्द नहीं था। यही कारण है कि उन्होंने स्वतंत्र श्रमजीवी साहित्यकार रहकर भी जो लिखा खूब जमकर लिखा। 'साहित्य-सन्देश' के सम्पादक के नाते उन्होंने न जाने कितने छोटे-बड़े लेखकों को अपनी साधना के स्पर्श से लेखक बना दिया।

वे निन्दा-स्तुति से परे तो थे ही, दूसरों की आलोचना से भी अप्रभावित रहते थे। अन्याय के विरुद्ध वे अहिंसक लड़ाई भी लड़ते थे पर कटुता नहीं पालते थे। यही कारण है कि उनके प्रशंसकों की संख्या अधिक मिलेगी। चोटी के आलोचक और विद्वान होने पर भी वे कभी दम्भ अथवा अहँकार के शिकार नहीं हुए। उन्होंने विनम्रता का आँचल एक पल को भी न छोड़ा। संकीर्णताओं से वे एक दम मुक्त थे। उनकी उदारता के कारण एक बार जो उनसे मिला; सदा को उनका हो गया। वे स्व-पर के भेद से ऊपर उठ गये थे और उनके मन में सहानुभूति का अजस्र श्रोत प्रवाहित था।

हिन्दी में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के युग से लेकर प्रगति-प्रयोग के युग तक समान भाव से साहित्यिक जागरूकता बनाए रखने वाले ऐसे उदार आलोचक और प्रकाण्ड विद्वान् की स्मृति में मैं श्रद्धावनत हूँ।

—कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र।

सारस्वत-समाज के अमर सेवक—बाबूजी

डॉ० प्रभाकर माचवे

स्वर्गीय डाक्टर बाबू गुलाबरायजी पर मैंने विस्तार से एक अध्ययन मेरे ग्रन्थ 'समीक्षा की समीक्षा' में लिखा था, उसे आज छपकर दस वर्ष हो गये। बाद में 'हिन्दी निबन्ध' नामक मेरे एक दूसरे ग्रन्थ में बाबूजी पर एक परिच्छेद है। और मेरी छोटी पुस्तक 'हिन्दी-साहित्य की कहानी' में भी उनका उल्लेख है।

मेरा बाबूजी से व्यक्तिगत संपर्क बहुत कम आया। जब सन् १९३६-३७ में मैं आगरे में छात्र था, और 'साहित्य-सन्देश' शुरू ही हुआ था, तब जैन बोर्डिङ्ग हाउस में उनसे दो-चार बार मिलना याद है। वह याद धुँधली है। 'जैनेन्द्र के विचार' (प्रकाशन १९३७) को लेकर उनकी आलोचना की मेरी 'प्रत्यालोचना' साहित्य-सन्देश में छपी थी। बाद में दिल्ली रेडियो पर अक्सर (चूँकि वे रेडियो कार्य-क्रम सलाहकारी समिति के सदस्य थे) और इलाहाबाद रेडियो पर एकबार बाबूजी से भेंट हुई थी। उसे भी कोई बारह वर्ष बीत गये। इधर मेरा आगरे आना प्रायः नहीं-सा हुआ है, बाबूजी से भेंट भी कम हुई। उनके साथ पत्र-व्यवहार में मुझे उनका एक मार्मिक उपदेश अभी भी याद है। उन्होंने लिखा था—"तुम एक कोई लाइन पकड़ लो। पाठ्य-ग्रन्थ लिखो तो हिन्दी से आर्थिक लाभ सम्भव है, अन्यथा नहीं।"

मैं उनके सौम्य, विनम्र, अपने आपको शून्यवत् समझने वाले निरहंकारी व्यक्तित्त्व से बहुत प्रभावित था।

उनकी रचनाओं में 'नवरस' और 'पाश्चात्य तर्कशास्त्र' मैंने बहुत बचपन में पढ़ी थी। बाद में उनके लिखे सुबोध इतिहास का उपयोग विशारद, रस आदि परीक्षार्थियों को पढ़ाने में बहुत हुआ। अपने साथ गुलाबरायजी का यह सुबोध इतिहास भी मैं विदेश ले गया था। वह अमरीका में एक छात्र को दे आया। वह इतिहास एक बहुत ही उपयोगी चीज है। उसके अनेक संस्मरण साक्षी हैं। उसमें कहीं भी बाबूजी ने अपने मत देते हुए आत्यन्तिकता से काम नहीं लिया है। सब 'वादों' के गुणदोष गिनाते चले गये हैं। निष्पक्ष, तटस्थ शिक्षक की भाँति। निरतिवाद उनका जीवन सूत्र था।

हिन्दी समालोचना के क्षेत्र में बाबूजी ने कई शिष्य तैयार किये। वे न होते तो हिन्दी में सत्येन्द्र, नगेन्द्र, विजयेन्द्र आदि अनेक आलोचना प्रवरेन्द्रों का आविर्भाव न मिलता। उनके सभी शिष्यों या अनुयायियों ने उनकी अनाग्रही, अहिंसक वृत्ति आगे पूरी तरह अपनाई हो ऐसा नहीं दिखाई देता।

निबन्धकार के नाते बाबूजी का नर्म विनोद 'मेरी असफलताएँ' आदि का ही परिणाम है कि तबके स्केच लेखक प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि उनसे प्रभावित हुए। वह सारा जमाना ही कुछ 'इम्प्रेशनिज्म' का था—कविता में, निबन्ध में, आलोचना में। पर बाबूजी उस स्वयंनिष्ठता में डूबे नहीं रहे। भारतीय दर्शन के अध्ययन का मेरुदण्ड उनके पीछे था। इसलिये वे चुपचाप, अपनी सीमाओं का पूरा परिज्ञान लिए, सीमाओं में ही काम करते रहे। उन्होंने कभी लम्बे चौड़े दावे नहीं किये कि अब मम्मट के बाद हम ही हैं। इसलिए बाबूजी का स्थान हिन्दी सारस्वत-समाज में अमर रहेगा—एक अत्यन्त सहज, सरल सेवक के नाते।

—साहित्य एकाडेमी, नई दिल्ली।

बाबू गुलाबराय से मेरी आदिम भेंट

डॉ० महेन्द्रसागर प्रचण्डिया

किसी व्यक्ति के अस्तित्व में उसके व्यक्तित्व और कृतित्वपरक शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। यह प्रायः देखा गया है कि किसी को अपने कृतित्व पक्ष की उत्कृष्टता से समाज में मान और सम्मान मिला करता है तो कोई अपने आकर्षक व्यक्तित्व से समाज को प्रभावित किया करता है। प्रसन्नता की बात है कि बाबूजी के अस्तित्व में दोनों ही उपलब्धियों का समन्वय था।

मेरी बाबूजी से पहली भेंट कब हुई, इसका दिन-दिनाङ्क बताना तो कठिन होगा किन्तु यह तय है कि मुझे उनके कृतित्व पक्ष से पहले मिलने का अवसर मिला। मैं किसी साहित्य की परीक्षा की धुन में था और उस समय भाईश्री सुरेन्द्रसागर प्रचण्डिया स्थानीय सार्वजनिक पुस्तकालय के सभापति थे। साहित्य-सन्देश मँगाया गया, बाबू गुलाबरायजी उसके सम्पादक थे और वह हिन्दी का अकेला आलोचनात्मक पत्र था।

विद्यार्थी की व्यथा-कथा सुनने वालों में बाबूजी अपने समय के पहले और अकेले साहित्यकार थे। बड़ी-बड़ी पोथियों में जो ज्ञान भरा है उसका मन्थन कैसे किया जाय? परीक्षा के लिये सामग्री को कैसे सँजोया जाय? यह उस समय की एक प्रमुख समस्या थी। 'एक सरल और सुबोध अध्ययन' नामक बाबूजी के लेख 'साहित्य-सन्देश' के माध्यम से हिन्दी-साहित्य को नवीन देन कही जावेगी। इसके पश्चात् इस प्रणाली का इतना व्यापक प्रचार हुआ कि आज न केवल हिन्दी में अपितु हिन्दी तर विषयों में भी इन्हीं शीर्षकों पर बहुत कुछ लिखा गया है। बाबूजी के 'साहित्य-सन्देश' में प्रकाशित लेखों तथा टिप्पणियों के माध्यम से मेरी प्रथम भेंट कही जावेगी। एम० ए० में पढ़ते समय मैंने साहित्य-रत्न-भण्डार में उनके साक्षात दर्शन किये।

बाबूजी के व्यक्तित्व और कृतित्व में ये बातें प्रमुख रूप से विद्यमान रहीं और उन्हें इन तत्वों को वैशिष्ट्य प्रदान करने में अद्भुत सफलता मिली। वे दार्शनिक प्रथम श्रेणी के कहे जावेंगे। एक बार कॉलेज से पढ़ा कर सन्देश-कार्यालय तक बाबूजी किसी धुन में ऐसे तल्लीन थे कि उन्हें यह बताये जाने पर ज्ञात हुआ कि उनकी धोती की काँच जमीन पर घिसट रही है।

बाबूजी हमें हास्यकार के रूप में 'ठलुआ क्लब' में दिखाई पड़ते हैं। यह हास्य का प्रखार और निखार हमें उनकी 'मेरी असफलताएँ' नामक रचना में परिलक्षित होता है जिसमें विकट व्यंग्य और गम्भीर हास्य की सृष्टि की गई है और यह विशिष्टता है कि बाबूजी उसके स्वयं पात्र बने हैं।

बाबूजी का साहित्यिक मूल्याङ्कन वस्तुतः उनके निबन्धों के द्वारा किया जा सकता है। उनके निबन्धों में उनको समन्वयवादी दृष्टिकोण के दर्शन हो जाते हैं। निबन्धों की शैली में गजब का सन्तुलन है। यद्यपि उनकी शैली को द्विवेदी युगीन कहा गया है तथापि उस में नवीनता के दर्शन भी सहज ही में हो जाते हैं। निबन्ध-कला के वे उजागर कहे जाते हैं। समाज, दर्शन, साहित्य-विषयक निबन्ध बाबूजी की स्थायी धरोहर है। 'मेरे निबन्ध' नामक कृति में संग्रहीत निबन्धों में बाबूजी की बुजुर्गी प्रतिभासित होती है।

हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास बाबूजी का अद्भुत प्रयास है जो न तो किसी का संक्षिप्त रूप है और न अनुकरण मात्र। उसमें बाबूजी के अपने अध्ययन के दर्शन होते हैं।

बाबूजी हिन्दी-साहित्य में एक युग-निर्माता बनकर आये और अपने साथ युग की तमाम सम्पदा समेट कर चले गये। अब उनकी अमर कृतियाँ हीं उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का प्रतिनिधित्व करती रहेंगी।

—हिन्दी-विभाग, बारहसेनी कॉलिज, अलीगढ़।

श्रद्धेय बाबू साहब

डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र

श्रद्धेय बाबू गुलाबरायजी हिन्दी के उन मनीषी विद्वानों में थे जिनकी बहुमुखी प्रतिभा ने न केवल हिन्दी साहित्य के अनेक क्षेत्रों की श्रीवृद्धि की है किन्तु अनेक लोगों को साहित्य की श्रीवृद्धि के लिये स्पृहणीय प्रेरणाएँ भी दी हैं। सादे जीवन और उच्च विचारों के वे मूर्तिमन्त रूप ही थे। उनके दर्शनों का सौभाग्य मुझे एकाधिक बार मिल चुका है और पहिली ही भेंट में उन्होंने मेरे मानस-पटल पर अपना अमिट प्रभाव अङ्कित कर दिया जो उत्तरोत्तर विकसित ही होता गया। वे जब-जब मिले, अपनी निरभिमानी निश्छल वृत्ति की छाप लगाते ही गये। भारतीय संस्कृति का विशुद्ध रूप मानों उनमें केन्द्रित हो उठा था।

उनकी लेखनी ने जहाँ एक ओर गम्भीर चिन्तन की मुक्तामालिकाएँ गुम्फित कीं वहाँ दूसरी ओर विशुद्ध विनोद की सुमनाञ्जलियाँ भी तैयार कीं। दोनों का अपना-अपना माधुर्य और अपना-अपना मूल्य है और दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में महिमामय हैं।

हिन्दी का दुर्भाग्य है कि इस बीच हमारे अनेक महारथी दिवङ्गत हो गये जिनमें हमारे श्रद्धेय बाबू गुलाबरायजी भी थे। विश्वविद्यालय ने उनकी प्रतिभा का लोहा मानकर उन्हें 'डॉक्टर' की उपाधि अर्पित करदी थी परन्तु आत्मीयता के नाते वे हम सबके "बाबू साहब" ही विशेष रूप से रहे। उनके उठ जाने से मानों अपना सगा सम्बन्धी ही उठ गया। हिन्दी साहित्य की जो क्षति हुई वह असाधारण है किन्तु उससे भी बढ़ कर असाधारण वह क्षति है जो उनके विशाल सुहृद-परिवार की हुई है। विद्या और विनय के मणिकाञ्चन योग का एक साथ निर्वाह करके वाले तथा भारती को विचार और विनोद के सङ्गम में रससिक्त कराते रहने वाले नररत्नों की सदैव कमी रही है। उनमें भी ऐसे महापुरुष अत्यन्त दुर्लभ हैं जो विशाल मित्रमण्डली स्थापित करने में भी समर्थ रहे हों। श्रद्धेय बाबू साहब ऐसे ही महापुरुष थे।

उनकी पुण्यस्मृति में मेरी अनेकानेक विनम्र श्रद्धाञ्जलियाँ।

—अध्यक्ष, म० प्र० हिन्दी-साहित्य सम्मेलन।

(पृष्ठ ७५ का शेषांश)

करते थे। सभी प्रकार के षड्यन्त्रों और छल-कपट से वे दूर रहते थे।

लगभग पाँच वर्ष पूर्व मैं आगरा एक बार फिर गया था। तभी मुझे बाबूजी के अन्तिम दर्शन हुए। उनके आवास, "गोमती-निवास" में उनके दर्शन करने गया था। बाबूजी बहुत दुर्बल और वृद्ध हो गए थे। मधुमेह और रक्तपात जैसे भीषण रोगों से वे पीड़ित थे। एक दिन पूर्व ही बाबूजी के जन्म-दिवस की सभा उनके घर पर हुई थी। उनके चित्र पर फूलों की माला अभी टँगी थी। बाबूजी मुझसे बहुत प्रेम से मिले और चाय पीने का आग्रह करने लगे। मैं उनकी असुविधा के ख्याल से मना कर रहा था। इस वृद्ध साहित्यिक साधु को मन-ही-मन प्रणाम करके मैं लौट पड़ा। मुझे कोई अनुमान न था कि उनके पार्थिव व्यक्तित्व का यह मेरा अन्तिम दर्शन था। वैसे उनकी अनेक मधुर स्मृतियाँ इस प्रकार मन में बसी हैं कि इच्छा करते ही उनकी मूर्ति कल्पना में साकार हो उठती है। जिन्होंने बाबूजी के साथ जीवन के कुछ भी क्षण बिताए हैं, वे उन्हें कभी नहीं भूल सकते।

—विश्वविद्यालय, प्रयाग।

शोध-प्रेरक बाबू गुलाबराय

डा० किरणकुमारी गुप्त

पूज्य बाबूजी से मेरा साधारण परिचय तो सन् १६४२ से था किन्तु सन् १६४५ से मुझे उनके शोध-प्रबन्ध के प्रेरणा स्रोत के रूप के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त होता रहा है। शोध प्रबन्ध के विद्यार्थी के लिए विषय के चुनाव की समस्या सबसे कठिन होती है—बाबूजी के पास जैसे विषयों का अक्षय भाण्डार था। छात्र की रुचि, शक्ति और परिस्थिति के अनुसार वह विषय का ऐसा चुनाव कर देते थे कि न तो छात्र को असुविधा होती थी और न विषय दुरूह हो पाता था।

बाबूजी हिन्दी, अँगरेजी, संस्कृत और बँगला भाषा के विद्वान थे। दर्शन-शास्त्र और काव्य-शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे, सफल निबन्धकार और समालोचक थे। सन्तुलित, विचारक, मननशील चिन्तक और शुष्क दार्शनिक होने पर भी उनके हास्य और व्यंग्य की शीतल फुहारें शुष्कतम विषय को भी मधुर और सरस बना देती थीं। शोध-प्रेरक के रूप में उनकी इन विशिष्टताओं से विद्यार्थी को लाभान्वित होने का पूर्ण अवसर उपलब्ध हो जाता था। विषय की गहराई में जाने की उसे प्रेरणा मिलती थी और कई भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके अपने विषय को अधिक पुष्ट प्रामाणिक और सुरुचिपूर्ण बनाने की सुविधा होती थी।

शोध-प्रबन्ध के किसी भी छात्र के लिये यह सम्भव नहीं कि वह अपने विषय से सम्बन्धित प्रत्येक पुस्तक को क्रय कर सके। इस विषय में वे बड़े उदार थे। अपनी पुस्तकों में से कितने ही अमूल्य ,ग्रन्थ अत्यन्त सहृदयता पूर्वक उपयुक्त छात्र को देने में उन्हें तनिक भी सङ्कोच नहीं होता था। उनकी स्मरण-शक्ति इतनी तीव्र थी कि न जाने कहाँ-कहाँ से पुराने ग्रन्थों में से सामग्री खोज कर शोध-कर्ता को देते थे।

शोध-प्रेरक की सहानुभूति और संवेदना शोध-कर्त्ता के मस्तिष्क को शक्ति देती और हृदय को उत्फुल्ल करती है। लक्ष्य पर पहुँचने को उत्सुक किन्तु पथ-भूले एवं अन्धकार में टकराते शोधकर्ता के लिए शोध-प्रेरक की संवेदना अक्षय दीपशिखा का कार्य करती है। बाबूजी ऐसी ही दीपशिखा के आलोक थे जो अपने पास आये हुए प्रत्येक शोधोत्सुक छात्र के साथ पूर्ण सहानुभूति का व्यवहार करते थे। बहुधा विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित गाइड समयाभाव के कारण न तो अपने छात्रों को समय ही दे पाते हैं और न संवेदना ही। बेचारे विद्यार्थीगण कितनी ही बार उनके द्वार पर आकर निराशमना लौट जाते हैं, किन्तु बाबूजी तो जैसे परजन हिताय ही इस जगत् में आये थे। विश्वविद्यालय के निर्धारित शोध-प्रेरक न होने पर भी उनके द्वार से कोई शोध-कर्ता निराश नहीं लौटा।

शोध-प्रेरक पथ-प्रदर्शन तो कर देता है किन्तु शोध-कर्ता के निबन्धन को आकर्षक और शुद्ध स्वरूप देना कठिन होता है क्योंकि इसके लिये समय और सन्तोष की आवश्यकता होती है। बाबूजी की शरण में गये प्रत्येक शोध-कर्ता को यह सौभाग्य सुलभ और सहज था। वह अत्यन्त एकाग्रता से शोध-कर्ता के लिखित कार्य का प्रत्येक शब्द उसी के द्वारा सुनते थे, जहाँ परिवर्तन और परिवर्द्धन जरूरी होता था करा देते थे और अपने सुझाव भी देते जाते थे।

बाबूजी की समस्त प्रेरणा उन लोगों को भी प्राप्त हुई जिनके निर्देशक वह स्वयं नहीं अन्य प्राध्यापक होते थे। फिर भी उन्होंने प्रत्येक शोध-कर्ता को सरस और वात्सल्यपूर्ण भाव से ग्रहण किया समय पर सदा उपलब्ध रहे और पाँच मिनट का भी यदि उन्हें विलम्ब हो गया तो 'क्षमा कीजिए' के मधुर शब्दों से आगत प्राणी को ही लज्जावनत कर दिया। उनकी समस्त प्रेरणा स्वान्तः सुखाय अथवा 'परजन-हिताय' ही थी।

— आगरा कालेज, आगरा।

बाबूजी और मैं

श्री महेन्द्रजी

सन् १९३४ ई० में पहले पहल जब मैंने बाबू गुलाबरायजी को देखा—मैं उनके सरल स्वभाव और निश्छल वार्त्ता से ऐसा प्रभावित हुआ कि सदा के लिए उनका स्नेहपात्र और भक्त बन गया। बाबूजी ने भी अन्त तक वही स्नेह और सौहार्द मेरे प्रति प्रदर्शित किया जो बड़ा भाई अपने छोटे भाई के प्रति रखता है।

छतरपुर से लौट कर और सामान स्टेशन के पास छोड़ कर वे साहित्य-रत्न-भण्डार में मुझ से मिलने आये थे। तब तक मेरा उनसे कोई परिचय नहीं था। मैंने उन्हें कभी देखा भी नहीं था। पत्राचार भी कभी नहीं हुआ था। हाँ उनकी पुस्तकें 'शान्ति धर्म' और 'फिर निराशा क्यों' आदि मैंने जरूर देखीं थीं। उनका नवरस भी पढ़ा था। पहली पुस्तक सन् १९१९-२० में जब पहली बार छपी उसके प्रकाशक मेरे मित्र कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन ने मेरे पास जैसवाल जैन में समालोचनार्थ भेजी थी। मैं उन दिनों इस मासिक पत्र का सम्पादन करता था। उसकी नयनाभिराम छपाई तथा उच्च भावों को देखकर मैं मुग्ध हो गया। उसके पश्चात उनकी नवरस और दार्शनिक पुस्तकें प्रकाशित हुईं—उन्हें भी देखने का अवसर मिला।

आगरे में जब वे आए तो उनकी सरलता और साधुता के कारण उनसे स्नेह बढ़ता गया और उसी से प्रभावित होकर उनके रहने के लिए जैन बोर्डिङ्ग हाउस में वहाँ की आनरेरी वार्डन शिप का प्रबन्ध किया। कुछ ही वर्ष बाबूजी वहाँ रहे। विद्यार्थियों की उदण्डता के कारण उनका चित्त वहाँ अधिक नहीं लगा और उन्होंने अपना मकान बनवाने में जल्दी करके उसे छोड़ दिया।

बाबूजी की उस समय आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। केवल एक सौ रुपये छत्तरपुर राज्य से पेंशन के मिलते थे। उन्हीं दिनों सैण्ट जॉंस कॉलेज में एम० ए० की हिन्दी कक्षाएँ खुलीं। रेवरेण्ड सले प्रिन्सिपल थे। बाबूजी से वे प्रभावित थे, मुझ पर भी बड़ी कृपा रखते थे। रे० सले और प्रो० टण्डन से कह कर बाबूजी को वहाँ ऑनरेरी प्राध्यापक नियुक्त कराया। आनरेरियम था केवल पचास रुपये जो न कुछ था, किन्तु अपनी रुचि के अनुकूल काम मिलने से बाबूजी ने उसे अस्वीकार नहीं किया। बाबूजी के कारण कॉलेज की प्रतिष्ठा और बढ़ गई।

सन् १९३७ में मैंने साहित्य-सन्देश नाम से इस पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। बाबूजी से बढ़ कर सम्पादन के लिए मुझे कौन व्यक्ति मिल सकता था। बाबूजी ने इस आनरेरी काम को भी सहर्ष स्वीकार कर लिया। मैं उन्हें पाँच सौ रुपये साल से अधिक नहीं दे पाता था और वे उसे भी बड़े सन्तोष और प्रसन्नता से स्वीकार करते थे। बहुत लोगों ने बाबूजी को इस अल्प पारिश्रमिक के विरुद्ध कई बार भड़काया पर अपनी और मेरी लाचारी वे जानते थे, अतः कभी इस मामले में उन्होंने एक शब्द भी मुझसे नहीं कहा।

उनकी कई पुस्तकें भी मैंने छापी। इनमें एक को छोड़कर शायद सभी कापी रायट पर थीं। परन्तु कई वर्ष बाद यह आन्दोलन हुआ कि हिन्दी के प्रकाशकों को कापी रायट के बाद भी अगर पुस्तक विकने लगी हो तो उस पर रायल्टी देना चाहिए। बाबूजी ने अपनी ओर से इसकी माँग कभी नहीं की, स्वयं मैंने ही तब से बाबूजी की सब पुस्तकों पर रायल्टी देना शुरू कर दिया जो अभी तक दे रहा हूँ। वे ही क्यों, और भी कई अपने मित्र लेखकों के साथ मेरा ऐसा ही सम्बन्ध रहा।

१९३९ में आगरा में जब जबर्दस्त वर्षा हुई और २-३ दिन में २३ इंच पानी बरसा, तब बाबूजी का मकान क्षतिग्रस्त हो गया। उस सम्बन्ध में बाबूजी ने जो लेख 'नर से नारायण' लिखा, वह तो अविस्मर-

णीय हो ही गया, उसके साथ मेरा नाम भी उन्होंने स्मरणीय कर दिया। शायद यह उस सेवा का फल मुझे बाबूजी के द्वारा मिला जो मैं ग़रीब क्षतिग्रस्त लोगों की उस समय सैण्ट्रल रिलीफ कमेटी के मन्त्री के नाते से कर पाया था।

बाबूजी बड़े राष्ट्रीय विचार रखने वाले देशभक्त थे। लेकिन वे इतने निडर नहीं थे जो किसी आन्दोलन में भाग लेते। १९४२ के आन्दोलन में जब तोड़-फोड़ के काम चल रहे थे, आगरा के इनकमटैक्स कार्यालय में आग लगादी गई। आग लगाने वालों में एक अपने अध्यापक भी थे जो पैट्रोल की बदबू के कपड़ों के साथ वहाँ से भागकर बाबूजी के घर पहुँच गए। बाबूजी मन में तो घबराए पर उन सज्जन से बाबूजी ने कुछ नहीं कहा। वे स्वयं ही परिस्थिति की गम्भीरता समझ कर कपड़े बदलकर वहाँ से चले गए।

१९४७ में राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी को आगरा विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की उपाधि देकर सम्मानित किया। इसके कुछ वर्ष बाद बा० गुलाबरायजी को यह उपाधि मिले—इसकी चर्चा होने लगी। उन दिनों विश्वविद्यालय के उपकुलपति महाजन साहब थे। वे सैंट जॉन्स कालेज के प्रिंसिपल भी थे और बाबूजी उन दिनों भी वहाँ आनरेरी अध्यापक थे। महाजन साहब बाबूजी की विद्वत्ता और शील स्वभाव के कायल थे। वे चाहते थे कि बाबूजी को समादृत किया जाय पर वे अपने समय में यह इच्छा पूरी नहीं कर पाए। उनके बाद श्री कालिकाप्रसाद भटनागर उपकुलपति हुए। वे बाबूजी से ज्यादा परिचित नहीं थे पर मुझ पर बड़ी कृपा रखते थे। उनसे जब मैंने कहा तो वे राजी हो गए और मैंने डा० रे से एक्जीक्यूटिव कौंसिल में प्रस्ताव कराया और सब लोगों ने बड़ी प्रसन्नता से यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। १९५७ में विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में बाबूजी को उपाधि मिली और उसी दिन साहित्य-सन्देश के कार्यालय में हमने तत्कालीन शिक्षामन्त्री श्री पण्डित कमलापति त्रिपाठी की अध्यक्षता में आगरा के साहित्य-सेवियों और हिन्दी-प्रेमियों की ओर से बाबूजी का अभिनन्दन किया। उस समय श्री भटनागर के यह घोषणा करने पर कि वे आगे भी प्रतिवर्ष हिन्दी के एक विद्वान का अभिनन्दन करेंगे—सभी को बड़ा हर्ष हुआ। श्री भटनागर के कहे अनुसार १९५८ में श्री वृन्दावनलाल वर्मा को और १९५९ में कविरत्न पं० हरिशङ्कर शर्मा को विश्वविद्यालय की ओर से डी० लिट्० की उपाधि से सम्मानित किया गया।

इन उपाधियों के मिलने से सभी को बड़ी प्रसन्नता हुई। सभी ने विश्वविद्यालय की इसके लिए प्रशंसा की। परन्तु इस विशाल देश में ऐसे भी हिन्दी के एक पत्रकार निकल आए जिन्होंने बाबूजी को समादृत करने के लिए विश्वविद्यालय के अधिकारियों की भर्त्सना की, जिसे पढ़कर सभी को दुःख और आश्चर्य हुआ।

बाबूजी से मेरे बड़े ही निकट के सम्बन्ध थे। एक बार वे सख्त बीमार पड़ गये। उनके तीनों पुत्र उस समय पढ़ रहे थे। लड़कियाँ शादी को थीं। बाबूजी बड़े चिन्तित हुए, मुझे भी बड़ी चिन्ता हो गई, पर भाग्य अनुकूल होने से बाबूजी अच्छे हो गए और अब जब उनका शरीरान्त हुआ तो उनकी सब लड़कियाँ विवाहित और सब प्रकार से सन्तुष्ट थीं और तीनों लड़के भी सब तरह से सम्पन्न अवस्था में थे। मतलब यह कि उनकी बीमारी के समय हम लोगों को जो चिन्ताएँ थीं उनके निधन के समय उनका भरा-पूरा परिवार देखकर हमें खुशी थी कि बाबूजी अब शान्ति और सन्तोष के साथ जा रहे हैं। उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। भगवान ऐसा जीवन और ऐसा मरण सबको दे।

—साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

बाबू गुलाबराय को जैसा सुना समझा

श्री जगदीशचन्द्र शर्मा

इटावा नगर के छिपैंटी मुहल्ले में जन्म लेकर बाबू गुलाबराय ने जीवन यात्रा के अनेक सम्मानित स्थलों को पार करते हुए, किस प्रकार हिन्दी-साहित्य की साधना को अपने जीवन का चर्म लक्ष्य बनाया, यह गाथा आज पुरानी पड़ गई है। हिन्दी-साहित्य का कोई भी प्रेमी आज ऐसा नहीं रहा है जो बाबूजी के जीवन चरित्र एवं उनके क्रिया-कलापों का परिचय न प्राप्त कर सका हो। अतः इस समय उनका वर्णन करना केवल पिष्टपेषण करना, अथवा पुनरुक्ति करने वाली बात होगी। इस लेख में मैं केवल यह प्रदर्शित करने की चेष्टा करूँगा कि मैंने बाबूजी के विषय में क्या सुना और समझा है तथा जीवन में कभी भी उनका साक्षात्कार न करके भी किस प्रकार एकलव्य की भाँति उनके काल्पनिक चित्र को अपने हृदय मन्दिर में स्थापित करके उनसे अपने जीवन पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा लेता रहा हूँ।

सन् १९४८ में जबकि मैं श्रीभागवत राष्ट्रीय विद्यालय पटियाली एटा में कक्षा ८ का छात्र था। अपने आदरणीय गुरुदेव एवं प्रधानाचार्य श्री सोनेलालजी मिश्र से जिनका कि बाबूजी से कुछ सम्पर्क रहा था हिन्दी भाषा पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त कर सका। प्रथम श्रेणी का छात्र होने के कारण गुरुदेव की मुझ पर महती कृपा रहती थी तथा अपनी सुबोध, सरल एवं हृदयग्राही पाठन विधि के कारण हम लोगों के हृदय में उनके प्रति असीम श्रद्धा थी। उन्हीं की प्रेरणा से मेरे हृदय में बाबू गुलाबराय, रामचन्द्र शुक्ल, प्रभृत्ति हिन्दी साहित्य के प्रणेताओं के प्रति हार्दिक प्रेम बढ़ रहा था। तभी से हृदय का स्वाभाविक सम्मान बाबूजी के प्रति मुखरित हुआ। उनकी सम्पादित आलोचनात्मक मासिक पत्रिका 'साहित्य-सन्देश' ने भावना क्षेत्र में अभूतपूर्व परिवर्तन कर दिया। साहित्यिक एवं आलोचनात्मक निबन्धों की प्रेरणा से निबन्ध लेखन की प्रवृत्ति बढ़ी। साथ ही साथ हिन्दी-साहित्य के प्रति प्रेम भी बढ़ता चला गया। सन् १९५२ में मुझे श्री गांधी विद्यामन्दिर में अध्यापक होना पड़ा। 'साहित्य-सन्देश' के विद्यालय में आने पर भी मुझे उससे सन्तोष नहीं रहा। अपना अलग पत्र १९५२ से मँगाना प्रारम्भ किया। साहित्य सन्देश आत्मा में इतना रम गया था कि उससे किसी प्रकार से सम्बन्ध विच्छेद करना मेरे लिए असह्य जान पड़ता था। सम्पूर्ण पत्र पढ़ लेने पर ही भोजन रुचिकर लगता था। इस पत्रिका से ही मैंने साहित्यिक अध्ययन एवं हिन्दी भाषा से अपना अटूट सम्बन्ध स्थापित करने की प्रेरणा ग्रहण की। उनके ग्रन्थों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने दार्शनिक समालोचनात्मक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, बालोपयोगी अनेकों प्रकार की रचनाएँ की। किन्तु उनकी ख्याति एक सफल निबन्धकार के रूप में अधिक हुई। उन्होंने हिन्दी-साहित्य को जो आलोचनात्मक निबन्ध भेंट किये हैं वे हिन्दी की अमूल्य संरक्षणीय निधियाँ बनकर सदैव हिन्दी प्रेमियों का पथ प्रदर्शन करती रहेंगी।

बाबूजी की लोक प्रियता इसी से परिलक्षित होती है कि छोटी से छोटी कक्षा से लेकर उच्च से उच्च कक्षा तक साहित्य की कोई भी ऐसी पुस्तक न होगी जिसमें उनके किसी न किसी निबन्ध का संग्रह न किया गया हो अथवा उनकी रचना को स्थान न दिया गया हो। हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करने वाले अथवा उच्च परीक्षा देने वाले छात्र को बाबूजी की पुस्तकें ही नहीं अपितु उनके द्वारा सम्पादित "साहित्य-सन्देश" जितनी ठोस एवं उपयोगी सामग्री प्रदान कर सका है उतनी सामग्री किसी अन्य पत्र से प्राप्त कर लेना असम्भव है। आज भी साहित्य-सन्देश अपने ढङ्ग का अकेला ही पत्र है। यद्यपि बाबूजी नहीं हैं किन्तु उनके साथी श्री महेन्द्रजी बड़ी सतर्कता एवं कर्तव्य शीलता से इस कार्य को आगे बढ़ा रहे हैं। धारा में किसी प्रकार की बाधा या रुकावट नहीं आने पाई।

—हतौड़ावन (एटा

आलोचना

बीसलदेव रासो—सम्पा० डॉ० तारकनाथ अग्रवाल, प्रकाशक–हिन्दी-प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी। पृष्ठ २१३, मूल्य ६.०० ।

बीसलदेव रासो हिन्दी-साहित्य की अमर निधि है। इससे पूर्व इस ग्रंथ का कई विद्वान सम्पादन कर चुके हैं किन्तु डॉ० सुकुमार सेन तथा डॉ० चाटुर्ज्या के अनुसार उन सबसे यह ग्रन्थ कुछ विशिष्ट है। इस ग्रंथ की सर्व प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें सं० १६३३ वाली प्रति के सभी छन्दों को प्रामाणिक माना गया है तथा उनकी प्रमाणिकता के कारण दिए हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने उस प्रति के केवल १२८ छन्दों को ही प्रामाणिक माना है। इस ग्रंथ में जैसा कि सभी जानते हैं राजा बीसलदेव तथा उनकी रानी राजमती का वर्णन ही प्रमुख है। इसके कवि नरपति नाल्ह ने काव्यात्मकता को वर्णनात्मकता से कम महत्व नहीं दिया है। इस ग्रन्थ के सुधी सम्पादक ने अन्य प्रतियों के पाठ-भेद देकर हिन्दी-संसार का भारी उपकार किया है। इस प्रति के निकल जाने पर अर्थ-सम्बन्धी अनेक गुत्थियाँ सुलभ सकेंगी—ऐसी आशा है। हिन्दी-साहित्य के आदिम युग के अनेक ग्रन्थ अपने उद्धार की आशा में पड़े हैं। आशा है इस शृङ्खला को और आगे बढ़ाया जायगा तथा उनमें से अधिकांश को प्रकाश में लाया जा सकेगा। शोधकर्त्ता का श्रम स्तुत्य है। ग्रन्थ संग्रहणीय है।

कविता

परशुराम की प्रतीक्षा—ले०-दिनकर, प्रका०-उदयाचल, पटना। पृष्ठ ८०, मूल्य ३.००

चीन-भारत सीमा सङ्घर्ष को लेकर लिखी गई दिनकरजी की १८ कविताओं का यह संग्रह वर्त्तमान के नवीन सङ्घर्षों को प्रस्तुत करता है। भूमिका में कवि ने कविताओं की पृष्ठभूमि तथा नेफा से भगवान परशुराम के पौराणिक सम्बन्ध को स्पष्ट करके पुस्तक के नाम की सार्थकता प्रतिपादित की है। जहाँ तक इस पुस्तक में संग्रहीत गीतों का सम्बन्ध है उनमें तीन पुराने तथा पन्द्रह नए हैं। सामयिक तत्त्व की प्रधानता तथा शाश्वत तत्त्वों की गौणता इस संग्रह की विशेषता है। संग्रह की प्रथम कविता 'परशुराम की प्रतीक्षा' तथा 'अहिंसावादी का युद्ध गीत' की विचारधारा अत्यन्त भ्रामक तथा मोह युक्त है। इसमें गीता की अहिंसात्मक व्याख्या करने वालों तथा तकली पर सूत कातनेवाले अहिंसावादी गान्धी-अनुयायियों का मखौल उड़ाया गया है और कहा गया है कि वे कायरता सिखाते हैं। यह भ्रामक मान्यता निम्न पंक्तियों में दृष्टव्य है—

गीता में जो त्रिपिटक—निकाय पढ़ते हैं,
तलवार गलाकर जो तकली गढ़ते हैं;

शीतल करते हैं अनल प्रबुद्ध प्रजा का,
शेरों को सिखलाते हैं धर्म अजा का।

अहिंसा का सिद्धान्त कायरता का न होकर सच्ची वीरता का है। वीरता बिना भीतरी दृढ़ता के नहीं ठहरती। अहिंसा को कायरता मानना अहिंसा को न समझ पाने का ही परिणाम कहा जा सकता है, जो तलवारों से ही सूत कातना चाहते हों, कटारों से खेत जोतना चाहते हों, उन्हें दिनकरजी की इन पंक्तियों से अवश्य प्रेरणा मिलेगी। कवि को चिन्ता है कि देश के नेता शान्ति-चिन्तन क्यों करते हैं—अशान्ति चिन्तन क्यों नहीं करते ? कवि और कलाकार अपनी कलाकृतियों में कल्पना का समावेश क्यों कर देते हैं ? वे 'उर्वशीकार' के समान यौन के द्वारा ही स्वर्ग की सीढ़ी क्यों नहीं खोजते ? महात्मा गान्धी कायरता की अपेक्षा हिंसा को श्रेष्ठ मानते रहे—इस तथ्य को यहाँ भुला दिया गया है। युग यथार्थ का जो दूसरा पहलू यहाँ चित्रित किया गया है वह यथार्थाधारित होने के कारण मान्य है राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए दिए गए दान की सूची देखकर निम्न कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है—

बलिवेदी पर बालियाँ-नथें चढ़ती हैं,
सोने की ईंटें, मगर, नहीं कढ़तीं हैं।

कवि भ्रष्टाचार, आलस्य, प्रपञ्च, कपट, जाल, हड़ताल, काहिली आदि को इस सङ्घर्ष युग के लिए विशेषरूप से हानिकारक मानता है और इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं कि हमें श्रम, निष्ठा, आस्था, कर्मठता, त्याग, अटल सङ्कल्प, नीतिमत्ता, निर्भयता, विपत्ति का सामना करने की शक्ति तथा बलिदान स्वीकार करके आगे बढ़ना चाहिए तभी हमारा तथा जगत् का कल्याण हो सकता है। कवि अनीति करने वाले शक्ति पिण्डों तक को चेतावनी देता है—

हो जहाँ कहीं भी अनय, उसे रोको रे!
जो करें पाप शशि-सूर्य उन्हें टोको रे!

वीरता और ओज से परिपूर्ण यह कविता अमिट विजय की भावना से ओत-प्रोत है। समाज की विषमता और वर्गवाद का विरोध करता हुआ कवि अपना आक्रोश प्रकट करता है। उसकी व्यंग्यमयी वाणी कितनी सशक्त है ?

गमलों में हैं जो खड़े, सुरम्य सुदल हैं,
मिट्टी पर के ही पेड़ दीन-दुर्बल हैं।
जब तक है यह वैषम्य, समाज सड़ेगा,
किस तरह एक होकर यह देश लड़ेगा ?

चार खेमे चौंसठ खूंटे—ले०-बच्चन, प्रका०-राजपाल एण्ड संस, दिल्ली। पृष्ठ २०२ मूल्य ४.००

बच्चनजी इधर जो लोकगीतों की धुनों को अपने गीतों में साकार करने लगे हैं उनसे हिन्दी कविता में प्रयोगवादी लोगों को यथेष्ट परेशानी हो गई है। क्योंकि अब तक प्रयोग का सहारा उन्हीं के माथे था। बच्चन के इन गीतों में लोक संगीत के साथ ही साथ लोक शब्दावली तथा लोक-यथार्थ का जो अपूर्व संयोग है। उससे इन गीतों का अपना विशेष महत्व है। इस संग्रह में चौंसठ कविताएँ हैं, जिन्हें स्वयं कवि ने अपनी भूमिका में चार वर्गों में विभाजित करना स्वीकार किया है। इन गीतों में नए युग का परिवेश तथा नवीन समस्यायें स्वीकृत हुई हैं। जिन्हें कहीं सीधी-सीधी और कहीं प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मिल सकी है। जहाँ कहीं प्रतीकों का प्रयोग है वे अपने में सरल और सहज तो हैं किन्तु व्यंग्यार्थ को स्पष्ट करने में वे उतने ही दुरूह बन गए हैं, जैसे 'वर्षाऽमंगल' कविता। लय, मधुरता कोमल शब्दावली तथा सङ्गीतात्मकता की दृष्टि से इस संग्रह का विशेष महत्व है।

अन्तरध्वनि—ले० 'साथी' प्रका०-साहस बुक डिपो, मुंगेर। मूल्य १.७५

गद्य गीतों का यह संग्रह हृदय के अनेक उतार-चढ़ावों की भावभीनी कलात्मक अभिव्यक्ति है। इसमें गद्यकार ने अपने हृदयगत भावों को प्रमुखता दी है तथापि भौतिकता किसी न किसी प्रकार मुखर हो गई है। शिल्प में अभी और विकास होगा ऐसी आशा है।

उपन्यास

ये जाने अन जाने—ले०-छेदीलाल गुप्त, प्रका०-राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ ११२, मूल्य २.२५

इस उपन्यास में कमल और सरोज को आधार

बनाकर यह दिखाया गया है कि जिन व्यक्तियों में प्रेम हो जाता है समाज अनेक बन्धन उत्पन्न करके उन्हें विवाह पाश में नहीं बँधने देता है और जिस प्रकार की परिस्थितियाँ सामने आती हैं उनमें हम अपरिचितों या अनपेक्षितों के साथ विवाह करने को मजबूर होते हैं। वे विचारे एक प्रकार adjustment बनकर ही सफल होने का ढोंग रच पाते हैं और इसके अभाव में तो यह ढोंग भी असफल हो जाता है। फिर उभय-पक्षीय विकास और प्रेम का आधार मानकर चलने वाली दाम्पत्य भावना इससे कैसे पल्लवित हो सकती है ? वह तो एक मृगमरीचिका मात्र बनकर रह जाती है। इन विवादों के पात्र व्यक्तिगत अहं, कुण्ठा तथा संस्कारों के कारण अपनी-अपनी सीमा देखा खींच लेते हैं और उन सीमाओं से आगे जाना अनुचित समझ कर—घोंघे बन कर जीवित रहते हैं। इस उपन्यास के पात्रों ने भी अपनी सीमाएँ खींचली हैं और उन्हें उनसे बाहर देखने की फुरसत नहीं है। शिल्प की दृष्टि से यह जितना मार्मिक है उतना ही दुरूह और सामान्य पाठक के लिए असम्बद्ध है।

महामात्य माधव—लेखक–गुणवन्तराय आचार्य, प्रकाशक–वोरा एण्ड पब्लिशर्स प्राईवेट लि०, बम्बई। पृ. २०६, मू. ५.००

विजयनगर उपन्यासमाला की एक सशक्त कड़ी के रूप में यह उपन्यास लिखा गया है जिसमें विक्रम संवत् की पन्द्रहवीं शताब्दी के मदुरा राज्य की राजनैतिक उथल-पुथल मुख्यतः कथावस्तु के रूप में स्वीकृत हुई है। इस उपन्यास में इतिहास और कल्पना के समन्वय द्वारा जिस ऐतिहासिक यथार्थ का सृजन किया गया है वह निश्चित रूप से अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। घटनाएँ और पात्र अंशतः ऐतिहासिक हैं। जिनकी सहायता से ऐतिहासिक वातावरण बनाने में लेखक को अभूतपूर्व सफलता मिली हैं। जब दिल्ली की गद्दी पर मुहम्मद तुगलक बैठा तो मदुरा के सूबेदार ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया और उसके ऐसा करते ही वहां कत्लों और गद्दी के हथियाने की जो लोमहर्षक घटनाओं की शृङ्खला चली उसमें सूबेदार जलालुद्दीन, अमीरतास; गयासुद्दीन, बल्लालदेव तृतीय, नासिरुद्दीन आदि को मृत्यु मुख में झोंका गया और अन्त में गयासुद्दीन दमगानी गद्दी पर बैठा। उपन्यास रुचिकर है तथा पाठकों की जिज्ञासा उभारने में पूर्ण समर्थ है।

हृदय का काँटा—ले०–तेजरानी पाठक, प्रका० नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली। पृ० २००, मू० ३.००

आकस्मिक, अस्वाभाविक तथा संयोग प्रधान घटनाओं पर आधारित यह सामाजिक उपन्यास ध्वस्त सामंत युगीन विधवा समस्या पर प्रकाश डालता है। विषय पुराना है तथा चरित्र-चित्रण अविश्वसनीय है। ऐयारी उपन्यासों का लखलखा इसमें क्लोरोफार्म की शीशी बन गया है और प्रतिमा को प्रमोद बनने के लिए नकली मूँछों की आवश्यकता नहीं पड़ी है। सस्ते रोमांस, यात्रा तथा डाकुओं की जीवन चर्या बच्चों के खेल सी दिखाई गई है। पाठक प्रारम्भ से अन्त तक कहीं भी रम नहीं पाता है। घटना वैचित्र्य ही यदि उपन्यास होता है तो इसे एक सुन्दर उपन्यास कहना चाहिए।

न मीत न मंजिल—ले०–रेवतीशरन शर्मा, प्रका०-नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। पृ० २३४, मू० ५.००

आज के विघटनवादी युग का एक चित्र इसी उपन्यास में दिया गया है। नायिका एक ऐसी कुमारी लड़की है जो सभ्यता की बाहरी तड़क-भड़क की ओर आकृष्ट है और उसकी ओर तेजी से बढ़ती है किन्तु उसे पाने के लिए जिस श्रम, निष्ठा तथा धैर्य की अपेक्षा होती है। वह उस सबसे बचना चाहती है और कम से कम समय में अधिक से अधिक को पाने वाली लड़कियों की भद्दी नकल करके अपने को गिरा लेती है। कुछ समय अपने और अपने घर वालों को धोखा देकर वह समझती है कि मैं बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही हूँ तथा मेरा पथ प्रशस्त हो रहा है किन्तु जैसे ही सौन्दर्य का प्रथम उबाल ठंडा होता है, वह अपने को एक ऐसे कगार पर खड़ा पाती है जिसके एक ओर वेश्यावृत्ति है और दूसरी ओर निराशा, भीख तथा आत्महत्या आदि। आशा की सड़क सामने जाती तो दीखती है किन्तु वह सीधे मार्ग से कभी बढ़ी ही नहीं

थी, वह उसे दुर्गम समझती रही थी। अतः उसका साहस उस ओर बढ़ने को तैयार नहीं होता। उपन्यासकार यहीं आकर कथा को छोड़ देता है। जीवन का एक चित्र देने का प्रयास किया है किन्तु यह चित्रण बहुत कुछ सत्य ही तथा उपन्यासकार द्वारा निश्चित नियमों के इर्द गिर्द घूमने वाला है। न कथानक में मनोवैज्ञानिक मार्मिकता है और न चरित्रों के अनेक पहलुओं का उद्घाटन, चरित्र स्थिर है, उनमें गतिशीलता नहीं आ पाई है। उपन्यास में सरकारी दफ्तरों में रहने वाले वातावरण का अच्छा चित्रण है तथा पाठकों की दिलचस्पी अन्त तक बनी रहती है।

तूफान और एक जिन्दगी—ले०—मामा वरेरकर, प्रका०—राजपाल एण्डसन्स, दिल्ली। पृष्ठ १७०, मू० ३.००

मामा वरेरकर सामाजिक प्रश्नों को आधार बनाकर स्वाभाविक परिस्थितियों के आधार पर श्रेष्ठ उपन्यास लिखते हैं। इस उपन्यास की नायिका नरगिस नामक एक पारसी लड़की है जो आज के वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रतीक है। धर्म, रूढ़ि, परम्परा तथा देश आदि की सीमाओं से ऊपर उठी हुई है। गोविन्द सप्रे नामक युवक भावनाओं तथा श्रद्धायुक्त कोमल वृत्तियों को आधार बनाकर चलने वाला आई० सी० एस० अधिकारी है, जो अब तक एकाङ्गी मार्ग पर चलकर सारे जगत् को एक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से देखने का आदी रहा है। नरगिस और गोविन्द एक दूसरे के पूरक बन कर अपना गृहस्थ बनाने को उतावले हैं किन्तु तत्कालीन देश और समाज की परिस्थिति उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करती है और नरगिस व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों में से किस प्रकार के जीवन को स्वीकार करे, इस द्वन्द्व में फँस जाती है। सप्रे के सम्पर्क में एक महाराष्ट्रीय सरदार की पुत्री आती है किन्तु जब यह भेद खुलता है कि सप्रे एक मुसलमान महिला का पुत्र है, जिसे वह अनाथाश्रम में छोड़ गई थी तो सरदार पुत्री उससे विवाह करने में अचकचाने लगती है और जब गोविन्द अपने पद से त्यागपत्र दे देता है तब तो वह विवाह न हो जाने के लिए अपने को धन्य समझने लगती है। उसका दृष्टिकोण शुद्ध आर्थिक तथा पद लोलुपता प्रधान है। नरगिस गोविन्द की नौकरी और पद को अपने और उसके बीच का बन्धन मानती थी अतः यह स्थिति परिवर्तन उसे गोविन्द के और नजदीक ले जाने वाला सिद्ध हुआ है। गोविन्द की माँ रमाबाई का चरित्र सजीव मातृत्व ही है जिसके सम्पर्क ने नरगिस और गोविन्द को और भी आसानी से एक दूसरे को समझने में सहायता दी है।

दिवोदास—ले०—राहुल-सांकृत्यायन, प्रका.—किताब महल, प्रा० लि०, इलाहाबाद। पृष्ठ १४६, मू. ३००

दिवोदास राहुलजी का ऋग्वैदिक कालीन घटनाओं पर आधारित उपन्यास है। इस उपन्यास में उस काल की परिस्थितियों का इतिहासानुमोदित काल्पनिक वर्णन है। पात्र, प्रार्थनाएं आदि वेदों से लेकर उसे अधिकाधिक प्रामाणिक बनाया गया है। इस ग्रन्थ को पढ़ने से कुछ प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठते हैं और ऐसा लगता है जैसे स्वर्गीय राहुलजी को भी उन प्रश्नों से उलझना पड़ा है। वे प्रश्न हैं जैसे समाज-व्यवस्था का आर्थिक आधार कहाँ तक स्वीकार्य है ? यद्यपि ऊपर से तो यही दिखाई देता है कि मार्क्स की मान्यता को स्वीकृति देने के लिये इतिहास की औपन्यासिक व्याख्या इसमें दी गई है, किन्तु जरा गहराई से देखने से यह प्रतीत होता है कि युद्ध-संघर्ष और वर्णों के बीच चलने वाले वैषम्य का कारण बुद्धि और श्रम का विभाजन है। दिवोदास जब जुआ खेलने को बुरा कहता है, उसे दण्डनीय अपराध घोषित करता है तथा युद्ध आदि के समाजव्यापी निर्णय लेता है तो वस्तुतः इन निर्णयों के पीछे उस वर्ग की बुद्धि के स्थान पर ऋषि की बुद्धि ही काम करती दिखाई देती है, ऋषि उन सब कामों का आदेश देता है जो समाज को भौतिक श्रीवृद्धि की ओर ले जायें तथा समाज व्यवस्था की रक्षा हो सके। इस उपन्यास में समाज की ऊपरी सतह पर चलने वाले संघर्ष की भीतरी तहें भी स्पष्ट की जातीं तो इसमें अधिक गहराई आ जाती और मानवीय सांस्कृतिक चेतना के विकास पर प्रकाश पड़ सकता।

रंग का पत्ता—ले० अमृता प्रीतम, प्रकाशक—राजपाल एण्ड संस, दिल्ली। पृष्ठ १४४, मू० ३.००

कैली और मितरो दो सखियाँ थीं। कैली को कोई पति न मिला और मितरो अपने मीत को महत्त्व न दे पाई। दोनों की शादियाँ हुईं और असफल हो गईं। संघर्षों के बाद दोनों फिर अपने प्रेमियों से मिलीं—यही परम्परागत कहानी इस उपन्यास का भी आधार है, जिसमें पञ्जाबी समाज के रीति-रिवाज का परिवेशात्मक चित्रण है। इस उपन्यास की लेखिका ने जान बूझकर भाषा में पञ्जाबीपन लाने का प्रयास किया है। ये प्रयोग कहीं-कहीं बहुत भद्दे लगते हैं—उपन्यास में घरेलू वातावरण तथा प्रेम, विरह और मिलन की कथा प्रभावोत्पादक है। इसमें यथार्थ की अपेक्षा कल्पना का आश्रय अधिक लिया लगता है, जो कथा साहित्य के लिये सर्वाधिक हानिकारक सिद्ध होता है। कथा का आधार तो यथार्थ ही होना चाहिए। भावुकता-पूर्ण रूमानी वातावरण प्रधान होने के कारण इससे ठोस वैचारिक स्तर की अपेक्षा नहीं की जा सकती। दिलचस्पी बनाये रखने में यह उपन्यास पूर्ण सफल है।

भागते किनारे—ले० उदयराजसिंह, प्रका०—अशोक प्रेस, पटना। पृ० ३०१, मू० ४·००

प्रेम वियोग तथा नारी जीवन की विविध समस्याओं से पूर्ण यह उपन्यास सामाजिकता को प्रधानता देकर चला है। इसमें माला नामक नारी की किशोरावस्था से लेकर वैधव्य की अनेक विपदा भरी स्थिति तक का चित्रण है। उपन्यास का नायक अजीत उसका प्रेमी है। जिसे परिस्थितियों ने माला के अतिरिक्त अन्य नारी से विवाह करने को बाध्य किया और जीवन भर माला का सानिध्य पाने को तड़पता रहा। दूसरी ओर माला भी किसी प्रकार विवाह करके गृहस्थ बसाने में समर्थ तो हुई किन्तु अपने पति को वह सब कुछ न दे पायी, जिसकी अपेक्षा उसने की थी। वह टी० बी० में घुलकर मर गया तो माला के वैधव्य की सङ्घर्ष गाथा प्रारम्भ हुई। इसमें उस स्कूल-मैनेजर की लालसा भरी चेष्टा मुख्य है, जिस में माला ने अध्यापिका बनकर अपना शेष जीवन बिताने तथा अपने दो बच्चों का पालन करने का निश्चय किया था। अजीत ने जब उसे अपने मिल में नौकरी दिलानी चाही तो समाज ने इसे भी स्वीकार न किया। अन्त में वह अपने हाथों अपना भाग्य बनाने को विवश करदी गई। कह सकते हैं कि अपनी विधवा माँ के चरण चिन्हों पर चलना ही उसके लिए एक मात्र रास्ता रह गया। आज की विधवा समस्या तथा समाज द्वारा प्रेम-विवाहों को अस्वीकार करने की मनोवृतियों पर करारे व्यंग्य किए गये हैं। उपन्यास में साहित्यिकता तथा यथार्थ का सुन्दर संयोग है। पाठक अन्त तक पढ़ता चला जाता है और उसे ऊब नहीं होती। कथोपकथन सहज और हृदयगत भावों को सफलता पूर्वक प्रकट करने में समर्थ है।

आँसू की मशीन—ले०—केशवचन्द्र वर्मा, प्रका०—किताब महल, प्रा० लि०, इलाहाबाद। पृष्ठ १६२, मूल्य ३.००।

अच्छे व्यंग्यकारों की हिन्दी में प्रारम्भ से ही कमी रही है और आज तक यह अभाव बना हुआ है। वर्माजी उत्कृष्ट कोटि के व्यंग्यकार हैं। वे भी कृश्नचन्दर की तरह अपनी कल्पना से प्रतीकात्मक शैली में समाज की वर्तमान दशा का विद्रूपात्मक चित्र देते हैं और इन चित्रों में होती है अनुभूतियों की ऐसी व्यंजना जो सबकी होते हुए भी सबसे कुछ निरालापन रखती हैं। सहजता को वे छोड़ते भी नहीं और वैचित्र्य को बनाए भी रखते हैं। एक विशिष्ट प्रकार की द्वन्द्वात्मक स्थिति के दर्शन उनकी रचनाओं में होते हैं जो मानव-मन को छूकर प्रभावित करती है। प्रस्तुत पुस्तक में एक बैङ्क के बाबू की ऊबी हुई मध्यवर्त्ती जिन्दङ्गी का गहरा चित्र है और उस पृष्ठ भूमि में उसके एक दिवास्वप्न का विस्तृत वर्णन है जिनमें आज के आन्दोलनों, पार्टियों, असेम्बली, विदेशनीति, दलगत राजनीति आदि पर अच्छा व्यंग्य किया है। आज की नारी के अनेक रूप भी दिखाए गए हैं और बताया गया है कि यह किस प्रकार मध्यवर्ग और उच्च मध्यवर्ग में विभिन्न समस्याओं का कंदुक बनी हुई है। एक ओर उसे दिन रात आर्थिक चिन्ता और पारिवारिक कलह की समस्याओं से जूझना पड़ रहा है तो दूसरी ओर उसे उठाने वाली बँधी बँधाई जिन्दगी तथा वाह्याडम्बर के स्वाँग नचाये हुए हैं। इसी प्रकार की अनेक समस्याएं

प्रस्तुत करने में लेखक सफल हुआ है। वर्माजी यदि भाषा को चुस्त, व्यंग्य की धार को तेज़ और समस्याओं के बहुविधि रूप तक पहुँचने की क्षमता को और गहराई देंगे तो विश्वास किया जा सकता है कि उनकी व्यंग्य रचनाएँ अधिक सशक्त होंगी।

फूलों की टोकरी—ले०—क्रिस्टॉफ कैनडिमड (रूपा० द्रोणवीर कोहली) प्रका०—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली। पृष्ठ ८०, मूल्य १.५०

जर्मन लेखक के एक बाल उपन्यास का यह भारतीय रूपान्तर अत्यन्त रोचक तथा शिक्षाप्रद है। इसमें आवश्यक चित्रों द्वारा कल्पना को साकार करने की दिशा में एक सुन्दर प्रयास किया गया है। बच्चों और किशोरों की पठनीय सामग्री देने की दिशा में यह एक सफल प्रयत्न है।

कहानी

एक छोड़ एक—ले०—रांगेय राघव, प्रका०—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृ० १६४, मू० ३.१०

स्व० डॉ० रांगेयराघव की कहानियों के इस संग्रह में बारह कहानियाँ हैं। इन कहानियों में मध्यवर्गीय तथा निम्नवर्गीय समाज के विभिन्न प्रश्नों को मूर्तिमान किया गया है। इन कहानियों में आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ प्रधान रूप से चित्रित हुई हैं। लेखक ने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से वर्तमान समाज को देखा है और उसे जो कुछ भी मार्मिक तथा संवेदनीय मिला है उसे अपनी कल्पना शक्ति तथा व्यंग्य से संयुक्त करके कहानियों के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। प्रथम कहानी में आज के समाज की मध्यवर्गीय संस्कृति में व्याप्त कायरता तथा कर्तव्य विमुखता पर करारा व्यंग्य है। इसी प्रकार दूसरी कहानी में भिखारियों, श्रमिकों की आर्थिक समस्याओं, दयनीय स्थितियों तथा युद्धकालीन राशन, अकाल आदि समस्याओं का यथार्थवादी अङ्कन है। पुस्तक की अन्य कहानियों में ऐतिहासिक सत्य, समाज के अन्य वर्गों की समस्याओं आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। कहानियों में एक विशेष प्रकार की रोचकता है, चित्रण की वैविध्यपूर्ण शैली है और है स्थितियों और पात्रों को ऐसे यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने की कला जो हमें चेखव की याद दिला देती है।

गंगा की लहरें—ले०—राजेन्द्र अवस्थी तृषित, प्रका०—भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली। पृष्ठ १६३, मू० ३.५०

प्रस्तुत कहानी संग्रह ग्रामीण प्रश्नों और रङ्गीनियों को साकार प्रस्तुत करता है। शहरी जीवन के चित्र जैसे गहरे नहीं पैठ पाए हैं जैसे कि ग्रामीण और सम्भवतः इसका कारण यह है कि कहानीकार का मन स्वयं शहरी जीवन से असम्पृक्त बन रहा है। दूसरी बात है जीवन में अटूट आस्था जो सभी कहानियों में झलकती है। आज के अनास्थावादी युग में इस प्रकार की कहानियाँ अपनी अलग स्थिति बनाए रखेंगी—ऐसा विश्वास इस संग्रह को देख कर होता है। जीवन की व्यापकता के अनेक विधि चित्र इन कहानियों में हैं जिनमें दो चोटी : दो रिबिन जैसी हास्य-व्यंग्यपूर्ण कहानियाँ भी हैं। शैली शिल्प की दृष्टि से नई कहानी बहुत आगे निकल गई है और यह संग्रह उस प्रतियोगिता में नहीं ठहर पावेगा किन्तु शिल्प के पीछे जो तथ्य है, वस्तुतः मूल्य तो उसीका होता है। इन कहानियों में संवेद्य की ऋजुता है।

नाटक

छपते-छपते—मिहेलसँवेस्शियन, (अनु० विनोद रस्तोगी) प्रका०—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली। पृष्ठ १७३, मूल्य ३.००

रूमानियन भाषा के प्रसिद्ध नाटक 'स्टापन्यूज' का यह अनुवाद मार्क्सवादी समाज क्रान्ति से पूर्व की समाजदशा का चित्र प्रस्तुत करता है। इसमें पतनोन्मुखी समाजदशा का चित्र दिया गया है। इस नाटक में हास्य-व्यंग्य का आधार प्रमुख रूप से लिया गया है जिसमें दिखाया गया है कि व्यवसायी भ्रष्ट और बेईमान हैं, सम्पादक दूसरों की निन्दा पर पलते हैं तथा सरकार के मन्त्री, पूँजीपतियों के इशारों पर नाचते हैं और इस प्रकार निरीह जनता का शोषण होता है। व्यंग्यमय स्थिति तब पैदा होती है जब कि एक सामान्य प्रोफेसर की सच्ची बातों से ये घबरा जाते हैं और उसे वे अपने से भी अधिक धूर्त, चालाक और कपटी समझने लगते हैं। नाटक समस्या को उभार

कर सामने लाता है और उसे शक्तिशाली अभिव्यञ्जन-शिल्प द्वारा प्रस्तुत करता है।

चित्रांगदा—(मू० ले० रवीन्द्रनाथ टैगोर) अनु०-शङ्करदेव विद्यालङ्कार, प्रका०-राजपाल एण्ड संस, दिल्ली। पृ० ९७, मूल्य २.००

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ललित नाटिका चित्रांगदा के अनुवाद के अतिरिक्त इस पुस्तक में अन्य चार संवाद भी दिये गए हैं। कच जब शुक्राचार्यजी से शिक्षा प्राप्त करके स्वर्ग लौटता है तब देवयानी से उसका जो मार्मिक वार्तालाप हुआ है वह तथा छल पूर्वक जुए में पाण्डवों की सम्पत्ति जीतने वाले पुत्र की माता का धृतराष्ट्र के प्रति निवेदन अत्यन्त ही मार्मिक शैली में अङ्कित हुए हैं। इनके साथ ही महाभारत काल में कुन्ती द्वारा अपने पुत्र कर्ण को उसके जन्म की कथा से अवगत कराना एवं स्वर्ग जाते हुए महाराज सोनक का नरक में पड़े अधम ब्राह्मण के प्रति करुणा एवं त्याग दिखाकर नर्क में रुक जाने का निर्णय ऐसे मर्म-स्पर्शी कथानक हैं जिन्हें ठाकुर की कला ने निखार दिया है।

जीवनी

श्री ब्रह्म गुलाल चरित—ले०-कविवर छत्रपति, सम्पा०-बनबारीलाल स्याद्वादी, प्रका०-जैन-साहित्य-प्रकाशन संस्था, दिल्ली। पृ० २४०+२२, मू० ५.००

ब्रह्मगुलालजी आगरा जिले के निवासी थे जिन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की थी। उनके चरित्र को छत्रपतिजी ने सं० १९०९ में लिखा, जो अब इस रूप में हिन्दी जगत् के समक्ष लाया गया है। विद्वान् सम्पादक ने अनेक कृतियों द्वारा पाठ संशोधन करके इसे यह रूप प्रदान किया है जिससे उसके साहित्यिक सौन्दर्य का समुचित मूल्याङ्कन हो सके। आशा है इसी प्रकार प्राचीन ग्रन्थों का उद्धार करने में सम्पादकजी लगे रहेंगे।

स्फुट

हमारे जल पक्षी—ले०-राजेश्वरप्रसाद नारायण-सिंह, प्रका०-प्रकाशन-विभाग, भारत-सरकार। पृ० ८७, मूल्य २.५०।

भारतवर्ष के जल पक्षियों पर अभी तक कोई सचित्र आधिकारिक पुस्तक नहीं थी जिसके द्वारा विद्यार्थियों, जिज्ञासुओं तथा सामान्य पाठकों को सरल भाषा में इस विषय की अच्छी जानकारी प्राप्त हो पाती।

प्रस्तुत पुस्तक द्वारा इस कमी की यथेष्ट सीमा तक पूर्ति हुई है। पुस्तक के रङ्गीन चित्र विशेष आकर्षक तथा पक्षियों के रङ्गों का सम्यक् ज्ञान प्रदान करने में समर्थ है। चालीस से अधिक जल पक्षियों का इसमें जो वर्णन किया गया है वह हमारी अभिरुचि को अपने आसपास के पशु-पक्षियों की ओर मोड़ने वाली वृत्ति को उभारने में समर्थ है।

बिहार की महिलाएँ – सम्पा०–शिवपूजनसहाय। प्रका.-महिला समिति, पटना–५। पृष्ठ ३९२, मू. १५.००

महिला चर्खा-समिति ने स्व० डॉ० राजेन्द्रप्रसाद जी के अभिनन्दन हेतु इस अपूर्व ग्रन्थ को प्रकाशित कराके दोहरी पुण्य लाभ की शृङ्खला उपस्थित की है। एक ओर तो उपेक्षित नारी के पुनर्जागरण के लिए उसमें प्रयास है और दूसरी ओर भारत-रत्न स्व० राजेन्द्र-बाबू को अभिनन्दन करने की योजना है। दोनों उद्देश्यों को लेकर चलने वाला यह ग्रन्थ समाज-सेवकों संस्थाओं, नारी उत्थान में रुचि रखने वालों के लिए एक मार्ग-दर्शक का कार्य करेगा। आधुनिक काल की नारी समस्याओं को प्रस्तुत करके उन्हें भारतीय दृष्टिकोण से सुलझाने के लिए उत्तेजक विचार धारा के कुछ सूत्र इस ग्रन्थ के लेखों में हैं। सुन्दर छपाई; गेट-अप तथा चित्रों आदि के द्वारा यह ग्रन्थ सज्जित होने पर भी पूज्य राजेन्द्र बाबू की प्रतिष्ठा की तुलना तो क्या कर सकता है, हाँ, सात्विक श्रद्धा का सफल वाहक इसे अवश्य कहा जा सकता है।

हमारे नियोजन का इतिहास—लेखक-कुमारी इन्दिरा मोहिनी शर्मा। प्रका०-हिन्दी भवन, कालपी। पृष्ठ १५०, मूल्य ३.५०

पञ्च वर्षीय योजनाओं के इतिहास की शृङ्खला की यह पुस्तक दूसरी कड़ी है और इसमें दूसरी पञ्च वर्षीय योजना का इतिहास है। आँकड़े देकर ऐतिहासिक दृष्टि से समीक्षात्मक विवरण देना इस पुस्तक की विशेषता है।

जितने दीपक उतना ही प्रकाश

जब श्री नेहरूजी अक्टूबर १९५९ में नागार्जुन सागर पधारे, तो एक कार्यकर्त्ता उनकी ओर आया और तेलगू भाषा में बोला, "ईदी नेरू बेलिंगनचिना दीपम्" (यह दीपक आपके ही द्वारा प्रकाशित किया गया है।) प्रधान मन्त्रीजी ने इस घटना को संकेत करते हुए उसी दिन एक भाषण में कहा, "इस वाक्य ने मुझे नम्र और गर्वीला बना दिया है। चार वर्ष बाद जुलाई १९६३ में, प्रधान मन्त्री दो और दीपकों को प्रकाशित करने आंध्र प्रदेश आये जो कि कितने ही घरों को आनन्दमय और आशामय बनायेंगे।

२४ जुलाई को उद्घाटित सरीसैलम योजना जो कि कुर्नूल जिले में प्रसिद्ध सरीसैलम मन्दिरों के हितकारी रक्षा स्थानों के अन्तर्गत आती है। यह आंध्र प्रदेश में कृष्णा नदी के जल-साधनों को सम्पूर्ण उन्नतिशील स्कीम को विभाज्य करती है। राजनैतिक और शक्ति केन्द्रों की कुल अनुमानित लागत ४२ करोड़ रुपया है। यह योजना समृद्धि (वैभव) की पर्यायवाची आशाजनक होती है। यह सस्ती हाईड्रोइलैक्ट्रिक शक्ति और बहुत बड़े क्षेत्र को अप्रधान शक्ति प्रदान करेगी, जो कि उन्नतिशील कृषि को अति आवश्यक है।

पोचमपद योजना जिसका कि कोणीय पत्थर इस वर्ष २६ जुलाई को रखा गया था, तेलंगाना के लिए बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। योजना की कुल अनुमानित लागत ३९.८५ करोड़ रुपया है जिसमें से १९.१० करोड़ रुपया उच्च कार्यों हेतु और २०.७५ करोड़ रुपया नहर के लिये है। इस योजना के पूरे होने पर ९.५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी।

योजना-समृद्धि हमारे सुरक्षा प्रयत्न का एक (अखंडनात्मक) सम्पूर्ण भाग है।

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

राजनीति

राजशास्त्र के मूल सिद्धांत (सम्पूर्ण) वृजमोहन शर्मा ११.५०
राजशास्त्र ,, ,, भाग १ ,, ,, ७.००
,, ,, ,, भाग २ ,, ,, ५.५०
लोक प्रशासन ,, ,, ७.५०
अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का इतिहास—श्रीदिनेश खरे ७.००

समाजशास्त्र तथा इतिहास

सामाजिक विचार-धाराएँ—दिनेश खरे १०.००
अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का इतिहास ,, ७.००
नारी और समाज—चिरञ्जीलाल पाराशर १०.००
विश्व-सभ्यता का विकास ,, ,, १५.००
समाज मनोविज्ञान मनमोहन सहगल १५.००
समाज शिक्षा और पुस्तकालय अनुज शास्त्री १.२५

शिक्षा सम्बन्धी प्रकाशन

शिक्षा शास्त्र के (मूलतत्व) सम्पूर्ण
प्रो० मुनेश्वरप्रसाद १०.००
,, ,, भा० १ ,, ५.००
,, ,, भा० २ ,, ५.००
पाश्चात्य शिक्षा का इतिहास ,, ६.५०
हिन्दी शिक्षण कला ,, २.५०
स्कूल प्रबन्ध सहगल व निर्मम ८.००
पाठशाला प्रबन्ध ,, ,, ६.००
भारतीय शिक्षा का इतिहास ,, ,, ६.००
आधुनिक शिक्षाशास्त्री मनमोहन सहगल २.५०
शिक्षा दर्शन ,, ,, ५.००
आधुनिक भारतीय शिक्षा हेमराज 'निर्मम' ५.००
हिन्दी भाषा की शिक्षण विधि शत्रुघनप्रसाद सिन्हा ६.५०
शिक्षण विधि ब्रजनन्दनप्रसाद ३.२५
बुनियादी शिक्षा की रूप रेखा राजेन्द्रमोहन भट० ४.००
शिक्षण विचारधारा भा० १ वैद्यनाथप्रसाद वर्मा ४.००
,, ,, भा० २ ,, ,, ४.००
आधुनिक शिक्षा की समस्याएँ बी० एम० माथुर २.५०
बुनियादी शिक्षा के अर्थ एवं सिद्धान्त प्रेमनाथसहाय ४.५०
सुबोध शिक्षा मनोविज्ञान प्रो० मुनेश्वरप्रसाद ४.००
जनतंत्रात्मक विद्यालय संगठन सरयूप्रसाद चौबे ६.००
नवीन शिक्षाशास्त्र ,, ,, १५.००
शिक्षा विज्ञान सार ,, ,, १३.५०

मनोविज्ञान

विकासात्मक मनोविज्ञान प्रो० महेन्द्रप्रसाद जायस. ६.००
आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान प्रो. रामबलेश्वरसिंह ६.५०
औद्योगिक मनोविज्ञान प्रो० जगदानन्द पांडे ८.५०
समाज मनोविज्ञान प्रो० मनमोहन सहगल १५.००
सुबोध शिक्षा मनोविज्ञान प्रो० मुनेश्वरप्रसाद ४.००

समालोचना

हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास डा. रामसरुप शर्मा २०.००
रत्नाकर उनकी प्रतिभा और कला
विश्वम्भरनाथ भट्ट (प्रेस में) १[illegible]
काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध
उमा मिश्र १२.५०

उपन्यास-कहानी

देवर भाभी श्री चिरंजीलाल पराशर ५.००
दूसरा रास्ता ,, ,, ५.५०
नये रिश्ते ,, ,, ५.००
पतीव्रता ,, ,, [illegible].००
दूर के बटोही रमेश भारती ४.००
समाधि साधना प्रतापी ५.५०
आशिया भारद्वाज ४.००
पराजिता सुधीर मित्तल २.५०
पंछी और परदेश कमल शुक्ल ४.००
मैं दुल्हन बनूँगी साधना प्रतापी ४.००
स्वर्ग की दीवार चिरंजीलाल पराशर ५.५०
महिला शासन ,, ,, २.००
कई प्रश्न एक उत्तर रमण २.००
खोटा सिक्का साधना प्रतापी ४.००

नाटक तथा काव्य

कुँवरसिंह श्री चतुरभुज एम० ए० १.२५
भगवान बुद्ध ,, १.२५
आदमी और पैसा हिमांशु श्रीवास्तव १.२५
टूटा हुआ आदमी सिद्धनाथकुमार ३.००
अणुयायनी जीवित ४.५०

विविध

भूमि और खाद ब्रह्मदेव गुप्त २.५७
पुस्तकालय प्रक्रिया अनुज शास्त्री ६.५०
समाज शिक्षा और पुस्तकालय ,, १.२५
बच्चों की दुनिया रणजीत भाई २.००
पंछी और परदेशी हिमांशु श्रीवास्तव १.२५
भारत के आदिवासी जनक अखिल ३.५०
कब तक निहारूँ ,, ४.००
अमरनाथ दर्शन हंसराज दर्शक १.५०
हिन्दी व्याकरण चन्द्रिका कैलाश प्रसाद सिंह २.००
लाल चीन के काले कारनामे चिरंजीलाल पाराशर ७.००
राष्ट्र और सुरक्षा ,, ४.००
खट्टा मीठा व्यंग्य विनोद पाराशर ४.००

दिल्ली पुस्तक सदन,

बंगलो रोड, दिल्ली

स्वतन्त्रता की सोलहवीं वर्ष गाँठ पर

हम भारतवासी

पुन: संकल्प करते हैं कि

प्राणपण से देश की स्वतन्त्रता की

रक्षा करेंगे।

हिमालय पर

उत्तरी सीमा की रक्षा हमारे वीर जवान

कर रहे हैं

परन्तु

देश के इन रणबाँकुरों को

अधिकाधिक शक्ति प्रदान करना हमारा कर्तव्य है

इसके लिए—

खेती और कारखानों में

उत्पादन बढ़ाइये

अपना खर्च घटाइये

और

बचत का धन

राष्ट्रीय बचत योजनाओं में लगाइये।

घोर परिश्रम और आपकी बचत से ही राष्ट्र सुरक्षित रहेगा।

सूचना निदेशालय, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रसारित

आलोचना और शोध

क्रम सं०	पुस्तक का नाम	लेखक	मूल्य
१.	सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य	डॉ० शिवप्रसादसिंह	१२.५०
२.	दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक	डॉ० त्रिभुवनसिंह	४.५०
३.	कहानी का रचना विधान	डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा	५.००
४.	विद्यापति	डॉ० त्रिभुवनसिंह	५.००
५.	श्री राधा का क्रम विकास	डॉ० शशिभूषणदास गुप्त	[illegible]००
६.	भोजपुरी साहित्य का अध्ययन	डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय	१२.००
७.	लोकधर्मी नाट्य परम्परा	डॉ० श्याम परमार	५.००
८.	हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास	डॉ० शम्भूनाथसिंह	१२.००
९.	हिन्दी में सरकारी काम-काज करने की विधि	श्री रामविनायकसिंह : हिन्दी सर्वेक्षक	३.००
१०.	चित्रकला का रसास्वादन	श्री रामचन्द्र शुक्ल	६.००

हिन्दी अँगरेजी कोश

११.	आंथेण्टिक सीनियर डिक्शनरी	बी०सी० पाठक	१४.००
१२.	आंथेण्टिक जूनियर डिक्शनरी	सी० एम० पाठक	४.००
१३.	प्रचारक हिन्दी शब्दकोष	लालधर त्रिपाठी "प्रवासी"	२.८७

विविध

१४.	रामायण-कथा	श्री रघुनाथसिंह, एम० पी०	१४.००
	भूमिका लेखक—राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन		
१५.	मरण ज्वार : कविता संग्रह	श्री माखनलाल चतुर्वेदी	

हिन्दी-प्रचारक-पुस्तकालय

सी० २१ । ३०, पिशाच मोचन, वाराणसी ।

साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को

अपूर्व सुविधा

हम अपने साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को निम्न पुस्तकें पौने मूल्य में देंगे। आर्डर भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान रखने की कृपा करें—

१. प्रत्येक आर्डर में अपनी ग्राहक संख्या लिखें तथा कम से कम दो रुपया मनीआर्डर से पेशगी भेजें।

२. सूची के नीचे जो अन्तिम तारीख लिखी है उसी तारीख तक ये पुस्तकें भेजी जायँगी—बाद में आर्डर आने पर २५ प्रतिशत की सुविधा नहीं मिलेगी।

३. जो पुस्तकें सूची में लिखी हैं वही भेजी जायँगीं।

४. २५ रुपये से अधिक पुस्तकें मँगानी हों तो अपने रेलवे स्टेशन का नाम लिखें। रेल से मँगाने में आपका खर्चा कम लगेगा। आर्डर यहाँ से काट कर भेज दें अथवा किसी कागज या पोस्ट कार्ड पर लिखकर भेजदें।

पौने मूल्य में पुस्तकें प्राप्त करने की सूची

नाम.. ग्राहक सं०..............................

पता..

हिन्दी गद्य काव्य उद्भव और विकास— डा० अपृभुजाप्रसाद पांडे	१६.००
यात्रा साहित्य का उद्भव और विकास— डा० सुरेन्द्र माथुर	१२.५०
वृन्दावनलाल वर्मा : साहित्य और समीक्षा— सियारामशरणप्रसाद	१२.५०
इलाचन्द जोशी : साहित्य और समीक्षा— प्रो० प्रेम भटनागर	६.००
आधुनिक हिन्दी काव्य में परम्परा तथा प्रयोग— डा० गोपालदत्त सारस्वत	१५.००
मीरा के मधुर गीत—यज्ञदत्त शर्मा (कविता)	२.५०
बाप बेटी—यज्ञदत्त शर्मा (उपन्यास)	५.००
उर्दू की चुनी हुई गजलें—देवेन्द्र इस्सर	२.५०
बदलती राहें—यज्ञदत्त	३.००
बादलों के पार—	३.००
देवयानी—यज्ञदत्त	२.५०
किस्सा ऊपर किस्सा—रमेश वर्मा	३.५०
हुज़ूर—	१.५०
भुनिया की शादी—यज्ञदत्त	३.००
वसन्ती बुआजी—यज्ञदत्त	५.००
रजनीगन्धा—यज्ञदत्त	२.५०
इन्साफ—यज्ञदत्त	३.००
अन्तिम चरण—यज्ञदत्त	७.५०
पाप और प्रकाश—देवीप्रसाद धवन	२.५०
आइवेन्हो—वाल्टर स्काट	१.५०
वीरान रास्ते और झरना—शशिप्रभा शास्त्री	२.७५
निमन्त्रण—भगवतीप्रसाद वाजपेयी	५.००
केनिलवर्थ—	१.५०
प्रकाश और छाया—विद्यास्वरूप वर्मा	२.२५
ललिता—यज्ञदत्त	३.००
राजधानी—अमृतधर नल्ले	३.५०
नवेली—हितवल्लभ गौतम	५.००
नारी विवाह और सदाचार—साहिद प्रवीन	७.००
पारिजात हरण—प्रो० कृष्णनन्दन पीयूष	२.५०

अन्तिम ता० ३०-९-६३

पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

REGD. No. 263. July, August 1963 License No. 16
Sahitya-Sandesh, Agra. Licensed to post without prepayment.

सितम्बर १९६३

सम्पादक—महेन्द्र एक प्रति ।।)

साहित्य रत्न भंडार
आगरा

'साहित्य-सन्देश' आगरा की विगत १२ वर्षों की फाइलों का विवरण

सन्	पाठ्य सामग्री की पृष्ठ संख्या	लेखों की संख्या	विशेषाङ्क जो सम्मिलित हैं	मूल्य	डाक-व्यय
१९५१-५२	५३२	१०५	आलोचनाङ्क	१)	१)६६
१९५२-५३	५१८	११४	कहानी अङ्क	१)	१)५४
१९५३-५४	५१८	१०९	आधुनिक काव्याङ्क	१)	१)६६
१९५४-५५	४८०	९६			१)६६
१९५५-५६	५०१	१०८	अन्त: प्रान्तीय नाटकाङ्क	१)५०	१)५४
१९५६-५७	५०१	११८	आधुनिक उपन्यास अङ्क	१)	१)७८
१९५७-५८	५५६	१२८	(१) भाषा विज्ञान विशेषाङ्क	२)	१)८४
			(२) प्रगति विशेषाङ्क	१)	
१९५८-५९	५५८	१३४	(१) सन्त-साहित्य विशेषाङ्क	१)५०	१)९०
			(२) ऐतिहासिक उपन्यास अङ्क	२)	
१९५९-६०	५२०	१२४	(१) रीतिकाव्यालोचनाङ्क	२)	१)८४
			(२) प्रगति अङ्क १९६०	१)	
१९६०-६१	५०८	१०५	(१) शोध विशेषाङ्क	२)	१)९०
			(२) प्रगति विशेषाङ्क १९६१	१)	
१९६१-६२	५८४	१३४	(१) निबन्ध-विशेषाङ्क	२)	१)९१
			(२) निराला विशेषाङ्क	१)	
१९६२-६३	५२५	१२४	(१) साहित्य-शास्त्र विशेषांक	१)५०	१)९१
			(२) रांगेय राघव स्मृति अंक	१)	
			(३) शिवपूजनसहाय स्मृति अंक	१)	

सम्पादक : महेन्द्र सहकारी : मक्खनलाल शर्मा

भाग २५] आगरा—सितम्बर १९६३ [अङ्क ३

हमारी विचारधारा

काव्य और प्रयोग—

प्रयोग के नाम पर आज विस्तार से लिखा जा रहा है और उसका कारण यह है कि इस आधार को ग्रहण करके सब कुछ लिखा जा सकता है। अनास्था और कुण्ठा ही नए काव्य के प्रमुख तत्त्व हों, अथवा नए काव्य में जो कुछ लिखा जा रहा है उसमें अस्तित्व-वादी मान्यताएँ ही एकमात्र आधार हों—ऐसा नहीं है। नवीन प्रयोगों से मुक्त कुछ ऐसी रचनाएँ भी प्रकाश में आई हैं जिनमें हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य की आशा बँध गई है। इसका अर्थ यह नहीं है कि नयी कविता में ह्रासोन्मुखी तत्वों का अभाव हो गया है। आज हिन्दी-कविता वादों की बरसाती ध्वनियों से आक्रान्त होकर किसी ऐसे आश्रय की खोज में है जो उसे सर्वजनसुलभ तथा जन-मानस की अनुभूतियों को सरस संवेद्य रूप प्रदान करने की क्षमता से संयुक्त कर सके। प्रत्येक युग संक्रान्तिकाल होता है, क्योंकि उसमें परम्पराएँ मिटती और अभिनव प्रयोगशीलता अग्रसर होने का प्रयत्न करती है। संक्रान्ति ही महानता की धरित्री है। जिस युग में भी संक्रान्ति-काल उपस्थित हुआ है उसी ने महान् प्रतिभाओं तथा महान् काव्य-कृतियों का सृजन किया है। आज का युग यदि संक्रान्ति-काल है तो इतने मात्र से ही वह तुच्छ, संकीर्ण और लघु नहीं बन जाता, वरन् वह हमें भूत की अनाम थाती सौंप कर भविष्य के प्रति अधिक जागरूक मनोदशा उपलब्ध कराने में सहायक होना चाहिए। श्री वीरेन्द्रकुमार जैन ने परिवेश को इसी रूप में स्वीकार किया है और उनकी विशेषता यह नहीं है कि वे परिवेश और परम्पराओं की प्रतिक्रिया हैं वरन् उन्होंने सत्य को गहराई से देखा, समझा और भोगा है एवं उसकी अभिव्यक्त सीमाओं से परिचित होकर उसके बंधनों को अस्वीकृति प्रदान करती है। उन्हें सत्य ही विकास क्रम में स्फुरित होता दृष्टिगोचर हुआ है। उन्हें प्रवृत्ति के रूप में प्रकट सत्य सीमित बुद्धि का आधार पा जाने पर अपनी शिवत्व शक्ति से रहित होता हुआ प्रतीत होता है। अनिवादी दृष्टिसीमा सत्य के प्रस्फुटित रूप को बुद्धि-जन्य अहं-स्वार्थ से प्रमत्त कर प्रतिगामी बना देती है। यही कारण है कि उन्हें अरविन्द और मार्क्स दोनों अपनी सीमाओं में नहीं समेट पाए हैं। इस सम्बन्ध में उनकी स्पष्ट स्वीकारोक्ति दृष्टव्य है—"साफ प्रतीति हुई कि न अरविन्द मेरी सीमा है, न मार्क्स, अरविन्द के पास हैं केवल सत्ता का आत्मिक, अनुभूतिशील पक्ष—मार्क्स के पास है केवल सत्ता का अभिव्यक्तिशील पक्ष। पर सत्ता अपने मौलिक स्वरूप में अनेकान्तिक है integral है। आत्मिक और भौतिक उसके दो संयुक्त पहलू हैं, जिनके बीच अवि-नाभावी सम्बन्ध है। काल के एक ही अव्यक्त निमिष

में एकबारगी ही आत्मिक, भौतिक का निर्णय-निर्माण कर रहा है और भौतिक, आत्मिक का निर्णय-निर्माण कर रहा है। उनके बीच पूर्वापरता स्थापित करना संयुक्त सत्ता को विच्छिन्न करना है, जिसके परिणाम-स्वरूप ये अति आत्मवाद और अति भौतिकवाद के अनिष्टकारी प्राबल्य सामने आते रहे हैं। आत्मिक-दर्शन और अनुभूति के बिना भौतिक आविर्भाव सम्भव नहीं, और भौतिक अभिव्यक्ति और निर्माण के बिना आत्मिक के होने की कोई सार्थकता नहीं। यह अनेकान्तिक सत्ता अनन्त है, इसलिए चिर विकासमान और प्रगतिशील है। इस सत्ता का जो आत्मिक (Subjective) अनुभूतिशील, ज्ञाता-दृष्टापक्ष है, वह पहले नव-नवीन सम्भावनाओं का ज्ञान-दर्शन तथा 'विज़न' अपने भीतर उपलब्ध करता है, और तब सत्ता के भौतिक अभिव्यक्तिशील (Objective) स्थूल पक्ष के रूप में उस 'विज़न' का प्रकटीकरण होता है। इस प्रकार नव-नवीन ज्ञान-दर्शन, आविर्भावों और सम्भावनाओं का यह क्रम अनन्तकाल में अटूट चलता ही रहता है। यही मेरी नवीनतम सत्योपलब्धि है, जिस पर आज का मेरा ज्ञान सर्जन और चिन्तन आधारित है। अपनी नयी कविता में मैं अपने इसी जीवन-दर्शन को लेकर चला हूँ।"[१]

इस लम्बे उद्धरण से उनके काव्य-संग्रह की दार्शनिक आधारशिला का सम्यक परिचय मिल जाता है। आलोच्य कवि ने युग यथार्थ तथा परिवेशात्मक समस्या-बोध को अस्वीकार नहीं कर दिया है वरन् उसने समस्या के अन्तर में प्रवेश करके निर्धारित किया है कि आज की अर्थाधारित समाज-व्यवस्था पर जब तक व्यक्ति-विशेष का अधिकार रहेगा तथा समाज में सम्बन्धों का आधार उत्पादन और विनिमय बना रहेगा तब तक समस्या का समाधान सम्भव नहीं है। इसके लिए वे उत्पादन के राष्ट्रीयकरण मात्र के समर्थक न होकर या सर्वहारा के अधिनायकवाद में सारी समस्याओं का हल न खोजकर जीवन के आधारों की सर्वजनसुलभता तथा आत्मिक सम्बन्धों की प्रधानता को ही निराकरण रूप में स्वीकार करते हैं।[२] आत्मा की अमरता तथा शरीरी अनुभूतियों के माध्यम से शाश्वत लीला की अनुभूतियों तक पहुँच पाने की चेष्टा मानव-जीवन का नित्य उद्देश्य है, किन्तु उसके लिये वे आज की भौतिक उपलब्धियों को बाधक न मानकर साधक मानते हैं। 'आजकल तुम्हारे रूमालों का मौसम है' शीर्षक कविता में वे उस दिन की कामना करते हैं जबकि ऋषियों के गाये वेद मन्त्र रेडियो-सेट पर और मानव की विगत-कालीन जीवन-लीला टेलीविजन सेट पर साकार हो उठेंगी।[१] इससे स्पष्ट है कि वे भौतिकता के स्तर पर अध्यात्म को उतार लाने का भगीरथ प्रयास मानव का अभिप्रेत ठहराते हैं। वे शरीर को त्याग कर मुक्ति पाने के अभिलाषी न होकर इसी शरीर के द्वारा—इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा उस अमरता के भोग के पक्षपाती हैं। आज मानव-निर्मित सीमाओं और स्वार्थी शोषण ने व्यक्तियों को परस्पर खुलकर प्रेम करने से रोक दिया है। कवि इस विषम-परिस्थिति से भिज्ञ है तथा पूर्ण आस्थावान है कि नवीन पीढ़ी इन सीमाओं का अतिक्रमण कर विश्व संस्कृति के निर्माण में समर्थ सिद्ध होगी। प्रेम को त्रिकाल सत्य मानकर तथा उसमें अपनी पूर्ण निष्ठा आरोपित करके 'यादों की नीली पहाड़ियों पर' कविता में उन्होंने लिखा है—

> कि तुम्हारी गोद में डूबे मेरे
> अश्रु भीने, तपते अङ्गारों से ललाट में से—
> उदय हो रहा है मानव का नवीन मनवन्तर
> इस चिट्ठी में आई है उसी की खबर!
> कि आज जब मिलने जा रहे हैं धरती और अंबर,
> तब कौन शक्ति है दुनिया की,
> कि जो तुमको-हमको रख सकेगी बिछुड़ाकर।[२]

कुछ समीक्षक उन्हें केवल आदर्श और कल्पना का कवि कहते हैं, किन्तु यह एकाङ्गी कथन है। वे आदर्श के साथ यथार्थ और सृजन के साथ संहार को अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार करके चले हैं। उन्होंने आज की भीषणताओं से अपना पल्ला छुड़ाकर काव्य-लोक की कल्पना मधुर सृष्टि में अपने को डुबो नहीं दिया है वरन् उनका आशावाद यथार्थ के बीच से उभरती हुई नयी चेतना पर आधारित है जो देशों, कालों और

---

[१] अनागता की आँखें पृष्ठ १३। [२] वही पृष्ठ ६२–६५

[१] वही : पृष्ठ ७०–७१, [२] वही : पृ० ११४।

समाजों की सीमाओं को अस्वीकार कर चुकी है, जिसकी विजय आणविक और हायड्रोजन बमों के अस्तित्व के साथ अपरिहार्य रूप से जुड़ी है—

आणविक युद्धों की
अकल्पित नाश-लीला के आर-पार,
इस हायड्रोजन-बम की सत्यानाशिनी ललकार
के मस्तक पर लहराते,
शान्ति के नये प्रभात-सागर पर
मानव की नयी दुनिया की
कल्याणी जय जयकार ![1]

आज सत्य को खोज पाने के लिये ज्ञान और विज्ञान के अनेक साधन संलग्न हैं, कवि इन सभी साधनों का स्वागत करता हुआ भी इनकी सीमाओं से परिचित है; अतः उन्हें अपर्याप्त घोषित करके काव्य को उसका सर्वोत्कृष्ट साधन मानकर आगे आता है तथा कहता है कि सारा विज्ञान-जगत् उसकी शोधें तथा यन्त्र आदि अनवरत प्रयास करके भी सत्य तक नहीं पहुँच पाये हैं। वे विज्ञान के प्रौढ़ दावेदारों से काव्य-किशोरी के मासूम चेहरे के भीतर झाँकती सचाई के रूप का दर्शन करने का आग्रह करते हैं।[2] उन्हें अत्यन्त खेद है कि सत्य को उसके सर्वाधिक सम्भव रूप में प्रत्यक्ष कराने वाले काव्य की आज की समाज-व्यवस्था में क्या दशा है ? आज के साहित्य की राज-नीति की अनुगामिता, साहित्यकार की बेबशी, शोषण कला और साहित्य के मूल्याङ्कन की विद्रूपता आदि पर उन्होंने कसकर व्यंग्य किये हैं, जिनसे आज की विषम स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।[3] वे विषमता का कारण स्वार्थ को मानते हैं[4] और जब तक इस क्षुद्र स्वार्थ की सीमाएँ नहीं टूटेंगी हमारा सीमित 'अहं' बिराट विश्व-मानवता के भीतर अपने को सांगोपांग साकार नहीं कर देगा तब तक समस्या रूप बदलती रहेगी, निवृत्त नहीं होगी।[5] इस शोषण और असमानता को उन्होंने अनेक नवीन एवं प्राचीन रूपकों तथा प्रतीकों द्वारा प्रकट किया है। रूपकों में एक पौराणिक कथा का प्रयोग कितना सार्थक है—

तुम्हारी रेशमीन जुल्फ़ों को सहलाती
मेरे प्यार की लीलायित अँगुलियों पर,
शोषण के भयंकर भुजंगम दम तोड़ रहे !
जीवन-जमुना के नए प्रवाहों पर,
जन-जन के बेटे, नए युग के कन्हैया बनकर,
नरभक्षी लोभ के कालिया नागों का
कर रहे दमन, उन्हें एड़ियों से रौंद कर।[1]

कवि ने 'नवीना सृष्टि की द्वाभा में'[2] शीर्षक कविता के अन्तर्गत प्रकृति का नवीन सौन्दर्य अङ्कित किया है जिसमें मानवीकरण, सुन्दर रूपों के पीछे चेतन सत्ता की अनुभूति तथा नवीन दार्शनिक प्रतिपत्तियों का समन्वय हमें उनकी छायावादी रूप रचना से परिचित कराता है। इस कविता में उन्होंने सौन्दर्य को अर्द्ध स्पष्ट और अर्द्ध अस्पष्ट रूप में चित्रित करके जिज्ञासा वृत्ति का सम्यक् प्रयोग किया है। यहाँ कवि ऐसे प्रतीकों का सफल प्रयोग करने में समर्थ हुआ है जिससे पाश्चात्य और पौर्वात्य संस्कृतियों का समन्वित रूप उसके आदर्श का आचार बन सका है। यह मान्यता उनके दर्शन के अनुरूप है क्योंकि इसमें पाश्चात्य को भौतिकता एवं पौर्वात्य को आध्यात्मिकता का प्रतीक मान कर गहरे अर्थ की व्यञ्जना की गई है। कवि को वातावरण-चित्रण में अपूर्व सफलता मिली है। एक चित्र उदाहरणस्वरूप देखना समीचीन होगा, जिसमें नवीन प्रयोग हुए हैं—

"चाँदनी रात :
नदी की धार पर केलीको मलमल-सी
टँगी हवा की हड़ियाँ :
किनारे सरकंडे और बाँसों की
रेखाली महीन छाँहों में
एक लिली के नीले फूल-सा
लकड़ी का जापानी बँगला :
सूने बन्द फाटक पर छायी
अंगूर की रेशमी बेलियाँ।
पोर्च में लटकते काग़ज़ी फानूस की
फूलों भरी अलसाई रोशनी।

[1] वही पृ० १३७। [2] वही पृ० १६०–१६१। [3] वही, पृ० १५६। [4] वही, पृ० ६३। [5] वही, पृ० ८७।

[1] वही, पृ० ८५। [2] वही, पृ० १३८।

खिड़की दरवाज़ों के
फूल-पत्ती-चिड़िया-चित्रित फेनिल पर्दों में
पन्ने-सी मीठी गहरी हरी आभाएँ।
एक खुली खिड़की के सूने चौखटे पर
निर्जन वॉयलेट उजियाला।"[1]

जैसा कि ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है उनकी भाषा आज की गुम्फित तथा भाव-बुद्धि संकुल अनुभूति को अधिकाधिक सीमा तक सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करने में समर्थ है। हमें इस कवि से यथेष्ट आशाएँ हैं कि वह हिन्दी-काव्य को सुदृढ़ और समृद्ध परम्परा प्रदान करने के सामूहिक प्रयास में श्रेष्ठतम कोटि का योगदान कर सकेगा।

वर्तमान वर्ष में ही प्रकाशित डॉ० महेन्द्र भटनागर की कविता पुस्तक 'सन्तरण' में भी 'आस्था' और भविष्य के प्रति आशावान दृष्टिकोण अपनाया गया है। उनका आग्रह केवल कुत्सित यथार्थ तक ही अपने को सीमित करके नहीं चलता है वरन् वे आज की मजबूरियों, सीमाओं और कठिनाइयों को भेदकर आगे जाना चाहते हैं। उनकी दृढ़ धारणा है कि श्रमिक चाहे सर्वहारा कहा जाय किन्तु उसके पास श्रम शक्ति का ऐसा अजस्र स्रोत है जो कभी रीता नहीं पड़ेगा और उसी के द्वारा हमारा दुर्भाग्य मिटकर स्वर्णिम भविष्य की रचना होगी। 'आस्था का उपहार' शीर्षक रचना में उन्होंने सम्पूर्ण विश्व की पददलित और पीड़ित मानवता को अपने क्रोड़ में भरकर उसे नया विश्वास प्रदान करने का आश्वासन दिया है—

ओ, विश्व भर के
पददलित पीड़ित पराजित मानवो!
जीवन्त नव आस्था
नये विश्वास के
मद महकते उत्फुल्ल गुलदस्ते
तुम्हारे साधु स्वागत में
समर्पित हैं!

[1] वही, पृ० ८१।

भटनागर केवल स्वर्णिम भविष्य के ही गीत गाते हों और वर्तमान के काठिन्य से अपरिचित हों—मात्र ऐसा नहीं है। वर्तमान जीवन के संघर्ष और उसकी क्षण-क्षण प्रत्यक्ष होने वाली अनुभूतियों से भी उनका परिचय है। आज के जीवन की धूमकेतन स्थिति तथा बदरङ्ग केनवास पर लिपटी हुई धूल की परतों की हिचकिचाहट[1] से वे परिचित हैं, इसीलिए वे आज हमें हलाहल पीकर भी अमर हो जाने की चुनौती देते हैं। उन्हें विश्वास है कि वर्तमान की अँधेरी अमा एक न एक दिन अवश्य बीत जायगी और आशापूर्ण प्रातःकाल उदय होगा।[2] इन गीतों में स्वच्छन्दतावादी रोमांस के तत्त्व भी मिलते हैं। कवि कितना ही सामाजिक तथा सामान्य भावभूमि वाला बने किन्तु उसकी सामान्यता वैयक्तिकता का ही विकसित रूप है, इसे नहीं भुलाया जा सकता है और उसके काव्य में किसी न किसी स्तर पर निजता का आना परम आवश्यक एवं स्वाभाविक है। भटनागर के 'कौन तुम' तथा 'गीत में तुमने सजाया' आदि कविताओं में इन भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। आज प्रेयसि की अपेक्षा जीवनसङ्गिनी का शाश्वत साथ ही समीचीन माना जा सकता है और नये काव्य में अपनी वर्तमान पत्नी को लेकर इस प्रकार की कामनाएँ अब नयी नहीं रह गई हैं।[3] इन तथ्यों के आधार पर आज यह आशा की जा सकती है कि नयी कविता के नाम पर जो कुछ अनास्था और कुण्ठा से युक्त निकल रहा है, वह चाहे महत्त्वहीन हो, किन्तु उसके अतिरिक्त विश्वविजयिनी आस्था और मङ्गलमय भविष्य को रूपायित करने वाले कवियों की भी एक बड़ी जमात है और उसी के हाथों आज का यथार्थ और कल का भविष्य सुरक्षित है, जिनमें वीरेन्द्र जैन जैसे कुछ नेतृत्व भी हैं।

[1] सन्तरण : पृष्ठ २३।
[2] वही, पृष्ठ २८।
[3] वही, पृष्ठ ५८।

साहित्य-सृजन की प्रक्रिया

श्री त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी'

मानव स्वभावतः सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होता है। 'सुन्दर' को प्राप्त करने की प्रबल कांक्षा प्रतिपल उसके अन्तस् में एक आलोड़न उत्पन्न करती रहती है। फलतः, उसकी भावनाओं का पावसी-घटाओं की भाँति उमड़ना-घुमड़ना और तदुपरि अभिव्यक्ति के रूप में छमछम बरस जाना ही उसकी सौन्दर्य-वृत्ति का सजीव रूपायन है। यों तो सौन्दर्य की कोई निश्चत परिभाषा नहीं। निदान, व्यक्तिगत अभिरुचि सदैव भिन्न होती है। लेकिन सौन्दर्य के मूल में जो आनन्द-सृष्टि का अनभिव्यक्त प्रगूढ़ रहस्य है, वह अवश्य ही मानवीय भावना-निविड़ का एक समान धरातल है। इसी धरातल पर कवि या साहित्यकार की विशुद्धात्मा सृजन-क्षणों में उपविष्ट होती है। फलस्वरूप, उसके सृजन में व्यष्टि और समष्टि का परिहार तथा समाहार दोनों एक साथ होते हैं। अगर सूक्ष्म-दृष्टि से देखा जाय तो सामान्य सामाजिक-जीवन में भी कभी-कभी ऐसे विशिष्ट क्षण उदय हो जाते हैं जबकि साहित्यकार के व्यतिरिक्त अन्य व्यक्ति भी उस परम स्थिति को प्राप्त कर पुनीत अनुभूति-मात्र रह जाता है। लेकिन उस सौन्दर्य एवं आनन्द की अभिव्यक्ति की क्षमता उसमें नहीं होती, वह उसके लिये गूंगे का गुड़ बन जाता है। परन्तु साहित्यकार उस जीवनानुभूति की अभिनव अभिव्यक्ति को एक ऐसा अनूठा शब्द-रूप प्रदान करता है कि वह उसकी नहीं, उसके युग की ही नहीं अपितु जन-सामान्य और युग-युग की होकर जैसे अमर हो जाती है। यही मूल में साहित्य-सृजन की प्रक्रिया का विवेच्य-विषय है।

साहित्य मानवीय अन्तः भावों की कवि-कल्पना समन्वित सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति है। जीवन ही उसका उद्गम बिन्दु है, उसका मधुमय स्रोत और आनन्द-मय अवसान भी। इससे परे न उसकी कोई उपादेयता है और न आवश्यकता। साहित्यकार भी प्रथम मानव है, व्यक्ति है तदुपरि समाज का अङ्ग और पुनः साहित्य-कार। व्यावहारिक-जीवन में उसका व्यक्तित्व एवं स्थान सामान्य होकर भी विशिष्ट है। उसकी सहृदयता सौन्दर्य, पर्यवेक्षण-क्षमता तथा जीवन-जगत् के ग्रहण और उसकी व्यञ्जन-प्रक्रिया उसके वैशिष्ट्य की प्रतीक हैं। उसका सौन्दर्य भी भौतिक जगत् से किंचित ऊर्ध्व-स्थिति का होता है और इसीलिए क्षणिक होने पर भी अलौकिक तथा अनूठा। उसकी कसौटी का एकमात्र यही आधार है कि वह असीम होकर भी असीम की चतुर्दिक्-विस्तृत हृदय-स्थली में व्याप्त रहता है। यद्यपि उसका सृजन मूल में वैयक्तिक[1] ही होता है। तथापि दैनिक जीवन के घाति-विघाति अथवा प्रकृति के बाह्या-कर्षण से उदीप्त उसकी मनःवृत्ति उस सौन्दर्य को केवल स्व-अनुभूति तक ही परिसीमित नहीं रखती प्रत्युत अभिनव अभिव्यक्ति के मार्ग का अनुसरण कर सहृदय मात्र के हृदय-स्पर्श की वस्तु बना देती है। वह निस्सं-देह अपनी ही बात कहता है, लेकिन उसके निजत्व की क्षीण-रेखा अभिव्यक्ति के पूर्व क्षण तक ही अपनी प्रव-स्थिति रख पाती है। तदनन्तर तो उसका व्यक्तित्व समष्टि में सम्पूर्णतः जैसे संपृक्त हो जाता है फिर भी जिस प्रकार उसका एक अपना पृथक अस्तित्व होता है उसी प्रकार व्यावहारिक-जीवन में एक भिन्नता भी। वह अपनी साधना के प्रभाव से भाव, विचार एवं वाणी

[1] What we really on a work of art is a certain personal element, we expect the artist to have, if not distinguished mind atleast a distinguished sensibility. We expect him to reveal something to us that is original—a unique and private vision of the world. —H. Read.

को ऐसा बना लेता है कि जिन क्षणों अथवा परिस्थितियों को सामान्य-जन व्यर्थ जानकर भुला देते हैं वह उन्हीं में से अपने लिये सार-संचयन करता है, जहाँ अन्य व्यक्ति सामाजिक भय अथवा मान-मर्यादा की रक्षा के कारण जाने में सङ्कोच करते हैं वहाँ वह स्थितप्रज्ञ-योगी की भाँति निर्भय पहुँचकर अवश्य ही कुछ पा जाता है। व्यवहार के प्रत्येक पल में मानवीय प्रकृति का वह सूक्ष्माध्ययन ही नहीं प्रायोगिक निरीक्षण भी करता है। समाज के विविध स्तरों की यापन-विधि, उनके खान-पान और रहन-सहन सभी संभव जीवनाङ्गों को वह अपनी भावना एवं विचारणा का समरस प्रदान करता है। जहाँ उसे समाज के गंदे, मैले बदसूरत तथा घिनौने मानवाकार के प्रति सहानुभूति होती है वहाँ आर्थिक परिस्थितियों के असह्यायघातों से कराहते कोटिशः परिवारों के लिये अगाधानुभूति प्रेषण की आकुलता भी और फूलों की सेज पर पोषित जिन्दगी की उन्मत्त रङ्गरेलियों के प्रति आकर्षण भी। आशय यह कि वह इस प्रकार समाज के सम्पूर्ण जीवन की बहुधा प्रत्येक संभव अन्तःबाह्य क्रिया-प्रक्रिया से भली भाँति अवगत हो जाता है। जिससे भावोद्दीपन के विरल-क्षणों (Rare moments) में उसे न तो अभिव्यक्ति के लिये शब्दाडम्बर की अपेक्षा होती है और न वाणी को कृत्रिम नये तराश देने के हेतु बुद्धि-व्यापार सञ्चालन की आवश्यकता। जिस प्रकार उसकी अनुभूति में एक स्वाभाविकता का सौजन्य निगूढ़ रहता है, उसी प्रकार उसकी अभिव्यक्ति भी नैसर्गिक विभूति से पूर्ण रहती है। यही कारण है कि वहाँ न वैयक्तिक सीमाएँ रह जाती हैं और न स्वार्थ एवं अनुकरण की टूटी रेखाएँ वरन् उसके हृदय में एक ऐसी अलौकिक सौम्य भावानुभूति का सन्तरण होता है जो दुःखी अबला के भीगे नेत्रों को देखकर तत्क्षण मोम सदृश पिघल जाती है और निरीह जन पर अत्याचार करते हुए दुष्ट को दण्डित करने के लिये आक्रोश से नेत्रों की रक्तिमा में व्यक्त हो उठती है। यही उसकी सृजन-प्रक्रिया में व्यष्टि और समष्टि के विलीनीकरण का रहस्य है। तभी तो साहित्य वैयक्तिक-सृष्टि होकर भी जन-मानस की अपूर्व अक्षुण्य निधि बन जाता है। तात्पर्य यह कि व्यष्टि और समष्टि के शाश्वत सम्बन्ध में ही इसका सृजन संभव है।[१]

साहित्य की सृजन-प्रक्रिया मूल में भाव-साधना का एक प्रकार है। इसका तात्पर्य केवल मात्र इतना ही है कि साहित्यकार और सहृदय की भावानुभूति समान स्तर पर एक ही उद्वेलन की मूलभूता बन जाय। अगर उनके मध्य किसी भी प्रकार का कोई क्षीणव्यवधान रह गया है तो स्पष्टतः ही साहित्यकार की साधना अपूर्ण है। उसकी पूर्णता एवं सफलता का परिचय तो इसी में है कि जिन विशिष्ट परिस्थितियों में उसने किस भाव-विशेष की मधुरानुभूति में स्वयं को निमग्न किया है, वही सहृदय के मर्म-स्थल में प्रवाहित हो उठे। तभी दोनों की सहआनन्दानुभूति सम्भव है—साहित्यकार अपने सृजन की आशातीत सफलता को देखकर आनन्दित होता है और भावक व्यस्त जीवन में भी इस परमानन्द को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। आनन्द जब अपनी मानवीय-सीमाओं के बाहर भावानुभूति के क्षणों में अखण्ड स्रोत बनकर फूट निकलता है, तभी कवि और भावक दोनों को साहित्य के 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' का पुण्य-लाभ होता है। प्रथम वह साहित्य-स्रष्टा की अन्तरानुभूति का विषय बनता है और तदुपरि सहृदय के रसास्वादन का एक रूप। इस सम्बन्ध में यदि साहित्य-सृजन की प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण किया जाय तो विदित होगा कि साहित्यकार किन्हीं विशिष्ट क्षणों में इस सुयोग को प्राप्त करता है। यह तो एक मनोवैज्ञानिक स्वीकृततथ्य

[१] The work of art is a product of the relationship which exists between the individual and soceity and no great art is possible unless you have as corresponding and contemporary activities, the spontaneous freedom of the individual and the passive coherence of a soceity. —H. Read.

ही है कि बाह्य-जीवन मे जब हम दैनिक सम-विषम घटना-विघटनाओं से प्रभावित होते हैं और अज्ञानवश एक में सुख और दूसरी में दुःखानुभव करते हैं, तब हमारी मनोवृत्ति उस सुखद अथवा दुःखद अनुभूति के वेग को किसी न किसी रूप में अभिव्यक्ति किये बिना नहीं रहती। दुःख या सुख की विशुद्ध स्थिति में नेत्रों से अश्रु-प्रवाह, प्रेम में प्रिय-पात्र को पा जाने की अनूठी ललक तथा शारीरिक विभिन्न क्रयाएँ और भय में रोमाञ्च एवं प्रकम्पन आदि ऐसी ही बाह्यभिव्यक्तियाँ हैं। वास्तव में मानव मन अपने विस्तार में इतना परिसीमित है कि एक साथ अनेक भावों का उच्छलन वहाँ नहीं ठहर सकता। यह दैनिक-व्यवहार में भी देखा जाता है कि एक साथ अनेक भिन्न भावों का उदय नहीं होता। यदि होता भी है तो प्रधान एक ही होता है अन्य सभी उसके सहयोगी के रूपमें उसे ही पुष्ट करते हैं या दब जाते है। बस, इसी अनियन्त्रित भाव-उच्छ्नल की स्थिति में अभिव्यक्ति जीवन में अनिवार्य हो जाती है। फलतः, रज-तम-संयुक्त यह लोकानुभूति विकृत नहीं हो पाती तथा हमारे जीवन पर भी कोई स्थायी प्रभाव नहीं आता। साहित्य में इसी का आकलन होता है। साहित्यकार जन-सामान्य से भिन्न प्रत्येक भाव को नव्य रूप प्रदान करता है। यही अमूर्त्त भावों की रूपमयी अभिव्यक्ति साहित्य में सौन्दर्य सृष्टि-का मूक रहस्य है और यह सौन्दर्य-सृष्टि साहित्य-सृजन की प्रक्रिया का मूल उद्घाटन।

यह सौन्दर्य-सृष्टि दो प्रकार की होती है—एक आन्तरिक और द्वितीय बाह्य। प्रथम तो स्वयं में विशुद्ध भावानुभूति के कारण आनन्द का मूल उद्गम ही है लेकिन द्वितीय, अभिव्यक्ति के विविध उपकरणों से संयुक्त। वास्तव में साहित्यकार जब सृजन की नित्य-साधना में निमग्न होता है तब वैयक्तिक-जीवन के अनेक बन्धनों से विमुक्त होकर जो शब्द-विधान करता है वही उसकी वाणी पर भंकृत होकर साहित्य नाम की संज्ञा से अभिहित होता है। अतीत-जीवन के कितने ज्ञात-अज्ञात परिच्छेद, वर्तमान के कितने भूले-बिसरे रेखाचित्र और भविष्य की मधुरिम आशाओं में तैरते न जाने कितने स्वर्ण-सपने इन्हीं शब्दों के माध्यम से साहित्य-प्रांगण में रूपायित होते हैं। यह रूप-सर्जना ही उसकी साधना का प्रतिफल है जो सामान्य मानव की अभिव्यक्ति में प्रायः सम्भव नहीं। लेकिन साहित्य या काव्य में यह शब्दों का स्थूल आडम्बर ही सब कुछ नहीं है। यह तो साहित्य तथा साहित्यकार की अभिव्यक्त आत्मा का बाह्य कङ्काल है। पुनः इसमें प्राण-सञ्चार करने पर ही उसकी कला में जीवन्त गतिशीलता आ पाती है। इसके लिए उसे अपने मूल अभिप्रेत को इसमें समाविष्ट कर देना होता है। परन्तु यह प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म और गतिवान् होती है कि आसानी से उस क्षण का पकड़ लेना प्रायः असम्भव ही है जबकि वह अभिप्रेत इस शब्द कङ्काल में प्रविष्ट हो जाता है। पुनः तथ्य तो यह है कि शब्द बिना निजी अभिप्रेत के स्वयं के लिए भी भार-स्वरूप है, उसमें अर्थ की आत्मा थोड़ी और बहुत सिकुड़-कर सदैव विद्यमान रहती है। यही शब्द एवं अर्थ का सम्मिलन काव्य या साहित्य है—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं'—भामह। चूँकि साहित्यकार अपने वैशिष्ट्य के कारण किसी भी बात को कहने के विविध प्रकार खोज निकालता है अतः उसकी कथनी सदैव जन-सामान्य से पृथक् ही होती है। परन्तु फिर भी वहाँ एक अज्ञात सौन्दर्य सहृदय की आत्मा को सदैव अपनी ओर अनायास आकृष्ट करता रहता है। इस आकर्षण का मूल विन्दु उसके शब्दार्थ में अभिव्याप्त अन्तःकरण का वह विशुद्ध अनुभूत भाव-सौजन्य होता है जो प्राणी मात्र के अन्तःप्रकोष्ठ में धूप-छाँह की अर्ध-ज्योतित स्थिति में गोप्य रहता है, लेकिन वह साहित्यकार की कृति के माध्यम से अचानक जीवन के विरहित-निविड़ में स्पष्ट हो जाता है। और तभी भावक अलौकिकानुभूति में खो जाता है। यही सफल काव्य का वैभव है कि वह पाठक के अन्तस् में अलौकिक भावना को जागृत कर दे।[1] यही अर्धोन्मीलित सौजन्य साहित्यकार की कृति में सौन्दर्य का

[1] The power of words in exciting ideas of the kind and filling the reader with the intoxication of celestial joy. —Burke.

स्फुटन करता है। तभी एक पाश्चात्यालोचक ने कहा है—"ब्यूटी लाईज़ इन बीइंग हाफ रिवील्ड एण्ड हाफ़ कन्सील्ड"। यही कवि की अभिव्यक्ति-सृष्टि का वैविध्य एवं वैशिष्ट्य है। यही वह 'रमणीयता' है जिसे 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' कहकर पन्डितराज जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा स्थिर की। इस 'रमणीयता' में हम अपने ही विच्छिन्न भावों-विचारों तथा अन्तर्वेदनाओं का मृदुल संस्पर्श पाकर पुनः अपनी अनुभूति का साक्षात्कार करते हुए अलौकिकानन्द में डूब जाते हैं। साहित्यकार या कवि इसीलिये सदैव सृजन-प्रक्रिया के क्षणों में इसी की आराधना करता है—भावों के पुष्प चढ़ा कर, अश्रु की आरती सजाकर और शब्दार्थ की वन्दना कर!

दैनिक-जीवन की गतिविधि में यह द्रष्टव्य है कि हमें कुछ खोकर पा जाने में विशेष आनन्दानुभूति होती है, गिर कर उठने में एक दिव्य गर्व का अनुभव होता है और अनेक साधनाओं के उपरान्त अपनी हृदयालोड़ित भावनाओं को अनूठे किन्तु सर्वग्राह्य रूप देने में स्वर्ग-सुख का वैभव ही जैसे उपलब्ध हो जाता है। राही ज्यों-ज्यों मञ्जिल को अपने निकट देखकर भी उसे दूर पाता है, तब उसका उत्साह कम नहीं होता वरन् प्रति-पल वर्धित होता रहता है। इसीलिए, महादेवीजी ने मिलन की अपेक्षा विरहानुभूति को अधिक सुखद कहा है। वास्तव में यही विरहित-भाव साहित्य-सृजन के अपूर्व सौन्दर्य और सहृदय के आनन्दातिरेक का अन्तः सौष्ठव है। तभी तो कवि या साहित्यिक किसी बात को सीधी तरह व्यक्त न कर शब्द, अलङ्कार तथा छन्द की निबिड़ता में व्यंजित करता है। यही सृजन-प्रक्रिया उसे अन्य सामाजिकों से अभिन्न होते हुए भी भिन्न और भिन्नता में भी अभिन्नता की अनुभूति कराती रहती है। भाव को सदा भाषा के जाल में छिपाकर ही खोजा जाता है, स्नेह की प्रणय-भूमिका को विरह की विशुद्धानुभूति में ही प्राप्त किया जाता है। यह सब मानव-मन की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का शाश्वत आकर्षण है। बालक माँ के आंचल में दुग्धपान करता हुआ भी इसी लुका-छिपी में, इसी मिलन-विरह की अनुभूति के माधुर्य में, इसी खाने एवं पा जाने के आह्लाद में अठखेलियाँ करता है और माँ उसकी इस अभिनव क्रीड़ा को पल भर निहार कर निहाल हो जाती है, स्वर्ग का वैभव भी उसके लिये नगण्य हो जाता है। आखिर क्यों? केवल इसीलिये कि इसमें सुन्दर का आकर्षण है, आनन्द का आस्वादन है, स्नेह की मधुरता है, भावनाओं के निबिड़ का अपना सौष्ठव है और व्यवहार-जगत् में दुःख की सरणियों को विस्मृत कर देने का विपुल वैभव। यही नहीं बल्कि इसी में कला तथा साहित्यकार की सौन्दर्य सृष्टि का भव्य बीज निहित है। कवि की व्यञ्जना इसी कारण कुछ वक्र होती है। वह इस ढङ्ग से अपने भाव एवं मनः-अवगुण्ठन को प्रेष्य बनाता है कि सहृदय उसमें भूलकर भी बहुत कुछ पा जाता है। यही उसकी सृजन-प्रक्रिया का रहस्य है। यही कथन की वक्रता का निरालापन आचार्य कुन्तक के शब्दों में "वक्रोक्ति काव्य सजीवितम्" तथा आनन्दवर्धनाचार्य की परिभाषा में 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' है। यही उसके सृजन की आधार-भित्ति, व्यञ्जना तथा साफल्य की मूलभूता है।

साहित्यकार जिन क्षणों सृजन-प्रक्रिया के क्रोड़ में खोता है; उस समय यह तो निश्चित है कि वह एक ऐसी सामान्य भाव-भूमि पर होता है। जहाँ उसके व्यक्तित्व एवं वैयक्तिक-जीवन की आशा-आकांक्षाएं असीम के क्षितिज में समा जाती हैं, वह विशुद्ध अनुभूति-मात्र रह जाता है। पुनश्चः, जो लोक-जीवन के घात-विघात उसे अभिव्यक्ति की सर्जना-हेतु उकसाते हैं वे चक्षु-साक्षात्कार से दूर कल्पना के शिशु बनकर उसके अधरों पर क्रीड़ा करने लगते हैं। फलतः व्यञ्जना की आकुलता में अभिव्यक्ति के लिये जो नैसर्गिक शब्द-पुञ्ज उसकी वाणी पर पुष्प-सदृश बिखरता है उसमें सभी को समान रूपेण सौरभ प्रदान करने की अलौकिकता होती है। कारण, उन क्षणों न तो उसके भावों पर अज्ञान का आवरण होता है और न रज-तम प्रधान सामान्य मनोवृत्ति का अवगुण्ठन। अथच सत् के शाश्वत प्रादुर्भाव से जिस सौन्दर्य की सृष्टि होती है, वह सत्य के साथ-साथ शिवम् से भी वेष्ठित होता है, इसीलिये

(शेष पृष्ठ १०२ पर)

डा० गुलाबराय : साहित्यिक प्रदेय

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

डा० गुलाबराय—अधिक अच्छा नाम बाबू गुलाबराय या सिर्फ 'बाबूजी' है—हिन्दी के अनवरत सेवक और साधक रहे हैं। यों तो वे इस शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों से ही हिन्दी-साहित्य-साधना में संलग्न हुये थे, परन्तु अनेक वर्षों तक वे प्रायः दार्शनिक विषयों पर ही निबन्ध और पुस्तकें लिखते रहे। उन्होंने कुछ विनोदपूर्ण और आत्माभिव्यञ्जक निबन्ध भी लिखे थे। 'सरस्वती' में उनकी रचनायें सम्मानपूर्वक प्रकाशित होती थीं। 'फिर निराशा क्यों' नामक उनकी लघु-पुस्तक नवयुवकों में अतिशय लोकप्रिय हुई थी। बाबूजी के आरम्भिक साहित्यिक संस्कार द्विवेदी युग में ही निर्मित हुये थे और वे ही आवश्यक परिमार्जन के साथ अन्त तक बने रहे थे।

सन् १९३० के आसपास बाबूजी साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में अवतरित हुए, जबकि छायावादी काव्य अपने यौवनकाल में था। उस समय द्विवेदी युग के अन्य साहित्यिकों के समान बाबू गुलाबरायजी ने इस नई साहित्यधारा का विरोध नहीं किया। बल्कि उसके समर्थन में अपनी लेखनी का सञ्चालन किया। इसका प्रमुख कारण बाबूजी के हृदय की उदारता, उनकी दार्शनिक रुझान और उनका हिन्दी-भिन्न साहित्य से लगाव कहा जा सकता है। यह सच है कि बाबूजी आचार्य शुक्ल के विचारों और साहित्यिक आदर्शों से बड़ी हद तक प्रभावित थे। कदाचित् इसीलिये वे छायावादी काव्य को खुला समर्थन देने के बदले उसके आदर्शोन्मुख पक्ष का ही उद्घाटन करने में अधिक रुचि रखते थे। इस प्रकार वे साहित्य-समीक्षा में दो युगों की सन्धि के प्रतिनिधि हैं। उन्हें संक्रान्तिकालीन समीक्षक कहना अधिक संगत होगा।

बाबू गुलाबराय कुछ काल तक कवियों की समीक्षा करने के पश्चात् साहित्य के सैद्धान्तिक आधारों की खोज में भी प्रवृत्त हुए। इस दिशा में भी उनका कार्य शास्त्रवादी और स्वच्छंदतावादी साहित्यादर्शों को समन्वित करने का रहा है, समन्वयवाद की यह दिशा सहज भी हो सकती है और अध्ययन-साध्य भी होती है। ऐतिहासिक विकास-क्रम में कभी-कभी ऐसे समीक्षकों का आगमन होता है, जो क्रमागत विचारों और पद्धतियों में नये तथ्यों का योग करने को बाध्य होते हैं। परन्तु कुछ अन्य विवेचक ऐतिहासिक बाध्यता न होने पर भी समन्वय-स्थापन का बौद्धिक प्रयास करते हैं। बाबूजी के सैद्धांतिक समीक्षा-कार्य में इस द्वितीय प्रणाली का प्रमुख रूप से योग दिखाई देता है।

बाबू गुलाबराय व्यक्ति के रूप में एक अत्यन्त सात्विक प्रवृत्ति के उदार और साहित्य प्रेमी पुरुष थे। उन्हें एक अर्थ में अजातशत्रु भी कहा जा सकता है। परन्तु उनकी अजातशत्रु केवल एक नकारात्मक गुण बनकर नहीं रह गई। वे सक्रिय रूप से साहित्यिक और साहित्यिकों के प्रशंसक और पुरस्कर्ता थे। नवयुवक लेखकों के तो वे एक बड़े प्रेरणा-स्रोत ही थे, उन्होंने अपने एक अनुयायी सम्प्रदाय का भी निर्माण किया था। परन्तु इससे भी अधिक वे प्रतिभावान साहित्यिकों को पहचानने और उनकी यथासाध्य सहायता करने में संलग्न रहे थे। सन् २८–२९ में जब निरालाजी 'मतवाला' का कार्य छोड़कर बहुत कुछ आर्थिक साधन-हीन हो गये थे, बाबू गुलाबराय ने उन्हें छतरपुर बुलाया था और अत्यन्त सम्मानपूर्वक उनका स्वागत किया था। उन्होंने निरालाजी को बङ्गला भाषा के एक प्राचीन काव्य ग्रन्थ को हिन्दी-काव्य में रूपान्तरित करने का कार्य सौंपा था, यद्यपि निरालाजी उस कार्य को पूरा नहीं कर पाये थे। इस प्रकार न जाने कितनी उभरती हुई प्रतिभाओं को उन्होंने अपनी सहानुभूति के संजीवन-रस से अभिसिञ्चित किया था।

बाबू गुलाबराय सरलता की प्रतिमूर्ति थे। उनमें अहंभावना का स्पर्श अत्यन्त विरल था। बाबूजी के जो आत्मकथात्मक निबन्ध हैं, उन्हें पढ़ने पर यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उनमें विद्या बुद्धि का अभिमान नहीं के बराबर था। कदाचित् यह निरभिमान ही उनकी विनोदवृत्ति का पोषक था। बाबूजी के विनोदात्मक लेखों में स्वयं का उपहास करने की प्रवृत्ति रहा करती थी। दूसरों का उपहास करना उनकी प्रकृति में नहीं था। इसीलिये बाबूजी का हास्य और विनोद पैना और तीखा न होकर स्वच्छ और मधुर हुआ करता था।

बाबूजी बीसवीं शताब्दी के हिन्दी गद्य लेखकों में अपनी सहृदयता, उदारता, समन्वयशीलता और अविरोधी दृष्टि के कारण सदैव समादृत रहेंगे। इस शताब्दी में अनेकानेक साहित्यिक आन्दोलन हुये। अनेक वादों की सृष्टि हुई। समय-समय पर लेखकों की विचार-धाराएँ जोरों से टकराईं और साहित्यिक कृतियों के पक्ष विपक्ष में अनेक अतिवादी भूमियाँ ग्रहण की गईं। बाबूजी इस समस्त गतिशीलता से द्रष्टा का सम्बन्ध ही बनाये रहे। वे किसी धारा के शीर्षस्थल पर जाने की रुचि और प्रवृत्ति नहीं रखते थे। इसीलिये साहित्यिक नेतृत्व की भूमिका उन्होंने नहीं अपनाई। परन्तु वे समरसता के प्रेमी थे जो प्रत्येक साहित्यिक आन्दोलन में सार रूप से विद्यमान रहती है। गुणग्राहकता उनकी प्रमुख विशेषता थी। नदियों की बाढ़ जब शमित हो जाती है, तब उसका जल पेय होने लगता है। बाबूजी इस परिशमित साहित्य जल के पानकर्ता थे। उनकी वृत्ति सच्चे अर्थों में मधुकर वृत्ति थी और यदि मधुकर सरिस सन्त गुन गाहा' वाक्य किसी साहित्यिक के लिये प्रयुक्त हो सकता है तो वह बाबू गुलाबराय के लिये निःसंशय प्रयुक्त होने योग्य है।

—हिन्दी अध्यक्ष, सागर विश्वविद्यालय।

(पृष्ठ १०० का शेषांश)

आनन्ददायी, जबकि लोक में वही भाव हमारे क्लेश तथा अन्तः-क्षोभ का कारण बन जाता है। इसका एक और कारण यह है कि उस समय साहित्यकार इन्द्रियों क्षणिक फलदायी संस्पर्श से भी असम्बद्ध हो जाता है। उसके भाव एवं अभिव्यक्ति ने अनुभूति का ही मृदुल स्पर्श होता है। अतः वह अभिव्यक्ति स्वयं में निष्कलुष होने से भावक के लिये भी उसी आनन्द की सम्पोषिका बन जाती है। यही कारण है कि वाल्मीकि, कालिदास भवभूति, सूर, तुलसी आज नहीं रहे, फिर भी उनके साहित्य को पढ़ने पर पाठक विभोर हो जाता है।

निष्कर्ष यही है कि साहित्य-सृजन की प्रक्रिया अपने आप में एक साधना है। साहित्यकार इस साधना में सफल होने के लिए सदैव जीवन तथा जगत् के मानस को भलीभाँति परखता है, जीवन का कटु अनुभव संग्रह करता है और तदुपरि इन्द्रिय-निबिड़ से दूर भावना के प्राङ्गण में विशुद्ध हृदय होकर बिचरता है। वह मानव होकर भी देवत्व की आभा से भर जाता है, व्यष्टि होकर भी समष्टि के विस्तार में फैल जाता है। उसके लौकिक सम्बन्ध तब विलीन हो जाते हैं। उसकी मनःस्थिति अनोखी ही होती है। फिर किन अज्ञात क्षणों में उसकी अभिव्यक्ति रूप पा जाती है, इस सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक गति को वह स्वयं भी नहीं समझ पाता। यही खोकर पा जाने का अलौकिकानन्द है, उसकी व्यञ्जित वक्रता का आकर्षण है। आशय यह कि वह अज्ञात बना रहकर भी भावना के संस्पर्श में विश्व को चिरयुगीन अक्षर-निधि दे जाता है। इन क्षणों उसकी स्थिति उस ज्ञानी महात्मा के सदृश होती है जो नाम-रूप से रहित होकर उत्तम से उत्तम दिव्य परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त कर उसी भाँति लीन हो जाता है जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम रूप को छोड़ कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं—"यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नाम रूपे विहाय। तथा विद्वान्नाम-रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।"

(मुण्ड० उप० ३.२.८)

—१६१, नेताजी सुभाष रोड, कलकत्ता-७

अभिनव गद्यकार बाबू गुलाबराय

डा० रघुवीरशरण 'व्यथित'

समालोचना के क्षेत्र में जो स्थान आचार्य शुक्ल का है, जो आसन डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का है जो पद नगेन्द्र का है, उससे किसी भी प्रकार निम्नस्तर का गौरव बाबूजी का नहीं है। वे दर्शन की स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण थे और एक देशी राज्य की 'दीवानी' उन्होंने की थी। इन दोनों का ही प्रभाव उनके जीवन और कृतित्व पर पड़ा था। विचार क्षेत्र में जो दार्शनिक की तटस्थता होती है, वही कर्मक्षेत्र में सच्चे राजनयिक की है। और इसीलिए बाबूजी ने हिन्दी में अपना व्यक्तित्व और कृतित्व सदैव तटस्थ रखा। उनकी साधना अविरत मौन तथा कर्मरत रही, लेकिन न कभी विवेक की आँख फूटी और न कभी 'दस-बीस' को सङ्ग लेकर ही उन्होंने महन्ती करने की सोची। हिन्दी जगत् उनके कृतित्व को सश्रद्धा देखता है, उनके व्यक्तित्व का समादर करता है तो सब सहज रूप से, उसके लिए आशंसा, पद-प्रचार और पत्र-प्रसार तथा प्रच्छन्न आतङ्क जैसे साधनों की आवश्यकता नहीं है।

दूसरों के मतों का, उनका ऋण स्वीकार करते हुए भी, गुणदोषानुसार उचित मूल्याङ्कन करना और आवश्यक हो तो अपने गम्भीर चिन्तन द्वारा पूर्वमतों में कुछ संशोधन परक जोड़ना उनकी समालोचना-पद्धति का अङ्ग है। लेखन शैली की उनकी अपनी निराली भङ्गिमा है, चिन्तन के स्तर पर उनकी दृष्टि तटस्थ और तलस्पर्शी है। उनके 'हिन्दी-साहित्य का सुबोध इतिहास' ने सारे दक्षिण भारत को 'हिन्दी-इतिहास' में सुबोधता प्रदान की और हिन्दी की सार्वदेशिकता के उज्ज्वल रूप को सामने रखा। "सिद्धान्त और अध्ययन" ने पूर्व और पश्चिम के काव्य सिद्धान्तों को सरल और पैनी विवेचन दृष्टि से उपस्थित किया। अपने यहाँ के बड़े-बड़े दिग्गजों के भ्रम का सहज निराकरण—उनकी महत्ता को भी अक्षुण्ण बनाये रख कर, पश्चिम के क्रोशे जैसे कोटि के सौन्दर्य-शास्त्री की हठ वादिता पर अंगुलि-निर्देश, रससिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में रखकर सहज समर्थन और साधारणीकरण पर सुलझे हुए विचार उनके गम्भीर और दृढ़ आचार्यत्व की भूमियाँ हैं। 'काव्य के रूप' में हिन्दी-काव्यरूपों की सरस-चर्चा है। रस पर 'नवरस' भी सुन्दर मौलिक कृति है।

लेकिन इन सबके अतिरिक्त स्वयं बाबूजी जो कुछ हैं, पहले कहा गया है कि उन्होंने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व के विषय में प्रचार या प्रसार नहीं किया, तो उन्हें हम 'जीवन-रश्मियाँ', 'मेरे निबन्ध', 'मेरी असफलताएँ', 'कुछ उथले कुछ गहरे' आदि पुस्तकों के माध्यम से जान सकते हैं।

'जीवन-रश्मियाँ' में आपके प्रायः इन दो-तीन वर्षों के लेख हैं, जो और कहीं न मिलेंगे। ये उनके जीवन की अन्तिम मान्यताओं, विचारधाराओं और कार्यक्षेत्रों को प्रतिबिम्बित करते हैं। उसमें नैतिक और जीवन-मीमांसा सम्बन्धी लेख मिलेंगे, जिनमें 'सज्जन' और सज्जनता' के मापदण्ड हैं। 'जीवन-स्तर' पर मौलिक ऊँचाइयाँ दिखाई देंगी। 'घरेलू लड़ाई-झगड़े' पर शास्त्रीय और व्यावहारिक तथा मनोविज्ञानिक आलोक मिलेगा। 'नेता के आवश्यक गुण' की भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि से खोज की गई है तथा 'पारिवारिक जीवन और निजी सम्बन्ध' में कुशल गृही का विवेकपूर्ण भारतीय पावित्र्य और सुसंस्कारों से युक्त परिशीलन किया गया है। राजनीतिकता पर 'गणतन्त्र दिवस का शिव सङ्कल्प' है और 'साहित्यकार के कर्त्तव्यों' की आधार शिलाओं का न्यास भी मिलेगा और 'ब्रिटिश-शासन के वे दिन' स्वतन्त्रता से पूर्व के भारतीय मानस की सुन्दर झाँकी उपस्थित करते हैं, सूक्ष्म, सटीक परन्तु तटस्थ आलेखन-युक्त, और सरस व्यंग्यों सहित, यथा—"उन दिनों राज-

भक्ति में ही त्राण था। जो राजा-महाराजा राजभक्त थे उनको अभयदान मिला हुआ था और जो अक्खड़ टाइप के थे, जैसे महाराजा बड़ौदा, इन्दौर और अलवर नरेश आदि उनको स्वास्थ्य-सुधार के लिए इंग्लैण्ड, स्विटजरलैण्ड या पेरिस जाने का सत्परामर्श दिया जाता था।"

वैयक्तिक निबन्धों में उनके व्यक्तित्व का निश्छल उभार सामने आता है। 'मेरी प्रवास भीरुता', 'मेरे जीवन को सफल बनाने वाला', 'मेरे मानसिक उपादान' उनके अन्तर का सुन्दर आलेखन करते हैं। उनके कृतित्व के पीछे किस-किस की छाप थी, किस-किस का हाथ था, किस-किस का ऋण था, सब बेलाग और निर्व्याज भाव से स्वीकारा गया है।

हास्य-व्यंग्य में बाबूजी का सहज उत्फुल और प्रसन्न रूप सामने आता है। जगह-जगह कौतुक की सामग्री, असंगतियों के उपादान, दबा-ढका कर रखी ईहाएँ तथा आत्म-महत्व के हास्यास्पद उपाय लक्षित किए गए हैं। उदाहरणस्वरूप 'सीमावर्त्ती चोर' में ऐसे-ऐसे चोर सामने आते हैं कि हास्यपूर्ण कौतुक होता है। काम-चोर, टैक्स-चोर, साहित्यिक-चोर प्रायः सुने जाते हैं, परन्तु सर्वानुभूत ग्रन्थों में अवर्णित चोर, बाबूजी गिनाते हैं, वे हैं, पुस्तक-चोर, उलट-फेर-चोर, सुविधा-चोर आदि।

यात्रा सम्बन्धी लेखों में उनकी अपनी आँखों की पहिचान और उँगलियों की लिखावट उतर आयी है। कुछ हैं, 'साँची के स्तूप', 'छतरपुर और खजुराहो के पुनर्दर्शन', 'कुछ उथले और कुछ गहरे' के नाम से ही प्रकट है कि उसमें उनके हल्के और गंभीर विवेचना-पूर्ण लेख हैं। यह पुस्तक उनके जीवन के सर्वोत्तम अन्य लेखों का संक्षिप्त और सुप्राप्य सङ्कलन है। उनके कृतित्व के विविध क्षेत्रों का इससे सहज परिचय मिलता है।'

उसकी सहज विनोदपूर्ण सहृदय और स्वयं को भी लक्ष्य बनाकर चलने वाली हास्यपूर्ण वृत्ति का पता 'कुछ उथले' देते है। जीवन के विविध क्षेत्रों में उनके प्रयत्नों और दृढ़ आस्थाओं और प्रत्ययपूर्ण मान्यताओं का आलेखन कुछ गहरे में हुआ है। "गोस्वामीजी के जीवन पर नया-प्रकाश" में बाबूजी ने तुलसीदास विषयक खींच-तान करने वालों पर उनकी दुर्बुद्धियों का खोखलापन दिखाते हुए, अपने को ही लक्ष्य करके सहज उपहास और कटाक्ष प्रहार किया है और रंगीन चश्मे चश्मे की आधुनिक शोध-पद्धति की निस्सारता को उघाड़-उघाड़ कर दिखाया है। 'निबन्ध' का एक एक वाक्य गुदगुदाता, विचलाता, थकियाता और हत-वाक् कर देता है। उदाहरण स्वरूप।

"तुलसीदास में गरीबी की तो हीनता-ग्रन्थि थी ही, स्त्री की ढाँट-फटकार से भी उनके मन में एक कुण्ठा उत्पन्न हो गई थी। इसलिये उन्होंने कई जगह गाँठों, ग्रन्थियों का अपनी रचनाओं में उल्लेख किया है। गाँठ पानी परे सन की"। और 'साँवलिया बीज वाला' में यह वाक्य अपने से लेकर राजनीतिक-क्षेत्र तक को माप लाता है।

"वह मेरी जेबों के परिमाण को समझ गया है, और मेरी जानकारी की भी मेरे पाण्डित्य की सी झूठी धाक जम गई है। इसलिए, वह मुझ से कीमतों के सम्बन्ध में उतना ही झूठ बोलता है जितना कि राजनीतिक क्षेत्रों में क्षम्य समझा जाता है।"

उनकी कुछ आस्थाओं और विवेकपूर्ण मान्यताओं से उनका कृतित्व परिपूर्ण है, यहाँ एक उदाहरण देना पर्याप्त है। "हिन्दी में कुछ नहीं और सब कुछ है।"

जो लोग हीनता वश यह समझते हैं कि हिन्दी में कुछ नहीं, वे गलती पर हैं और जो लोग यह समझते हैं कि वह सर्वसम्पन्न है, वे भी भूल करते हैं। वैसे पराई पत्तल का भात चाहे अच्छा लगे, लेकिन हिन्दी आज किसी प्रान्तीय भाषा से पीछे नहीं है। यूरोपीय भाषाओं के ज्ञान-विज्ञान के साहित्य में वह उनकी समता नहीं करती, किन्तु रसात्मक साहित्य में वह बहुत पीछे नहीं है।"

शुक्लजी के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' की प्रसन्न और प्राञ्जल तथा लचकती-चलती शैली, उनके गम्भीर निबन्धों में बोझिल, भाराक्रान्त और सप्रयास हो जाती है। सब कुछ सहज धरातल पर उतर नहीं पाता। बाबू श्यामसुन्दरदास का गद्य गहरे उतर नहीं पाता

बाबू गुलाबराय के दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक ग्रन्थ

श्री विन्देश्वरीप्रसाद भार्गव

बाबू गुलाबराय उन साहित्य-सेवियों में से थे जिन्होंने माँ भारती के कोष को अपनी बहुमुखी प्रतिभा से यथेष्ट रूप में सम्पन्न किया। उनकी हिन्दी की सेवा उन आलोचनात्मक, दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक ग्रन्थों के रूप में मिलती है जिनका महत्व उस समय (आज से ५० वर्ष पूर्व) में तो अधिक था ही वरन् आज भी किसी दृष्टि में कम नहीं कहा जा सकता। वे उस समय हिन्दी जगत को ऐसे मननशील एवं गवेषणात्मक ग्रन्थ सुलभ कर सके जिनको पढ़ने के लिए जिज्ञासुओं को अंग्रेजी भाषा का सहारा लेना होता परन्तु बाबूजी के सद्प्रयत्नों से हिन्दी प्रेमियों को उनका ज्ञान सहज में ही उपलब्ध हो गया।

बाबू गुलाबरायजी ने दर्शन के सहारे साहित्य जगत में प्रवेश किया। आपने दर्शनशास्त्र विषय लेकर एम० ए० किया और फिर दर्शनशास्त्र का अध्यापन भी। आप छत्तरपुर राज्य में महाराजा के प्राइवेट सैक्रेटरी के पद पर नियुक्त हुए। वह भी दर्शनशास्त्र के प्रेम के कारण। महाराजा को ऐसे सैक्रेटरी की आवश्यकता थी जो उनके दार्शनिक अध्ययन में समुचित योगदान दे सके। बाबूजी ने साहित्य-जगत को कई अमूल्य ग्रन्थ प्रदान किये। प्रस्तुत निबन्ध में उनके केवल दर्शनशास्त्र एवं मनोविज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों का परिचय हो सकेगा।

बाबू गुलाबरायजी के ग्रन्थों को दर्शन एवं मनोविज्ञान के आधार पर चयन करने के लिए एक आवश्यक ध्यान यह रखाना होगा कि उन्होंने दर्शन व मनोविज्ञान के विषय के सिद्धान्त सम्बन्धी (Theory) ग्रन्थ लिखे। इसके अतिरिक्त आपके अन्य निबन्ध ग्रन्थों में (साहित्यिक एवं जीवन सम्बन्धी) भी दार्शनिक विवेचन भली भाँति हुआ है। कुछ ग्रन्थ शुद्ध रूप से दर्शन व मनोविज्ञान विषय के हैं और कुछ में यह व्यवहारिक रूप में है। अतः दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक

केवल छात्रोपयोगी होकर रह जाता हैं तथा सदा एकरसता से बाधित है। आचार्य द्विवेदी का गद्य विविध क्षेत्रों में आजमाया जा चुका है, साहित्य की गम्भीर विवेचनापूर्ण भूमिका, उपन्यास-युग की झाँकी देता हुआ तथा साहित्यिक सहज लघु निबन्धों में और इतिहास का सार अवलोकन में। उसमें संस्कृत शैलियों का विविध उच्छल प्रवाह है, बंगला की भावुक-ललित मिश्रित रीतियाँ हैं और स्थान-स्थान पर पारिभाषिक, रूढ़ और स्वनिर्मित शब्दों की गाँसें आती हैं जो गद्य के रसपान में खटकती हैं। रोक कर बढ़ने देती हैं। राहुल सांकृत्यायन की चिन्तनपूर्ण सहज समर्थ अभिधेय शैली है, लक्षणा और व्यञ्जना का विलास उसमें प्रायः नहीं है। डा० नगेन्द्र की पारिभाषिक और अंग्रेजी ढङ्ग से सोच कर आयी संस्कृत-गर्भित शैली है, सहज-गम्य सामान्य पाठक के लिए नहीं है। परन्तु बा० गुलाबराय की शैली में तीनों शब्द-शक्तियों का ललित विलास मिलेगा। वह सब कहीं अप्रतिहत है, क्या गहरे लेखों में, क्या उथले लेखों में, क्या शास्त्रीय विवेचन में, क्या राजनीतिक सामाजिक और वैयक्तिक चिन्तन, वर्णन या चित्रण में। सब कहीं सुबोध, सहज अनाक्रान्त और हलके-फुलके पदों से युक्त। वाक्य-विन्यास की चारुता ठेठ देशीय हिन्दी की, अपने में अप्रतिम, स्वभङ्गिमायुक्त, अलबेले, आडम्बरहीन। बाबूजी के प्रसादपूर्ण व्यक्तित्व की झाँकी देने में समर्थ है। उनकी गद्य-शैली ठेठ खड़ी बोली की गद्य-शैली है, आगरा की मँजी-सँवरी सार्वदेशिक हिन्दी शैली। उसमें अपनी मिठास है और अपनी सुवास।

—सेंट टामस कॉलेज, पालाई।

छाप वाले निम्नलिखित ग्रन्थ ठीक समझे गए हैं और उनका संक्षिप्त में परिचय दिया गया है—

दर्शन—(१) कर्त्तव्यशास्त्र–नागरी-प्रचारिणी-सभा, बनारस, १६१६। (२) तर्कशास्त्र भाग १, २, ३—नागरी-प्रचारिणी-सभा, बनारस, १६२६ से १६२६। (३) पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास—नागरी-प्रचारिणी-सभा, बनारस, १६२६।

काव्य-साहित्य—(४) नवरस—नागरी-प्रचारिणी-सभा, आगरा, १६२१।

दर्शन-साहित्य—(५) सिद्धान्त और अध्ययन—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १६५१। (६) काव्य के रूप—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १६५१। (७) हिन्दी काव्य विमर्श—प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, १६५५। (८) साहित्य समीक्षा–प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, १६५६। (६) अध्ययन और आस्वाद—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १६५७।

दर्शन-जीवन—(१०) मेरी असफलताएँ—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा, १६४०। (११) मेरे निबन्ध [जीवन और जगत]—गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा। (१२) कुछ उथले कुछ गहरे - शिवलाल अग्रवाल, आगरा, १६५७। (१३) जीवन रश्मियाँ—शिवलाल अग्रवाल, आगरा। (१४) राष्ट्रीयता—गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा, १६६१। (१५) अभिनव भारत के प्रकाश स्तम्भ—लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, १६५६। (१६) सत्य एवं स्वतन्त्रता के उपासक—नारायण पब्लिकेशनस, आगरा, १६६२।

दर्शन-संस्कृति—(१७) भारतीय संस्कृति की रूप रेखा—साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर।

मनोविज्ञान—(१८) मन की बातें—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १६५४।

बाबूजी की प्रतिभा चार क्षेत्रों में विशेष रूप से प्रकट हुई है। १. निबन्ध, २. दर्शन व मनोविज्ञान, ३. हास्य ४. आलोचना। अन्य क्षेत्रों में बाबूजी कम प्रभावशाली रहे हों यह बात नहीं। बाबूजी ने अपने निबन्धों द्वारा अथवा किसी विषय की विषद विवेचना द्वारा ही अपने धार्मिक, दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक विचार, मत आदि दिये हैं। इसीलिये उनके धर्म, दर्शन व मनोविज्ञान सम्बन्धी विचार जानने के लिये ग्रन्थ परिचय आवश्यक है।

दार्शनिक ग्रन्थ—दार्शनिक ग्रन्थों में कर्त्तव्य-शास्त्र तर्कशास्त्र (भाग १, २, ३) तथा पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास—तीन ग्रन्थ हैं जिनमें दर्शनशास्त्र के विभिन्न अंगों के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। कर्त्तव्यशास्त्र आचार शास्त्र व नीतिशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ है। जेम्स स्टुअर्ट मिल, बेंथम द्वारा प्रतिपादित नैतिक सुखवाद हाब्स तथा एपीक्यूरस व भारतीय चार्वाक दर्शन द्वारा प्रतिपादित स्वार्थ परायण सुखवाद, कर्तव्य, वाध्यता, काण्ट का आचार शास्त्र आदि को जन उपयोगी भाषा में पाठकों के सामने रखा। पाठकों को इस ग्रन्थ द्वारा नीतिशास्त्र, आचार व्यवहार कर्तव्य का समुचित ज्ञान प्राप्त होता है।

तर्क-शास्त्र—यह ग्रन्थ तीन भाग में है। पहले भाग में निगमनात्मक तर्क प्रस्तुत है। दूसरे भाग में आगमनात्मक तर्क है। तीसरे भाग में भारतीय तर्क-सिद्धांतों का क्रम-बद्ध वर्णन है। आपने तर्कशास्त्र की भूमिका में कहा है कि ज्ञान की वृद्धि में सहकारिता की आवश्यकता है। उदार दृष्टि लेकर यह आवश्यक है कि नए ज्ञान से लाभ उठाया जाय। नए ज्ञान (पाश्चात्य तर्क दर्शन) में पुराने ज्ञान (भारतीय तर्क) का भी यथेष्ट रूप में समावेश किया जाना चाहिए। अतः आपने तर्कशास्त्र के १, २ भाग में यथा स्थान भारतीय तर्क-शास्त्र के नियमों का उल्लेख किया ही है परन्तु स्वतन्त्र रूप से तर्कशास्त्र भाग ३ भी लिखा जिसमें जैन, बौद्ध, न्याय तर्क आदि के बारे में विस्तृत रूप से लिखा।

पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास—इन ग्रन्थ में पाश्चात्य दर्शन की समस्याओं का एतिहासिक विवेचन है। सुकरात, प्लेटो, अरस्तु, हब्स, देकोर्ट, स्पिनोज़ा, लाइबनीज़, लॉक वर्कले ह्यूम, कान्ट, हीगल आदि विचारकों के मतों का सुगम भाषा में विवेचन है। इस विषय पर बाबूजी के ग्रंथ के पहले आचार्य श्री रामावतार शर्मा का 'योरोपीय दर्शन के वाद' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका था। तत्वदर्शन की दृष्टि से आचार्य शर्मा का ग्रंथ

पाण्डित्यपूर्ण था पर साधारण पाठकों के लिए वह अधिक उपयोगी नहीं था। बाबूजी ने इस प्रकार के ग्रंथ की साधारण भाषा में तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर लिखे जाने की आवश्यकता महसूस की और पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास साहित्य-जगत में आया। वह ग्रन्थ नवीन दृष्टि एवं नवीन आवश्यकता के अनुरूप था और जिस उद्देश्य को लेकर यह ग्रन्थ प्रकाश में आया उसमें बाबूजी अग्रणी रहे। पाश्चात्य विचारकों के मतों को, दार्शनिक समस्याओं को तथा उस प्रकार की अन्य सामग्री को तत्कालीन हिन्दी के स्तर के अनुकूल सुरुचिपूर्ण ढङ्ग में इस ग्रन्थ के माध्यम से प्रस्तुत किया। वे शिक्षा का माध्यम मातृभाषा में चाहते थे और बाबूजी ने अपनी अर्जित विद्या को दर्शन-शास्त्र के इन तीन ग्रन्थों के रूप में प्रस्तुत कर माँ भारती के भण्डार को श्री युक्त किया।

दर्शन और साहित्य—बाबूजी दार्शनिक पहले थे साहित्यकार बाद में। बाबूजी दर्शनशास्त्र के अध्ययन में आगरे की उन दार्शनिक विभूतियों के सम्पर्क में रहे जिनका परिचय आपने 'गुरुदेभ्योनमः' नामक निबन्ध में किया है। दर्शन के अध्ययन में उनकी क्रियाशील तत्परता के दर्शन इसी रोचक निबन्ध में होते हैं। आपने दर्शन के ज्ञान का प्रयोग साहित्य में भी किया। आपके दर्शन और साहित्य की कोटि में आने वाले ग्रन्थों में अधिकांश में काव्य विवेचन का सैद्धान्तिक पक्ष, आलोचना के मानदण्ड, काव्य-भेद आदि विषयों को लेकर हुआ है। इन ग्रन्थों में नवरस, सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप, हिन्दी काव्य विमर्श, साहित्य समीक्षा, अध्ययन और आस्वाद नामक ग्रन्थ अधिकांश में उल्लेखनीय हैं। दर्शन से उपरोक्त विषयों का विशेष सम्बन्ध रहा है। इसका एकमात्र कारण यह है कि बाबूजी के लिये विवेचन का आधार दर्शन तथा उसके अङ्ग मनोविज्ञान, तर्क शास्त्र, नीतिशास्त्र आदि के सिद्धान्त थे। उदाहरण के लिये रस का मनोविज्ञान से पाश्चात्य मनोविज्ञान के पण्डितों द्वारा प्रतिपादित संवेग, आवेग तथा अनुभूति आदि मनोवैज्ञानिक संस्थिति के सहारे विवेचन था। रसशास्त्र भारतीय था तो मनो-वैज्ञानिक दृष्टि पाश्चात्य थी और नवरस में दोनों का समन्वय। वास्तव में हिन्दी जगत् को बाबूजी की यह महत्वपूर्ण देन रही है।

'सिद्धान्त और अध्ययन' इस शृङ्खला की अगली कड़ी है। भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों का वर्णन—पाश्चात्य आलोचक प्रवर अरस्तू के सिद्धान्त काव्य क्या है, काव्य की आत्मा, भावपक्ष, कलापक्ष, कला क्या है कलाओं के भेद ललित कला और उप-योगी कला। साहित्य की मूल प्रेरणाएं—साहित्य और जीवन, सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के त्रयी सिद्धान्त, रस और मनोविज्ञान आदि विषयों का मनोवैज्ञानिक विवेचन 'सिद्धान्त और अध्ययन' में मिलेगा। विषय वस्तु भारतीय रङ्ग में रङ्गी है तो आंकने की दृष्टि पाश्चात्य और वैज्ञानिक।

'काव्य के रूप', 'हिन्दी काव्य विमर्श', साहित्य समीक्षा आदि ग्रन्थों में साहित्य तथा काव्य के अङ्गों का दिग्दर्शन है, अलङ्कार क्या है, उनके भेद तथा उनकी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि आदि विषय हैं। बाबूजी के दृष्टिकोण की यही विशेषता है कि साहित्य के प्रत्येक अङ्ग को मानवीय प्रवृत्तियों के अनुरूप देखते थे चाहे काव्य हो, साहित्य हो अथवा आलोचना। मनुष्य से पृथक रूप में तो इनका अस्तित्व है ही नहीं। रस नीरस है यदि पाठक उसका आस्वादन न कर पाएं। आलोचना सही नहीं है यदि उसके मानदण्ड मानवीय समझ से परे है। साहित्य तो समाज का प्रतिबिम्ब है ही अतः उनका दृष्टिकोण 'सभी बातों में मानदण्ड मनुष्य है' के सिद्धान्त के अनुरूप था। उनके अनु-सार साहित्यकार पाठक को या कवि स्रोतागण को सक्रिय साझीदार मानें और वे सामग्री को उन्हें सुपाच्य बनाकर भेंट करें। लोक कल्याण की भावना के बाद ही 'स्वान्तः सुखाय' का सिद्धान्त फब सकता है। आपने साहित्य में दर्शन को प्रस्तुत किया जैसा वे उचित समझते थे। आपके साहित्यिक निबन्ध, कवियों पर निबन्ध तथा आलोचनाएँ किसी न किसी प्रकार आपके दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं।

'अध्ययन और आस्वाद'—साहित्यिक निबंधों का

संग्रह है।' आपके निबन्धों का विषय व्यापक है। उन्हीं के शब्दों में "सारा जीवन और जगत-साहित्य—आलोचना उसी विशाल जीवन विषय की सुरम्य सुमनावलियों में है। इनमें मेरे जीवन के अनुभव, राष्ट्रीय भावनाएँ और जीवन-दर्शन के सि ान्त संग्रहीत हैं। इनके अनुशीलन से विद्यार्थीगण विचारों में सम्पन्नता प्राप्त करके व्यवहार-कुशल अच्छे नागरिक बनने के साथ-साथ एक परिमार्जित और आकर्षक शैली के गुण सीख सकते हैं।" निबंध में वस्तु-विषय के अतिरिक्त शैली का ज्ञान जिसका सीधा सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है, बाबूजी के निबन्धों से सीखा जा सकता है। बाबूजी की रचनाओं से दर्शन के सिद्धान्तों, व्यवहारिक दर्शन का सम्बन्ध तो स्पष्टतः प्रकट होता ही है।

दर्शन और जीवन—बाबूजी के निबन्धों में निजी जीवन तथा सामान्य जीवन व जगत से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। दर्शन जीवन सम्बन्धी ग्रन्थों में 'मेरी असफलताएँ' 'मेरे निबन्ध' 'कुछ उथले कुछ गहरे' तो बाबूजी के निजी जीवन, आत्म-अभिव्यक्ति तथा उनके आशावादी दृष्टिकोण का परिचय देते हैं। इनके अतिरिक्त 'राष्ट्रीयता', 'अभिनव भारत के प्रकाश स्तम्भ' 'सत्य एवं स्वतन्त्रता के उपासक' आदि ग्रन्थ उनके जीवन-मूल्यों आदर्शों तथा जीवन के लक्ष्य के बारे में बताते हैं।

'निजी निबन्धों' में आत्म-अभिव्यक्ति के साथ-साथ बाबूजी अपने ऊपर हँसे भी हैं। हास्य में उनका विशिष्ट स्थान रहा है। पाठकों के मनोरञ्जन के लिए वे स्वयं बलि के बकरे बने हैं। 'मेरी असफलताएँ' पुस्तक में उपहास है पर उसका भी लक्ष्य है। वैसे तो वे असफल कहे नहीं जा सकते परन्तु यदि कहीं कोई उन्हें असफल पाता भी है तो हास्य स्थिति ऐसे पाठकों के लिए चेतावनी है। आपने एक स्थल पर कहा है कि "मेरी असफलताएँ" निजी जीवन की हास्य एवं मनोरंजन की सामग्री है।" यह असफलताएँ ठीक उसी प्रकार की हैं जैसे कि किसी अक्लमन्द से पूछा गया कि अक्लमंदी कहाँ से सीखी ? उत्तर मिला। 'अज़ वेवकूफां'। तो बाबूजी की वेवकूफी (यदि कहीं हो तो) में भी अक्लमंदी सिखाने के गुण विद्यमान हैं। यह हँसी 'कुछ उथले कुछ गहरे' में भी है। उथले तो हल्के के समान हैं उन निबन्धों में आत्म-अभिव्यक्ति—अहं से संबंधित—यशोकामना है—हास्य ही। पांडित्यपूर्ण सन्तुलित तथा नुकीला सोद्देश्य। वह भी शुद्ध विनोद के रूप में। हास्य तब आता है जब वे जीवन से ऊब जाते थे। आप के गहरे निबन्धों में भारी तथा भरकम निबन्ध हैं जो बोझिल नहीं हैं। विषय-वस्तु रूपी कलेवर अवश्य भारी है पर सरस शैली की सजीवता बोझे को हल्का कर देती है। बाबूजी राष्ट्रीयता के हामी रहे हैं। राष्ट्र की उन्नति में प्रसन्न रहे और जब जब राष्ट्र की अवनति हुई तब तब वे दुखी भी हुए। समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निबन्धों में यह बात स्पष्टतः झलकती है। राष्ट्रीयता की अभिव्यक्त गहरे निबन्धों में हुई है। वे राष्ट्रीयता की भावना का कितना आदर करते थे इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आपकी पुस्तक 'राष्ट्रीयता' है। लोक-कल्याण, लोक-मंगल की सद्भावना व सदाशयता की परम् आवश्यकता है इसी कारण से इस ग्रंथ का सृजन हुआ। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद भी संकुचित वातावरण अधिक मात्रा में मिला। कहीं किसी प्रकार की पारस्परिक स्पर्धा। आपने लोगों को इस संकुचित वातावरण से निकल, मुक्त, उदार वातावरण में आगे बढ़ने का संदेश दिया। राष्ट्रीय मूल्यों के महत्व को समझाया। राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिये चेतावनी दी और राष्ट्र में व्यक्ति के उत्तरदायित्व के प्रति उसे सजग रहने का सन्देश दिया। इन्हीं निबन्धों के द्वारा ग्रन्थ रचकर ! कर्त्तव्य-भावना जिसे अधिकारों के मद में लोग भुला बैठे थे। विद्यार्थियों व नागरिकों के लिए आपने राष्ट्रीयता का साधारण तथा राष्ट्रीयता बाधक तत्व आदि की विवेचना सरल शैली में की। आपने इस पुस्तक में सह-अस्तित्व का दर्शन, पंचशील के सिद्धान्त, समन्वयवादी नीति आदि का प्रतिपादन किया। आपका दृष्टिकोण निरपेक्ष तथा सत्यप्रेरक था। आपका दृष्टिकोण असाधारण रूप से आशावादी था। आप कहते हैं—"चूहे की खाल से दमामा तो नहीं मढ़ा जाता और दो चार लेखों से जन-प्रवृत्ति में सहज में अन्तर नहीं पड़ता फिर भी मुझे विश्वास है कि सद्-

भावना कभी निष्फल नहीं जाती" इसी विश्वास के साथ वे अपने पाठकों को अपने ग्रन्थ सौंपते थे।

आपने विद्यार्थी जगत के लिए जीवनी-साहित्य लिखा जोकि एक मनोवैज्ञानिक सत्य को चरितार्थ करता है। जीवनी साहित्य के अन्दर निहित उपादेयता उनके ही शब्दों में "मानव चरित्रों का अध्ययन न केवल औत्सुक्य के कारण ही नहीं करना चाहिए—"चरित्र-नायकों की सफलताओं और असफलताओं का निरूपण तथा आदर्श चरित्र का निर्माण कर सकें अर्थात् व्यक्तित्व का कलापूर्ण निरूपण जो सन्तुलनात्मक प्रेरणा देने में सफल हों।" इसी उद्देश्य को लेकर आपने 'अभिनव भारत के प्रकाश स्तम्भ' एवं 'सत्य एवं स्वतन्त्रता के उपासक' दो ग्रन्थ हिन्दी जगत् को भेंट किये।

'भारतीय संस्कृति की रूप रेखा'—में आपने संस्कृति के व्यापक क्षेत्र का ज्ञान कराया है। साहित्य, समाज, सङ्गीत, कला, धर्म, दर्शन, लोकवार्ता, राजनीति आदि अपने साथ ऐतिहासिक महत्व रखते हैं। उन्हें भारतीय संस्कृति पर गर्व था। भारतीय संस्कृति उनके चिन्तन व मनन का आधार थी। उनके अनुसार वास्तविक समृद्धि और सम्पन्नता, साहित्यिकों, विचारकों, कवियों, कलाकारों व जनता की मनोवृत्ति पर निर्भर होती है और नैतिक उन्नति, शिक्षा-दीक्षा, जीवनयापन स्तर पर स्थिर होती है।

मनोवैज्ञानिक ग्रन्थ—'मन की बातें'—इस पुस्तक में आपने व्यवहारवाद के मनोविज्ञान का परिचय दिया है। मनोविज्ञान मनुष्य का अध्ययन है। यह दृष्टिकोण वास्तव में पाश्चात्य दृष्टि के अनुकूल था। आपने मनोविश्लेषण, स्वप्न संसार, प्रभुत्व कामना, मानसिक-ग्रन्थियाँ, प्रदर्शन, नित्य की भूलें, अध्यात्मवाद, आदि विषयों के बारे में बाल सुलभ व जन साधारण की पहुँच के लायक शैली में बताया है। आपकी शैली मनोविज्ञान के उन अध्यापकों तथा प्रकाण्ड पण्डितों को समुचित उत्तर देती है जिन्हें मनोविज्ञान का हिन्दी में अध्ययन, अध्यापन, लेखन में कठिनाई प्रतीत होती है।

मनोविश्लेषण के बारे में आपने बताया कि मन के ऊपर के स्तर के अध्ययन से सन्तुष्ट न होकर भूगर्भ-शास्त्र के अन्वेषक की भाँति भीतरी स्तरों का अध्ययन किया जाता है। मन को ऊपरी लोक चेतना का लोक, इसके बाद अचेतन मन जो अँधेरी कोठरी की भाँति है, परिचय कराया है। फ्रायड, एडलर, युंग, रिकमैन, शिल्डर, फैरेन्सजी आदि की नवीनतम विचारधारा को सुलभ शैली में इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया। आपने इन नवीनतम विचारधाराओं को गुरु मुख से नहीं सुना था। जिस समय बाबूजी दर्शनशास्त्र का अध्ययन समाप्त कर चुके थे तब तक इन विचारधाराओं का जन्म भी नहीं हुआ था। यह सब तभी सम्भव हुआ जबकि उनका सम्पर्क आधुनिक मनोविज्ञान से बराबर बना रहा और बाबूजी हमेशा इस ज्ञान सम्वर्धन के लिए क्रियाशील रहे।

आपने मनोविज्ञान की शब्दावलियों के हिन्दी-रूपान्तरों की बहुत आवश्यकता बतायी। कुछ शब्दावलियों के हिन्दी रूपान्तर दिये भी। इस ग्रन्थ की शैली के सम्बन्ध में यह बताना परम आवश्यक है कि लोक-रुचि को ध्यान में रखकर ग्रन्थ में साहित्यिकता लाई गई है। मनोवैज्ञानिक पहलू को लिए हुए मानव प्रकृति का सम्बन्ध समाज से, समाजमनोविज्ञान में मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बाबू गुलाबराय के हर ग्रन्थ में उनका व्यक्तित्व, दर्शन तथा मनोविज्ञान, सन्देश आदि प्रकट होता है। उनके ग्रन्थ, निबन्ध, आलोचना भी मानव समाज के लिए लिखे गये और उनमें दर्शन तथा मनोविज्ञान जैसे उपादेय विषय का सन्देश पाठकों को मिलता है। लोक-कल्याण और लोक-मङ्गल और उपादेयता की भावना से ओत-प्रोत साहित्य अन्यत्र मिलना कठिन है।

—२२३४, ढिलीईंट रोड, आगरा।

उपन्यासकार अमृतलाल नागर

श्री कुन्दनलाल उप्रैतिः

जार्ज लुकाच के विचार से—"सच्चे यथार्थवादी साहित्य की यह प्रमुख विशेषता है कि लेखक बिना किसी भय या पक्षपात के ईमानदारी के साथ जो कुछ भी अपने आसपास देखता है उसका चित्रण करे।" एक स्थान पर उसने फिर लिखा है, "यथार्थवाद में ऐसे तथ्यों को मान्यता दी जाती है जिनके अनुसार साहित्य की कार्य-भित्ति न तो निर्जीव वस्तुओं पर आधारित है, जैसा कि प्रकृतवादियों का अनुमान है; और न तो व्यक्तिगत सिद्धान्तों पर ही, जिनका निर्माण व्यक्तिगत स्वार्थों को लेकर होता है और जो व्यवहार में अपना कुछ भी मूल्य नहीं रखते।"[1] इसलिए यथार्थवाद जीवन का वह वास्तविक चित्रण है जो समाज का पूर्ण जीवन चित्र उपस्थित कर देता है। उसका लक्ष्य वस्तु-जगत की स्थितियों को सामने रखते हुए अच्छी से अच्छी स्थितियों की ओर समाज को बढ़ाना है। यही कारण है कि शरद, प्रेमचन्द जनता के हृदय को स्पर्श करने में सफल हुए। वे अपने समय की समस्याओं और संघर्षों को तटस्थ होकर नहीं देखते थे। बल्कि वे जनता की पीड़ा, वेदना और व्यापक सङ्घर्ष के प्रति सहानुभूति भी देखते थे।

अमृतलाल नागर की उपन्यास कला का उद्देश्य व्यक्ति और समाज को मिलाकर उनकी समस्याओं का उद्घाटन कर उसका समाधान करना और रूढ़िबद्ध मान्यताओं पर व्यंग्य कर व्यापक मानवता का सन्देश देना है। "समूह एवं समाज की अनिवार्यताओं को स्वीकार करती हुई उसकी कला व्यक्ति की गरिमा की अवहेलना न कर व्यष्टि तथा समष्टि की पारस्परिक सापेक्षता को जीवन के विकास का मूल सिद्धान्त मानने में प्रवृत्त हुई है। व्यक्ति सत्य केवल व्यक्ति सत्य नहीं है वरन् जीवन एवं समाज से सम्बद्ध भी है। यदि सामाजिक तत्त्व जीवन का एक महत्वपूर्ण अंश है तो व्यक्ति तत्त्व उस महत्त्वपूर्ण अंश का पूरक है। व्यक्ति सामाजिक यथार्थ को उतना ही प्रभावित करता है जितना सामाजिक यथार्थ उसे प्रभावित करता है। इस पारस्परिक घात-प्रतिघात में व्यक्ति की कुण्ठा स्वयं परिष्कृत होती रहती है।"[1]

नागरजी के 'महाकाल' और 'बूंद और समुद्र' नामक उपन्यासों में व्यष्टि और समष्टि के समन्वय तथा सामाजिक दायित्व के प्रश्नों को आधार बनाकर उनके सजीव पात्रों के विकासमान जीवन के द्वारा सामाजिक चेतना की अनिवार्यता पर बल दिया गया है। प्रेमचन्द की भाँति उन्होंने व्यक्ति की महत्ता को स्वीकार कर समाज-मङ्गल को ही अधिक प्रधानता नहीं दी है, बल्कि उन्होंने व्यक्ति और समाज को समान महत्त्व दिया है। उनकी कला जीवन की सापेक्ष स्थिति द्वारा नए स्तर निर्माण करने में लगी हुई है। मानव-सत्य और मानवीय संवेदनाओं को प्रश्रय देकर, एक ओर मनोविश्लेषणवादी चिन्तन धाराओं और दूसरी ओर मार्क्सवादी सिद्धान्तों का विरोध करती है। 'बूंद और समुद्र' में व्यक्ति और समाज दोनों के महत्व को स्वीकार किया गया है। "लेखक का विश्वास उस मानव के प्रति है जो लघु होने के साथ-साथ अपने प्रति जागरूक है। उनके उपन्यासों में चरित्राङ्कन प्रेमचन्द्र के चरित्र-चित्रण की अपेक्षा प्रायः अधिक जीवन्त है, उनकी शैली यथार्थ के अधिक निकट है, उनकी आदर्शवादिता अधिक विश्वसनीय है, उनकी आस्था अधिक परिपक्व है।"[2]

---

[1] विस्तार के लिए देखिए—'समालोचक' का यथार्थवाद विशेषाङ्क (लुकाच की यथार्थवाद सम्बन्धी मान्यताएँ—लेखक-कुन्दनलाल उप्रेती)

[1] 'हिन्दी उपन्यास'—डा० सुषमा भवन।

[2] वही।

'महाकाल की कथा' बङ्गाल के दुर्भिक्ष की पृष्ठ-भूमि पर आधारित है। जब द्वितीय महायुद्ध ने मानव-जीवन को अस्तव्यस्त कर दिया था, जब लोगों ने अपने घरों में चावल इकट्ठा करना शुरू कर दिया था; जब किसान और मजदूर भूख से मरने लगे थे। जब सतियाँ वेश्या होने लगी थीं और चारों ओर आर्तनाद छाने लगा, ऐसे समय नागरजी ने शोषण के विरुद्ध आक्रोश तथा घृणा न पैदा कर (जैसा कि शोषण के विरुद्ध आक्रोश डॉ० रांगेयराघव ने 'विषाद मठ' में किया है) मानव चरित्रों तथा उनके पारस्परिक चरित्रों को उभारने का प्रयत्न किया है। 'पाँचू गोपाल', 'दयाल' और 'बनिया मोनाई' अपने-अपने समाज के प्रतीक हैं। पाँचू गोपाल गांव के शिक्षित व्यक्तियों में से है। वह भूख शान्त करने के लिये स्कूल का सामान बेचने के लिये विवश हो जाता है। एक ओर उसे यह ख्याल आता है कि यह चोरी है और दूसरी ओर परिवार का ध्यान, जो भूखा है। पाप पुण्य का द्वन्द्व होता है और पाप विजयी होता है। दयाल जमीदार और मोनाई के के चक्कर में पड़कर वह विचलित हो जाता है और अपने चारों ओर पतन ही पतन देखने लगता है। "पाँचू गोपाल की कटु अनुभूतियाँ उसके अहं का परिमार्जर करने तथा उसकी चेतना को मानवीय बनाने में योग देती है।" अकाल परिणाम से तथा भूख को शान्त करने के लिये जीवित लड़कियों को पकाकर खा जाना; पुजारी द्वारा गो-वध, गोदामों पर आक्रमण आदि भीषण रूप से कँपाने वाले दृश्य उसके हृदय में घृणा पैदा कर देते हैं। यहाँ तक कि पाँचू का पुत्र अपनी पत्नी को विक्रय कर वेश्या का जीवन बिताने के लिये मजबूर कर देता है। यह उसके पलायन के लिये काफी है। परन्तु सहसा एक शिशु को अपनी माता के शव के पास रोता देखकर उसका हृदय द्रवित हो जाता है और उसकी कायरता समाप्त हो जाती है। साहस उसमें पुनः लौट आता है।

पाँचू गोपाल दयाल जमींदार और मोनाई केवट पूँजीपति द्वारा सताया जाता है। मोनाई का चरित्र लेखक की व्यंग्यात्मक शैली और विनोदात्मक दृष्टि का ही परिणाम है। वह भगवान के भगत होने के साथ-साथ जनता को लूटने वाला भी है। वह दीन-दुखी अबलाओं का भी व्यापार करने लगा—"भगवानजी ने इस नये व्योपार में अच्छे पैसे बनवा दिये तो आगे चल कर एक अनाथाला और आसरम भी खुलवा दूंगा यही तो धरम की महमा है। संसारी जीउ मोह माया में पड़के अगर पाप भी कर बैठे तो परासचित करके पुन्न की नैया में भवसागर के पार उतर जाय। अहा, धन्न हो भगवानजी। तुम्हारी लीला अपरम्पार है। एक ओर तो अर्जुन को उपदेश दीना कि अर्जुन मोह माया में मत पड़ और दूसरी ओर राजपाट के लिये उससे जुद्ध भी करवा दीना। वाह वाह ऐसा न्याय भगवानजी के सिवाय और कौन कर सकता है।....हे दीनानाथ, हमारे भी सारथी बन जाओ।"[1] इस प्रकार लेखक ने पूँजी पति वर्ग पर व्यंग्य कसते हुए तथा दयाल पर मीठी चुटकियाँ लेते हुए सामाजिक ध्येय का उद्घाटन किया है।

'सेठ बांकेमल' एक हास्य उपन्यास है। इसमें लेखक की शैली जीवन कथात्मक है। इसका हास्य अपेक्षाकृत प्रौढ़ एवं कलापूर्ण है। सेठ बांकेमल और चौबेजी की यात्राओं एवं जीवन अनुभूतियों का आगरा की मधुर आञ्चलिक भाषा में समाज के स्वरूपों का व्यंग्यात्मक चित्रण किया है। समाज की जर्जर रूढ़ियों पर मीठी चुटकियाँ भरी हैं। आञ्चलिकता के नाम पर दुहाई देने वालों को यह ज्ञात हो जाना चाहिये कि नागरजी के उपन्यास 'मैला आँचल' की आञ्चलिकता से कम नहीं। प्रेमचन्द की परम्परा में 'मैला आँचल' को जोड़ने वाले एक बार पुनः इस पर विचार करें—"श्री अमृतलाल नागर ने 'नवाब मसनद' में लखनऊ के एक वर्गविशेष की बोली, 'सेठ बांकेमल' में आगरे की—अथवा इस शहर में अपनी ससुराल के मुहल्ले की बोली का उपयोग करके हास्य रस की श्रेष्ठ कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। 'बूंद और समुद्र' में शहर लखनऊ मुहल्ला चौक के गली-कूंचों की खाक छान कर महिला समाज की बोलियों के वह सरस नमूने पेश किये हैं

[1] अमृतलाल नागर—'महाकाल' पृष्ठ १७६।

कि अवध की बेगमात की बोली भी मात हो गयी है। नागरजी के उपन्यासों में–विशेष कर 'बूंद और समुद्र' में सामन्ती समाज व्यवस्था के विघटन का मार्मिक चित्र मिलता है। विभिन्न अञ्चलों के पाठकों का प्रतिबिम्ब भी वहाँ देखने को मिलते हैं।"[1]

'बूँद और समुद्र' व्यक्ति और समाज के समन्वय की समस्या को महिपाल, सज्जन और वनकन्या द्वारा लेकर चलता है। महिपाल साहित्यकार है और विचारों से प्रगतिशील जो रूढ़िवादिता और अन्धविश्वास का घोर विरोधी है और जो आन्दोलन को आवश्यक मानता है। साथ ही वह घोर अहंवादी है। वह अपने अन्तिम पत्र में व्यक्तिवादी चिन्तन में भी सामाजिक दृष्टिकोण को समाविष्ट करने का सन्देश छोड़ जाता है।

सज्जन के जीवन में वैयक्तिक एवं सामाजिक चेतना का समन्वय हुआ है। वह एक कलाकार है। वह विनोबा की सामूहिक चेतना और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को आत्मसात किये हुये है। वह लोक के हित के लिए अपने को समर्पित तो करना चाहता है परन्तु लोकमङ्गल और व्यक्ति-मङ्गल का सङ्घर्ष उनके सामने आ जाता है। वास्तव में देखा जाय तो सज्जन महिपाल का विकसित रूप है। क्योंकि आगे चल कर सज्जन समाज को बदलने का सङ्कल्प कर लेता है। वह व्यक्ति और समाज को दूध और पानी की तरह घोल देना चाहता है।

वन कन्या निम्न-मध्य वर्ग की एक प्रगतिशील लड़की है, जिसे लोग कम्यूनिस्ट समझते हैं। जो सत्य और न्याय के लिए लड़ती है जिनकी सामूहिक चेतना भी वैयक्तिक दृष्टि से अनुप्राणित है। मानव के विकास में जितनी रूढ़ियाँ हैं उनका वह विरोध करती है। वन कन्या सज्जन के आकर्षण में बँध जाती है। वह विश्वास को प्रेम का आधार मानती है। सज्जन का असंयम व्यवहार उसके सपनों को तोड़ देता है। बाबा रामजी के वचन कन्या को प्रभावित करते हैं। वह सज्जन के दुर्व्यवहार से व्यथित होने पर भी उसकी ओर से विरत नहीं हो पाती। क्योंकि उसका विश्वास है कि प्यार बड़ी चीज है और प्यार से दुनियाँ बदल जाती है। इस भावधारा पर विनोबा और गांधी की स्पष्ट छाप है। "उपन्यास के प्रायः सभी पात्र मध्यवर्गीय जीवन में चेतना के विविध स्तरों के प्रतीक और विभिन्न दृष्टिकोणों के प्रतिनिधि हैं। सज्जन और वनकन्या अपने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण और वैयक्तिक चेतना को क्रमशः सामाजिक चेतना से समन्वित करने में सफल होते हैं। महिपाल व्यक्ति और समाज के सङ्घर्ष में पिसकर समाप्त हो जाता है।"[1]

"अमृतलाल नागर के पास अपनी विभिन्न शैलियों में भाव-विचार प्रकट करने वाले पात्रों का अक्षय भण्डार है। उनकी कला में यह शक्ति है कि इन पात्रों को वह उनके सामाजिक परिवेश के साथ सजीव कर देते हैं। 'बूँद और समुद्र' में जितना सामाजिक अनुभव सञ्चित है। वह अपने ढङ्ग का विश्व-कोष बना देता है। उसे एक बार नहीं बार-बार पढ़ने को मन करेगा।[2]

'सुहाग के नूपुर' नागरजी की नवीनतम कृति है। इसकी कथावस्तु का बीज नागरजी ने प्रथम शताब्दी ई० के तमिल महाकवि बौद्ध भिक्षु इलंगोवन के 'शिलप्पदिकारम्' महाकाव्य से लिया है। इसका कथा-क्षेत्र कावेरी पट्टनम है। "लेखक ने प्रेम त्रिकोण का निर्माण कर उसके कोण बिन्दुओं का स्पर्श करते हुए एक बहिरङ्ग-वृत्त के रूप में तत्कालीन सामाजिक जीवन, कला तथा अन्तर्देशीय व्यापार को आधार बनाकर चलने वाले राजनीतिक सङ्घर्षों, कुचक्रों एवं सांस्कृतिक जीवन की विकृतियों आदि की भी झाँकी प्रस्तुत करदी है। प्रेम त्रिकोण की सृष्टि के फलस्वरूप उपन्यास के मूल भाव के रूप में सङ्घर्ष की परिव्याप्ति है। यह सङ्घर्ष सुहाग के नूपुरों और नर्तकी के घुँघुरुओं का है, कुल-वधू और नगर-वधू का है। माधवा और कन्नगी के दो छोरों के बीच चेट्टिपुत्र कोवलन का द्विधाग्रस्त मन भटकता है।'[3]

[1] डॉ० रामविलास शर्मा–'आस्था और सौन्दर्य।

[1] हिन्दी उपन्यास'—डा० सुषमा धवन।

[2] डॉ० रामविलास शर्मा—'आस्था और सौन्दर्य'

[3] "हिन्दी वार्षिकी : १९६०"—सम्पादक डा० नगेन्द्र ('सुहाग के नूपुर' श्री महेन्द्र चतुर्वेदी)

माधवी जो समाज के अन्याय से प्रताड़ित है समाज की जर्जर मान्यताओं और परम्पराओं का विरोध करती है और समस्त समाज को भस्म कर देना चाहती है। जैसे-जैसे वह सुहाग के नूपुर को प्राप्त करने की चेष्टा करती है वैसे ही वैसे उसका व्यक्तित्व कुल-वधू और नगर-वधू के सङ्घर्ष में डूबता चला जाता है। माधवी के चित्रण में लेखक की यथार्थ भावना मूर्तमान हो उठी है। दूसरी ओर लेखक की आदर्श-भावना को लेकर चलने वाली कन्नगी अपने मौन समर्पण के द्वारा कोवलन के अहंकार और माधवी के कुचक्र से टकराकर भी अपने सुहाग के नूपुरों की रक्षा करती है। और अन्त में अपने पति की प्रतिष्ठा को बचाने के लिये वह उन नूपुरों को बेचने के लिये तैयार हो जाती है। क्योंकि ये नूपुर कोवलन की प्रतिष्ठा के प्रतीक हैं, न कि विलास के।

कोवलन एक द्विधाग्रस्त व्यक्तित्व है। वह स्वभाव से चञ्चल एवं रूप लोभी है। उसका विकास नारी के दो रूपों के बीच में होता है। कन्नगी और माधवी नारी के इन दो रूपों में से उसका मन माधवी की ओर झुकता है। परन्तु चेतना की घुटन के बाद पतन की चरम स्थिति पर पहुँच कर उसे कन्नगी का ही सहारा मिलता है।

सुहाग के नूपुर में नागरजी ने बड़े कौशल से नारी पुरुष सम्बन्धों के विविध पक्षों का उद्घाटन किया है। "शैलीकार के रूप में नागरजी की महत्ता आज के सक्रिय हिन्दी उपन्यासकारों में किसी से भी कम नहीं। उपन्यास के अनेक वर्णन लेखक की कवित्व शक्ति के साक्षी हैं—कदाचित उसका कुछ श्रेय मूल-काव्य के वर्णन सौंदर्यों को भी हो। 'सुहाग के नूपुर' की भाषा में प्रवाह और कान्ति का सुन्दर सामञ्जस्य है। प्रस्तुत उपन्यास 'बूँद और समुद्र' जैसे वृहद् सफल उपन्यास के लेखक की भी गरिमा वृद्धि करता है।"[१]

भाषा पर नागरजी का अधिकार अद्वितीय है। भाषा-शैली की विविधता एवं मनोरञ्जक संवाद पात्रों में एक जीवन डाल देते हैं। हर पात्र की अपनी अलग-शैली और व्याकरण हैं। 'बूँद और समुद्र' में एक हद तक लखनऊ के विभिन्न जनपदों की बोलियों के दर्शन हो जाते हैं। "इन शैलियों में भाषाओं और समाज का इतिहास बोलता है। इसके अतिरिक्त कला की दृष्टि से व्यक्ति का चरित्र कम से कम पचास फीसदी शैली से प्रकट होता है। जहाँ तक हास्य रस का सम्बन्ध है—केवल शुद्ध हास्य नहीं, विनोद, मनोरञ्जन, वक्रोक्ति, व्यंग्य सभी कुछ उसकी निष्पत्ति सौ फीसदी इस बोली-ठोली और शैली पर निर्भर है।" डॉ० रामविलास शर्मा से इसे लिंग्विस्टिक सर्वे (भाषा-विज्ञान की सामग्री का अद्भुत पिटारा) माना है।[१]

नागर जी की कला का उद्देश्य सामाजिक है और उन्होंने व्यक्ति के जीवन को सामाजिक कल्याण के सन्दर्भ में चित्रित किया है। इसीलिये उनमें एक स्वस्थ चित्रण मिलता है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी कहा है "सामाजिक यथार्थवाद अन्य यथार्थवादों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ एवं विकासोन्मुख है। इसके द्वारा जीवन तथा समाज में अधिकाधिक सन्तुलन एवं समन्वय स्थापित किया जा सकता है।"[२] इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द की बहिर्मुखी दृष्टि नागरजी के अन्तर्मुखी चित्रण का रूप धारण कर लेती है। इनके चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिक तत्वों का समावेश है और इनके पात्र अपने पूर्ण स्वरूप को लेकर चलते हैं जहाँ शैथिल्य का नाम-निशान तक नहीं। नागरजी की यह कला, यह अलौकिक शक्ति मनुष्य में आत्मविश्वास जगाती है, उसके जीवन में आस्था जगाती है और यह आस्था समाज और साहित्य का प्राण है।

—हिन्दी-विभाग, बारहसेनी कालेज, अलीगढ़।

[१] डा० रामविलास शर्मा, 'आस्था और सौन्दर्य'।

[१] विस्तार के लिये देखें डॉ० रामविलास शर्मा—'आस्था और सौन्दर्य'

[२] 'नया साहित्य नये प्रश्न'—श्री नन्ददुलारे वाजपेयी।

सामयिक साहित्य का महत्त्व

डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

व्यक्ति को केन्द्र बनाकर सोचने वाले विचारकों ने सामाजिक जीवन के शाश्वत सत्यों की सदैव उपेक्षा की है। ऐसे विचारक तत्व की अछूती गहराइयों को खोजकर अवश्य लाए हैं, किन्तु जीवन की व्यापकताओं को उन्होंने प्रायः उपेक्षा की है। समाज को केन्द्र बना कर चिन्तन करने वाले तत्व-दर्शियों के निष्कर्षों में भी इसी प्रकार की अक्षम्य त्रुटि पाई जाती है। उन्होंने व्यापक जीवन को समझते हुए भी व्यक्ति की गम्भीर समस्याओं को विस्मृत कर दिया है। साहित्य के क्षेत्र में भी ये दोनों दृष्टिकोण समय-समय पर अवकाश पाकर प्रविष्ट होते रहे हैं और अपनी-अपनी अतिवादिता से उन्होंने साहित्य के गौरव की हानि की है। सामयिक साहित्य और शाश्वत साहित्य के रूप में साहित्य का विभाजन उन्हीं अतिवादियों की मान्यताओं से हुआ है। यद्यपि समाजवाद और व्यक्तिवाद सामयिक साहित्य या शाश्वत साहित्य में से किसी एक कोटि के साहित्य के ही समर्थक नहीं हैं, तथापि यह भी सत्य है कि दोनों ही वाद साहित्य की एकरूपता को स्वीकार नहीं करते, घोर व्यक्तिवादियों की दृष्टि में व्यक्ति साहित्य का केन्द्र है और उसी की मनोगत अभिव्यक्ति के लिए साहित्य का सृजन होता है। ऐसे चिन्तकों की दृष्टि में वही साहित्य वास्तविक साहित्य है जो सामयिकता से अप्रभावित रह कर शाश्वत जीवन का चित्रण करता है। इन चिन्तकों का अनुकरण करने वाले साहित्यकार शून्य में कल्पना का लोक बसाते हैं तथा स्वप्निल रङ्गीनियों से उसमें सौन्दर्य के रंग भरते हैं। उन चिन्तकों की दृष्टि में ऐसा साहित्य देश और काल की सीमाएँ भेदकर हर पाठक के मानस के साथ आत्मीयता स्थापित करने में समर्थ होता है। उनकी दृष्टि में सामयिक साहित्य देश और काल की सीमाएँ भेदने में असमर्थ होता है। अतः वह साहित्य के पद की प्रतिष्ठा पाने का सच्चा अधिकारी नहीं है।

ध्यान देने की बात है कि शाश्वत कहा जाने वाला साहित्य देश-काल की सीमाएँ भेदने में समर्थ होने पर भी जीवन की पूर्णतः उपेक्षा करता है। उसकी स्थिति उस रमणी के समान है जो किसी काल-पुरुष के साथ बँध जाना अपना धर्म नहीं समझती है। जो हर पुरुष के पास जाकर उसकी आत्मीयता की भ्रमात्मक अनुभूति कराती है और जीवन की सचाई से सबको विमुख रखती है। वस्तुतः ऐसा साहित्य किसी भी देश या काल का सच्चा साहित्य नहीं होता। वह सार्वकालिक या सार्वदेशिक होने का दम्भ करके शाश्वत होने का भ्रम मात्र उत्पन्न करता है। साहित्य में स-हित का जो भाव समाया हुआ है, उससे ऐसा साहित्य कोसों दूर जा पड़ता है। हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि जीवन और साहित्य की धाराएँ अलग-अलग नहीं हैं। दोनों की धरती एक है। यह धरती तथाकथित शाश्वत साहित्य को उपलब्ध नहीं होती, क्योंकि वह आकाश में उड़ता हुआ नीचे के जीवन को देखना चाहता है, जीवन में घुल-मिलकर उसका आत्म-साक्षात्कार नहीं करना चाहता, क्योंकि उसे सदैव यह भय रहता है कि कहीं मेरे ऊपर सामयिकता की धूल न पड़ जाय। पर ऐसा करके वह अपना महत्त्व नहीं बढ़ाता। साहित्य-पद की सच्ची प्रतिष्ठा का अधिकारी तो वही साहित्य है, जो जीवन में घुलमिल कर बहता है।

शाश्वत साहित्य-सृजन की धुन में अनेक साहित्यकार ऊँची और दूरवर्ती कल्पनाओं की खोज में जीवन की अनुभूति से बचते-बचते आकाशी कुसमों या व्यक्ति-मानस की शाश्वत रेखाओं की खोज में भटकते रहते हैं। जान-बूझकर सामयिक घटनाओं की ओर से मुँह फेर लेते हैं। ऐसे साहित्यकारों का साहित्य या तो कला की करामातों का अखाड़ा बन जाता है या विचित्र प्रतीकों

के अर्थायामों के व्यायाम कराता रहता है।

किन्तु साहित्य का यह धर्म नहीं है। जो साहित्यकार अपने साहित्य को शाश्वत बनाने की धुन में ऐसा करते हैं वे भाषा की भूमि पर अपने स्वप्नों का स्थायी स्मारक भले ही बनाते हों, किन्तु वे शाश्वत जीवन को प्रयत्नपूर्वक विस्मृत करने के अपराधी हैं। उन्हें यह भी जान लेना चाहिए कि वे शाश्वत और वास्तविक क्लासिक के अर्थ के सम्बन्ध में भ्रम में हैं। कोई भी साहित्य शाश्वत तथा क्लासिक तभी हो सकता है, जबकि वह सामयिकता की भूमि पर खड़ा हो। जब पुराण और इतिहास की परिधि से किसी समय विशेष का जीवन लेकर संसार में अनेक अमर ग्रन्थ रचे गये हैं, तब अपने ही समय के जीवन पर लिखे गए साहित्य की अमरता के प्रति कोई लेखक शंकालु क्यों हो? यदि उसे यह भ्रम है कि सामयिक जीवन को वाणी देने वाला उसका साहित्य उस समय के पश्चात् व्यर्थ हो जाएगा, तो उसे समझ लेना चाहिए कि उसने अपने समय के जीवन के शाश्वत तत्त्वों को नहीं देखा है एवं उसकी अभिव्यञ्जना की सामर्थ्य में कहीं कोई ऐसी कमी है, जो उस जीवन को स्थायी बनाकर प्रस्तुत करने में बाधा डालती है। साहित्यकार की यह असमर्थता या जीवन-दृष्टि की कमी सामयिक साहित्य के महत्व को कम नहीं कर सकती। साहित्य का अर्थ ही है जीवन के सहित अभिव्यक्त होना। और, यह कार्य जो साहित्य करता है, उसे निश्चय ही पहले सामयिक साहित्य होने का गौरव अनुभव करना होगा, तभी वह शाश्वत बन सकेगा।

जिसे हम सामयिक साहित्य कह कर आज उपेक्षा की दृष्टि से देखना चाहते हैं, उसी में युग-युगीन जीवन भिन्न-भिन्न आशाओं, आकांक्षाओं अनुभूतियों और दृष्टियों को अपना सकने की शक्ति होती है। किसी समय विशेष में सामयिक जीवन में जो परिवर्तन आते हैं, उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखने वाला साहित्यकार उनसे उद्भूत नई आशाओं, अभिलाषाओं और अनुभूतियों का चित्रण अपने साहित्य में किस प्रकार कर सकता है, और जिस साहित्य में हर परिस्थिति के अनुकूल भावनाओं, आकांक्षाओं एवं अनुभूतियों का चित्रण नहीं, वह साहित्य किसी भी नई परिस्थिति में कहाँ तक जीवन का साथ दे सकता है? युद्ध के समय वीणा बजाने से किस व्यक्ति या समाज का हित हुआ है? और किस साहित्य ने क्रान्तियों के समय मदिरालयों की मस्ती का चित्रण करके अमरता पाई है?

हमें यह कभी भी विस्मृत नहीं करना चाहिए कि साहित्य का ध्येय यह नहीं है कि वह सदैव जीवन की स्वप्निल कल्पनाओं की मनोरम भाव-भूमि में घूमता रहे। यदि ऐसी भूमि में वह घूमना भी चाहे तो जीवन उसका अधिक दूर तक साथ देने के लिए उद्यत नहीं हो सकता है। अतः हमें सामयिक जीवन पर आधारित साहित्य की महत्ता को बड़ी गहराई से समझना चाहिए और प्रतीकों की पहेलियाँ सुलझाना बन्द करके तथा आकाशी कुसुमों से अपनी दृष्टि मोड़कर जीवन की विराट् भाव-भूमि पर चलने का अभ्यास करना चाहिए, तभी हमारा साहित्य सामयिकता की नींव पर अपने शाश्वत भवन का निर्माण कर सकता है।

किसी समाज के जीवन में समय-समय पर जो घटनाएँ हुई हैं, उनके प्रभावों को सामयिक साहित्य ही वाणी देता है। वे प्रभाव अस्थायी नहीं कहे जा सकते। जो साहित्य उन प्रभावों को आत्मसात् कर वाणी देता है, वह सामयिक होने पर भी युग-युगान्तर के लिए अमर हो जाता है।

जो साहित्यकार इस तथ्य को नहीं मानते वे साहित्य का प्रयोजन नहीं पहचानते। जिस प्रकार भूगोल संसार की भूमि, जलवायु, उपज आदि सम्बन्धी परिचय देकर मनुष्य को आवागमन की सुविधा देता है, राजनीति-शास्त्र राज-सञ्चालन की विधि बतलाता है, दर्शन जीव की सूक्ष्म सत्ता का परिचय कराता है तथा अन्य अनेक ज्ञान-विज्ञान अपनी-अपनी परिधि में अपना-अपना काम करते हैं, उसी प्रकार साहित्य के कर्तव्य की भी एक परिधि है। वह परिधि व्यक्ति से समाज तक विराट् जीवन-भूमि को घेरे हुए है।

किसी व्यक्ति या समाज के जीवन में जब ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं, जो जीवन की धारा को

भुला देने का प्रयत्न करती हैं, तब साहित्य ही उसके साथ रह कर रस के नये स्रोत खोजता है। किन्तु यह कार्य साहित्य तभी कर सकता है, जबकि उसमें सामयिकता का गुण हो। वह साहित्य सामयिक जीवन से ऐसे विचित्र तथा रोचक तथ्य संचित करता रहता है, जिसकी कुशल से कुशल साहित्यकार भी कभी कल्पना नहीं कर सकता। उन्हीं रोचक तथ्यों को सँजोकर सामयिक-साहित्य हर्ष और शोक, शान्ति और क्रान्ति तथा ऐसी ही अन्य परिस्थितियों में जीवन का साथ देता है। जब कोई व्यक्ति अपने किसी आत्मीय की मृत्यु से शोकाकुल होता है, तो सामयिक साहित्य ही किसी समय पर हुई किसी अन्य व्यक्ति के आत्मीय की मृत्यु का चित्र प्रस्तुत कर सहानुभूति की भूमिका तैयार करता है। यह भूमिका दुखी पाठक के शोक को करुण रस में बदल देती है। हर्ष के समय भी हर्ष के रस भोग की भूमिका सामयिक साहित्य की महिमा से ही उपस्थित होती है। सामाजिक उथल-पुथल तथा राष्ट्रों के पारस्परिक सङ्घर्ष के समय भी समष्टि मानस को पूर्वकालीन मिलते-जुलते चित्र दिखाकर सामयिक साहित्य ही साधारण स्थिति में लाता है। अतः सामयिक साहित्य ही वह साहित्य है, जो युग-युगीन साहित्य की संज्ञा पाने का अधिकारी है।

कुछ लोग यह आपत्ति उठाते हैं कि सामयिक-साहित्य का यह कलात्मक मूल्य अधिक नहीं होता। मेरी दृष्टि में यदि किसी साहित्य को कला की दृष्टि से कोई साहित्यकार मूल्यवान नहीं बना सका, तो यह उसी का दोष है न कि सामयिकता इसके लिये उत्तरदायी है। कला की पूर्णता तो तभी है जबकि कलाकार सामयिकता को भी सर्व-कालीनता प्रदान कर दे। यही कारण है कि सामयिक साहित्य लिख सकना उतना सरल नहीं है, जितना सरल तथाकथित कलात्मक साहित्य की रचना करना है। आजकल हम जिसे कलात्मक साहित्य कहते हैं उसमें सृजक को मनमानी करने की छूट रहती है, किन्तु सामयिक साहित्य के स्रष्टा को केवल समकालीनता का ही ध्यान नहीं रखना पड़ता, अपितु उसे भूतकाल की परम्परा की प्रत्येक कड़ी को भी जोड़ना पड़ता है और साथ ही भविष्य की सम्भावनाओं की भी उसे सामयिक चित्रों के सन्दर्भ में पूर्व कल्पना करनी पड़ती है। इन दोनों कार्यों में उससे तनिक भी भूल हुई कि उसकी सृजन-प्रक्रिया तुरन्त असफल हो जाती है। समय इतनी शीघ्रता से बदलता है कि उसके सभी चरण-चिह्नों को पहचान सकना हर एक साहित्यकार की सामर्थ्य का काम नहीं। यही कारण है कि सामयिक साहित्य की अपेक्षित सम्भावनाओं को हर एक साहित्यकार नहीं समझ पाता।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम सामयिक जीवन को साहित्य में प्रतिष्ठित करें। हम अपनी कला का चमत्कार दिखाने के लिए जो प्रतिभा व्यय करते हैं, उसे सामयिक साहित्य-सृजन में लगायें तो हमारा साहित्य वेद मंत्रों के समान पवित्र और कालिदास या शेक्सपीयर की रचनाओं के समान कलात्मक एवं शाश्वत हो सकता है। ऐसा करके जहाँ हम अपने साहित्य का महत्त्व बढ़ायेंगे, वहाँ अपने जीवन का भी शाश्वत स्वर दे सकेंगे तथा उन स्वरों की सार्वकालिकता से अपने युग को अमर कर जायेंगे। मेरा विचार है कि ऐसा साहित्य ही कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् या तुलसी के रामचरित मानस के समान प्रत्येक युग के प्रत्येक कण्ठ को आकर्षित करने की शक्ति प्राप्त कर सकेगा। जो साहित्य हमारे ही कण्ठ में स्थान नहीं बना पाता; अथवा हमारे ही मानस में नहीं उतर पाता वह शाश्वत कैसे हो सकता है ? अतः हमें समस्त पूर्वाग्रहों को त्यागकर श्रेष्ठ कलात्मक सामयिक साहित्य का सृजन करना चाहिए। जीवन में इसी प्रकार के साहित्य का सदैव सम्मान हुआ है और भविष्य में भी होता रहेगा।

—गवर्नमेण्ट कालेज, अजमेर।

हिन्दी-साहित्य में आञ्चलिक उपन्यास

श्री राजकुमार शर्मा

'अञ्चल' शब्द का अर्थ है एक निश्चित भौगोलिक प्रदेश। अतः आञ्चलिक उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं जिनमें किसी क्षेत्र विशेष के जन जीवन का सांग और समूचा चित्र प्रस्तुत किया जाता है। उसमें उस क्षेत्र विशेष के मानवों की सम्पूर्ण सांस्कृतिक विशेषताओं को ऊँचा उठाना ही इन उपन्यासकारों का मुख्य उद्देश्य रहता है। वहाँ के निवासियों की क्या वेशभूषा है, वे किस प्रकार जीवन-यापन करते हैं, उनकी कैसी आर्थिक अवस्था है, उनके जाति और वर्ग-गत भेद-भावों का क्या रूप है, विवाह, मृत्यु आदि जीवन के विविध स्वरूपों और संस्कारों के प्रति उनकी क्या धारणाएँ हैं, उनके मनोरञ्जन के स्वरूप क्या हैं, उनका खान-पान, रहन-सहन कैसा है आदि समस्याओं की वहाँ की स्थानीय बोली में की गई सांग और संश्लिष्ट अभिव्यक्ति इन उपन्यान्सों में मिलती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि "जिन उपन्यासों में किसी स्थान विशेष के समस्त वातावरण का सांग-संश्लिष्ट और निष्कपट रूप से सम्पूर्ण चित्र स्थानीय विशेषताओं के साथ वहाँ की स्थानीय बोली में प्रस्तुत किया जाता है उन्हें आञ्चलिक उपन्यास कहते हैं।"

उपन्यास कला के छः तत्वों (कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, देश-काल चित्रण, भाषा-शैली और उद्देश्य) में से इन उपन्यासों में "देश काल चित्रण को ही विशेष महत्व दिया जाता है। कथावस्तु गौण हो जाती है। पात्रों का चित्रण प्रासङ्गिक रूप से आता है। संवाद-सौष्ठव इन उपन्यासों में सर्वत्र दीख पड़ता है। स्थानीय भाषा का प्रयोग अधिक किया जाता है। बोली के साथ-साथ वहाँ के मुहावरों, कहावतों तथा लोकगीतों का भी पर्याप्त समावेश रहता है।

अंग्रेजी के 'रीजनल नावेल्स' से प्रेरणा प्राप्त कर ही हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार के उपन्यास लिखे जाने आरम्भ हो गये हैं। अंग्रेजी के सरवाल्टर स्काट, एलेग्जेण्डर ड्यूमा आदि के उपन्यास यद्यपि ऐतिहासिक हैं परन्तु इन उपन्यासों में जिस स्थान का भी चित्रण किया है उसमें वास्तविकता लाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। यही कारण है कि इन लेखकों के उपन्यास अधिक लोकप्रिय हुए। उपन्यासकार कोनरेड के प्रसिद्ध उपन्यास 'नोस्ट्रोमा' में स्थानीय परिवेश का सहज चित्रण है। इनके अतिरिक्त एमली जोला, अनातोले फ्रांस, दोस्तोयवस्की, तुर्गनेव, गोर्की, इलिया एहरनबर्ग आदि ने तद्देशीय भाषा एवं संस्कारों आदि का सुन्दर चित्रण भी अपनी औपन्यासिक कृतियों में प्रस्तुत किया है।

हिन्दी साहित्य में यह परम्परा नवीन ही है। मुन्शी प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा और सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' में तीन उपन्यासकार इस परम्परा के जन्मदाता कहे जा सकते हैं। प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में पूर्वी उत्तरप्रदेश का चित्रण किया गया है। वर्माजी ने अपने उपन्यासों में बुन्देलखण्ड को लिया है। 'निरालाजी' की प्रतिभा तो बहुमुखी है। अपने उपन्यासों में पूर्वी उत्तर-प्रदेश, बिहार और बङ्गाल के बाह्य-समाज के विघटन तक का चित्रण मिलता है। आपके उपन्यासों में ब्राह्मोत्तर वर्ग में जो ब्राह्मण वर्ग के प्रति घृणा का स्वर है उसको उभरते दिखाया गया है। 'चतुरी-चमार' 'चोटी की पकड़' तथा बिल्लेसुर बकरिहा' आदि ऐसे ही उपन्यास है। 'निरुपमा' में बङ्गाली बाबुओं के जीवन का अच्छा चित्रण हुआ है।

इसके पश्चात् इस धारा का विकास फणीश्वरनाथ "रेणु" के उपन्यास "मैला आँचल" "परतीपरिकथा" में देखा जा सकता है। आपका 'ठुमरी' नामक कथा संग्रह भी इस दृष्टि से श्रेष्ठ कहा जा सकता है। 'रेणुजी'

का 'मैला आँचल' 'गोदान' के बाद का श्रेष्ठ उपन्यास माना जाता है। शिवदानसिंह चौहान ने कहा कि इस उपन्यास ने गोदान की टूटती हुई परम्परा को आगे चलाया है तथा 'परतीपरिकथा' ने इसी विकास को आगे बढ़ाया है। ये दोनों उपन्यास विहार के क्षेत्र का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हैं। 'मैला आँचल' में विहार के पूर्णिया जिले की बदलती हुई मानव आस्था का चित्रण हुआ है। इन उपन्यासों में अञ्चल को ही नायकत्व प्रदान किया गया है। अतः वहाँ की प्रथाएँ अन्धविश्वास रूढ़ियाँ, अज्ञान, नवीन और प्राचीन पीढ़ियों का सङ्घर्ष' जमीदार वर्ग का कृषक वर्ग पर अत्याचार, दमन तथा शोषण, वहाँ की भाषा, वहाँ के लोकगीत, वहाँ के नृत्य, उत्सव, पर्व जादूटोने आदि का चित्रण ही इन उपन्यासों का सर्वोपरि प्रयोजन बन गया है।

'रेणु जी' का दृष्टिकोण समाजवादी दृष्टिकोण है परन्तु यह समाजवाद मास्को और लेनिन का समाजवाद न होकर लन्दन, पेरिस सैनफ्रांसिस्को, शिकागो और वाशिंगटन का समाजवाद है। लेखक का झुकाव पूँजीवाद की ओर है। गाँधीवादी दृष्टिकोण का प्रयोग भी लेखक ने यथास्थान किया है। हृदयपरिवर्तनवाद गांधीवाद का प्रधान लक्ष्य है। 'परती परिकथा' का नायक जित्तनबाबू जो कि आरम्भ में एक अत्याचारी जमींदार के रूप में अङ्कित किया गया है आगे चलकर युग की परिवर्तित परिस्थितियों के साथ समझौता कर लेता है। किन्तु 'रेणु' जी के इस पूर्वाग्रह के कारण स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण चेतना के विविध विकास का निरूपण और विश्लेषण सहजगम्य विश्वास के आधार पर नहीं मिलता। जमींदारी टूटने पर भूमिहीन किसान भूमिधर बने, अशिक्षित एवं शोषित होरी जैसे अन्धविश्वासी किसानों एवं उनकी भोली-भाली पत्नियों को राजनैतिक अधिकार प्राप्त हुए। ग्रामपंचायतों, सहकारी बैंकों आदि की स्थापना के द्वारा समाजवादी शासन-व्यवस्था का नेहरू सरकार के निर्देश में जो समारम्भ हुआ, छोटे छोटे उद्योग-धन्धों का जो पुनरुत्थान हुआ तथा किसानों के बेटे नगर में जाकर जिस औद्योगिक संस्कार को गाँवों में लाये उस सबको लेकर नजर अन्दाज कर देता है। उन्होंने अन्धविश्वासों रूढ़ियों आदि का जो अतियथार्थवादी चित्रण किया है वह घृणा और आक्रोश तो उत्पन्न करता है किन्तु उसमें नव-निर्माण के संकेतों का अभाव है। इस अभाव की पूर्णता नागार्जुन, बलभद्र ठाकुर तथा रांगेयराघव के आंचलिक उपन्यासों में मिलती है।

'रेणु' के उपन्यासों में 'कैमरे' की कला जैसी यान्त्रिकता है। एक सफल चित्रकार जैसी ललित तत्व की आस्था नहीं है। यह विद्रूप को ही चित्रित करते हैं। मानव-संस्कृति के निष्ठावान् तत्वों की न्यूनता यदि इनके उपन्यासों में न होती तो इसमें सन्देह नहीं है कि प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों में इनका स्थान अग्रगण्य होता। छोटे-छोटे ब्यौरों का सूक्ष्म और विस्तृत चित्रण इनकी लेखनी से सफलतापूर्वक हुआ है।

इसके पश्चात् 'नागार्जुन' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आपने लगभग एक दर्जन आंचलिक उपन्यास लिखे हैं जिनमें 'बाबा बटेसरनाथ', 'रतिनाथ की चाची', 'नई पौध', 'दुःखमोचन' तथा 'वरुण के बेटे' श्रेष्ठ उपन्यास हैं। ये सफल व्यंग्यकार तथा प्रगतिशील कवि भी हैं। इनके उपन्यासों में मिथिला के अञ्चल का सफल चित्रण हुआ है। इनके व्यंग्य इतने तीक्ष्ण होते हैं कि अपनी चरम परिणति में या तो पाठक को सामाजिक विषमताओं के प्रति सर्वथा आक्रोशपूर्ण बना देते हैं अथवा सामाजिक परम्पराओं के प्रति जुगुप्सा के भाव को तीव्र करते हैं। इनके उपन्यासों में चित्रित ग्राम्य-जीवन का मूलाधार अर्थ वैषम्य ही रहा है। प्रेमचन्दजी की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले उपन्यासकारों में नागार्जुन का स्थान कदाचित् सबसे ऊँचा है किन्तु कहीं-कहीं इनके उपन्यासों में आस्कर वाइल्ड के उपन्यासों जैसी अश्लील और कुत्सित अभिव्यञ्जनाएँ औपन्यासिक सौन्दर्य की सुखद परिणति में व्याधातक होगई हैं।

इस परम्परा को आगे बढ़ाने वाले बलभद्र ठाकुर तथा स्व० रांगेय राघव हैं। बलभद्र ठाकुर के उपन्यासों में पश्चिमोत्तर पर्वतीय प्रदेश के चित्रण अत्यन्त सफलतापूर्वक किए गए हैं। 'मुक्तावती' इनका मुख्य आञ्चलिक उपन्यास है। रांगेय राघव ने राजस्थानी इलाके

का जितना सजीव चित्रण 'कब तक पुकारूं' नामक उपन्यास में किया है वैसा अन्यत्र दुष्प्राप्य है। 'कब तक पुकारूं' उपन्यास में भरतपुर जिले के नटों का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण हुआ है। इसका नायक सुखराम अपने वर्ग का सफल प्रतिनिधि है। भूमिहीनता, निर्धनता और अशिक्षा के कारण जमींदार वर्ग और विशेष रूप से पुलिस के अधिकारियों के अमानुषिक अत्याचारों का शिकार इस वर्ग को रहना पड़ा है। पुरुषों में बहुविवाह-प्रथा प्रचलित है किन्तु आचारण का सूत्र अत्यन्त शिथिल होने पर भी पति-पत्नी के सम्बन्धों को कटु नहीं बनाता। कहीं-कहीं तो आत्मरक्षा और जीवन निर्वाह के नाम पर स्वयं पति अपनी पत्नी को जमींदारों और पुलिस के अधिकारियों की सह शायिनी बनाने के लिए स्वयं उनके पास ले जाता है। यथार्थ का इतना करुण तथा विद्रूप परिप्रेक्ष्य किसी अन्य आञ्चलिक उपन्यास में परिलक्षित नहीं होता। 'धरती मेरा घर' इनका दूसरा आञ्चलिक उपन्यास है। इस उपन्यास का नायक भी किसी निम्न जाति का अंशधर है जो परिस्थिति वश उच्चवर्ग में पालित-पोषित होता है। युवा होने पर जब सहसा एक दिन उसे इस तथ्य का ज्ञान होता है तो वह अपने जमींदार बाप की अपार सम्पत्ति को ठुकरा कर, घर छोड़ कर चला जाता है और सारी धरती उसका घर हो जाती है। न कोई उसकी जाति है न कोई उसका घर, न कोई उसकी आस्था है और न कोई उसका आदर्श। इस उपन्यास की परिणति रवीन्द्रनाथ के 'गोरा' की याद दिलाती है। रांगेय राघव से उपन्यास की इस धारा को विशेष आशाएं थीं किन्तु उनका असामयिक निधन आञ्चलिक उपन्यास के विकास पर एक, बहुत बड़ा प्रश्नवाचक चिह्न लगा कर छोड़ गया है।

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' ने भी राजस्थानी लोक-जीवन को ही अपने ऐसे उपन्यासों का प्रधान घटना क्षेत्र चुना है। 'खम्माअन्नदाता' 'पन्थहीन' आदि आपके कई उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। स्वर्गीय आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'गोली' उपन्यास भी 'चन्द्रजी' के 'खम्माअन्नदाता' के समान राजस्थानी राजाओं के व्यभिचार का सफल परिचायक है। 'चन्द्रजी' के आञ्चलिक उपन्यासों में काव्यमयी भावुकता तो सर्वत्र मिलती है किन्तु उनमें एक अनिश्चित जीवन दर्शन का अभाव सर्वत्र खटकता है। अंग्रेजी का ज्ञान न होने के कारण इन्होंने कहीं-कहीं अपने उपन्यासों में जिन अंग्रेजी-वाक्यांशों का प्रयोग किया है उनका अर्थ बोध करने के लिये अंग्रेजी की व्याकरण भी पंगु-सी प्रतीत होती है किन्तु फिर भी इस युवक कलाकार से हिन्दी उपन्यास को महती आशाएँ हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ लब्ध प्रतिष्ठ तथा कतिपय नवीन उपन्यासकारों ने भी इस दिशा में सफल प्रयोग किये हैं जिनमें इलाचन्द्र जोशी (जहाज का पंछी) उदयशङ्कर भट्ट (सागर लहरें और मनुष्य) अमृतलाल नागर (बूंद और समुद्र में कोठे वालियाँ तथा 'सेठ बांकेमल' आदि) प्रसिद्ध हैं। जोशीजी के उपन्यास में कलकत्ता जैसी महानगरी की 'मैट्रोपोलिटन कल्चर' का सुन्दर चित्रण है। भट्टजी ने 'सागर लहरें और मनुष्य' में बम्बई के एक उपनगर के मछुहारों का जीवन रूपायित किया है। इस उपन्यास की भाषा में गुजराती, मराठी, अंग्रेजी, गोआनी आदि भाषाओं की प्रचुर शब्दावली का प्रयोग किया है। भट्टजी का दूसरा उपन्यास 'लोक-परलोक' साधुओं की समस्या को ब्रजभाषा के माध्यम से लेकर चला है। 'नागरजी' का 'सेठ बांकेमल' भी औपन्यासिक प्रयोगों में अपना विशिष्ठ स्थान रखता है। इसमें लखनऊ की बोली की नज़ाकत और नफ़ासत तथा चुलबुलापन है तो दूसरी ओर आगरे के गोकुलपुरा नामक मुहल्ले के ठठेरों की भाषा के बड़े सजीव रूप उभरे हैं। इन प्रसिद्ध उपन्यासकारों के अतिरिक्त शैलेश मटियानी, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कमलेश्वर और रुद्रकाशिकेय आदि प्रसिद्ध आञ्चलिक उपन्यासकार हैं। सक्सेना जी का 'सोया हुआ जल' कमलेश्वरजी का 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' और रुद्रकाशिकेय का 'बहती गङ्गा' आदि प्रसिद्ध उपन्यास हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी के 'ब्रह्मपुत्र' 'दूधगाछ' तथा रथ के पहिए' नामक उपन्यास भी इस धारा को समृद्ध करते हैं।

—२७/३६३१ बाजार लोहे वाला, सहारनपुर।

कविवर बनारसीदास-कृत समयसार—एक दृष्टि

डा० रवीन्द्रकुमार जैन

कविवर बनारसीदासजी की रचनाएँ काव्य-विधाओं की दृष्टि से अनेक प्रकार की हैं। इन विभिन्न विधात्मक रचनाओं में हमें कवि के बहुमुखी व्यक्तित्व, कृतित्व एवं विभिन्न चयन-दृष्टियों के दर्शन होते हैं। एक ओर अध्यात्म के भव्य धरातल पर उनका दैदीप्यमान एवं सुलभा हुआ व्यक्तित्व हमें 'समयसार' दर्पण में दृष्टि-गोचर होता है तो दूसरी ओर 'बनारसी विलास' के अनेक स्थलों में चारित्रिक दृढ़ता के लिऐ आचार पर उनकी भारी आस्था देखी जा सकती है। शुष्क कल्पना निर्बल एवं हीन कोटि की भावुकता तथा व्यर्थ के शब्दों एवं अलङ्कारों में भी वे कभी नहीं बहे, उनकी कविता में आद्यन्त वास्तविक जीवन-दर्शन ने ही स्थान पाया। शब्द-कोश (नाममाला) में उनका भाषा की जिज्ञासा से परिपूर्ण एवं हिन्दी की समृद्धि की उत्सुकता से अभि-व्याप्त रूप हमें मिलता है। 'अर्धकथानक' में आपकी जीवन भर की घटनाओं का यथा घटित वास्तविक रूप प्रत्येक सहृदय पाठक के हृदय में उनके प्रति अमिट आस्था उत्पन्न कर देता है। वे अपने किसी भी निन्द्य अथवा गोप्य कर्म को अत्यन्त निर्भीकतापूर्वक प्रस्तुत करते हैं—और इस चुनौती के साथ कि भद्र अथवा अभद्र जो कुछ भी हूँ यह हूँ। किसी की निन्दा अथवा प्रशंसा की मानो उन्हें कोई चिन्ता नहीं है।

अध्यात्म सन्त कविवर बनारसीदास की समस्त कृतियों में 'नाटक समयसार' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह बनारसीदासजी की मूल कृति नहीं है। आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द ने 'समय पाहुड़' की रचना की थी। आगे चलकर इसी रचना की 'आत्म-ख्याति' नामक टीका आचार्य अमृतचन्द्र ने की। आचार्य अमृतचन्द्र ने समय पाहुड़ के मूल भाव को विस्तृत एवं स्पष्ट करने के लिए स्थान-स्थान पर स्वरचित पद्य भी दिये हैं। ये पद्य कलश नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी संख्या २७७ है। आचार्य अमृतचन्द्र के कलशों पर भट्टारक शुभचन्द्र (१६ वीं शती) की परमाध्यात्म तरङ्गिणी संस्कृत टीका भी है। इसके पश्चात् पांडे राजमल्लजी ने कलशों पर एक बालबोधिनी टीका की हिन्दी में रचना की। यह रचना गद्य में है। तात्कालिक हिन्दी गद्य के स्वरूप को प्रस्तुत करने में भी भारी सहायक हैं। यह रचना बनारसीदासजी को प्राप्त हुई थी। उन्होंने अपने मित्रों में इसका वाचन किया था। मित्रों ने इसके श्रवण, पाठ के पश्चात् एक उत्सुकतापूर्ण उद्गार व्यक्त किया—

'नाटक समयसार हित जीका, सुगम रूप राजमल टीका।'
कवितबद्ध रचना जो होई, भाषा ग्रन्थ पढ़ै सब कोई॥

बनारसीदासजी के मित्रों ने 'समयसार' की कवित बद्ध अर्थात् हिन्दी पद्यमय रचना का भव्य उद्गार कविवर की काव्य प्रतिभा को ध्यान में रखकर ही व्यक्त किया था। कविवर 'समयसार' की अनुपम अध्यात्मपरक व्याख्या से स्वयं तो अत्यधिक प्रभावित थे ही, मित्रों का स्नेहभरित आग्रह सुनकर इस दिशा में उनकी प्रतिभा सद्यः साकार हो उठी। भावभरित, मार्मिक एवं सुकुमार पद्यों में बनारसीदासजी ने 'समय-सार' का हिन्दी में रूपान्तर प्रस्तुत कर दिया। यद्यपि बनारसीदासजी के समयसार का मूलाधार आचार्य कुन्द-कुन्द का 'समय पाहुड़' है और उसी के स्पष्टीकरण के हेतु कवि ने अपना हिन्दी पद्यमय नाटक 'समयसार' रचा भी, परन्तु इसकी भाव-गहनता, प्रेषणीयता एवं रूप सौष्ठव मूल की अपेक्षा पर्याप्त सशक्त एवं प्रभाव-शाली हैं—अतः यह कृति इस नव्य भव्य एवं विशद प्रस्तुतीकरण के कारण एक मौलिक कृति ही है। "नाटक समयसार कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है फिर भी एक मौलिक ग्रन्थ जैसा मालूम होता है। कहीं भी क्लिष्टता, भावहीनता और परमुखापेक्षा नहीं दिखलाई देती अर्थात् बनारसीदासजी ने समयसार के कलशों का

अनुवाद ही नहीं किया है, उसके मर्म को अपने ढङ्ग से इस तरह व्यक्त किया है कि वह बिल्कुल स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसा मालूम होता है और यह कार्य वही लेखक कर सकता है जिसने उसके मूल भाव को अच्छी तरह हृदयंगम करके अपना बना लिया है।" जैन अध्यात्म के पुरस्कर्ताओं में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। उनके अध्यात्म सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों में 'समयपाहुड़' सर्वश्रेष्ठ है। इसका रसास्वादन विद्वज्जन बड़ी कठिनता से कर पाते थे, सामान्य जिज्ञासु जनों की उत्सुकता निराशा में ही परिणत होती रहती थी। बनारसीदास जी ने समयसार के हिन्दी पद्यानुवाद द्वारा विशेष रूप से उत्तर-भारत के जैन-जगत के लिए वही कार्य किया जो महात्मा तुलसीदास ने रामचरितमानस द्वारा सम्पूर्ण उत्तर-भारत के वैष्णव जगत के लिए किया था। आचार्य कुन्दकुन्द की वास्तविक प्रसिद्धि का श्रेय कविवर बनारसीदासजी को ही है। जनता कविवर के समय तक अपने प्रमुख महर्षि एवं अध्यात्म सन्त कुन्द-कुन्द स्वामी को विस्मृत सा करने लगी थी। कवि ने कहीं भी 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' की बदनाम पद्धति का अनुसरण नहीं किया है। कई स्थलों पर एक ही पद्य के भाव को सरल एवं स्पष्ट करने के लिए कवि ने कई सुन्दर पद्यों की रचना की है। मूल भाव की पूर्ण रक्षा के साथ बनारसीदासजी ने उसे अत्यन्त समृद्ध, सशक्त एवं प्रभावशाली भी बनाया है।

बनारसीदासजी के समयसार में ३१० दोहा-सोरठा, २४५ इकतीसा कवित्त, ८६ चौपाई, ३७ तेईसा सवैया, २० छप्पय, १८ घनाक्षरी, ७ अडिल्ल और ४ कुण्डलियाँ इस प्रकार सब मिलाकर ७२७ पद्य हैं। आचार्य कुन्दकुन्द की मूल कृति में २७७ पद्य हैं। बनारसीदासजी ने मूलकृति से पूर्ण तादात्म्य स्थापित करके ही यह कलेवर (अन्तः बाह्य) वृद्धि की है।

समयसार की रचना-समाप्ति की तिथि बनारसी-दासजी ने स्वयं ही दी है—

सोरह सौ तिरानवै बीते,
जासौ माससित पच्छ वितीते।
तिथि तेरस रविवार प्रवीना,
ता दिन ग्रन्थ समापत कीना।

अर्थात् विक्रम संवत् १६९३ के आश्विनमास, शुक्लपक्ष त्र्योदशी रविवार के दिन यह ग्रंथ समाप्त हुआ।

इस विस्तार के अतिरिक्त बनारसीदासजी ने ११३ पद्यों में गुण-स्थान अधिकार सर्वथा स्वतन्त्र रूप से ही लिखा है। प्रारम्भ में उत्थानिका में ५० पद्य तथा अन्त में उपसंहार में भी ४० स्वतन्त्र पद्य आपके मौलिक कृतित्व एवं भव्य उपस्थिति—अभिव्यञ्जकता के अक्षय ज्योतिर्दीप सदृश विद्यमान हैं।

समयसार की विषय व्यवस्था—कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ में विषय व्यवस्था प्राचीन ग्रन्थ 'समयपाहुड़' एवं अमृतचन्द्राचार्य के कलशों के आधार पर रखी है। विषयारम्भ में ५१ पद्य, साध्य साधक द्वार के पश्चात् गुण-स्थानों की चर्चा में ११३ पद्य तथा अन्त में ४० सुन्दर पद्यों द्वारा ग्रन्थ को सम्पूर्ण किया गया है। संक्षेप में सम्पूर्ण ग्रन्थ की विषय-व्यवस्था के सम्बन्ध में स्वयं बनारसीदासजी लिखते हैं:—

जीव निरजीव करता करम पुन्न पाप,
आस्रव संवर निर्जरा बंध मोष है,
सरब विसुद्धि स्यादवाद साध्य-साधक,
दुवारस दुवार धरै समै-सार कोष है।
बरखानु जोग दरवानु जोग हृटि करै,
निगम कौ नाटक परम रस पोष है,
ऐसौ परमागम बनारसी बखानै जामें,
ज्ञान कौ निदान सुद्ध चारित की चोख है

अर्थात् समयसार के अक्षय कोष में जीव, अजीव, कर्त्ता, कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष, सर्वविसुद्धि, स्याद्वाद और साध्यसाधक में बारह द्वार हैं। यह उत्तम ग्रन्थ जीव को कर्मादिक पर वस्तुओं से पृथक कर मोक्ष मार्ग की निष्कर्म अवस्था की ओर बढ़ाने वाले द्रव्यानुभोग का भण्डार है। यह आत्मा का नाटक (विविध दशाओं का वर्णन करने वाला) परम रस—उत्तम आत्म-शान्ति का प्रदाता है। ज्ञान का प्रमुख स्रोत एवं शुद्ध चारित्र का वर्धक है।

कवि ने आत्मा की सभी सांसारिक अवस्थाओं से निर्लिप्त दशा का अत्यन्त मार्मिक, हृदयग्राही एवं सिद्धान्त-समन्वित चित्र प्रस्तुत किया है। जैन-दर्शन की

आत्मा-विषयक मान्यता को इतनी सुलझी हुई प्रभावक एवं व्यापक व्याख्या अन्यत्र दुर्लभ है। आज के यान्त्रिक जीवन की दुर्वह भौतिकता के असह्य प्रहारों ने मानव का अध्यात्म पूर्णित, ध्वस्त एवं मृतप्राय कर दिया है। हम भौतिकी हाय हाय के इतने आदी हो चुके हैं कि पशु की भाँति निरन्तर जुतकर भी सुख से एक घड़ी भी नहीं बिता पाते। केवल इसलिए कि स्थायी सुख के विषय में हमारा दृष्टिकोण आज हिल उठा है। आवश्यकताओं के सीमितीकरण से हमारा विश्वास उठ चुका है। इस दिशा की दौड़ का अति अद्यतन परिणाम यह है कि आज हम अन्दर से क्षुब्ध, असन्तुष्ट, कुण्ठित और मिथ्या अहं की कारा में केन्द्रित हैं। समयसार जैसे शुद्ध अध्यात्मपरक ग्रन्थ ही ऐसी घात-प्रतिघात भरी स्थिति से मानव जगत की रक्षा करके उसे सात्विक एवं कर्ममय जीवन का सन्देश दे सकते हैं।

रचना-शैली—समयासार का भाव-पक्ष जितना पुष्ट, हृदयस्पर्शी एवं चिरन्तन है, उसकी रचना-शैली एवं भाषा भी उसके संवहन में उतनी ही समर्थ, सशक्त माधुर्य भक्ति एवं प्रवहमान है। बनारसीदासजी का मानसिक एवं आध्यात्मिक व्यक्तित्व कितना बहुमुखी था; उसका अध्ययन समयासार की रचना-शैली द्वारा सुगमता से किया जा सकता है। शैली में मनुष्य का वास्तविक अन्तःबाह्य स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता। जहां साहित्यकार अपनी शब्द योजना एवं प्रवाहयुक्त शैली द्वारा वर्ण्य विषय के साक्षात् चित्र से प्रस्तुत कर देता है वहाँ उसका स्वयं का गम्भीर, सरल स्थिर अथवा प्रवहमान व्यक्तित्व भी उसकी रचना-शैली द्वारा ही स्पष्ट हो जाता है। कविवर बनारसीदासजी की रचना-शैली के अध्ययन से हम काव्य में उनकी कला दृष्टि के साथ-साथ उनके विनोदप्रिय, गम्भीर, समन्वय-वादी एवं स्थिति पालक व्यक्तित्व से परिचित हो सकेंगे।

परम्परा और प्रणालियाँ—भारत जैसे अध्यात्म प्रधान देश में अध्यात्म-ग्रन्थों के प्रणयन की परम्परा निश्चित रूप से अत्यन्त प्राचीन रही है। वैदिक-काल में ही हमें अध्यात्म के भरपूर दर्शन होते हैं। ब्राह्मण-आरण्यक, उपनिषद्, पुराण, गीता और भागवत अध्यात्म के अनेक पुष्ट, व्यवस्थित एवं मनोहारि स्थल प्राप्त होते हैं। बौद्ध साहित्य में भी त्रिपिटियों और जातक ग्रन्थों में अध्यात्म की ठोस चर्चा प्राप्त होती है। बौद्ध-साहित्य का तो मूलाधार ही अध्यात्म रहा है। इस साहित्य में अध्यात्मपरक दृष्टि को ही सर्वस्व माना गया है और आचार व्यवस्था (क्रियाकाण्ड) को प्रायः हेयदृष्टि से देखा गया है। क्रियाकाण्ड की सारहीनता और निरर्थक हिंसापूर्ण यज्ञों के विरोध में ही बौद्ध-धर्म का उदय हुआ था। वेदों के आधार पर रचे गये पुराणों ने जहां अध्यात्म से बढ़कर क्रियाकाण्ड और आचार का समर्थन किया था, बौद्धधर्म के ग्रन्थों ने एक स्वर से केवल अध्यात्म का ही समर्थन किया। बौद्धधर्म में आचार का कोई महत्त्व नहीं है यह बात नहीं है; हाँ, इतना अवश्य है कि आचार का पक्ष अत्यन्त गौण रहा है।

जैन आचार्यों एवं साहित्यकारों ने भी अध्यात्म-मूलक ग्रन्थों का सृजन बड़ी दृढ़ता, विद्वता, मौलिकता एवं स्वानुभव से किया है। जैन अध्यात्म की परम्परा सहस्रों वर्ष प्राचीन है। भगवान महावीर की वाणी द्वारा जिस शुद्ध एवं उदात्त अध्यात्म की जगतपावनी धारा प्रवाहित हुई थी वह आज तक अक्षुण्ण रूप से जन-मानस का जीवन-सम्बल बनी हुई है।

जैन अध्यात्म में बौद्ध धर्म की भाँति आचार पक्ष को गौणातिगौण मानकर उसके प्रति हेय दृष्टि नहीं रखी गई है। जैन आचार्यों ने आचार को मानव के चरम विकास का एक ठोस सहायक तत्त्व माना है। आचार पालन जो आत्म-जागृति में सहायक नहीं होता अपितु उसे अवरुद्ध करके व्यक्ति को दुराग्रही, स्थूल दृष्टा एवं उथला बना देता है, अवश्य ही जैनाचार्यों द्वारा सर्वथा हेय बताया गया है। जैन साहित्य में कुन्द-कुन्दाचार्य, उमास्वाति, पूज्यपाद, योगीन्दु, गुणभद्रा-चार्य, अमृतचन्द्र, शुभचन्द्र, मुनिरामसिंह और राजमल जी द्वारा कविवर बनारसीदास के पूर्व अध्यात्म की अजस्र धारा लगभग १५०० (सौ) वर्ष से प्रवाहित की जाती रही है। इन सभी आचार्य-कवियों ने समय-समय पर जैन एवं जैनेतर भारत का शुद्ध अध्यात्म

की रचनाओं द्वारा अत्यधिक उपकार किया है। इन सभी कवियों ने प्राकृत संस्कृत एवं अपभ्रंश भाषाओं में ही रचनाएँ कीं। राजमलजी ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने समयासार का सर्वप्रथम हिन्दी गद्यानुवाद किया। बनारसीदासजी के समय तक वास्तव में हिन्दी में अध्यात्म ग्रन्थों का अभाव ही था। जनता को सरल माध्यम से शुद्ध अध्यात्म का अनुभव कराने वाला कोई भी ग्रन्थ हिन्दी में न था। सामान्यतया कबीर, सूर और तुलसीदासजी की रचनाओं में भी यदा कदा अध्यात्म की सुन्दर व्याख्या प्राप्त होती है, पर अध्यात्म का मूल दृष्टि से कोई ग्रन्थ नहीं मिलता है।

अध्यात्म सन्त कविवर बनारसीदास ने आचार्य कुन्दकुन्द के 'समय पाहुड़' का हिन्दी पद्यानुवाद एवं यथावसर विस्तृत व्याख्या करके इस अभाव की अत्यन्त सुन्दर एवं सशक्त ढङ्ग से पूर्ति की। यद्यपि बनारसीदासजी ने यह कार्य अपने पूर्वाचार्यों की परम्परा और उनकी रचनाओं के आधार पर ही किया, परन्तु भावगत प्राञ्जलता, मोहक रूपकों, अनुप्रासों और अलङ्कारों की अभिराम छटा, अर्थ की सुबोधता, शैली की मृदुलता, प्रवहण-शीलता और इन सबसे बढ़कर विषय को मौलिक ढङ्ग से प्रस्तुत करने की विलक्षण प्रतिभा और कुशलता के कारण कविवर की यह कृति वस्तुतः अध्यात्म साहित्य में युगान्तर उपस्थित करती है। हिन्दी में समयसार के अतिरिक्त जीवद्रव्य (आत्मा) पर इतनी पुष्कल एवं व्यवस्थित पद्यबद्ध कृति दूसरी नहीं है। जीव की सम्पूर्ण मानसिक, आध्यात्मिक एवं ऐन्द्रिक (संसारपरक) दशाओं का इतना मार्मिक विवेचन भी अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। बनारसीदासजी के 'समयसार' एवं पद्यों-पदों से प्रभावित होकर ही उनके समकालीन एवं पश्चात्वर्ती अनेक जैन एवं इतर कवियों ने इस दिशा में प्रचुर पद्य-पद रचे। भैया भगवतीदास, भूधरदास, द्यानतराय, दौलतराम, आनन्दघन, वृन्दावन एवं भागचन्द आदि कवि उल्लेख्य हैं।

भारतवर्ष की मूल संस्कृतियाँ दो हैं—वैदिक और श्रमण। इन दोनों के ही अद्यावधि विकसित रूपों में अध्यात्म की धारा कभी मन्थर तो कभी तीव्र गत्या प्रवहमान रही है। वैदिक संस्कृति के पुराण-काल में शैव और वैष्णव ये दो रूप हो गए। शैव शाखा दक्षिण में और वैष्णव शाखा उत्तर भारत में पल्लवित हुई और आज भी है। शैवों के अनेक सम्प्रदाय हुए और वैष्णवों के भी। निम्बार्काचार्य, माध्वाचार्य एवं रामानुजाचार्य ने वैष्णव शाखा को ही विभिन्न रूपों में प्रसारित किया। श्रमण संस्कृति भी अत्यन्त प्राचीनकाल से इस देश में और अन्यत्र भी अध्यात्म का भव्य सन्देश प्रसारित करती रही है। यह संस्कृति जैन बौद्ध इन दो शाखाओं में आरम्भ से ही चली और आज तक चली जा रही है। जैन-संस्कृति तो इस देश में ही जन्मी और पनपी तथा आज भी अक्षुण्ण रूपेण अवस्थित है, परन्तु बौद्ध संस्कृति इस देश के अतिरिक्त एशिया के बहुभाग चीन, जापान, जावा, सुमात्रा मलाया आदि में भी फैली आज भी अपनी प्रतिष्ठा को प्रायः पूर्ववत् बनाए हुए है। भारतवर्ष में राज्य विप्लवों के कारण बौद्ध संस्कृति को कई बार टक्करें झेलनी पड़ीं फिर भी उसकी अध्यात्म-परकता में कभी निर्जीविता नहीं आने पाई। जैन-संस्कृति प्रत्येक आत्मा के चरम-विकास में विश्वास करती है—यही उसका मूल स्वर है। इसी स्वर का उद्घोष समयसार में किया गया है।

बनारसीदासजी ने अपने समयसार द्वारा विषय और उसकी प्रणयन पद्धति का ऐसा दिव्य एवं चिर-नवीन मोहक रूप प्रस्तुत किया कि अध्यात्म के सम्बन्ध में शुष्कता की पुरानी मान्यता ही लोग भूल गए। जीवात्मा की सभी दशाओं का विभिन्न सरस पद्यों में नाटकीय ढाँचे द्वारा कवि ने चित्रण किया है। शैली सर्वत्र विश्लेषण प्रधान रही है। कवि की रचना-प्रणाली पुरानी गाथा और दोहा पद्धति से सर्वथा भिन्न है। यह दृश्यकाव्योन्मुख विविध पद्यपरक गीतिनाट्यात्मक रचना पद्धति कही जा सकती है।

यह शान्त रस से परिपूर्ण कृति कविवर बनारसीदास के बहुमुखी व्यक्तित्व एवं कृतित्व का आधार-स्तम्भ है और हिन्दी-साहित्य की अध्यात्म विधा को उनकी अनुपम देन।

—श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति (आन्ध्र)।

क्या सन्देश-रासक का रचयिता मत्स्य देश का था ?

श्री अगरचन्द नाहटा

नागरी प्रचारिणी पत्रिका के वर्ष ६७ अङ्क २ में श्री गोकुलचन्द्र शर्मा की एक टिप्पणी "सन्देश रासक के रचयिता का निवास स्थान और नाम" शीर्षक विमर्श विभाग के अन्तर्गत प्रकाशित हुई है। उसमें सन्देश रासक में कवि ने अपने निवास स्थान के सम्बन्ध में लिखा है "पच्चायसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य भिच्छ-देसो त्थि ....।"

इस पंक्ति में आये हुये 'भिच्छदेस' के सम्बन्ध में श्री गोकुलचन्द्र शर्मा ने लिखा है कि हमारा अनुमान है कि "भिच्छ देश वस्तुतः मत्स्य देश का ही विकृत रूप है।" जमुना का पश्चिमी एवं कुर्वों का दक्षिणी प्रदेश—अर्थात् वर्तमान जयपुर एवं अलवर राज्य, भरतपुर का कुछ हिस्सा तथा तिरहुत का दक्षिणी भाग मत्स्य जनपद कहलाता था।" पर वास्तव में उनका यह अनुमान सही नहीं है।

उन्होंने लिखा है कि, "मायाणी ने मिच्छ देश का मूल रूप मलेच्छ देस माना है।" वास्तव में डा० मायाणी ने यह कोई अपना मत नहीं लिखा है पर संवत् १४६५ में जैन विद्वान् लक्ष्मीचन्द्र रचित सन्देशरासक के टिप्पणक में और अवचुरि में यही अर्थ किया है।" यथा पचाएसि–प्रतीच्यां पश्चिमदिशि प्रभूतः पूर्व्व प्रसिद्धो म्लेच्छनामा देशोऽस्ति।" इससे यह स्पष्ट है कि अब से ५५० वर्ष पूर्व भी भिच्छदेश शब्द का अर्थ मलेच्छ देश ही माना जाता रहा है। इतना ही नहीं 'पउम चरियं' जैसे प्राचीनतम् जैन प्राकृत कथा-ग्रन्थ में भी भिच्छ शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सुप्रसिद्ध प्राकृत कोश—'पाइयसद्द महण्णवो' के पृष्ठ ८५४ में इस शब्द का अर्थ बतलाते हुए लिखा गया है—

भिच्छ–पुं (म्लेच्छ) यवन, अनार्य मनुष्य, (पउम २७, १८, ३४, ४१, ती १५; संबोध १६)।

श्री गोकुलचन्द्र शर्मा ने लिखा है कि "पं० हजारी-प्रसादजी द्विवेदी म्लेच्छ देश के साथ ही 'मिथ्या देश ना' अर्थ भी मानते हैं।" पर देश शब्द का अर्थ देश ना' करना उचित नहीं मालूम पड़ता। 'भिच्छ' का मिथ्य या मिथ्या अर्थ तो प्राकृत कोष में किया गया है पर यहाँ देश के रूप में उल्लेख होने से वह अर्थ संगत नहीं लगता। द्विवेदीजी ने भी मुख्य अर्थ तो म्लेच्छ ही माना है। मिथ्यादेशना, अर्थ करना उनकी क्लिष्ट कल्पना है। श्री गोकुलचन्द्र शर्मा का यह अनुमान तो किसी भी तरह और ठीक नहीं है कि भिच्छदेश वस्तुतः मत्स्य देश का ही विकृत रूप हैं। अतः उसका अर्थ मत्स्य देश होना चाहिए।

श्री शर्मा ने सन्देश रासक की प्रति में उल्लिखित विक्रमपुर को बीकानेर का ही दूसरा नाम माना है।[1] वह भी उनके बीकानेर के इतिहास की अजानकारी का द्योतक है। चूँकि बीकानेर की स्थापना तो राव बीका ने संवत् १५४५ के लगभग की है और सन्देश रासक तो उससे काफी पहले की रचना है। इसलिए बीकानेर का संस्कृत नाम विक्रमपुर होते हुए भी सन्देश रासक के टीकाकार का उल्लिखित विक्रमपुर नहीं हो सकता, क्योंकि टीका संवत् १४६५ की है और बीकानेर तो उसके बाद का बसा हुआ है। नाम साम्य के कारण यह भ्रान्ति अन्य विद्वानों को भी हुई हैं। प्राचीन विक्रमपुर आज भी विक्रमपुर के नाम से प्रसिद्ध है और इसके सम्बन्ध में मेरा एक शोधपूर्ण लेख राज-स्थान विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के जर्नल में

१. उन्होंने बीकानेर का दूसरा नाम विजयनगर और वहाँ के राजा का नाम रामसिंह दिया है पर रामसिंह तो रायसिंह है पर सम्भव है छपने की गलती से रामसिंह छप गया हो। पर बीकानेर का नाम विजयनगर कहीं भी लिखा नहीं मिलता।

प्रकाशनार्थ भेजा हुआ है। अब से २० वर्ष पूर्व हमने इस भ्रान्ति का उन्मूलन अपने 'मणिधारी जिनचन्द्र सूरि' और युगप्रधान 'जिनदत्त सूरि' इन दोनों ग्रन्थों की टिप्पणियों में कर दिया था।

वास्तव में सन्देश रासक के २४ वें पद्य में विजयनगर का नाम है पर टिप्पणक और अवचूरि में उसका अर्थ विक्रमपुर दिया गया है। पर वह कहाँ तक ठीक है ? नहीं कहा जा सकता। यह भी विचारणीय है। क्योंकि प्राचीन विक्रमपुर के लिये इस नाम का प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता। सम्भव है टीकाकार को मूल ग्रन्थ में उल्लिखित विजयनगर का वास्तविक पता न हो और उनके ध्यान में विक्रमपुर की प्रसिद्धि विशेष रूप से रही हो। अतः सन्देश-रासक उल्लिखित विजयनगर वास्तव में कहाँ है व कौन-सा नगर था ? यह अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

श्री गोकुलचन्द्र शर्मा ने सन्देश रासक के रचयिता को हिन्दू माना है। पर यदि मिच्छ देश का अर्थ म्लेच्छ देश ही ठीक है तो उसका मुसलमान होना ही अधिक सम्भव है। 'मीर सेण' शब्द में 'मीर' शब्द को संस्कृत मानकर उन्होंने—"मीर सेण को हिन्दू मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये" लिखा है। पर ऐसी खींचा-तानी करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। कवि का नाम मूल ग्रन्थ में अद्दहमाण दिया है। टीकाकार और अवचूरिकार ने उनका अर्थ अब्दुल रहमान किया है। यद्यपि वह अर्थ पूर्णरूप से शुद्ध नहीं कहा जा सकता फिर भी यह तो निश्चित ही है कि अब से ५५० वर्ष पहले भी टीकाकार ने अब्दुल रहमान शब्द लिखकर कवि को मुसलमान ही माना है क्योंकि ऐसा नाम हिन्दुओं में नहीं होता।

—नाहटों की गवाड़, बीकानेर।

बाबू गुलाबराय अङ्क पर एक सम्मति

प्रिय बन्धु महेन्द्रजी,

सादर नमस्कार। एक अपरिचित की भाँति, सम्भव है, यह पत्र आपको आश्चर्य में डालेगा; पर लिखने का उद्देश्य है।

अचानक आपके 'साहित्य-सन्देश' का 'बाबू गुलाबराय-स्मृति-अङ्क' हाथ लगा; मैंने उसे चाव से पढ़ा। मेरे वयस्क मित्र डॉ० बलदेवप्रसादजी के शब्दों में (पृष्ठ ६५), हम सभी बाबूजी के निधन को 'हिन्दी जगत की अपार क्षति' अवश्य मानते हैं, पर आपकी पत्रिका के इस अङ्क ने 'उनके साहित्य के प्रचार की दिशा में' अनुपमेय योगदान दिया है। सामग्री का चयन Reading for an hour की भाँति नहीं, Reading for all time के दृष्टिकोण से किया गया है। वह उनके प्रति सात्विक श्रद्धा की सफल वाहक है। अङ्क पढ़ते ही उनका साकार दर्शन होता है। खासकर 'बाबूजी की आत्मकथा'—यह लेख, जिसका आपने सङ्कलन किया है। ऐसे सुधी सम्पादक धन्यवाद के पात्र हैं।

बाबूजी के अन्तिम दिनों में, जब वे भोपाल में निवास करते थे, दो-तीन बार मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था (उन दिनों मैं भी वहीं था; अब सेवा-निवृत्त होकर अपने घर आगया हूँ)। मुझे याद है कि संस्कृत-साहित्य पर घण्टों चर्चा चली थी। हाँ, यद्यपि में उनके विशेष सम्पर्क से वंचित रहा; फिर भी आपके पत्र से उनके विषय में अनेक नई बातें ज्ञात हुई। सच मानिए, मैं भी उन्हीं में से हूँ जो पढ़ते अधिक और लिखते कम हैं। अब अपने जीवन के अन्तिम दिन में 'एकान्तवासी योगी' की भाँति, केवल पढ़ता हूँ, कभी-कभी कुछ लिख भी डालता हूँ; वह भी स्वान्तः सुखाय। यही मेरा परिचय है।

आगरा कई बार आया, पर न आपके दर्शन का सौभाग्य मिला, न आपकी संस्था के दर्शन का ही। अब कभी आया तो दर्शन लाभ अवश्य लूँगा। सरस्वती की सेवा के लिए पुनः एकबार धन्यवाद।

डॉ० हरिहर त्रिवेदी

३३, शङ्कर बाग, कॉलोनी,
इन्दौर नगर, म० प्र०

३-९-६३

आलोचना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—ले०—जयचन्द्रराय, प्रकाशक—भारती साहित्य-मन्दिर, दिल्ली । पृष्ठ ३०२, मूल्य १०.००

यह ग्रन्थ आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए लिखा गया है । इसमें आचार्य शुक्ल की साहित्यिक देन का मूल्याङ्कन करने का प्रयास किया गया है । इस ग्रन्थ में ११ अध्याय व ३ परिशिष्ट हैं । आचार्य शुक्ल की जीवनी और व्यक्तित्व परिशिष्ट में दिया गया है । प्रथम अध्याय में आचार्य शुक्ल के समय की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक परिस्थितियों का वर्णन किया गया है जिससे आचार्य शुक्ल के साहित्य की पृष्ठभूमि स्पष्ट हो गई है । द्वितीय अध्याय में शुक्लजी की साहित्यिक मान्यताओं का विस्तृत विवेचन है । तीसरे अध्याय में लोक-धर्म, वर्णाश्रम, नारी-भक्ति तथा दार्शनिक विचारों का विवेचन है।

चौथे अध्याय में व्यावहारिक आलोचना की मीमांसा की गई है । पाँचवाँ अध्याय उनकी हिन्दी समीक्षा सम्बन्धी देन का मूल्याङ्कन करता है और बताता है कि पीछे के आलोचकों पर क्या और कैसा प्रभाव है । छठा अध्याय उनकी एतिहासिक मान्यताओं से, सातवाँ निबन्ध-साहित्य से और आठवाँ जीवन-साहित्य से सम्बन्धित है । अन्तिम तीन अध्याय अत्यन्त संक्षिप्त हैं, जिनमें क्रमशः कहानी, काव्य और इतर साहित्य का विवेचन है । इस शोध प्रबन्ध में लेखक ने शुक्ल सम्बन्धी अब तक उपलब्ध समस्त सामग्री का उपयोग किया है ।

हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक—लेखक-डॉ० दशरथसिंह, प्रकाशक—विद्या मन्दिर, वाराणसी । पृ० २४६, मू० ६.५०

आचार्य नन्ददुलारेजी बाजपेयी के निर्देशन में लिखा गया यह पी-एच० डी० का शोध प्रबन्ध है, जिसमें नौ अध्याय हैं । प्रथम अध्याय में यूरोपीय और भारतीय नाट्यशास्त्र सम्बन्धी दृष्टिकोणों का विस्तार से विवेचन है एवं पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी नाटकों का विकास भी दिखाया गया है । द्वितीय अध्याय में हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटकों के प्रारम्भिक-युग का विवेचन है। तृतीय अध्याय में प्रसाद के नाटकों की स्वच्छन्दतावादी शैलीं का विश्लेषण विस्तार से किया गया है। प्रसाद के सभी नाटकों का अलग-अलग विवेचन किया गया है । चतुर्थ अध्याय में प्रसाद के नाटकों की कला का मूल्याङ्कन किया गया है । पञ्चम अध्याय में हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों की विस्तृत विवेचना की गई है और बताया गया है कि उन नाटकों में स्वच्छन्दतावादी तत्त्वों का समावेश किस व्यापक स्तर पर हुआ है। षष्ठम अध्याय का सम्बन्ध उदयशङ्कर भट्ट की स्वच्छन्दता वादी नाट्य-विशेषताओं से है । सप्तम अध्याय में गोविन्दबल्लभ पन्त के, अष्टम् अध्याय में वृन्दावनलाल

वर्मा के तथा नवम् अध्याय में डॉ० रामकुमार वर्मा के नाटकों की स्वच्छन्दतावादी मान्यताओं का विश्लेषण है। इन सभी नाटककारों की नाट्य-रचनाओं का विस्तृत विवेचन पूर्व स्वीकृत सैद्धान्तिक परम्परा पर किया गया है। लेखक ने कुछ सूत्र निर्धारित कर लिए हैं और सभी नाटककारों की कृतियों को उन्हीं साँचों में फिट करने की कोशिश की है। इस विवेचन में पिष्टपेषण और पुनरावृत्ति अधिक है। यदि सैद्धान्तिक पक्ष की गढ़ी-गढ़ाई परिपाटी पर न चला जाता तो सम्भव है शोध-प्रवन्ध में अधिक व्यापकता एवं वैचित्र्य आजाता।

मधुमालती (मंझन)—सम्पा०-डॉ माताप्रसाद गुप्त, प्रका०–मित्र प्रकाशन, प्रा० लि०, प्रयाग। पृष्ठ ५०४, मूल्य २०.००

मंझन कृत मधुमालती से सभी हिन्दी प्रेमी तथा पाठक परिचित हैं। अब तक इसकी जो प्रतियाँ उपलब्ध रही हैं उनके सम्बन्ध में सभी एक मत नहीं हैं कि उनका पाठ पूर्ण प्रामाणिक है। डॉ० गुप्त ने शोध-पूर्ण पाठ प्रस्तुत करने की अपनी प्रशंसित योजना के अन्तर्गत इस ग्रन्थ को स्थान देकर हिन्दी का उपकार किया है। इस पुस्तक से हिन्दी साहित्य के सूफी काव्य को समझने और समझाने में यथेष्ट सहायता मिलेगी। इस पुस्तक का यह विशेष संस्करण है। आशा है इसका सामान्य संस्करण जनता को कम पैसे में उपलब्ध होगा जिससे सम्पूर्ण हिन्दी जनता इस महान ऐतिहासिक कृति से अधिकाधिक परिचय प्राप्त कर सके। आशा है डॉ० गुप्त इसी प्रकार हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों का उद्धार करते रहेंगे। इस ग्रन्थ में न केवल शुद्ध पाठ दिया गया है वरन् विस्तृत विद्वत्तापूर्ण भूमिका, पाठान्तर, अर्थ और शब्दानुक्रमणी आदि सब कुछ दिया गया है जिससे सभी वर्ग के पाठकों की अधिकाधिक सन्तुष्टि हो सकेगी।

विद्यापति और उनकी पदावली—ले०–देशराज-सिंह भाटी आदि, प्रका०–हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली। पृ० ६६०, मू० १०.००

विद्यार्थियोपयोगी ग्रन्थमाला में विद्यापति पदावली की यह विस्तृत व्याख्या तथा आलोचना मूल पाठ के साथ होने के कारण अत्यन्त उपादेय है। भाषा सरल तथा व्याख्याएँ टिप्पणी सहित हैं। यदि इसका मूल्य कम रखा जाता तो सामान्य विद्यार्थी उसे क्रय कर लेता और उसका हित होना सम्भव हो जाता। आशा है विश्वविद्यालय में स्वीकृत पदों का एक संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित करके मूल्य कम किया जायगा जिससे विद्यार्थियों को अधिक लाभ पहुँच सके।

हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों के प्रयोग—ले०–डा० शङ्करदेव अवतरे, प्रका०–राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली। पृ० ३६१, मू० १२.००

द्विवेदी-युग से लेकर अब तक के काव्य-रूपों और उनके प्रयोग के सम्बन्ध में लिखा गया शंकरदेव जी का यह शोध प्रवंध व्यापक स्तर को स्वीकार करके चला है। इस पुस्तक में कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निवन्ध, समीक्षा आदि को आधार बनाकर विवेचन किया गया है और साथ ही उन्हें अध्यायों के विभाजन का कारण भी माना गया है। विधा सम्बन्धी प्रयोगों का विवेचन प्राचीन सैद्धान्तिक मान्यताओं पर आधारित न होकर मनोवैज्ञानिक तथा समाज सापेक्ष दृष्टियों से समन्वित है जिससे प्रयोगों तथा उनके पूर्वापर रूपों का अच्छा विवेचन हो सका है। शोधार्थी की कुछ सीमाएँ होती हैं और उसे प्रतिबन्धों में रहकर कार्य करना होता है, यहाँ भी यह नियम लागू होता है, किन्तु इस सीमा से ग्रन्थ में एक विशेष गरिमा आ जाती है और अध्ययन अधिक गम्भीर बन जाता है। इस शोध प्रबन्ध में लेखक ने तटस्थ रहकर विषय का विवेचन किया है, अपने मंतव्यों को प्रकट करने से वह जानबूझकर बचता चला है। इस पुस्तक में शैली-गत प्रयोगों को प्रमुखता मिली है। अतः दृष्टिकोण में यान्त्रिकता का प्राधान्य है, एवं भाव पक्षीय मान्यताएँ अप्रमुख बनी रह गई हैं। भाषा की दृष्टि से लेखक ने यथेष्ट सतर्कता बरती है। अनेक क्षेत्रों का केवल ऊपरी परिचय मात्र हो सका है और वह भी केवल दो चार पंक्तियों में—जो नितान्त अपर्याप्त तथा मूल्याङ्कन की दृष्टि से असंतोषजनक है। आवश्यकता इस बात की है कि लेखक अगले संस्करण में इस प्रकार के प्रसङ्गों पर विशेष ध्यान देकर उन्हें विस्तृत बनाकर

ग्रन्थ की उपादेयता का विस्तार करें।

प्रसाद और उनकी कविता—ले० विश्वम्भर 'मानव' प्रका०—किताब महल, इलाहाबाद। पृ० २४८, मू० ४.००

प्रसाद के काव्य पर अनेक पुस्तकें निकल चुकी हैं फिर भी मानवजी उन्हें अपर्याप्त मानते हैं तथा घोषित करते हैं कि उनमें मौलिक दृष्टिकोण का एकांत अभाव है तथा प्रसाद जैसे मेधावी कलाकार के व्यक्तित्व एवं काव्य को विवेकपूर्ण ढङ्ग से प्रस्तुत करने में वे सर्वथा असमर्थ रही हैं। यह स्वयं सिद्ध है कि विज्ञ समीक्षक अपनी पुस्तक के द्वारा इन कमियों को पूरा करने का प्रयत्न करता है किन्तु उनके जीवन-परिचय में एक भी वाक्य ऐसा नहीं है जो पिष्ट-पेषण मात्र से किंचित भी भिन्न हो अतः 'महाकाव्यकार के व्यक्तित्व' का विवेचन घोषित उद्देश्य की पूर्ति पर एक सफल व्यंग्य है। काव्य के विवेचन में काव्य रूपक, काव्य कथाएँ, गीति काव्य, खण्डकाव्य और महाकाव्य के शीर्षकों में विभाजन करके विवेचन का मुख्य आधार परम्परागत शैली को ही अपनाया गया है। समीक्षक ने जहाँ एक ओर अपनी भूमिका में कालेज और विश्वविद्यालयों के समीक्षकों को तथा उनकी समीक्षा सम्बन्धी शोधों को नगण्य माना है। वहाँ स्वयं भी उसी पद्धति का अनुसरण किया है। कुछ शीर्षक नये अवश्य दिये गए हैं किन्तु उनमें विवेचित सामग्री में नवीनता नहीं हैं जैसे कामायनी को नारी प्रधान काव्य कहना। किन्तु इस समस्या को वे उठाकर रह गए हैं, उसके भीतर प्रवेश करके गहरे उतरने का प्रयास नहीं किया है। नारी प्रधानता के पीछे प्रसादजी के प्रत्यभिज्ञा दर्शन की मान्यताएँ हैं। वे जगत् का कारण तो शिव को मानते हैं किन्तु शक्ति ही उसे लीलामय बनाती है, अतः प्रत्यक्षतः नारी की प्रधानता उनके दर्शन में अभिव्यक्ति पक्ष का मुख्य आधार है। यदि इस दृष्टिकोण से मानवजी ने विचार किया होता तो इस विवेचन में सम्भवतः अधिक गहराई आ सकती थी। इस कमी का कारण संभवतः उसी आधार की न्यूनता है जिसे वे प्रोफेसोरियल आलोचना के नाम से हेय कहकर ठुकराना चाहते हैं।

रत्नाकर का काव्य—लेखक—लल्लनराय, प्राकशक—भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली। पृ० १९१, मू० ४.००

जगन्नाथदास रत्नाकर ब्रजभाषा के अन्तिम क्लासिकल कवि माने गये हैं और सम्भवतः इसीलिए उनकी समीक्षा शास्त्रीय पद्धति से ही की गई है। इस पुस्तक में लेखक ने परम्परानिष्ठ शैली से अलग हटकर मूल चेतना का ध्यान रखने का आश्वासन दिया है, किन्तु व्यावहारिक रूप में वे इस आश्वासन का निर्वाह नहीं कर पाये हैं। यह पुस्तक एम० ए० के लिए लिखे गये प्रबन्ध का संशोधित रूप है। लेखक ने पाश्चात्य काव्य शास्त्रीय परम्परा का सम्यग्दर्शन कराके और रत्नाकर की मान्यताओं और काव्यादर्शों का उससे सम्बन्ध दिखाकर यह स्पष्ट कर दिया है कि उन पर पाश्चात्य प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ा है। वैसे 'समालोचनादर्श' शीर्षक से उन्होंने जिस रचना का अनुवाद किया है उससे भी उनकी मान्यताओं पर प्रकाश पड़ा है।

साहित्यालोचन के सिद्धान्त—लेखक—एवर क्रोम्बी, अनु०—सोमेश पुरोहित, प्रका—वोरा एण्ड कं०, बम्बई। पृ० १४०, मू० ३.००

एवर क्रोम्बी अंग्रेजी के आधुनिक काव्य-आख्याता हैं जिन्होंने महाकाव्य पर नवीन दृष्टिकोण से विचार किया है। उनकी अनेक मान्यताएँ आज यूरोपीय तथा भारतीय समीक्षा-क्षेत्र में विवेचना का विषय बनी हैं। उनकी 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म' शीर्षक पुस्तक का यह अनुवाद संभवतः प्रथम बार हिन्दी जगत के समक्ष आ रहा है। इस पुस्तक में साहित्य-सृजन की प्रक्रिया, भाषा की शक्ति तथा अभिव्यक्ति पक्ष आदि पर विचार किया गया है।

मानव प्रकृति और आचरण—मूल लेखक—जॉन-ड्यूई। (अनु० हरिश्चन्द्र विद्यालङ्कार) प्रका०—आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली। पृ० २४७ मूल्य ६.००

मानव-प्रकृति और आचरण को नैतिकता के आधार पर देखने और परखने का प्रयास इस पुस्तक का मुख्य विषय है। नैतिकता का अर्थ भिन्न-भिन्न कालों में बदलता रहा है और निरन्तर बदलता रहेगा—

ऐसी मान्यता है। इस मान्यता को इस ग्रंथकार ने भी स्वीकृति प्रदान की है तथा बताया है कि नैतिकता हमें इस योग्य बनाती है कि हम समस्याओं को उस रूप में प्रस्तुत कर सकें जिससे वह समाधान हेतु ठीक रूप में प्रस्तुत की जा सके। विद्वान लेखक का विषय पर पूर्ण अधिकार है और अनुवादक ने भी पूर्ण सफलता के साथ दार्शनिक भाषणों को हिन्दी में प्रस्तुत करके बड़े भारी उत्तरदायित्व की रक्षा की है और हिन्दी जगत को पाश्चात्य विचार-धारा से परिचित कराया है।

मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति और तुलसीदास—लें०-डॉ० रामरतन भटनागर, प्रका०-हिन्दी-साहित्य-संसार; दिल्ली। पृ० १८४, मू० ७.५०

तुलसीदास भारतीय संस्कृति के अमर व्याख्याता हैं। मध्ययुगीन सांस्कृतिक स्थिति को सनातन काल से चली आती हुई मान्यताओं के साथ जोड़कर दिखाने का जो अभूतपूर्व प्रयास उन्होंने किया है वह तत्कालीन समाज तक ही सीमित न रहकर कविता की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है, इसीलिए उनकी कृतियाँ एक युग की न रहकर युग-युग की बन गई हैं। डॉ० भटनागर ने अपनी इस पुस्तक में सांस्कृतिक मान्यताओं को विस्तार से प्रस्तुत करके हिन्दी के उन सुधी विद्वानों जो अब तक इस ओर से उदासीनता धारण किये बैठे हैं, को इस दिशा में और सोचविचार की प्रेरणा दी है। हिन्दी आलोचना का शास्त्रीय आधार ही अधिक मान्यता प्राप्त करता रहा है और सांस्कृतिक आधार पर कम ध्यान दिया गया है, इसीलिए विवेचन एकांगी और अधूरे सिद्ध हुए हैं। तुलसीदास के सम्बन्ध में इस विवेचन से अनेक नवीन प्रश्न उठते हैं आशा है उन पर अधिकाधिक प्रकाश पड़ेगा और तुलसीदास के काव्य में निहित सांस्कृतिक परम्पराओं का व्यापक स्तर पर अध्ययन होगा। यह प्रयास प्रारम्भिक होने के कारण अत्यन्त उद्‌बोधक है।

विद्यापति की काव्य-साधना—ले०-देशराजसिंह भाटी, प्रका०-हिन्दी-साहित्य-संसार, दिल्ली। पृष्ठ २०६, मू० ५.००

यह विद्यापति के सम्बन्ध में विद्यार्थियोपयोगी आलोचनात्मक विश्लेषण से युक्त ६४ पदों का संस्करण है जिसमें विद्यापति के जीवन वृत्त से लेकर उनके मूल्याङ्कन तक के अनेक प्रश्नों का सरस, सरल एवं सोदाहरण शैली में अच्छा विवेचन है। लेखक विद्यार्थियों की व्यावहारिक कठिनाइयों से परिचित है और उसने यथेष्ट सीमा तक उन्हें हल करने का प्रयास किया है।

जायसी एक विवेचन—ले०-देशराजसिंह भाटी, प्रका०-हिन्दी-साहित्य-संसार, दिल्ली। पृ० १६४, मू० ५.००

जायसी पर अनेक ग्रन्थ निकल चुके हैं जिनमें से अधिकांश विद्यार्थियोपयोगी ही हैं। उसी शृङ्खला में यह पुस्तक भी आती है। पुस्तक में सरल तथा सुबोध भाषा शैली में सभी विद्यार्थियोपयोगी सामग्री का सञ्चयन किया गया है। परिश्रमी लेखक ने अद्यावधि सामग्री का योग्यतापूर्वक उपयोग करके अपनी हंसवृत्ति का अच्छा परिचय दिया है। आशा है विद्यार्थी समाज में इसका अच्छा सम्मान होगा।

महादेवी वर्मा—ले० कुमार विमल। प्रका०-पराग प्रकाशन, पटना। पृ० ६१ मू० १.५०

आज विद्यार्थियोपयोगी आलोचनात्मक पुस्तकों की भरमार हो रही है जिनमें दो चार पुस्तकों को पढ़कर एक नयी पुस्तक लिख देने की प्रवृत्ति ही प्रमुख है। महादेवी वर्मा पर लिखी गई यह पुस्तक विद्यार्थियों के दृष्टिकोण को ही मुख्य रूप से आधार मानकर लिखी गई है। इस पुस्तक में आलोच्य कवियित्री की काव्यगत विशेषताओं का विश्लेषण और मूल्याङ्कन है। आलोचना की दृष्टि शास्त्रीय है न कि सामाजिक। वह परिवेशात्मक तथ्यों के सन्दर्भ में यदि मूल्याङ्कन करता तो अधिक व्यापकता आ जाती। आशा है विद्यार्थी वर्ग इससे लाभ उठा सकेगा।

युग कवि पन्त की काव्य-साधना—लेखक-विनयकुमार शर्मा, प्रका०-हिन्दी-साहित्य-संसार, दिल्ली। पृष्ठ २६६, मू० ७.००

सुमित्रानन्दन पन्त के व्यक्तित्व और कृतित्व पर लिखी गई यह समालोचनात्मक कृति अनेक विद्यार्थियो-

पयोगी प्रश्नों को स्वीकार करके चली है। पन्तजी के विवेचन के साथ ही इस पुस्तक में छायावाद, प्रगतिवाद, दर्शन और रस आदि का जो विवेचन हुआ है उससे इसकी उपादेयता बढ़ गई है। पन्त पर लगाए गए आरोपों का उत्तर एक सीमा तक देने का प्रयास श्रीशर्मा ने किया है किन्तु वे उत्तर देने में स्वयं उलझ गए हैं और बुद्धिगत साधारणीकरण की भ्रमपूर्ण मान्यताओं के जाल में फँस गए हैं। विद्यार्थियों के लिये पुस्तक निस्सन्देह उपादेय है।

कविता

भारत माँ की लोरी—ले०-देवराज दिनेश, प्र०-आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृ० १४८, मू० ४.००

दिनेश की राष्ट्रीय भावना युक्त कविताओं का यह संग्रह यथार्थ की समस्याओं को भी अपने क्रोड़ में छिपाए हुए हैं। आज शहरी और ग्रामीण संस्कृतियों की जो दुरङ्गी चाल चल रही है और प्रगति को दोनों अपनी-अपनी ओर खींच रही हैं उसे कवि ने देखा और समझा है। वह ग्रामीण संस्कृति को मानवीय भावनाओं की पोषक मानकर शहरी सभ्यता पर तीव्र व्यंग्य करता है।

सुनी सुनाई बात यहाँ सच्ची कहलाती है आँखों देखी बात यहाँ झूठी होती है—यह शहरी सभ्यता का तमाशा है कठपुतली का, जो एक आँख से हँसती और दूसरी से रोती है। दिनेशजी आज के युग की प्रगतिशील शक्तियों को पहचान कर उन्हें मूर्तिमान करने में पूर्ण दक्ष हैं। विश्व-परिवार की भावना को उन्होंने अपने काव्यलोक में साकार होते हुए देखा है। वे युवक को नव-निर्माण की प्रेरणा देते हैं और बीते हुए भूतकाल की कपालक्रिया से विरत करना चाहते हैं। कवि ने आज के समाज में उभरते हुए नवीन जीवन मूल्यों के प्रति आस्था प्रकट की है। वे श्रम को नया समाज बनाने के लिए आवश्यक मानते हैं। कविताएँ जन सामान्य को प्रेरणा देने वाली हैं।

जीवन जलता है—लेखक-रमेश 'मणि' प्रका०-सिंहल साहित्य निकेतन, भोपाल। पृष्ठ ५०, मू० १.००

उदीयमान कवि मणिजी की कविताओं का यह संग्रह उनके भविष्यकालीन उत्कर्ष का परिचय देता है। इन कविताओं में उनके हृदय की निजी भावनाएँ ही प्रमुखता से व्यक्त हुई हैं जैसे उनकी संवेदना अहं को भेदकर सामाजिकता की ओर उन्मुख है किन्तु सीमाओं के भीतर। सरसता इन कविताओं का विशेष गुण है।

नई धरती के नए स्वर—सम्पा०-रामगोपाल परदेशी, प्रका०-युवक प्रकाशन, आगरा। पृष्ठ मू० ३.५०

नए पुराने गीतकारों के गीतों का यह सुन्दर संग्रह कल्पना और यथार्थ का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत करता है। इस संग्रह में ५७ कवियों की रचनाएँ हैं जिनमें चन्द्रसेन विराट, शकुन्तला सिरोठिया, प्रणवीर चौहान, महेन्द्र भटनागर, चातक, रमासिंह, जगतप्रकाश आदि प्रमुख हैं।

अमरू शतकम्—संग्रहकर्त्ता एवं अनुवादक-कमलेश-दत्त त्रिपाठी, प्रका०-मित्र प्रकाशन, प्रा० लि० इलाहाबाद। पृ० ३१६, मू० १०.००

अमरूशतक संस्कृत की मुक्तक-परम्परा का सर्वविदित ग्रन्थ है जिसमें शृंगार रस की उच्चकोटि की रचनाएँ उपलब्ध हैं। हिन्दी-साहित्य के रीतिकालीन कवियों पर इस ग्रन्थ का व्यापक प्रभाव है। बिहारी के अनेक दोहे अमरूशतक के अनुवाद से प्रतीत होते हैं। आज यह ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद के साथ सचित्र रूप में सुन्दर सज्जा के साथ हिन्दी-संसार के समक्ष प्रस्तुत हुआ है। आशा है हिन्दी जगत् इसका सम्यक् स्वागत करेगा।

उपन्यास

अवन्तीनाथ—ले०-धूमकेतु, प्र०-बोरा एण्ड कं० बम्बई। पृष्ठ ३२६, मूल्य ५.५०।

चालुक्य वंशीय उपन्यास परम्परा में धूमकेतु अब तक ६ उपन्यास लिख चुके हैं, यह सातवाँ उपन्यास है। यह उपन्यास गुजरात के सुप्रसिद्ध राजा जयसिंह सिद्धराज को केन्द्र बनाकर लिखे गये इसी नाम के तीन उपन्यासों का तीसरा और अन्तिम खण्ड है। इस उपन्यास में सिद्धराज के माला-अवन्ती पर

आक्रमण करने धारा दुर्ग पर घेरा डालने, धारा के किले को तोड़ने के लिए महोबा के राजा के यहाँ से हाथी लाने और अन्त में मालवा के राजा यशोवर्मा को पराजित करने की कहानी कही गई है। उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता उसका इतिहास के साथ पूर्ण न्याय की प्रवृत्ति है। औपन्यासिक तत्वों का भी ऐसा सुन्दर समन्वय है कि पाठक पढ़ते-पढ़ते रससिक्त हो उठता है। आशा है हिन्दी-जनता इस उपन्यास का पूर्व परम्परानुकूल विधि से ही स्वागत करेगी।

सितारों से आगे—ले०-कृश्नचन्दर, प्रका०-राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली। पृ० १३४, मू० २.५०

हिन्दी में व्यंग्य प्रधान साहित्य की विपुलता नहीं है। जो दो-चार पुस्तकें लिखी जाती हैं उनमें भी स्तर की श्रेष्ठता तथा उद्देश्य की उत्तमता पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। कृश्नचन्दर उर्दू के श्लाघनीय व्यंग्यकार हैं। इधर उनकी जो रचनाएँ हिन्दी में निकली हैं उनके द्वारा निश्चित रूप से व्यंग्य का स्तर ऊपर उठा है। प्रस्तुत पुस्तक आज की समाज-दशा तथा राजनीति पर एक तीव्र व्यंग्य है। व्यंग्य की बात एक कथा के द्वारा जिसमें बच्चे राकेट-यान द्वारा चन्द्र-लोक की यात्रा पर जाते हैं—लिखी गई है। इस पुस्तक में यह बताया गया है कि किस प्रकार राजनीति असत्य के ऊपर आधारित है, शोषण के लिए कैसे-कैसे आधार बनाए जाते हैं तथा भावी समाज-रचना किन तत्वों पर आधारित होकर प्रगतिशील हो सकती है। कल्पना-लोक की अद्भुत कथाएँ आज की वैज्ञानिक उपलब्धियों को आधार बनाकर चलती हैं जिससे सत्य का आभास मिलता है। कथा में रोचकता आद्योपान्त विद्यमान है।

नाटक

शेरशाह—ले०-सेठ गोविन्ददास, प्रका०-भारतीय विश्व प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ १७८, मूल्य २.५०।

मुगलकालीन ऐतिहासिक नाटक होने के कारण इस नाटक की ऐतिहासिकता पर विशेष ध्यान जाना स्वाभाविक है। इतिहास की घटनाओं तथा पात्रों को आधार बनाकर तथा कल्पना के अपूर्व संयोग से इस नाटक की रचना की गई है। इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता भूतकाल को उसके सम्पूर्ण परिवेश के साथ रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करने योग्य शैली में प्रस्तुत कर देना है। इस नाटक में शेरशाह और हुमायूं के प्रसिद्ध ऐतिहासिक कथानक को स्वीकार किया गया है। नाटक सभी हिन्दी प्रेमियों को पढ़ना चाहिए।

दानलीला—ले०-गोकुलानन्द तैलंग, प्रका०-पुष्टिमार्गीय युवक परिषद्, बम्बई-२। पृ० ४४, मू० .७५

श्री हरिरायजी की काव्य-वाणी पर आधारित यह एकाङ्की नाटिका भावपूर्ण काव्य एवं गद्य की सुन्दर अभिव्यक्ति है। उसमें पुष्टिमार्ग में स्वीकृत भक्ति के सिद्धान्तों का अधिकाधिक समावेश किया गया है जिससे वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित कृष्ण-भक्तों के लिए इसका विशेष महत्व हो गया है।

(१) **रामकथा**—लेखक-पञ्चानन पाठक। पृ० १३ मूल्य .२५ न० पै०

(२) **कृष्णलीला**—लेखक-सिद्धेश्वर अवस्थी। पृ० ३६, मूल्य ०.५० न० पै०।

(३) **रुपहरा ख्वाब**—ले०-कृष्णकुमार त्रिवेदी। पृ० १५, मूल्य ०.२५ न. पै.।

(४) **सोने का फूल**—लेखक-सिद्धेश्वर अवस्थी। पृ० १५, मूल्य ०.२५ न. पै.।

(५) **अग्नि व्याल**—लेखक-सिद्धेश्वर अवस्थी। पृ० १२, मूल्य २५ न. पै.।

(६) **झाँसी की रानी**—लेखक-खेमसिंह नागर। पृष्ठ ३६, मूल्य ०.५० न. पै.।

प्रकाशक-कलाभारती, लखनऊ।

कला-भारती द्वारा प्रकाशित ये पुस्तकें रङ्गमञ्च के लिए लिखी गई हैं। इनमें प्रथम दोनों पुस्तकें गीत-नाट्य हैं और जैसा कि उनके शीर्षकों से स्पष्ट हैं इनमें क्रमशः राम और कृष्ण की कथाएँ हैं। 'तीसरी पुस्तक 'रुपहरा ख्वाब' छाया-नाट्य है जो मुमताज और शाहजहाँ की ऐतिहासिक कहानी पर आधारित है। शेष तीन नौटंकी हैं, जिनकी शैली लोक रंगमञ्च के अनुकूल है। सभी पुस्तकें अपनी विशेषताओं से युक्त हैं। आशा है रंगमञ्च प्रेमी इनसे लाभ उठाकर जनता

के समक्ष उन्हें प्रस्तुत करेंगे। पाठकों को भी इनसे यथेष्ट मनोरञ्जन होगा।

राजनीति एवं इतिहास

भारत का प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम—लेखक—कार्ल-मार्क्स फ्रे० एङ्गिल्स, प्रका०—पीपुल्स पब्लिशिङ्ग हाउस, दिल्ली। पृष्ठ २५६, मूल्य ३.००।

भारतवर्ष के इतिहास का वह अंश आज सबसे अधिक मनन और चिन्तन का केन्द्र बन रहा है जिसके अन्तर्गत हमारे देश पर अंग्रेजों का अधिपत्य रहा है। जब देश गुलाम था तभी मार्क्स और एङ्गिल्स ने हमारे देश का अध्ययन करके कुछ लेख लिखे थे। इन लेखों को समय-समय पर अनेक संग्रहों में स्थान मिलता रहा है। हिन्दी में इनके अनुवाद की इसलिए आवश्यकता थी कि हम लोग आज के सन्दर्भ में कम्यूनिस्ट विचारकों के दृष्टिकोण से भी परिचित हों। मार्क्स ने भारतीय समाज और इतिहास के बिकास-क्रम का जो विश्लेषण किया है वह इसलिए उपयुक्त नहीं है कि वे लोग भारतीय सांस्कृतिक परम्परा और जीवन से अपरिचित थे। उन्होंने समाज-विकास का जो द्वन्द्वात्मक क्रम स्थापित किया था उसी को ज्यों का त्यों भारतीय इतिहास पर भी लागू कर दिया है। हमारे देश में १८५७ में जो प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम हुआ था उसके सम्बन्ध में भी मार्क्स की विचारधारा निर्भ्रान्ति नहीं कही जा सकती है। कुछ मार्क्सवादी विश्लेषकों ने १८५७ के विद्रोह का जो विवेचन किया है, वह भी इस विवेचन से मेल नहीं खाता है। अतः इस पुस्तक को पढ़ते समय हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि इन लेखकों की अपनी सीमायें थीं तथा एक दृष्टिकोण विशेष से ही वे सारे प्रश्नों को देखते थे।

विज्ञान

भारत के वैज्ञानिक—लेखक—रामलाल, प्रका०—बोरा एण्ड कं०, बम्बई। पृष्ठ १३६, मूल्य २.५०

भारत के वैज्ञानिकों के सम्बन्ध में आज के वैज्ञानिक युग में भी बहुत ही कम जानकारी है। उस पुस्तक में चित्रों के साथ २ भारतीय वैज्ञानिकों की चर्चा की गई है। यदि वैज्ञानिक शब्द के साथ सभी नामों को गिनाया जाय तो लोगों को कुछ चमत्कार सा लग सकता है। किन्तु सचाई काफी चमत्कारपूर्ण होती है। इस पुस्तक में महर्षियों में पिंगल, यास्क, चरक और पाणिनि का वर्णन है तथा आचार्यों में वराहमिहिर तथा जगदीशचन्द्र वसु का। ये सभी भारतीय चिंतन तथा शोध को विकसित करते रहे हैं, जिनसे भारतीय जीवन समय समय पर अत्यन्त तीव्रता से विकसित हुआ है। विद्यार्थियों के लिये पुस्तक अत्यन्त मूल्यवान है।

नाभिकीय ऊर्जा—प्रका०—पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। पृ० ११२ मू० १.००

आज के वैज्ञानिक युग में यह अत्यन्त आवश्यक है कि केवल विशेष व्यक्तियों से सम्बन्धित न रखकर सर्वसाधारण तक विज्ञान की आवश्यक जानकारी पहुँचाई जावे। आज के युग में हमारा जीवन किसी न किसी प्रकार की उर्जा (एनर्जी) द्वारा ही सञ्चालित होता है। आज यान्त्रिक रासायनिक, विद्युत् आदि अनेक प्रकार की ऊर्जा हमारे नित्य प्रयोग में आती है। इस पुस्तक में जो अपनी माला का प्रथम पुण्य है चित्रों द्वारा ऊर्जा का वर्णन अत्यन्त रोचक है। इसमें नाभिकीय (न्यूक्लियर) ऊर्जा पर विशेष बल दिया गया है। पुस्तक ऐसे मोटे टाइप और सरलभाषा में है कि सामान्य विद्यार्थी भी इससे लाभान्वित हो सकता है।

श्रीयुत मान्यवर महेन्द्रजी,

सादर वन्दे; आगे सदा स्मरणीय बाबू गुलाबराय जी की स्मृति में 'साहित्य-सन्देश' स्तुत्य अङ्क मिला। बहुत ही सुन्दर और उपादेय रहा। पुण्यश्लोक बाबूजी के जीवन की अनेक रसमयी झलकियाँ, विविध लेखकों द्वारा—टेढ़ीमेढ़ी ही सही आपके कृतित्व के सहारे एक स्थान पर देखने को मिलीं, यह हमारा सौभाग्य है—हिन्दी-साहित्य का अहोभाग्य है। उन्हें देखते-भालते बाबूजी के दर्शन प्रत्यक्षवत् हो रहे हैं।

मथुरा, ३०—८—६३ —जवाहरलाल चतुर्वेदी

इस मास के नए प्रकाशन

★ **गाँव**—मुल्कराज अनन्द — ५.००

डॉ० आनन्द के इस नए सशक्त उपन्यास में भरत के ग्रमीण समाज का सही अर्थों में क्रान्तिकारी चित्र प्रस्तुत हुआ है।

★ **उग्रतारा**—नागार्जुन — २.००

अबला नारी द्वारा सामाजिक मूल्यों से विद्रोही की नई रोचक कथा

★ **आज की वैज्ञानिक महिलाएँ**—एडना पोस्ट — ३.००

संसार प्रसिद्ध ग्यारह वैज्ञानिक महिलाओं के लगन, परिश्रम और वैज्ञानिक सफलताओं की रोचक झाकियाँ।

★ **घड़ी की कहानी**—अनु० रमेशकुमार माहेश्वरी — २.००

रोचक शैली में घड़ी के आविष्कार की कहानी। चित्रों से सुसज्जित।

राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली–६

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

साहित्यिक निबन्ध मणि :		पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'	५.००
दूखन लागे नैन :	(उपन्यास)	भगवतीप्रसाद वाजपेयी	५.५०
टूटा टी-सैट :	(उपन्यास)	भगवतीप्रसाद वाजपेयी	४.००
नीर भर आये बदरा :	(उपन्यास)	उमाशङ्कर	४.००
भुवन विजयम् :	(उपन्यास)	उमाशङ्कर	५.५०
जब सूरज ने आँखें खोलीं :	(उपन्यास)	कमल शुक्ल	५.५०

हमारा आगामी प्रकाशन

वृहद हिन्दी ग्रन्थ सूची

(हिन्दी प्रकाशन व्यवसाय को एक अभूतपूर्व देन)

जिन प्रकाशकों ने अभी तक सूची नहीं भेजी है, वे 'शीघ्र' ही अपने प्रकाशनों की सूची भेजने की कृपा करें

(अधिक जानकारी के लिये लिखें)

भारतीय ग्रन्थ निकेतन १३३, लाजपत मार्केट, चाँदनी चौक, दिल्ली–६

डा० गणपतिचन्द्र द्वारा प्रस्तुत नई पुस्तक

'आ. हजारीप्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं साहित्य'

आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व, जीवन-दर्शन, आलोचक, निबन्धकार एवं उपन्यासकार का ३० अध्यायों में विस्तृत-विवेचन; 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' पर दस विशेष लेख; 'अशोक के फूल' एवं निबन्ध-कला पर भी दस लेख। पृष्ठ सं० पौने चारसौ; मूल्य—सात रुपये।

प्रकाशक—भारतेन्दु-भवन, चंडीगढ़—३

(साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा तथा अन्य विक्रेताओं से भी प्राप्य)

आजादी खतरे में है। अपनी पूरी ताकत लगा कर इसकी रक्षा कीजिए।
जवाहरलाल नेहरू
आपकी किफायत में देश की ताकत
देश की स्वतंत्रता व अखण्डता की रक्षा लोगों के त्याग तथा निरन्तर सतर्कता से ही हो सकती है।
सभी फजूल और व्यर्थ के खर्च रोक कर, आप देश के विकास की गति तेज करने के लिए अधिक साधन उपलब्ध करने में सहायक होते हैं।
आपकी बचत से राष्ट्र की जरूरतें पूरी होती हैं
DA 63/F 11

साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को

अपूर्व सुविधा

हम अपने साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को निम्न पुस्तकें पौने मूल्य में देंगे। आर्डर भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान रखने की कृपा करें—

१. प्रत्येक आर्डर में अपनी ग्राहक संख्या लिखें तथा कम से कम दो रुपया मनीआर्डर से पेशगी भेजें।

२. सूची के नीचे जो अन्तिम तारीख लिखी है उसी तारीख तक ये पुस्तकें भेजी जायेंगी—बाद में आर्डर आने पर २५ प्रतिशत की सुविधा नहीं मिलेगी।

३. जो पुस्तकें सूची में लिखी हैं वही भेजी जायेंगी।

४. २५ रुपये से अधिक की पुस्तकें मँगानी हों तो अपने रेलवे स्टेशन का नाम लिखें। रेल से मँगाने में आपका खर्चा कम लगेगा। आर्डर यहाँ से काट कर भेज दें अथवा किसी कागज या पोस्ट कार्ड पर लिखकर भेजदें।

पौने मूल्य में पुस्तकें प्राप्त करने की सूची

नाम.. ग्राहक सं०..............................

पता..

कलकत्ता के उर्दू कलाकार—बरुआ	१.५०	पिथौरा की पद्मिनी—श्री कृष्ण मायूस	३.५०
कलकत्ता के हिन्दी कलाकार— "	१.५०	प्रभा भीलनी—बालादत्त दुबे	३.००
कला और साहित्य—गोवर्धन शर्मा	६.००	बसन्ती बुआजी—यज्ञदत्त	१.००
प्रगति और प्रयोग—रमेन्द्रप्रसादसिंह विद्यार्थी	१.००	माँझी—माणिकलाल वन्द्योपाध्याय	३.००
वीररस का शास्त्रीय विवेचन—हरेकृष्ण	३.५०	माँझी, पतवार और किनारा—कमल शुक्ल	३.००
सन्त दर्शन—डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित	४.००	रजनीगन्धा—यज्ञदत्त शर्मा	२.५०
आग और पानी—तेजबहादुर चौधरी	१.५०	वीरान रास्ते और झरना—शशिप्रभा शास्त्री	२.[illegible]
अन्तिम चरण—यज्ञदत्त	७.५०	सम्राट् नीरो—रमेशचन्द्र अवस्थी	४.५०
एक ही पतवार—शिवव्रतलाल वर्मन	३.२५	हाँ हाँ तेरी दुनिया में—शाह नसीर फ़रीदी	४.५०
कलयुग की महाप्रलय—यज्ञदत्त	१.००	नन्दकुमार की फाँसी—पातीराम भट्ट	१.[illegible]
खोटा सिक्का—साधना प्रतापी	४.००	पत्थर और परछाइयाँ—मारकण्डेय	३.००
गुरू घण्टाल—मिर्जा हादी रुस्तवा	४.५०	प्रणय पल—बा० रामसिंह लमगोड़ा	१.७५
चट्टानें—प्रो० श्यामसुन्दर	४.००	अणुयायिनी—जगन्नाथप्रसाद जीवन	४.५०
जहाँदार शाह—वाल्मीकि	५.५०	अन्तर छाया—देवेश ठाकुर	[illegible]
झुनिया की शादी—यज्ञदत्त	३.००	ऐसा देश हमारा—रामगोपालसिंह शर्मा 'दिनेश'	[illegible]
नया युग नया मानव—मोहनलाल महतो वियोगी	५.००	करुणा कादम्बिनी—बा० गयाप्रसाद शुक्ल	[illegible]
पाप और प्रकाश—देवीप्रसाद धवन	२.५०	सरगम—उदयभान हंस	[illegible]

अन्तिम ता० ३१-१०-६३

पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

REGD. No. 263. September 1963 License No. 16.
Sahitya-Sandesh, Agra. Licensed to post without prepayment.

रामचरनलाल द्वारा साहित्य-प्रेस में मुद्रित तथा

साहित्य-सन्देश

अक्टूबर १९६३

सम्पादक—महेन्द्र

एक प्रति ॥)

साहित्य रत्न भंडार
आगरा

सुप्रसिद्ध चिन्तक जैनेन्द्र

के बहुचर्चित, बहुपठित, बहुप्रशंसित, नवीनतम ग्रन्थ

साहित्यकार, पत्रकार, शिक्षाशास्त्री और समालोचक जिसे—

हिन्दी जगत का गौरव,

दर्शन जगत की प्रतिष्ठा,

शिक्षा जगत का महासागर

लिख रहे हैं। बेजोड़ और अमूल्य कृति, मू० २० रु०

जिसमें जैनेन्द्र का क्रान्तिकारी रूप उभरा है।

धर्मयुग में प्रकाशित कुछ अंशों की हलचल अभी भी ताज़ा है।

मूल्य १० रुपये मात्र।

लोक विकास कथा माला

किशोरों व नवसाक्षरों के लिए अत्यन्त उपयोगी, मोटा टाइप, शुद्ध छपाई, सचित्र, ७ भाग प्रकाशित, मू० प्रत्येक ०.६५

उपन्यास

त्यागपत्र	१.५०
परख	१.७५
कल्याणी	२.५०
सुनीता	३.००
सुखदा	४.००
विवर्त	४.२५
व्यतीत	३.५०
जयवर्द्धन	६.००
यामा भाग ३	७.५०

निबन्ध

साहित्य का श्रेय प्रेय	७.००
सोच विचार	५.००
मन्थन	५.००
पूर्वोदय	४.५०
प्रस्तुत प्रश्न	४.५०
ये और वे	३.७५
काम प्रेम और परिवार	३.००
जवानो	३.००
जवानो राह यह है	२.७५
जीवन झाँकी	०.७५

कहानी-संग्रह

जैनेन्द्र की कहानियाँ ८ भागों में प्रकाशित। मूल्य प्रत्येक	३.५०

नाटक

पाप और प्रकाश	२.५०
मग्दालिनी	१.५०

अन्य साहित्य

केरलसिंह	३.००
मिट्टी का पुतला	२.००
नीति की ओर	१.५०

पूर्वोदय प्रकाशन : ८, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

हमारे उत्कृष्ट प्रकाशन

आलोचना

पुस्तक	लेखक	मूल्य
हिन्दी गद्य के सोपान	जीवनप्रकाश जोशी	७.००

उपन्यास साहित्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
विवाह की मञ्जिलें	जीवनप्रकाश जोशी	५.५०
सुलगती परछाइयां	रमेश भारती	४.५०
शराबी का दिल	"	३.५०
सामाजिक कारा के बन्दी	हरदयालसिंह एम. ए.	४.००
तिनके और लहरें	"	५.००
कल्पना	रामकृष्ण कौशल	२.५०
पथ के राही	"	२.५०
स्वयंसिद्धा	मणिकलाल बन्द्योपाध्याय	३.५०
संस्कारों के बन्धन	अभयकुमार योधेय	५.५०
दूर के दीप	शुकदेवसिंह सौरभ	८.५०
वाह रे आँसू	"	७.५०
पथ की खोज में	महेन्द्रकुमार पगारे	५.००
मौत और जिन्दगी	द्वारिकाप्रसाद एम. ए०	३.५०
निराश प्रणयी	बलभद्र ठाकुर	२.००
प्रयास के सुमन	आदर्शमोहन सारंग	५.५०
चमकता संसार	रामभरोसे त्रिपाठी	२.००
परिधि के परे	जगन्नाथप्रसाद मिश्र	४.००
भँवर के बीच	श्यामलकिशोर झा	३.००

टैगोर साहित्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
कुमुदिनी	रवीन्द्रनाथ टैगोर	४.००
त्याग का मूल्य	"	४.००
नाव दुर्घटना	"	४.००
आँख की किरकिरी	"	५.००
घर और बाहर	"	३.५०
गोरा	रवीन्द्रनाथ टैगोर	६.००
शिक्षा	"	२.००

शरत् साहित्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
श्रीकान्त	शरतचन्द्र	८.००
गृहदाह	"	४.५०
सविता	"	५.५०
पथ के दावेदार	"	५.००

नाटक

पुस्तक	लेखक	मूल्य
डूबते तारे	अभयकुमार योधेय	१.७५
हास्य नाटक	शौकत थानवी	३.००
इक्कीसवीं सदी बाइसवीं सदी	भगवानदास सफड़िया	४.००

कहानियाँ

पुस्तक	लेखक	मूल्य
उर्दू की हास्यरस कहानियाँ	जगन्नाथ प्रभाकर	३.५०
रूस की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ	बलभद्र ठाकुर	२.५०
नारी की नवचेतना	शुकदेवसिंह सौरभ	३.५०

जीवनोपयोगी

पुस्तक	लेखक	मूल्य
सफलता की कुञ्जी	स्वामी रामतीर्थ	१.००
आगे बढ़ो	स्वेट मार्डन	१.५०
नैतिक जीवन	रघुनाथप्रसाद पाठक	२.५०
देशभक्त बच्चे	"	१.५०
हम क्या चाहते हैं	स्वामी विवेकानन्द	१.५०
विश्वशान्ति का सन्देश	"	२.५०
कर्म योग	"	२.००
भक्ति योग	"	२.००
भक्ति और वेदान्त	"	२.००
विद्यार्थी जीवन	महात्मा नारायण स्वामी	१.५०

अभिनव शिक्षा शास्त्र

लेखक—चौ० हरिहरसिंह एम० ए०, बी० टी०

प्रस्तुत पुस्तक हमारा नवीन प्रकाशन है इस ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने शिक्षण सम्बन्धी सभी विषयों पर गहन अध्ययन कर उपयोगी और प्रामाणिक तथ्यों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं पुस्तक शिक्षण संस्थाओं तथा शिक्षार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। पृष्ठ संख्या ५४०, मूल्य १०.००

सन्मार्ग प्रकाशन, १६, यू० बी० बंगलो रोड, दिल्ली।

सम्पादक : महेन्द्र सहकारी : मक्खनलाल शर्मा

भाग २५] आगरा—अक्टूबर १९६३ [अङ्क ४

हमारी विचारधारा

हिन्दी में शोध की दिशा—

आज अधिकांश भारतीय विश्वविद्यालय तथा कुछ साहित्यिक संस्थाएँ हिन्दी शोध के प्रसार एवं विकास में अपना योग देकर जहाँ हिन्दी के भविष्य का मार्ग सुनिश्चित करती हैं वहाँ कुछ प्रश्न भी आज के हिन्दी जगत् के समक्ष उठाती हैं। हिन्दी शोध में मुख्यतः निम्न प्रश्नों पर समय-समय पर विचार होता रहा है—

(१) परम्परागत विषयों पर पुनः-पुनः और कभी-कभी तो एक ही विश्वविद्यालय से अनेक बार शोध कराई जाती है तथा पुनरावृत्ति को बचाने के लिए प्रयास नहीं होते।

(२) कष्ट साध्य तथा शोध योग्य विषयों की अवहेलना की जाती है। यदि कोई शोधार्थी उन्हें स्वीकार भी करता है तो व्यापक आधार ग्रहण नहीं करता।

(३) नवीन क्षेत्रों पर योजनाबद्ध रीति से कार्य हो इसके लिए भाषण और लेखों की अपेक्षा व्यवहारिकता का नितान्त अभाव है।

ये प्रश्न अधिकांशतः शोधार्थियों के आलोचक या शोध से तटस्थ रहकर समीक्षा करने वाले उठाते हैं। अनेक बार इन प्रश्नों पर विचार होता है तो उत्तर मिलते हैं कि शोधकर्त्ताओं का मुख्य ध्यान शोध के स्तर, नए तथ्यों को सामने लाने, ज्ञान क्षेत्र को विस्तृत करने तथा नवीन व्याख्या प्रस्तुत करने की अपेक्षा जल्दी से जल्दी, कम से कम श्रम करके डिग्री प्राप्त करने की ओर रहता है। वे श्रमसाध्य विषयों से बचते हैं। नये ग्रन्थों तथा अनुपलब्ध सामग्री के लिए इधर-उधर जाना उन्हें अग्राह्य है। नयी व्याख्या के लिए जिस परिपक्व दृष्टिकोण की अपेक्षा है और उसे प्राप्त करने के लिए जिस निष्ठा एवं लगनपूर्ण मनोस्थिति से सतत जागरूक रहकर कार्य करना चाहिए उससे वे बचते हैं, तो उसका परिणाम यह होता है कि शोधार्थी किसी आसान से विषय को चुनकर जल्दी से जल्दी शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने की दिशा में अग्रधावित होता है, जिससे उसे पद, नौकरी या अर्थिक लाभ शीघ्र हो सके। इस स्थापना में सारा दोष शोधार्थी के ऊपर मढ़ा गया है जो एकाङ्गी दृष्टिकोण का द्योतक है।

हिन्दी में कई ऐसे निर्देशक हैं जिनके मार्ग दर्शन में कोई भी निम्नस्तरीय शोध प्रबन्ध आज तक नहीं लिखा गया है। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि ये समस्याएँ उनके लिये कहाँ चली गई थीं? मैं निजी जानकारी के आधार पर कह सकता हूँ कि एक उच्च-स्तरीय निर्देशक के पास अनेक शोध विषयों की रूप-रेखाएँ अपने सांगोपांग रूप में टाइप की हुई रहती हैं। नए विद्यार्थी आने पर वे उनसे बात करते हैं और और बात-चीत के दौरान जान लेते हैं कि उसकी रुचि किस ओर है और उसी के अनुरूप विषय की

रूपरेखा वे उसे देकर सारी शक्ति लगाकर कार्य करने की प्रेरणा देते हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य में न केवल नये क्षेत्रों की ओर ध्यान आकृष्ट कराया है, वरन् काव्यरूप जैसे दुरूह विषयों का एक ऐतिहासिक क्रमाधारित विकास रूपायित कराने का जो सफल प्रयास किया है, उससे हिन्दी शोध की दिशा प्रकाशित हुई है। इसी प्रकार एक अन्य मूर्धन्य शोध-निर्देशक ने हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य के पुनर्मूल्याङ्कन के उलझे प्रश्नों को शोधार्थियों के समक्ष रखकर उन्हें प्रेरित किया तथा अपनी स्वच्छ दृष्टि के प्रकाश में उनका पथ प्रशस्त कर अनेक प्रशंसनीय शोध-प्रबन्ध निर्देशित किये। ये सारे प्रयास योजनाबद्ध रीति से पुनरुक्ति दोष से मुक्त होकर आलेखित हुए हैं। ये महानुभाव शोधार्थियों के साथ-साथ स्वयं भी कष्ट उठाकर अध्ययन रत होते हैं तथा जब तक उन्हें पूर्ण सन्तोष नहीं हो जाता, तब तक वे शोध-प्रबन्ध को विश्वविद्यालय में प्रस्तुत करने की आज्ञा नहीं देते। शोधार्थी का यह साहस ही नहीं होता कि वह सन्तोषप्रद स्तर पर पहुँचने से पूर्व ही शोध को पूर्ण समझ सके। इससे स्पष्ट है कि समस्या इस स्तर के निर्देशकों के साथ उत्पन्न होकर भिन्न क्षेत्रों में उत्पन्न होती है। एक अन्य उदाहरण इस समस्या के अधिक सजीव रूप को स्पष्ट कर सकेगा। एक निर्देशक शोधार्थी को विश्वविद्यालयों की स्वीकृत विषय सूची देखकर ऐसा विषय छांट लेने का आदेश देते हैं जिस पर भिन्न दृष्टिकोण से कार्य किया जाना सम्भव हो। विद्यार्थी को वे अपने व्यस्त जीवन से यथेष्ट समय नहीं दे पाते हैं और शोधार्थी जो कुछ लिख लाता है वही अन्तिम रहता है, फिर चाहे सभी शोध प्रबन्ध बार-बार संशोधित होते ही क्यों न लौटते रहें? यदि शोध-कर्त्ता और निर्देशक दोनों ही समान रूप से गम्भीरता के साथ इस ओर अग्रसर नहीं होते तो परिणाम विषम ही निकलता है।

हिन्दी में शोध कार्य की वर्तमान अवस्था को कतिपय विद्वानों से अनेक बार सबका ध्यान सार्वजनिक रूप से इस ओर आकृष्ट किया है। हम उनके स्वर में स्वर मिलाकर निवेदन करते हैं कि सभी शोध कराने वाली संस्थाओं को तथा उससे सम्बन्धित महानुभावों को इन प्रश्नों की गम्भीरता पर विचार करना चाहिये तथा भारतीय हिन्दी परिषद् के माध्यम से ऐसे ठोस कार्यक्रम क्रियान्वित करने चाहिए जिनसे यह अनियमितताएँ दूर हो सकें। इस सन्दर्भ में निम्न सुझावों पर विचार किया जा सकता है—

(१) हिन्दी शोध के कार्य को देखने के लिए भारतीय हिन्दी-परिषद् की समिति स्थायी रूप से ऐसी योजना स्वीकार करके चले जिससे कि पुनरावृत्ति न हो, शोध छात्रों को तकनीकी शिक्षण समय-समय पर मिलता रहे तथा शोध के सर्वथा नवीन सम्भावित क्षेत्रों का सम्यक उद्घाटन हो सके। केन्द्रीय हिन्दी निर्देशालय के माध्यम से सरकार इस कार्य के लिए अनुदान दे, जिससे समस्त भारत तथा विदेशों में बिखरी शोध सामग्री की सूचना, सङ्कलन, आदान-प्रदान तथा अन्य आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध कराई जा सकें।

(२) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के तत्त्वावधान में सभी शोध संस्थाओं की एक सम्मिलित आयोजना निर्धारित की जानी चाहिए। इस शोध समिति में प्रत्येक शोध-संस्थान का आचार्य पदेन सदस्य रहे। इस समिति की एक कार्यकारिणी बने जो समस्त विश्वविद्यालयों में शोध हेतु प्रस्तुत विषयों की रूपरेखाओं का अध्ययन करके अपने सुझाव तथा निर्देश देती रहे।

(३) शोध-संस्थाएँ ऐसा कार्यक्रम बनावें जिसके अन्तर्गत शोध-छात्रों को स्नातकोत्तर कक्षाओं के समान नियमित रूप से निर्देशन प्राप्त हो सके। अन्तर्विश्वविद्यालय युवक समारोह के समान शोधार्थियों के सम्मेलन हो, जिनमें शोध-समस्याओं पर खुलकर विचार विमर्श किया जा सके। शोधार्थी अपनी-अपनी समस्याएँ प्रस्तुत कर सकें तथा निर्देशक उनका समाधान दे सकें।

(४) शिक्षक तथा पूरा समय देने वाले विद्यार्थियों को ही शोध की सुविधाएँ मिलनी चाहिए तथा प्रत्येक सत्र के अन्त में प्रत्येक शोधार्थी द्वारा किए गए कार्य की प्रगति सूचना निर्देशक सम्बन्धित विश्वविद्यालय को भेजे। जो शोधार्थी विषय स्वीकृत कराके चुप हो जाते

हैं तथा दस-दस साल तक समय बढ़ाने की मांग करते रहते हैं, इससे उनका भार कुछ कम हो सकेगा।

(५) सामान्यत: शोधार्थी ऐसे विषय की ओर आकर्षित होता है, जिसे वह निर्धारित समय में पूरा कर सके। कुछ पुराने ग्रन्थ की खोज तथा उनकी शोध-परक जानकारी इस क्षत्र में समाहित होने से रह जाती है। यदि विदेशी विश्वविद्यालयों के समान व्यापक क्षेत्र वाले विषयों को एकाधिक शोध छात्रों को दिया जाना स्वीकार कर लिया जाया करे तो इस समस्या का निराकरण हो सकता है। उदाहरण के लिए प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन का प्रश्न इस क्षेत्र में आ सकता है।

(६) इस समय कुछ विश्वविद्यालयों तथा शोध-संस्थानों में यह पद्धति चल रही है कि विद्यार्थी एक वर्ष तक किसी विषय का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करे तथा उसकी परीक्षा में यदि उत्तीर्ण हो जाय तब उस विषय पर शोध कर सके। इस योजना के दोनों पक्ष हैं। उससे जहाँ एक ओर विद्यार्थी की उस विषय को ग्रहण करने की क्षमता और रुचि का ज्ञान हो जाता है वहाँ दूसरी ओर वह विषय में प्रारम्भ से ही उस तन्मयता के साथ प्रवेश नहीं कर पाता है जैसी कि विद्यार्थी से अपेक्षा की जाती है, क्योंकि उसके सामने मुख्य प्रश्न परीक्षा का रहता है, शोध-विषय में गहन प्रवेश का नहीं। उसका परिणाम यह होता है कि वह वास्तविक कार्य का प्रारम्भ एक वर्ष पश्चात् कर पाता है। कुछ शोध-संस्थानों में इसके अनुभव अच्छे न होने के परिणामस्वरूप इस प्रतिबन्ध को या तो ढीला कर दिया गया है या बिल्कुल उठा लिया गया है। इस योजना पर पुनर्विचार की आवश्यकता है।

(७) हिन्दी में शोध शिल्प पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया गया है। जो एक नवीन पद्धति या दिशा निकलती है, कुछ समय तक लोग उस पर आँख बन्द करके चलने लगते हैं और जब तक असम्भव नहीं हो जाता तब तक उस पर चलते रहते हैं। उदाहरण के लिए हम ले सकते हैं कि कुछ समय पूर्व शोध के लिए किसी भी पूर्व साहित्यकार का व्यक्तित्व और कृतित्व लिया जाता था और उसमें सामान्यत: उसकी रचनाओं का सामान्य परिचय विश्लेषणात्मक पद्धति से दे दिया जाता था तथा उसकी जीवनी के अनेक स्रोतों का उल्लेख किया जाना अनिवार्य था। इधर कुछ समय से तुलनात्मक अध्ययनों का जोर हो गया है। जहाँ समानता की कोई गुञ्जायश नहीं है वहाँ भी तुलनाएँ की जाती हैं। तुलनात्मक शोध प्रबन्धों में दोनों साहित्यकारों की परिस्थितियों, ग्रन्थों आदि का विवरण अलग-अलग अध्यायों में दे दिया जाता है। साहित्य के क्षेत्र में कुछ न कुछ समानता सभी में खोजी जा सकती है, तब फिर क्या इसी समानता को तुलना का आधार माना जा सकता है।

(८) आज के युग की यह आवश्यकता है कि हमारा दृष्टिकोण वैज्ञानिक बने। साहित्य को विज्ञान से भिन्न माना गया है। (विज्ञान भी साहित्य का विषय हो सकता है, यह ध्यातव्य है) किन्तु शोध में वैज्ञानिकता के लिये अधिक स्थान है। यह विचारणीय है कि शोध में कितनी वैज्ञानिकता होनी चाहिए? यदि शोध-साहित्य विज्ञान का अनुगामी बन जायगा तो उसमें साहित्यिकता का उसी मात्रा में अभाव हो जायगा—ऐसा मानना उपयुक्त नहीं हो सकता। शोध का जो रूप प्रचलित है और उसको जिस दिशा में अग्रसारित किया जा रहा है वह अधिकाधिक तकनीकी तथा एक निश्चित रूढ़ि की ओर अग्रसर हो रहा है। शास्त्रीयता में रूढ़ि और स्थिर वैज्ञानिकता का होना अनिवार्य है, अतः इन परस्पर विरोधी स्थितियों को एक साथ लेकर चलने वाली शोध का क्षेत्र शास्त्र और साहित्य दोनों का संधिस्थल है इसमें विज्ञान और साहित्य दोनों का समन्वय होता है। इसकी शैली, शिल्प, विषय प्रतिपादन आदि पर विज्ञान का अधिक तथा कथ्य पर भावात्मकता का प्रमुख प्रभाव होता है किन्तु यह कोई अनिवार्य नियम नहीं हो सकता है। कुछ नियम ऐसे भी हो सकते है और अवश्य होते हैं जिनका कथ्य वैज्ञानिक और शैली अधिक कलात्मक हो सकती है। यदि विषय तथा अभिव्यक्ति दोनों पक्ष केवल कलात्मक हैं तो शोध का स्तर ऊँचा नहीं माना जायगा और यदि दोनों पक्षों पर शास्त्रीयता एवं वैज्ञा-

निकता का आधिपत्य है तो उसमें काव्यात्मकता का अभाव हो जायगा और तब यह भी कहा जा सकेगा कि यह शोध प्रबन्ध साहित्य की सीमाओं में क्यों स्वीकार किया जाना चाहिए ? इस सम्बन्ध में जो यह बात कही जाती है कि साहित्य का विवेचन और परीक्षण शोध में होता है अतः वह साहित्य ही माना जायगा—यह तर्क अधिक समय तक हमारा साथ नहीं दे पायगा अतः इस प्रश्न पर विचार होना चाहिये। जिस प्रकार डा० नगेन्द्र ने शोध और आलोचना पर मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं, उसी प्रकार इन विषयों पर भी हिन्दी साहित्य की परम्परा तथा हिन्दी की अद्यावधि शोध को लेकर विचार होना आवश्यक है।

(९) हिन्दी शोध में अब तक जितने क्षेत्रों को स्वीकार किया जा रहा है, धीरे-धीरे उनमें से कुछ अपना अलग अस्तित्व बनाती जा रही हैं जैसे भाषाशास्त्र कुछ समय से अलग होता जा रहा है और लक्षण ऐसे दिखाई दे रहे हैं कि वह हिन्दी साहित्य के क्षेत्र से पृथक होकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की दुहाई देगा और आज की परिस्थितियाँ उसकी सहायता करेंगी। फलस्वरूप हिन्दी शोध को अपनी सीमाओं को स्पष्ट रूप से सामने रखकर चलना है। लोक साहित्य जैसे विषय ने जो नवीन सम्भावनाएँ उपस्थित की हैं उसी प्रकार नए क्षेत्रों की उद्भावनाएँ होनी चाहिए और साहित्य का सङ्गीत, मूर्तिकला, चित्रकला आदि से सम्बन्ध स्पष्ट होना चाहिए।

(१०) विश्वविद्यालय यह भी देखें कि निर्देशक की क्षमता क्या है ? वह किस क्षेत्र विशेष का विशेषज्ञ है और उनके निर्देशन में जो विषय दिया गया है उसका सफल निर्देशन हो सकता है या नहीं ? कई बार ऐसा होता है कि विद्यार्थी कोई भी विषय लेकर किसी भी निर्देशक के साथ कार्य प्रारम्भ कर देते हैं और आगे चलकर जो कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं उनके कारण कार्य बीच में रुक जाता है इससे न उस विद्यार्थी का शोध-कार्य पूरा हो पाता है। और न उस विषय पर किसी दूसरे के कार्य करने का अवसर रह जाता है। इस सन्दर्भ में सर्वोत्तम तो यही है कि निर्देशक स्वयं उन विषयों को अपने निर्देशन में स्वीकार न करें जो उनके अपने क्षेत्र से अलग पड़ते हैं।

शोध प्रबन्धों के प्रकाशन का प्रश्न भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस सन्दर्भ में दो प्रकार की कठिनाइयाँ हैं। प्रथम तो यह कि कुछ शोध प्रबन्ध जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं किन्तु बाजारी मूल्य की दृष्टि से अधिक उपादेय न होने से अनेक वर्षों से अप्रकाशित पड़े हैं और दूसरी यह कि जो प्रकाशक शोध-प्रबन्धों को प्रकाशित करते हैं उनमें से कुछ की प्रवृत्ति यह रहती है कि उनका मूल्य अधिकाधिक रखा जाय। शोध-प्रबन्ध के नाम पर एक संस्करण तो निकल ही जाता है और वे उसमें से अधिकाधिक पाने का प्रयास करते हैं। लेखक को छपे मूल्य पर रॉयल्टी मिलती है अतः उसे भी कोई आपत्ति नहीं होती, किन्तु पाठक पर यथेष्ट भार पड़ जाता है और शोध प्रबन्ध पुस्तकालयों तथा संस्थाओं से आगे सामान्य पाठक तक नहीं पहुँच पाते हैं। कुछ विश्वविद्यालयों ने प्रकाशन का कार्य अपने हाथ में लिया है, तथा कुछ संस्थाएँ भी इस को कर रही हैं, उनके प्रयास सराहनीय हैं, क्योंकि उन्होंने पुस्तकों के मूल्य उचित सीमा के भीतर रखे हैं और हमारा अनुभव है कि वे शोध-ग्रन्थ सामान्य हिन्दी पाठक के निजी पुस्तकालयों में भी मिल जाते हैं। इस दशा में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् का प्रयास अत्यन्त श्रेष्ठ तथा अनुकरणीय है। सामान्य पाठक यह समझने में असमर्थ रहता है कि जब बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् किसी शोध-प्रबन्ध को पाँच रुपये में दे सकती है तो उसी आकार-प्रकार का दूसरा ग्रन्थ निजी प्रकाशन से सोलह रुपये का क्यों मिलता है ? अस्तु, केवल यही करना है कि शोध-प्रबन्धों का मूल्य सामान्यतः कम होना चाहिए जिससे उनकी पहुँच सामान्य हिन्दी प्रेमी तक हो सके।

हिन्दी शोध से सम्बन्धित अनेक अन्य पहलू भी हैं जिन पर गम्भीर चर्चा सामयिक और उपादेय होगी। हम चाहते हैं कि हमारे लेखक और पाठक इस विषय में अपने विचार प्रकट करें जिन्हें हम साहित्य-सन्देश में सहर्ष प्रकाशित करेंगे। × × ×

काव्य में बिम्ब और प्रतीक

श्री बालकृष्ण निमकर

नवीन (विशेषत: प्रयोगवादी) कविता के रूप का विश्लेषण स्पष्ट कर देता है कि उसके आकर्षण के जादू का रहस्य है बिंब और प्रतीक का चमत्कार। यह किसी प्रबल भावना, संवेग या मूल प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति का दावा नहीं करती, उसकी अभिव्यक्ति का उद्घोषित विषय सर्वथा (या बहुत कुछ) नवीन है, वह बौद्धिक है, युग चेतना की यथार्थ मूलक बौद्धिक अभिव्यक्ति है। जहाँ कहीं बिंब और प्रतीक का चमत्कार स्वयं अपने आप में लक्ष्य बन गया, वहीं कविता रूपात्मक एकता खो बैठी, भावनात्मक एकता[1] का वह दावा नहीं करती, और जब वह कुछ बिखरे हुए परस्पर असम्बन्धित बिम्बों और प्रतीकों का समूह बन गई, तब उसका अबोधगम्य हो उठना एक तार्किक परिणाम था।

बिम्ब की प्रभावोत्पादकता की क्षमता का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सफल बिम्ब-विधान का मापदण्ड भी प्रस्तुत करता है। मनोवैज्ञानिक समस्या है—छपे हुए अक्षरों का समूह (शब्द या बिम्ब) कैसे एक जटिल मानसिक प्रक्रिया को जन्म देता है? 'अन्धकार' शब्द को पढ़कर, अन्धकार (वस्तु) से सम्बन्धित भावनाएँ मन में क्यों उठती हैं? 'वस्तु' और 'वस्तु के विचार' में तार्किक दृष्टि से कारणता का सम्बन्ध है। मनोवैज्ञानिक अर्थ में पूर्वोक्त उत्तेजक है और उत्तरोक्त मानसिक प्रतिक्रिया। मूलत: वस्तु ही मानसिक प्रतिक्रिया का कारण होती है। किन्तु साहचर्य के नियमों[1] से इसकी व्याख्या करना सहज है कि दीर्घ प्रयोग के कारण 'शब्द' और उस 'शब्द विशेष द्वारा सूचित वस्तु' में अचेतन साहचर्य हो जाता है और तब 'वस्तु' का प्रतिस्थापित बनकर 'शब्द' मात्र एक जटिल मानसिक प्रतिक्रिया का कारण बन जाता है। यह महत्वपूर्ण है कि चेतना प्रच्छन्न बिन्दुओं के समान एक दूसरे से असम्बन्धित कणों जैसी नहीं होती, एक ही विचार का अनेक संवेगों, विचारों और वस्तुओं से अचेतन साहचर्य होता है। इसीलिये एक विशिष्ट बिम्ब, किसी वस्तु विशेष का मानसिक चित्र तो प्रस्तुत करता ही है, किन्तु अनेक मुक्त बिम्बों, मानसिक आवेगों और भावनाओं को भी जन्म देता है। उदाहरणार्थ 'अन्धकार' न केवल अन्धकार की श्यामलता का बिम्ब है, वरन् वह मन में असीम अस्तित्व की भावना, नीरवता आदि को चित्रित कर निराशा या घनीभूत शोक को सूचित करता है। "नीरव थी प्राणों की पुकार" में 'निर्दिष्ट बिम्ब' ध्वनि बिम्ब है, किन्तु इससे किसी के मन में अनन्त

---

[1] काव्य की बुद्धिगम्यता भावनात्मक एकता और रूपात्मक एकता पर निर्भर रहती है। भावनात्मक एकता के अभाव में कविता बिखरे हुए विभिन्न, असम्बन्धित, मानसिक प्रभावों का समूह रह जाती है। सम्बन्ध के अभाव में पाठक के मन में भी वे बिम्ब, प्रतीक और मानसिक प्रभाव किसी नियम में नहीं आते और तब यह अतिबुद्धि मूलक कविता (जिसे बुद्धि मूलक की अपेक्षा भावनाहीन कहना अधिक उपयुक्त है) अबुद्धिगम्य बन जाती है, क्योंकि यथार्थ की तथाकथित बौद्धिक चेतना स्वयं को बौद्धिक (तर्कगम्य) रूप में व्यक्त नहीं करती। Verse Libre पर टिप्पणी करते हुए टी० एस० इलियट ने लिखा है—"And I can define it only in negatives (1) Absence of rhyme (2) Absence of pattern and (3) Absence of metre" अन्य दो विशेषताओं के साथ Absence of pattern जो इस कोटि की कविताओं में भी विद्यमान है, विश्लेषण के लिये एक रोचक तत्व है :

[1] Laws of Association.

शून्य में बहती हुई क्षीण ध्वनि किसी के मन में निशीथ की स्तब्धता में उठने वाली क्षीण स्वर-लहरी और किसी के मन में असीम सिन्धु में बहने वाली छोटी नौका का बिम्ब जागृत हो सकता है। ये मुक्त बिम्ब हैं, जिनका निर्दिष्ट बिम्ब से साहचार्य है। मुक्त बिम्ब व्यक्ति भेद से बदलते रहते हैं, क्योंकि अचेतन मन जो इसका नियामक है, व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न है। यही बिम्बों की प्रेषणीयता का रहस्य है। अब यदि कवि पक्ष की ओर दृष्टिपात किया जाय तो बिम्ब-विधान में भी चयन की प्रक्रिया सन्निहित है। यह चयन अचेतन है। कवि अनेक बिम्बों में से कुछ या एक को अचेतन रूप से चुनता है। इनके चुनाव का आधार है मन के अचेतन स्तर पर कुलबुलाने वाली दमित इच्छा-समष्टि यह भी बहुत सम्भव है कि अनेक मुक्त बिम्बों का कवि चेतना में किसी विशिष्ट बिम्ब से साहचर्य हो, और उनसे उस विशिष्ट 'निर्दिष्ट बिम्ब' का सुझाव मिलता हो। इस प्रकार बिम्ब दमित इच्छा-समष्टि से घनिष्ट रूप से साहचर्य सम्बन्ध में आबद्ध है। संतुलित बिम्ब-विधान[१] एक इच्छा-समष्टि की स्वतः स्फूर्त अभिव्यक्त होने के कारण वे एक बिम्ब-समष्टि का निर्माण कर देते हैं, जो किसी एक प्रबल आवेग की अभिव्यक्ति या एक दमित इच्छा-समष्टि से स्वभावतः नियन्त्रित-नियमित एवं चुनी हुई होने के कारण सहज बुद्धि गम्य होती है, या स्पष्ट शब्दों में, उनके द्वारा अङ्कित मानसिक प्रभावों में अचेतन सुझाव का विशिष्ट सम्बन्ध होता है, किन्तु जब बिम्बों को जान बूझ कर नवीन, चमत्कार नवीन, चमत्कारिक या कुछ और बनाने की चेष्टा की जाती है, तब बिम्बों में निहित अचेतन-सम्बन्ध और दमित इच्छा-समष्टि का नियन्त्रण अत्यधिक प्रच्छन्न हो जाता है और तब कविता के अर्थ या प्रभावों के सम्बन्ध में अबुद्धिगम्यता की समस्या उठती है। मनोविज्ञान और मनोवैज्ञानिक चिकित्सा का यह निर्विवाद रूप से स्थापित सिद्धान्त है कि स्वतः स्फूर्त अभिव्यक्ति में अचेतन सम्बन्धों की शृङ्खलाएं कम प्रच्छन्न रूप में व्यक्त होती हैं।

महाकाव्य के बिम्बों और नई कविता के बिम्बों में विरोध की सीमा तक जाने वाला अपरिहार्य अन्तर विद्यमान है। कारण है, साकेत और कामायनी जैसे महाकाव्यों में बिम्ब-विधान उदात्त प्रभाव पर केन्द्रित है किन्तु प्रयोगवादी काव्य इस माध्यम से युग-व्यापी आस्थाहीनता की अभिव्यक्ति करना चाहता है। विश्लेषण की वस्तु है अन्तर का स्वरूप तथा किस सीमा तक यह अन्तर आवश्यक है और किस सीमा तक उचित। उदात्तता[१] एक जटिल प्रभाव है जो वर्ण्यवस्तु, भाषा, शैली और विचार का सम्मिलित प्रभाव है। इसका लक्ष्य है उन्नत, ऊर्जस्वित अनुभूतियों की अभिव्यक्ति। यदि कामायनी का उदाहरण लिया जाय तो प्रसाद के बिम्ब-विधान में तीन महत्वपूर्ण विशेषताएं तुरन्त लक्षित होती हैं—प्रथम तो ऐसे ऐसे बिम्बों का प्राचुर्य जो आदिम युग से मानवीय अनुभव के निकट

---

[१] 'सन्तुलित बिम्ब विधान' से आशय है Spontaneity अर्थात् जहाँ जान बूझ कर असम्बन्धित बिम्बों का प्रयोग न किया जाय, और रचना को एक विशिष्ट 'प्रकार' की (जैसे प्रयोगवादी या अबुद्धिगम्य या जटिल) बनाने का चेतन प्रयत्न न किया जाय।

[१] डॉ० नगेन्द्र ने 'काव्य में उदात्त तत्व' की भूमिका में लौंगिनस की उदात्त की धारणा का विश्लेषण करते हुए लिखा है—उदात्तता का 'विभाव' (उदात्त भाव को जन्म देने वाले कारण या उसका अवलम्बन पक्ष) है "(१) अनन्त विस्तार सम्पूर्ण विश्व भी × × × पर्याप्त नहीं लगता और प्रायः हमारी कल्पना दिगन्त को पार कर जाती है", (२) असाधारण शक्ति और आवेग, (३) अलौकिक ऐश्वर्य, (४) उत्कट एवं स्थायी प्रभाव-क्षमता। इसी प्रकार उदात्त की अनुभूति के अन्तर्तत्व हैं—(१) मन की ऊर्जा, (२) उल्लास, (३) संभ्रम अर्थात् आदर और विस्मय, (४) अभिभूति अर्थात् सम्पूर्ण चेतना के अभिभूत हो जाने की अनुभूति। लौंगिनस द्वारा निरूपित उदात्त के पाँच उद्गम स्रोतों में बिम्ब का भी उल्लेख है, जो प्रवक्ता की "गरिमा, ऊर्जा और शक्ति के सम्पादन में बहुत कुछ सहायता करते हैं।"

—भूमिका 'काव्य में उदात्त तत्व', डॉ० नगेन्द्र।

रहने के कारण सामूहिक अचेतन मन के गहरे स्तरों तक धँसे हुए संस्कारों से सीधा सम्बन्ध बनाए हुए हैं, इसीलिये उनकी प्रभावोत्पादकता का क्षेत्र व्यापक है। द्वितीय, बिम्ब जिन वस्तुओं के प्रतीक हैं, वे व्यापक या सीमा-विहीन हैं। जैसे —'जीवन-निशीथ के अन्धकार', 'तू नील तुहिन-जलनिधि बनकर फैला है कितना वार-पार' अथवा 'नभ नील लता की डालों में उलझा अपने सुख से हताश'। अन्तिम प्रमुख विशेषता है, बिम्ब द्वारा सूचित वस्तु में असीम गहनता जैसे "अभिशाप प्रतिध्वनि का इस प्रकार लीन हो जाना "नभसागर के अन्तस्तल में जैसे छिप जाता महा मीन"। मिल्टन के "पैराडाइज़ लॉस्ट" में भी इन विशेषताओं का प्रचुर प्रयोग लक्षित होता है। नवीन कविता का उद्घोषित लक्ष्य है —युग-चेतना में व्याप्त फ्रस्ट्रेशन की यथार्थ-मूलक बौद्धिक अभिव्यक्ति। युग व्यापी आस्थाहीनता से इन्कार करना असम्भव है, क्योंकि मूल्यों के इस विघटन-काल में यदि कवि अनुभव करता है कि सत्य कुछ भी नहीं है, सब सन्देह है, परिवर्तन शील है, अनित्य है तो यह अस्वाभाविक नहीं। काव्य के प्रयोजन और लक्ष्य के प्रश्नों को उठाना यहाँ अप्रासंगिक है क्योंकि प्रस्तुत लेख का विषय केवल कला-पक्ष से सम्बन्धित है। मूलभूत समस्या है—बिखरे हुए चौकाने वाले बिम्ब और प्रतीक इस आस्थाहीनता की अभिव्यक्ति के लिये किस सीमा तक आवश्यक है और किस सीमा तक उचित ? या और भी स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो क्या अबोधगम्यता इस कोटि की कविताओं का आवश्यक धर्म है।

यह एक स्थापित सत्य है कि नवीन युग की यथार्थ चेतना अस्पष्ट धूमिल एवं सन्देहमयी होगी ही, क्योंकि युग सत्य है, मूल्यों का विघटन और फ्रस्ट्रेशन। फ्रस्ट्रेशन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चिन्ता, ईर्ष्या, प्रेम आदि के समान कोई भावना नहीं, प्रत्युत वह कई आवेगों जैसे निराशा, क्षोभ, ग्लानि, आस्थाहीनता आदि का एक सम्मिलित प्रभाव है। तर्क-शास्त्र की भाषा में यह कार्य-सम्मिश्रण है जिसमें भिन्न-भिन्न कारणों का परिणाम पृथक-पृथक स्थित नहीं होता। प्रत्युत सभी कारण मिलकर एक जटिल परिणाम उत्पन्न करते हैं। न तो प्रगीत काव्य और न महाकाव्य इस जटिलता को व्यक्त कर सकते हैं, क्योंकि यह वह दशा है जिसमें मन किसी आस्था पर, किसी विश्वास पर, किसी भावना पर स्थिर नहीं हो पाता। वह सन्देह, क्षोभ, निराशा आदि पर प्रतिक्षण दौड़ता रहता है। न केवल मन के इन पर टिकने की अवधि पर इनकी तीव्रता भी प्रति-पल परिवर्तित होती रहती है। कवि की चेतना उद्बुद्ध आत्मगौरव से एकदम घनीभूत क्षोभ पर और फिर तुरन्त ही निराशा और व्यापक अविश्वास पर दौड़ जाती है, इसीलिये बिम्ब और प्रतीक में एक तार्किक सिस्टम भावना की एकता आदि का न रह पाना ही स्वाभाविक है। यहाँ पर दो स्पष्ट तथ्यों को एक साथ लिख देना एक भयङ्कर तार्किक भ्रांति से बचा सकता है। प्रथम तो यह कि युग-व्यापी फ्रस्ट्रेशन की जटिल बौद्धिक चेतना कवि को वास्तविक रूप में होना चाहिये। केवल यह जटिल चेतना ही इस प्रकार की अभिव्यक्ति का एक मात्र औचित्य है। यह एक अनुभूति है, उसी प्रकार जैसे प्रेम आदि तथा ऐसी कविता की सफलता यह है कि पाठक के मन में कविता को पढ़कर इसी प्रकार की जटिल चेतना जागृत होना चाहिये। अनुभूति का संप्रेषण यहाँ भी पूर्णतः आवश्यक है। द्वितीय तथ्य यह है कि युग-चेतना की यथार्थ मूलक अभिव्यक्ति पर-म्परागत-काव्य प्रणाली में नहीं हो सकती। किन्तु इन से अतार्किक निष्कर्ष निकालना पक्षपातपूर्ण मनोवृत्ति का द्योतक है। एक विशिष्ट अनुभूति का प्रच्छन्न प्रतीकों एवं बिम्बों में व्यक्त होना स्वाभाविक है। ऐसी कविता की अबोध गम्यता अधिक से अधिक यह हो सकती है कि शब्दों के शाब्दिक अर्थों में भले ही शृङ्खला और संगति स्पष्ट लक्षित न हो, किन्तु उसमें संप्रेषणीय अनु-भूति होने के कारण उससे मन पर अङ्कित होने वाले प्रभावों में सम्बन्ध अवश्य होता है और यही इस प्रकार से सफल काव्य में निहित आंतरिक एकता का सूत्र है। अज्ञेय की अनेक प्रसिद्ध रचनाएँ इसी प्रकार की कोटि में आती है, किन्तु अधिकांश तथाकथित प्रयोगवादी

(शेष पृष्ठ १४६ पर)

दादूदयाल की काव्य-दृष्टि[1]

डा० सुरेशचन्द्र गुप्त

स्वामी दादूदयाल का लक्ष्य काव्य-रचना की अपेक्षा भक्ति में तन्मय रहना था। फलतः उनकी वाणी में जीव, जगत् और ब्रह्म का तो यथास्थान विवेचन मिल जाता है, किन्तु काव्यशास्त्र की समस्याओं का प्रत्यक्ष कथन प्रायः दुर्लभ रहा है। उनकी अधिकांश मान्यताएँ आध्यात्मिक सन्दर्भ में व्यक्त हुई हैं, तथापि उनके काव्यशास्त्रीय अर्थों की अनुमति असङ्गत न होगी। इस दृष्टि से उनकी रचनाओं में प्रायः सभी काव्याङ्गों की खोज की जा सकती है, केवल काव्य-रचना के रूपों और काव्य-शिल्प के विषय में वे मौन हैं। उन्होंने रस, काव्य-प्रयोजन और काव्य-वर्ण्य की समीक्षा में अधिक उत्साह प्रकट किया है, किन्तु अन्य काव्याङ्गों के विषय में भी उनके विचार सारगर्भित हैं। यहाँ यह उल्लेख अप्रासङ्गिक न होगा कि वे अभि-व्यक्ति की अपेक्षा अनुभूति की आन्तरिकता को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। अतः भक्ति-भावना की भाँति काव्य-चर्चा में विस्तारपूर्वक मताभिव्यक्ति न करना उनके लिए प्रकृति-सिद्ध है। इस विषय में निम्नलिखित उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

मनहीं म.हैं समझि करि, मनहिं मांहि समाइ।
मनहीं माहैं राखिये, बाहर कहिं न जनाइ।। बानी।।६६।५
कहि कहि का दिखलाइये, साईं सब जाने।
दादू परगट का कहइ, कछु समझ सयाने।। बानी।।६६।७

काव्य का स्वरूप—आलोच्य कवि ने कवि-लक्षण का निर्धारण न कर के कवि-कर्म अथवा काव्य-रचना की प्रणाली पर संक्षेप में विचार किया है। उन्होंने भक्त अथवा कवि के लिए यह मर्यादा निश्चित की है कि उसे ईश्वर का नख-शिख पर्यन्त स्मरण अथवा पूर्ण भावन करने के लिए स्थिर चित्त से चिन्तन करना चाहिए—"मन चित्त अस्थिर कीजिए, नखसिख सुमि-रन होइ।" (बानी, ५१।१७३) काव्य-सर्जन में तन्म-यता पर बल देने के कारण ही उन्होंने निम्नस्थ उक्ति में कवि को यह सन्देश दिया है कि वह अपने शरीर-रूपी ग्रन्थ में अलक्ष्य प्रभु के गुण-गान का विधान करे और तदनन्तर आत्मारूपी विद्वान् से उस पर मनन कराये—

"पोथी अपणा प्यंड करि, हरि जस मांहे लेख।
पंडित अपणां प्राण करि, दादू कथहु अलेख।।"[1]

इस कोटि की तल्लीनावस्था को प्राप्त करने के लिए कवि को अहं का त्याग करते हुए आत्म-ज्ञान और विस्तृत लोकानुभव के निमित्त साधना करनी होगी। दादू ने निम्मलिखित पंक्तियों में उन कवियों पर व्यंग्य किया है जो काव्य-जगत् के इस सत्य को भूल कर ज्ञान और अनुभव के दो-चार कणों के बल पर कवि-मनीषी की उपाधि प्राप्त कर लेना चाहते हैं—

दादू दो दो पद किये, साखी भी दो चार।
हमको अनुभव ऊपजी, हम ज्ञानी संसार।। बानी।।११७।६५
सुनि-सुनि परचे ज्ञान के साखी सबदा होइ।
तब हीं आपा उपजइ हम से और न कोइ।। बानी।।११७।६६

इस प्रकार दादूदयाल ने कवि को दो बातों पर ध्यान देने का परामर्श दिया है—(अ) लोक-साक्षात्कार द्वारा वर्ण्य विषय को अनुभूति-समृद्ध रखना चाहिए, (आ) काव्य-रचना के लिए निर्मल बुद्धि, आत्म-ज्ञान

---

[1] इस लेख में दादूदयाल की उक्तियों को मुख्य रूप से निम्नलिखित कृतियों से उद्धृत किया गया है—(अ) श्री दादूदयाल की बानी, सुधाकर द्विवेदी, ना० प्र० सभा, काशी, (आ) दादूदयाल का सबद, सुधाकर, द्विवेदी, ना० प्र० सभा, काशी। अतः 'बानी' अथवा 'सबद' से उदधृत प्रत्येक उक्ति के साथ क्रमशः पृ० एवं छन्द संख्या का निर्देश कर दिया गया है। इनके लिये पृथक् पाद-टिप्पणियाँ नहीं दी गई हैं, किन्तु अन्य कृतियों से सन्दर्भ यथा-स्थान पादांकित हैं।

[1] श्री स्वामी दादूदयाल की बाणी (अजमेर का संस्करण), पृष्ठ १९०-१९१।४०

और सुस्थिर चिन्तन का आश्रय अनिवार्य है। ये सिद्धांत विशृङ्खल रूप में उपस्थित किये गये हैं, किन्तु इतना निश्चित है कि काव्य में मार्मिकता और प्रेषणीयता लाने के लिए इन गुणों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

काव्य की आत्मा—दादूदयाल ने काव्य-सम्प्रदायों पर स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं किया है, तथापि उनकी रचनाओं से यह निष्कर्षित किया जा सकता है कि वे रस को काव्य का जीवन मानते थे। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उक्तियाँ अवलोक्य हैं—

जैसे स्रवना दोइ हैं, ऐसे होहिं अपार।
रामकथा रस पीजिये, दादू बारम्बार।।
बानी, ६३। ३१३।।

ज्यों-ज्यों पीवइ रामरस, त्यों-त्यों बढ़इ पिआस
बानी, ६३।३१७।।

दादू अमली राम का, रस बिन रहा न जाइ।
बानी, ६४।३२७।।

हरि हीरा है रामरसायन, सरस न सूखइ रे।
बानी, १६।४८।।

इन अवतरणों में रस के प्रति कवि की आस्था अत्यन्त स्पष्ट है। उन्होंने काव्य में रस के निरन्तरत्व की कामना की है और इस प्रकार उसे साहित्य के उपकरणों में शीर्ष स्थान प्रदान किया है। उनकी एक अन्य मान्यता यह है कि राम-रसायन का आश्रय लेने वाले कवि की रचना में रस का अजस्र स्रोत प्रवाहित रहेगा अर्थात् उन्होंने अभिव्यञ्जना-सौन्दर्य के उपकारक धर्मों (अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति) की अपेक्षा भावगत रस को अधिक गौरव दिया है।

रस-विषयक विचार—दादूदयाल ने रस के स्वरूप, प्रकार आदि का सुनियोजित उल्लेख तो नहीं किया है, तथापि रस की स्फुट चर्चा उन्हें प्रिय रही है। उन्होंने प्रचलित नवरसों का विवेचन न कर केवल भक्ति रस के स्वरूप को स्पष्ट किया है और इस सन्दर्भ में 'हरिरस', 'रामरस' तथा 'प्रेम रस' का बहुविध प्रयोग किया है। यथा—(अ) "दादू हरिरस पीवता, रती विलंब न लाइ"—बानी, २१।६६, (आ) दादू पीवइ राम रस अगम अगोचर ठाम"—बानी,५१।१७२, (इ) 'दादू पीवइ राम रस, निहकामी निज सेव'—बानी, ६१। ३१० (ई) 'दादू पावइ प्रेम रस, सुख में रहइ समाइ' बानी, १७७।४५। वस्तुतः उन्होंने रस का विवेचन रस के प्रसंग में किया है, अतः वे रस-साधना में गुरु-कृपा और साधु-संगति की उपयोगिता को मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं। यथा—

(अ) भरि-भरि प्याला प्रेमरस, अपने हाथ पिलाइ।
सतगुरु के सदके किया, दादू बलि-बलि जाइ।
बानी, ४।४३।।

(आ) दादू पाया प्रेम रस, साधू संगति माँहि।
बानी, १३२।३१।

इन उक्तियों से विदित है कि आलोच्य कवि ने प्रेम रस का शृङ्गार के अर्थ में प्रयोग न कर भक्ति के प्रसंग में व्यवहार किया। वस्तुतः इस रस का आस्वादन समाधि सुख के समान है और यह रहस्यवादी साधना की चरम परिणति का बोध कराता है—'लेइ समाधि रस पीजिये, तहाँ काल भय नाहिं।' (बानी, १४०।९) यहाँ समाधिजनित रस से कवि का अभिप्राय अनहद नाद से प्राप्य आत्म-सुख से है। दर्शन-शास्त्र की दृष्टि से यह रस साधक को सांसारिक भय से मुक्ति दिलाने वाला है अर्थात् आत्मा के चेतन होने पर उपासक देह-गुण को महत्व नहीं देता—

आतमा चेतन कीजिये, प्रेम का रस पीवइ।
दादू भूलइ देह गुन, ऐसइ जन जीवइ।। बानी, २१।९४

यहाँ यह शङ्का स्वाभाविक है कि क्या कवि को काव्य-रस से उसी कोटि का फल प्राप्त होता है, जिसका अनुभव भक्ति-लोक में भक्त को प्रायः हुआ करता है? उत्तर स्वीकारात्मक होगा, क्योंकि भक्त की भाँति कवि भी सांसारिक अनुभवों का आत्म-विश्लेषण करता है और केन्द्रस्थानीय तत्व को पा लेने पर उसकी अभिव्यक्ति से अलौकिक आनन्द का लाभ करता है। फिर, भक्ति तो काव्य का प्रमुख वर्ण्य विषय है और ब्रह्म-साधना को आत्मा का अङ्ग मान लेने पर कवि भक्त से एकाकार हो जाता है। इसीलिये वह हरि रस के आस्वादन के लिये लालायित रहता है, अरुचि का तो प्रश्न ही नहीं उठता—'दादू हरिरस पीवता, कबहूँ

अरुचि न होइ।' बानी, ६३।३१२।) भक्ति-काव्य के प्रणयन से प्राप्य अलौकिक आनन्द की दादूदयाल ने अनेक स्थानों पर चर्चा की है। (अ) 'सुमिरि-सुमिरि रस पीजिये, दादू आनन्द होइ'—बानी, २०।८५, (आ) 'दादू पीवइ राम रस, सुख में रहइ समाइ'—बानी, १३४।६३, (इ) 'दादू पीवइ राम रस, भेंटे परमानन्द' —बानी, १४१।२१। यहाँ तक यह प्रतिपादित किया गया है कि रस राशि की प्राप्ति के लिये भक्त कवि आत्म-चेतना पर बल देता है—'आत्म-चेतन प्रेम-रस, दादू रह लव लाइ' (बानी, ७४।३३), अतः असत के संसर्ग से भक्तिरसजनित आनन्द का लोप स्वाभाविक होगा—

असत मिलइ अन्तर पड़इ, भाव भगति रस जाइ।
साध मिलइ सुख ऊपजइ, आनन्द अङ्ग नवाइ॥
बानी, १३५। ६५॥

यहाँ भक्ति रस की महिमा का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। साधु अथवा सन्त जन को इस रस का आलम्बन माना गया है और आत्म-सुख की उपलब्धि इसका सहज फल है। अन्यत्र उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि प्रेम रस से आस्वादक के विकारों का नाश होता है और हृदय में दर्पणवत् कान्ति का समावेश होता है—(अ) "निरमल पाया प्रेम रस, छूटे सकल बिकार" —बानी, ४। ३८, (आ) "दिन दिन पीवइ राम रस दिन दिन दरपन देह"—बानी, १५२। २५। भक्ति रस से सम्पन्न कविता के अध्ययन से सात्विक आनन्द और हृदय-संस्कार की प्रेरणा प्राप्त होती है, अतः कवि और सहृदय की यह अभिलाषा स्वाभाविक ही होगी कि इस प्रकार की कविता का क्रम निरन्तर बना रहे। बस्तुतः रसमर्मी कविता में पाठक को प्रभावित करने की अद्भुत क्षमता होती है। यथा—

दादू भींगे प्रेम रस, मन पाँचो के साथ।
मगन भये रस में रहइ, सनमुख त्रिभुवननाथ॥
बानी, ६०। २७६॥

रस ही में रस बरसिहइ, धारा कोटि अनन्त।
तहं मन निहचल राखिये, दादू सदा बसन्त॥
बानी, ४६। १०७॥

रस माहंइ रस होइबा, जोति सरूपी जोइबा।
सबद, १५१। १।

ईश्वर के मानसिक साक्षात्कार से जिस रस की अनुभूति है वह मन और पंचेन्द्रियों को लौकिक वासनाओं से विमुक्त कर देता है। रस की अनुभूति सूक्ष्म होती है, अतः उसकी व्याख्या का जितना ही प्रयास किया जाता है, आनन्द की मात्रा उतनी ही बढ़ती जाती है। इसीलिए दादूदयाल ने रस-माधुरी का इन शब्दों में उल्लेख किया है—"यहु रस मीठा जिन पिया सो रस माँहि समाइ॥[1] अन्यत्र उन्होंने रसमग्न हृदय की दार्शनिक व्याख्या करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि भोक्ता को सामरस्य और मोक्ष की स्थिति प्राप्त रहती है—

"सुख दुख मन मानहीं, राम रंग राता।
दादू दूजा छाड़ि सब, प्रेम रस माता॥
बानी, १४०। ४॥

राम रस मीठा रे, कोई पीवइ साधु सुजान।
सद रस पीवइ प्रेम सों, सो अबिनासी प्रान॥
सबद, १६। १६०॥

मन मतवाला मद पीवइ, पीवइ बारंबार रे।
हरि रस राते राम के, सदा रहइ एक तार रे॥
सबद, २०। ६१॥

अनदिन अंतर आनंद कीजइ,
भाँति प्रेम रस सार रे।
अनभय आतम अभय एकरस,
निरभइ काइन कीजैरे॥
अमीं महारस अम्रित अपाइ,
अम्हें रसिक रस पीजे रे।
अविचल अमर अलख अविनासी,
ते रस कोइ ना दीजे रे॥
सबद, ५२। १५४॥

रस-सिद्ध कवीश्वरों तथा रसान्वेषी सहृदयों के लिये यह प्राकृत ही होगा कि वे तत्व-विशेष से रस-लाभ होने पर उसमें तन्मय हो जायें और अन्यत्र तृष्णा न रक्खें।

[1] सन्त-सुधा-सार, वियोगी हरि, पृष्ठ ४३२। १२

काव्य हेतु—आलोच्य कवि ने काव्य-रचना के साधनों में गुरु-कृपा अथवा साधु-सङ्गति को प्रधान माना है और अध्ययन से प्राप्य ज्ञान का तिरस्कार करते हुए विषय से तादात्म्य होने को गौरव दिया है। उन्होंने प्रतिभा के महत्व का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु प्रकारान्तर से यह निष्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है कि वे कवि-प्रतिभा के उन्मेष में ब्रह्म, गुरु, साधु समाज और विद्वत् मण्डल के आशीर्वाद को फलदायी मानते थे। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित अवतरण द्रष्टव्य हैं—

संत संगति माँगे न पाइये,
गुरू प्रसाद तें राम गाइये। सबद, १२। ३४

दादू नमो निरंजनं, नमस्कार गुरु देवतः।
बंदनं सर्व साधना, परनामं पारंगतः॥ बानी, १। १॥

गैब माँहि गुरुदेव मिला, पाया हम परसाद।
मस्तक मेरे कर धरा, देखा अगम अगाध॥ बानी, १। २॥

ज्ञान गुरू का गूदड़ी, सबद गुरू का भेष।
अतिथ हमारी आतमा, दादू पन्थ अलेख॥ बानी, १२६ ४६

साध मिलइ तब उपजई प्रेम भगति रुचि होइ। बानी १३१।१८

दादू पीवइ राम रस, सतगुरु के परसाद। बानी १६८।११

उपर्युक्त अवतरणों में सन्त-परम्परा के अनुकूल ब्रह्म-कृपा, गुरु-प्रसाद और सन्त-समागम को भक्ति का प्रमुख साधन माना गया है। वस्तुतः काव्य के क्षेत्र में भी इन्हीं साधनों का महत्व स्वीकार करना होगा। गुरु के मार्ग-निर्देश और सत्सङ्गति से अविद्या का नाश होता है और काव्य-रचना के लिये अपेक्षित निर्मल बुद्धि की प्राप्ति होती है। इसीलिये दादू ने गुरू द्वारा प्रदत्त लोक-ज्ञान को अध्ययन से अधिक महत्व दिया है—"वेद कुरानउ ना कहा, सो गुरु दिया दिखाइ।" (बानी, ७। ७६)। अध्ययन के प्रति उनकी अनास्था इतनी प्रबल है कि उन्होंने अनेक छन्दों में प्रेम-मार्ग के आश्रय से प्राप्त तल्लीनता को गौरव दिया है। यथा—

दादू अच्छर प्रेम का, कोइ पढ़ेगा एक।
दादू पुस्तक प्रेम बिन, केते पढ़े अनेक॥
—बानी, ३४। ११६

दादू पाती प्रेम की, बिरला बाँचइ कोइ।
बेद पुरान पुस्तक पढ़इ, प्रेम बिना क्यों होइ॥
—बानी, ३४। ११७

कागद काले करि मुये, केते बेद पुरान।
एकइ अच्छर पीय का, दादू पढइ सुजान॥
—बानी, ११६। १००

यहाँ ज्ञान की अपेक्षा भावना को अधिक महत्व दिया गया है और यह विश्वास व्यक्त किया गया है कि तर्क-पद्धति के स्थान पर प्रेम का आश्रय लेने से विषय को समझने में विशेष सुविधा रहती है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने कबीर की भाँति अध्ययन की अपेक्षा प्रेम-तत्व को प्रधानता दी है और इस प्रकार विषय की सप्राणता को काव्य का कारण-विशेष माना है।

काव्य-प्रयोजन—दादू ने आनन्द को काव्य का मूल प्रयोजन माना है, वर्ण्य विषय के अनुकूल लोकोपदेश का दृढ़ समर्थन किया है और मानसिक विकारों के नाश के अनन्तर मोक्ष को भक्त कवि का सहज प्राप्य कहा है। कवि को प्राप्य गौण फलों में से उन्होंने यश का समर्थन किया है और अर्थ-तृष्णा की निन्दा की है। इस प्रकार प्रस्तुत काव्याङ्ग के विवेचन में कवि और भावक को समान महत्व देकर उन्होंने स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचय दिया है। उदाहरणस्वरूप सांसारिक द्वन्द्व से मुक्त कवि और पाठक को भक्तिरस प्रधान रचना से प्राप्य आनन्द का उल्लेख देखिए—

(अ) साँचा सबद कबीर का, मीठा लागे मोहि।
दादू सुनता परम सुख, केता आनन्द होहि॥
—बानी, १६८।३१

(आ) छूटइ छन्द तो लागइ बन्द,
लागइ बन्द तो अमरा कन्द।
अमरकन्द दादू आनन्द,
आनन्द ते मिल परमानन्द॥
—बानी, १८६।११

(इ) दादू पीवहि रामरस, सुख में रहे समाइ।
—बानी, १६१।३२

इन उक्तियों में काव्यजनित आनन्द को भक्ति की पृष्ठभूमि में स्पष्ट किया गया है। भक्त कवि के आवेग में

अभिव्यक्ति के लिये आकुलता का अनुभव अवश्य करेगा। द्वन्द्व-मुक्त और ब्रह्म-निबद्ध अवस्था में यह भी स्वाभाविक होगा कि वह परमानन्द का अनुभव करे। दादू ने रस और आनन्द के सहज सम्बन्ध को भी द्वितीय अवतरण में उचित अभिव्यक्ति प्रदान की है। अमृतमयी भावनाओं अथवा आत्मोल्लास से दीपित कविता न केवल रचयिता को आनन्द प्रदान करती है, अपितु भावक भी उसके श्रवण अथवा अध्ययन से असीम आनन्द का लाभ करता है। इन उक्तियों से यह भी विदित है कि उन्होंने आनन्द को विनोद के अर्थ में ग्रहण न कर ब्रह्मानन्द की कोटि में रखा है। फलतः काव्य में उदात्त भावनाओं की अभिव्यक्ति उन्हें सहज स्वीकार्य रही है। यथा—

कबिर विचारा कहि गया, बहुत भाँति समुझाइ।
दादू दुनिया बावरी, ता के संग न जाय।। बानी।।१२४।१६६

कबीर ने लोक-दर्शन और तत्व-चिन्तन के बल पर समाज-हित के लिए जिन गरिमावरिष्ठ विचारों को व्यक्त किया था, उन्हें काव्य का आदर्श मानकर दादू ने प्रकारान्तर से यही प्रतिपादित किया है कि मन के उन्नयन की शिक्षा काव्य का लक्ष्य-विशेष है। यही कारण है कि हरि रस से आप्लावित रचना के प्रणयन से कवि के, और मनन से प्रमाता के मानसिक विकार नष्ट होते हैं—"दादू हरि रस पाइये, छूटहि सकल बिकार।" (बानी, १६६।५२) पाप-मुक्त होने पर मन में जिस सहज ज्योति का प्रसार होता है उससे कवि अथवा भावक को मृत्यु-भय से भी मुक्ति मिल जाती है। दादू ने मोक्ष की सम्भावना का इन शब्दों में उल्लेख किया है—"दादू हरि रस जो पिवहिं, कधी न लागइ कालो रे।" (सबद, २०।६१) अतः यह स्पष्ट है कि वे काव्य में उदात्त आशय की अभिव्यक्ति को अलौकिक सुख की सिद्धि में सहायक मानते थे।

दादूदयाल ने काव्य-रचयिता को प्राप्य फलों में से यश-लाभ का समर्थन करते हुए सम्पत्ति की तृष्णा का विरोध किया है। उन्होंने यश-प्राप्ति का स्वतन्त्र उल्लेख नहीं किया है, किन्तु कबीर के प्रति कथित इस उक्ति से उनकी मान्यता को निष्कर्षित किया जा सकता है—"अमृत रामरसायन पीया, ता तैं आमर कबिरा कीया।" (सबद, १७।५०) अभिप्राय यह है कि सरस भक्ति-काव्य की रचना से कवि को अमरता प्राप्त होती है। सन्त-स्वभाव के अनुकूल उन्होंने भक्त अथवा कवि को स्वर्ण (कनक) की चिन्ता त्याग कर ईश्वर की उपासना का सन्देश दिया है—

जहाँ कनक अरु कामिनी,
जीव पतंगे होइ जाहिं। बानी, १०३।७४
काल कनक अरु कामिनी,
परिहरि इनका संग। बानी, १०३।७५
दादू रोषी राम है, राजक रजक हमार।
दादू उस परसाद सों, पोषा सब परिवार।। बानी।।१५७।१४

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दादूदयाल काव्य में आन्तरिक गरिमा लाने पर बल देते थे; स्थूल प्रयोजनों की सिद्धि के लिये सामान्य कोटि की पद-रचना उन्हें अभीष्ट न थी।

काव्य के तत्व—आलोच्य कवि ने काव्य-रचना के के लिये अपेक्षित तत्वों में से मुख्यतः अनुभूति पर बल दिया है, किन्तु ज्ञानमार्गी कवि होने के नाते विचार-पक्ष के प्रति भी उनका प्रबल आग्रह रहा है। इस सम्बन्ध में निम्नोद्धत उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

साहिबजी के नाउं मां, मति बुधि ज्ञान विचार।
प्रेम प्रीति सतनेह मुख, दादू जोति अपार।। बानी, २४।१३०
जो कुछ बेद कौरान ले, अगम अगोचर बात।
सो अनुभव साचा कहइ, दादू अकह कहात।।बानी।।५३।१६६
पद जोड़े का पाइये, साखी कहे का होइ।
सत्त सिरोमनि साइयां, तत्त न चीन्हा होइ।।बानी।।११७।६३

इन अवतरणों में दो बातें स्पष्ट हैं—(अ) वेद, कुरान आदि धर्म-ग्रन्थों में प्रतिपादित विचार बुद्धि-ग्राह्य तो हैं, किन्तु उन्हें निजी अनुभव से प्रमाणित करना ही कवि और साधक के लिये युक्ति संगत होगा, (आ) तत्व-दर्शन अथवा रहस्य-ज्ञान के अभाव में भक्ति-काव्य की रचना निस्सार है, अतः कवि को अनुभव और मनन का सतत आश्रय लेना चाहिए। दूसरे शब्दों में, वे सत्य और शिव को काव्य के सहज उपादान मानते थे।

काव्य के वर्ण्य विषय—आलोच्य कवि ने भक्ति-भावना को कवि का मुख्य प्रतिपाद्य माना है, किन्तु साथ ही यह प्रतिपादित किया है कि भक्त हृदय की तल्लीनता जितनी अनुभवगम्य है उतनी अभिव्यञ्जना-सापेक्ष नहीं। 'जन दादू रे गुन गाइये, पूरन हइ निरबान' (सबद, ४५।१३५) और 'निरमल भगति प्रेम रस पीवइ, आन न दूजा भाव धरइ' (सबद, ६७।४) जैसी उक्तियों से स्पष्ट है कि वे लौकिक विषयों की अपेक्षा ईश्वर भक्ति को ही कवि का चरम साध्य मानते थे। इस सम्बन्ध में निम्नस्थ अवतरण भी अवलोक्य हैं—

पिय मेरी प्यास मिटावइगा,
आपहि प्रेम पिआवइगा।
वह अपना दरस दिखावइगा,
तब दादू मङ्गल गावइगा ।।सबद ३।७।

केते पारिख जौहरी, पंडित ज्ञाता ध्यान।
जाना जाइ न जानिये, का कहि कथिये ज्ञान।।बानी ६६।३
दादू मेरा एक मुख, कीरति अनन्त अपार।
गुन केते परमित नहीं, रहे बिचारि विचारि।।बानी ७०।१६
दादू केते कहि गये, अन्त न आवइ और।
हम हूँ कहते जात हैं, केते कहिमि हौर।।बानी ७०।१८
परम कथा उस एक की, दूजा नाहीं आन।
दादू तन मन लाइ करि, सदा सुरति रस पान।।बानी १३१।२१

इन अवतरणों में पूर्ववर्ती सन्त कवियों की भाँति भक्ति-भावना को काव्य का प्रमुख वर्ण्य विषय माना गया है। इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि वे काव्य में यथार्थ के वहिष्कार और आदर्श के परिग्रहण पर बल देते थे। भक्ति जैसे उदात्त और गरिमावरिष्ठ भाव के समक्ष वे लौकिक वासनाओं के चित्रण को तुच्छ मानते थे। इस सम्बन्ध में निम्नस्थ उक्तियों का अवलोकन अभीष्ट है—

दादू विषय विकार सों, जब लग मन राता।
तब लग चीत न आवई, त्रिभुवनपति दाता।।बानी १६।६६
आन कथा संसार की, हमहि सुनावइ आइ।
तिसका मुख दादू कहइ, दइ न दिखावइ माइ।।बानी १३१।२४
आपा मेटइ हरि भजइ, तन मन तजइ बिकार।
निरवैरी सब जीव सों, दादू यह मत सार।।सबद १८।५५

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि किस प्रकार लौकिक जगत् में व्यक्तिमात्र को माया-बन्धन का त्याग कर परम शक्ति की उपासना करनी चाहिये उसी प्रकार लोकमङ्गल की साधना करने वाले कवि के लिये यह अनिवार्य है कि वह मानसिक विकारों का नाश करने वाली सात्विक भक्ति को आदर्शवत् ग्रहण करे। अहङ्कार और विकारों के नाश से मन और बुद्धि में निर्मलता का आना स्वाभाविक होगा, जिससे सांसारिक विषय-वासनाओं के चित्रण की ओर कवि की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। इसीलिये उन्होंने भक्तिगत अनुराग अथवा रामरस से प्राप्य आनन्द को सर्वोपरि माना है। यथा—

प्रेम लहर की पालकी, आतम बइसे आइ।
दादू खेलइ पीय सों, यह सुख कहा न जाइ।।बानी ६०।२७०
पिवइ पिलावइ रामरस, प्रेम भगति गुन गाइ।
नित्य कथा हरि की कहइ, हेतसहित लवलाइ।।बानी १३१।२३

यहाँ यह विचारणीय है कि दादू ने भक्ति के सगुण और निर्गुण रूपों में से किसे मान्यता दी है? उनकी गणना निर्गुण भक्त कवियों के अन्तर्गत की जाती है, किन्तु कबीर की भाँति उन्होंने भी इस विषय में अन्तर्विरोध का परिचय दिया है। आगे हम इन दोनों प्रणालियों के समर्थन में उनकी वाणी को क्रमशः उद्धृत करेंगे।

(क) निर्गुण-भक्ति—

एक जीभ केता कहूँ, पूरन ब्रह्म अगाध। बानी, ७०।१५।
माया रूपी राम को सब कोई धावइ।
अलख आदि अनादि है, सो दादू गावइ।। बानी, १०६।१४२
ता माली की अकथ कहानी, कहत कही नहिं आवइ।
अगम अगोचर करइ अनंदा, दादू ये जस गावइ।स० १३०।७

(ख) सगुण-भक्ति—

गूँगे का गुड़ का कहूँ, मन जानत है खाइ।
राम रसायन पीवता, सो सुख कहा न जाइ।।बानी७०।१४
केते पुस्तक पढ़ि मुये, पण्डित वेद पुरान।
केते ब्रह्मा कथि गये, नाहीं राम समान।।बानी ११६।६५।।

इन उक्तियों से स्पष्ट है कि दादू ने काव्य में जग-व्यापी माया के प्रभाव-चित्रण का निषेध किया है और आत्मशान्ति के लिये भक्ति के अवलम्बन को भक्त-कवि का धर्म कहा है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने यथार्थ की विषमताओं का विरोध कर आदर्श की समंजनशीलता में आस्था प्रकट की है।

मूल्यङ्कन—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दादूदयाल की अपनी काव्य-दृष्टि तो थी, किन्तु उन्होंने उसकी सुस्थिर अभिव्यक्ति नहीं की। तथापि इसमें संदेह नहीं कि प्रकीर्ण रूप में उपलब्ध होने पर भी उनके सिद्धान्त अमर्यादित नहीं हैं। इसीलिये कबीर की भाँति वे भी सन्त कवियों के निर्देष्टा रहे हैं—विशेषतः सुन्दर-दास और रज्जनदास की काव्य-दृष्टि के नियामक तो वे ही हैं। काव्य-शास्त्र का मन्थन न करने पर भी उनके पास विवेक-प्रौढ़ि अवश्य है, जिसका प्रमाण उन्होंने इन निष्कर्षों के रूप में दिया है—(अ) काव्य में मार्मिकता तथा प्रेषणीयता लाने के लिये लोक साक्षात्कार-जनित अनुभूति एवं आत्मचिन्तन को गौरव दिया जाना चाहिये, (आ) काव्य की रचना आत्मलीनता के क्षणों में होती है, फलतः उसमें रस की अनिवार्य व्याप्ति रहती है। (इ) काव्य-रचना के लिये प्रतिभा, गुरु की कृपा और विषय के प्रति सजगता का होना आवश्यक है। (ई) काव्य की रचना अथवा अनुशीलन से आनन्द-लाभ के अतिरिक्त हृदय का संस्कार भी होता है। (उ) काव्य में सत्य अथवा शिवत्व की अभिव्यक्ति के लिये नीति और भक्ति को मर्यादित रूप में ग्रहण किया जाना चाहिये। क्योंकि भक्ति-रस कविता का गुण-विशेष है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने काव्य में बाह्य उपकरणों की अपेक्षा आन्तरिक गरिमा के आधार पर बल दिया है।

—सनातन धर्म कालेज, आनन्द पर्वत, नई दिल्ली

(पृष्ठ १३९ का शेषांश)

कविताओं में युग चेतना की कोई अनुभूति नहीं होती, जान बूझ कर असम्बन्धित बिखरे हुए अतार्किक, चौंकाने वाले प्रतीक और बिम्बों के द्वारा कविता का ढाँचा तैयार किया जाना है। ऐसी कविताओं (?) का पूर्णतः अबोधगम्य होना स्वाभाविक है, उनके द्वारा उत्पन्न प्रभावों में भी कोई एकता नहीं होती। नवीन प्रतीकों की खोज में मस्तिष्क को थका देने वाली खोज-यात्रा, स्वतः स्फूर्त अभिव्यक्ति को मिटाकर कविता को बोझिल बना देती है। यदि "एक जटिल बौद्धिक अनुभूति केवल नवीन बिखरे हुए प्रतीकों में ही अभिव्यक्त हो सकती है", तो इससे यह निष्कर्ष निकालना कि "सब नवीन बिखरे हुए प्रतीकों और बिम्बों से युक्त रचना, एक जटिल बौद्धिक अनुभूति की अभिव्यक्ति है", तर्कशास्त्र की भाषा में दूषित परिवर्तन या अवैध सामान्यीकरण की गलती करना है। जिस प्रकार कि प्रेम काव्य के आलम्बन, उद्दीपन एवं अलङ्कारों को अपनाकर भी रीति कालीन कविता प्रेम की यथार्थ अनुभूति के अभाव के अनुपात में ही प्राणहीन बनी रही और रीति के कठोर पाश में रूढ़िमयी बन गई, उसी प्रकार अनुभूति के अभाव में प्रायः सभी साधारण कवियों (दो तीन को छोड़कर प्रायः सभी साधारण कवि ही हैं) की रचनाएँ कुछ गिने चुने प्रतीक और बिम्बों में सिमिट रही है।

निष्कर्षतः विम्ब और प्रतीक का अभिनव प्रयोग ही किसी काव्य का, चाहे वह किसी भी वाद का हो, लक्ष्य नहीं बन सकता, वह किसी भी काव्य में और अपने किसी भी रूप में (चाहे वह प्रयोगवादी ही क्यों न हो) किसी अनुभूति की अभिव्यक्ति का साधन मात्र ही बन सकता है। वह अनुभूति के अभाव की परिपूर्ति नहीं कर सकता। पुनः 'प्रयोगवाद' शब्द ही किसी काव्य की अनियमितताओं और दुर्बलताओं का औचित्य सिद्ध नहीं कर सकता। काव्य में प्रभाव की एकता किसी अनुभूति का ही परिणाम है, और अबोधगम्यता बहुत कुछ उसके अभाव पर निर्भर।

—४ नागेश्वर मार्ग, महेश्वर (म० प्र०)

हिन्दी-साहित्य में निबन्ध

डॉ० ओंकार

अंग्रेजी-शिक्षा तथा अँग्रेजों के संसर्ग का १६ वीं शती में हमारे आचार-विचार और संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा। अँगरेजों का सर्वथा अनुकरण करना उनकी हाँ-में-हाँ मिलाना चातुर्य का काम समझा जाता था। इसके फलस्वरूप कुछ विद्वानों ने यह धारणा स्थापित की कि—"आधुनिक हिन्दी-साहित्य पश्चिम का ऋणी है।" कतिपय विद्वानों ने यही एक पक्ष लेकर अपने विचार प्रकट किए कि—"हिन्दी-निबन्ध पाश्चात्य-साहित्य की देन है।" इसका प्रभाव यह पड़ा कि उन्हीं के विचारों, मतों तथा आधारों को मानकर एक धारा चल पड़ी। यहाँ तक कि कुछ विद्वान् पाश्चात्य प्रभाव से इतने दब गए कि उन्होंने हिन्दी-निबन्ध को व्यक्तित्व-प्रधान निबन्ध का पर्याय माना और आत्मपरक निबन्धों को ही निबन्ध की सीमा में रखने का नारा लगाया। क्योंकि उनके विचार से व्यक्तित्व-हीन रचना निबन्ध नहीं और कुछ चाहे जो हो। आलोचनात्मक निबन्धों को वे निबन्ध ही नहीं मानते। परन्तु वे इस बात को भूल रहे हैं कि—"जिनके यहाँ से यह कला हमें मिली है", ऐसा जिनका मत है, उनके यहाँ भी आलोचनात्मक निबन्धों की भरमार है। फ्रान्स, जर्मनी, इटली, नार्वे, स्वीडिन, रूस आदि देशों में तो निबन्ध-साहित्य समीक्षा तक ही सीमित रहा है। रूस में तो वैयक्तिक निबन्धों को कोई जानता ही नहीं, वह तो केवल आलोचनात्मक निबन्धों का ही बोलबाला है।

हिन्दी-निबन्ध की परम्परा तथा अँगरेजी 'एसे' की परिपाटी पृथक्-पृथक् हैं। भारतीय परम्परा के अन्तर्गत विचार-प्रधान रचनाएँ निबन्ध कहलाती हैं। आधुनिक अँगरेजी 'ऐसे' आत्मसंलापमयी हल्के-फुल्के विषय पर केवल मनोरञ्जनार्थ की गई वैयक्तिक रचना हो गई है। अहं-केन्द्रित वाग्विदग्धता तथा विनोदी-वृत्ति और मुख्यतः वैयक्तिकता केवल इङ्गलैण्ड की ही वैशिष्ट्यपूर्ण वस्तु हो गई है, जो अन्य किसी भी पाश्चात्य प्रमुख देश से भिन्न है। कुछ विद्वानों के अनुसार निबन्ध केवल आत्मगुञ्जन है, जिसमें निबन्धकार विचारों की अपेक्षा भावों की उछल-कूद में ही पड़ा रहता है।

अङ्गरेजी समीक्षकों ने परिभाषाएँ गढ़ने से पहले हिन्दी-निबन्ध के स्वरूप की जाँच-पड़ताल की भी नहीं थी। प्रत्येक देश की सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक परिस्थितियाँ और समस्याएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। प्रत्येक देश का साहित्य अपना स्वतंत्र-व्यक्तित्व भी रखता है। स्वच्छन्द भावनाओं की अभिव्यक्ति निबन्ध है और शेष विजातीय वस्तु, यह दृष्टि एकाङ्गी है, जिस में विषय का बंधन नहीं, मौलिक विचारों की शृङ्खला नहीं, वह तो सर्व-जात्यक साहित्य का ही अङ्ग हो सकता है। पर निबंध-रचना विचारात्मक वस्तु भी होती है। वह ललित कला ही नहीं है विषय-निष्ठ साहित्यिक चिन्तन का परिणाम भी है। वह रचना भी है, आलोचना भी। उसके अन्तर्गत एक ओर गीति-काव्य जैसी आत्म-विभोरता मिल सकती है तो दूसरी ओर अथाह पाण्डित्य और अगाध वैचारिकता का निदर्शन भी।

संस्कृत-साहित्य में निबन्धों के वर्ग को लेकर कतिपय समीक्षकों ने इस ओर ध्यान आकर्षित किया है। संस्कृत-साहित्य में निबन्ध प्रायः कोई साहित्यिक रचना, टीका वा कृति के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, जिसमें निःशेष रूप से सम्यक् कसाव वा संगठन हो। संस्कृत-साहित्य में निबन्ध किसी महत्वपूर्ण रचना के लिए, जिसमें लेखक का अपना दृष्टिकोण प्रधान हो, उसी के लिए प्रयुक्त होता था। इस निबन्ध के अनेक अङ्ग होते थे। ऐसे अल्पांगों को मीमांसक 'अधिकरण' कहते थे। 'अधिकरण' की व्याख्या इस प्रकार दी है—

विषयो विषयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् ।
निर्णयश्चेति पंचांग शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ।।

मीमांसकों के अनुसार निबन्ध के ये पाँच अङ्ग हैं—(१) विषय–जिसकी व्याख्या की जाय, (२) विशय, संशय अथवा शङ्काएँ–जो सन्देह वा आरोप उत्पन्न हुए हों, (३) पूर्व-पक्ष–प्रतिपादित पक्ष का विरोधी पक्ष, (४) उत्तर-पक्ष–सिद्धान्त तथा खण्डन-मण्डन और (५) निर्णय–निष्कर्ष । ये पाँच निबन्धांग होते थे । यह स्पष्ट है कि 'अधिकरण' के तत्वों पर ही आधुनिक युग के विचारात्मक निबन्ध अधिकांशतः लिखे जाते हैं । इस-लिए संस्कृत में निबन्ध थे और उनका नाम और स्वरूप कालानुसार थोड़ा भिन्न था । पाश्चात्य समीक्षकों ने आज जो निबन्ध की मान्यताएँ दी हैं, कौन जानता है कि भविष्य में वे स्वीकृत हो सकती हैं ?

वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, दर्शनों आदि ग्रन्थों में आर्य-ऋषियों की अनुभूतियाँ बिखरी पड़ी हैं । संस्कृत गद्य-काव्य आधुनिक निबन्ध की पूर्वा-वस्था वा निबन्ध का एक अङ्ग ही नहीं है, एक अत्यन्त आत्मनिष्ठ निबन्ध का प्रकार भी है । वेदों में अधिकां-शतः काव्य है, किन्तु कितने ही स्थल एक दूसरे से ऐसे स्वच्छन्द हैं, जिन्हें आधुनिक निबन्ध कहा जा सकता है । ब्राह्मणों में गृहस्थाश्रम के यज्ञ विधानों का वर्णन है, तो आरण्यकों में वानप्रस्थाश्रम के निहित कर्मों का । उपनिषद् ब्राह्मण-ग्रन्थों का आलोचनात्मक-साहित्य है । इन सबों जन्म, मरण, सन्यास, ब्रह्म, जीव, जगत् आदि विषयों पर सुन्दर निबन्धात्मक रचनाएँ दृष्टि-गत होती हैं । 'गीता' का एक स्वतन्त्र स्थान इसी कारण है कि वह एक विशद प्राचीन निबन्ध है । पुराणों में ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनमें निबन्ध के पूरे लक्षण मिलते हैं । तीर्थों पर तो सुन्दर विवरणात्मक निबन्ध बिखरे पड़े हैं । सायणमाध्वाचार्य का सोलह दर्शनों पर एक 'सर्वदर्शन संग्रह', पृथक्-पृथक् दर्शनों पर निबन्धों का संग्रह है । संस्कृत-साहित्य में निबन्ध रचना को बौद्धिक अभिव्यक्ति के एक विशेष साधन के रूप में ग्रहण किया था । आध्यात्मिक, भौतिक, साहित्यिक और आलोचनात्मक समस्याओं का वास्तविक विवेचन करने के लिए ही निबन्ध-रचना का प्रयोग किया । कविकुलगुरु कालिदास का 'ऋतु-संहार' विभिन्न ऋतुओं पर लिखे हुए पद्य-निबन्धों का संग्रह कहा जा सकता है ।

कुछ समीक्षकों का यह आरोप है कि संस्कृत-साहित्य के निबन्धों में साहित्यकता का अभाव है । वे रूक्ष और नीरस लगते हैं । हमारी दृष्टि से सरस और नीरस सापेक्ष शब्द हैं । परिणत अवस्था प्राप्त होने पर, उन निबन्धों में उतना ही रस प्रतीत होता है जितना अप्रगल्भावस्था में 'दांत', 'मुँह', 'छड़ी' आदि ललित निबन्धों को पढ़ने से । बुद्धि-विशिष्ट, गम्भीर, जटिल, एवं सूक्ष्म, ये तो निबन्धों की विशेषताएँ हैं । उन निबन्धों को आधुनिक ललित निबन्धों की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता । क्योंकि इङ्गलैण्ड सामाजिक परिस्थितियों के कारण उपहास और व्यंग्य की दृष्टि से देखा जाय तो ऐसी अभिरुचि के ही लोग वहाँ अधिक हैं । इस अभिरुचि का स्तर भारत के लिए ऊँचा नहीं माना जा सकता । लोकप्रियता ही किसी वस्तु की अत्युत्तमता का सर्वदा प्रतीक नहीं हो सकती । वहाँ केवल विनोदमय उच्छृङ्खल रचनाओं द्वारा ही अधि-कांश लोगों का मनोरञ्जन होता है । जिस प्रकार नदियों की गति भिन्न-भिन्न होती हैं, उसी प्रकार व्यक्तियों के विचार भी पृथक-पृथक होते हैं । एक पग आगे बढ़कर यह कहा जा सकता है कि नदियों की भाँति समीक्षक भिन्न-भिन्न मतः प्रणालियों के होते हैं "भिन्नरुचि-र्हिलोकः।"

निबन्ध शब्द का प्रयोग अँगरेजी 'ऐसे' के लिए अनायास ही किया गया है । संस्कृत के अर्थ से साम-ञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा नहीं की गई है । निबन्ध और 'ऐसे' शब्दों की व्युत्पत्ति में पूर्व-पश्चिम का सा अन्तर है । निबन्ध शब्द का अर्थ है भली भाँति कसी हुई और गढ़ी हुई रचना । किन्तु 'ऐसे' का अर्थ है प्रयत्न । परन्तु लम्बे प्रयोग और संसर्ग से निबन्ध और 'ऐसे' में जो समानता आ गई है उसको भी भुलाया नहीं जा सकता और अब उसको दूर करना स्तुत्य न होगा । अतः ऐसे के निमित्त निबन्ध का प्रयोग करना

ही उचित है। प्रयोग से अर्थ तो बदल जाया करता है।

निबन्ध शब्द से प्रायः अँगरेजी ऐसे का ही बोध हो जाता है और हिन्दी-साहित्य के समीक्षकों ने अधिकतर अँगरेजी पद्धति को ही अपनाया है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में निबन्ध शब्द का तथा अँगरेजी निबन्ध साहित्य में 'ऐसे' का प्रयोग इतना विस्तृत होता है कि निबन्ध अथवा 'ऐसे' किसे कहा जाय और किसको नहीं, यह अधिक कठिन हो गया है। यह निश्चय है कि शब्द के अर्थ उसके प्रयोगानुसार बदलते जाते हैं। इसको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। जैसे निबन्ध का अर्थ बाँधने से एक बाङ्मय प्रकार निश्चित हो गया। समय की गति के साथ 'ऐसे' की परिभाषा में भी परिवर्तन होता रहा। एक ही कोश के पृथक-पृथक संस्करणों में दिए हुए 'ऐसे' के अर्थ से यह अधिक स्पष्ट हो जाता है। यहाँ हम "दि ऑक्सफोर्ड इङ्गलिश डिक्शनरी" के सन् १५९८ से लेकर सन् १९३३ तक के कुछ संस्करणों के अर्थ देते हैं—(१) विचार अथवा परीक्षणों की क्रिया-विधि (सन् १५९८), (२) एक उद्योग, प्रयास, चेष्टा, (३) ज्ञान अथवा अभ्यास में एक प्रथम प्रयत्न (सन् १७३४), (४) एक प्रथम संस्कार लेख (सन् १७९३), (५) किसी विशिष्ट विषय पर एक लघु रचना। सन् १९३३ के कोश ने इस प्रकार दी है—"निबन्ध एक साधारण कलेवरमयी रचना है, जिसमें किसी विषय वा विषयांश पर विचार-विमर्श रहता है। आरम्भ में इसमें अपरिपूर्णता का अभाव रहता था परन्तु अब उसके प्रयोग से ऐसी रचना का बोध होता है जिसका विस्तार परिमित रहने पर भी शैली प्रौढ़ और परिष्कृत है।" जैसा कि हमने ऊपर कहा है कि कुछ हिन्दी के समीक्षक केवल वैयक्तिक निबन्धों को ही निबन्ध मानने लगे हैं, अन्य निबन्धों को आधुनिक अंगरेज समीक्षक जे० बी० प्रीस्टले की भाँति निबन्ध ही नहीं मानते। आधुनिक कसौटी पर भी कसने के लिए हमने हिन्दी निबन्ध की निम्नलिखित परिभाषा गढ़ी है—"निबन्ध वह लघु मर्यादित साहित्य विधा है, जिसमें निबन्धकार विषयानुसार अपने हृदय-स्थित भावों, अनुभूतियों तथा विचारों का कलात्मक चित्रण वैयक्तिकता के साथ प्रदर्शित करता है।" इस प्रकार विचारात्मक तथा आलोचनात्मक निबन्ध भी इसके अन्तर्गत आते हैं।

हिन्दी-निबन्ध का विषय व्यक्ति की छाप से संयुक्त होता है। निबन्ध में जहाँ एक विषय मूलाधार है, वहाँ उसको व्यक्त करने की शैली में ही निबन्धकार का व्यक्तित्व प्रकट होता है। शैली फलतः निबन्ध का ही अनिवार्य अङ्ग है। निबन्ध में कोई भी विषय आ सकता है, और उसको 'अधिकरण' प्रणाली पर रचा जा सकता है। इसलिए साहित्य में निबन्ध का स्थान अत्यन्त स्पष्ट ही नहीं, अद्वितीय भी है। निबन्ध केवल गद्य में ही नहीं पद्य में भी लिखा जा सकता है। अनेक पद्यात्मक निबन्ध लिखे गये हैं। ऐसे निबन्ध-लेखकों में अँगरेजी के पोप अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अँगरेजी में ही नहीं संस्कृत में भी निबन्ध पद्य-बद्ध लिखे जाते थे। भारतेन्दु-युग में संस्कृत-पद्धति के पण्डितों ने पद्य-निबन्धों की परिपाटी चलाई और द्विवेदी-युग में गद्य-पद्य दोनों शैलियों में निबन्ध लिखे गए। अद्यतन-युग में भी पद्यात्मक निबन्ध-लेखकों में 'दिनकर' आदि कवियों की अधिकांश रचनाएँ पद्य-बद्ध निबन्धों की कोटि में ही रखी जाएँगी। भारत की दार्शनिक एवं उपदेशात्मक प्रवृत्ति हिन्दी-निबन्ध-साहित्य में स्पष्टतः लक्षित होती है। संस्कृत-साहित्य की धीर-गम्भीर प्रवृत्ति, शास्त्रचर्चा, अध्ययन एवं मनन का परिणाम है हिन्दी-निबन्ध।

—जनता महाविद्यालय, चाँदा (महाराष्ट्र)

प्रिय भाई महेन्द्रजी,

'साहित्य-सन्देश' का विशेषाङ्क निकला। 'साहित्य-शन्देश' में यों भी विचार-पूर्ण लेख निकला करते हैं; यह अङ्क तो विशेष प्रेरक और मनोरञ्जक है। मेरी हार्दिक बधाई।

आपका—
वृन्दावनलाल वर्मा

हिन्दी-साहित्य में वीर-काव्य का विकास

डॉ० किरणकुमारी गुप्त

हिन्दी-साहित्य का जन्म युद्ध के हा-हा-कार और तलवारों की झंकार में हुआ। सम्राट् हर्षवर्द्धन के चक्रवर्तित्व के अनन्तर भारत में एकछत्रता समाप्त हो गई और वीरों की शक्ति अपने-अपने भू-खण्डों में सीमित हो गई। उनकी राष्ट्रीय भावना अपने भू-खण्ड की संरक्षा और अपर शासक के अपमान में ही सार्थक थी। उनकी मर्यादा और मानहानि का क्षेत्र संकुचित था। सुन्दरी राजकन्याओं के अपहरण, ईर्ष्या, सौन्दर्य-प्रियता और पारस्परिक वैमनस्य का विस्फोट भयङ्कर गृह युद्धों में होता था। उस काल की वीरता के शक्ति चिन्ह थे—अपने ही देशवासी भूस्वामी का पराभव और विनाश। तत्कालीन चारण कवियों ने भी वीरता का यही प्रमाण माना—"जेहि की बिटिया सुन्दर देखें तेहि पर जाय धरें हथियार।" ये गृहयुद्ध निर्बल और सबल के युद्ध थे और मिथ्याभिमान एवं गर्व के प्रतीक थे।

विदेशी शक्तियों ने भारत के इस आन्तरिक वैमनस्य का लाभ उठाया और देश पर अनवरत आक्रमण कर उसे पदाक्रान्त करने लगीं। भारत की अतुल धन-राशि लूटी जा रही थी। भयङ्कर जन-संहार हो रहा था, जनता त्रस्त और सन्तप्त थी। यह देश का सङ्घर्ष-काल था। यह सङ्घर्ष केवल राजनीतिक सङ्घर्ष नहीं था वरन् दो विभिन्न संस्कृतियों का सङ्घर्ष था—जाति और धर्म का सङ्घर्ष था। एक ओर स्वदेश-रक्षा का पवित्र प्रभाव था और दूसरी ओर धनलोलुपता का अदम्य उत्साह। भारतीय राजाओं के आश्रित चारणों ने—बाह्य और आन्तरिक दोनों ही प्रकार के युद्धों में अपने आश्रयदाताओं को वीर गीतों द्वारा युद्ध-भूमि में प्रोत्साहित किया उनकी शक्ति को ललकारा और 'वीर भोग्या वसुन्धरा' एवं 'वीरगतिः स्वर्ग प्राप्तिः' के मूल मन्त्रों द्वारा इहलोक तथा परलोक दोनों का ऐश्वर्य उनके लिए सुलभ कर दिया। 'पृथ्वीराज रासो', 'बीसलदेव रासो' और 'आल्हखण्ड' आदि प्रबन्ध काव्य सङ्घर्ष काल के वीर काव्य हैं जिनमें स्थल-स्थल पर आत्म-मर्यादा, तथा देश-संरक्षण के उत्तेजक प्रसङ्ग हैं।

काल की विडम्बना से देश में विदेशी सत्ता स्थापित हो गई। वीरता का स्थान नैराश्य और पराभव ने ले लिया। मानव अपनी शक्ति और साहस के प्रति अविश्वसनीय हो उठा और तब उसे एक विशिष्ट शक्ति का आश्रय लेना पड़ा—जिसमें बल, वीरता और साहस को प्रतिष्ठित करना अनिवार्य हो गया। एक अज्ञात लेखक की उक्ति है—'ईश्वर की स्थापना मानव की चरम दुर्बलता और असहायता की स्वीकृति है।' इस कथन में इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि मानव आत्म-विश्वास और आत्म-शक्ति खो देने पर ही किसी अन्य का आश्रय ढूँढ़ता है। इस काल के पराभूत मानव ने भी वीरता और शक्ति को व्यक्ति से हटाकर देवता में केन्द्रित कर दिया। श्री राम और श्री कृष्ण नामक दो लोकनायकों को शक्ति और साहस का साक्षात स्वरूप माना और "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" के अनुसार लोक-रक्षण ही उनकी अवतारणा का मूल कारण निश्चित किया।

इस काल की और सङ्घर्ष काल की वीरता में सैद्धान्तिक अन्तर था। सङ्घर्षकाल की वीरता सर्वथा भौतिक थी किन्तु इस काल में भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता का मणिकांचन संयोग था। प्रथम युग की वीरता संकुचित थी—व्यक्तिगत स्वार्थ और व्यक्तिगत सुख ही उसका आधार था किन्तु दूसरे युग की वीरता का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था—जहां मानव स्वार्थ को भूलकर परार्थ के लिए व्यग्र था, लोक-मङ्गल और लोक-रक्षण इसका आधार थे। यह वीरता परपीड़न के लिये नहीं थी, वरन् परदुःख निवारण के लिये थी इसमें न्याय और कर्त्तव्य की अन्याय और

भावना पर विजय थी। तुलसी और सूर जैसे महाकवियों ने राम और कृष्ण के इसी वीर स्वरूप के दर्शन कराये। वीरता का व्यापक, शुद्ध और मानव हितकारी रूप 'सर्वजन सुखाय' था। इसमें जीवन के प्रति जागरूकता और आत्म विश्वास का समन्वय था और वेदोक्त 'मा भैः' का सहज सन्देश था।

शासकों के वैभव, विलास और ऐश्वर्य की अभिवृद्धि और शृङ्गारिक भावनाओं की धूमिलता में वीरता की आलोक-रश्मियाँ मलिन हो गईं। ऐश्वर्य-लोलुप कविगण अपने आश्रयदाताओं की चाटुकारिता और मनःतुष्टि में ही प्रयत्नशील थे। आदिकाल की व्यक्तिगत वीरता भक्तों की वाणी में अपने इष्टदेव में समाहित हो गई थी; किन्तु भोगविलास के इस युग में वीरता का सर्वथा लोप हो गया। कंस-निकंदन श्रीकृष्ण अब केवल साधारण नायक रह गये थे। कविगण हरि-राधिका को अब हास-विलास, प्रणय निवेदन मान और विहारादि के प्रसङ्गों में वर्णित करके अपने आश्रय दाताओं को कामोत्तेजित करने का प्रयास कर रहे थे। यह युग वीर काव्य के ह्रास और नैतिक पतन का युग था। भूषण और सेनापति इस काल के अपवाद कहे जा सकते हैं। भूषण के काव्य में सहन करने की क्षमता में है। वीरता का उत्कर्ष पर-पीड़न में नहीं वरन् आत्म-पीड़न में है। सत्य, अहिंसा और न्याय इस वीरता के मुख्य शस्त्र हैं, इनका पालन ही वीरता की चरम परिणति है। इस प्रकार गांधीवादी की वीरता शारीरिक शक्ति से हटकर आत्मिक शक्ति में केन्द्रीभूत हो गई। गुप्तजी के 'अनघ', सोहनलाल द्विवेदी की 'भैरवी' और वियोगी हरि की 'वीर सतसई' में इसी प्रकार की वीरता परिलक्षित होती है। सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त' और 'बापू' ग्रन्थ भी इसी प्रकार के वीरकाव्य हैं। इस वीरता में मनुष्यत्व और देवत्व की पशुत्व पर स्पष्ट विजय है। यह वीरता अत्यन्त व्यापक, परिष्कृत और लोकमङ्गलकारिणी है। इसी भावभूमि पर इन कवियों का वीर-काव्य अंकुरित एवं पल्लवित हुआ है।

छायावादी काव्य आत्मानुभूति परक है। उसमें स्वर्णिम कल्पना, सूक्ष्म दार्शनिक चिन्तन और प्रकृति प्रेमानुभूति सफल अभिव्यक्ति है। प्रसादजी के नाटकों में आत्म-पीड़न और कर्त्तव्य-पालन ही वीरता है। निराला की ओजमयी वाणी में वीरता अधिक नहीं पनप पाई है। प्रगतिशील साहित्य राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं के सुलझने में प्रयत्नशील रहा है और प्रयोगवादी साहित्य अपनी नवीनता में क्या खोना क्या पाना चाहता है—यह अनिश्चित है। कभी-कभी कवि दिनकर और सोहनलाल द्विवेदी की हलकी सी ललकार में वीर-काव्य की झंकृति सुनाई पड़ जाती है। चीन के आक्रमण के अनन्तर कुछ वीर रसपूर्ण स्फुट कविताओं का सृजन अवश्य हुआ है जिनमें चीन को भारत की चुनौती है और देशवासियों को भारत माँ की मर्यादा-रक्षा के लिये प्राणोत्सर्ग करने के लिये कटिबद्ध रहने की प्रेरणा है। देश पर बलिदान हो जाने वाले अमर शहीदों की गीतियों में करुण-कम्पन और आक्रोशपूर्ण वीरोत्तेजना है।

—आगरा कालेज, आगरा।

नाटक की महत्ता एवं उसकी मूलभूत प्रवृत्तियाँ

डॉ० शान्ति मलिक

मानव की हृदयगत अभिव्यक्ति के सशक्त और प्रभावपूर्ण साहित्यांगों में नाटक मूर्धन्य स्थान का अधिकारी है। आचार्यों के इस कथन 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' (अर्थात् काव्यों में नाटक ही सबसे सुन्दर है) से भी यही प्रतिध्वनि निकलती है। समस्त साहित्यांगों में नाटक ही कला और साहित्य के अन्तर्गत आने वाले सभी रूपों—नृत्य, सङ्गीत, चित्र स्थापत्य, मूर्ति, कविता, उपन्यास, कहानी एवं गद्य गीत प्रभृति का सारसंगम व मिश्रित रूप है। नाटक की रङ्गभूमि स्वतः वास्तुकला का एक उदाहरण होती है। मूर्तियाँ, चित्र एवं पट उसकी शोभा के विभिन्न उपकरण हैं। पुनः वेषभूषा, मेकअप और प्रकाश क्रीड़ा के विधान उसकी प्रभविष्णुता को द्विगुणित करते हैं। नृत्य और सङ्गीत यदि आवश्यकतानुसार समाविष्ट किये जाएँ तो उसकी रसात्मकता में पर्याप्त वृद्धि होती है। गद्यात्मक वार्तालाप उसके अनिवार्य अङ्ग हैं, इनके द्वारा ही कथावस्तु का प्रस्तुतीकरण होने के साथ जीवनोचित उपदेश व्यञ्जित किये जाते हैं। आ० भरतमुनि ने भी नाट्यशास्त्र में स्पष्ट कहा है कि योग, कर्म, सारे शास्त्र, सम्पूर्ण शिल्प तथा विविध कार्यों में कोई ऐसा कार्य नहीं जो नाटक में न पाया जाता हो।[1] उनके नाटक-पाठ्य (संवाद) गीत, अभिनय (क्रियाकलाप) और रस की अभिव्यञ्जना है।[2] अभिनय दर्पणकार नन्दिकेश्वर ने भी इसे चारों वेदों का सारतत्व कहते हुए ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्द देने वाला बताया है।[3] शारदातनय के अनुसार विभिन्न रुचि और स्वभाव के लोग अपने-अपने शिल्प, शृङ्गार, व्यवसाय, क्रिया और वाणी सभी कुछ नाटक में पा सकते हैं।[4] कालिदास ने भी मालविकग्निमित्र नाटक में नाटक की प्रशंसा करते हुए कहा है कि भिन्न-भिन्न रुचि वाले सब लोगों को अकेला नाटक ही तृप्त करता है।[5]

साहित्य का यह सर्वप्रधान और उत्तमोत्तम अङ्ग चाक्षुष होने के कारण दृश्य-काव्य कहलाता है।[6] वस्तुतः यही एकमात्र सामञ्जस्यपूर्ण अभिव्यञ्जना है, जिसमें कला और साहित्य का समस्त अन्तःसौन्दर्य कान, आँख, मन और बुद्धि आदि इन्द्रियों की सामूहिक एकाग्रता से अर्जित अथवा चर्वणीय (आस्वादनीय) होता है। यही कारण है कि जहाँ अन्य साहित्य अङ्गों को पढ़कर केवल चक्षुरिन्द्रिय द्वारा कल्पना के बल पर ही उसके सामूहिक प्रभाव और वातावरण की प्रतीति होती हैं, वहाँ नाटक में पात्रों के वार्तालाप, वेशभूषा तथा अभिनय द्वारा वास्तविकता का अत्यन्त प्रभावशाली एवं मनोरञ्जक अनुभव भी हो जाता है। नाटक की यह सजीव जीवित जागृत् प्रत्यक्ष की चाक्षुष अनुभूति प्रत्येक वर्णित बात की हृदयपटल पर एक विशिष्ट एवं स्थायी छाप अङ्कित करती है। जनरुचि भी साहित्य के इस सुरम्य और मनोज्ञ अङ्ग में पाई जाने वाली इसी प्रत्यक्ष दृश्यता तथा यथार्थता की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण इस ओर अत्यधिक आकृष्ट हुई रहती है। निस्सन्देह नाटक जीवन की अनेकरूपता को प्रद-

---

[1] भरत नाट्यशास्त्र, अध्याय १, कारिका ११६-११७

[2] पूर्वोक्त, अध्याय १ कारिका १५-१६।

[3] अभिनय दर्पण, ७-१०।

[4] "नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
यद्यत्स्वशिल्पं नैपथ्यं कर्म वा चेष्टितं वचः॥"
भावप्रकाशनम्—अष्टम अध्याय

[5] "नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्'
मालविकाग्निमित्र' नाटक, अङ्क १

[6] (क) 'रूपं दृश्यतयोच्यते' धनञ्जय प्रणीत—दशरूपकम्, कारिका १।७।

(ख) 'दृश्यं तत्राभिनेयं स्याद्रूपारोपात्तु रूपकम्'
आ० विश्वनाथ : साहित्य दर्पण कारिका ६।१

र्शित करने वाला अपूर्व माध्यम है।

नाटक मानव जीवन की सांकेतिक अनुकृति न होकर सजीव प्रतिलिपि व वास्तविक जीवन कथा एवं सजीव प्रतिच्छवि है।[1] यही नहीं उसके आन्तरिक जीवन का भी एक चित्र है। जीवन की यह यथार्थता विविध प्रकार के वेश-विन्यासों तथा भाव-भङ्गिमाओं द्वारा चरित्रों के रङ्गमञ्च पर यथार्थ रूप में अवतरित करने से अत्यन्त सजीव एवं मूर्त रूप में अभिव्यक्त होती है। राजेन्द्रसिंह गौड़ के शब्दों में "नाटक हमारी भावनाओं का, हमारे भूतकालीन गौरव का, हमारे इतिहास और पुराण का, हमारी वर्तमान समस्याओं का दृश्य-रूप है। उसमें हमारी सुरुचि-कुरुचि है; हमारी सफलता-विफलता है, हमारा उत्थान-पतन है, हमारी शुचिता-अशुचिता है, हमारे जीवन की समस्त निधियाँ हैं। हम उसे देखकर अपना सब कुछ जान और पहचान सकते हैं। हम नाटक नहीं देखते, रङ्गमञ्च पर हम अपने जीवन की स्पष्ट झाँकियाँ देखते हैं।"[2] दूसरे शब्दों में नाटक प्रत्येक संस्कृति का देवदूत है, अतीत के अस्थिपञ्जर में भी जीवन का वर्तमान रूप उपस्थित करता है। जीवन के समान इसका क्षेत्र व परिधि अत्यन्त विस्तृत एवं विशाल है। उसमें मानवता, मानव मूल्यों, मनुष्य के चिरन्तन भावों, अनुभूतियों, और समस्याओं—सब पर यथासम्भव प्रकाश डाला जा सकता है।

मूर्त वस्तु का प्रभाव अमूर्त की अपेक्षा अधिक होता है। नाटक में नाट्य-निर्देश, अभिनय, दृश्य-विधान, वेशभूषा, रङ्गप्रदीपन तथा नाटक के अन्य तत्व सभी मिलकर एक सम्मिलित प्रभाव उत्पन्न करते हैं। यही कारण है कि इसमें मानव-जीवन की सजीव मूर्त एवं स्पष्ट झाँकी अत्यन्त सरलता से देखी जा सकती है।

[1] (क) 'वामन काव्यालङ्कार सूत्र' पृ० ३-३०-३२

(ख) R. Crottsbhall : Poetic II, P. 184, Brespan, 18J0.

(ग) अभिनवगुप्ताचार्य रचित 'अभिनव भारती' अ० ६, पृष्ठ २८८।

[2] हमारी नाट्य-परम्परा, पृष्ठ १४-१५ प्रथम सं०

अतः जातीय जीवन के निर्माण तथा समाज के उत्थान में नाटक सर्वोत्तम एवं अव्यर्थ प्रयत्न सिद्ध हो सकता है। पुनः जनता में जागृति का सम्यक् रूप से सञ्चार करने वाला तथा जनरुचि को परिष्कृत करने में सहायता देने वाला भी यही प्रभावात्मक साधन है। प्रसिद्ध आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी का कथन इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है—"नाटक गम्भीर अभिनेय नाटककला की सर्वोत्तम सृष्टि है। मानव-चरित्र को शक्ति और गति देने में, सामूहिक प्रतिक्रिया और प्रेरणा उत्पन्न करने में, जीवन का नव-निर्माण करने में—जितना कार्य अभिनेय नाटक कर सकता है उतना दूसरी और कोई कलाकृति नहीं। नाट्यकला ही समृद्धिशाली देशों की प्रतिनिधि और सर्वोच्च कला रही है। विविध राष्ट्रों के कला-सम्बन्धी उत्कर्ष को मापने के लिये नाटक ही प्रमुख उपादान रहा है। × × × आज के अधिकांश साहित्य रूप व्यक्तिगत उपयोग के लिये हैं, सामूहिक उपयोग के लिये नाटक ही प्रधान साहित्याङ्ग है।"[1] निस्सन्देह दृश्यकाव्य में जो ओजस्विता, सजीवता, प्रत्यक्षानुभवता एवं मनोहारिता है, वह साहित्य के अन्य किसी भी अङ्ग में यथेष्ट रूप से नहीं पाई जाती। अपनी इस मनोज्ञता और एक धरातल पर सब के समान अनुभूति देने की विशेषता से उसे हर संस्कृति अपने सन्देश का वाहक बनाती रही है। लोक जीवन में आज भी इसका महत्व ज्यों का त्यों बना हुआ है। शिक्षित जनता पर इसका अमिट प्रभाव है। यह उनके लिये केवल मनोविनोद की लहरें उठाने वाला साधन ही नहीं, प्रत्युत उनके जीवन के सत्यों, जीवन की गहराइयों, जीवन के समस्त सुख-दुःखों, सफलताओं-विफलताओं एवं अन्तर्द्वन्द्वों का मनोज्ञतम चित्र है, क्योंकि ये सभी प्रसङ्ग नाटक में मनोविज्ञान और रस से युक्त होकर जीवन के यथार्थ और आदर्श रूप में प्रतिफलित होते हैं। वे इन प्रत्यक्ष चित्रों से अमित तोष के साथ प्रेरणा और प्रकाश (नई दृष्टि) दोनों प्राप्त करते हैं।

[1] आलोचना पत्रिका : नाटक विशेषाङ्क (श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का सम्पादकीय लेख) जुलाई १९५६, पृष्ठ ६।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाट्यकला-प्रभावात्मकता, व्यापकता एवं प्रसार की दृष्टि से साहित्य का परम सशक्त रूप है।

मानसिक प्रवृत्तियाँ—नाटक के सभी बीज हमारी मानवीय वृत्तियों में अन्तर्निहित हैं। अनुकरण, आत्म-विस्तार एवं आत्माभिव्यक्ति की इन्हीं तीन मनोवृत्तियों में आरम्भिक नाटकों का सूत्रपात हुआ। यह अनुकरण या रूप धारण नाटक का प्रथम और मूलतत्व है[१]। जो किसी भी वस्तु, विचार एवं भावदशा का हो सकता है। भारतीय आचार्यों ने नाटक को निश्चयात्मक रूप से अनुकरण-मूलक माना है।[२] वैसे नाटक शब्द की व्युत्पत्ति 'नट्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है—सात्विक भावों का विभिन्न अवस्थाओं के प्रदर्शन।[३] नट अपनी-अपनी स्थिति के अनुरूप वेशभूषा धारण कर, उनकी आकृति, भावभंगी तथा क्रियाओं के अनुकरण से उस समय के वातावरण तथा स्थिति को प्रत्यक्ष कर, तत्कालीन व्यक्तियों के जीवन की स्पष्ट एवं मूर्त्त झाँकी प्रस्तुत करते हैं। नाटक के लिये रूपक की संज्ञा भी दी जाती है।[४] रूपक का अर्थ भी जीवन का आरोप करने से ही है। इसमें नट आदि के उत्तर, राम-सीता, प्रभृति प्रसिद्ध व्यक्तियों का आरोपण किया जाता है।

मनुष्य एक अनुकरणशील प्राणी है, उसके प्रारम्भिक ज्ञान की अट्टालिका इसी आधार पर बनती है। अनुकरण की यह प्रवृत्ति उसमें बाल्यावस्था से ही देखने को मिलती है।[१] बच्चे प्रायः प्रत्येक बात का अनुकरण कर सीखने का प्रयत्न करते हैं। कभी वे चलती गाड़ी की कल्पना के बल पर अनुकरण करते हैं, कभी वे मूँछें लगाकर पिता बनने का अभिनय करते हैं, तो कभी गुड्डे-गुड़ियों का विवाह रचाकर भावी गृहस्थ बनने का परिचय देते हैं। कभी-कभी वे राम और कृष्ण के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिये—रामलीला और कृष्णलीला का आयोजन भी करते हैं। श्री रमाशङ्कर शुक्ल के इस सम्बन्ध में लिखे गए ये शब्द सारयुक्त हैं—"नाटक की उत्पत्ति मनुष्य की उस प्रवृत्ति की प्रेरणा से हुई है, जिसे हम अनुकरणकारिणी प्रवृत्ति कह सकते हैं और जिसके कारण मनुष्य स्वभावतः दूसरों का अनुकरण करता है।[२]" श्री श्याम-

---

[१] "Whatever theory may be found to explain the beginning of drama, we realize that acting is so deeply rooted in human nature that sooner or later it is bound to show itself in every country."—
J. W. Marriot.
The Theatre, p. 28 Revised Edition.

[२] (क) 'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावांनुकीर्तनम्।'
—भरत नाट्यशास्त्र १-१०७।

(ख) 'लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्'।
—भरत नाट्यशास्त्र १-११२।

(ग) 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'।—धनञ्जय दशरूपक १/७

[३] नाट्यमिति च नट अवस्यंदने इति नटे :—
किंचिच्चलनार्थत्वात्सात्विक बाहुल्यम्।
अतएव तत्कारिषु नटव्यपदेशः।
—दशरूपक-धनिक की टीका।

[४] 'रूपकम् तत्समारोपात्'—'दशरूपक' १/७।

[१] (क) "If adults had not invented drama children would certainly have done so. They would have acted the wedding of a popular prince and princess until it became a recognized comedy, or a funeral until it became a familiar tragedy"
J. W. Marriott : The Theatre. P. 29.

(ख) "The normal child is a natural actor. Left to themselves, children will create a world of make believe which is to them entirely as real as the world of the senses"—Theatre and stage (An cyclopedic Griud) Edited by Harold Down, P. 283.

[२] रमाशङ्कर शुक्ल रसाल कृत 'नाट्य निर्णय' पृ० २५, प्रथम संस्करण।

सुन्दर दास ने भी उचित ही लिखा है, "अतः अनुकरण ही दृश्यकाव्य की प्रधान विशेषता, व्यक्तित्व एवं आत्मा है।"[3] अभिनव भारत का भी मत है, "स्वभावतः मनुष्य प्रारम्भ से ही सब का अनुकरण करने में आनन्द प्राप्त करता रहा है। अतः आङ्गिक, वाचिक तथा सात्विक अनुकरण के द्वारा केवल लोगों का मनोरञ्जन करके, उन्हें सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त करने के लिए तथा विशेष पर्वों और उत्सवों को सङ्गीत, कथा और अभिनय से सुन्दर बनाकर मनोविनोद और उपदेश देने के लिए नाट्य की सृष्टि कीगई।"[4] अतः स्पष्ट है कि नाटकीय प्रवृत्तियों के अंकुर वासनात्मक रूप से हमारे में विद्यमान रहते हैं, जो समय पाकर पुष्पित एवं पल्लवित हो जाते हैं। स्वभावतः अनुकरण करने की यह मानवीय प्रवृत्ति आरम्भ से साहित्यिक रूप को प्राप्त कर नाट्यशास्त्र में अभिनय के नाम से अभिहित होती है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्य क्यों और किसलिए दूसरों का अनुकरण करना चाहता है? इसका उत्तर बहुत ही सरल है। इस संसार में सभी मनुष्य अपूर्णता लिए हुए होते हैं और यह भी एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अपूर्ण मनुष्य पूर्ण बनने का भरसक प्रयत्न करता है। वास्तव में यही प्रवृत्ति अनुकरण की जन्मदात्री है, जिसकी पूर्ति के लिए वह दूसरों के हाव-भाव, वेश-भूषा, क्रियाकलाप, यहाँ तक कि चाल-ढाल का भी अनुकरण करना चाहता है। ऐसा करने में अनुकर्त्ता को असीम आत्मतुष्टि एवं प्रसन्नता की प्राप्ति होती है। इस सम्बन्ध में हिन्दी के प्रमुख एकाङ्कीकार डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्द उल्लेखनीय हैं,—"यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य को जो बात अच्छी लगती है, उसे वह बार-बार देखना या पाना चाहता है। उसके लिए वह प्रयत्न करता है। जिस ढङ्ग से उसकी मनःतुष्टि होगी वही ढङ्ग, वही शैली, वही रूप वह धारण करेगा और इस प्रकार उस का यह प्रयत्न नाटकीय वृत्ति को प्रश्रय देगा।[1] उपरोक्त कथन से यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य की यही पूर्ण व विराट् बनने की प्रवृत्ति नाटक को जन्म देती है।

आत्मविस्तार की यही भावना आत्मप्रकाशन अथवा आत्माभिव्यक्ति को जन्म देती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य आत्माभिव्यञ्जन करने वाला प्राणी है। उसे जो वस्तु सुन्दर, आकर्षक एवं दृष्टव्य प्रतीत होती है, उसे वह केवल स्वयं ही देखकर अथवा अनुभव कर तुष्ट नहीं होता, वह उसे दूसरों को दिखाने के लिए भी उत्कंठित हो जाता है और जब तक उसे पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं कर देता तब तक उसे मानसिक शान्ति नहीं मिलती। जे० डब्लू मेरियट के अनुसार, "वह अपने उस भावोद्वेग को नृत्य-संगीत, कायिक हलचल, मुख के विभिन्न हाव-भावों, अंगों-प्रत्यंगों के तोड़-मरोड़ तथा आन्तरिक भाव-विन्यास के अनुसार गतिशील अभिनय के द्वारा व्यक्त करता है। बिना क्रियाओं, मुख-मुद्राओं या कायिक अभिनय से उसे परितुष्टि नहीं होती। जब हम किसी मर्मस्पर्शी घटना का वर्णन करते-करते शब्दों को अभिव्यक्ति के लिये अपूर्ण पाते हैं, तो स्वभावतः हाथों से स्थिति को अभिनय द्वारा प्रकट कर देते हैं।[2]"

---

[3] साहित्यालोचन—पृष्ठ ८६, तेरहवीं आवृत्ति।

[4] अभिनव भरताचार्य पण्डित सीताराम चतुर्वेदी कृत 'समीक्षा शास्त्र' पृष्ठ ७६७, सं० १६५४।

[5] (क) "ज्योंही यह प्रवृत्ति नाट्य का रूप धारण करण लेती है अर्थात् इसमें हाव-भाव, सङ्गीत, नृत्य आदि का समावेश होकर वेशभूषा की नकल करके मनुष्य दूसरे का स्थानापन्न बनने लग जाता है त्योंही मानो नाट्यमन्दिर पर चढ़ने की प्रथम सीढ़ी का निर्माण कर देती है। बस यहीं से नाटक की उत्पत्ति हो जाती है।"—श्री चन्द्रराज भण्डारी : नाट्यकला दर्शन—पृष्ठ ११ प्रथम संस्करण।

(ख) "अनुकरण का ही एक उच्च तथा कलापूर्ण रूप नाट्यशास्त्र में अभिनय के नाम से व्यवहृत है।"—श्री दिनेश उपाध्याय : हमारी नाट्यपरम्परा। पृष्ठ १, प्रथम संस्करण।

[1] 'दीपदान' (पाँच मौलिक अभिनेय एकांकी) 'नाटकों के सम्बन्ध में' (भूमिका) पृ० ६ द्वितीयावृत्ति।

[2] 'वन एक्ट प्लेज ऑफ टुडे', पृष्ठ २६२ (डॉ० रामचरण महेन्द्र की पुस्तक—हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाटककार, पृष्ठ १ से उद्धृत पंक्तियाँ, सं० १६५५)

इस प्रकार जब भावों और अनुभूतियों की प्रेरणा मानव के मन और मस्तिष्क से घनीभूत हो जाती है तो वह उनकी अभिव्यक्ति में संलग्न होता है अर्थात् किसी न किसी प्रकार से अपनी उन अमूर्त्त भावनाओं को मूर्त्त रूप देने का प्रयास करता है। उसकी यह आत्मानुभवों को दूसरों के समक्ष प्रकट करने की सहज प्रवृत्ति तथा अपनी उन अभिव्यक्तियों को नई-नई शैलियों से भरकर अधिक से अधिक आकर्षक रोचक एवं प्रभविष्णु बनाने का प्रयास ही नाटक को जन्म देता है। अन्य साहित्यांग-उपन्यास, कहानी एवं काव्य भी इसी आत्माभिव्यक्ति का परिणाम है।

कई विद्वान जाति रक्षा की भावना को भी नाटक को जन्म देने वाली मूल प्रवृत्ति मानते हैं।[3] वास्तव में जातिरक्षा को भावना तो दाद को चीज है। नाटक को जन्म देने वाली प्रमुख प्रवृत्ति तो आत्म-प्रकाशन की है, जिससे विवश होकर मानव अनुकरण करने की ओर झुकता, अन्यथा उसके हृदय पर मनों बोझ पड़ा रहता है। अपना सुख-दुख व अनुभव दूसरों के समक्ष प्रकट करके ही वह मानसिक सहायता का अनुभव करता है।

निष्कर्ष—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि नाटक हमारे जीवन का औचित्यपूर्ण यथार्थ अनुकरण है। सांसारिक प्राणियों के चरित्र न तो एक समान ही होते हैं और न ही उनकी अवस्थाओं में एकात्म्य अथवा तादात्म्य ही होता है। किसी व्यक्ति को हम इस संसार में ही स्वर्ग का आनन्द लूटने पाते हैं, तो किसी दूसरे को दुःख और विपत्तियों के नरकमय गर्त में भाग्य को कोसते हुए पाते हैं। नाटक द्वारा विभिन्न लोगों की क्रियाओं का सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्रण इन्हीं नाना भावों से सम्पन्न एवं नाना अवस्थाओं से परिपूर्ण होकर किया जाता है परन्तु यह सब अनुकरण पर आधारित है—चाहे वह किसी व्यक्ति के स्वर, वेशभूषा एवं कार्यों का ही हो। यह अनुकरण जितना सजीव एवं स्वाभाविक होगा उतना ही नाटक प्रभावशाली होगा। इसमें इतना अवश्य होता है कि दर्शकों का सामूहिक सहयोग जातीय जीवन की सुन्दर छटा अवश्य प्रदर्शित करता है। उपर्युक्त आधार को दृष्टिगत रखते हुए अन्त में आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी के शब्द उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा—"नाटक का व्यापक अर्थ अनुकरण करना है—किसी के इशारों को, किसी की बातों को तथा किसी के कार्यों के तद्वत् करके बतलाना, नाटक कहलाता है।"[1]

[3] श्री गुलाबराय—हिन्दी नाट्य विमर्श, पृष्ठ १२, संस्करण १९४२।

[1] आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'नाट्यशास्त्र' पृष्ठ ४, तृतीयावृत्ति।

छतरपुर का वार्षिक हिन्दी खोज विवरण

श्री रघुनाथ शास्त्री

विन्ध्य प्रदेश में काशी नागरी प्रचारिणी सभा (बाराणसी) द्वारा निरन्तर ६ वर्षों से प्राचीन हिन्दी हस्तलिखित साहित्य की खोज हो रही है। प्रसन्नता की बात है कि म० प्र० शासन से इस वर्ष के अन्त में सभा को ५५००) का अनुदान मिला है। बघेलखण्ड की खोज सामग्री द्रव्याभाव के कारण सम्पादनार्थ एवं प्रकाशनार्थ सभा में सुरक्षित है। इस कार्य की पूर्ति का श्रेय भी म० प्र० शासन को ही होगा! बुन्देलखण्ड की खोज सामग्री भी एकत्रित होती चली जा रही है।

वस्तुत: म. प्र. शोध सामग्री का विस्तृत भूभाग है। सदियों से गाँवों के कोने-कोने में शोध सामग्री खङ्गलकर नष्ट होती चली जा रही है। समय जैसे-जैसे नित्य नए नए रूपों में परिवर्तित होता चला जा रहा है वैसे वैसे प्राचीन साहित्य दीमक चूहों आदि के कारणों से नष्ट होती जा रही है। इस स्थिति में म. प्र. शासन १००००) वार्षिक अनुदान वांछित है जिसे दो साहित्यान्वेषकों द्वारा समय रहते शेष सामग्री को अपनाया जा सके। अब तक विन्ध्य प्रदेश के ५ जिलों का सर्वेक्षण किया जा चुका है। संप्रति दो वर्षों से छतरपुर जिले में अच्छा कार्य चल रहा है।

गत वर्ष की भाँति इस वर्ष भी प्रो० विद्याभूषणजी मिश्र के निरीक्षण में (श्री रघुनाथशास्त्री मानस भवन छतरपुर) में छतरपुर जिले का शोध कार्य किया। २२१० मिलों की यात्रा द्वारा ३३५ ग्रन्थों में विवरण लिए गए। उनकी पत्र संख्या २११०८ तथा अनुश्लोक संख्या ३६०१६५ थी। ८८ हस्तलिखित सभा को प्राप्त हुए।

विवरण में प्राप्त ग्रन्थों का यथा संख्या विषय विभाजन इस प्रकार है :—

भक्ति १६१, कथा २२, जैनागम १८, नाटक १, कर्मकाण्ड १८, मोक्ष ११, ज्ञानोपदेश २२, नीति ४, स्वरोदय ३, वेदान्त ६, वैद्यक ५, शृङ्गार ८, स्तोत्र ३, वैराग्य ५, काव्य ३, कोश ३, धर्मशा० १, चरित्र ६, ज्योतिष ७, पुराण, ६ रीति २, स्वप्न-परीक्षा २, मुनीमी १, संगीत १, राजनीति १, बारामासी १, शकुन ११, यात्रा १, महात्मा ४, दर्शन ४ आध्यात्म १, विविध २।

विवृत्त ग्रन्थों की विक्रमाब्द सारणी इस प्रकार है :—

१४ वीं के दो ग्रन्थकार ३ ग्रन्थ। १६ वीं १ ग्रन्थकार २ ग्रन्थ। १७ वीं के १२ ग्रन्थकार १२ ग्रन्थ। १८ के ३७ ग्रन्थकार ३३ ग्रन्थ। १६ वीं के २८ ग्रन्थकार ३५ ग्रन्थ। २० वीं के ७ ग्रन्थकार ८ ग्रंथ। तथ्रज्ञानामा ७६ ग्रन्थकार २४२ ग्रन्थ। तदनुसार १५६ ग्रन्थकार ३३५ ग्रन्थ विवृत्य किये गये।

विवरण में प्राप्त महत्वपूर्ण सामग्री नीचे दी जाती है उसमें एक विराम के भीतर ग्रन्थ, ग्रन्थकार और लिपिकाल दिया है :—

परम हंस चौपाई ब्रह्मराइ १७०५ वि०। महाराजा श्रेणिक चरित्र, लक्ष्मीदास। परमानन्द विलास भाषा, देवीदास, १६२० वि० समाधिमरन, सं० १६०६ वि०। सलूनों कथा, विनोदीलाल १८७० वि०। खष्ट जगत सेवाविधि, रामचरण, १६४६ वि०। रामचन्द विलास, नवलसिंह। अनन्य चिन्तामणि, कृपा निवास १०५२ वि०। युगल वरन विलास, युगलजन-दरशन १६७३ वि०। खूब तमासा, गोपाल, १६०६ वि०। सिविर महातम, लालचन्द १८६३ वि०। स्वरोदय मोहनदास। भिषज प्रिया, सुदरशन। प्रेमलतिका, रसिकबल्लभशरन। धर्ममूर्ति ग्रन्थ सं० १७६४ वि०। पंचकल्पनक पूजा विधान, जवाहरदास १५४१ वि०। धर्मसार पं० शिरोमणिदास १८२२ वि०। पंचकल्यानक, रूपचन्द १७६६ वि०। भगवानजी के छिपिंहा, उत्तम। सुधासर, नवीन १६०१ वि०। शब्दसागर सं०

१८६३ वि०। सीधाषण १८८१ वि०। भक्त सुधा-मंजरी, हरिदास। क्रस्याइन सिवदास २८८८ वि०। कर्तव्य प्रकास, छेमराम। भगवतसार पचीसी, गो० चन्दलाल। कषौतीचरित्र, चतुरसिंह। सिध्यान्तविचार, प्रीतिचौबीसी, ध्रुवदास प्रश्नमाला, १८८८ वि०। परदवन चरित्र १९०४ वि०। रसोई १७९९ वि०। रामकूट विस्तार, मानदास। धर्मप्रकाश, बुधजन। जातक मत भाषा निबन्ध, भगबान। घनारि, धरमदास १७९९ वि०। षटबली जैमुनकथा, रामाइन, बिचबानी १७६० वि०। सिंगार कुण्डली, लक्ष्मीप्रसाद मुसाहिब १९२८ वि०। रतन परीक्षा, रतनसागर, दफ़तरनामा, हिम्मत-सिंह १९३३ वि०। सिंघासन वत्तीसी, छत्रसिंह १७६१ वि०। बल्लभाष्टक विवरण, गोकुलनाथ। सिद्धान्त मुक्तावती, अमरदास। भाषानिदान, गोपालकवि १९२३ वि०। जिनस्त्रीव्रत कथा, भीमसेन। सन्तानमुक्तावली, नृसिंहदास, १९४६ वि०। सिंगारचेतावनी, राजनीति चन्द्रिका, १०१२ वि०। वर्षाऋतुवर्णन, सीलमणि १९४६ वि०। भरत की बारामासी, दरियावसिंह १९१२ वि०। अष्टावक्र १९४१ वि०। चित्रकूटसत, नाथूराम चतुर्वेदी। पदसंग्रह; प्रेमसखा १९४१ वि०। समबसरन पूजा, लालकवि १९४४ वि०। मोक्षमार्ग प्रकाश, टोडरमल १८८४ वि०। सुदिष्टतरंगिनी १९१४ वि०। समाधितन्त्र भाषा पर्वत १९१२ वि०। चारुदत्त की कथा, भारामल्लसिंघ १८४३ वि०। तारातमोल की वार्ता, बुलाखीदास १९५१ वि०। मौहरम की सगुनौती, १८५१ वि०। परदवनकथा १८०२ वि०। आचार चरचा सतक, द्यानत १९१० वि०। कार्तिक महात्म भाषा, बिहारी पाठक १८९९ वि०। सम्बल कौमुदी कथा भाभा, जोधराजकवि। छदमस्तवाणी, तारनतरन १८७२ वि०। द्रव्य संग्रह, पर्वत धर्माथी १८०६ वि०। मंगल, रूपचन्द। पदसंग्रह, चन्द। ब्रह्म विलास, भगौतीदास १९०९ वि०। प्रसाद लताभरसिक दास, रामान्दिक चरित्र, नारायणदास १९४६ वि०। शिषरपचीसी, छेमकरन। लघुपंचपकल्पानक, उडगनपति ११३७ वि०। मालोचकवर केमवांतर, देवीदास। आत्मानुशासन भाषा, टोडरमल्ल १८८० वि०। देवा-नामस्तोत्र भाषा वचनिका, जयचन्द्र १९१३ वि०। स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षण भाषा, जयचन्द्र १९१४ वि०। धर्मपरीक्षा भाषा, मनोहर १८९७ वि०। श्रावकाचार, बुलाकीदास १८४६ वि०। द्रव्याश्रव कथाकोश रामचन्द्र आदि १८७० वि०। हनूचरित्र, रामाश्वमेध, मीखनदास १९२१ वि०। ग्रीषमकुंज प्रकास, हरिजन। जम्बूस्वामीचरित्र, जिनदास १८०९ वि०। अनन्यसार, गो० जतनलाल १९५७ वि०। रामननासिका, प्रेमसखी १९१२ वि०। पदसंग्रह, परसुराम। भगवती आराधना भाषा, सदासुख १९१४ वि०। ज्ञानानन्द, सिवराइ १९१० वि०। प्रवचनसारभाषा, हेमराज १९०७ वि०। पदमपुराण भाषा, दौलतराम। श्रीपाल कथा, जग-जीवन १८०४ वि०। धरम ग्रन्थ, आसाराम १८०४ वि०। गुणनिधिसर, ननेश सुकवि १९३५ वि०। ग्यान चौतीसी, बालकदास। ज्ञानार्णव भाषा, जैचन्द्र १९१५ वि०। तत्वकौस्तुभभाषा, ३-४-५ अ०। अमृतधारा, भगवानदास १८९५ वि०। रसदीपक, बदनेश १८१७ वि०। मधुप्रिय टीका, भजनेस १८८४ वि०। सीता चरित्र, रविकोण १८८७ वि०। बाइस परीक्षा १८९९ वि०। मुहर्रम, कर्त्तसिंह १९२२ वि०। एकादसी महात्म, विष्णुदास। परमात्माप्रकाश, रूपचन्द्र १८४८ वि०। पंचकल्यानक पूजाविधान, जवाहरदास १९२२ वि०। समयसार नाटक सटीक, राजमल्ल पाण्डेय १८७५ बि०। जैनविलास सतक, भूधर १९१८ विं०। तीन चौबीसी विधान, घोपीलाल १९१३ वि०। अनन्यरसि-काभरण, भगवत रसिक। धर्मपन्थ, आसाराम १८९९ वि०। वर्तमान जिन पूजा, देवीदास १८२२ वि०। नरसिंह पंचासिका, सुवंस। बुधजन सतसई, बुधजन। हरिचरित्र, रामदास नेमा १८८३ वि०। करतापचीसी, भगौतीदास। पुष्पाश्रय भाषा, दौलतराम। स्वप्नध्याई, उत्तमदास। चरचासमाधान, भूधर १९१० वि०। समय-सरण पूजा पाठ, सबसुखदास १९२८ वि०। पुष्पांजली व्रतकथा, भीमसेन। सनेह सागर, बगसी हंसराज १८९५ वि०। दशलाक्षणी व्रतकथा, ब्रह्मज्ञान सागर। आदि-वाणी युगछलत, श्रीधर, १९५० वि०। मंजावली, वृन्दावनदास। हरिलीला प्रिया सखी। नीलसखीजू की

उदात्त सौन्दर्य और साहित्य

डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

सौन्दर्य की जीवन में जो महिमा है, साहित्य में भी उससे कम उसका महत्व नहीं है। जीवन के समस्त व्यापारों में सौन्दर्य की माँग रहती है। मनुष्य जहाँ रहता है, उसे सुन्दर बनाने की सहज इच्छा उसके मन में उत्पन्न होती रहती है। साधन-हीन और साधन सम्पन्न सभी मनुष्य अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपने रहन-सहन में सुन्दरता लाने की चेष्टा करते हैं। इसी चेष्टा के परिणाम-स्वरूप संस्कृति का विकास होता है। अतः सौन्दर्य केवल जीवन का ही एक मूल्य नहीं, संस्कृति का भी महत्वपूर्ण अङ्ग है। साहित्य जीवन की भावात्मक सत्ता होता है, अतः जीवन के इस महत्वपूर्ण मूल्य का उसमें प्रतिष्ठित हो जाना स्वाभाविक है। जो मनुष्य अपने जीवन में 'असुन्दर' को पसन्द नहीं करता वह साहित्य में 'असुन्दर' का साक्षात्कार करने के लिये कैसे प्रस्तुत हो सकता है? जीवन का प्राकृतिक रूप कैसा भी असुन्दर क्यों न हो, किन्तु मनुष्य अपने प्रयत्न से उसके सांस्कृतिक रूप तथा स्थायी भाव-कोष साहित्य को सदैव सुन्दर बनाने की चेष्टा करता रहता है। अतः सौन्दर्य साहित्य का एक अनिवार्य तत्व बन गया है। जिस प्रकार प्राण के बिना शरीर की कल्पना व्यर्थ है, उसी प्रकार सौन्दर्य के बिना साहित्य की सत्ता संभव नहीं हो सकती।

जीवन की घटनाएँ साहित्य में स्थान पाती हैं, किन्तु उनके तत्व बदल जाते हैं। जीवन में जो घटना दुःखात्मक होती है, वह साहित्य की भाव-भूमि में प्रवेश करके रस करुण या वीभत्स भले ही हो, किन्तु यह पाठक के मानस में अलौकिक आनन्द की स्थिति ही उत्पन्न करता है। जीवन और साहित्य का यह अद्भुत अन्तर दोनों के सौन्दर्य का ही अन्तर है। वस्तुतः जीवन में सुन्दर और असुन्दर का सङ्घर्ष चलता रहता है। जीवन और मृत्यु परस्पर सम्बद्ध हैं। किन्तु साहित्य के विराट् परिवेश में राहित्य या 'अहित्य' का प्रवेश नहीं हो सकता। यह सरस्वती का ऐसा पवित्र मन्दिर है, जिसमें अन्धकार भी प्रकाश बनकर आता है तथा मृत्यु को भी शाश्वत जीवन का रूप धारण करना पड़ता है। यही कारण है कि जीवनगत सौन्दर्य से साहित्य-गत सौन्दर्य भिन्न है।

सौन्दर्य के प्रभाव की प्रतिक्रिया दो प्रकार से सम्पन्न होती है। जीवन में जब हम कोई सुन्दर वस्तु देखते हैं तो या तो उस पर अपना अधिकार करने की चेष्टा करते हैं और अधिकार करके उसके सौन्दर्य का भोग करने को लालायित होते हैं या हम सौन्दर्य की रक्षा करने के लिए प्रेरित होते हैं तथा सुन्दर वस्तु को सजीव रखने के लिए पुरुषार्थ दिखलाते हैं। यों सौन्दर्य के प्रति प्रथम प्रतिक्रिया यदि मांग में समाप्त हो जाती है तो द्वितीय प्रतिक्रिया त्याग की ओर प्रेरित करती है। जो प्रतिक्रिया हमारे चित को भोगोन्मुखी करके अपकर्म की सीमा में ले जाती है, वह सौन्दर्य के दुर्बल पक्ष की सूचना देती है। द्वितीय प्रतिक्रिया त्याग, बलिदान आदि के भावों से हमारे चित्त को उत्कर्ष प्रदान करती है! यही प्रतिक्रिया उदारता की सूचक है। अतः जिस सौन्दर्य से यह प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, उसे उदार सौन्दर्य कहना चाहिये। साहित्य में इसी सौन्दर्य को स्थान मिलता है।

बानी, द्वादस जस, चतुर्भुजदास १९१३ वि०। व्रज-भक्त प्रकाश, रूपलाल। सखीसरन की बानी, सखीसरन १९१६ वि०। ऊषा कथा, रामदास १९०३ वि०। चन्द्रकलाधर, बैनप्रसाद। जोतिस्सार, कृपाराम कायस्त १९५० वि०। धनकलस व्रत, कथा, मनोहर। छतरपुर जिले का शोध कार्य १९६४ ई० में समाप्त होने जा रहा है।

—मानस भवन, छतरपुर।

वस्तुतः उदात्तता ही सौन्दर्य की सच्ची अनुभूति का परिचय देती है। जो साहित्यकार जीवन में सौन्दर्य की गहरी अनुभूति से अनुप्राणित नहीं होता वह साहित्य में भी उदात्त सौन्दर्य को स्थान नहीं दे सकता। साहित्यकार की अनुभूति जितनी गहरी तथा सच्ची होती है, उतना ही अधिक वह जीवन के अनुदात्त सौन्दर्य को भी उदात्त बनाकर साहित्य में लाने का प्रयास करता है। साहित्य के सौन्दर्य की उदात्तता का स्पर्श पाकर पाठक का मानस नए आलोक से जगमगा उठता है और वह अपने जीवन के अनुदात्त सौन्दर्य को उदात्त बनाने की प्रेरणा पाता है। अतः साहित्यकार को अपनी अनुभूतियों को उदात्त सौन्दर्य की कसौटी पर कसकर जीवन के समस्त-चित्रण में अनुदात्त तत्त्व का परिष्कार करते रहना चाहिए, तभी यह अपनी रचना के सौन्दर्य का जनहिताय सम्प्रेषण कर सकता है।

उदात्त सौन्दर्य साहित्य में उन भावनाओं को प्रविष्ट नहीं होने देता जो भावनाएँ सार्वजनीन और सार्वभौमिक होने की सामर्थ्य नहीं रखतीं। किसी एक वर्ग या सम्प्रदाय की दृष्टि से यदि कोई साहित्य इसलिए उच्चकोटि का है, क्योंकि यह साहित्य विपक्षी की निन्दा का साधन है, तो वह साहित्य उदात्त सौन्दर्य से युक्त नहीं माना जा सकता। किसी देश की महत्ता सिद्ध करने के लिए यदि साहित्य अन्य देशों के प्रति अवांछित भाव प्रदर्शित करे, तो वह असुन्दर पर आधारित होने के कारण साहित्य के पद से च्युत हो जायेगा। साहित्य का अनिवार्य धर्म है कि वह ऐसे सौन्दर्य का साक्षात्कार कराए जो वर्ग, सम्प्रदाय, देश आदि की भिन्नता समाप्त कर के अभेद का अनुभव कराये। जिस साहित्य में यह शक्ति होती है, उसी में उदात्त सौन्दर्य रह सकता है और उसी को साहित्य की संज्ञा देना भी उचित है।

उदात्त सौन्दर्य किसी समुदाय या साहित्यकार विशेष की व्यक्तिगत सम्पति नहीं है। हमें उसे मनुष्य की निर्मल चेतना का शाश्वत प्रकाश मानना चाहिए। इस प्रकाश में जीवन का अन्धकार भी कान्ति बन जाता है। दुर्भावनाएँ अपनी कालिमा त्याग कर मुस्कराते सुमनों का रूप धारण कर लेती हैं तथा दुखी नेत्रों में भरे रात्रि की ओस के समान अश्रु निर्मल मुक्ताओं के रूप में परिणत हो जाते हैं। साहित्य के उदात्त सौन्दर्य में ही वह शक्ति होती है जिससे हृदय-हृदय में सात्विक भावना का उन्मेष हो जाता है। पाठक भाव की भूमि पर जिस वस्तु का दर्शन करता है, उसमें उसकी तन्मयता स्थापित हो जाती है और वह अनायास अपने चित्त का विस्तार करने में समर्थ होता है। मन का समस्त मालिन्य ही नहीं धुलता अपितु समस्त संकीर्णतायें भी टूट कर विराट् का साक्षात्कार करती हैं। उदात्त सौन्दर्य की भावना पाठक या द्रष्टा को ऐसी उच्च मानसिक स्थिति में पहुँचा देती हैं, जहाँ वह समस्त लौकिक वासनाओं से मुक्ति का अनुभव करता हुआ सच्ची सौन्दर्यानुभूति का आस्वादन करता है। यहाँ वह स्वयं को सौन्दर्य के मर्म में प्रविष्ट पाता है, जिसके फलस्वरूप बाह्य कृत्रिम सौन्दर्य के समस्त क्षणिक आकर्षण समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार साहित्य का उदात्त सौन्दर्य जीवन में ही जीवन मुक्ति की पवित्र आनन्दनुभूति प्रदान करता है।

साहित्य में सुन्दरम् के साथ सत्यं और शिवं नामक दो अन्य मूल्यों की भी गणना की जाती है। ये सत्य और शिव उदात्त सौन्दर्य के ही दो अन्य पक्ष हैं। सत्य कभी नष्ट नही होता, अपितु वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में उसकी सत्ता मानी गई है। साहित्य का ऐसा सत्य उदात्त सौन्दर्य ही है। जो वस्तु कभी नष्ट होती है, उसके रूप में परिवर्तन अनिवार्य है और जिस वस्तु के रूप में परिवर्तन होता है, वह वस्तु सौन्दर्यगत उदात्तता की रक्षा नहीं कर सकती। जीवन स्वयं में इतना सुन्दर प्रतीत होता है, किन्तु जब मृत्यु उसको बदलने के लिये आ खड़ी होती है, तो उसका समस्त सौन्दर्य कल्पित जान पड़ने लगता है—जीवन का समस्त आनन्द मूलतः दुखात्मक प्रतीत होने लगता है। अतः सौन्दर्य विहीन सत्य की कल्पना नहीं की जा सकती। जहाँ भी त्रिकाल स्थिति रखने वाला सत्य होता है वहाँ उदात्त सौन्दर्य की सत्ता अवश्य होती है। सत्यं के लिये

(शेष पृष्ठ १६४ पर)

'दाम' शब्द की व्युत्पत्ति

श्री शैलेश जैदी

हम धड़ल्ले के साथ निःसङ्कोच किसी भी शब्द का उचित-अनुचित प्रयोग करते रहते हैं और क्षणभर के लिये भी उस शब्द की व्युत्पत्ति अथवा उसके इतिहास पर विचार नहीं करते। भाषा-विज्ञान के मनीषियों ने इस क्षेत्र में पदार्पण करके इस खटकती हुई कमी को एक अंश तक दूर किया है और अविरल इस प्रयास में संलग्न हैं। इसी प्रयास की एक कड़ी के रूप में हम 'दाम' शब्द के इतिहास पर विचार करेंगे।

सामान्यतः हम जिस 'दाम' शब्द का आज प्रयोग करते हैं उससे हमारा अभिप्राय कीमत या मूल्य से होता है। संस्कृत में दाम शब्द रस्सी के अर्थ में प्रयुक्त होता है और फारसी में यह शब्द जाल के अर्थ में चलता है। किन्तु इस दाम शब्द से हमारी बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त होने वाले दाम शब्द का कोई मेल नहीं। दाम शब्द का इतिहास जानने के लिए हमें आज से दो हजार वर्ष पीछे लौटना होगा। एक समय था जब ग्रीक के व्यापारी सम्पूर्ण एशिया पर छाये हुए थे। उस समय मिस्र, शाम, ईराक, ईरान और भारत इत्यादि सभी देशों पर यूनानी सिक्के चलते थे और बोल-चाल में इनके यूनानी नाम ही प्रचलित थे।

यूनान (Greek) के सबसे कम मूल्य वाले चाँदी के सिक्के का नाम (Drachma) 'द्रखम' था। यह शब्द अरबी भाषा में आकर दिर्हम् बना और फारसी भाषा में बीच से एक अक्षर गिराकर इसी शब्द को दिरम् बना लिया गया। भारत में जब इस शब्द का प्रचलन हुआ तो फारसी शब्द का बीच का अक्षर 'र' लुप्त हो गया और उसका स्थान दीर्घ स्वर 'आ' ने ले लिया। इस प्रकार यह शब्द दिरम् से दाम् बन गया। यह शब्द जिस प्रकार एक विशेष सिक्के की ओर संकेत करता था, सिक्के का वजन भी बताता था। यही कारण है कि अरबी 'तिब' में औषधियों के अनुपात दिर्हम और फारसी तिब में दिरम से बताए जाते थे। इसी शब्द ने जब अंग्रेजी हैट सर पर रख ली तो दिरम से ड्राम हो गया।

अकबर के समय में 'दाम' चाँदी के सबसे छोटे सिक्के के स्थान पर ताँबे के सबसे निकृष्ट सिक्के को कहते थे। इसे पैसा कहा जाता था। यह रुपये का चालीसवाँ भाग होता था। फिर एक दाम को पचीस भागों में बाँटकर उसके हर भाग को 'चीतल' कहते थे। अब इसे गण्डा कहते हैं। वैसे गण्डा शब्द प्रसिद्ध लेखक फैजी के सुविख्यात ग्रन्थ 'आइनए अकबरी' में भी पाया जाता है।

इसी बँटवारे से एक मुहावरा पूर्वी भाषा में प्रचलित था। प्रत्येक गाँव की पूँजी सोलह आने अनुमान की जाती थी और यह आने फिर पाई और दाम पर बाँटे जाते थे। जिसकी गाँव में १६ आने जमींदारी होती थी वह सबसे बड़ा जमींदार होता था। एक 'दाम' का आधा अधेला और चौथाई पाओला कहलाता था। पाओले के आधे भाग को 'दमड़ी' कहते थे और यह दमड़ी शब्द भी इस प्रकार दाम का ही बिगड़ा हुआ रूप हुआ।

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रस्तुत दाम शब्द जिसका प्रयोग हम मूल्य के अर्थ में करते हैं वह उसी सिक्के के स्मृति-चिन्ह के रूप में है जिससे पहले वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण और क्रय-विक्रय किया जाता था। आईनए अकबरी के लेखक के अनुसार एक मन ताँबे में एक हजार चौवालीस 'दाम' तैयार होते थे।

—अलीगढ़ विश्वविद्यालय।

प्रिय महेन्द्रजी,

"बाबू गुलाबराय स्मृति अङ्क देखा। अङ्क अच्छा है और इसके द्वारा आपने अपने कर्तव्य का पालन किया है।"

—सम्पूर्णानन्द

राज भवन, जयपुर।

गोस्वामी रसालगिरि रचित स्वरोदय भाषा का रचना काल

श्री अगरचन्द नाहटा

भारतीय ज्ञानविज्ञान प्राचीन काल में बहुत ही उन्नत था। हमारे मनीषियों ने जीवन क्षेत्र के बीच अनुभव प्राप्त करके तथा एकान्त वनों में तप साधना तथा चिन्तन मनन द्वारा ज्ञानविज्ञान की अनेक शाखाओं का अद्भुत विकास किया। पर मध्यकाल में देश की राजनैतिक, सामाजिक और प्राकृतिक विकट परिस्थितियों आदि के कारण बहुत सी विधाएँ तथा आस्थाएँ लुप्त हो गई। हमारे अनेक ज्ञानी पुरुषों ने अयोग्य व्यक्तियों को विधाएँ देने की अपेक्षा लुप्त होने देना ही उपयुक्त समझा। क्योंकि कई अनधिकारी व अयोग्य व्यक्तिवों ने परम्परागत प्राप्त ज्ञान का दुरुपयोग किया। इसलिये कई विचारकों ने अपने ज्ञान का दुरुपयोग न हो, इस भावना से अपनी विरासत भावी अयोग्य पीढ़ी पर नहीं सौंपी।

प्राचीन भारतीय साहित्य में हम मन्त्र-तन्त्र के अद्भुत प्रभाव की अनेक कथाएँ पाते हैं पर उन मन्त्र-तन्त्र की सिद्धि के उपयुक्त साधना नहीं करके लोगों को ठगना व धोखा देना प्रारम्भ कर दिया इसलिये उन मन्त्र तन्त्रों की वह अद्भुत शक्ति तिरोभूत होगई। ज्योतिष के द्वारा भूत, भविष्य, वर्तमान प्राचीन ज्योतिषी बतलाया करते थे और वह प्रायः सही निकलता था। पर आज के ज्योतिषियों की अधिकांश बातें अन्यथा सिद्ध होती दिखाई देती हैं। इसीलिये आधुनिक पढ़े लिखे लोगों का तो हमारे उन मन्त्र-तन्त्र ज्योतिषादि के प्रति तनिक भी श्रद्धा नहीं दिखाई देती। इतना ही नहीं वे उसे गपोड़े बतलाते हुए मखौल उड़ाते हैं। हमें अपनी प्राचीन विद्याओं का समुचित विकास करने के लिये उचित प्रयत्न करना आवश्यक है।

स्वरोदय विज्ञान भारत का एक प्राचीन विज्ञान है जिसके पीछे सैकड़ों ऋषि मुनियों के वर्षों के अनुभव संचित हैं। कहा गया है कि इस विज्ञान की उत्पत्ति भगवान शङ्कर महादेव से हुई। इस सम्बन्ध में कई संस्कृत रचनाओं के साथ-साथ हिन्दी राजस्थानी रचनाएँ भी प्राप्त हैं जिनमें से एक महत्वपूर्णं हिन्दी रचना का परिचय नीचे दिया जाता है।

स्वरोदय भाषा—गोस्वामी रसालगिरि कृत, पद्य ३४०, आदि—

सवैया

भाल[1] विशाल लसै विधु चारु,
सुहारु हिये मनको छबि छायौ।
शंकर पुत्र विचित्र दयानिधि,
दीनदयाल सदा अपनायौ॥
गावत वेद सुभेद न पावत,
ध्यावत देह तिन्हें मन भायौ
मेरु रसाल भनै करि जोरि,
सुभेद सुरोदय मोहि बतायौ॥१

दोहा

मेक[2] रदन गज बदन बुधि, सदन सुतनय महेश।
विघन हरन मङ्गल करण, नासन सकल कलेश॥२
कृपा करो निज दास गुनि, दे मति सुमति निवास।
कहों स्वरोदय भेद सब, भाषा बाग विलास॥३
करों चहत या ग्रन्थ कों, भाषा मति अनुरूप।
जिहि ते पूरण होइ सो, कृपा करो गण भूप॥४
मोहि न अङ्ग उपाव कछु, जानत भेद न एक।
तिहि तें तुम बीनति करों, दीजै सुमति विवेक॥५
भीमसेन मम सुहृद अति, तासु अनुज लघु जानि।
लेखराज तिहिं नाम शुभ, सकल गुणन की खान॥६
तिन मो सन ऐसी कही, गिरि रसाल सुनि लेहु।
भेद सुरोदय ग्रन्थ को, भाषा किनि कर देहु॥७
तिनकी प्रीति प्रतीति लखि, भाव हृदें को देख।
कहों सुरोदय ग्रंथ को, भाषा अर्थं विशेष॥८

[1] माल। [2] एक।

एक बार जग दे बिका; उमा महा मुख खान।
सिव सों बोलि वचन मृदु, जोरि सरोरुह पानि ॥६

अन्तः—

शान्ति शुद्ध आचार शुभ, गुरु सुभक्ति मन एक।
अति कृतज्ञ दृढ़ चित्त जो, अति हित सुभग विवेक ॥३०
ऐसे को दीजै सुनों, सुभग सुरोदय ज्ञान।
लेखराज चित जानि कै, मानों वचन प्रमाण ॥३१
दुरजन छुद्र सुदुष्ठ कों, अति असान्त जो होइ।
गुरु वचन लोपन करै, दुराचार लखि सोइ ॥३२
ऐसे को नहि दीजियै, भेद स्वरोदय सार।
सिव जू गिरिजा प्रति कह्यौ, यह विधि करौं विचार ॥३३
जो या ग्रन्थ विचित्र कों, पढ़ै सुनै मन ल्याइ।
महा सुख मन विसद, भेद सुरनु को पाइ ॥३४
मैं निज मति अनुसार सों, भाषा करी विचार।
भूलौ अवगुन धरहु जिनि, लीजो सुमति सँभाल[1] ॥३५
मैं सब औगुन कर भरी, गुण नहि जानत एक।
कीनौ नहि सत संग कहूँ, नाहि न विमल विवेक ॥३६
जिम बालक तुतरी कहै, बतियाँ अतिहि सुहाइ।
सुनत मोद जननी जनक, लेवै हृदै लगाइ ॥३७
तिमि सब दूपन सहत है, भनित मोरि सुनि लेहु।
कृपा करो लखि वान[2] जों, बुध जन सरस[3] सनेहु ॥३८

रचनाकाल—

वसु संध्या[4] सब वेद लखि, लोक सोइ सत जानि।
ग्रह तिथि दीप सुखंड रस, संकर नैन बखानि ॥३९
ए संवत मासादि शुभ आश्विन कृष्ण भनन्त।
भयो समापति ग्रंथ इह दशमी शनि दिन अंत ॥३४०

इति श्री ईश्वर उमा संवादे गोस्वामी रसालगिरि कृत सुरभेद[1] कथनं समाप्तं। लिखितं ऋषि जिनदत्त संवत् १८६८ मिती अषाढ़ शुक्लाष्टम्यां मिरजापुर नग्रे शुभं भूयात् श्री कल्याणमस्तु।

उपर्युक्त पद्यों के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना भीमसेन के अनुज लेखराज़ के लिए गोस्वामी रसालगिरि ने की थी। अन्त में रचनाकाल का भी उल्लेख पद्याङ्क ३३९ में है पर वह स्पष्ट नहीं है। लेखराज का नाम ग्रन्थ कई पद्यों में भी आता है। ग्रन्थ ईडा-पिंगला, सुखमना स्वरों के वर्णनान्तर १० प्राणवायु, जीवमंत्र (सोहं) सोमनाड़ी, रवि नाड़ी, गमनादि कार्यस्वर, दिग्शूल, युद्ध प्रश्न, जीवन्मृत्यु प्रश्न, चन्द्रचार प्रशंसा, प्रश्न तिथिभेद, सूर्य चन्द्र चार फल, पञ्चतत्त्व लक्षण, चिन्ह, स्वरूप, नाड़ी लक्षण, बार नाड़ी लक्षण, पञ्च-तत्त्व स्थान, तत्त्वानां कर्माणि, लाभ प्रश्न, चार स्वामी अवस्था, पञ्चतत्त्व गुण, तत्त्व वहत आकार वर्ण लक्षण, वर्षा सुभिक्ष दुर्भिक्ष, विग्रहादि फल, संवत्सर विचार, तत्त्व लाभ, पुत्र-पुत्री ज्ञान, धातुमूल जीव ज्ञान, कार्य-सिद्धि, आगम प्रश्न, जयप्रश्न, मिश्रित तत्त्वै विचार, चन्द्रफल सूर्यफलादि योग, मिश्रित तत्त्व वहन फल, विपरीत लक्षण, कालज्ञान, काल साधन, सन्मुखीकरण आदि विषयों का निरूपण है।

स्वरोदय सम्बन्धी अन्य हिन्दी पद्यबद्ध ग्रन्थों में चरणदास और जैन अध्यात्मिक सन्त चिदानन्दजी का स्वरोदय (सं० १९०५ रचित पद्य ४५३) उल्लेख-नीय हैं व प्रकाशित हो चुके हैं। गद्य-ग्रन्थों में लालचन्द आदि के स्वरोदय भाषा टीका के अतिरिक्त स्वतन्त्र-ग्रन्थों में बीकानेर के एक अनुभवी विद्वान पं० रामेश्वर-लाल जामदग्नेय का तेज स्वरोदय विशेष उल्लेखनीय है।

गोस्वामी रसालगिरि रचित स्वरोदय भाषा का विवरण अब से ५० वर्ष पूर्व सन् १९०९ से १९११ की खोज रिपोर्ट में प्रकाशित हुआ था। उस समय सन् १९०५ की लिखी हुई एक प्रति बाबा लक्ष्मणगिरि गोस्वामी, मैनपुरी के संग्रह में प्राप्त हुई थी। इसके आधर से इस ग्रन्थ का रचनाकाल खोज रिपोर्ट में संवत् १८७४ बतलाया गया था। अब हमें इस ग्रन्थ की संवत् १८६८ की लिखी हुई प्रति प्राप्त हो चुकी है। इसलिये खोज रिपोर्ट में निर्दिष्ट ग्रन्थ का रचना-काल संवत् १८७४ से पहले का सिद्ध होता है। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में रचना संवत् सूचक जो दोहा दिया गया है उससे अब भी संवत् स्पष्ट किया जा सकता है। खोज रिपोर्ट में साधारण पाठ-भेद के साथ यह दोहा इस प्रकार छपा है—

वसु[8] सुध्या[1] शुभ वेद[4] लखि लोक[7] सोइ सत जान।
ग्रह[9] तिथि[5] दीप[7] सुखंड[8] रस[6] शंकर[3] नैन बखान ॥३८

[1] सुधार [2] बाल [3] सरिस [4] सुध्या।

अब देखना यह है कि इससे अगले दोहे में आश्विन कृष्णा दशमी, सोमवार का उल्लेख है—वह किस संवत् में पड़ता है और उपरोक्त दोहे में संख्या सूचक जो शब्द हैं उनकी वास्तविक सङ्गति क्या बैठती है। अभी तक इस ग्रन्थ के रचना काल की समस्या ही नहीं हल हो पाई। विद्वद्गण प्रकाश डालें तो अच्छा है।

उक्त सन् १६०६-११ की खोज रिपोर्ट में रसालगिरि की अन्य रचना वैद्यप्रकाश का विवरण भी प्रकाशित हुआ है। इसमें रचना काल दिया हुआ नहीं है। पर इसकी रचना भी स्वरोदय ग्रन्थ की भाँति भीमसेन के अनुज लेखराज के कहने से ही हुई थी। यथा —

वैश्य वंश अवतंस अति गोवर्धन सुखदाम।
ताके सुत अति ही सुभग तीन महा सुख ग्राम ॥३॥
गिर रसाल और भीम की प्रीति प्रतीत रसाल।
अति गति जति मति है सरन अद्भुत परम विसाल ॥४॥
श्री मथुरा पुर को गए मेरू भीम के संग।
तेहि लघु अनुज सुजान सौं अब तहँ भयो प्रसंग ॥५॥
लेखराज तब मोहि कहि गिरि रसाल सुनि लेहु।
औषधि सुभग समूह को ग्रन्थ मोहि रचि देहु ॥६॥

उक्त खोज रिपोर्ट के आधार से हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण में रसालगिरि गोसाईं का परिचय देते हुए लिखा है—"गोस्वामी मेदिनीगिरि के शिष्य; मैनपुरी निवासी; संवत् १८७४ के लगभग वर्तमान; सं० १८८३ में मृत्यु हुई; अन्तिम काल में संन्यासी होकर रहने लगे; सेठ सेखराज के कहने से इन्होंने दो ग्रन्थ बनाये थे।" वास्तव में सेखराज की जगह लेखराज होना चाहिये। गुरु नाम व मृत्यु संवत् आदि का आधार खोज रिपोर्ट ही है। मथुरा का उल्लेख तो वैद्यप्रकाश के उपरोक्त पद्य में है। मृत्यु संवत और गुरु का नाम सम्भव है मैनपुरी के गुसाईं ने दिया हो। इनके दोनों ग्रन्थों की प्रतियाँ बाबा लक्ष्मणगिरि गोस्वामी, मैनपुरी में मिली थी।

—नाहटों की गवाड़, बीकानेर।

(पृष्ठ १६० का शेषांश)

जो बात कही गई है, वही बात शिवं के विषय में भी कही जा सकती है। असुन्दर वस्तु से शिवं की आशा करना व्यर्थ है। कल्याण या मङ्गल का भाव तभी प्रकट हो सकता है जबकि वह चित का विस्तार करे, उसमें निर्मलता का उद्रेक करे तथा सात्विक अनुभूतियाँ जगाये। उदात्त सौन्दर्य की भावना के बिना आत्म त्याग और अभेद दर्शन की प्रवृत्ति उदय नहीं होती। अतः शिवं के मूल में भी उदात्त सौन्दर्य ही समाया हुआ है। साहित्य की गौरव वृद्धि में जो उदात्त तत्व सहायक होता है, वह सौन्दर्य के सूत्र को लेकर ही सत्यं और शिवं में प्रवेश करता है। अतः साहित्य के अन्तर्गत सत्यं एवं शिवं की प्रतिष्ठा के लिये भी उदात्त सौन्दर्य की स्थिति अनिवार्य है।

वह साहित्य साहित्य नहीं है, जिसमें उदात्त सौन्दर्य का अभाव होता है। ऐसा साहित्य मनुष्य की वासनाओं को उभाड़ने का काम भले ही करता रहे, किन्तु मानव मात्र को चित का उत्कर्ष और हृदय की निर्मलता प्रात कराने में उसका कोई योग नहीं हो सकता। ऐसा साहित्य न तो सबके लिये प्रतिकारी और मधुर हो सकता है और न सबको उस आनन्द की अनुभूति करा सकता है, जो विशुद्ध साहित्य का लक्ष्य है।

—गवर्नमेण्ट पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, अजमेर (राजस्थान)

प्रिय श्री महेन्द्रजी,

"स्व० श्री गुलाबरायजी पर आपका सुन्दर विशेषाङ्क मिला, इसमें बहुत अच्छी सामग्री है जिससे साहित्य के इतिहास का भी बोध होता है।" धन्यवाद।

बिहारी निवास, कानपुर

—परिपूर्णानन्द वर्मा

NATIONAL SAVINGS

१० वर्षीय

रक्षा जमा-पत्र

आवेदन मुख्य डाकघरों और
उप डाकघरों पर
तथा
रिजर्व बैंक आफ इण्डिया,
स्टेट बैंक और इसके सहायक बैंक,
ट्रैजरी व सब ट्रैजरी में
स्वीकार किये जाते हैं।

जमा-पत्र

खरीदिये तथा

$4\frac{1}{2}$ प्रतिशत प्रतिवर्ष

कर-मुक्त ब्याज

प्राप्त कीजिए।

राष्ट्रीय बचत संगठन

डी. ए. ६३/२१७

इस मास के नए प्रकाशन

★ **पुजारी**—(उपन्यास) नानकसिंह ४.००

समाज के ठेकेदारों के हत्थकंडों द्वारा आहत किन्तु अपने त्याग और बलिदान की मशाल जलाने वाले मानवता के सच्चे पुजारी की मार्मिक कथा।

★ **मेरी कौन सुनेगा**—महावीर त्यागी २.५०

स्वतन्त्रता सेनानी महावीर त्यागी के अविस्मरणीय संस्मरण। जिनकी शैली की नवीनता, आत्मीयता और रोचकता पाठकों को मोह लेगी।

★ **विश्व के महान् शिक्षाशास्त्री**—(चित्रों सहित) जयजयराम व्यथित ३.५०

इसमें विश्व के महान् शिक्षाशास्त्रियों के विचारों और शिक्षा जगत को उनकी देन का प्रामाणिक विवरण और तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। शिक्षाशास्त्रियों और शिक्षण के विद्यार्थियों के लिए महत्वपूर्ण पुस्तक।

★ **प्रकाश की कहानी**—(१०० चित्रों सहित) त्रिलोकचन्द गोयल ३.००

ज्ञान-विज्ञान पुस्तकमाला की यह नई पुस्तक प्रकाश (LIGHT) पर सरल और सुबोध भाषा में पूरी जानकारी देती है। योग्य लेखक ने यह मौलिक पुस्तक भारतीय पाठकों की दृष्टि से ही लिखी है।

राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली—६

आधे मूल्य में खरीदिये

आगरा विश्वविद्यालय के बी. ए. द्वितीय वर्ष के छात्रों के लिए अनुपम भेंट—

१—एकाङ्की नाटक-संग्रह-समीक्षा

समीक्षक : प्रो० मक्खनलाल शर्मा, आगरा कालेज, आगरा मू० ४.००

[इसमें एकाङ्की नाटक की तात्त्विक व्याख्या, इतिहास, परीक्षा में निर्धारित एकाङ्कियों की तात्त्विक तथा विस्तृत आलोचना, व्याख्या तथा प्रश्नोत्तर विस्तार से दिए गए हैं]

हिन्दी पद्य पुष्पाञ्जलि : अनुशीलन

समीक्षक : डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, गवर्नमेण्ट कालेज, नैनीताल मू० ५.००

[इसमें विस्तृत व्याख्या, टिप्पणियाँ, समीक्षाएँ, समानार्थवाची उद्धरण, प्रश्नोत्तर आदि दिये गये हैं।]

नोट—पुस्तक के सामने पूरा मूल्य लिखा हुआ है लेकिन हम आधा मूल्य लेंगे। आर्डर भेजते समय कृपया २.०० मनीआर्डर से पेशगी भेजें।

इसके अतिरिक्त हिन्दी-परीक्षाओं की पूरी पुस्तकें हमसे मँगायें।

साहित्य-रत्न-भण्डार,

साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

आलोचना

चित्रकला का रसास्वादन—ले०–रामचन्द्र शुक्ल, प्रका०–हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी। पृष्ठ २४४, मूल्य ६.००

हिन्दी में कला पर लिखी गई पुस्तकों का अत्यन्त अभाव सभी महसूस करते हैं। शुक्लजी न केवल श्रेष्ठ कलाकार हैं वरन् कला मर्मज्ञ तथा कला के सूक्ष्म पहलुओं के सुन्दर विवेचक भी हैं। यह पुस्तक उनकी इस विषय पर पाँचवीं पुस्तक है। कविता और चित्रकला को पास-पास लाने तथा दोनों की समान रेखाओं को दिखाने का उनका प्रयास वास्तव में सुन्दर तथा आवश्यक है। फ्रांस में तथा यूरोप के अनेक देशों में कला के विवेचन में साहित्य और चित्रकला दोनों को सम्मिलित किया गया है किन्तु भारतवर्ष में ऐसा नहीं हुआ क्योंकि यहाँ कलाओं को काव्य से भिन्न तथा उच्चस्तरीय माना गया है। शुक्लजी भारतीय दृष्टिकोण की अपेक्षा यूरोपीय दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित हैं और अपनी इस पुस्तक में उन्होंने पाश्चात्य चित्रों का ही विश्लेषण किया है, यदि वे भारतीय चित्रकला की विशेषताओं का भी विश्लेषण करें तो क्या ही अच्छा हो?

कामायनी की आलोचना—ले०–विश्वनाथलाल शैदा, प्रका०–हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी। पृष्ठ ४०७, मूल्य ८.००

कामायनी पर कई विद्यार्थियोपयोगी टीकाएँ तथा समीक्षात्मक पुस्तकें निकली हैं, उसी क्रम में एक प्रयास यह पुस्तक है। आमुख में कामायनी के कथानक और पात्रों की सांस्कृतिक प्राचीनता तथा महाकाव्यत्व आदि प्रश्नों पर विचार किया गया है तथा पुस्तक का मुख्य भाग टीका है। टीका स्तर तक नहीं पहुँच पायी है, अनेक स्थानों पर अर्थ का अनर्थ किया गया है। पुस्तक लिखने में यदि अन्य प्रचलित टीकाएँ भी देखली गई होतीं तो अधिक अच्छा रहता। कामायनी को समझना ही कठिन है और फिर समझाना तो और भी कठिन है। दुःख है कि टीकाकार स्वयं नहीं समझे हैं तो फिर समझाने की बात का कहना ही क्या?

साहित्य-परिचय—ले०–डॉ० एस० पी० खत्री, प्रका०–हिन्दी-प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी। पृ० १२२, मूल्य ३)

आज हिन्दी-समीक्षा यथेष्ट प्रगति कर रही है। डॉ० खत्री ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उस शृङ्खला में उनका यह नवीन प्रयास सुन्दर ही कहा जायगा। यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है। इसमें काव्य, समालोचना, उपन्यास तथा नाटक का सुन्दर और संक्षिप्त विवेचन है। अन्य विद्वानों और लेखकों के अभिमत एकत्रित करके विद्यार्थियों को सुविधाजनक सहायता जुटाने के लिए उन्होंने यथेष्ट श्रम किया है।

निबन्ध

कला, साहित्य और समीक्षा—ले०–डॉ० भगीरथ

मिश्र, प्रका०–भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली। पृष्ठ ३३९, मूल्य १०.००

छात्रोपयोगी निबन्धों का यह संग्रह केवल छात्रोपयोगी न होकर हिन्दी के चिन्तकों के लिए भी है। इसमें मौलिकतापूर्ण विवेचन तथा साहित्यिक प्रश्नों को उनके आज के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास है। युग के साथ साहित्य चलता है और साहित्य के साथ ही उसका शास्त्र भी बदलता रहता है। आज की बदलती हुई परिस्थितियों में शास्त्रीय दृष्टि से साहित्यिक विधाओं, कला, सौन्दर्य, संस्कृति, वाद आदि का इतना सुन्दर विवेचन सहज ही उपलब्ध नहीं होता है। इन निबन्धों को तीन खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड में कला और साहित्य सम्बन्धी, द्वितीय में ऐतिहासिक तथा तृतीय में कवियों और काव्यकृतियों की मीमांसा की गई है। स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों की दृष्टि से लेख संग्रह उपादेय है। आशा है विद्यार्थी समाज इस पुस्तक का अच्छा उपयोग कर सकेगा।

साहित्य अनुभूति और विवेचन—लेखक–संसारचन्द्र, प्रकाशक–भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली। पृ० १७५, मूल्य ६.००

विद्यार्थियों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर लिखी गई यह निबन्धों की पुस्तक मुख्यतः आलोचनात्मक तथा सैद्धान्तिक विषयों को स्वीकार करके चली है। इस पुस्तक में कुल सत्रह निबन्ध हैं जिनमें कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, बिहारी, सेनापति, महादेवी आदि के सम्बन्ध में विवेचन है एवं एकांकी, प्रतीक नाटक, कामायनी, साकेत, छायावादी, प्रकृति वर्णन तथा शृङ्गार आदि पर भी निबन्ध हैं। भूमिका में विद्वान् लेखक ने यह स्वीकार किया है कि उन्होंने इन निबन्धों को अपने अध्यापन काल में विद्यार्थियों की आवश्यकता के लिए तैयार किया था और अब उन्हें प्रकाशित होने का अवसर प्राप्त हो गया है। हिन्दी साहित्य के विकास का एक धुँधला क्रम जो इस पुस्तक के माध्यम से प्रस्तुत करने की उद्घोषणा की गई है, उसकी उपलब्धि नहीं होती है। यदि इन निबन्धों में शास्त्रीय आधार की कमी न होती तो निस्सन्देह वे अपनी उद्देश्य पूर्ति करने में समर्थ सिद्ध होते।

कविता

शर्वरी—ले० दिनेशनन्दिनी। प्रका०–भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली। पृष्ठ २०८, मूल्य ७.००

यह काव्य ग्रन्थ हमें पढ़ते-पढ़ते रवीन्द्रनाथ टैगोर की गीताञ्जलि का तुरन्त स्मरण कराता है। इस काव्य ग्रन्थ में गीतों की मंदाकिनी का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता है। जिसका एक पुलिन उनके अपनी अनुभूतियों से स्पन्दित है तो दूसरे तक पहुँचते-पहुँचते वे धड़कनें अपने अहं को विस्तृत करके समाजीकृत हो गई हैं। हम दिनेशनन्दिनी के काव्य में 'स्व' से चलकर 'पर' तक पहुँचते हैं उनका समर्पण सबके अहं को समर्पित कराने में समर्थ है—

पतझड़ के प्रकोप से
गोविन्द !
मैं अपने सर्वस्व की पूर्णाहुति देकर
तेरी बन गई हूँ !

विद्वान लेखिका की भूमिका तथा गीतों से स[...] है कि वे भी जरा और मृत्यु से अप्रभावित नहीं [...] सकी हैं किन्तु उन्होंने भय को दृढ़ता के रूप में प्रस्तुत किया है और अपने को दूसरों के लिये समर्पित करके जीवित रहने का परम रहस्य खोज लिया है।

पेड़ स्थाणु हो गये हैं
फिर भी मैं कल की प्रकाश—
कलिकाओं के लिये जीऊँगी।

भारतीय दार्शनिक पृष्ठभूमि के विविध पहलुओं पर आधृत यह काव्य मणिमाला की भाँति सुसज्जित है। इसमें विभिन्न रङ्ग और आकारों का रूपायित करके आस्वाद्य स्थिति प्रदान की गई है। प्रणय के अनेक सामान्य और विशिष्ट पहलुओं को उनकी सूक्ष्म अनुभूतियों तथा गहन मनोदशाओं को जिस वैविध्य एवं शतधा रूपरञ्जित अभिव्यक्ति द्वारा प्रस्तुत किया गया है उससे निश्चित ही हिन्दी काव्य गौरव दिशा की ओर अग्रसर हो सका है। इसमें काम को उसकी ऐन्द्रि[...] कता में ही चरम आस्वाद्य मानकर उर्वशीकार की तरह फ्रायडीय सीमाएँ स्वीकार नहीं की गई हैं [...]

उसका चरम विकास और उन्नयन स्पष्ट रूप से यह द्योतित कर सका है कि श्रेष्ठ काव्य में वह सब कुछ होता है जो जीवन का भोग्य है किन्तु वह वहीं नहीं रुक जाता, वरन् उद्देश्य तथा महान आदर्शों तक दृष्टिपात करता है। उसे उन समस्याओं से भी जूझना होता है जो मानव-चेतना के अतल गह्वरों में पड़ी रहती हैं और कभी-कभी उसे सबसे भिन्न तथा असाधारण व्यक्ति बना देती हैं, त्रैलोक्यातीत आदर्श पथ पर अग्रसर करा देती हैं और वह प्राणी अपने और पराए का भेद त्यागकर मानव-मात्र और फिर भूत-मात्र के कल्याण पथ का पथिक बन जाता है। संभवतः इस काव्य की भी यही दृष्टि है। निम्न पंक्तियों से यह मान्यता स्पष्ट है—

गीत की कोमल ऋचाओ !
पुरातन काल में
भगवान विष्णु ने
अपनी आदर्श विनय से
जैसे
भृगुजी का हृदय
पानी पानी किया,
वैसे ही
तुम इस अणु-युग में
मनुज के कठोर दिल को
श्याम के चिरन्तन प्रम के सन्देश से
दयार्द्र कर
उसमें मनुनिर्मित
मानवता की
मूर्ति प्रतिष्ठित
करो !
क्योंकि मयस्सर नहीं
देवताओं को भी
इन्साँ होना।

मुक्तहार—लेखक—चैतन्यदेव मिलिन्द, प्रकाशक—हरिविलास शर्मा, गांधीनगर, आगरा। पृ० ५४, मू० ३)

आज चीन के आक्रमण ने हिन्दी के जागरूक पाठकों को कविता लिखने और पढ़ने को उत्तेजित कर दिया है। मिलिन्दजी की कविताओं का यह संग्रह ओज और वीरता की भावनाओं से युक्त है किन्तु वीरता की झौंक में कवि इतना बह गया है कि अहिंसा के सिद्धांत को बिना समझे-बूझे उसका खण्डन करने लगा है। इस प्रकार की कविताओं से जन-मन अधिक भ्रमित होता है, आशा है नवीन कवि इससे शिक्षा लेकर अपने को अधिक संयत बनायेंगे।

प्राणेश पुष्पाञ्जलि—ले०—गणेशलाल शर्मा प्राणेश, प्रका०—शारदा सदन, फीरोजाबाद (आगरा)। पृ० ६८, मू० १.२५

प्राणेशजी की कविताओं में जहाँ एक ओर प्रेम की भावनाएँ हैं वहाँ दूसरी ओर नव निर्माण और आर्थिक स्वतन्त्रताकारक हैं। भावों का सहज और ऋजु अङ्कन इन कविताओं की एक ऐसी विशेषता है जो हिन्दी के सामान्य पाठक को अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल हैं—

घोर निराशा की रजनी सी, देखी मेरी असफलताएँ।
झंझा के झोंकों सी तुमने, देखी मेरी परवशताएँ।
तिमिर तमिस्रा ही देखी, पर मेरा विषपान न देखा।

रणमतसिंह—ले०—डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित, प्रका.—भारतीय संस्कृति विद्यापीठ, रीवाँ। पृष्ठ १११, मूल्य १.००

भारतीय इतिहास के प्राचीन गौरवपूर्ण पृष्ठों का मूर्तीकरण आज की अनेक साहित्यिक विधाओं के लिए कौशल कहा जा सकता है। प्रस्तुत कविता-पुस्तक एक खण्डकाव्य के रूप में इसी कोटि का सुन्दर प्रयास है। रीवाँ के प्राचीन वीर सामन्त रणमतसिंह बघेला को अपने खण्डकाव्य का चरित-नायक बनाकर तथा उनके जीवन की सामान्य तथा विशिष्ट दोनों प्रकार की घटनाओं से प्रदर्शित शिवं का उद्घाटन कर कवि ने प्रशंसनीय प्रयास किया है। आज पुराने गौरव तथा यश को व्यर्थ मानकर वर्तमान में जीने वाले प्रयोगवादियों को इस प्रकार के प्रयासों से यह समझना चाहिये कि वर्तमान भूत की ही एक शृङ्खला है और इन दोनों को एक दूसरे से अलग करके देखना अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है। खण्डकाव्य अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल है।

जय हो स्वदेश—ले०—बालेन्दु, प्रकाशक—राम·

चन्द्रप्रसाद चौधरी गोड्डा, संथाल परगना (बिहार)। पृ० ३४, मू० १.००

चीन की चुनौती से प्रभावित इस काव्य संग्रह में तेरह कविताओं का सङ्कलन है। इसकी आय राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में देने की घोषणा की गई है, कविताएँ सामान्य हैं। हाँ, कुछ कविताओं में श्रम, निष्ठा आदि का अच्छा वर्णन है। कवि प्रेरणायुक्त है और अपनी प्रेरणा से भारतवासियों को प्रेरित करना चाहता है।

विजय के स्वर—ले०–मधुसूदन वाजपेयी, प्रका०–राजकृष्ण प्रकाशन, इलाहाबाद। पृ० ३१, मू० ०.७५

देश पर आक्रमण की बेला में जिस नवीन जागरण के लक्षण उदित हुए हैं यह कविता संग्रह उसे उभारने में योग देगा इसकी कविताएँ भारत की रक्षा एवं भावात्मक एकता की दिशा में योग देंगी।

नग्मा-ए-वतन—ले०–रत्न हरयानवी। प्रका०–अर्चना-प्रकाशन, दिल्ली। पृ० १११, मू० १.००

सीमा संघर्ष को लेकर आज देश-प्रेम की भावनाओं से ओत-प्रोत जो कविताएँ लिखी या संग्रहीत की जा रही हैं, उसी की एक कड़ी यह सङ्कलन है। इस पुस्तक में उर्दू कवियों की देश-प्रेम से भरी पचपन कविताएँ हैं जिनमें अकबर, नजीर, इकबाल, बिस्मिल, जिगर, चकवस्त, फिराक आदि प्रमुख हैं।

उसे हिमालय पार भगाओ—ले० रूपचन्द पारीक प्रका०–प्रभात प्रकाशन, जोधपुर। पृ. ३२, मू. ०.७५

भारत पर चीन के आक्रमण ने हमें आन्दोलित किया। कवि समाज का हृदय और नेत्र होता है, आज के कवि का मन भी अन्य दिशाओं से हटकर इसी ओर लग गया है। प्रस्तुत कविता संग्रह इसी दिशा में एक प्रयास है।

पंच पात्र—ले० गणेशलाल शर्मा प्राणेश, प्रका०–शारदा सदन, फीरोजाबाद। पृष्ठ १५, मूल्य ०.१२

रामचन्द पालीवाल, बनारसीदास चतुर्वेदी, मीर अकबरअली, श्रीराम शर्मा तथा हजारीलाल जैन की प्रशस्तियों का यह लघु संग्रह रीतिकालीन मनोवृत्ति का परिचय देता है।

उपन्यास

स्वर्ग का फूल—ले० आदिल रशीद, प्रका०–अर्चना प्रकाशन, नई दिल्ली। पृ० १५३, मू० ५.००

आनन्द और शाली की यह कहानी बताती है कि आज का फैशनपरस्त और पाश्चात्य सभ्यता से आक्रान्त यह सभ्य-समाज किस प्रकार अनैतिक तथा शिष्टाचार की थोथी परिभाषा को लेकर चलता है। हमारे समाज में आज भी बम्बई जैसी नगरी की सभ्यता ग्रामीण नर-नारियों को मूर्ख और पशु मानती है। शाली असभ्य होते हुए भी बम्बई के सभ्य नागरिकों की तुलना में अधिक शिष्ट और सभ्य सिद्ध होती है और उसकी सफलता इस बात पर निर्भर है कि वह पति को उस मत्सर पूर्ण समाज से हटाकर ग्रामीण समाज की ओर उन्मुख कराने की सूक्ष्म प्रेरणा देती है। आज के विषाक्त नागरिक जीवन पर सुन्दर व्यंग्य इस उपन्यास की शक्ति है।

बिना दिल का इन्सान—ले०–श्री वेदप्रकाश, प्रकाशक–प्रगतिशील प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ १९५, मू. ३.५०

आज के सदाचार और प्रेम के पाप आदि प्रश्नों पर फैन्टेसी शैली में लिखे गए इस उपन्यास में शैली ही प्रमुख है, कथा गौण। आज की यौन-समस्याओं का अतियथार्थवादी शैली में चित्रण किया गया है जो कहीं-कहीं उत्तेजक सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार के उपन्यासों के लेखक तथा प्रकाशक दोनों ही समाज में यौनाचार बढ़ाने के दोषी समझे जाने चाहिए।

वह जो होना था—ले० यादवचन्द जैन, प्रका०–भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली। पृ० १८४, मू० ४.००

मीना और विभूति की यह कथा आज के समाज की वीभत्स दशा का साकार रूप प्रस्तुत करती है। मुक्त यौन सम्बन्धों का यह खुला चित्रण अर्थ पर आधारित होने के कारण मार्मिक सिद्ध हुआ है। आज के व्यापारी किस प्रकार पैसे के बल पर व्यभिचार करते हैं तथा मजबूर कुमारियाँ किस प्रकार अपना शोषण करने की आज्ञा दे देती हैं—इस विषमता को मीना और विभूति स्पष्ट करते हैं। मिसेज जहाँगीरा शिक्षित समाज में चलने वाली वेश्यावृत्ति के विविध पहलू प्रस्तुत करती हैं। समाज का कोढ़ कितना व्यापक और विषाक्त है—

यह देखते ही बनता है।

यह बस्ती : ये लोग—ले० बालशौरी रेड्डी, प्रका०—भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली। पृ० १३०, मू० ३.००

आजकल उपन्यास साहित्य ही वह माध्यम है जिसके द्वारा हम हिन्दीतर भाषा-भाषी भारतीयों को हिन्दी की ओर अग्रसर कर सकते हैं। इस उपन्यास के लेखक दाक्षिणात्य हैं और उन्होंने शहरी जीवन का व्यंग्यमय चित्र इस उपन्यास में दिया है। आज के अर्थ प्रधान युग में व्यक्ति और व्यक्ति के सम्बन्धों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। सरोजा नामक लड़की को धनिक के साथ शादी करने को मजबूर करना इस सभ्यता की प्रतिनिधि गाथा है। सुधारवादी समाज सेवियों की प्रवृत्ति तथा स्त्री-लोलुपता का अच्छा चित्रण है।

नाना—लेखक—एमिल जोला, प्रकाशक—अर्चना प्रकाशन दिल्ली। पृष्ठ , मूल्य १)

इस फ्रेञ्च उपन्यास में जोला ने पेरिस नगर की प्रसिद्ध अभिनेत्री की रङ्गरेलियों का मार्मिक वर्णन है। पेरिस जैसे फैशन और रूप की नगरी में रहने वाली नाना पर अनेक अमीर, ओहदेदार तथा राजवंशी अपने को न्यौछावर करने के लिये सदैव तत्पर रहते थे। नाना ने असंख्य धन तथा व्यक्तियों के सम्मान को अपने पैरों तले रौंदा तथा उनकी विवशता से लाभ उठाया। अपनी इच्छा के विपरीत उसे अपना शरीर भी बेचना पड़ा, इसकी हृदय विदारक कहानी इस उपन्यास का आधार है।

कावेरी—लेखक—शचीन्द्र उपाध्याय, प्रका.—अर्चना प्रकाशन, दिल्ली। पृ० १२०, मू० १.००

क्रान्तिकारियों, आन्दोलनकारियों तथा समाजवादी लोकतन्त्रीय पद्धति पर चलने वाली राजनीति आदि के प्रश्नों को इस उपन्यास में कुछ घटनाओं और पात्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास स्वातन्त्र्य आन्दोलन की पृष्ठभूमि को स्वीकार करके कुछ प्रश्न उभारता है। प्रारम्भ से अन्त तक एक अटूट प्रवाह तथा रोचकता के दर्शन होते हैं। पुस्तक पाठकों के मनोरञ्जन का उद्देश्य पूर्ण करने में सफल है।

विजया—लेखक—शरत्चन्द्र, प्रका०—अर्चना प्रकाशन, दिल्ली। पृ० १२०, मू० १.००

नारी समस्या के चतुर और अभिनव मूर्तिकार शरत बाबू का यह उपन्यास हिन्दी में पॉकेट बुक सीरीज में उपलब्ध हुआ है। आशा है कथा प्रेमी इसे अधिकाधिक संख्या में पढ़कर महान् कलाकार की कला से परिचित हो सकेंगे।

प्रेम या वासना—ले०—टॉलसटॉय। प्रका०—हिन्द-पाकेट बुक्स, दिल्ली। पृष्ठ १३८ मूल्य १.००

मानव मन की अतल गहराइयों में उतर जाने वाले महान् यथार्थवादी प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार टॉलसटॉय की यह कृति बहुत प्रसिद्ध है। इसका यह अनुवाद सरल भाषा में हुआ है। हिन्दी जनता टॉलसटॉय की सामान्य में महान् की विशेषता से निकट का परिचय इस पुस्तक द्वारा पा सकेगी।

कहानी

सर्वश्रेष्ठ पंजाबी साहित्य कहानियाँ—सम्पा.—सुश्री अमृता प्रीतम। प्रकाशक—प्रगतिशील प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ २२०, मूल्य ४.५०

पंजाबी भाषा की सुन्दर कहानियों का यह नागरी संस्करण अत्यन्त आकर्षक है। इस पुस्तक की सम्पादिका ने अपने सम्पादन के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए दो शब्द लिखना भी अनुपयुक्त समझा है। होना तो यह चाहिए था कि वे पंजाबी कहानी-साहित्य के सौन्दर्य और मर्म को स्पष्ट करतीं जिससे पाठकों को इन कहानियों का रसास्वादन करने में सहायता मिल जाती तथा वे पंजाबी-साहित्य के आयामों तथा वैविध्य-पूर्ण विकास-चरणों से आश्वस्त हो पाते। इस प्रयास के लिए हम प्रकाशकों को साधुवाद देते हैं।

लागल भुलनियाँ के धक्का—लेखक—रामनारायण-सिंह मधुरा, प्रका०—भण्डार विद्यापीठ प्रेस, भागलपुर। पृ० ८५, मू० १.२५

कहानियों के इस सामान्य संग्रह की भूमिका में जितनी ऊँची बातें कही गई हैं, कहानियाँ उतनी ही सामान्य हैं। इन कहानियों में लेखक समाज के उपेक्षित तत्त्वों तथा नगण्य घटनाओं को लेकर आगे आता है और सम्भवतः चाहता है कि इनके भीतर के महान्

को उभारूँ किन्तु दुःख है कि उसके पास उस सूक्ष्म दृष्टि का अभाव है जिसमें नगण्य को विशिष्ट तथा सर्व-मान्य बना देने की क्षमता होती है। आशा है यदि लेखक प्रयत्नशील रहेगा तो एक न एक दिन सफल कहानियाँ लिखने में समर्थ सिद्ध हो जायगा।

हरे भरे खेतों की धरती—ले०–बद्रीनाथ, प्रका०–प्रवाल प्रकाशन, इलाहाबाद। पृ० ४७, मू० १.००

प्रजापति पृथु ने किस प्रकार अपने पिता बेन के चंगुल से प्रजा की रक्षा करके उसे नवीन संस्कृति तथा उत्पादन के साधन प्रदान किए, इसका मनोहारी वर्णन इस कहानी में किया गया है। पुस्तक मोटे टाइप में चित्र सहित होने के कारण विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

नाटक

चरवाहों का देश—ले० जयशङ्कर त्रिपाठी प्रका०–जयशङ्कर त्रिपाठी बेदौली, पो० भारतगञ्ज (प्रयाग)। पृष्ठ १००, मूल्य २.००

लोक कथाओं पर आधारित उपन्यास और कहा-नियाँ तो हिन्दी में काफी लिखी गई हैं किन्तु नाटक लिखने की परम्परा अभी नवीन है। त्रिपाठीजी ने अपने इस तीन अङ्कों के नाटक को उत्तर प्रदेश के पूर्वी अञ्चल में प्रचलित लोरिक-मंजरी की लोक कथा पर आधारित किया है। इस लोक कथात्मक नाटक में अगोरी के बन्दाल राजा की अनीति और फलतः रावण की लङ्का की तरह उसकी गढ़ी और शक्ति का लोरिक द्वारा संहार और मंजरी का उद्धार मूर्त हो उठा है। इस प्रसङ्ग के गीतों के सभी रस और सभी मार्मिक प्रसङ्ग इस नाटक में आ गये हैं। चिनगिन ब्राह्मण की राजनीति और लोकधर्म के प्रति आग्रह, उत्साह और त्याग इतिहास प्रसिद्ध आचार्य चाणक्य का रङ्ग उत्पन्न कर देते हैं। लोरिक का मित्र साँवर जैसे मित्र-धर्म का शरीरधारी स्वरूप है। लोरिक केवल शरीर-बल से ही नहीं धर्म-बल से भी वीर है। रूपवती कुमारी मंजरी शील, सङ्कल्प और कर्तव्य के भूले में कभी भुलाई नहीं जा सकती। इस रचना को एक बार पढ़ना आरम्भ कर देने पर बिना समाप्त किये छोड़ने को मन नहीं मानता। परिस्थिति के रङ्ग में रंगे संवाद हृदय को रंगते चलते हैं। भारतीय नाट्य-कला के कलेवर में अभिनव शिल्प और शैली से अभिमूर्त यह नाटक रङ्गमञ्च पर आसानी से खेला जा सकता है तथा सब प्रकार से अनुरञ्जक और प्रेरणाप्रद है। नाटक की उस समीक्षा में यथेष्ट सत्य है। हिन्दी नाटक साहित्य इस कृति से निस्सन्देह समृद्ध हुआ है। त्रिपाठी जी भविष्य में और भी परिमार्जित कला कृतियाँ प्रदान करेंगे ऐसा विश्वास है।

आनन्द रघुनन्दन—लेखक–महाराज विश्वनाथ, प्रकाशक–हिन्दी साहित्य सम्मेलन, रीवा। पृ० १५३, मू० ५.००

रीवा नरेश महाराज विश्वनाथसिंह द्वारा विरचित इस नाटक का यह सुन्दर संस्करण टिप्पणियों तथा विस्तृत भूमिका के साथ प्रकाशित हुआ है। हिन्दी-साहित्य का अतीत गौरव इस प्रकार की कृतियों के सर्वजन-सुलभ होने से स्पष्ट होता जा रहा है। आशा है इस प्रकार के अन्य प्रयास भी होंगे, जिनसे भारती का भण्डार समृद्ध होता रहेगा।

इतिहास

लाचित वरफुकन—ले०–श्री एस० के० भूजा। प्रका०–प्रकाशन विभाग, भारत सरकार दिल्ली। पृष्ठ १८७, मू० २.२५

सन् १६६७ से १६७१ ई० तक असम मुगल संघर्ष काल का यह इतिहास अत्यन्त ही प्रामाणिक आधारों पर लिखा गया है। विद्वान् शोधकर्त्ता ने अनेक तथ्यों को प्रथम वार प्रामाणिक रीति से हम लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक से पता चलता है कि मुगल साम्राज्य का विरोध न केवल दक्षिण में मरह-ठाओं द्वारा ही हुआ था वरन् धुर पूर्व में भी लाचित वरफुकन जैसे वीर योद्धाओं ने मुगल साम्राज्य के शिकंजे को व्यर्थ सिद्ध कर दिखाया था। आज भी उनकी यशस्वी गाथाएँ असम के जन-मन को आन्दोलित करती हैं। सारे असम में आज अनेक लोक-गाथायें इन घटनाओं, प्रयासों और युद्धों के सजीव वर्णनों से युक्त हैं। इतिहास के क्षेत्र में विद्वान् लेखक का प्रयास

अत्यन्त उच्चस्तरीय तथा प्रशंसा य ग्य है आशा भारतीय इतिहास के अनेक भूले पृष्ठों को वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रदान कर इस प्रकार के शोधपूर्ण प्रयास अधिकाधिक विकसित हो सकेंगे।

बालोपयोगी

भारत का इतिहास (बच्चों के लिये)—प्रका०—प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, दिल्ली। पृष्ठ १३४, मूल्य ३.००।

भारत के इतिहास की विशेष घटनाएँ और व्यक्तियों का परिचय इस पुस्तक में ऐसी भाषा में दिया गया है जिसे विद्यार्थी आसानी से पढ़ और समझ सकें। पुस्तक रोचक तथा सचित्र है और इससे उसकी उपादेयता बढ़ गई है।

रुचि-सुरुचि—लेखक—अंकिमचन्द्र—प्रका०—परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद। पृ० ७६, १.५०

बालकों में नवीन अभिरुचि जगाने तथा अच्छे संस्कार उत्पन्न करने की दृष्टि से यह सभी स्वीकार करेंगे कि उनका जीवन प्रारम्भ से ही ऐसी रुचियों से युक्त हो जाय तो उसे इस दिशा में प्रेरित कर सकें। लेखक ने इस पुस्तक में ऐसे ही एक मनोवैज्ञानिक विषय का अच्छा विश्लेषण किया है। भाषा सरल तथा बालकों के लिए उपयोगी है। पुस्तक का मूल्य उसके कलेवर और सामग्री की दृष्टि से अधिक है।

हमारा पड़ौसी चाँद—लेखक—रमेश वर्मा, प्रका.—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली। पृ० ४०, मू० १.२५

बालकों को चन्द्रमा से सम्बन्धित आवश्यक जानकारी देने वाली यह सचित्र पुस्तक अत्यन्त ही उपादेय तथा सुरुचिपूर्ण है। चन्द्रमा की उत्पत्ति, विकास तथा हमारी पृथ्वी से सम्बन्ध की कहानी पुराण तथा विज्ञान की मान्यताओं के आधार पर तुलनात्मक दृष्टिकोण से कही गई है। इन सभी, स्थितियों, कथाओं तथा वैज्ञानिक तथ्यों को स्पष्ट करने वाले चित्र भी दिए गए हैं जिनसे विषय अत्यन्त सुगम तथा आकर्षक बन गया है।

उठो वीर सन्तान—ले० वासुदेव गोस्वामी, प्रका०—गोस्वामी पुस्तक सदन, दतिया। पृ० ३२, मू० ०.२५

महाभारत के उद्योग पर्व के जय नामक ऐतिहासिक कथानक को लेकर इस लघु पुस्तिका की रचना की गई है। आज के सीमा सङ्घर्ष में लेखक की यह एक आहुति है। बालकों के लिये उपयोगी है।

स्फुट

आकाशवाणी विविधा—प्रका०—प्रकाशन विभाग, भारत-सरकार, दिल्ली। पृष्ठ २१६, मूल्य ३.५०

आकाशवाणी से प्रसारित रचनाओं में से उत्कृष्टतम को सङ्कलित करके प्रकाशित किया जाता है। इस क्रम में एक प्रयास १९६० में किया गया था और यह दूसरा प्रयास है। इस संग्रह में नाटक, सङ्गीतरूपक, फीचर, कविताएँ, कहानी, संस्मरण, रेखाचित्र, स्थान वर्णन, विज्ञान के व्यावहारिक प्रयोग, निबन्ध, कला तथा संस्कृति का परिचय आदि संग्रहीत हैं। कवियों में दिनकर, पन्त, आरसी, बच्चन, नरेन्द्र, गिरिजाकुमार आदि प्रमुख हैं तथा गद्यलेखकों में इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र, रामकुमार वर्मा, विष्णुप्रभाकर, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, रेणु, देवेन्द्र सत्यार्थी आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे विद्वानों के लेखों का यथेष्ट महत्व है। यह संग्रह हिन्दी साहित्य का एक ऐसा वैविध्यपूर्ण सङ्कलन है जिसके द्वारा हम रेडियो और हिन्दी कलाकारों के सम्बन्ध को समझ सकते हैं। इस संग्रह से यह पता चल जाता है कि रेडियो ने हिन्दी के मूर्धन्य कलाकारों में से बहुत ही कम को स्थान दिया है या अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया है। आशा है आकाशवाणी अपनी नीति को ऐसा आधार देगी जिससे अधिकाधिक हिन्दी साहित्यकार उसकी ओर अभिमुख हो सकें। संग्रह यह भी प्रकट करता है कि आकाशवाणी पर हिन्दी के समीक्षकों तथा समीक्षा की एकान्त अवहेलना की जाती है।

सुख और सफलता के साधन—ले० सन्तराम बी.ए. प्रका०—हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली। पृ. ११०, मू. १.००

जीवन में सुख, सफलता, समृद्धि, स्वास्थ आदि प्राप्त करने के व्यावहारिक और उपयोगी सुझाव इस पुस्तक में सरस और सरल भाषा में दिये गये हैं। पुस्तक सफलता प्राप्त करने के इच्छुकों के लिये लाभदायक है।

हिन्दी के विद्यार्थियों को

जो साहित्य-सन्देश के ग्राहक हैं

सभी परीक्षोपयोगी पुस्तकें

पौने मूल्य में

हम अपने साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को निम्न पुस्तकें पौने मूल्य में देंगे। आर्डर भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान रखने की कृपा करें—

१. प्रत्येक आर्डर में अपनी ग्राहक संख्या लिखें तथा कम से कम दो रुपया मनीआर्डर से पेशगी भेजें।

२. सूची के नीचे जो अन्तिम तारीख लिखी है उसी तारीख तक ये पुस्तकें भेजी जायँगी—बाद में आर्डर आने पर २५ प्रतिशत की सुविधा नहीं मिलेगी।

३. जो पुस्तकें सूची में लिखी हैं वही भेजी जायँगी।

४. २५ रुपये से अधिक की पुस्तकें मँगानी हों तो अपने रेलवे स्टेशन का नाम लिखें। रेल से मँगाने में आपका खर्चा कम लगेगा। आर्डर यहाँ से काट कर भेज दें अथवा किसी कागज या पोस्ट कार्ड पर लिखकर भेजदें।

पौने मूल्य में पुस्तकें प्राप्त करने की सूची

नाम.. ग्राहक सं०....................................

पता...

अजातशत्रु एक अध्ययन—श्री प्रेमनरायन टंडन १·५०

अजातशत्रु-रहस्य—कविराज हरनारायण कोकचा २.५०

अजातशत्रु और प्रसाद की नाट्यकला—श्री शिवकुमार मिश्र एम. ए. २.५०

कर्मभूमि समीक्षा—श्री हरस्वरूप माथुर एम. ए. १.७५

कबीर (आलोचनात्मक अध्ययन प्रश्नोत्तर रूप में)—प्रो. भारतभूषण २.५०

कवि प्रसाद (आलोचनात्मक अध्ययन)—भारतभूषण सरोज २.५०

कविवर प्रसाद (प्रश्नोत्तर रूप में आलो. अध्ययन)—आचार्य राजेन्द्रमोहन २.५०

कविवर सुमित्रानन्दन पन्त (प्रश्नो० रूप में आ० अ०)—रामरजपाल २.५०

कुणाल गीत एक समीक्षा—लक्ष्मीनारायण टं० २.५०

केशव की काव्य साधना (प्रश्नो० रूप में आ० अ०)—ओमप्रकाश शर्मा २.५०

कामायनी (आलो० अध्य० प्रश्नो० रूप में)—,, १.५०

कामायनी समीक्षा—आ० सुदर्शन कुसुम २.५०

गबन समीक्षा—रमेशचन्द्र गुप्त २.५०

कामायनी दीपिका—,, ०.८०

चन्द्रगुप्त समीक्षा—जगन्नाथ शर्मा १.००

तुलसी सौरभ—किरणकुमारी गुप्ता १.८८

तुलसीदास (आलो० अध्ययन)—दामोदरदास २.५०

दिनकर और उनका कुरुक्षेत्र (आ० अ०)—देशराजसिंह भाटी ३.५०

ध्रुवस्वामिनी : एक विवेचन—प्रो० विश्वम्भर अरुण एम० ए० १.५०

नूरजहाँ समीक्षा—प्रो० ब्रजलाल वर्मा २.००

नूरजहाँ एक अध्ययन—श्री रामखेलावन चौधरी २.५०

नूरजहाँ की टीकी— ,, २.२५

परख की परख—श्री चन्दूलाल दुबे एम. ए० ०.३७

प्रसाद, पन्त, रत्नाकर (एक आलो० अध्ययन)—लक्ष्मीनारायण टंडन २.००

प्रतिनिधि एकांकी—आ० दुर्गाशंकर मिश्र २.००

अन्तिम ता० ३१-१०-६३

पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

REGD. No. 263. October 1963 License No. 16
Sahitya-Sandesh, Agra. Licensed to post without prepayment

... द्वारा साहित्य प्रेस में मुद्रित तथा साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा से प्रकाशित।

साहित्य सन्देश

नवम्बर १९६३

सम्पादक—महेन्द्र

साहित्य रत्न भंडार
आगरा

एक प्रति ०.५०

'साहित्य-सन्देश' आगरा की विगत १२ वर्षों की फाइलों का विवरण

	सन्	पाठ्य सामग्री की पृष्ठ संख्या	लेखों की संख्या	विशेषाङ्क जो सम्मिलित हैं	मूल्य	डाक-व्यय
	१९५१-५२	५३२	१०५	आलोचनाङ्क	१)	१)६६
	१९५२-५३	५१८	११४	कहानी अङ्क	१)	१)५४
	१९५३-५४	५१८	१०९	आधुनिक काव्याङ्क	१)	१)६६
	१९५४-५५	४८०	९६			१)६६
	१९५५-५६	५०१	१०८	अन्तः प्रान्तीय नाटकाङ्क	१)५०	१)५४
*	१९५६-५७	५०१	११८	आधुनिक उपन्यास अङ्क	१)	१)७८
	१९५७-५८	५५६	१२८	(१) भाषा विज्ञान विशेषाङ्क	२)	१)८४
				(२) प्रगति विशेषाङ्क	१)	
*	१९५८-५९	५५८	१३४	(१) सन्त-साहित्य विशेषाङ्क	१)५०	१)९०
*				(२) ऐतिहासिक उपन्यास अङ्क	२)	
	१९५९-६०	५२०	१२४	(१) रीतिकाव्यालोचनाङ्क	२)	१)८४
*				(२) प्रगति अङ्क १९६०	१)	
	१९६०-६१	५०८	१०५	(१) शोध विशेषाङ्क	२)	१)९०
*				(२) प्रगति विशेषाङ्क १९६१	१)	
	१९६१-६२	५८४	१३४	(१) निबन्ध विशेषाङ्क	२)	१)९५
				(२) निराला विशेषाङ्क	१)	
*	१९६२-६३	५२५	१२४	(१) साहित्य-शास्त्र विशेषांक	१)५०	१)९५
*				(२) रांगेय राघव स्मृति अंक	१)	
*				(३) शिवपूजनसहाय स्मृति अंक	)५०	

मोटी वसली की जिल्द, आवरण पृष्ठ और विषय-सूची के साथ

प्रत्येक फाइल का मूल्य ६) है। पृथक-पृथक मँगाने पर डाक-व्यय २१)२२ न० पै० लगेंगे जैसा प्रत्येक फाइल के सामने लिखा है। पूरा सैट एक साथ मँगाने पर रेल से हम अपने खर्चे पर ७२) में आपके पास भेज देंगे। आर्डर भेजते समय आप अपने रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखें।

पहले पाँच वर्षों की फाइल बहुत कम बची हैं।

* चिन्हित विशेषाङ्क फुटकर प्रतियों में भी मिल सकेंगे—शेष सभी विशेषाङ्क फाइलों में ही मिलेंगे।

'साहित्य-सन्देश'

आलोचना-प्रधान मासिक-पत्र — वार्षिक मूल्य ५)

पता—'साहित्य-सन्देश' कार्यालय, आगरा।

जी तोड़ मेहनत करें

DA63/F15

अधिक उत्पादन, सुदृढ़ रक्षा के लिए

साहित्य सन्देश

सम्पादक : महेन्द्र सहकारी : डॉ० मक्खनलाल शर्मा

भाग २५] आगरा—नवम्बर १९६३ [अङ्क ५

हमारी विचारधारा

साहित्य किसके लिए ?

अनेक बार जागरूक पाठकों तथा अनेक साहित्यकारों ने इस प्रश्न को उठाया है कि साहित्य वास्तव में किसके लिए लिखा जाता है ? साहित्यकार को किसके प्रति उत्तरदायी होना चाहिए ? इस प्रश्न के अनेक पहलू हैं, इसीलिए इस सन्दर्भ में अनेक प्रकार के परस्पर विरोधी तक, उत्तर दिये गए हैं। हिन्दी-साहित्यकारों का एक वर्ग साहित्य को सर्वहारा के लिए स्वीकार करके चलता है, इस वर्ग की मान्यता है कि पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में पनपने वाला साहित्य सदैव ही वर्गवादी होगा, अर्थात् वह किसी न किसी एक वर्ग का हित साधन करेगा। यदि वह पूँजीपति के हित में नहीं है तो उसे सर्वहारा का हित करना ही चाहिए। इस वर्ग की मुख्य दृष्टि आर्थिक असमानता और शोषण पर रहती है। वे आर्थिक विषमता को सारी बुराइयों का आधार मानकर बूर्ज्वा नैतिकता का विरोध करते हैं। साहित्यकारों का यह वर्ग अन्य मान्यताओं को भी अपने ढंग से समझता है। जो साहित्यकार यह नारा लगाते हैं कि हम लेखक की आजादी के लिए लिखते हैं, उनके सम्बन्ध में ये लोग कहते हैं कि लेखक जब तक शोषण प्रधान समाज का अङ्ग है और जब तक पूँजीवादी समाज-व्यवस्था है, तब तक उसे स्वतन्त्रता मिल जायगी—यह कल्पनालोक का तथ्य हो सकता है। इस कोटि के साहित्यकारों को वे पहले शोषण-मुक्ति आन्दोलन में सक्रिय योग देने का आवाहन करते हैं। उन्हीं की भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि जब तक वर्गविहीन समाज व्यवस्था नहीं आवेगी, तब तक शुद्ध साहित्य का सृजन असम्भव है और उससे पहले का साहित्य सम्पूर्ण समाज का हित नहीं कर सकेगा। उससे साहित्यकार की स्वच्छन्दता की आशा भी व्यर्थ है। साहित्यकारों का आदर्शलोक इसी पृथ्वी पर तो बनेगा—यह समझ में आने वाली बात है।

आज नवीनता की दुहाई देने वाले साहित्यिक अभिव्यक्ति के अनेक ऐसे उद्देश्य प्रकट करते हैं जो ऊपर से मोहक होते हुए भी समाज विरोधी हैं। समष्टिगत उद्देश्योन्मुखता से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। मार्क्सवादियों के समान वे किसी भावी समाज रचना का उद्देश्य लेकर नहीं चलते और न उन्हें साहित्य द्वारा किन्हीं निश्चित जीवन-मूल्यों के लिये सङ्घर्ष ही करना है, अतः वे आत्माभिव्यक्ति का नारा देते हैं और अतिव्यक्तिवादी दायरे में निरन्तर सिकुड़ते चले जाते हैं। उनकी अनास्था युगानुभूति की प्रतिनिधि न होकर एक स्थायी जीवन तत्त्व के रूप में सामने आती है जो आत्मघाती है। ये कलावादी प्रयोग को आधार मानकर चलते हैं किन्तु क्षणवादी होने के कारण प्रयोग

की सीमाओं से ऊपर नहीं उठ पाते हैं—प्रयोग को ही काव्य का उद्देश्य मान लेते हैं और अतिव्यक्तिवाद के अतल गह्वरों में बैठते चले जाते हैं। परिणाम यह होता है कि काव्य अतिवादी बन जाता है। वह सामाजिकता से विमुख होने लगता है। इसी प्रकार मार्क्सवादी साहित्यकारों का भी एक अतिवादी रूप सामने आया है, जो सामाजिकता की झोंक में व्यक्ति को कोई स्थान नहीं देना चाहता। वह व्यक्ति की गरिमा, आध्यात्मिक मूल्यों तथा स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं कर पाता है, या इनकी अपने ढङ्ग से व्याख्या करके अपनी मान्यतानुसार इनका उपयोग करता है।

इन दोनों दृष्टियों की एकाङ्गिता ही इनकी सीमा है। इनमें व्यक्ति अथवा समाज को ही आधार मानकर आगे बढ़ा गया है। व्यवहार में हम देखते हैं कि बिना व्यक्तियों के समाज की रचना नहीं हो सकती और न बिना समाज के व्यक्ति का विकास ही सम्भव है, अतः व्यक्ति और समाज अन्योन्याश्रित होने के कारण असम्बन्धित नहीं रहने चाहिए। व्यक्ति और समाज दोनों का विकास करने वाली समाज-रचना और उस समाज-रचना को आधार मानकर अग्रसर होने वाला साहित्य ही आज के लिए उपयुक्त हो सकता है। साहित्यकार अपने और अपने समाज दोनों के हित को व्यापक धरातल पर एक मानकर चले यही उपयुक्त दृष्टि हो सकती है। मानव व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक दोनों स्तरों पर आनन्द के प्रयास करता है—सत्य-शोधन की उसकी और समाज दोनों की प्रक्रिया सृष्टि के आदिकाल से चल रही है और चलती रहेगी—इस प्रयास की एक दिशा साहित्य और कला भी है। साहित्य और कला अपना उद्देश्य प्राप्त करने के लिए संवेदनाओं का माध्यम अपनाती है—वह रागात्मकता का आधार स्वीकार करके चलती है, अतः उसकी सारी प्रक्रिया अहिंसात्मक बन जाती है। साहित्य और कला के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे अहिंसात्मक माध्यम से सत्यशोधन का महान उद्देश्य पूरा करती हैं। साहित्य की इस प्रक्रिया में व्यक्ति और समाज दोनों को स्वीकृति प्राप्त हो जाती है और उनकी विशेषता यह है कि साधन साध्य के अनुकूल रहता है जिससे उद्देश्य की प्राप्ति होना सम्भावित बना रहता है। कला और साहित्य द्वारा इस दिशा को स्वीकृति प्राप्त हो जाने से आज के अनेक सांस्कृतिक एवं सौन्दर्यशास्त्रीय प्रश्नों पर नया प्रकाश पड़ता है। साहित्य और कला सोद्देश्य तो बनी रहती है किन्तु उसकी पक्षधरता सत्य की सापेक्षता में स्वीकृत होती है। देश, काल और परिस्थिति की सीमा में निर्धारित हुआ सत्य सदैव सापेक्ष होता है अतः साहित्य सापेक्ष सत्य की सापेक्षिक उपलब्धि का प्रयास होने के कारण व्यक्ति और समाज की सम्पूर्ण समस्याओं से भी सम्बन्धित हो जाता है। यह उसका दोष नहीं, वरन् गुण है। जो साहित्य इन समस्याओं और परिवेश को अस्वीकार करना चाहता है—या अस्वीकार करके चलने की घोषणा करता है, वह न केवल पलायनवादी, अमङ्गलकारी, अशिव है, वरन् उसकी यह मान्यता आत्मघाती और भ्रम मात्र है। इस सन्दर्भ में यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि घोषणा करके साहित्य और कला की रचना करने वाले भी ऐसा नहीं कर पाते हैं—उनके कथन की सीमा इसीसे स्पष्ट हो जाती है। साहित्य और कला की रूप रचना में गति और स्थिरता का द्वन्द्व कार्य करता है और इसी प्रकार उसके संवेद्य भाव में भी द्वन्द्व की स्थिति है—यह द्वन्द्व दुहरी प्रक्रिया प्रस्तुत करके एक ओर हमें आनन्दित करता है और दूसरी ओर हमारे सौन्दर्यबोध को पुष्ट करता हुआ अग्रसारित करता है। वह हमें आनन्द देता हुआ सत्य का प्रत्यक्षीकरण कराता है। अतः यह प्रश्न उठना कि सत्यशोधन की प्रक्रिया बौद्धिक हो सकती है और साहित्य के साथ इसे जोड़ना उसके आनन्दवादी उद्देश्य से उसे भ्रष्ट करना है—उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। दूसरी ओर कुछेक प्रगतिवादियों की इस धारणा में भी कोई तथ्य नहीं है कि रसदशा में बुद्धि का एकान्त अभाव हो जाता है और इस प्रकार साहित्य हमारी बुद्धि से असम्पृक्त बना रहता है।

जब यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज निरपेक्ष

और समाज सापेक्ष दोनों दृष्टियों की अतिवादी मान्यतायें अनुपयुक्त हैं एवं व्यक्ति और समाज दोनों का वांछित समन्वय ही इष्ट हो सकता है तब परिवेश का प्रश्न आता है कि उसे किस सीमा तक कितना मुखर होकर स्वीकृति प्रदान की जानी चाहिए। परिवेश की स्वीकृति शिल्पगत तथा भावगत दोनों प्रकार की होती है। परिवेश को अस्वीकार करके कोई कलाकृति सृजित नहीं की जा सकती है, किन्तु आज परिवेश का अर्थ भिन्न-भिन्न व्यञ्जनाओं से युक्त हो गया है। जीवन का योग करने वाला प्रत्येक व्यक्ति जीवन के प्रति एक दृष्टि विशेष भी रखता है—यह दूसरी बात है कि वह स्पष्ट रूप से इसे समझ पा सके या यह अज्ञात ही बना रह जाय। आज परिवेश की स्वीकृति का मुख्य उद्देश्य यह है कि साहित्यकार या कलाकार परिवेश को किस दृष्टि से देखता है। यह दृष्टिकोण उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति को एक दिशा ही नहीं देता, उसकी कला से व्यञ्जित होने वाले जीवन दर्शन को ही स्पष्ट नहीं करता वरन् कलाकृतियों की बिम्ब-रचना तथा अभिव्यक्ति कौशल को भी एक सीमा तक नियोजित करता है। अतः कला और साहित्य के क्षेत्र में परिवेश का महत्व सभी सम्प्रदायों, सौन्दर्य शास्त्रीय सिद्धान्तों तथा दृष्टिकोणों में किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है। जब हम साहित्य और कला का उद्देश्य अहिंसात्मक साधन द्वारा सत्यशोधन स्वीकार कर लेते हैं तो परिवेश का प्रश्न भी सुलझ जाता है कि परिवेश के प्रति हमारी दृष्टि इसी के अनुरूप होनी चाहिए। सम्भवतः अब हम ऐसी स्थिति में आगए हैं कि यह निर्णय कर सकें कि साहित्य किस के लिए लिखा जाता है ? या किसके लिए लिखा जाना चाहिए ?

जो साहित्य को किसी वर्ग विशेष के लिए मानकर चलते हैं वे साहित्य को उसकी विशिष्ट स्थिति से नीचे गिरा देते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि वे इस गिरावट से अपरिचित होते हैं या इस स्थिति को सदैव बनाये रखने का सिद्धान्त बनाकर चलते हैं। वे स्पष्टतः इस स्थिति को एक काल विशेष के लिए ही सीमित करते हैं, किन्तु, इस आग्रह के अन्य अनिवार्य परिणामों पर यथेष्ट ध्यान नहीं दे पाते। परिणाम यह होता है कि साहित्य उद्देश्यभ्रष्ट हो जाता है—साध्य और साधन की एकरूपता विघटित हो जाती है। प्रत्येक काल संक्रान्तिकाल होता है, अतः उस युग के निर्देशक युग को जिस दिशा में मोड़ना चाहते हैं। साहित्य और कला से उसी के अनुरूप अपेक्षा करने लगते हैं तथा ऐसे नियमों का निर्माण करते हैं जिससे साहित्य और कला उन उद्देश्यों की पूर्ति कर सकें। आंशिक रूप से यदि साहित्य और कला से यह काम भी ले लिया जाय तो विशेष आपत्ति नहीं है, क्योंकि वे शाश्वत और सतत को सीमित और विशिष्ट के माध्यम से ही व्यक्त कर पाते हैं, किन्तु इसी को मुख्य मानकर आगे आना अनुपयुक्त है। आज का समाजवादी ही नहीं पूर्वकालिक धार्मिक तथा नीतिवादी भी इस दिशा के अन्ध अनुगामी बने रहे हैं। साहित्य व्यक्ति के लिए है, इसलिए समाज के लिए भी है। समाज के लिए है इसलिए व्यक्ति को भी छोड़ नहीं सकता। यह प्रश्न कि साहित्य किसके लिए जिस रूप में उठाया जाता है—उपयुक्त नहीं है। जिस प्रकार सूर्य किसके लिए, जल किसके लिए, वायु किसके लिए—ये प्रश्न अनिवार्यतः हमें इस उत्तर तक पहुँचाते हैं कि सबके लिए। उसी प्रकार साहित्य भी अपने युग के माध्यम से सभी युगों का, व्यक्ति के माध्यम से समाज का होता है। वह केवल उन्हीं के लिए नहीं है जो आज उसे पढ़ेंगे या पढ़ सकते हैं, वरन् वह उन सबके लिए भी है जो भविष्य में आएँगे चाहे तब तक समाज और भौतिक परिस्थितियाँ कितनी ही क्यों न बदल चुकी होंगी।

साहित्य विज्ञान, दर्शन तथा ज्ञान क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक स्थायी होने के कारण सत्य के अधिक निकट तथा उसे खोज पाने का अधिक अनुकूल माध्यम है। उसका सीधा सम्बन्ध मानव की उन अपेक्षाकृत अधिक स्थायी वृत्तियों से है जो मानव-सभ्यता के आदिम युग से आज तक अपरिवर्तित रूप में चली आ रही हैं एवं समय का एक वृहद अन्तराल भी उन्हें यत्किंचित ही बदल पाता है। हमें वृत्तियों के इस स्थायित्व पर दृष्टि रखकर विचार करना चाहिए कि साहित्य को क्यों

हम इसी के अनुरूप उद्देश्योन्मुखता न प्रदान करें ? सामयिकता के तुच्छ उपविभागों में प्रदर्शित विशेष स्थितियों को मुख्य उपजीव्य बनाकर चलने वाले सौन्दर्यशास्त्री सिद्धान्त हमें गन्तव्य दिशा की ओर प्रेरित करने की अपेक्षा पकड़कर पीछे ही अधिक खींचते हैं—इसका सम्यक् बोध होना चाहिए। साहित्य किसके लिए—इस प्रश्न को हल करते समय हमें यह भी नहीं भुलाना चाहिए कि प्रश्न का उत्तर उसी में निहित रहता है। हमें प्रश्न को तब तक गर्मी देते रहना चाहिए जब तक कि वह उस अतिवादी सीमा तक न पहुँच जाय जहाँ पहुँच कर उससे प्रकट होने वाला सत्य अपनी अधिकाधिक सम्पूर्णता में प्रकट हो जाता है। सत्य जब अनुभूति की सीमा में आ जाता है तब शक्ति बनकर जीवन को सञ्चालित करने लगता है और यह शक्ति उससे आगे के सत्य का साक्षात्कार कराने की प्रेरणा और क्षमता सञ्चालित करने लगता है और यह शक्ति उससे आगे के सत्य का साक्षात्कार कराने की प्रेरणा और क्षमता का साधन बनती है—इस प्रकार साहित्य का उपजीव्य जीवन होते हुए भी वह उसका उद्देश्य बन जाता है। साहित्य जीवन के लिए है—सत्यशोधन के लिए है किन्तु अपने माध्यम की सीमाओं के अन्तर्गत। उसे सीमाओं का अतिक्रमण करके 'केवल प्रचार' का आच्छादन अस्वीकार करना पड़ेगा, तभी उसकी अस्तित्व-रक्षा हो सकती है। आशा है हिन्दी का साहित्यकार अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने से पूर्व अपनी भूमिका का महत्व जान लेगा।

डा० द्वारिकाप्रसाद मिश्र—

मध्यप्रदेश का मुख्य मन्त्रित्व अपने इतिहास के एक ऐसे नवीन चरण में प्रवेश कर गया है जिससे हिन्दी-साहित्य और साहित्यकार उसकी ओर उन्मुख हुए बिना नहीं रह सके हैं। डा० द्वारिकाप्रसाद मिश्र पहले कवि हैं तत्पश्चात् राजनीतिक नेता अथवा अन्य कुछ। हिन्दी का एक समर्थ साधक राजनीति की सिद्ध पीठिका पर आसीन हुआ है—हिन्दी की और सरस्वती की यह प्रतिष्ठा हमें गौरव का अनुभव कराती है। हमारी ओर से बधाई !

बा० गुलाबराय स्मृति ग्रन्थ——

'साहित्य-सन्देश' के यशस्वी सम्पादक स्वर्गीय बा० गुलाबराय एम० ए० की पुण्य स्मृति में 'बा० गुलाबराय स्मृति संस्थान' की स्थापना की गई है जिसके तत्वावधान में 'बाबू गुलाबराय स्मृति ग्रन्थ' के प्रकाशन का वृहद आयोजन आजकल चल रहा है। इस ग्रन्थ में तीन खण्ड होंगे। प्रथम खण्ड में बाबू गुलाबराय के जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सम्बन्ध में विवेचनात्मक एवं मूल्याङ्कनपरक निबन्ध होंगे। द्वितीय खण्ड में भारतीय आलोचना का विविध रूपेण विवेचन एवं मूल्याङ्कन होगा। तृतीय खण्ड आगरा की साहित्यिक गतिविधियों का मूल्याङ्कन व अध्ययन प्रस्तुत करेगा। सभी लेखक बन्धुओं से निवेदन है कि वे अपना अमूल्य सहयोग देने के लिये निम्न पते पर सम्पर्क स्थापित करें—

डा० सत्येन्द्र (संयोजक),
५४, सूर्यनगर आगरा।

बधाई

प्रसन्नता की बात है कि 'साहित्य-सन्देश' के सहकारी सम्पादक प्रो० मक्खनलाल शर्मा को इस वर्ष आगरा विश्वविद्यालय द्वारा हिन्दी में पी-एच० डी० की उपाधि से अलंकृत किया गया है। 'आधुनिक हिन्दी-आलोचना पर मार्क्सवाद का प्रभाव' विषय पर उन्होंने अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया है। 'साहित्य-सन्देश' के अन्य सहयोगी प्रो० रामगोपालसिंह चौहान को भी इस वर्ष पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है। हमें दोनों ही डाक्टरों को बधाई देते हुए प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

———

जैन-काव्य में अलङ्कार-सौन्दर्य

डॉ० सत्यदेव चौधरी

'जैन काव्य' शब्द से तात्पर्य है जैन-कवियों द्वारा अर्ध-मागधी तथा अन्य प्राकृतों में प्रणीत महाकाव्य, खण्ड काव्य और मुक्तक रचनाएँ। इन कवियों में काल क्रम की दृष्टि से सर्वप्रथम स्वयंभू का नाम उल्लेखनीय है और इनके उपरान्त प्रख्यात कवियों में पुष्पदन्त, धन-पाल धक्कड़, नयनन्दी, कनकामर, यशःकीर्ति, हेमचन्द्र, सोमप्रभ सूरि आदि का। इनके प्रबन्ध-काव्यों में कथा-विकास, प्रबन्ध काव्यत्व, जैन सिद्धान्तों की अनुस्यूति आदि का निर्वहण किस प्रकार हुआ है, अथवा उनके मुक्तकों में धार्मिक एवं लौकिक चर्चाओं को किस रूप में स्थान मिला है, प्रस्तुत निबन्ध में इन सब का उल्लेख न कर केवल कल्पना सौन्दर्य पर ही प्रकाश डाला जायेगा, जिसके अभाव में कोई रचना केवल पद्यात्मक बन कर रह जाती है और जिसके सद्भाव पर ही कवि-कर्म प्रमुखतः आधारित है। इसका ही अपर नाम भामह-सम्मत 'वक्रोक्ति' है जिसे वह लोक-वार्त्ता से विभिन्न मानता है और जिसे दण्डी स्वभा-वोक्ति से पृथक् मानता है। यही कल्पना ही ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य तथा रस का आधारभूत तत्त्व है।

(१)

जैन-काव्यों में कल्पना-सौन्दर्य अधिकांशतः संस्कृत के गद्यात्मक एवं पद्यात्मक काव्यों में प्रचलित अल-ङ्कारों द्वारा प्रस्तुत हुआ है। इनमें से कुछ ऐसे हैं जो मूलतः बाह्य चमत्कार पर आश्रित हैं, जैसे—अपन्हुति, परिसंख्या, विरोधाभास, सहोक्ति आदि। कतिपय उदाहरण लीजिए—अयोध्या के अन्तःपुर की नारियों के अङ्गों का वर्णन करते हुए स्वयंभू कहता है—'क्या यह उनका मुख है ?' नहीं, नहीं यह तो चन्द्र बिम्ब है; क्या ये उनके अधर हैं, नहीं, नहीं, यह तो पक्व बिम्ब फल है।

किं आणणु, णं णं चन्दबिम्ब। किं अहरउ णं णं पक्व-बिम्बु। पउमचरिउ ६६।२१।

भविसयत्त-कहा की एक नारी पात्रा का रूप चित्रण करते हुए धनपाल धक्कड़ बाणभट्ट की शैली में विरोधाभास का आधार पर उस सद्गुण सम्पन्ना को भी सदोषा बताते हुए चले जा रहे हैं—

असिरिव सिरिक्त सजल वरंग वरंगणावि।
मुद्धवि सवियार रंजणसोह निरंजणावि॥
भ० क० ११ । ६ । १२.

'असिरि' (अश्री) अर्थात् निर्धन होते हुए भी वह सिरिक्त अर्थात् श्रीमती थी। 'वाराङ्गना' (वेश्या, पक्षे-श्रेष्ठ स्त्री) होते हुए भी वह सजल वराङ्ग थी अर्थात् उसके सुन्दर अङ्ग स्वेद-समुज्ज्वल थे। वह मुग्धा (मूर्खा) होते हुए भी सुविचार-शीला मुग्धा नायिका थी। निरंजन होते हुए भी रंजन शोभा-युक्ता थी अर्थात् उसने आँखों में अंजन नहीं लगाया हुआ था, तो भी वह मनोमोहक सौन्दर्यशालिनी थी। इसी प्रकार परिसंख्या अलङ्कार के निर्वाह में भी कवि को शैलीगत विशेषता की ही शरण में जाना पड़ता है—करकण्ड का हाथ धणु (धन) देने के लिये फैलता है, न कि प्राणिवधार्थ धनुष द्वारा बाण चलाने के लिये—

धणु देवएं पसरइ जासु करु
णउ पाणि हेव्वइं धरइ सरु।
करकण्ड चरिउ १।५।५

इसी प्रसंग में बाणभट्ट की ही एक अन्य शैली का अवलोकन कीजिये। पुष्पदन्त किसी वियोगिनी की हृदय-दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उस वियो-गिनी को मलयानिल प्रलयानल के समान लगता था, भूषण सन के बन्धन के समान प्रतीत होते थे, × × × वसन को वह व्यसन समझती थी और चन्दन उसके लिये विरहाग्नि के ईंधन के समान था।[1]

[1] तिसट्ठि महापुरिसगुणालङ्कार २२।६

इसी प्रकार सहोक्ति अलङ्कार के चमत्कार में भी कवि को कल्पना की अपेक्षा शब्द चयन की आवश्यकता अधिक रहती है। युद्ध भूमि का यह दृश्य देखिए—इधर रणभूमि में सूरों (शूर वीरों) का अस्त हुआ और उधर सूर्य का। इधर गजों का काला मद फैला और उधर अन्धकार। इधर गजों के गण्डस्थलों से मोती विकीर्ण हुए और उधर नक्षत्र उदित हुए। इधर विजयी राजा का धवल यश बढ़ा और उधर शुभ्रचन्द्र।[1]

इन उदाहरणों द्वारा स्पष्ट है कि इन अलङ्कारों का सौन्दर्य अधिकांशतः शब्द चयन पर निर्भर है और कल्पना तत्त्व इसी सघन शब्दजाल के नीचे दबकर रह जाता है, किन्तु जितना भी वह इस जाल से बाहर फूटता सा अभिव्यक्त होता है, वह एक ओर कवि की कल्पना-शक्ति का परिचायक होता है और दूसरी ओर इस प्रकार की शैलियों द्वारा चमत्कृत होने वाले पाठकों की सुविज्ञता का।

(२)

इन अलङ्कारों के उपरान्त दूसरी कोटि में वे अलंकार आने चाहिए जिनमें उक्त अलङ्कारों की तुलना में शब्द चयन की अपेक्षा इतनी नहीं रहती जितनी कवि कल्पना की। यद्यपि ऐसे प्रयोगों में भी कवि को खींचतान करनी पड़ती है किन्तु वह स्थूल कम होती है और आन्तरिक अधिक। भ्रान्तिमान् और रूपक अलङ्कारों के निम्न निदर्शनों से इस कथन की पुष्टि हो जाएगी। चन्द्रमा छिटका हुआ है किन्तु सघन वृक्षों के तले घना अन्धकार है। वृक्षों के छिद्रों में से फिर भी चन्द्रकिरणें फूटी पड़ रही हैं और उस भू-भाग को श्वेत बना रही हैं। पुष्पदन्त 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार का आधार लेते हुए कल्पना करते हैं कि इसी श्वेतता को एक ओर बिल्ली दूध समझ कर पीना चाहती है और दूसरी ओर मयूर इसे श्वेत सर्प समझ कर कई बार झड़प कर पकड़ना चाहता है।[2]

[1] तिसट्ठि महापुरिसगुणालङ्कार २८।३४।१–५

[2] रंधायारु थियउ अंघारइ दुद्धसंक पयणइ मजारइ।
भोरें पंउरु सप्पु वियाप्पिवि मुद्धें कह व ण गहिउ झडप्पिवि॥ वही—१६।२४।६–१२
तुलनार्थ— काव्यप्रकाश (मम्मट) १०।५५२

इसी प्रकार रूपक अलङ्कार के आधार पर स्वयम्भू नर्मदा नदी को वस्त्राभूषणसज्जिता नारी के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि इसका सनाद जल-प्रवाह नूपुर-झङ्कार के सदृश है, इसका स्खलित उच्छलित जल रशनादाम की भ्रान्ति उत्पन्न करता है, इसके आवर्त शरीर की त्रिवलि के समान है और इसका आन्दोलित फेनपुञ्ज लहराते हुए हार के समान प्रतीत होता है।[1]

साङ्गरूपक की तो प्रायः यही स्थिति होती है कि इसमें कवि को अधिक खींचतान करनी पड़ती है, कभी-कभी उपमा अलङ्कार के निर्वहण में भी, जिसमें इस खींचतान का अवकाश कम रहता है, ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है और वह रचना सामान्यतः अधिक हृदयहारी नहीं बन पाती—

एयस्स वयण-पंकय पलोयणं मोत्तु मह इमा दिट्ठी।
पंक निवुड्ढा दुब्बल गाइब्ब न सक्कए गंतु॥
—सरसुन्दरीचरिय (धनेश्वर)

अर्थात् जिस प्रकार कीचड़ में फँसी हुई कोई दुर्बल गाय अपने स्थान से हटने के लिए असमर्थ होती है, उसी प्रकार उसके मुख कमल पर गढ़ी हुई मेरी दृष्टि वापिस नहीं लौटती।

(३)

कुछ अलङ्कार ऐसे भी होते हैं जिनका काव्य-सौन्दर्य कवि की कल्पना की ही अपेक्षा रखता है, उसे विशिष्ट शब्दावली पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। कवि की कल्पना जितनी उर्वरा होगी, उनका सौन्दर्य उतना ही अधिक होगा। उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलङ्कार इनमें से हैं। गंगा का वर्णन करते हुए कवि कनका भर कल्पना करता है कि शुभ्र-सलिला तथा कुटिल-गामिनी गङ्गा दूर से ऐसी दिखाई देती है मानो शेषनाग की स्त्री चली जा रही हो। ×× दोनों कूलों पर लोग स्नान करते समय आदित्य को अर्घ्य दे रहे हैं, मानों स्वयं गङ्गा नदी दोनों हाथ ऊपर उठाए करकंड से प्रार्थना कर रही है कि मुझ पर क्रोध न करना।[2]

[1] पउमचरिउ १४।३

[2] करकंड चरिउ ३।१२।५–१०।

पुष्पदन्त सीता के सौन्दर्य के सम्बन्ध में कहता है कि उसकी शुभ्र दन्त पंक्ति की दीप्ति से मोती परास्त हो गये और तिरस्कृत हो गये, अन्यथा वे क्यों बींधे जाते। उसकी मुखचन्द्र-चन्द्रिका से दिशाएँ धवलित हो गईं अन्यथा शशि क्यों क्षीण होता।

दिय दित्तिइ जित्तहं घत्तियाइं
इयरह कह विद्धइं मोत्तियाइं।
मुह ससि जोण्हइ दिस धवल
थाइ इयरह कह ससि झिज्जंतु जाइ॥
—ति० महापुरिसगुणालंकार ७०।११

किन्तु जब इस प्रकार की कल्पनाओं में भी सीमा की अतिशयता हो जाती है तो रङ्ग इतने गहरे हो जाते हैं कि इनसे व्यामोह-सा होने लगता है। रेवा नदी में सहस्रार्जुन की रानियों द्वारा जल-क्रीड़ा करते समय उन्होंने कहीं तो अपने चन्द्र एवं कुन्द सम धवल हारों को जल से धवलित कर दिया और कहीं अपने समुज्ज्वल कुण्डलों से उसे समुज्ज्वल बना दिया, कहीं सरस ताम्बूल से उसे रक्तिम कर दिया तो कहीं घुले हुए कज्जल से उसे काला कर दिया और कहीं अपने कुंकुम से उसे पिंजरित कर दिया।[1]

कभी इस प्रकार की कल्पनाएँ उपहासास्पद भी बन जाती हैं—नागकुमार जब कश्मीर पहुँचे तो पुर-नारियों की दर्शनोत्कण्ठा इतनी अधिक बढ़ी थी कि एक नारी न केवल घर में आये अपने जामाता के पैरों पर जा पड़ी अपितु उसके पैर जल के स्थान पर घी से धोने लगी। × × × एक नारी (दही के स्थान पर) पानी को ही मथने लगी, × × × और दूसरी सूत्र के बिना ही माला गूँथने लगी। × × × एक अन्य की घबराहट तो यहाँ तक बढ़ी कि अपने बच्चे की चिन्ता में वह बिल्ली के बच्चे को ही साथ लेकर चल पड़ी—

पाएं पड़इ मूढ़ जामायहां धोयइ पाय घएं घरु आइहो।
× × ×
अइ अण्णा मण डिंभु चिंतेप्पिणु
गय मज्जायर पिल्लउ लेप्पिणु।

घूवइ खीरु कावि जलु मंथइ
कावि असुत्तउ मालउ गुंथइ॥
—णायकुमारचरिउ ५।२

इस उपहास्यता का एकमात्र कारण है—अस्वाभाविकता। वस्तुतः कल्पना का उदय अनायास होता है, स्वाभाविक रूप से होता है, ऐसी कल्पना स्वीकार्य मनस्तोषक एवं मनोहार होती है। कल्पना न सूझने पर जब इसके लिये आयास किया जाता है, दूसरे शब्दों में, उसे कृत्रिम उपाय से ग्रहण किया जाता है तो निस्सन्देह वह मनोहारी तो नहीं हो पाती, प्रायः अस्वीकार्य तथा उपहासास्पद भी बन जाती है। ठीक इसी प्रकार जब उपमानों की झड़ी स्वाभाविक कल्पना पर आधारित न रह कर व्यवहारिक एवं नैतिक उपदेश देने लगती है तो एक ओर न तो वह उपमेय का सौन्दर्य-बोध करा सकने में सक्षम होती है, न सहृदय के मन को आकृष्ट कर सकती है और न कवि-कल्पना के प्रति पाठक के मन से समादर जगा पाती है। मेघजाल आकाश में सहसा फैल गया, इसी को स्वयंभू ने उपमानों द्वारा सुन्दर रूप देना चाहा, किन्तु वह प्रकारान्तर से उपदेश देने में तो सफल हो गया पर उपमेय के प्रति न्याय न कर सका—जैसे सुकवि का काव्य, अज्ञानी का अन्धकार, पापिष्ठ का पाप, धनहीन की चिन्ता, वन में दावाग्नि सहसा फैल जाती है, उसी प्रकार मेघजाल आकाश में सहसा फैल गया।'[1]

(४)

आइए, अब कुछ स्वाभाविक एवं मनोरम कल्पनाओं की मृदु-कोमल चटक निहारें।

वन गमन की वेला में सीता ने राम-लक्ष्मण का साथ दिया। उस समय वह अपने मन्दिर (भवन-कक्ष से) ऐसे निकली मानो हिमालय से गंगा निकल पड़ी हो, छन्दस् से गायत्री निकली हो और शब्द से विभक्ति—

णिय मन्दिर हो विणिग्गय जाणइ।
णं हिमवन्त हो गंग महाणइ॥
णं छन्द हो णिग्गय गायत्ती।
णं सद्दहो णीसरिय विहत्ती॥
पउमचरिउ २।२३।६

[1] पउमचरिउ १४।६।

[1] पउमचरिउ २८, १

सीता अग्नि-परीक्षा के उपरान्त अयोध्या लौटीं, उनका भव्य स्वागत हुआ, और इतने लम्बे व्यवधान के उपरान्त हलधर (राम) ने सीता की ओर निहारा। उनका यह प्रथम दर्शन मानो ऐसे था जैसे सागर शुक्ल-पक्ष की प्रथम चन्द्रलेखा को देखे—

परमेसरि पढम-समागमे झत्ति णिहालिय हलहरेण।
सिय-पक्खहो दिवसे पहिल्लए चद-लेह णं सायरेण॥
—पउमचरिउ।

भविष्य दक्ष धनधान्य-परिपूर्ण किन्तु जनशून्य तिलक द्वीप में अकेला घूम रहा है, वह सकल ऐश्वर्य सामग्री को देखता चला जाता है। आगे वह देखता है कि गवाक्ष आधा खुला पड़ा है। कवि कल्पना करता है मानो वे किसी नव वधू की अध खुली आँखें हैं। आगे फलक पर उसे गुह्य अन्तर्देश दिखायी देता है, मानो वे वनिताओं के खुले उरु प्रदेश हों—

पिक्खइ मंदिराइं फल-अध्दुग्घाडिय-जाल-गवक्खइं।
अद्ध-पलोइराइ णं णव-वहु-णयण-कडक्खइं॥
अह फल हंतरेण दरिसिअ-गुज्झंतर-देसइं।
अद्ध पयंधियाइं विलयाण व उरु-पएसइं॥
—भविस्सयत्त कहा

नायिका से सखी ने नायक की लम्पटता की चर्चा करनी चाही तो वह बोल उठी—सखी! जो कुछ तुझे मेरे प्रिय की सदोषता के सम्बन्ध में कहना हो वह निस्सङ्कोच कहो, किन्तु धीरे से कहो। इतना धीरे कि मेरा मन भी न जान पाये। क्योंकि वह तो उसी का पक्षपाती है—

भण सहि, निहुअऊं तेवं मइं, जइ पिउ दिट्ठ सदोसु।
जवं न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु॥
—प्राकृत व्याकरण (हेमचन्द्र)

मिलनोत्सुका नायिका मन ही मन नये-नये सङ्कल्प घड़ रही है। अब की बार जब मिलन होगा तो एक अभूतपूर्व क्रीड़ा करूँगी—जैसे मिट्टी के (नये) वर्तन में पानी उसके कण-कण में समा जाता है, वैसे ही मैं भी उसके सर्वाङ्ग में प्रवेश कर जाऊँगी—

जइ केवइं पावीसु पिउ अकिया कुड्ड करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिव सव्वंगें पइसीसु॥
—प्राकृत व्याकरण (हेमचन्द्र)

नायक अनेक लालसाएँ लेकर (चाँदनी रात में) नववधू के मुखदर्शन के लिए गया, (उसने घूंघट हटाया ही था कि) गौरी के मुखमण्डल की दीप्ति से, निर्जित चन्द्रमा बदली के पीछे जा छिपा, और इस बेचारे का मनोरथ धरा-का-धरा रह गया—इस ग्रन्थ-कार में वह दर्शन करता भी तो कैसे—

नव-बहु-दंसण-लालसउ बहइ मणोरह सोइ।
ओ गोरी-मुह-निज्जिअइ बद्दलि लुक्कु मियुंकु॥
प्रा० व्या० (हेम०) ८।४।४०१

(५)

इस प्रकार जैन-कवियों ने मूलतः धर्मप्रधान कृतियों की रचना करते हुए भी इन्हें कोरा धर्मोपदेशकग्रन्थ नहीं बना दिया। काव्य धर्म के प्रमुख तत्त्व कल्पना की सुरक्षा करते हुए इन्हें वाग्वैदग्ध्य के बल पर चमत्कृत किया है—यह अलग प्रश्न है कि ऐसे स्थलों से ये अनुस्यूत नहीं हैं। वस्तुतः यह समुचित भी हुआ है, अन्यथा मूल विषय के प्रति अन्याय होने का भय रहता। बाणभट्ट का काव्य भी आधुनिक आलोचक की दृष्टि में इसी दोष का भागी है। जैन-काव्य में अलङ्कार बहुलता को स्थान न देने अथवा न मिल पाने के अनेक कारण हो सकते हैं। उनमें से एक यह कि जैन-कवियों ने धार्मिक सिद्धान्तों के सरल—प्रतिपादनार्थ लौकिक गाथाओं का वर्णन करने के लिए, अथवा यों कहिए, लौकिक गाथाओं को धार्मिक रङ्ग में रङ्ग कर प्रस्तुत करने के लिये लेखनी उठायी, तो उनका कवि-हृदय यत्र-तत्र मचल उठा और अनेक स्थल कल्पना-स्पर्श पाकर मुकुलित हो गये। कारण जो भी हो, ये कल्पना-रञ्जित स्थल हृदयग्राही हैं। इनमें संस्कृत-काव्यों की परम्परा-गत शैली का चमत्कार भी मिलता है और स्वच्छ कवि हृदय से निस्सृत मर्मस्पर्शी उक्तियाँ भी।

—दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

बाल्मीकीय रामायण का रचना-काल

श्री रामवरणसिंह 'सारथी'

वैदिक-साहित्य के इतिहास पर सरसरी नज़र दौड़ाने से ऐसा ज्ञात होता है कि बाल्मीकीय रामायण की रचना ईसवी पूर्व पाँच अथवा छः सौ वर्ष पहले हुई है। विश्व-साहित्य में जितने भी महाकाव्य हैं, उन महाकाव्यों में बाल्मीकीय रामायण ही सबसे पुरातन महाकाव्य है। सबसे पुरातन महाकाव्य होने के नाते इसे काल की सीमा में बाँध कर अङ्कगणित के हिसाब के समान कोई निश्चित रचना-काल का सहज उत्तर ढूँढ़ लेना आसान काम नहीं है। इस सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत तथा सिद्धान्त हैं। बौद्ध चिन्तकों की धारणा है कि बाल्मीकीय रामायण की रचना दशरथ जातक बौद्ध ग्रंथ के समकालीन हुई है। दशरथ जातक की रचना ई० पू० तीन शताब्दी पहले हुई है। ऋक्संहिता में भी राम शब्द का प्रयोग वर्त्तमान है। यह 'राम' शब्द श्री रामचन्द्रजी का ही सूचक है। ऋग्वेद के दशम मण्डल की रचना के पूर्व श्री रामचन्द्रजी का होना कुछ 'चिन्तक' प्रमाणित करते हैं। पाश्चात्य चिन्तकों के मतानुसार ऋग्वेद के दशम-मण्डल का समय ई० पू० पन्द्रहसौ वर्ष पहले कूता जाता है और शतपथ ब्राह्मण नामक ग्रन्थ में रामचन्द्र जी का वर्णन है। शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ का काल निर्धारण ई० पू० अढ़ाई हजार वर्ष पहले किया जाता है। इस खींचातानी के अनुसार पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार बाल्मीकीय रामायण का रचना-काल ई० पू० १५०० पन्द्रह सौ मूल्याङ्कन किया जा सकता है। बाल्मीकि-ऋषि का समय भारतीय ज्योतिष शास्त्र के अनुसार लोग इस तरह निश्चित करते हैं—भारतीय ज्योतिष शास्त्र के अनुसार बाल्मीकि मुनि का समय ई० पू० तीन या चार हजार पूर्व पहले आँका जाता है। जर्मन के विद्वान् प्रोफेसर याकोविरपि ने भारतीय ज्योतिष शास्त्र के मत का ही समर्थन किया है।

बाल्मीकीय रामायण से और बाल्मीकि मुनि के सम्बन्ध में पौराणिक काल की प्रचलित दंत कथाओं से नारद और बाल्मीकि का समकालीन होना सिद्ध किया जाता है। भक्ति और पर्यटकों के क्षेत्र में नारद मुनि का अद्वितीय स्थान दिया गया है। नारद मुनि का अथर्ववेद में ५।१९।९ तथा ७।४।१६ में वर्णन आया है। महात्मा नारद-मुनि का और सत्य हरिश्चन्द्रजी का भी भारतीय पुराणों में एक साथ होना प्रमाणित होता है। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो नारद और बाल्मीकि को अनार्यों के समकालीन पाते हैं। जब आर्यों का फैलाव अथवा विस्तार भारतवर्ष के दक्षिण अंचलों में हुआ तब ये दोनों सुसंस्कृत और सुसभ्य बने। महात्मा तुलसीदास ने इन दोनों को निम्न वंश में होना स्वीकार कर लिया है। निम्नवंश का तात्पर्य अनार्य से समझना चाहिये।

'बाल्मीकि नारद घट जोनी। निज-निज मुखनि कही निज होनी।' इस चौपाई में नारद का उल्लेख बाल्मीकि और घटयोनी (अगस्त्य) के साथ हुआ है। अगस्त्य उर्वशी के पुत्र थे, इसका उल्लेख ऋग्वेद के सातवें मण्डल के ३३ वें सूक्त की १०–१३ ऋचाओं में हुआ है। उर्वशी एक अप्सरा थी और उस अप्सरा के पास शील और नैतिकता नाम की कोई चीज नहीं थीं। बाल्मीकि युवावस्था तक एक प्रकार के लुटेरा और डकैत थे। बाल्मीकि ने नारद को भी छीनछोर करना चाहा था। बाल्मीकि के इन कामों से अनार्यत्व का होना स्पष्टतः सिद्ध होता है। आर्य लोग सभ्य और सुसंस्कृत थे। वे लूटपाट के द्वारा अपने परिवार की जीविका नहीं चलाते थे। इन घटनाओं से सिद्ध होता है कि बाल्मीकि और नारद रामचन्द्र से पहले हुए हैं। अथर्ववेद और पुराणों की कथाओं से जैसा परिणाम निकलता है उस परिणाम के अनुसार बाल्मीकि अवश्य ही 'राम' से पहले उत्पन्न हुए हैं किन्तु प्राचीन युगों के

ऐतिहासिक तथ्यों के सत्यासत्य का निर्णय करना सहज कार्य नहीं है।

आर्यों के आदि निवास-कालीन इतिहास को पढ़ने से ज्ञात होता है कि बहुत समय पहले राजपूताना, सिन्धु, युक्तप्रान्त का अधिकतर भाग, बिहार; एवं बङ्गाल समुद्र के गर्भ में थे। सप्त-सिन्धु के तीन तरफ समुद्र था। इसी से ऋक्संहिता में जहाँ अनेकानेक नदियों की चर्चा हैं, वहाँ उसमें सरयू आदि नदियों की चर्चा नहीं है। सरयू नदी के किनारे अयोध्या है। उस समय अयोध्या राज्य नहीं था। न सरयू नदी थी और न अयोध्या राज्य ही था। अयोध्या तो सप्त-सिन्धु के पूर्व में है और सप्त-सिन्धु के पूर्व में आर्य जाति का विस्तार बहुत समय के बाद हुआ। ब्राह्मण-युग तक आर्य लोग पूर्व में नहीं फैले थे। जब आर्यों का फैलाव पूर्व की ओर हुआ ही नहीं था, तब रामचन्द्र एकाएक पूर्व में किस प्रकार आते? रामचन्द्रजी तो इच्छ्वाकु वंश के कुलावतंस थे। रामचन्द्र के युग में बहुत प्रकार की देवी-देवताओं की पूजा होने लग गई थी। वैदिक-युग में आर्य लोग अग्नि की पूजा करते थे। अग्नि यज्ञ का पुरोहित माना जाता था। अग्नि कन्याओं का स्नेही और उनका प्रथम पति माना जाता है। क्योंकि आज भी कन्याओं के विवाह के पहिले अग्नि की परिक्रमा की जाती है तथा कुँवारी कन्या सर्वप्रथम अग्नि को ही समर्पित की जाती है। इन्द्र, विष्णु और शिव की परिकल्पना तो बहुत वर्षों के बाद हुई। इससे भी प्रकट होता है कि बाल्मीकीय रामायण के प्रधान नायक श्री रामचन्द्रजी बहुत वर्षों के बाद हुए हैं। वैज्ञानिक तर्क के अनुसार बिना रामचन्द्र के आविर्भाव के बिना रामायण की रचना किस प्रकार हुई होगी?

अन्य ग्रन्थों की चर्चा छोड़कर अब जरा रामायण की भाषा, छन्द, प्रकरण, सामाजिक रीति-नीति और यत्र-तत्र वर्णन उपादानों के आधार पर रामायण की रचना की जाँच-पड़ताल कीजिए। इतना तो निर्विवाद सत्य है कि वेद में ऋचा है, मन्त्र है और सूक्त है, किन्तु उसमें छन्दशास्त्र के अनुसार छन्द नहीं है। सच पूछिये तो बाल्मीकीय रामायण की संस्कृत-भाषा वैदिक-संस्कृत से एकदम भिन्न है। वैदिक संस्कृत और रामायण की संस्कृत भाषा में बहुत अन्तर है। बाल्मीकीय रामायण की संस्कृत-भाषा लौकिक-संस्कृत भाषा की संज्ञा से अभिहित होती है और वैदिक-संस्कृत भाषा वैदिक संस्कृत भाषा कहलाती है। लौकिक संस्कृत भाषा बोलचाल की किसी समय समस्त आर्य जाति की राष्ट्रीय भाषा थी और वैदिकी-संस्कृत भाषा नहीं। भाषा में परिवर्तन होने पर ही व्याकरण और छन्द-शास्त्र में भी अनायास परिवर्तन होता रहता है। लौकिक संस्कृत भाषा पाणिनी और पतञ्जली ऋषि के समय समस्त राष्ट्र की बोलचाल की भाषा थी। गुप्त साम्राज्य के समय में धारा नरेश राजा भोज के समय जन-साधारण भी अशुद्ध संस्कृत का उच्चारण करने में अपनी अप्रतिष्ठा और राष्ट्र की अप्रतिष्ठा का अनुभव करता था।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्॥

इस श्लोक की रचना लौकिक संस्कृत के अनुष्टुप् छन्द में की गई है। इससे ज्ञात होता है महाकवि बाल्मीकि के युग में लौकिक संस्कृत भाषा सर्वत्र प्रचलित हो चुकी थी। संस्कृत भाषा के मर्मज्ञ, छन्दशास्त्र से अधिक या न्यून, भली भाँति परिचित हो चुके थे। छन्दशास्त्र के नियम जानना और बात है और छन्द-शास्त्र के नियम जानकर छन्द की रचना करना और बात है। छन्दशास्त्र के नियमानुसार पहले-पहले छन्द की रचना करने में महाकवि बाल्मीकि को ही सफलता मिली है। इसीसे इन्हें आदिकवि माना जाता है और बाल्मीकीय रामायण हमारा आदि काव्य कहलाता है। इस आदि महाकाव्य के कथानक की पूरी जानकारी नारद को थी। नारद द्वारा सुने हुए कथानक को दृष्टि-कोण में रखकर आदि कवि बाल्मीकि ने आदि महाकाव्य की रचना की है। आदि महाकाव्य में छन्दशास्त्र, रसशास्त्र और अलङ्कारशास्त्र का भी यथेष्ट पुट है।

बाल्मीकीय रामायण में उल्लिखित कुछ अंशों पर ध्यान देने से ऐसा ज्ञात होता है कि बाल्मीकि रामायण को प्रणयन के समय आर्यों और अनार्यों में आक्रमण और प्रत्याक्रमण की भावना मिट चुकी थी। रीति-

रिवाजों की अनेकता में एकता की कड़ी जुड़ गई थी। दोनों आपस में घुल-मिल कर पूरे भारतीय बन चुके थे। दोनों की प्रतिस्पर्धा समाप्त हो चुकी थी और दोनों के दोनों एकता की कड़ी में आबद्ध होकर प्रगति की ओर कदम बढ़ा रहे थे। दोनों का खान-पान भी एक समान चलने लगा था। समाज की सामाजिक सभ्यता और संस्कृति में आर्य एवं अनार्य की भ्राम्क पोल देखने को नहीं मिलती थी। आपसी अभिन्नता की फुलवारी हरी-भरी हो उठी थी। देखिये — बाल्मीकीय रामायण के अयोध्याकाण्ड के षट्पंचाश: सर्ग के कुछ छन्दों को —

ऐणेयं मांसमाहृत्य शास्त्रां यस्यामहे वयम्।
कर्त्तव्यं वास्तुशमनं सौमित्रे चिर जीविभिः ॥२२॥
मृगं हत्वाऽऽनय क्षिप्रं लक्ष्मणेह शुभक्षेण।
कर्त्तव्यः शास्त्रदृष्टो हि विधिधर्ममनुस्मर ॥२३॥
स लक्ष्मणः कृष्णमृगं हत्वा मेध्यं प्रतापवान्।
राम चिक्षेप सौमित्रः समिद्धे जातवेदसि ॥२६॥

रामचन्द्रजी वनवास की अवस्था में जङ्गल में जाते हैं। वहीं बाल्मीकिजी का दर्शन करते हैं और वे चित्रकूट में पर्णशाला बना कर वनवास की अवधि व्यतीत करने लग जाते हैं। वहाँ उनकी भोजन की व्यवस्था में माँस की भी व्यवस्था है। अनार्य के साहचर्य में जाने के बाद ही आर्य रामचन्द्रजी निरामिस से मांस-भक्षी बने। चित्रकूट पहुँचने पर राम ने लक्ष्मण से कहा कि हरिण का मांस लाकर हम लोग पर्णशाला की अधिष्ठात्री की पूजा करेंगे। और भी देखिये—रामचन्द्रजी को भरतजी चित्रकूट से वापस लौटाने आये हैं। भरद्वाज ऋषि उनका स्वागत-सत्कार करते हैं। उस स्वागत-सत्कार में भी भरद्वाज ऋषि द्वारा पुष्पों के रस से बनाए हुए बकरे और वन-शूकर के मांस तथा व्यञ्जन और रसयुक्त दाल के साथ-साथ शराब से भरी हुई प्यालियाँ, मृग, मयूर और मुर्गों तक के मांस के प्रबन्ध कर दिये जाते हैं। इस प्रबन्ध से ज्ञात होता है कि राम के युग में अथवा ऋषि बाल्मीकि के युग में आर्य और अनार्य की सभ्यता में एकता स्थापित हो रही थी।

आजैश्चापि च वाराहैर्निष्ठान वर संचयैः।
पुष्पनिर्यूहसंसिधै सूपैर्गन्धरसान्वितैः ॥६७॥
पुष्पध्वजलतीः पूर्णाशुक्लास्यान्नस्य चाभितः।
ददृशुर्विस्मितास्तत्र नरा लौहीः सहस्रशः ॥६८॥
वाप्यो मैरेयपूर्णश्च मृष्टमांसचयैर्वृताः।
प्रततपिठरैश्चापि मार्ग मायूर कौक्कुटैः ॥७०॥

यहाँ पकाये गये मृग, मोर और मुर्गों के माँस ढेर के ढेर रख दिये गये थे। आज माँस खाना, मुर्गा का माँस खाना और शराब पीना राक्षसी भोजन तथा निम्न स्तर के लोगों का भोजन करना माना जाता है। खान-पान के इन प्रचलित रिवाजों से भी रचना-काल का हिसाब-किताब लगाया जा सकता है। अन्न पैदा करने की शक्ति आर्यों में थी। और शिकार द्वारा वन-जन्तुओं की हत्या कर माँस का भोजन अनार्य लोग करते थे। यहाँ अनार्यों का भोजन राम और भरत करते हैं। इसमें कोई परहेज नहीं करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि बाल्मीकि अथवा राम का युग दो परस्पर विरोधी सभ्यता और संस्कृति का सम्मिश्रण एवं समन्वय का युग था। सभ्यता और संस्कृति के इसी समन्वयवादी युग में विश्व-साहित्य के आदि महाकाव्य बाल्मीकि द्वारा रचे गये हैं। ये सारी बातें रामायण के निर्माण काल में घटित हुई हैं। इसके अलावा रामायण में ऐसे और भी स्थान हैं जिनसे इस महाकाव्य को बहुत पुराना होना नहीं प्रमाणित होता है।

बाल्मीकीय रामायण की वर्णित घटनाओं का एक प्रसङ्ग और भी देखिए—

यथा हि चोरः स तथाहि बुद्ध
स्तथागतं नास्तिकत्र च विद्धि।
तस्माद्धि यः शक्यतमः प्रजानां
स नास्तिके नाभिमुखो बुधःस्यात् ॥३४॥
अयोधकांड दशाधिक शततमः सर्ग।

जैसे चोर दण्डनीय होता है, उसी प्रकार वेद-विरोधी बौद्ध मतावलम्बी भी दण्डनीय है। तथागत महात्मा बुद्ध अथवा उनके चरण चिन्हों पर चलने वाले व्यक्ति विशेष को भी यहाँ इसी कोटि में समझना चाहिए। इसलिए प्रजा पर अनुग्रह करने के लिये राजा द्वारा जिस नास्तिक को दण्ड दिलाया जा सके, उसे तो चोर के समान दण्ड दिलाया ही जाय। परन्तु

जो वश के बाहर हो उस नास्तिक के प्रति विद्वान ब्राह्मण कभी उन्मुक्त न हो, उससे वार्त्तालाप तक न करे। इस श्लोक द्वारा बौद्धों और बौद्ध धर्म के फैलाने वालों के साथ उग्र विरोध किया गया है। यदि कवि के पास सत्ता का बल हाथ में होता तो निश्चय ही बुद्ध और बुद्धमत के मानने वालों को फाँसी की सजा दे देता। इन सब वर्णित घटनाओं का प्रभाव बाल्मीकीय रामायण के रचनाकाल पर पड़ता है। तथा इन्हीं घटनाओं, छन्दों, लौकिक संस्कृत-भाषा, रस, अलङ्कार और पिंगल के आधार पर बाल्मीकीय रामायण के रचनाकाल के सम्बन्ध में आसानी से निर्णय किया जा सकता है।

इन सब वर्णित घटनाओं से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि बाल्मीकि मुनि से 'राम' बहुत पहले हुए थे और बाल्मीकि मुनि बुद्ध के बाद में। अथवा ऐसा भी हो सकता है कि आदि बाल्मीकि कवि की रामायण की प्रति अब परिलुप्त हो गई है और उसके बदले में भिन्न-भिन्न बाल्मीकि के रचे हुए छन्दों के आधार पर आज की बाल्मीकीय रामायण काव्य-जगत में समादर प्राप्त करने की अधिकारिणी बनी हुई है। अथवा बाल्मीकि मुनि की परम्परा में बहुतेरे बाल्मीकि मुनि शङ्कराचार्य की गद्दी के अधिकारी के समान अधिकारी व्यक्ति कहलाकर बाल्मीकि की परम्परा को महात्मा बुद्ध के बाद भी जीवित किए हुए थे। किसी कारण से आज उस परम्परा के नामोनिशान का दर्शन नहीं होता है। फिर प्रश्न होता है कि रामायण की काव्य-कड़ी में क्रमबद्धता किस प्रकार आती? भिन्न-भिन्न बाल्मीकि मुनियों की भिन्न-भिन्न भाषा होती और क्रमबद्धता की कड़ी टूट जाती। इन सब कारणों से मेरी मान्यता के अनुसार आज के प्रचलित आदि महाकाव्य की रचना महात्मा बुद्ध के बाद ही हुई है। ईस्वी चाहे जो भी हो। राम बहुत पहले हुए और बाल्मीकीय रामायण की रचना महात्मा बुद्ध के बाद हुई। राम से और बाल्मीकि मुनि से दर्शन वगैरह का प्रसङ्ग शङ्कराचार्य के गद्दी के समान है। उस बाल्मीकि द्वारा रचना की हुई आज की बाल्मीकीय रामायण नहीं है।

—सरथा, वाया तरनौत, पटना (बिहार)

सूफीमत और प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा

श्री चन्द्रेश्वरप्रसाद कर्ण

इतिहास साक्षी है कि दो जातियों का सम्मिलन एक नई सभ्यता, नयी भावना और नयी विचारधारा का जनक बनता है। यह मान्यता भारत में सूफीमत के प्रचार-प्रसार के साथ अक्षरशः सत्य है। भारतवर्ष में सूफीमत का प्रचार और उसके प्रसूत प्रेमाख्यानक काव्य का प्रवर्तन मुसलमानों के आगमन के बाद हुआ। भारत और अरब का सम्बन्ध बहुत प्राचीन है। यह ईसवी-सन् के पूर्व से ही आरम्भ हो गया था। किन्तु, मुसलमानों का भारत से विशेष सम्बन्ध ईसा की आठवीं शताब्दी से माना जाता है। मुसलमानों के आक्रमण बराबर होते रहे हैं। वे इस्लाम का प्रचार हिन्दू-राजाओं की सहायता से करते रहते थे। इस तरह से इस्लाम के अनुयायिओं की संख्या निरन्तर बढ़ रही थी। मसूद जब १० वीं शताब्दी में भारत आया था, तब उसने चोल राज्य में १० हजार मुसलमानों की बस्ती देखी थी। इब्नबतूता को भी खम्भात से मालावार तक मुसलमानों की अच्छी बस्ती देखने को मिली थी।

भारत में मुसलमान विजेताओं के बस जाने के बाद हिन्दू और मुसलमानों को साथ रहने का अवसर मिला। हिन्दू मुसलमान को घृणा की दृष्टि से देखते थे क्योंकि अधिकांश मुसलमान शासकों ने उनके धार्मिक विश्वासों पर ठेस पहुँचायी थी। हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों की सभ्यता तथा संस्कृति उन्नत हो चुकी थी। भारतवर्ष पर मुसलमानों की विजय के उपरान्त जब हिन्दू और मुसलमान सभ्यताओं का संयोग हुआ तब हिन्दू अपनी प्राचीन तथा अन्य सभ्यता के कारण दृढ़ बने रहे और मुसलमानों के नवीन धार्मिक उत्साह तथा विजय-गर्व ने उन्हें हिन्दुओं में मिल जाने से रोका। दोनों जातियाँ अपनी अस्तित्व रक्षा के लिए सजग रहीं। किन्तु दोनों ही जातियों ने अपने धार्मिक आदि विभेदों को वहीं तक बना रहने दिया जहाँ तक उनके स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए उनकी आवश्यकता थी। दोनों विचार-क्षेत्र में एक दूसरे की ओर झुके। इस दिशा में हिन्दू और मुसलमानों के आरस्परिक भेदभाव को दूर करने के लिए एक ओर निर्गुणिये सन्त कवि एकेश्वरवाद का प्रचार करते हुए हिन्दू-धर्म और इस्लाम के बीच सामञ्जस्य की प्रतिष्ठा का प्रयत्न कर रहे थे और दूसरी ओर मुसलमान सूफी सन्त हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सांस्कृतिक एकता लाने के लिए उत्सुक थे। किन्तु जनता निर्गुणिये सन्तों की तर्क वितर्कमयी वाणी को समझने और आत्मसात् करने में असमर्थ थी। ज्ञानोपदेशमयी वाणी प्रभावशाली होने पर भी जनता के हृदय को स्पर्श करने में सफल नहीं हो सकी। किन्तु, सूफी सन्तों की प्रेममयी वाणी ने जनता का हृदय जीतने में सफलता पायी क्योंकि सूफी सन्तों ने हिन्दुओं की धार्मिक मान्यताओं और सांस्कृतिक आदर्शों को वाणी देने का सुप्रयास किया था। सूफी सन्तों ने अपनी प्रेमगाथाओं के रूप में प्रेम की जो पावन सुर सरिता प्रवाहित की उससे हिन्दू और मुसलमानों का अजनवीपन कम हुआ।

सूफी मत के उद्भव के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ विद्वान आदम को पहला सूफी मानते हैं। इस तरह वे सृष्टि के आदि से सूफी मत की स्थिति प्रतिपादित करना चाहते हैं। मसीही लोग प्रथम सूफी को मसीह का शिष्य स्वीकार करते हैं। कुछ लोग सूफीमत को इस्लाम की प्रतिक्रिया मानते हैं। अन्य विद्वानों के विचार में "सूफीमत का आदम में बीज बपन, नूह में अंकुर, इब्राहिम में कली, मूसा में विकास, मसीह में परिपाक और मुहम्मद में मधु का फलागम हुआ।" इस तरह से इसका उद्भव अद्यावधि विवादास्पद बना हुआ है।

सूफीमत पर नास्तिक, मानी, नवअफलातूनी आदि

मतों का प्रभाव माना है, परन्तु इस पर अन्य मतों की अपेक्षा वेदान्त का प्रभाव अधिक है। मुसलमानी संस्कृति के प्रसिद्ध विद्वान वोन क्रेमर ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।

भारत में ईसा की ११ वीं शताब्दी से इस्लाम का प्रचार जोरों से प्रारम्भ हुआ। मुसलमान आक्रमण-कारियों के साथ सूफी फकीर और दरवेश भी आते थे। इन्होंने बड़ी संख्या में हिन्दुओं को मुसलमान बनाया। सन् १००५ में शेख इस्माइल नाम का सूफी दरवेश बुखारा से भारत आया और उसने कितने ही हिन्दुओं को मुसलमान बनाया। अब्दुल्लाह् यमनीनूर सतागर, दाता गञ्जबख्श आदि सूफी सन्तों ने इस्लाम के प्रचार में योगदान दिया। १२ वीं शताब्दी से भारत में सूफियों के विभिन्न सम्प्रदाय स्थापित होने लगे। इसी समय प्रसिद्ध सूफी ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने 'चिश्तिया सम्प्रदाय' की स्थापना की। ईसा की ११ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध सूफी फकीर अलहूज्विरी ने अपने ग्रन्थ 'कश्फुल महजूब' में १२ सूफी सम्प्रदायों का उल्लेख किया है जिनमें भारत में चार प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं— चिश्तिया सम्प्रदाय, सुहर्वर्दिया सम्प्रदाय, कादिरिया सम्प्रदाय और नक्शबान्दिया सम्प्रदाय।

भारतवर्ष में सूफीमत का प्रचार मुसलमानों के आगमन से हुआ। हिन्दी के प्रेमगाथाकार सूफीमत के अनुयायी हैं। सूफीमत का विकास फारस में इस्लाम धर्म के एकेश्वरवाद की कट्टरता की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। इस्लाम धर्म की विशिष्टता उसका एकेश्वरवाद है। एकेश्वरवाद में अनेक देवताओं के स्थान पर एक ही देवता की सत्ता स्वीकार की गई है। इस्लाम धर्म में आत्मा (रूह) और परमात्मा (खुदा) का सम्बन्ध बन्दा और मालिक के रूप में स्वीकारा गया है। इस्लाम धर्म में उपासना की महत्ता प्रेम से अधिक करके मानी गई है। इस्लाम धर्म की इस उपासना प्रधानता को इस्लाम धर्म के अनुयायियों के एक दल ने स्वीकार करने में अपनी असहमति प्रकट की। इस दल के सन्तों ने सम्पूर्ण जगत को ब्रह्ममय स्वीकार करते हुए प्रेम द्वारा ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने ईश्वर और जीव की एकता घोषित करते हुए उनके बीच प्रेमी और प्रेमिका के सम्बन्ध की प्रतिष्ठा की। उन्होंने इश्क मजाजी को इश्क हकीकी का सोपान मानते हुए एक स्वतन्त्र चिन्तन-विधि का विकास किया। इस्लाम धर्म में इस स्वतन्त्र चिन्तन-विधि का मार्ग प्रशस्त करने वाला दल ही 'सूफी' कहलाया और उनके धार्मिक सिद्धान्त सूफीधर्म के नाम से प्रचलित हुए।

'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों के मत में मदीना के मस्जिद के सामने एक सुफ्फार (चबूतरा) पर बैठने वाले फकीर सूफी के नाम से प्रसिद्ध हुए। दूसरे विद्वानों का विचार है कि अपने सदाचार और पवित्रता के कारण निर्णय के दूसरे दिन लोगों से पृथक् एक पंक्ति (सफ) में सम्मानित होने के योग्य साधक 'सूफी' कहलाये। तीसरे मतानुसार 'सफा' अर्थात् स्वच्छ और पवित्र जीवन बिताने वाले साधु सूफी नाम से प्रख्यात हुए। चौथे मत के अनुयायी 'सूफी' शब्द को 'सोफिया' (ज्ञान का) रूपान्तर मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञानी साधक ही 'सूफी' नाम से प्रसिद्ध हुए। पाँचवे मत के अनुसार 'सूफ' सफेद ऊन के वस्त्र धारण करने के कारण सूफी सन्तों की 'सूफी' नाम से प्रसिद्धि हुई। ये सफेद ऊन का वस्त्र पहनते थे, परमात्मा की सत्ता को सर्वव्यापक मानते थे एवं प्रेम द्वारा आत्मा और परमात्मा के सान्निध्य में विश्वास रखते थे। एकेश्वरवाद से इसका सिद्धान्त वेदान्त के अद्वैतवाद के अधिक समीप था। इन पाँच मतों में अन्तिम ही सर्वाधिक मान्य मत है।

प्रेममार्गी कवि मुसलमानों के सूफीमत को मानने वाले थे। सूफी लोग अपने मत का समर्थन कुरान से ही करते हैं, किन्तु उसका प्रचलन मुहम्मदसाहब की मृत्यु के उपरान्त दूसरी या तीसरी शताब्दी में हुआ था। सूफियों का खुदा तो कुरान का वर्णित खुदा ही है किन्तु सूफियों ने उस खुदा की व्याख्या अपने ढङ्ग से की है। सूफी मत भी इस्लाम की तरह ही एकेश्वरवाद में विश्वास करता है, किन्तु सूफियों का एकेश्वरवाद कुरान में वर्णित एकेश्वरवाद से कुछ भिन्न स्थिति रखता है। इस्लाम के अनुयायी सूफियों का यह

विश्वास है कि दृश्यमान जगत् में परिव्याप्त एकमात्र सत्ता परमात्मा की है विश्व उस परमात्मा का प्रतिबिम्ब है, उसकी छाया है। सूफी परमात्मा को परम सत्य मानने के साथ-साथ परम शिव और परम सुन्दर भी स्वीकार करते हैं। उसका ईश्वर निराकार है, निर्गुण है; जिसका दर्शन सच्चा साधक ही कर सकता है।

सूफी मत पर वाह्य चिन्तन-धाराओं का भी प्रभाव पड़ा, जिनमें भारतीय अद्वैतवाद का विशिष्ट स्थान है। इस मत के विकास के प्रारम्भिक काल में सरल जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति थी। बाद में चल कर इस मत के तत्व-चिन्तकों ने ईश्वर के सम्बन्ध में सूक्ष्म तत्वों का अनुसन्धान प्रारम्भ किया। परिणाम-स्वरूप सूफियों के चिन्तन से उनमें एक नये मत की स्थापना हुई। सूफी मुसलमानी एकेश्वरवाद से ऊपर उठे और जीव तथा जगत् को भी ईश्वर या ब्रह्म ही समझने लगे। आत्मा और परमात्मा का अभेद प्रतिष्ठित मुसलमानों के परमात्मा वहिश्त निवासी, मनुष्यों के निर्माता और विनाशकर्ता होते हुए भी निरङ्कार और निर्लेप बने रहे किन्तु सूफियों के परमात्मा तो सृष्टि के कण-कण में परिव्याप्त हैं। सूफी मत में प्रेमतत्व की इतनी प्रचुरता हुई कि सृष्टि के रोम-रोम में उन्हें आनन्द की झलक मिलने लगी।

सूफीमत में साधना का बहुत महत्व है। साधना के जोर से ही ईश्वर का साक्षात्कार हो सकता है। यह तो ज्ञात है कि सूफीमत एकेश्वरवादी है। इस मत के अनुसार ईश्वर एक है। उसका नाम 'हक' है। सिद्धान्त रूप में आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है; किन्तु दोनों के बीच एक व्यवधान है। इस व्यवधान के निराकरण के हेतु साधना की आवश्यकता होती है। साधक ईश्वर की प्राप्ति के लिये उन्मुख होता है। साधक को मञ्जिल तक पहुँचने में अपनी यात्रा क्रम में कितनी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। भारतीय सूफियों ने सूफी मार्ग की चार अवस्थाओं और चार मञ्जिलों का उल्लेख किया है। पहली अवस्था में साधक परमात्मा का सान्निध्य अनुभव करता है। साधक अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है और उसे 'अनलहक़' (मैं ईश्वर हूँ) की अनुभूति होने लगती है।

सूफी मत में इश्क या प्रेम का विशेष महत्व है। प्रेम के द्वारा ही ईश्वर को पाया जाता है। इश्कमजाजी ही इश्कहकीकी का सोपान है। ईश्वर से प्रेम हो जाने पर साधक विरही बन प्रियतम ईश्वर की प्राप्ति के लिए व्याकुल हो उठता है। सूफी परमात्मा को स्त्री और आत्मा या साधक को पुरुष रूप में स्वीकार करते हुए उनके रागात्मक सम्बन्ध का वर्णन करते हैं। आत्मा या साधक परमात्मा रूपी प्रियतम के अलौकिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर प्रेम के पथ पर अग्रसर होता है।

शङ्कर के अद्वैतवाद में आत्माओं और परमात्मा के मिलन में माया को व्यवधान के रूप में स्वीकार किया गया है। उसी तरह सूफीमत में आत्मा और परमात्मा के मिलन में व्यवधान उपस्थित करने वाले तत्त्वों में शैतान का प्रमुख स्थान है। इस्लाम में शैतान को खुदा का विरोधी और विद्रोही माना जाता है; किन्तु, सूफी उसे अल्लाह का परम भक्त तथा ईश्वर प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील साधकों का परीक्षक मानते हैं। शैतान की परीक्षा में सफल होने पर ही ईश्वर की प्राप्ति सम्भव है। शैतान से बचने के लिए सूफीमत में 'पीर' (गुरु) की आवश्यकता स्वीकार की गई है।

सूफीमत पर भारतीय दर्शन का विशेष प्रभाव है। सूफियों के आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का निरूपण इस्लाम की अपेक्षा भारतीय वेदान्त के अधिक निकट बैठता है। सूफियों ने वेदान्तियों की तरह ही जीव को ब्रह्म माना है। सूफियों के 'अनहलक' और वृहदारण्यक उपनिषद् के 'अहम् ब्रह्मास्मि' में कोई अन्तर नहीं है। जीव ब्रह्म का ही अंश है। 'अहम्' के विलयन होने के बाद ही 'सोहम्' की अनुभूति होने लगती है। ईश्वर और जीव सम्बन्धी सूफी धारणायें भारतीय वेदान्त और अद्वैतवाद से प्रभावित परिलक्षित होती है।

"उपनिषदों के अनेक वादों को भी सूफियों ने ग्रहण किया था। प्रतिविम्बवाद के अनुसार नाम रूपात्मक जगत् ब्रह्म का प्रतिविम्ब है। ब्रह्म बिम्ब है

श्रौर जगत् उसका प्रतिविम्ब। जायसी ने पद्मावत में कई स्थानों पर प्रतिविम्बवाद से अपना मतसाम्य दिखलाया है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यद्यपि प्रधानता मुसलमानी मतों को ही दी गई है, परन्तु भारतीय शैली का भी बीच-बीच में सम्मिश्रण हुआ है।" (डॉ० श्यामसुन्दरदास; हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १७६) सृष्टि के विकास की सूफी धारणा भारतीय वेदान्त वादियों के प्रतिविम्बवाद के अधिक निकट है। इस्लामी धारणा के अनुसार अल्लाह के 'कुन' कहने मात्र से सृष्टि की उत्पत्ति हुई। (बाइबिल में भी सृष्टि की कथा इसीसे मिलती है ईश्वर ने कहा—'Let there be light and there was light.') किन्तु सूफी विचारकों के अनुसार सृष्टि ईश्वर की आत्माभिव्यक्ति है। सूफियों के अनुसार यह सृष्टि वह दर्पण है जिसमें अल्लाह के आत्मदर्शन की कामना पूर्ण होती है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सूफियों की धारणायें वेदान्त और इस्लाम दोनों से प्रभावित परिलक्षित होती हैं।

सूफीमत के प्रचार में सिर्फ दरवेशों का ही श्रेय है ऐसी बात नहीं है। सूफीमत के प्रचार में सूफी कवियों का भी विशेष अवदान है जिन्होंने प्रेमाख्यानक काव्य-सृष्टि कर अपने मतों का प्रचार किया। इन कवियों ने लोक प्रचलित प्रेम कथाओं को आधार बनाकर मसनवी शैली में प्रेम-काव्यों की रचना की। सूफी कवियों ने हिन्दू घरों में प्रचलित प्रेम कथाओं को उन्हीं की भाषा में काव्यान्तरित कर अपनी उदारता यथा सहृदयता का परिचय दिया। हिन्दू जनता ने इन प्रेमाख्यानक काव्यों का हृदय से स्वागत किया। सूफी कवियों ने अपने काव्य के द्वारा अपने मतों का प्रचार किया। हिन्दी में इन सूफी कवियों की एक लम्बी परम्परा है जिसका आरम्भ मुल्लादाऊद की 'चन्दायन', 'चन्दावन' या 'चान्दावत' नामक रचना से माना जाता है। निकट भूत तक 'चन्दायन' लुप्त मानी जाती थी, किन्तु हाल में पटना-कालेज के इतिहास विभाग के अध्यक्ष सैय्यद हसन अस्करी को मनेरके एक खानकाह से "चन्दायन" की एक अधूरी प्रति मिली है। विद्वानों में इसके लेखन काल के सम्बन्ध में विचार साम्य नहीं था। मनेरके की पोथी में चन्दायन का रचना-काल स्पष्ट रूप में दिया है—"बरस सात सय होवे एकासी। तेही कवि सरसिउ मासी।" इस प्रकार 'चन्दायन' का रचना-काल ७८१ हि०, अर्थात् सन् १३७९ ई०, प्रमाणित होता है। 'चन्दायन' में लोरिक या नूरक और चन्दा की प्रेम कहानी वर्णित है।

'चन्दायन' के बाद दूसरा सूफी काव्य कुतुबन का 'मृगावत' है। इसका रचना-काल ९०९ हि०, अर्थात सन् १५०३ ई० है। 'चन्दायन' और 'मृगावत' के बीच एक दीर्घ अन्तराल है। ऐसा सम्भव नहीं लगता कि इस बीच में किसी भी सूफी-काव्य का प्रणयन नहीं हुआ होगा। हिजरी सन् ९२७–४७ (सन् १५२१-४० ई०) में रचित पद्मावत' में; मलिक मुहम्मद जायसी ने कुछ प्रेम कहानियों का उल्लेख किया है। जिन्हें रामचन्द्र शुक्ल, रामकुमार वर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय एवं सत्यजीवन वर्मा पद्मावत के पूर्व की रचना मानते हैं।

सूफी काव्य परम्परा की तीसरी और सर्वश्रेष्ठ कृति जायसी-कृत 'पद्मावत' है। इसमें चित्तौर के राजा रत्नसेन और सिंहल की राजकुमारी पद्मावती के प्रणय का सरस चित्र है। इस कृति के माध्यम से कवि अपने मत का प्रतिपादन करना चाहता था जिसमें वह सफल हो पाया है।

मंझन ने ९५२ हि० (सन् १५४५ ई०) में "मधु-मालती" का प्रणयन किया। इस काव्य में कनेसर के राजपुत्र मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम का वर्णन है। इस काव्य में भी पद्मावत के, समासोक्ति पद्धति पर परमात्मा की ओर संकेत है।

हि० सन् १०२२ (ई० सन् १६१३) में उसमान ने 'चित्रावली' नामक प्रेमकाव्य की रचना की। ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक न्यामत खाँ (जान कवि) नाम के एक सूफी कवि ने लगभग ७० ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से २१ की गणना प्रेमाख्यानक काव्य के अन्तर्गत की जा सकती है। शेखनवी ने 'ज्ञानदीप' हुसेनअली ने

(उपनाम-सदानन्द) 'पुहुपावती', कासिम शाह ने 'हँस-जवाहिर', नूरमुहम्मद ने 'इन्द्रावती' 'नलदमन', और 'अनुराग बाँसुरी' शेखनिसार ने 'युसुफ जुलेखा', शाह-नजफअली सलोनी ने 'अखरावटी' और 'प्रेम चिनगारी ख्वाजा अहमद ने 'नूरजहाँ', शेख रहीम ने 'भाषा-प्रेम-रस,' कविनसीर ने 'प्रेम-दर्पन' लिखा। और भी कितने ही प्रेमाख्यानक काव्य नई खोज से प्राप्त हुए हैं।

यह एक संयोग है कि सभी प्रेमाख्यानक कवि मुसलमान थे। फारसी साहित्य से उनका प्रगाढ़ परिचय था। हिन्दू घरों के प्रेमाख्यानकों को काव्य-बद्ध करने के उपरान्त भी भारतीय साहित्य-शास्त्र से उनका निकट का परिचय नहीं था। परिणामस्वरूप उनकी काव्य-शैली पर फारसी साहित्य-शास्त्र का प्रभाव स्पष्ट है। उन्होंने भारतीय चरित्र काव्यों की सर्गबद्ध शैली को न अपनाकर फारसी की मनसवी शैली को अपनाया। मसनवी शैली के आधार पर ही उन्होंने अपने काव्यों में ईश्वर वन्दना, मुहम्मद साहब की स्तुति तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा आदि तत्वों को स्थान दिया। जायसी के पद्मावत में इन सभी तत्त्वों का समावेश है। अपवादस्वरूप जान कवि के कुछ ग्रन्थ तथा नूरमुहम्मद की 'अनुराग बाँसुरी' है। इनमें इन नियमों की उपेक्षा है।

यह निर्विवाद सत्य है कि सभी सूफी काव्यों की भाषा अवधी है। सूफी कवियों ने फारसी को वह स्थान नहीं दिया जो बोलचाल की भाषा अवधी को दिया। सूफी कवियों का प्रधान केन्द्र अवध प्रान्त था। उन्हें जनता के बीच अपने मतों का प्रचार-प्रसार करना था। अपने मतों के प्रचार के साथ अवधी भाषा को काव्य-भाषा के धरातल तक, उन्नत करने का श्रेय सूफी कवियों को ही प्राप्त है। इन्होंने अपने काव्यों में फारसी शब्दों का भी यत्र-तत्र प्रयोग किया है, किन्तु उन्हीं शब्दों का जो बोलचाल की भाषा में रस बस गये थे। कुछ कवियों में ब्रज भाषा के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। जानकवि तथा नूरमुहम्मद की भाषा में ब्रजभाषा के शब्द अधिक मिलते हैं। जो हो 'भाषा का जैसा सुन्दर सुधार सूफी कवियों ने किया वैसा हिन्दी में पहले कभी नहीं हुआ था।'

सूफी कवियों ने भारतीय छन्द और अलङ्कारों का प्रयोग किया है। छन्द के रूप में इन्होंने दोहा-चौपाई का प्रयोग किया। अलङ्कार का इतना सीमित प्रयोग इन्होंने किया है कि वे भार बनकर विद्रूप नहीं होगए हैं। ये इनके सारल्य और सादगी को लक्षित करते हैं। अलङ्कारों का प्रयोग इनके समक्ष उतना मानी नहीं रखता जितना अपने भावों का प्रकटीकरण। इन्होंने प्रधानतः अर्थालङ्कारों का प्रयोग किया है। इन कवियों ने सादृश्यमूलक उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों का अधिक प्रयोग किया है। "कहीं-कहीं अलङ्कारों का ऐसा सम्मिश्रण भी किया गया है, जिससे उन कवियों में सूक्ष्म शास्त्रीय अभिज्ञता का अभाव लक्षित होता है।"

सूफी कवियों ने अधिकांशतः प्रबन्ध काव्यों का ही सृजन किया है, किन्तु मुक्तक काव्य के सृजन की ओर से भी वे पूर्णतया उदासीन नहीं रहे हैं। अमीर खुसरो मुक्तक का प्रथव कवि है। उसके बाद एक लम्बे अन्तराल तक सूफी मुक्तकों के उदाहरण नहीं मिलते। खुसरो के बाद जायसी के 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' में इसके उदाहरण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त जानकवि का 'बर्नमाला'; यारीसाहब का 'आलिफनामा' तथा बजहन का 'बजहननामा' उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त भी कितने ही ग्रन्थ हैं जिनमें मुक्तकों के तत्व प्राप्त हैं।

सूफियों के प्रेमाख्यानक काव्य शृङ्गार रस के परिपाक से ओतप्रोत हैं। प्रेमी-प्रेमिका के रतिजनित चित्रों की प्रदर्शनी लगी हुई है सूफी काव्यों में। अपवाद स्वरूप ही दूसरे रसों का समावेश हो सका है। उदाहरणार्थ शाह नजफअली सलोनी की 'प्रेम चिनगारी' का नाम लिया जा सकता है। इन कवियों ने शृङ्गार के दोनों पक्ष संयोग और वियोग का सविस्तार वर्णन अपने काव्यों में किया है। किन्तु संयोग वर्णन में इन कवियों का मन रम नहीं पाया है। संयोग काल में चौपड़-शतरञ्ज खेलने, पहेलियाँ बुझाने, वाक्-चातुर्य, हास-परिहास का वर्णन रहता है। जैसा कि उल्लेख किया गया सूफी कवियों का मन संयोग वर्णन में रम नहीं पाया है, किन्तु

वियोग वर्णन में इन कवियों ने जिस मार्मिकता और और सूक्ष्मता का परिचय दिया है वह साहित्य की विशिष्ट निधि बन गया है। सूफी कवियों ने संयोग की तुलना में विप्रलम्भ की महत्ता प्रतिपादित की है।

सूफी काव्य में लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। सूफी काव्यों का नायक साधक का तथा नायिका ब्रह्म की प्रतीक है। जिस प्रकार कोई राजकुमार किसी राजकुमारी के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार आत्मा भी परमात्मा के अलौकिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अनेक कष्टों को सहते हुए प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है।

सूफी कवियों के प्रेम वर्णन पर फारसी के साथ-साथ भारतीय प्रभाव भी है। यह फारसी प्रभाव ही है कि इन कवियों ने आत्मा को पुरुष रूप में और परमात्मा को स्त्री रूप में प्रस्तुत करते हुए नायक के रूप में आत्मा को प्रेमिका (परमात्मा) की प्राप्ति के लिए अधिक प्रयत्नशील दिखाया है। भारतीय शैली के अनुसार प्रेमिका (स्त्री) प्रियतम (पुरुष) की प्राप्ति के लिए अधिक प्रयत्नशील रहती है। कृष्ण और गोपियों की कथा में गोपियाँ (आत्मा) श्रीकृष्ण (परमात्मा) की प्राप्ति के लिए व्याकुल रहती हैं किन्तु सूफी काव्य के प्रारम्भ में नायक को प्रियतम (परमात्मा) की प्राप्ति के लिए अधिक प्रयत्नशील दिखाया गया है। फिर अन्त में भारतीय शैली के अनुसार नायिका (प्रियतमा) को भी नायक के प्रति व्याकुल दिखाया गया है।

हिन्दी के सूफी प्रेम काव्यों में प्रतीकों का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है। सामान्यतः, नायक साधक का, नायिका ईश्वर का और तोता गुरु का प्रतीक है। 'हंस जवाहिर' में इंद्रिय जनित वासनाओं के लिए ठग एवं बटमार जैसे प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। 'चित्रावली' में गुरुपद 'सुबुद्धि' विवेक का प्रतीक है। 'भोगपुर' इन्द्रियजनित भोगों का प्रतीक है। 'गोरखपुर' बाह्य आडम्बर का तथा 'नेहनगर' आनन्दवृत्ति का प्रतीक है।

विषय और अभिव्यक्ति दोनों ही क्षेत्रों में सूफी-काव्य की अपनी महत्ता है। इस काव्य-परम्परा से हिन्दी-साहित्य गौरवान्वित और सम्मानित हुआ है।

हिन्दी के विकास में ग्रामीण बोलियों तथा ग्राम्य साहित्य[1] का महत्त्व

डॉ० शालिग्राम गुप्त

'मध्यप्रदेश' या 'हिन्दी प्रदेश' की आठ मुख्य बोलियों के समुदाय को भाषा शास्त्र की दृष्टि से 'हिन्दी' नाम से पुकारा जाता है। इनमें से खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रज-कन्नौजी तथा बुन्देली, इन पाँच को 'पश्चिमी हिन्दी' के अन्तर्गत, तथा शेष तीन अवधी, बघेली एवं छत्तीसगढ़ी को 'पूर्वी हिन्दी' के अन्तर्गत रखा गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी का सम्बन्ध शौरसेनी प्राकृत तथा पूर्वी हिन्दी का सम्बन्ध अर्द्धमागधी प्राकृत से जोड़ा जाता है। इन आठ बोलियों के अतिरिक्त राजस्थानी और बिहारी बोलियों को भी हम हिन्दी के अन्तर्गत रख सकते हैं, क्योंकि राजस्थानी की साहित्यिक भाषा डिङ्गल के अतिरिक्त पिङ्गल भी रही है और आज खड़ी बोली है। बिहारी की बोलियों में से भोजपुरी तो हिन्दी की ही एक बोली है, मैथिली के विषय में कुछ सन्देह अवश्य हो सकता है।

यहाँ पर 'हिन्दी' शब्द के अर्थ को स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा। वाच्यार्थ की दृष्टि से हिन्दी शब्द का प्रयोग हिन्द या भारत से सम्बन्धित किसी भी व्यक्ति, वस्तु तथा हिन्द या भारत में बोली जाने वाली किसी भी आर्य, द्रविड़ तथा अन्य कुल की भारतीय भाषाओं के लिए हो सकता है। किन्तु इस प्राचीन व्यापक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग अब प्रचलित नहीं है।

वर्तमान भारतीय-साहित्य में यह शब्द भारतीय संघ की राज्य-भाषा तथा राष्ट्र-भाषा के नाम का द्योतक है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से हिन्दी शब्द का प्रयोग मध्यदेश की बोलियों और उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में यह साधारणतया प्रयुक्त होता है। हमारा सम्बन्ध यहाँ 'हिन्दी' शब्द के इसी प्रचलित एवं शास्त्रीय अर्थ से है। अर्थात् हिन्दी के साहित्यिक रूप (आधुनिक और प्राचीन) के विकास में बोलियों का तथा ग्राम-साहित्य का क्या महत्त्व है। यहां यह निर्देश करना भी उक्ति संगत होगा कि बोली शब्द का प्रयोग हम बोली (diabat प्रान्तीय भाषा) के लिये करेंगे, घरेलू बोली के लिए नहीं।

वर्तमान साहित्यिक हिन्दी के रूप में प्रायः अनेक परिवर्तन करने के प्रस्ताव समय-समय पर उपस्थित होते रहे हैं। जिनमें से ग्रामीण बोलियों के रूपों को बहुत मात्रा में अपनाना भी एक रहा है। यद्यपि ग्रामीण बोलियों से ही कोई एक बोली धीरे-धीरे साहित्यिक रूप धारण कर लेती है। साहित्यिक अवस्था में आने पर बोलियों का रूप बदल जाता है परन्तु उसका अपना पोषण उन्हीं से होता है। इसी प्रकार हमेशा साहित्य और बोलचाल की भाषा में विशिष्ट अन्तर रहता है। साहित्यिक भाषा के सम्मुख कुछ आदर्श रहते हैं जिनका पालन मुख्य है, बोलियों में कोई ऐसा प्रतिबन्ध नहीं रहता। इसी कारण बोलियाँ स्वच्छन्द गति से शीघ्र परिवर्तित होती रहती हैं, साहित्य में यह परिवर्तन धीरे-धीरे होते हैं। परिवर्तन न होने तथा नियमबद्ध होने के कारण संस्कृत जैसी 'अमृत भाषा' आज 'मृत

---

[1] 'ग्राम्य-साहित्य' शब्द का प्रयोग यहाँ 'ग्राम-साहित्य एवं 'लोक-साहित्य' दोनों के संयुक्त अर्थ के रूप किया गया है "वस्तुतः ग्राम-साहित्य और लोक-साहित्य में अन्तर है। ग्राम-साहित्य केवल ग्रामों का साहित्य ही होगा। लोक-साहित्य नगर और शहर में भी निलता है। ग्राम-साहित्य के अन्दर वह साहित्य भी आ सकेगा जिसे कोई ग्राम-निवासी ग्राम रुचि के अनुसार आज की रचना हो। ग्राम पर लिखा हुआ साहित्य भी ग्राम-साहित्य ही कहा जायगा। वस्तुतः बहुत सा एसा ग्राम-साहित्य हो सकता है, जो लोक-साहित्य न हो और बहुत सा ऐसा लोक-साहित्य हो सकता है, जो ग्राम-साहित्य न हो।"—डा० सत्येन्द्र। देखें—हिन्दी साहित्य कोश : पृष्ठ ६६१।

भाषा' कही जाती है क्योंकि वह जन-साधारण द्वारा प्रयुक्त बोली से भिन्न हो गई है।

'हिन्दी' (साहित्यिक हिन्दी) खड़ी बोली के व्याकरण का ढाँचा एक ग्रामीण बोली से ही आया है। यही नहीं हिन्दी के शब्द समूह में बहुत से शब्द तो (देशज) ग्रामीण बोलियों से ही आये हैं, कुछ भारतीय अनार्य भाषाओं से और कुछ विदेशी भाषाओं से परिष्कृत होकर आये हैं। वास्तव में प्राचीन हिन्दी की ग्रामीण बोलियों का ही विकसित रूप (संशोधित रूप) आज का हिन्दी साहित्य है हिन्दी की बोलियाँ ही भिन्न-भिन्न कालों में हिन्दी की साहित्यिक भाषाओं का रूप धारण करती रही है। कभी व्रज प्रदेश की बोली साहित्य की माध्यम हुई। कभी दोनों का मिश्रित रूप और आज खड़ी बोली को यह सम्मान प्राप्त हुआ है। हिन्दी के वर्तमान साहित्यिक रूप में हिन्दी की ग्रामीण बोलियों तथा ग्राम्य साहित्य का कितना योग रहा है सहसा हम इसका अनुमान नही कर सकते। फिर भी यदि यह कहें कि ग्रामीण बोलियों और ग्राम्य साहित्य का ही परिष्कृत रूप आज की साहित्यिक हिन्दी है तो अत्युक्ति न होगी।

हिन्दी बोलियों में डिङ्गल को छोड़कर व्रज, अवधी एवं मैथिली सभी का साहित्य ग्रान्य बोलियों में रचा गया। प्राचीन भारतीय काव्य (संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी प्रायः सब) आश्रमों और ग्रामों की ही देन है। किन्तु उनके रचयिताओं ने ग्रामीण बोलियों के प्रयोग तथा भावों के चित्रण में सुरुचि से काम लिया है। विद्यापति ने अपनी रचना 'देसिल वइना सब जग निट्ठा' में की। हिन्दी के सन्त कवियों ने 'भाषा बहता नीर' में ही रचनाएँ कीं। गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहने को 'गिरा ग्राम' में ही 'रामचरितमानस की रचना की, यद्यपि उन्हें इस कार्य के विरोध की पूरी आशङ्का थी। यही कारण है कि वे बराबर 'भाषा भनिति मोर मति भोरी' आदि कहकर क्षमा याचना करते हैं। जायसी ने 'पद्मावत' ठेठ अवध प्रान्त में बोली जासे वाली बोली में रची। राजस्थानी में मतवाली मीरा, और व्रज प्रदेश में 'अष्टछाप' के कवियों ने 'व्रज' में रचनाएँ कीं। इन कतिपय रचनाओं में से हम हिन्दी के विकास में ग्रामीण बोलियों के महत्त्व का सहज अनुमान कर सकते हैं।

आधुनिक 'खड़ी बोली' (हिन्दी का साहित्यिक रूप) हिन्दी का दृष्टिकोण 'ग्रामीण बोलियों' के प्रति कुछ मात्रा में उपेक्षा पूर्ण प्रतीत होता है। 'जायसी' की लिखी मध्यकालीन युग की ठेठ अवधी को आज भी अवध के निवासी सरलता से समझ सकते हैं किन्तु वर्तमान खड़ी बोली के एक बहुत बड़े अंश को खड़ी बोली प्रान्त का लोकमानस कदाचित ही समझ सकेगा। इसका कारण ग्राम्य साहित्य (शब्द और उक्तियों) का बहिष्कार है। यह दृष्टिकोण कुछ संकुचित प्रतीत होता है। भाषा सम्बन्धी (कुछ अंशों में भावों की कठिनाई) कठिनाई के कारण ही कदाचित् हमें ग्रामों में प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी का नाम भी सुनने को नहीं मिलता यद्यपि शिक्षा का प्रचार न होना भी इसका एक प्रधान कारण हो सकता है। किन्तु जिस प्रकार तुलसी, मीरा, सूर और कबीर की पंक्तियां अन पढ़ लोगों में मुँह से भी सुनी जाती हैं। उस तरह ग्रामों में इनका कहीं नाम भी नहीं सुना जाता। कौन कह सकता है कि भविष्य में भी इनकी रचनाएँ विद्वानों के ही अध्ययन का विषय नहीं बनी रहेगी। एकाध उदाहरण देने से यह स्वयमेव स्पष्ट हो जायेगा :—

> वह रत्नावली, नाम-शोभन
> पति-रति में प्रतनु, अतः लोभन,
> अपरिचित-पुण्य अक्षय क्षोभन धन कोई,
> प्रियकरालम्ब को सत्य-यष्टि;
> प्रतिभा में श्रद्धा की समष्टि,
> मायायन में प्रिय-शयन व्यष्टि भरसोई।
>
> —निराला (तुलसीदास छन्द ५८)

उपर्युक्त पद्य के शब्दार्थ को समझने में 'शब्द कोश' का सहारा भी लेना पड़ेगा। ऐसे अनेक उदाहरण बिना प्रसाद, पन्त और महादेवी आदि की रचनाओं में बिना प्रयास खोजे जा सकते हैं जिनमें भाषा की दुरुहता तो है ही साथ ही रहस्यवादी और छायावादी भावों के विषय में तो कहना ही व्यर्थ है। सरल भाषा है

कृतियों का सौन्दर्य नष्ट हो जाता हो ऐसी बात नहीं है सुरुचिपूर्ण सरल भाषा जिस प्रकार साहित्य का माध्यम होकर सर्वप्रिय हो सकती है यह गुप्तजी की 'भारतभारती' और साकेत तथा स्वर्गीय प्रेमचन्दजी के (उर्दू प्रधान रचनाओं को छोड़कर) उपन्यास से स्पष्ट हो जाता है। वैसे भाषा की दृष्टि से साहित्यिक महत्व 'प्रसाद', 'निराला', 'पन्त' और महादेवीजी आदि की कृतियों का भी है, किन्तु कबीर, जायसी, तुलसी, सूर और मीरा के साथ-साथ गुप्तजी और प्रेमचन्दजी की रचनाओं का महत्व दूसरी प्रकार का है, यद्यपि उनकी रचनाएँ ग्राम्य नहीं हैं।

हिन्दी के प्राचीन साहित्य के विकास में ग्रामीण बोलियों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वर्तमान युग में ग्रामीण बोलियों को साहित्य में कितना महत्व देना चाहिए। इस समस्या पर विचार करते समय कई महत्वपूर्ण प्रश्न हमारे सामने आते हैं। पहला प्रश्न यह है कि हिन्दी की अनेक बोलियाँ हैं, उनमें परस्पर साम्य नहीं है। अतः इनमें से किसके शब्दों को किस मात्रा में प्रधानता दी जाए या प्रत्येक प्रान्त में वहाँ की बोली को ही साहित्यिक स्थान दिया जावे। इस पर संक्षेप में विचार करना अप्रासङ्गिक न होगा।

साहित्यिक हिन्दी में ग्रामीण बोलियों के शब्दों को अपनाने के लिए शब्दों का क्षेत्र निश्चित करना पड़ेगा। जो शब्द देश के बहुत बड़े भाग में बोले और समझे जा सकते हों यदि वह साहित्य के योग्य हों तो उनका व्यवहार अवश्य होना चाहिए। इससे यह तात्पर्य नहीं कि संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग होना ही न चाहिए किन्तु जिन शब्दों के लिए ऐसे देशज या तद्भव रूप मिलें उनका प्रयोग होना हितकर होगा। इसके अतिरिक्त कुछ नई वस्तुओं के नाम भी जो ग्रामीण बोलियों में अधिक अर्थबोधक पाये जाते हैं उनको भी अपनाना चाहिए। जैसे 'वायुयान' या 'विमान' शब्द के लिए ठेठ ग्रामीणों द्वारा प्रयुक्त 'चीलगाड़ी' अथवा बाइक के लिए 'पाँवगाड़ी' का प्रयोग है। दूसरे प्रकार की शब्द श्रेणी देशी वस्तुओं के ही देशी नाम हैं। यदि हरे-भरे वन का वर्णन करना हो तो चम्पा, चमेली, मालती आदि परम्परागत नामों के अतिरिक्त वर्णित वन प्रदेश के निकट प्रयुक्त होने वाले ग्रामीण शब्दों का प्रयोग भी होना चाहिए। इस प्रकार प्रकृति वर्णन में वास्तविकता आ सकेगी। बहुत से ग्रामीण शब्द जो अधिक नजदीक हों उनको भी अपनाना युक्तिसङ्गत होगा। जैसे—छोटे बादल के लिए 'बदरिया', छोटे तालाब के लिए 'तलैया' आदि। इस प्रकार के शब्द अधिक व्यञ्जक और अर्थबोधक होते हैं। यह साहित्य की सौन्दर्य वृद्धि में निश्चय ही सहायक होंगे।

इसके अतिरिक्त उपयोगी और ललित कलाओं से सम्बन्ध रखने वाले शब्दों का समूह आता है। भारत की चित्रकला, वस्तुकला, भवन निर्माण कला एवं उपयोगी वस्तुओं से सम्बन्ध रखने वाले विस्मृत शब्द तत्सम्बन्धी कलाविदों के पास हैं। उन शब्दों का संग्रह होना चाहिए। इस प्रकार के शब्द समूह से तद्विषयक साहित्य की अभिवृद्धि होगी। साथ ही इन शब्दों का ऐसा रूप निश्चित करना पड़ेगा जो सर्वमान्य हो सकें।

शब्दों की समस्या के अतिरिक्त हम एक महत्वपूर्ण ग्राम्य-साहित्य लोक-मानस के मुख में लोकवार्ता, लोकगीत, लोककथा आदि के रूप में बिखरा हुआ पाते हैं। इसका अभी समुचित प्रयोग नहीं किया गया है। राजाश्रित कवियों द्वारा रचे गए साहित्य तथा पण्डितों द्वारा रचित साहित्य में देश अथवा समाज की यथार्थ झलक नहीं मिलती। देश और समाज की यथार्थ झलक ग्राम्य-साहित्य में ही हमें प्राप्त हो सकती है। शिष्टता और बाह्य सभ्यता के आवाम से यह दूर रहते हैं। दूसरी बात यह है कि भिन्न प्रान्तों के लोक-साहित्य में कुछ प्रादेशिकता के अतिरिक्त एक विलक्षण साम्य (भाषा और भाव दोनों में) भी मिलता है। यही नहीं, बहुत से लोकगीतों में तो उच्च कविता जैसा भावोद्गार एवं काव्यत्व पाया जाता है। उदाहरण देकर इस कथन को स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता मैं नहीं समझता।

हिन्दी के विकास में इस प्रकार ग्राम्य-साहित्य का कितना महत्व रहा है और रहेगा, इसका अनुमान

लगाना सरल नहीं है। क्योंकि भारत जैसे प्राचीन सभ्यता के देश में लोक-साहित्य का अध्ययन बहुत जटिल व्यापार है। यहाँ शास्त्रीय चिन्ताधारा बराबर लोक विश्वासों को प्रभावित करती रही है और लोक के प्रचलित साहित्यिक रूप भी उच्चस्तर के साहित्यिक प्रयत्नों को प्रभावित करते रहे हैं। फिर भारतीय-साहित्य का ज्ञाता यह भी जानता है कि किस प्रकार संस्कृत, पालि और प्राकृत में लोक कथानकों ने लिखित साहित्य का रूप ग्रहण किया। जातकों की कहानियाँ, पञ्चतन्त्र की कथाएँ और वृहत्कथा की निजंधरी कथाएँ केवल साहित्य का ही अङ्ग नहीं बनी हैं, वरन् परवर्ती काल के अत्यन्त अलंकृत कथा साहित्य को प्रेरणा भी देती रही हैं। फिर मध्ययुग में सन्तों का लिखा हुआ सम्पूर्ण देशी भाषा का साहित्य जो कई बार तो लिखा भी नहीं गया, कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर लोक-साहित्य के अन्तर्गत लाया जा सकता है। क्योंकि साधारणतया मौखिक परम्परा से प्राप्त और दीर्घकाल तक स्मृति के बल पर चले आते हुए गीत और कथानक लोक-साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। अतः यदि गम्भीरता के साथ अध्ययन किया जाये तो हमारे सभी काव्य रूपों के मूल भूत रूप सामान्य अभिप्रायों एवं हमारे अत्यन्त जटिल छन्दोविधान और परिष्कृत संगीत शैलियों के आरम्भिक रूप भी लोक-साहित्य में खोजे जा सकते हैं।[१]

[१] तुलनात्मक अध्ययन के लिए प्रस्तुत लेख के लेखक का 'लोक गीत तथा भक्ति-काव्य की कृष्ण कथा' शीर्षक लेख 'हिन्दी अनुशीलन' वर्ष १४, अङ्क १, देखा जा सकता है।

अतः हम यह स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि हिन्दी के विकास में ग्रामीण बोलियों एवं ग्राम्य-साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। किन्तु इससे यह परिणाम निकालना अनुचित होगा कि साहित्यिक आदर्शों को लोक रुचि का अनुसरण करना चाहिए। लोक की चित्तवृत्ति का ध्यान 'हिन्दी' ने रखा है, लेकिन इसके साथ लोक-मानस के कल्याण पथ के निर्देश करने का भार भी हिन्दी-साहित्य पर है। समस्त बोलियों और उनके साहित्य का हिन्दी में आदर होना चाहिए किन्तु परिष्कृत रूप में। यदि किसी एक या भिन्न-भिन्न बोलियों को प्रधानता हिन्दी में दी जायेगी तो हिन्दी में वह शक्ति न रहेगी जो आज उसमें समस्त हिन्दी-प्रदेश को एक्य-सूत्र में बाँधने की है।

कुछ लोगों का यह मत है कि प्रान्तीय बोलियों में उन-उन प्रान्तों में शिक्षा आदि कार्य होने चाहिए। यदि ऐसा हो तो कुछ अंशों तक ही बोलियों को प्रधानता मिलनी चाहिए। अन्यथा इसका परिणाम शान्ति के स्थान पर अशान्ति और सङ्कीर्णता एवं अनेकता होगी। प्रान्तीय शब्द साहित्य में अपने आप सुसंस्कृत होकर आते रहते हैं, और आते रहेंगे। 'गिरा ग्राम' को 'सियाराम जस' रूपी सुरुचि से सम्पन्न करके अपनाना होगा, अन्यथा ऐसा साहित्य केवल भाषा-विज्ञानियों के काम का होगा। अपने इसी सुरुचि सम्पन्न रूप में अपनाए गए ग्राम्य-साहित्य से हिन्दी का विकास हुआ है और भविष्य में भी वह समाज और राष्ट्र के लिए मङ्गलमय हो सकेगा।

इलियट और हिन्दी की नयी कविता

श्री गोविन्द रजनीश

सम्भवतया सृष्टा और दृष्टा के रूप में इलियट ही ऐसा विद्वान है जिससे अधिकांश भाषाओं का नया काव्य अप्रतिभ रूप से प्रभावित हुआ है। ऊसर भूमि से प्रभावित आधुनिक आंग्ल कवि तथा हिन्दी के नये कवि इलियट परिधि में ही चक्कर काटते रहे हैं। यूरोपीय सांस्कृतिक ह्रास के चित्रण, अनास्था एवं कुण्ठा के चित्रण इलियट से प्रभावित हैं। इलियट धर्म में केथोलिक, राजनीति में राज भक्त, साहित्य में, पुरातनवादी है।

काव्य की दृष्टि से इलियट, व्यक्तित्व को काव्य से असम्पृक्त मानता है। उसका कथन है कि व्यक्तिगत भाव और काव्यगत भाव सर्वथा भिन्न हैं, इसीलिये वह काव्य को व्यक्तित्व से पलायन करने की घोषणा करता है। जिसको अज्ञेय ने अपने काव्य में यथावत् ग्रहण किया है। कला के क्षेत्र में इलियट फ्रेञ्च प्रतीकवादियों और बिम्बवादियों से प्रभावित है। उसकी प्रतीकात्मक भाषा को फोर क्वारटेट्स में देखा जा सकता है। कहीं-कहीं प्रतीकों की लड़ी लगादी है तो कहीं वीभत्स चित्रों की सर्जना करता है। वह यू-वृक्ष [चीड़ के सदृश सदाबहार वृक्ष] को मृत्यु का प्रतीक बनाता है। इसी आधार पर हिन्दी कवियों ने विश्रृङ्खलित विचारों तथा अपरिपक्व संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकात्मक शैली को अपनाया। यह बात सुनिश्चित है कि नये कवियों ने कहीं-कहीं सबल, प्रभावोत्पादक प्रतीकों को प्रयुक्त किया है। लेकिन जहाँ हिन्दी का नया कवि बौद्धिकता में उलझ जाता है वहाँ कलात्मकता पलायन कर जाती है।

इलियट ने अपने काव्य को प्रसारवादी बनाने के लिये विज्ञान, इतिहास, पुराण, धर्म, दर्शन, से प्रसङ्गों की झड़ी लगा दी है जिससे काव्य अतिशय प्रसङ्गगर्भत्व के कारण क्लिष्ट और दुरूह हो गया है। बोधगम्यता का उसमें अभाव है। लेकिन इसमें इलियट की प्रमुख विशेषता भी निहित है कि जहाँ वह वेस्टलैण्ड में में उपनिषदों से लेकर आधुनिक मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों को प्रयुक्त करता है वहाँ पेंतीस कवियों के उद्धरणों और छै विदेशी भाषाओं को भी प्रयुक्त करता है। हो सकता है इसमें पाण्डित्य-प्रदर्शन का दुराग्रह हो लेकिन अन्य भाषाओं के उत्कृष्ट साहित्य की ओर आदर की भावना निहित है। मैं इस प्रवृत्ति को शुभ मानता हूँ क्योंकि इलियट अपने दर्शन का मूल एक विदेशी दर्शन (उपनिषद) में मानता है जहाँ कि उसकी समस्त विचारधाराएँ एक केन्द्र-विन्दु पर पर्यावसित हो जाती है। लेकिन हिन्दी के कवियों में और इलियट की विचारधारा में एक बहुत बड़ा अन्तर है। इलियट इतिहास और परम्परा की उपेक्षा नहीं करता, वरन् उसे अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है। जब कि नये हिन्दी कवियों को परम्परा और इतिहास से चिढ़ है।

आलोचकों ने इलियट की दुरूहता को समक्ष रखते हुए उसके काव्य की बहुत भर्त्सना की है। यह आरोप भी लगाया है कि उसके काव्य से तादात्मीयकरण करने के लिये विश्वकोश को पास रखना अनिवार्य है। जहाँ तक दुरूहता का प्रश्न है, वह अवांछनीय है। स्वयं इलियट ने काव्य के लिये दुरूहता का होना अनिवार्य माना है। एलोट ने इलियट के काव्य के बारे में कहा है—इलियट का काव्य गम्भीरता और पाण्डित्य के अतिनिर्वाह को लिये हुए है। ऐसी कविता, कविता का अन्त करने के लिये है।" हिन्दी की प्रयोगवादी तथा नयी कविता पूर्णतया दुरूह है जिसका उसी सम्प्रदाय विशेष के लोग ही रसास्वादन कर सकते हैं। अन्य के लिये साधारणीकरण का प्रश्न नहीं है।

इलियट को ध्वनि से मोह है। अनुभूति को वह गौण स्थान प्रदान करता है। काव्यानुभूति के अभाव

को वह पूर्ववर्ती कवियों के उद्धरणों से पूर्ण करता है।

स्पेन में नव्य आन्दोलन का सूत्रपात जूआँन रामोंन की प्रतीकात्मक शैली से हुआ। माईगूल या यूनामूनो का स्थान आधुनिकता और परम्परा के मध्य आता है। यद्यपि उसकी पद्धतियाँ टॉमस हार्डी से कम क्रान्तिकारी नहीं थीं। यूनामूनो की अधिकांश कविताएँ ईसा को सम्बोधित, लेकिन ठोस कल्पना से विहीन हैं। टी० एस० इलियट : 'ऊसर भूमि' में इस कवि से प्रभावित हुआ है लेकिन यूनामूनो का मार्ग इलियट के सदृश प्रशस्त नहीं हो पाया था।

यूनामूनो के पश्चात् उसके शिष्य एण्टोनियो मेकाड़ो ने भी प्रकृति के नयनगोचर भव्य तथा संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किये हैं। ये दृश्य इलियट के प्रकृति चित्रों से साम्य रखते हैं। लेकिन मेकाड़ो समय के सीमित दायरों में बँधकर रह गया। कहीं-कहीं उसका श्रेष्ठतम सर्जन झलकता है। इसके अलावा इलियट अनेक कवियों का ऋणी रहा है। अपनी रचना-पद्धति के बारे में उसने स्वयं स्वीकार किया है कि—"नौसिखिये कवि नकल कराते हैं, प्रौढ़ चुराते हैं।" नयी कविता में इलियट का कथन पूर्णतया चरितार्थ हो रहा है। इलियट, सार्त्र, मूनियर, कमिंग्स आदि के ऋणी होते हुए भी नये कवि आत्मवञ्चना के शिकार हो रहे हैं।

अज्ञेय की कला का निर्वैयक्तीकरण इलियट की देन है। इलियट का जीवन दर्शन निराशा, अनास्था, अकर्मण्यता का है जिससे वह असामाजिक हो गया है। वेस्टलैंड में निराशा, संस्कृति के विघटनशील तत्व, कुत्साएँ, कुण्ठाएँ, मानव-द्रोही तत्व मिलते हैं। निःशेष मानव में निराशा, अवसाद चरम सीमा पर हैं।

'मैं वृद्ध हो गया हूँ, मुझे पतलून की मोहरियों को चढ़ाकर पहनना चाहिये। बालों में माँग कैसे निकालूँ? क्या नाशपाती खाना उचित होगा? मैं सफेद फलालून की पतलून पहन कर सागर तीर भ्रमणार्थ जाऊँगा। सुनते हैं—सागर की परियाँ अलौकिक संगीत सुनाती हैं। लेकिन मैं जानता हूँ—वह संगीत मैं नहीं सुन पाऊँगा।' आदि में कवि कुण्ठा और प्रयोजनहीनता में छटपटाता है। अँधियारी गली से प्रभावित 'अन्धायुग' में घोर निराशा, अवसाद के चित्रण में इलियट से बहुत साम्य है :—

हम सब के मन में उतर गया है युग,
अँधियारा है, अश्वत्थामा है, सञ्जय है,
है दासवृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की,
अंधा सशय है, लज्जाजनक पराजय है।

इलियट ने अभिनव भाषा, नवीन मुहावरे, नये शब्दों को प्रयुक्त किया। इलियट की मान्यता रही है कि कवि को अन्योक्ति कथन द्वारा संश्लिष्ट चित्रण करना चाहिये। यदि अनिवार्य हो तो भाषा को तोड़ने मरोड़ने में भी कोई असर नहीं होना चाहिये। अज्ञेय ने इसे स्वीकार किया है कि आज की भाषा, विचारों की अभिव्यक्ति के लिये अनुपयुक्त है। अतः आड़ी, टेढ़ी, विराम रेखाओं के माध्यम से विचारों की व्यञ्जना होनी चाहिये। 'प्रेम की ट्रेजेडी' कविता में इसे आसानी से देखा जा सकता है। इलियट की तरह, विषय और विरोधी चित्रों के कारण प्रयोगवाद की भाषा भी क्लिष्ट होगई है।

इलियट के A music of ideas का नयी कविता में 'अर्थ की लय' के रूप में अनुवाद कर दिया गया है। इलियट ने नयी उपमायें प्रस्तुत की हैं। उसने जीवन को काफी के चम्मचों से नापा है। अब हिन्दी के नये कवि भी नाप रहे हैं। इलियट ने जिस पहेलिका शैली को अपनाया, उसने अज्ञेय के काव्य को सौन्दर्य प्रदान किया।

इलियट असम्पृक्त तात्कालिक क्षण में भूत और भविष्य का सामञ्जस्य करता है। उसका विश्वास है कि किसी का अन्त उसकी मृत्यु है। इलियट को जहाँ 'क्षण' का महत्व है, नया कवि उसे त्याग नहीं पाया है।

एक क्षण भर और
रहने दो मुझे अभिभूत
फिर जहाँ मैंने सँजोकर और भी सब रखा है।
ज्योति शिखाएँ।[1]

इस प्रकार नयी कविता में इलियटवाद की प्रचुरता है। इलियट के विचारों ने काव्य पर मँड़रा कर ऐसे स्थल खोज निकाले हैं जहाँ वे खप सके हैं।

[1] अज्ञेय, हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ १०१

रीति का स्वरूप

श्री पुरुषोत्तमदास अग्रवाल

काव्य-सम्प्रदाय के निर्माताओं में आचार्य वामन ने रीति-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। इनके मत के अनुसार रीति ही काव्य की आत्मा है 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का उद्घोष इन्होंने 'काव्यालङ्कार सूत्र' नामक ग्रन्थ में किया है। इस सूत्र में प्रयुक्त 'रीति' शब्द की व्याख्या करने के लिये बताया गया है कि विशिष्ट प्रकार की रचना को ही 'रीति' कहते हैं। 'विशिष्ट पद रचना रीतिः' इस रचना में वैशिष्ट्य का प्रमुख कारण 'गुण' को माना गया है और विभिन्न गुणों के संश्लेषण पर ही यह विशिष्टता आधारित है।[1] अतः गुणात्मक पद रचना का ही नाम 'रीति' है।

काव्य में शोभा बढ़ाने वाले तत्वों को ही 'गुण' कहा गया है और उसी का आतिशय्य अलङ्कार संज्ञा से अभिहित होता है "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।" वास्तव में गुण काव्य के नित्य धर्म तथा अलङ्कार उसके अनित्य धर्म के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। गुणों से ही पद-रचना में वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है, अलङ्कारों से नहीं। अतः काव्य में गुणों का होना अनिवार्य है, अलङ्कार यदि न भी हों तो इससे काव्यत्व की हानि नहीं होती।

इसी प्रसङ्ग पर गुण की चर्चा के साथ ही दोषों की चर्चा भी की गई है। इन गुणों के विरोध में आने वाले तत्वों को दोष माना गया है। इस शब्द को स्पष्ट करने के लिये स्वीकार की गई भाषा का प्रयोग इन्होंने नहीं किया है, अपितु दोषों को गुण का विपर्यात्मक माना गया है 'गुणविपर्यात्मनो दोषाः' कहा गया है। इस प्रकार दोषों की कोई भावात्मक सत्ता स्वीकार न करते हुए गुणों के अभाव को ही दोष कहा गया है। फिर भी इन सबसे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि काव्य-सौन्दर्य का आधार यही 'रीति' है और रीति पद-रचना का वह विशिष्ट प्रकार है जो दोष रहित हो, गुणयुक्त हो तथा सामान्य रूप से इसमें अलङ्कारों का भी योग हो। इस आधार पर रीति-सम्बन्धी आचार्य वामन के निम्नलिखित विचारों का उल्लेख किया जा सकता है—

(१) रीति ही काव्यात्मा है, इस सम्प्रदाय के अन्य विद्वानों द्वारा भी इसे स्वीकार किया गया है।

(२) गुणों एवं अलङ्कारों में स्पष्ट रूप से भेद का कथन किया गया है।

(३) दोषों की भावात्मक सत्ता स्वीकार नहीं कीगई है।

(४) 'वक्रोक्ति' को सम्प्रदाय-विशेष न मान कर अलङ्कारों में ही उनका समावेश किया गया है।

(५) रीतिकाव्य के वाह्याङ्ग के साथ अन्तरङ्ग पर भी विचार किया गया है। उन्होंने अर्थ-गुण कान्ति में रस दीप्ति की अनिवार्यता को स्वीकार किया है।[1]

रीति के स्वरूप का निर्धारण करने वालों में आचार्य वामन के उपरान्त आचार्य कुन्तक ने भी इस ओर ध्यान दिया है। उन्होंने रीति को कवि-कर्म का विधि बताया है अर्थात् कवियों के काव्य रचना के ढङ्ग की ओर संकेत किया गया है। भोज ने इसका अर्थ 'काव्य-मार्ग' से ग्रहण किया है। आनन्द-वर्धन ने इसे वाक्य-वाचक चारुत्व का हेतु 'माना है' वाक्य-वाचक हेतुबन्तः पातित कुतः।' उनके अनुसार रीति एक ऐसी निधि है, जिसके द्वारा काव्य के शरीर शब्द अर्थ में चारुता आती है। इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ध्वन्यालोक में रीति का सम्बन्ध समस्त काव्य से न जोड़कर उसके बाह्य रूप तक ही सीमित रखा है, जो वास्तव में उचित है, क्योंकि काव्य केवल पद-रचना के ही आधीन नहीं माना जा सकता है। आचार्य नगेन्द्र ने भी इस विचार का समर्थन किया है[2]। आगे

[1] विशेषोगुणात्मा १।२।८, काव्यालङ्कार सूत्र।

[1] दीप रसत्वं कान्तिः ३।२।१४

[2] रीतिकाल की भूमिका पृष्ठ १०६

चलकर मम्मटाचार्य और विश्वनाथ ने भी इस पर विचार किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत के व्याख्याताओं ने रीति शब्द के आरम्भिक और परवर्ती व्याख्या में विशेष अन्तर कर दिया है। आचार्य वामन ने जिस रीति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया था, वही परवर्ती आचार्यों द्वारा काव्य का एक अङ्ग मात्र रह गया और इसे बाह्याङ्ग के रूप में ही स्वीकार किया गया। इतना अवश्य है कि रीति के स्वरूप निर्धारण या परिभाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं आने पाया और लगभग उसी रूप में सभी आचार्यों ने उसे मान लिया। आचार्य भामह ने रीति का उल्लेख तो अवश्य किया है, परन्तु उसकी महत्ता को उन्होंने अस्वीकार कर दिया है।

हिन्दी के आचार्यों ने लक्षण के आधार पर लिखे गये ग्रन्थों को रीति-काव्य नाम दिया है। अलङ्कार, ध्वनि, रस, वक्रोक्ति और रीति आदि के स्पष्टीकरण के लिये लिखे गये ग्रन्थों को इसकी सीमा में मान सकते हैं। शास्त्रीय परम्परा में आचार्य चिन्तामणि ने रीति को 'काव्य का स्वभाव' माना है। इसका आधार १३ वीं शती में लिखा गया विधानाथ का ग्रन्थ 'प्रतापरुद्र यशोभूषण' है। इसको कृतियों से अलग माना गया है। 'रस-रहस्य' में कुलपति ने पर्याय वृत्तियों के आधार पर अपना विचार प्रस्तुत किया है। देव ने रीति को 'काव्य द्वार' माना है और भाव के माध्यम के रूप में इसे स्वीकार किया गया है तथा रीति और गुण को एक ही रूप में देखने की उनकी चेष्टा रही है। परम्परा से गुण को रीति का आधार ही माना जाता रहा है। इन दोनों को अभिन्न मानकर चलने की प्रवृत्ति नहीं रही है। अतः यह परम्परा से अलग जाने की बात है। सच तो यह है कि वामन का रीति गुण से अधिक व्यापक रहा है। दास ने 'काव्य-निर्णय' में वामन का ही आधार लेते हुए वृत्तियों का अधिक वर्णन किया है। जगतसिंह ने रुद्रट का अनुसरण किया और 'साहित्य-सुधा-निधि' में रीति का विभाजन भी प्रस्तुत किया गया है परन्तु उन्होंने समासों की संख्या में रुद्रट से अन्तर कर दिया है। प्राचीन परम्परा के मानने वालों में कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुनदास केडिया और रामदहिन मिश्र ने संस्कृत रीतिशास्त्र का अनुगमन किया है। आधुनिक दृष्टि रखने वाले आलोचकों ने इसे केवल शैली के ही रूप में ग्रहण किया है और आज भी इसी रूप में इस रीति की मान्यता है। इस प्रकार रीति के स्वरूप-निर्धारण सम्बन्धी दो विचार हमारे समक्ष प्रस्तुत किये गये हैं। प्रथम रीति को काव्य की आत्मा मानने की परम्परा और द्वितीय रीति को केवल शैली के रूप में ग्रहण करने वालों का वर्ग। इस प्रकार इस रीति की अबाध परम्परा रही है और सभी आचार्यों ने इस पर अपना मत प्रकट किया है।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'आचार्यों, विवेचकों आदि का वह समुदाय अथवा वह परम्परा जो काव्य के अन्तर्गत रीति के महत्व को स्वीकार करती है अथवा जिन्होंने अपने शास्त्रीय ग्रन्थों में रीति की विवेचना की है, रीति-सम्प्रदाय कहलाता है।' रीति को सर्वप्रथम वामन ने काव्य-सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया। इसके पूर्व भामह और दण्डी की रीति-विषयक चर्चा प्रसङ्ग-वश ही की गई थी। आचार्य रुद्रट ने अवश्य ही रीति की चार संख्याओं का उल्लेख किया है। कुन्तक ने वक्रोक्ति के जिस प्रसङ्ग में रीति को ग्रहण किया है, वह वामन से भिन्न था तथा वह स्वाभाविक भी अपेक्षाकृत अधिक प्रतीत होता है। उनके अनुसार सुकुमार, विचित्र और मध्यम ये तीन मार्ग माने गये हैं तथा गुणों को उन्होंने माधुर्य, प्रासाद, लावण्य और अभिजात्य के रूप में देखा है। राजशेखर का विवेचन समास के आधार पर है। मम्मट नें वामन के दश गुणों का आत्मसात अपने तीन गुणों में कर दिया है। विश्वनाथ संस्कृत के अन्तिम आचार्य थे, जिन्होंने रीति का विवेचन किया है। इन्होंने अपने लक्षण में मार्ग, रीति, वृत्ति सब को माना है। इस प्रकार इनके बाद यह परम्परा विशेष न चल सकी और हिन्दी में रस की प्रतिष्ठा हो जाने के कारण रीति-सम्प्रदाय का विशेष विवेचन भी नहीं हो सका है।

—सेठ जी० बी० पोद्दार कालेज, नवलगढ़ (राजस्थान)

द्वापर का रचना-विधान

श्री विश्वम्भर 'अरुण'

रचना की दृष्टि से काव्य के प्रमुखतः दो भेद माने गये हैं—१. प्रबन्ध और २. मुक्तक। प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत प्रतिपाद्य वस्तु का क्रमबद्ध रूप से वर्णन होता है जब कि मुक्तक काव्य के लिये इस प्रकार का कोई बन्धन आवश्यक नहीं। मुक्तक काव्य में कवि स्फुट भावों को स्फुट छन्दों में अभिव्यक्त कर देता है। प्रत्येक छन्द वर्णित विषय वस्तु की दृष्टि से दूसरे छन्द से स्वतन्त्र होता है जबकि प्रबन्ध-काव्य में प्रत्येक छन्द वर्णित कथा की एकसूत्रता के कारण परस्पर अन्योन्याश्रित रहते हैं। मैथिलीशरण गुप्त का 'द्वापर' रचना-विधान की दृष्टि से किस कोटि का काव्य है ? इस प्रश्न का समाधान सहज रूप से सम्भव नहीं है। उनके प्रसिद्ध काव्य 'यशोधरा' की ही भाँति 'द्वापर' के सम्बन्ध में भी यह विवाद है कि वस्तुतः इसे हम किस कोटि का काव्य मानें ?

प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से द्वापर का परीक्षण—'द्वापर' में महान् व्यक्ति श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बन्धित कथा चित्रित की गई है। इसमें १६ सर्ग हैं। श्रीकृष्ण के बाल्यकाल से लेकर द्वारकाधीश होने तक की दीर्घकालीन अवधि की घटनाओं को चित्रित करने का इसमें प्रयास किया गया है। जहाँ तक कथा की विशालता तथा महानता का प्रश्न है 'द्वापर' की कथा में श्रीकृष्ण से सम्बन्धित कथा होने के कारण उसमें पर्याप्त विस्तार की गुञ्जाइश थी और महान् व्यक्ति श्रीकृष्ण से सम्बन्धित कथा होने के कारण उसकी महानता तो निर्विवाद है ही, किन्तु इतना होने पर भी जब हम इस काव्य में प्रबन्धात्मकता के गुण खोजते हैं तो निराश ही होना पड़ता है। रचना-विधान की दृष्टि से इसे प्रबन्ध-काव्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता। हमारी इस मान्यता के निम्न आधार हैं—

१—'द्वापर' में एक क्रमबद्ध और निश्चित कथानक का अभाव है। यत्र-तत्र घटनाओं के स्फुट संकेत ही मिलते हैं। जबकि प्रबन्ध-काव्य के लिये यह परम आवश्यक है कि उसमें क्रमबद्ध कथानक हो।

२—प्रबन्ध-काव्य के लिये यह भी आवश्यक है कि उसमें कथानक का नियमित विकास हो और पञ्च-सन्धियों का पालन किया गया हो। किन्तु द्वापर का परीक्षण करने पर हमें पता चलता है कि इसमें किसी एक कथानक का नियमित विकास नहीं है। प्रत्येक सर्ग अपने पिछले सर्गों से कथानक के विकास की दृष्टि से असम्बद्ध है। पञ्च सन्धियों का निर्वाह भी नहीं मिलता।

३—कथानक का विभाजन सर्गों में किया जाता है किन्तु द्वापर में जो सर्गों का विधान है उसका आधार कथानक नहीं है। सर्गों के नाम पात्रों के नाम पर आधारित हैं। जिस पात्र के आधार पर सर्ग का नाम रखा गया है वह पात्र अपने उद्गारों को व्यक्त करता है। पात्रों के आत्मोद्गार में कथा के स्फुट संकेत मात्र मिलते हैं—कथा का वर्णन या विकास उसमें नहीं होता।

४—यत्र-तत्र घटनाओं को संकेत रूप में अवश्य देखा जा सकता है किन्तु घटनाओं के वे संकेत किसी निश्चित कथानक का निर्माण नहीं कर पाते। वे घटनाएँ जो संकेत रूप में वर्णित हुई हैं उनको यदि कवि ने अल्प विस्तार देकर वर्णित किया होता, रोचक तथा प्रभावोत्पादक ढङ्ग से प्रस्तुत किया होता तो अवश्य ही प्रबन्धात्मकता के गुण से समन्वित हुआ होता। एक तो इस काव्य में घटनाएँ ही बहुत विरल हैं और जो हैं भी उनको कवि ने सांकेतिक रूप में प्रस्तुत किया है तथा उन घटनाओं का प्रभाव भी चित्रित नहीं किया अतएव इन सब आधारों पर कहा जा सकता है कि 'द्वापर' और जो कुछ भी हो किन्तु वह प्रबन्ध काव्य नहीं है।

५—एक और बात भी है जिसके कारण हम

'द्वापर' को प्रबन्ध काव्य की कोटि में नहीं रख सकते। 'द्वापर' में सांकेतिक रूप से भी जिन घटनाओं का वर्णन हुआ है वे सब समन्वित रूप से एक निश्चित कथानक का निर्माण नहीं कर पातीं। सांकेतिक रूप से वर्णित उन घटनाओं में भी क्रम-बद्धता का अभाव है। 'विधृता' सर्ग में विधृता के आत्मोद्गार तो बड़े प्रभाव-शाली हैं किन्तु उससे सम्बन्धित कथा के संकेत उसके पश्चात् आने वाले सर्ग 'ग्वाल बाल' में मिलते हैं। 'विधृता', 'ग्वाल बाल' आदि आरम्भिक सर्गों में गोकुल से सम्बन्धित कृष्ण-जीवन की घटनाओं का सांकेतिक ढङ्ग से वर्णन है। इसके बाद 'कुब्जा', 'उग्रसेन', 'देवकी' आदि सर्गों में मथुरा से सम्बन्धित कृष्ण-जीवन की घटनाओं का सांकेतिक ढङ्ग से वर्णन है, किन्तु इसके बाद में आने वाले 'उद्धव' और 'गोपी' सर्गों में पुनः गोकुल के दृश्य आ जाते हैं। और अन्तिम सर्ग 'सुदामा' तो स्पष्ट रूप से कथा से नितान्त असम्बद्ध है क्योंकि उसमें कृष्ण-जीवन के अन्तिम दिनों की (कृष्ण के द्वारिकाधिपति होने की) झाँकी मिलती है। मथुरा से द्वारिका के अधिपति होने के बीच की कथा का अभाव बहुत खटकने वाला है। यह कथानक की क्रम भङ्गता का भी सबल प्रमाण है।

६— पात्रों का चरित्र-चित्रण भी प्रबन्ध काव्य के अनुरूप नहीं है। पात्रों के नाम पर सर्गों के शीर्षक के नाम हैं। पात्र विशेष का चरित्र उसके नाम पर रखे गये सर्ग में अङ्कित कर दिया गया है—यह चरित्राङ्कन उसके आत्मोद्गार से ही स्पष्ट होता है। इस प्रकार उसके चरित्र पर एकपक्षीय प्रकाश ही पड़ पाता है। न तो किसी पात्र के चरित्र पर सर्वाङ्गमुखी प्रकाश ही इस काव्य में पड़ पाया है और नहीं किसी चरित्र का यथोचित विकास ही हो पाया है। घटनाओं के बीच किसी भी पात्र का चरित्र निखारा नहीं गया। प्रबन्ध-काव्य में चरित्र-चित्रण जिस प्रकार का पाया जाता है वह 'द्वापर' में नहीं है।

७—प्रबन्ध काव्य में नायक का होना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि उसी के जीवन और चरित्र की कथा ही तो प्रबन्ध काव्य में वर्णित होती है। श्रीकृष्ण 'द्वापर' के नायक अवश्य लगते से प्रतीत होते हैं किन्तु कवि ने उनके जीवन और चरित्र का ऐसा स्पष्ट चित्रण नहीं किया जो पाठकों पर प्रभाव डाल सके। अन्य पात्र श्रीकृष्ण के चरित्र के सम्बन्ध में मात्र अपने उद्गार व्यक्त करते हैं और उन्हीं उद्गारों से श्रीकृष्ण के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण संकेत मिल जाते हैं। श्रीकृष्ण का चरित्र भी कवि ऐसे रूप में अङ्कित नहीं कर पाया जिससे मन पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ सके या जो अन्य पात्रों की अपेक्षा मर्म को अधिक सशक्त ढङ्ग से स्पर्श कर सके। श्रीकृष्ण से अधिक तो विधृता और बलराम के चरित्र प्रभावशाली मालूम पड़ते हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के पश्चात् हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'द्वापर' प्रबन्धकाव्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। उसमें प्रबन्धकाव्य की कतिपय विशेषताएँ क्षीण रूप में अवश्य मिल जाती हैं किन्तु उतने मात्र से इसे प्रबन्धकाव्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

मुक्तक काव्य की दृष्टि से 'द्वापर' की परीक्षा—जब 'द्वापर' प्रबन्धकाव्य की कोटि में नहीं रखा जा सका तो सहज ही यह प्रश्न उठता है कि क्या 'द्वापर' को हम मुक्तक काव्य की कोटि में रख सकेंगे। इस प्रश्न के समाधान में थोड़ा विस्तार से विचार करना होगा। मुक्तक काव्य में कवि स्फुट भावों को स्फुट छन्दों में अभिव्यक्त कर देते हैं। मुक्तक काव्य के लिए यह आवश्यक नहीं है उसका एक अध्याय दूसरे अध्याय से कथा या भाव की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध हो और अध्याय के अन्तर्गत एक छन्द अन्य छन्दों से पूर्वापर सम्बन्ध रखता हो। बन्धन की इसी मुक्तकता के कारण इसे मुक्तक काव्य कहा जाता है। 'द्वापर' के अध्याय (सर्ग) एक-दूसरे से पूर्णरूपेण सम्बद्ध नहीं हैं और अन्तिम सर्ग सुदामा तो पूर्णतः असम्बद्ध मालूम पड़ता है। प्रत्येक सर्ग का नाम पृथक-पृथक पात्रों के नाम पर रखा गया है और प्रत्येक सर्ग में प्रत्येक पात्र अपनी पृथक ही भावना या विचारधारा को व्यक्त करते हैं। किन्तु इतना होने पर भी द्वापर को हम मुक्तक काव्य

की कोटि में नहीं रख सकते। कारण यह हैं:—

१—द्वापर को मुक्तक रूप से रचे गये छन्दों का संग्रह नहीं माना जा सकता क्योंकि इसके प्रत्येक सर्ग में एक विशिष्ट पात्र क्रमबद्ध रूप से अपनी विचार-धारा या भावों को व्यक्त करता है। यह क्रमबद्धता मुक्तक काव्य में नहीं होती।

२—पात्रों के आत्मकथन में श्रीकृष्ण से सम्बन्धित और उस पात्र विशेष से सम्बन्धित घटनाओं के संकेत भी मिल जाते हैं। इस प्रकार क्षीण में ही सही कथा के संकेत द्वापर में हैं ही।

३—मुक्तक काव्य का कवि सर्गों को क्रम से नहीं रखता—वह इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं समझता। किन्तु द्वापर में कवि सर्गों को एक क्रम से रखने में अवश्य ही थोड़ा-बहुत सचेष्ट है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो कवि भूमिका में 'सुदामा' सर्ग के द्वारिकाधीश के प्रसङ्ग को जोड़ा हुआ न कहता। यदि वह मुक्तक रूप में ही इसकी रचना करने का अभिलाषी होता तो इसे भूमिका में इस सफाई देने की जरूरत न पड़ती।

४—द्वापर में वर्णित कथा के जो भी सूत्र हैं वे सब किसी न किसी रूप में श्रीकृष्ण के जीवन और उनके व्यक्तित्व से सम्बन्धित हैं। यद्यपि इस काव्य में कथा के सूत्राधार अनेक पात्र हैं और सभी पात्र अपने पृथक-पृथक भाव या विचार प्रस्तुत करते हैं, तथापि सभी पात्रों के आलम्बन श्रीकृष्ण ही हैं। इस प्रकार पात्रों की भिन्नता के बीच उनके आलम्बन की अभिन्नता तो इस काव्य में विद्यमान है ही।

५—द्वापर को हम मुक्तक काव्य का ही एक भेद गीतिकाव्य के अन्तर्गत भी नहीं रख सकते क्योंकि एक तो गीतिकाव्य में भावों की सघनता होती है—बुद्धि का संयोग वहाँ कम ही होता है। किन्तु द्वापर में कवि की बौद्धिकता सर्वाधिक मुखर हुई है। 'बलराम', 'उग्रसेन'; 'नारद' वाले सर्गों में बौद्धिक चिन्तन का ही प्राधान्य है। गीतिकाव्य के लिये आवश्यक गुण भावों की गहराई भी इस काव्य में कम मिलती है। कथा के संकेत और यत्र-तत्र इतिवृत्तात्मकता के आजाने के कारण भी इसे गीतिकाव्य नहीं माना जा सकता। गीतिकाव्य में भावों की संक्षिप्तता आवश्यक मानी गई है किन्तु इस काव्य में किसी किसी सर्ग में कोई भाव पूरे सर्ग पर्यन्त विस्तार पा गया है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि 'द्वापर' न तो विशुद्ध रूप से प्रबन्धकाव्य है और न मुक्तककाव्य। 'द्वापर' का अर्थ है 'संशय' अतः प्रत्येक पात्र से उस संशयात्मक वृत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है। कृष्ण का जीवन और उनका चरित्र इतना सुपरिचित है कि प्रबुद्ध पाठक इस काव्य में भी उसकी पुनरुक्ति से विक्षुब्ध हो जाता है। वह बौद्धिक चिन्तन और बौद्धिक विश्लेषण की माँग करता है—इतिवृत्तात्मक रूप से वर्णित कथा उसे उबा देती है। अतः बौद्धिक युग के कवि गुप्त अपने इस काव्य में श्रीकृष्ण की कथा कहना मात्र अपना अभीष्ट नहीं समझता अपितु वह तो 'द्वापर' युग के माध्यम से आज के युग की संशय वृत्ति को वाणी देना चाहता है। इसीलिए उसके काव्य में बौद्धिकता मिलती है। किन्तु यह बौद्धिकता भाव भूमि पर प्रतिष्ठित है अतः काव्य को भावविहीन भी नहीं कहा जा सकता। यह एक ऐसा काव्य है जिसमें स्थूल घटनाओं का वर्णन कम और मन के घात-प्रतिघातों का चित्रण अधिक है। इसका प्रत्येक पात्र युग के अनुरूप संशय के भँवर में पड़ा हुआ चित्रित किया गया है फलतः प्रत्येक पात्र संशय से उत्पन्न अपनी मानसिक दशा को ही व्यक्त करता है—इस प्रकार यह काव्य घटना प्रधान न होकर अनुभूति प्रधान हो गया है। अनुभूति की प्रधानता आज के युग की देन है जिससे बचना गुप्तजी से भी मुश्किल था। और यही कारण है कि अधुनिक युग का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'कामायनी' भी कथा प्रधान न होकर अनुभूति प्रधान ही है। निश्चय ही 'द्वापर' एक ऐसी विशिष्ट कृति है जिसे रचना-विधान की दृष्टि से किसी एक कोटि में नहीं रखा जा सकता। वास्तव में यह काव्य अभिनव ही माना जायगा।

—मानपाड़ा, आगरा।

'रासो-साहित्य विमर्श' की कतिपय भूल भ्रान्तियाँ

श्री अगरचन्द नाहटा

डा० माताप्रसाद गुप्त के १४ लेखों का एक संग्रह 'रासो साहित्य विमर्श' के नाम से साहित्य भवन इलाहाबाद से कुछ महीनों पहले प्रकाशित हुआ है। प्रस्तावना के अनुसार इस ग्रन्थ में सम्मिलित १४ लेखों में से 'रास और रासक काव्य परम्परायें' नामक लेख नवीन है, शेष १३ लेख पिछले १० वर्षों में प्रकाशित हो चुके हैं जिन्हें संशोधित रूप में प्रकाशित किया गया है। लेख बड़े महत्वपूर्ण हैं और उनसे बहुत से नवीन तथ्य प्रकाश में आये हैं। पृथ्वीराज रासो के सम्बन्ध में अब तक काफी विद्वानों ने अपने-अपने ढङ्ग से लिखा है पर डा० गुप्त ने उसका आधुनिक पद्धति से सम्पादन किया है और तत्सम्बन्धी बहुत सी बातों पर नया प्रकाश डाला है। प्रस्तुत संग्रह में अधिकांश लेख पृथ्वीराज रासो से सम्बन्धित हैं। अन्यों में से एक में सन्देश-रासक के पाठ और अर्थ संशोधन सम्बन्धी कुछ सुझाव रखे हैं और एक में प्राकृत-पैंगल के हम्मीर विषयक छन्द सम्बन्धी विवेचन है। प्रारम्भ के २ लेखों में 'रासो-प्रबन्ध परम्परा की रूप-रेखा' और 'रास तथा रासक-काव्य परम्परायें' में डा० गुप्त को जितने रास या रासो ज्ञात हुये, उनका विवरण दिया है। इस तरह प्रस्तुत लेख संग्रह बहुत सी ज्ञानवर्धक सामग्री को लिये हुये है। पर एक तो इस ग्रन्थ का प्रूफ संशोधन ठीक से नहीं हुआ इसलिए सैकड़ों अशुद्धियाँ रह गई हैं जो ऐसे महत्व के ग्रन्थ में बहुत ही अखरती हैं। शुद्धि-पत्र में यद्यपि शताधिक अशुद्धियों का शुद्ध रूप दिया गया है पर मेरे ख्याल से उतनी ही या उनसे भी अधिक और भी ऐसी अशुद्धियाँ रह गई हैं जिनका समावेश शुद्धि-पत्र में नहीं किया गया। मुद्रण दोष के अतिरिक्त बहुत सी ऐसी भूल भ्रान्तियाँ भी नजर आती हैं जिनका संशोधन किया जाना बहुत ही आवश्यक है। अन्यथा इस ग्रन्थ के आधार पर अन्य लेखक जो भी लिखेंगे वे भी उन भ्रान्तियों की परम्परा को बढ़ाते जायेंगे। हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में ऐसी भूल परम्परा के अनेक उदाहरण मिलते हैं इसलिए सरसरी तौर से पढ़ने पर कतिपय लेखों में जो महत्व की भूल-भ्रान्तियाँ मेरी नजर में आईं उन्हें प्रस्तुत लेख में संशोधन के साथ उपस्थित किया जा रहा है।

(१) पृ० २—अपभ्रंश रासो में 'मुञ्ज रास' का उल्लेख किया गया है। यद्यपि वह उल्लेख सम्भावना के रूप में है। पर मेरी राय में प्रबन्ध चिन्तामणि में मुञ्ज सम्बन्धी जो फुटकर दोहे मिलते हैं उनसे मुञ्ज रास नामक कोई स्वतन्त्र और बड़ी रचना होने की पुष्टि नहीं होती। इसी तरह पृष्ठ १३ में प्राकृत-पैंगल में उद्धृत, फुटकर ८ छन्दों के आधार से सारङ्गधर रचित हमीर रासो की सम्भावना की है वह भी विचारणीय है। इस सम्बन्ध में डा० भोलाशङ्कर व्यास का मन्तव्य नीचे दिया जा रहा है—

प्राकृत पैंगलम् भाग २ में डा० भोलाशङ्कर व्यास लिखते हैं—श्री हर्ष के 'नैषध' के ११-१२ वें सर्ग के पद्य राजस्तुतिपरक मुक्तक पद्य जान पड़ते हैं, जिन्हें कवि ने समय-समय पर आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा में लिखा था और बाद में थोड़ा हेर-फेर कर उन्हें यहाँ जोड़ दिया है। यह प्रवृत्ति इस काल के संस्कृत तथा देशी भाषा (पुरानी हिन्दी) के कवियों में समान रूप से पाई जाती हैं। प्रा० पैं० में उपलब्ध मुक्तक पद्यों से यह अनुमान और अधिक पुष्ट होता है। कुछ लोगों का अनुमान हो सकता है कि कर्ण, काशीराज तथा हम्मीर से संबद्ध पद्य तत्तत् राजा से संबद्ध महाकाव्यों से उद्धृत हों, किन्तु मुझे ऐसा मानने का कोई प्रमाण नहीं दिखाई पड़ता। हो सकता है, प्राकृत पैङ्गलम् के संग्राहक के पास अपने अनेक पूर्वजों, निकटतम या सुदूर सम्बन्धियों या अन्य देशी भाषा के भट्ट कवियों

के पद्य सङ्कलित हों और उनमें बब्बार विद्याधर आदि के भी पद्य हों, जिनमें से कुछ यहाँ उद्धृत किये गये हैं। हमारा अनुमान है कि आज के राजस्थान के चारणों तथा भाटों की भाँति प्रा० पैं० के संग्राहक के पास पुरानी हिन्दी के मुक्तक पद्यों का सङ्कलन रहा होगा।

प्राकृत-पैङ्गलम् के इन पद्यों में से हम्मीर सम्बन्धी पद्यों को शुक्लजी ने 'हम्मीर रासा' से उद्धृत कहा था, जिसे वे शाङ्गर्धर की रचना कहते हैं। किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, शाङ्गर्धर को पुरानी हिन्दी के प्रा० पै० वाले कवियों की कोटि में गिनना ठीक नहीं जान पड़ता।

(२) पृष्ठ ४—'जिनदत्त सूरि का स्वर्गवास सं० १२९५ वि० में हुआ था" लिखा है। पर पता नहीं इसका आधार क्या है? वास्तव में उनका स्वर्गवास सं० १२११ में हुआ था। इनका विस्तृत चरित्र हमने अपने 'युग प्रधान जिनदत्त सूरि' पुस्तक में दिया है।

(३) पृष्ठ ५—"गुर्जर साहित्य की रासो परम्परा में जितनी रचनाएँ मिलती हैं वे सभी जैन कवियों की हैं और जैन धर्म को लक्ष्य करके प्रस्तुत की गई हैं। आकार में प्रायः रचनायें छोटी हैं" लिखा गया है। पर वास्तव में राजस्थानी या गुजराती के जैनेतर रास भी अच्छे परिमाण में पाये जाते हैं। और जैन रासो का भी आकार काफी बड़ा है। १४ वीं शताब्दी तक की रचनाओं को छोटी कहा जा सकता है पर १५ वीं शताब्दी से तो बड़े-बड़े रास लिखे जाने लगे। और १७ वीं १८ वीं शताब्दी में तो ३००० से १०००० श्लोक परिमित बड़े-बड़े रास भी मिलने लगते हैं। गुप्तजी ने यह भी लिखा है कि 'कहा गया है कि प्रायः १७०० वि० तक प्रत्येक शताब्दी में रचा गया कोई न कोई रासो ग्रन्थ बताया जा सकता है।' पर इसके बाद भी सैंकड़ों रास रचे गये हैं। "जैन गुर्जर कवियों" के ३ भाग संभव है गुप्तजी ने नहीं देखे हों? वैसे जैन मुनियों द्वारा अब तक भी रास रचे गये हैं। इन सब बातों का विवरण मैंने एक स्वतन्त्र निबन्ध में दिया है जो 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका में प्रकाशनार्थ भेजा हुआ है।

(४) पृष्ठ ८—उपदेश रसायनरास के दो संस्करणों में से प्रथम में ३२ और द्वितीय में ८० छन्द होने और दोनों में पाठ सम्बन्धी अन्तर भी है, लिखा गया है। पर वास्तव में प्रथम संस्करण में भी ८० छन्द ही हैं और दूसरे संस्करण में तो हूबहू उद्धृत होने से कोई पाठ-भेद नहीं है। गुप्तजी की इस भ्रान्ति का कारण खोज करने पर यही प्रतीत हुआ कि उन्होंने 'अपभ्रंश काव्यत्रयी' में प्रकाशित काल स्वरूप कुलक के ३२ पद्य हैं उन्हें उपदेश रसायनरास के मान लिये होंगे।

(५) पृष्ठ ८—भरतेश्वर बाहुबलि रास की रचना तिथि १२३१ छपी है यद्यपि यह मुद्रण दोष ही है पर इसका समावेश शुद्धि पत्र में नहीं किया गया। इस रास के रचयिता पाटण में निवास करते थे यह लिखना तो ठीक नहीं लगता क्योंकि जैनमुनि निरन्तर घूमते रहते हैं। यह सम्भव है कि वे पाटण में कुछ अधिक रहे हों पर वहीं निवास नहीं करते थे। इस रास का एक संस्करण जो लालचन्द गांधी का सम्पादित है, प्राच्य विद्या मन्दिर बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है, लिखा गया है पर वह ठीक नहीं है। उसे पण्डित लालचन्द गान्धी ने ही प्रकाशित किया था। दूसरा संस्करण वास्तव में मुनि जिनविजयजी वाला है जो 'भारतीय विद्या' भाग ३ अङ्क में छपा था। 'रास और रासान्वयी काव्य' में तो सभी रास अन्य प्रकाशित ग्रन्थों से ही उद्धृत किये गये हैं इसलिये उसको पृथक संस्करण नहीं कहना ही उचित है। 'जीवदया रास' को भी मेरी भेजी हुई प्रति के आधार से मुनिजी ने भारतीय विद्या में प्रकाशित किया था। 'रास और रासान्वयी काव्य' वहीं से उद्धृत किया गया है। सुमति गणी का नेमिनाथ रास मैंने हिन्दी-अनुशीलन में प्रकाशित करवाया था, उसी से उद्धृत है।

(६) पृष्ठ ९। नेमि जिणन्द रास का रचना काल १२०९ छपा है पर है १२८९ का। यह मुद्रण दोष ही है। इसका समावेश शुद्धि-पत्र में नहीं हुआ है। इसकी रचना 'पहाण' (गुर्जर प्रदेश) में हुई थी, लिखा गया है पर यह सर्वथा भ्रामक है। दूसरे पद्यांक में 'पहाणं' शब्द है जिसका अर्थ है प्रधान न कि किसी स्थान विशेष का नाम।

(७) पृष्ठ १० — समरा रास की छन्द संख्या ९ छपी है पर है वास्तव में ११०। पंच पण्डव रास भी 'रास और रासान्वयी काव्य' में 'गुर्जर रासावली' से उद्धृत किया गया है।

(८) पृष्ठ १५ — राउ जइतसी रासो का परिचय देते हुए जैतसी का शासन काल सं० १५०३ से १५१८ का बतलाया गया है वह गलत है। कामरां के युद्ध का वर्णन इसमें है वह युद्ध सं० १५९१ में हुआ था (देखें ओझाजी का बीकानेर राज्य का इतिहास पृष्ठ १२९ से १३२)। जैतसी का शासनकाल सं० १५८३ से १५-९८ तक का है। राम रासो का रचनाकाल सं० १६७५ लिखा है पर ग्रन्थ में तो रचनाकाल दिया हुआ नहीं है और डा० मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज भाग १ के पृष्ठ १७३ में माधोदास का कविता काल सं० १६७४ दिया है।

(९) पृष्ठ १५ — रतन रासो का रचना काल सं० १६७५ से १६८१ के बीच का लिखा गया है वह वि० सं० न होकर ई० सन् है। (देखें राजस्थान भारती भाग ३, अङ्क ३-४, पृष्ठ ८४)

(१०) पृष्ठ १६—सगतसिंह रासो के रचना काल के सम्बन्ध में लिखा है कि "श्री अगरचन्द नाहटा के अनुसार यह रचना सं० १७५५ के बाद की है।" पर टिप्पणी में उसका आधार राजस्थान में हिन्दी हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज" भाग ३ का बतलाया गया है वह मेरा सम्पादित न होकर उदयसिंह भटनागर सम्पादित है और उसके पृष्ठ १०७ में सं० १७५५ नहीं सं० १७७५ छपा है।

(११) पृष्ठ १७—खुमाण रासो के रचयिता का नाम दलपत विजय छपा है और हिन्दी के प्रायः सभी विद्वान यही नाम लिखते रहे हैं पर वास्तव में कवि का जन्म का या प्रसिद्ध नाम दला या दलपत था और जैन दीक्षा लेने के बाद दौलत विजय रखा गया। इसलिये या तो दलपत ही लिखा जाना चाहिये या फिर दौलत-विजय। दलपत विजय लिखना अशुद्ध है, उचित नहीं।

(१२) पृष्ठ १९—चम्पा की जगह चाचा और कोसाम्बी की जगह कोसाम्बर अशुद्ध छपा है पर इस महत्वपूर्ण अशुद्धि का समावेश शुद्धि-पत्र में नहीं किया गया। इसी तरह पृष्ठ १७ में रणथम्भौर की जगह रथमौर और पृष्ठ १८ में जसवंत की जगह जसवंश छपा है और इस तरह की अनेक अशुद्धियों का उल्लेख शुद्धि-पत्र में नहीं किया गया। आबू रास के वर्णन में विमल मंत्री ने अम्बा देवी का मन्दिर बनवाया लिखा है पर वास्तव में उसने ऋषभ देव का मन्दिर बनवाया था। उसी में अम्बा देवी की देहली भी है—

> विमलहिं ठवियउ पाव निकन्दो,
> तहि छइ सामडि रिसह जिणिंदो।
> सानिधु संघह करइ सखेवी,
> तहि छइ सामिणि अम्बा देवी॥

(१३) पृष्ठ २०। पंक्ति में निर्माण छपा है वहाँ निर्वाण होना चाहिये और गजसुकमाल रास के परिचय में नेमिनाथ के आशीर्वाद से देवकी के गर्भ से गज सुकमाल का जन्म हुआ, लिखा है पर नेमिनाथ का आशीर्वाद लिखना ठीक नहीं है।

कछुली रास के परिचय में द्वीप नगरी और कालि सूरि ये दोनों ही नाम अशुद्ध हैं। नगरी का नाम चड्डावलि और आचार्य का नाम कमल सूरि और प्रज्ञा-सूरि होना चाहिये।

(१४) पृष्ठ ३५—में 'पाइय सद्द महण्णवो' का सम्पादन और प्रकाशन सं० १९९५ में लिखा है, जिसका प्रकाशन सं १९७९ से १९८५ में हुआ था।

(१५) पृष्ठ ७०—में 'हम्मीर चौपाई' को भाण-कृत लिखा है पर वह भांडउ कृत है।

(१६) पृष्ठ १५२ में वृहत् संस्करण की प्राचीन-तम प्रति सं० १७४७ की बतलाई गई है पर इससे पहले की भी कई प्रतियाँ मुझे उदयपुर, कांकरौली आदि में मिली हैं।

(१७) पृष्ठ १७१ में जल्ह कवि का समय डा० मेनारिया ने सं० १६२५ का दिया है। इसके सम्बन्ध में डा० गुप्त ने लिखा है—'पता नहीं' किस आधार पर उन्होंने यह लिखा है। पर उनका आधार हमारा सम्पादित ग्रन्थ ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' है और

आलोचना

साहित्य की मान्यताएँ—ले०—श्री भगवतीचरण वर्मा, प्रका०—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद। पृ० १७०, मू० ४.५०।

सृजनशील साहित्यकार जब समीक्षक होकर निकलता है तो उसकी मान्यताओं को विशिष्ट गम्भीरता के साथ स्वीकृति या अस्वीकृति प्राप्त होती है। भगवतीचरण वर्मा कवि, कहानीकार, उपन्यासकार आदि की यशस्वी पदवियाँ प्राप्त कर चुके हैं। समीक्षा क्षेत्र में उनकी सम्भवतः यह प्रथम देन है जिसमें उन्होंने साहित्य, उसके उपादान, आदर्श और यथार्थ, छायावाद प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, कहानी, उपन्यास, रेखाचित्र, निबन्ध, नाटक आदि पर अपने विचार प्रकट किए हैं। भावना, बुद्धि और कर्म शीर्षक निबन्ध में उन्होंने कुछ मुद्दे अत्यन्त महत्व के उठाए हैं। उनमें प्रमुख है विज्ञान और कला के तुलनात्मक स्थान का महत्व। वे कला को केवल मनोरञ्जन का साधन स्वीकार करने से असहमति प्रकट करते हैं और दूसरे स्थान पर उसे स्वीकार कर लेते हैं किन्तु इसे जिस प्रकार स्वीकार किया गया है उससे लगता है कि मनोरञ्जन का हलकापन उन्हें वहाँ इष्ट नहीं है, वरन् सम्भवतः आनन्द ही वे काव्य और कला का ध्येय मानते हैं। वे मनोरञ्जन को नशे की दशा तथा व्यक्तिगत वासना से युक्त मानते हैं। वे कला में प्रेषणीयता, सामाजिकता, समाज हित, सात्विकता, बौद्धिकता (विवेक) तथा भावना की प्रमुखता आदि की स्वीकृति प्रदान करते हैं। भगवती बाबू का महत्व प्रश्नों के उठाने में है। उन्होंने समाधान न देकर अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की हैं। आज हिन्दी का समीक्षक कुछ भ्रान्तियों का जाने और अनजाने दोनों रूपों में अन्धानुगमन करता है और वर्माजी भी इससे मुक्त नहीं हैं। हमारे यहाँ काव्य को कलाओं से इतर माना गया है और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में कलाओं के अन्तर्गत ही उसे स्थान मिला है। इसके परिणाम-स्वरूप आज अनेक प्रकार की पेचीदगियाँ उठ खड़ी हुई हैं। हिन्दी-समीक्षक साहित्य और कला के इन परिणामों पर दृष्टि डाले बिना ही आगे बढ़ जाते हैं। उन्होंने साहित्य को

इसका उन्होंने स्पष्ट उल्लेख 'राजस्थान में हिन्दी के हस्त लिखित ग्रन्थों की खोज' भाग १, पृष्ठ १६७ और अपने शोध प्रबन्ध' 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' के पृष्ठ ७१ में किया है। जल्ह कवि रचित 'साधु-कीर्ति जय पताका गीत" हमारे उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ १३७ में छपा है। पुरातन प्रबन्ध संग्रह में जल्ह कवि के जो पद्य हैं उनकी भाषा बुद्धि रासो से प्राचीन मालूम देती है।

डॉ० गुप्त के 'रासो साहित्य विमर्श' ग्रन्थ को मैं समयाभाव से पूरा और बारीकी के साथ नहीं पढ़ पाया फिर भी जो २–४ लेख पढ़े उनकी भूल-भ्रान्तियों का यहाँ थोड़ा सा दिग्दर्शन करा सका हूँ।

— नाहटों की गवाड़, बीकानेर।

ज्ञान का भावात्मक व्यक्तीकरण कहा है, इस पर आपत्ति नहीं है किन्तु कठिनाई यह है कि वे इसे एक नया नारा कहते हैं। सम्भवतः अपने को नवीन स्थापनाओं का प्रणेता कहलाने के जोश में वे यह भूल गए हैं कि उनका यह कथन जो उन्हें नया लग रहा है समीक्षा में फैशन के पद से गिर कर रूढ़िवादी बन चुका है। वर्माजी ने 'साहित्य का प्रभाव' शीर्षक निबन्ध में जो अपने विचार प्रकट किए हैं वे अत्यन्त सन्तुलित एवं सुविचारित हैं। प्रगतिवादी बन्धुओं को उन पर विचार करना चाहिए किन्तु एक निवेदन वर्माजी से भी है कि प्रगतिवादी मान्यताओं की सीमा निर्देशित करने से पहले उन्होंने प्रगतिवाद का जो पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया है वह भ्रान्तियुक्त नहीं है यथा—"प्रगतिवादी वैयक्तिक सुख और मनोरञ्जन को उपयोगितावाद के अन्तर्गत नहीं मानता क्योंकि वह इस वैयक्तिक सुख और मनोरञ्जन का कोई स्पष्ट तत्कालीन सामाजिक महत्व नहीं देखता।" साध्य और साधन की एकता, जीवन की अविभाज्य शक्ति, वैयक्तिक विकास आदि ऐसे तत्व हैं जिन्हें स्वीकार करके वर्माजी ने हिन्दी-समीक्षा क्षेत्र में मार्क्सवादियों द्वारा फैलायी गयी मायावी प्रवृत्तियों का निराकरण करने का सुन्दर प्रयास किया है। आज आवश्यकता है साधन को साध्य के अनुकूल बनाकर चलने की—वैज्ञानिकता आज इसका समर्थन करती है। साहित्य व्यक्ति को भावना के बल पर बदलता है तो उसकी प्रतिक्रिया अहिंसात्मक होगी तभी वह साध्य के अनुरूप बनेगी, अन्यथा नहीं। इस मान्यता को परोक्षतः भगवती बाबू ने भी स्वीकार किया है, जो उनकी समग्रता, गहन जीवन दृष्टि तथा वैज्ञानिकता का परिचायक है। युगों और विधाओं आदि के निबन्ध सामान्य तथा परम्परागत मान्यताओं के कुछेक पक्षों को बल प्रदान करते हैं। इन निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता लेखक की ईमानदारी और सत्य को उसके अधिकाधिक समग्र रूप में देखने और दिखाने की व्यग्रता है। आशा है भगवती बाबू इन प्रश्नों पर अधिकाधिक गम्भीरता से गहरे उतरेंगे और कुछ और समीक्षात्मक कृतियाँ देंगे।

हमारे गद्यकार—ले०—व्यथित हृदय, प्रका०—रामप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा। पृ० २९६ मू० ३)

विद्यार्थियों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर प्रमुख हिन्दी गद्यकारों का साहित्यिक परिचय तथा शैलीगत विशेषताएँ दिग्दर्शित कराने वाली यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सामग्री से युक्त है। प्रारम्भ में हिन्दी गद्य और उसका विकास देकर ऐतिहासिक क्रम स्पष्ट कर दिया गया है, आशा है विद्यार्थी समाज इसका समुचित उपयोग करेगा।

वेदसार परीक्षण—ले०—मदनमोहन शर्मा, प्रका०—स्वाध्याय भवन चण्डीगढ़ (पञ्जाब) पृ० १६०, मू० ५)

विद्यार्थियों के हितों को दृष्टि में रखकर विद्वान लेखक ने वेदसार की असंगतियों का दिग्दर्शन कराके उसे शुद्ध करने का सुन्दर प्रयास किया है। आशा है इस पुस्तक से विद्यार्थियों की कठिनाइयाँ दूर होंगी और भारतीय आर्य ग्रन्थों की शुद्धतापूर्ण सामग्री ही प्रकाशित की जायगी इस विचार को पोषण मिलेगा।

विद्यापति पदावली—ले०—श्री रामचन्द्र श्रीवास्तव 'चन्द्र'। प्रका०—रामप्रसाद एण्ड संस, आगरा। पृ० २७६, मूल्य ५.५०

विद्यापति पदावली अनेक विश्वविद्यालयों में पाठ्य क्रमान्तर्गत स्वीकृत है। अतः उसकी अनेक विद्यार्थियोपयोगी टीकाएँ आदि प्रचलित हैं। उसी दिशा में एक प्रयास यह पुस्तक भी है। पुस्तक के प्रारम्भ में ६२ पृष्ठों की एक सुन्दर भूमिका है और शेष भाग में टीका। आशा है इससे विद्यार्थियों का लाभ होगा।

लहर मंथन—डा०—मधुरमालतीसिंह प्रका०—रामप्रसाद एण्ड संस, आगरा पृ० १७४ मू० ४.००

अमर कवि प्रसाद की यशस्वी कृति 'लहर' के आलोचनात्मक अध्ययन और टीका का यह विद्यार्थियोपयोगी संस्करण लेखिका के यथेष्ट श्रम का सुन्दर परिणाम है। जैसा कि इस पुस्तक के प्रारम्भ में अपनी सम्मति देते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि 'लेखक की दृष्टि यदि व्यावहारिक एवं व्यावसायिक नहीं है और साहित्य के मर्म का उद्घाटन यदि उसका लक्ष्य रहा है तो इस प्रकार के विवेचन और आख्यान साहित्य-रचना के अन्तर्गत ही आने चाहिए, इस दृष्टिकोण का यथेष्ट

सीमा तक इस पुस्तक में योग रहा है। आशा है पुस्तक को हिन्दी संसार में गम्भीरता के साथ स्वीकार किया जायेगा।

हालावाद और बच्चन— ले०—दशरथराज, प्रका०—महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पुणें। पृ० १८३, मू० ३.००

हालावाद हिन्दी की एक ऐसी सशक्त कड़ी है जो छायावादोत्तर काव्य की प्रगति का दिशा निर्देशन करती है तथा प्रगतिवादी-प्रयोगवादी काव्य-परम्पराओं में निहित मांसलता को स्पष्ट मूल्याङ्कन दृष्टि प्रदान करती है। हालावाद और बच्चन दोनों का अटूट सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध की अन्योन्याश्रित मान्यताओं का आकलन इस पुस्तक में हुआ है। समीक्षक ने परिश्रमपूर्वक मार्मिक शैली में विषय का जो प्रतिपादन किया है उससे हिन्दी-प्रेमी लाभान्वित होंगे ऐसा विश्वास है।

हिन्दी साहित्य सङ्कलन—प्रकाशक—बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई। पृ० ११२, मू० २.५०

विश्वविद्यालय के प्रथम वर्ष के पाठ्यक्रम में स्वीकृत यह गद्य और पद्य का संग्रह विद्यार्थियों के स्तर और आवश्यकता को दृष्टि में रखकर सङ्कलित कराया गया है। गद्य में आचार्य शुक्ल का कोई लेख या लेखांश न देकर तथा पद्य में रीतिकालीन काव्य की कोई भी रचना न होने से इसमें सन्तुलित दृष्टि नहीं रह सकी है—ऐसा कहा जा सकता है। यह तो ठीक है कि सभी लेखक और कवि इसमें स्थान नहीं पा सकते थे किन्तु प्रवृत्तियों और युगों की कुछ बानगी दिए बिना हमारी विद्यार्थियों से यह अपेक्षा उचित न होगी कि उन्हें हिन्दी गद्य और पद्य का एक सूक्ष्म किन्तु अधिकतम विशेषताओं से युक्त दर्शन हो सकेगा। आशा है विश्वविद्यालय के अधिकारी भविष्य में इस ओर ध्यान देंगे।

निबन्ध

निबन्ध-निकुञ्ज—ले०—राजेन्द्रसिंह गौड़, प्रका०—साहित्य भवन, इलाहाबाद। पृ० २८० मू० ३.५०।

हाईस्कूल तथा उसके समकक्ष उपयोग में आने वाले निबन्धों का यह संग्रह विद्यार्थियोचित सरल भाषा शैली में लिखा गया है। पुस्तक में १०८ निबन्ध हैं जो विद्यार्थियों की आवश्यकता पूर्ति में समर्थ हैं। इनमें सभी उपयोगी विषय ले लिए गये हैं। आशा है पुस्तक से विद्यार्थी लाभ उठायेंगे।

हिन्दी के वैयक्तिक निबन्ध—ले०—श्री वल्लभ शुक्ल। प्रका०—साहित्य-भवन, प्रा० लि०, इलाहाबाद। पृष्ठ १९२, मूल्य ४.००

वैयक्तिकता निबन्धों की एक ऐसी विशेषता है जिसे सभी निबन्ध-समीक्षकों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। हिन्दी में वैयक्तिक निबन्ध यथेष्ट लिखे गए हैं, इस पुस्तक में उनका, सैद्धान्तिक तथा ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। जिससे हिन्दी-जगत की एक बड़ी कमी पूरी हो गई है। आज के निबन्ध-साहित्य में प्रतिवर्ष अनेक नवीन ग्रन्थ जुड़ते चले जा रहे हैं। किन्तु उनमें दो-एक को छोड़कर सभी आलोचनात्मक होते हैं। ललित निबन्धों का हिन्दी में अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। इस पुस्तक से यदि हिन्दी साहित्यकारों का ध्यान इस पिछड़ती हुई विधा की ओर आकृष्ट हो सका तो बड़ी प्रसन्नता होगी, इस पुस्तक में सैद्धान्तिक तथा व्याख्यात्मक दोनों अङ्गों का सुन्दर समन्वय होने से पुस्तक की उपादेयता बढ़ गई है। आशा है, इस लेखनी से कुछ अन्य विधाएँ भी आकलित हो सकेंगी।

कविता

फूल और कलियाँ—सम्पादक—कमल तथा सलिल, प्रका०—परम प्रकाशन, जमशेदपुर। पृ० ४८, मू० १)

बिहार और उसके आसपास के नवोदित कवियों की कविताओं का यह संग्रह उत्साहवर्द्धक है। इस प्रकार के संग्रहों से यह आशा बँधती है कि कुछ नवीन प्रतिभाएँ भविष्य में उभर सकती हैं। इस संग्रह की अधिकांश रचनाओं में कवियों की अपनी प्रेमिल भावनाएँ ही अभिव्यक्त हुई हैं।

महामना मालवीयजी की काव्य श्रद्धाञ्जलि—सं० पं० पद्मकान्त मालवीय, प्रका०—नेशनल पब्लिशिङ्ग हाउस, दिल्ली। पृष्ठ ६४ मूल्य २.५०

स्व० महामना मालवीयजी के प्रति उनके जीवन-काल में अथवा मृत्यु के उपरान्त संस्कृत, हिन्दी, उर्दू

तथा अँगरेजी में जो कविताएँ लिखी गई थीं उन सबको इस पुस्तक में संग्रहीत किया है। कविताएँ हमारे समक्ष अतीत की अनेक मार्मिक झाँकियाँ प्रस्तुत करती हैं। अकबर इलाहाबादी की निम्न पंक्तियाँ इस युग की मान्यताओं को साकार रूप देती हैं—

भाई गांधी खुद सरीकी आरजू के साज हैं।
और साहब लोग ग़रीबी रंगो बू के साथ हैं।
मालवीजी सबसे बेहतर हैं मेरी दानिश्त में।
यानी मन्दिर में हैं औ अपनी गऊ के साथ हैं।

आधुनिक कवि—ले०—बच्चन, प्रका०—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। पृष्ठ १६५ मूल्य ३.००

छायावाद-युग तथा आधुनिक-युग की एक सशक्त कड़ी के रूप में बच्चन का स्मरण सदैव किया जायगा। इधर उन्होंने अपनी परम्परा में यथेष्ट विकास किया है तथा लोकधुनों पर आधारित अनेक गीत—लोकगीत आदि लिखे हैं। वे शैली शिल्प तथा कथ्य दोनों रूपों में छायावाद से अलग हैं। उनका काव्य अभिधा प्रधान है और उसमें माँसल भावनाओं को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। प्रस्तुत पुस्तक उनकी सभी युगों तथा प्रवृत्तियों की वानगियाँ प्रस्तुत करती है। इस एक ही पुस्तक को देखकर पाठक यह समझ सकते हैं तथा विद्यार्थी समझाए जा सकते हैं कि बचनजी ने किन-किन प्रवृत्तियों को किस-किस स्तर पर स्वीकार किया था और आगे फिर त्याग दिया था। पुस्तक के प्रारम्भ में बचनजी ने स्वयं अपने सम्बन्ध में लिखा है जो उनके काव्य को सही परिप्रेक्ष्य में समझने में सहायता देगा।

गांधीनामा—लेखक—अकबर इलाहाबादी, प्रका०—अकबर मेमोरियल कमेटी, पोनप्पा रोड़ प्रयाग। पृष्ठ ४४, मूल्य २.५०

अकबर इलाहाबादी राष्ट्रीय कवि थे। उन्होंने महात्मा गांधी और उनके आन्दोलन से प्रभावित होकर गान्धीनामा की रचना की थी इसमें गांधीजी के व्यक्तित्व तथा आन्दोलन पर अनेक विधियों से प्रकाश डाला है। अकबर नई दुनिया के साथ चलने वाले थे। इसीलिए वे शाहनामा के दौर से आगे जाकर गांधीनामा तक पहुँच सके। गांधीवादी नीति की मुख्य तत्त्व अहिंसात्मक प्रतिकार का उन पर जो व्यापक प्रभाव पड़ा था उसकी युगानुरूप अभिव्यक्ति इन पंक्तियों में हुई है—

न साहब को मारो न साहब से भागो।
मचाते रहो गुल, पिटो और माँगो।

वे क्रान्ति का समर्थन करते हुए यह कहे बिना न रह सके कि—

इन्किलाब आया नयी दुनिया नया हङ्गामा है।
शाहनामा हो चुका अब दौरे गांधीनामा है।

इस पुस्तक के प्रारम्भ में पं० पद्मकान्त मालवीय ने आलोचनात्मक भूमिका तथा फुट नोटों में उर्दू और फारसी के कठिन शब्दों के सरल अर्थ देकर इसे हिन्दी पाठकों के लिए सर्वथा उपयोगी बना दिया है।

हिमालय—ले०—महादेवी वर्मा, प्रका०—लोक-भारती प्रकाशन, इलाहाबाद। पृ० १६४ मू० ६.००

जब से भारत चीन सीमा सङ्घर्ष उपस्थित हुआ है काव्य की एक धारा विशेष इधर ही मुड़ गई है। उस सशक्त परम्परा की एक सङ्कलित कड़ी यह काव्य ग्रंथ भी है। इसमें वेदों से लेकर आधुनिक काल के कवियों तक की हिमालय सम्बन्धी काव्य का सुन्दर सङ्कलन किया गया है। इसमें संस्कृत, हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं की कविताएँ भी स्वीकार की गई हैं पद्यानुवाद तथा गद्यानुवाद देकर उन्हें हिन्दी के सामान्य पाठक को सुलभ किया गया है। प्रारम्भ के ३१ पृष्ठों में हिमालय का महत्त्व, प्राकृतिक परिवेश और संस्कृति आदि पर अत्यन्त विज्ञतापूर्ण भूमिका दी गई है जिसमें शास्त्रीयता के साथ ही साथ भावनात्मक तत्त्वों को समन्वित करके बुद्धि और अनुभूति का अपूर्व समन्वय प्रस्तुत किया गया है। महादेवीजी ने यहाँ काव्य-शास्त्र सम्बन्धी अनेक प्रश्नों को उभारा है। वे यह स्वीकार करती हैं कि काव्य के मूल में जिज्ञासा तथा सत्य शोधन की प्रक्रिया ही मुख्य है। इस सन्दर्भ में वे अतृप्ति को एक स्थायी मूल्य मान लेती हैं।

जहाँ तक इस सङ्कलन की श्रेष्ठता का प्रश्न है वह असंदिग्ध है। अधिकांश कविताएँ आधुनिक कवियों की हैं जिनका सम्बन्ध चीनी आक्रमण से है। कवियों

में भवानी, दिनकर, प्रसाद, पन्त, सियारामशरण, निराला, नवीन, सुमन, गिरिजा आदि प्रमुख हैं।

आधुनिक कवि—लेखक–रामनरेश त्रिपाठी, प्र०–हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। पृ० १५७, मू० ३)

स्व० पं० रामनरेश त्रिपाठी की कविताओं का यह संग्रह उनकी तथा रामस्वरूप चतुर्वेदी की भूमिकाओं सहित सम्मेलन की आधुनिक कवियों की शृङ्खला की एक कड़ी है। स्वर्गीय त्रिपाठीजी ने अपनी भूमिका में काव्य का मार्मिक प्रतिपादन करते हुए बताया है कि श्रेष्ठ कविता लोकभाषा तथा लोक भावनाओं को आगे करके चलती है। उन्होंने यह भी माना है कि छायावाद पर बँगला और अँग्रेजी का व्यापक प्रभाव है। त्रिपाठीजी की कविताओं में देशभक्ति, कर्त्तव्य-परायणता, स्वच्छन्दता, मानवता, प्रकृति प्रेम, एकान्त प्रणय आदि की भावनाएँ मुखर हैं। त्रिपाठीजी के काव्य में एक ओर द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता है और दूसरी ओर छायावाद की लाक्षणिकता है। शैली का यह द्वैतमूलक द्वन्द्व भावपक्ष में भी मुखर हुआ है। त्रिपाठीजी की कविताओं की भावधारा द्विवेदीयुगीन कट्टर नैतिकता तथा मर्यादा के आदर्शों से टकराती हुई छायावादी कोमलता और प्राञ्जलता को भी अपने क्रोड़ में समेटती चली है। इस संग्रह की कविताओं में ये विशेषतायें अपने विकसित रूप में मिलती हैं। त्रिपाठीजी ने यदा-कदा व्यंग्यों का बड़ा ही सुन्दर स्वरूप स्पष्ट किया है—यथा—हैट के गुण शीर्षक कविता में अंग्रेजों की अनर्थकारीनीति का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

सिर पर हैट रख चाहे जो अनर्थ करो,
हैट यह ईश्वर की दृष्टि से बचाती है।

रेखाचित्र

दस तसवीरें—लेखक–जगदीशचन्द्र माथुर, प्रका०–राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृ० १६१, मू० ६.००

जगदीशचन्द्र माथुर हिन्दी के जाने माने लेखक तथा मार्मिक शब्दशिल्पी हैं। उनके शिल्प की जहाँ अनेक विशेषताएँ हैं उनमें से दो को इस तथाकथित जीवनीपरक पुस्तक में विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। एक है उनकी व्यक्तित्व के भीतरी परदों को भेदकर उसके रहस्यों का मार्मिक और सजीव चित्रण तथा दूसरी है शैली पर उनका अभिनव अधिकार, जो एक ओर अकृत्रिम और प्रवाहपूर्ण है, वहाँ दूसरी ओर सशक्त, अलंकृत एवं लोक प्रचलित गहन अभिव्यक्ति के अनेक उपकरणों से युक्त है। लगता है जैसे कोई सार्वदेशिक और सार्वकालिक सृजन-चेतना कुछ व्यक्तियों के माध्यम से मानव-मन के गहन रहस्यों को समाज के विगत और वर्तमान परिप्रेक्ष्य में रखती चल रही हो और उसकी दृष्टि भविष्य पर टिकी हो। शब्दचित्रों में उनकी अभिजात्य, सरसता, सामाजिक विद्रूपताओं के प्रति सजगता, सांस्कृतिक सुरुचि, कलाभिरुचि तथा व्यक्तियों के अन्तस् में निहित 'सु' पर टिकी दृष्टि स्पष्ट परिलक्षित होती है। इन रेखाङ्कनों में जीवन-चरित्र की तटस्थता, काव्य की संवेदना, संस्मरणों की आत्मानुभूति तथा रेखाचित्रों का अङ्कन-कौशल साकार हुआ है। एक नए 'बेनीपुरी' के दर्शन इनमें होते हैं। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से पात्रों का चयन हुआ है, अतः उनके व्यक्तित्व का वैविध्य तथा सम्पन्नता इनके द्वारा स्पष्ट हो सकी है। इन तसवीरों को संस्मरणात्मक-रेखाचित्र कहना अधिक समीचीन है क्योंकि इनमें घटनाओं के माध्यम से व्यक्तित्व के बहिरन्तर चित्रों का सफल अङ्कन हो सका है। आशा है माथुरजी स्थानों, घटनाओं, वृत्तियों, स्थितियों, मनोदशाओं आदि के तटस्थ तथा पात्राधारित इसी कोटि के रेखाचित्र देकर इस विधा को और भी सम्पन्न बनायेंगे, क्योंकि उनमें वह प्रतिभा है जो इस दुरूह उपलब्धि के लिए अनिवार्य है। हिन्दी संसार में यह कृति अमर होगी, इसमें सन्देह नहीं।

नाटक

कवि कालिदास—ले०–गणेशप्रसाद द्विवेदी। प्र०–हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। पृ० ९४, मू. १.२५

स्वर्गीय द्विवेदीजी का यह सम्भवतः तीसरा नाटक है। इस नाटक में संस्कृत के महाकवि कालिदास के जीवन-चरित्र को आधार बनाया गया है। इस नाटक में कालिदास और उनके विवाह की घटना को लेकर मुख्यतः इस घटना का उनके कवि-जीवन पर पड़ने वाला प्रभाव दिखाया गया है। नाटक में सभी नाटकीय

तत्त्वों का अच्छा समावेश है। अभिनेयता की कसौटी पर भी यह खरा उतरेगा—यह आशा है।

इतिहास व राजनीति

मानव की उत्पत्ति और विकास—लेखक–माइकेल नैस्तुर्ख, प्रकाशक–आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृ० ४०६, मू० १५.००

नृतत्त्वशास्त्र पर हिन्दी में अभी पुस्तकें हैं ही नहीं, यह कहना सम्भवतः उचित है। प्रस्तुत पुस्तक अपने विषय की अधुनातन शोधों से युक्त कृति का अनुवाद है, जो अपनी मूल पुस्तक की अनेक विशेषताओं की रक्षा कर सका है। इस पुस्तक में केवल विषय का प्रतिपादन करना ही लेखक का उद्देश्य नहीं रहा है, वरन् उसने डारविन से लेकर आज तक इस दिशा में हुई शोधों का सामान्य परिचय देना भी आवश्यक समझा है। लेखक ने परिश्रमपूर्वक अनेक संग्रहालयों में संरक्षित खोपड़ियों, अस्थिपञ्जर आदि का सूक्ष्म अध्ययन किया है और इस सबके पीछे उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति स्पष्ट दिखाई देती है। मानव किस प्रकार धीरे-धीरे विकसित होकर आज की स्थिति को पहुँचा है, यह विषय अपने में जितना नया है उतना ही कौतूहल-वर्द्धक भी है। इस पुस्तक का शास्त्रीय विवेचन विषय की गम्भीरता के अनुकूल है।

फीरोजाबाद परिचय—ले०–श्री गणेशलाल शर्मा प्राणेश, प्रका०–फीरोजाबाद परिचय प्रकाशन समिति, फीरोजाबाद। पृष्ठ १६२, मूल्य ६.००

फीरोजाबाद आगरा जिले का ही नहीं उत्तर भारत के औद्योगिक नगरों में प्रमुख है। चूड़ी और काँच के उद्योग का यह सर्वोत्तम केन्द्र है। प्राणेशजी ने इस नगर का इतिहास देकर यहाँ की सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक, औद्योगिक तथा अन्य अनेक प्रवृत्तियों एवं उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों का जो परिचय दिया है, वह सुन्दर है। आशा है इस परिचय से प्रेरणा ग्रहण करके आगरा का एक सुन्दर सचित्र परिचय निकालने की योजना बन सकेगी।

जीवनी

दक्षिण की विभूतियाँ—ले०–राजेन्द्रसिंह गौड़, प्रका०–साहित्य-भवन, प्रा० लि०, इलाहाबाद। पृ० १३१, मूल्य २.५०

दक्षिण भारत ने अनेक सन्त कवियों तथा धर्माचार्यों को जन्म दिया है। इस पुस्तक में दक्षिण भारत के उन्नीस महान् सन्तों, भक्तों, दार्शनिकों तथा कवियों का परिचय दिया गया है। इस परिचय में प्रामाणिक ऐतिहासिक आधारों पर जीवन चरित्र प्रस्तुत करने का प्रयास सुन्दर है। इस पुस्तक से दक्षिण और उत्तर के सांस्कृतिक सम्बन्ध और भी पुष्ट होंगे। यदि इस पुस्तक में इन सन्तों की रचनाओं के कुछ संग्रह भी दे दिए जाते तो निस्सन्देह इसकी उपादेयता और भी अधिक बढ़ सकती थी किन्तु जो कुछ उपलब्ध है वह भी कम उपादेय नहीं है।

आज की वैज्ञानिक महिलाएँ—ले०–एडनायोस्ट, प्र०–राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ १५७, मूल्य ३)

अमेरिकन लेखिका ने वैज्ञानिक क्षत्र में अभूतपूर्व उपलब्धि प्राप्त करने वाली ग्यारह महिलाओं का सुन्दर शैली में परिचय दिया है। इस पुस्तक के द्वारा हम महिलाओं के उस जीवन तथा योग्यता से परिचित हो सकते हैं जो समाज को आगे ले जाने में विशेष महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर चुकी हैं—या कर रही हैं। विज्ञान मानव समाज की स्वर्णिम कल्पना की धुरी है बिना उसकी सहायता के आज हम प्रगति नहीं कर पाएँगे, अतः यह पुस्तक सामयिक महत्त्व की है—यह निर्विवाद है। आशा है हिन्दी में इस पुस्तक का अच्छा सम्मान होगा।

कविरत्न सत्यनारायणजी की जीवनी—लेखक–श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, प्रका०–हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। पृष्ठ २१०, मूल्य ४.००

सत्यनारायण कविरत्न ब्रजभाषा के मर्मज्ञ, रसिक तथा उच्चकोटि के कवि थे। वे परम्परावादी काव्य प्रवृत्तियों के समर्थक न होकर आधुनिकता को लोक संस्कृति के रङ्ग में रँग कर जन जीवन को उससे ओतप्रोत करना अपना ध्येय मानते थे। जितनी ऋजुता

सादगी, उच्चादर्श प्रियता तथा साहित्य के लिए त्याग की वृत्ति उनके जीवन में थी उससे भी अधिक सरसता, मार्मिकता, नवीनता तथा राष्ट्रप्रेम उनके काव्य में है। इस आधुनिक युग की आवश्यकता को परम्परा प्राप्त ब्रजभाषा के माध्यम से प्रस्तुत करने वाले ब्रज कोकिल की जीवनी लिखा जाना आवश्यक था। जीवनी कितनी मार्मिक तथा उपादेय है, यह इससे सिद्ध है कि इसका दूसरा संस्करण हिन्दी-जगत् के समक्ष आगया है। आशा है कि इस संस्करण का भी वैसा ही सम्मान होगा जैसा कि प्रथम संस्करण का हुआ था।

दर्शन

सफलता की राह पर—लेखक–ज्योति, प्रकाशक–आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृ० १२६, मू० २.००

हिन्दी में अब तक सफलता प्राप्त करने के सिद्धान्त बताने वाली पुस्तकें या तो विदेशी पुस्तकों का अनुवाद होती हैं या उनके आधार पर लिखी जाती हैं। इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ है कि उनमें पाश्चात्य जीवन दर्शन के सिद्धान्तों का ही आधार ग्रहण किया गया है, तथा दृष्टान्त भी वहीं के जीवन से दिए गए हैं। इस पुस्तक में उस पद्धति का अनुगमन न करके लेखक ने सर्वथा मौलिक तथा भारतीय जीवन-दर्शन का अपना मौलिक पथ-प्रदर्शित किया है। सफलता प्राप्त करने के लिए इस लेखक ने संयम, स्नायुओं पर नियन्त्रण, लगन, संवेग, श्रद्धा, साधना, कर्म में पूर्ण शक्ति से संलग्न रहना आदि पर विशेष बल प्रदान किया है।

अर्थशास्त्र

आर्थिक विकास का सापेक्ष चित्रण—ले०–जॉन केनेथ गैलब्रेथ। प्रका०–आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली। पृ० ७६, मू० २.००

भारत में अमेरिका के भूतपूर्व राजदूत प्रो० गैलब्रेथ ने भारत के विभिन्न विद्यालयों में पाँच भाषण आर्थिक विकास से सम्बन्धित विषयों पर दिए थे। उन्हें यहाँ पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया गया है। विषय के गहन विद्वान तथा मार्मिक उद्घाटक ने सुन्दर शैली में तकनीकी विषय का ऐसा सुन्दर विवेचन किया है कि विषय की गहरी जानकारी न रखने वाले सामान्य पाठक भी इसका लाभ उठा सकते हैं। चूँकि समस्याओं का अङ्कन भारत की वर्तमान स्थिति को दृष्टि में रखकर किया गया है अतः इस पुस्तक का सामयिक महत्त्व है। विद्वान लेखक की भारतीय अर्थ-शास्त्र में गहरी पैठ है, आशा है भारतीय जन-समस्याओं के प्रति उनका अनुराग निरन्तर बना रहेगा।

बालोपयोगी

सरला, विल्यू और जाला—ले० ह्वाइट, (अनु० मुद्रा राक्षस) प्रका०, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली। पृ० १९०, मूल्य २.००

हिन्दी में बाल उपन्यास बहुत ही कम हैं। प्रस्तुत पुस्तक ह्वाइट के लिखे प्रसिद्ध बाल उपन्यास Charlottes Web का स्वच्छन्द हिन्दी रूपान्तर है। इसमें नामों और स्थानों आदि को भारतीय रूप में प्रस्तुत करके अनुवादक ने इसे बाल मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल बना दिया है। पुस्तक में आवश्यकतानुसार कुछ एक रंगे चित्र दिए गए हैं; जिनसे पुस्तक की उपादेयता में अभिवृद्धि हुई है। पुस्तक सरल भाषा में तथा मनोरञ्जक शैली में होने के कारण बाल-जगत में यथेष्ट सम्मान प्राप्त करेगी—ऐसी आशा है।

स्फुट

डींग-डींग असेम्बली—ले०–फिक्र तौंसवीं, प्रका०–आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृ० १८०, मू० ३.००

साहित्य में व्यंग्य का स्थायी महत्व होता है क्योंकि वह सोद्देश्य होने के कारण समाज और व्यक्तियों की बुराइयों को उभार कर अतिरञ्जित रूप में प्रस्तुत करता है। पाठकों पर व्यंग्य का सीधा एवं मार्मिक प्रभाव होता है। प्रस्तुत पुस्तक आज की सामाजिक एवं वैयक्तिक असङ्गतियों को आधार बनाकर चली है। लेखक का दृष्टिकोण व्यापक तथा चयन की श्रेष्ठतम विशेषताओं से युक्त है। उसने राजनीति, साहित्य, शिक्षा, मनोविज्ञान, काव्य आदि को अपने व्यंग्यों का लक्ष्य बनाया है। शैली विषय के सर्वथा अनुकूल तथा चोट करने वाली है। पुस्तक मनोरञ्जक तथा सफल है।

आयोजित विकास

तीसरी पंचवर्षीय योजना में ८० प्रतिशत से अधिक योजनाएं रक्षा का अत्यावश्यक अंग हैं और शेष पंचवर्षीय योजना भी परोक्ष रूप से इससे सम्बद्ध है।

औद्योगिक विकास की गति तेज करने और रक्षा के लिए अधिक शक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से योजना को और ठीक-ठाक कर दिया गया है।

इस्पात और मशीनी औजार, खनिज तथा कच्चे पदार्थों का उत्पादन बढ़ा दिया गया है। इंजीनियरी और सम्बद्ध उद्योगों की क्षमता का पूर्णतम रूप से उपयोग किया जाएगा।

आयोजित विकास रक्षा का मूलाधार ही है। योजना को अधिक तेज रफ्तार और कुशलता से पूरी करके आप रक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ करने और भारत को वास्तविक रूप से अधिक सबल बनाने में सहायक होते हैं।

देश रक्षा के लिए

DA63/F-8

राष्ट्रीय पुस्तक समारोह

"मैं बिना भोजन और पानी के रह सकता हूँ पर पुस्तकों के बिना नहीं।"

—नेताजी सुभाषचन्द्र बोस

* * * *

"पुस्तकें मन के लिए साबुन का काम करती हैं।"

—म० गांधी

* * * *

"पुराने कपड़े पहनकर नई पुस्तकें खरीदिये।"

—प्रस्टिन फिल्प्स

* * * *

"अच्छी पुस्तकें पास होने से हमें भले मित्रों के साथ रहने की कमी नहीं खटकती।"

—म० गांधी

* * * *

"यदि मेरे पास १) हो तो ९० पैसे पुस्तकों के लिए और शेष अन्य कार्यों के लिए रखूँगा।"

—बर्नार्ड शॉ

* * * *

"पुस्तकों के बिना एक कमरा ऐसा है जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर।"

—सिसरो

राष्ट्रीय पुस्तक समारोह के दो मुख्य प्रयोजन हैं: एक तो यह कि पाठकों को मालूम हो कि हिन्दी में कितना विपुल साहित्य निकल चुका है और अब भी निकल रहा है; दूसरे, पाठक पुस्तकों का मूल्य समझें और उत्तम साहित्य का देश के कोने-कोने में प्रचार एवं प्रसार हो।

इसलिए हम प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति से अनुरोध करते हैं कि वह अपने-अपने क्षेत्र में अच्छी पुस्तकों के प्रसार में पूरा योग दें। हिन्दी-भाषी व्यक्तियों की संख्या पूरे देश में २०-२२ करोड़ है। पांच व्यक्तियों के परिवार में यदि एक व्यक्ति भी समारोह के दिनों में पांच रुपये की पुस्तकें खरीदने की ठान ले तो सत्साहित्य के प्रचार में बहुत सहायता मिल सकती है। आजाद देश के जिम्मेदार नागरिकों के लिए यह काम करने योग्य है और उन्हें अवश्य करना चाहिए। —जीवन-साहित्य, दिल्ली।

"पुस्तकों के होने पर निर्धन रहना स्वीकार है पर पुस्तकों के बिना राजा होना स्वीकार नहीं।"

—मैकाले

* * * *

"घर में केवल मेज, कुर्सी, कालीन ही नहीं, कुछ अपनी भाषा की पुस्तकें भी चाहिए।"

—अज्ञात

* * * *

"सजावट के सामान में पुस्तकें जरूरी हैं चाहे वह रखी ही रहें।" —बर्नार्ड शॉ

* * * *

"मैं नरक में भी पुस्तकों का बड़ा स्वागत करूँगा, जहाँ ये होंगी वहाँ स्वर्ग बन जायेगा।"

—लोकमान्य तिलक

* * * *

"जिसके पास विद्या रूपी धन नहीं वह अन्धे के समान है।" —हितोपदेश

हुण्डी का पूरा विवरण इस पृष्ठ के पीछे देखिए।

REGD. No. L, 263. November 1963 License No. 16.
Sahitya-Sandesh, Agra. Licensed to post without prepayment.

पं० जवाहरलाल नेहरू की जयन्ती
पर
राष्ट्रीय पुस्तक समारोह

१४ नवम्बर से नेहरूजी का जन्म दिवस अब सारे देश में बाल दिवस के रूप में मनाया जाता है। इसी दिवस से सारे भारत में हिन्दी प्रचार के लिए अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक सङ्घ के निर्देशानुसार राष्ट्रीय पुस्तक समारोह मनाने का आयोजन भी होता है। इस समारोह पर जगह-जगह पुस्तक प्रदर्शनी और दूसरे प्रकार के पुस्तक प्रचार के कार्य होते हैं। हिन्दी प्रचार के ही नाते इस अवसर पर हमने भी कई बार पुस्तक प्रदर्शनी का वृहत् आयोजन किया है जिसे सभी ने पसन्द किया।

इस वर्ष हमने पुस्तकों के प्रचार के लिए एक नई योजना निकाली है। इस योजना के अनुसार हमने १००) ५०) और २५) की हुण्डी तैयार की हैं जिन्हें खरीदने की प्रार्थना हम सभी हिन्दी प्रेमियों से करते हैं।

हुण्डी खरीदने में लाभ

इस समय हुण्डी खरीदने में कई सुविधाएँ देने की व्यवस्था हमने की है—

१—हुण्डी खरीदने वालों को १००) रु० की हुण्डी पर १२०) की पुस्तकें।
५०) रु० की हुण्डी पर ६०) की पुस्तकें।
२५) रु० की हुण्डी पर ३०) की पुस्तकें।

२—यह पुस्तकें एक साथ या धीरे-धीरे जब इच्छा हो तब एक वर्ष अर्थात् १४ नवम्बर १९६४ तक खरीदी जा सकती हैं।

३—हुण्डी लेने वाले सज्जन हमारे यहाँ से अपने पसन्द की कोई भी पुस्तकें मँगा सकेंगे।

हमारा उद्देश्य पुस्तक प्रचार करने का है और हम चाहते हैं कि हिन्दी प्रेमी लोग जहाँ अपने बच्चों, अपने घर की स्त्रियों और अपने मनोरञ्जन के लिए सिनेमा जाते हैं, खेल खिलौने खरीदते हैं, मिठाई लाते हैं, उसी प्रकार १०)–२०)–५०) मासिक रुपया पुस्तकों पर भी खर्च करें। उपर्युक्त व्ययों में जहाँ मनोरञ्जन के अतिरिक्त और कोई स्थायी लाभ नहीं होता वहाँ पुस्तकों से मनोरञ्जन तो होगा ही ज्ञान भी मिलेगा और जब तक पुस्तक रहेगी तब तक उससे सभी को लाभ होता रहेगा। इस आयोजन को सफल बनाने के लिए हमें आपके सहयोग की आवश्यकता है।

बाहर की सभी शिक्षा-संस्थाओं से भी

हमारा निवेदन है कि अभी वे किसी फण्ड में से रुपया निकाल कर हजार पाँच सौ की हुण्डी हमसे खरीद लें—पुस्तकें वे जब चाहें एक वर्ष तक मँगाते रहें। चैक या ड्राफ्ट भेजकर हमसे रजिस्ट्री डाक से हुण्डी मँगाने की कृपा करें। हुण्डी मँगाने की अन्तिम तिथि ३१ दिसम्बर १९६३ तक है।

निवेदक

महेन्द्र सञ्चालक,

साहित्य-रत्न-भण्डार साहित्य-कुञ्ज आगरा।

साहित्य सन्देश

सम्पादक

महेन्द्र

प्रकाशक

साहित्य रत्न भण्डार

आगरा

साहित्य-सन्देश

दिसम्बर १९६३

सम्पादक
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार

मूल्य
एक प्रति ०.५० वार्षिक ५.००

मुद्रक
साहित्य-प्रेस

इस अंक में

ग्राहकों को सूचना

साहित्य-सन्देश का आगामी अङ्क विशेषाङ्क के रूप में जनवरी-फरवरी १९६४ का संयुक्ताङ्क होगा जो फरवरी में प्रकाशित होगा। अतः ग्राहक महानुभावों से निवेदन है कि वे जनवरी अङ्क की प्रतीक्षा न करें।

व्यवस्थापक—

साहित्य-सन्देश कार्यालय, आगरा।

साहित्य सन्देश

सम्पादक : महेन्द्र सहकारी : डॉ० मक्खनलाल शर्मा

भाग २५] आगरा—दिसम्बर १९६३ [अङ्क ६

हमारी विचारधारा

साहित्य–सत्यशोधन का उद्देश्यानुकूल साधन—

सभी शास्त्र तथा विज्ञान-प्रक्रियाएँ सत्यशोध के साधन रूप में कार्यशील हैं तथा रहती आई हैं। मानव जीवन का सम्भवतः श्रेष्ठतम उद्देश्य सत्यशोधन रहा है। सत्य का ज्ञान आनन्ददायक होने के कारण स्पृहणीय हैं[1]। साहित्य और विज्ञान का मुख्य अन्तर उनके रूप अथवा एप्रोच का है। सत्य दोनों का उद्देश्य है। विज्ञान या शास्त्र बुद्धि को सहयोग देकर सत्य तक पहुँचता है जबकि साहित्य संवेदनाओं को अपने कार्य-क्षेत्र रूप में स्वीकार करता है। साहित्य की विज्ञान से विशिष्टता उसके माध्यम की दृष्टि से ही है। साहित्य को आनन्द देने वाला उपदेश कहने वाले की दृष्टि दुहरे उद्देश्य से समन्वित थी।[2] एक ओर उसने साहित्यकार की दृष्टि से काव्य प्रक्रिया को देखा था और दूसरी ओर सहृदय की दृष्टि से साहित्य से मिलने वाले आनन्द और शिक्षण पर ध्यान दिया था। इस मान्यता के आधार पर हम कह सकते हैं कि साहित्यकार व्यक्तिगत सीमाओं में रह कर लाभ उठाता है अर्थात् आत्म-कल्याण करता है और साथ ही जगत् का कल्याण भी करता है। व्यक्तिगत सीमाओं में रहकर भी सार्वजनिक सीमा तक जा पहुँचता है, अतः व्यक्ति और समाज की अन्विति ही साहित्य का उद्देश्य ठहरती है। केवल समाज या केवल व्यक्ति—अथवा पहले व्यक्ति आदि के प्रश्न समस्या को समझने-समझाने की अपेक्षा केवल उलझाने के लिए ही हों—ऐसा प्रतीत होता है। अब रही सहृदय की दृष्टि से हुई विवेचना – तो इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि साहित्य चाहे किसी भी कोटि का हो और किसी भी मान्यता या दृष्टिकोण को लेकर लिखा गया हो, किन्तु वह जीवन, जगत तथा सामयिकता के प्रति कोई न कोई दृष्टि अवश्य अपनावेगा, अतः उसके सोद्देश्य होने (उपदेश देना इसी के अन्तर्गत आजाता है) की बात तो निर्विवाद सिद्ध है, हां मुख्य प्रश्न जिस पर विचार होना चाहिए, उसकी आनन्द देने वाली बात है।

साहित्य का आनन्द से अपरिहार्य सम्बन्ध माना गया है। कोई उसे प्रीति[1] (आनन्द) कहते हैं तो

---

[1] "... to learn is a natural pleasure, not confined to philosophers but common to all men."
(Poetics : Page 9)

[2] काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहार विदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।
(काव्यप्रकाश : प्रथम उल्लास : द्वितीय कारिका)

[1] (क) काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ।
—(काव्यालङ्कार सूत्र : १-१-५)

कोई आनन्दानुभूति[1] । साहित्य का स्वरूप ही आनन्द है, विश्वनाथ कविराज ने उसके इस स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसके शास्त्र से भेद पर लिखा है—"चतुर्वर्ग प्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणत बुद्धीनामेवजायते । परमानन्द संदोह जनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनःकाव्यादेव । ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः करणीय इत्यपि न वाच्यम् । कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्करा प्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात् ।"[2] आचार्य रुद्रट आदि ने भी कुछ इसी प्रकार की मान्यता प्रकट की है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य आनन्ददायक होने के कारण उद्देश्य के अनुकूल साधन है । साधन और साध्य की एकरूपता ही आनन्द देती है । सत्य का उद्देश्यानुरूपी अहिंसात्मक साधन साहित्य है । साहित्य से मिलने वाले आनन्द को अखण्ड माना गया है ।[3] उसके पीछे उसकी चिन्मयता, अलौकिकत्व, चमत्कारमयता तथा स्वयं प्रकाशित होने की विशेषताएँ हैं। इस अखण्डता का कारण साधन और साध्य की एकरूपता है । साधन साध्य के अनुरूप नहीं होता तो अखण्डता नहीं आ पाती है । यह साधन और साध्य की एकरूपता जितनी अधिक होगी, अखण्डता उतनी ही सघन होगी, अतः साधन का साध्य के अनुकूल न होना रसहीनता है । एवं आंशिक अनुकूलता द्वितीय कोटि के रस का कारण कही जा सकती है, जिसकी ओर कुछ आधुनिक आचार्यों ने इङ्गित किया है ।[4]

अभिनवगुप्ताचार्य ने अभिनवभारती के षष्ठोऽध्यायः में काव्यार्थ रस माना है । काव्यार्थ को प्रकट करने की क्षमता वाला साहित्य ही काव्य की कोटि में आता है और यह काव्यार्थ सीमाओं में रहता हुआ भी उच्चतम सीमा तक पहुँचना चाहिए, एवं इस उद्देश्य की प्राप्ति तभी सम्भव है जबकि साधन और साध्य की एकरूपता हो । साहित्य को लोक जीवन से सम्बन्धित मानने वाले काव्यशास्त्री रस को उसकी अन्तिम और शाश्वत कसौटी तो मानते हैं किन्तु अन्तिम कसौटी पर कसने से पूर्व वे प्रारम्भिक परीक्षा के तौर पर उसका एक वर्ग विशेष का हितचिन्तक होना आवश्यक ठहराते हैं। लगता है जैसे वे ये सभी अनिवार्यताएं इसलिए निर्धारित करना चाहते हैं, क्योंकि रस के सम्बन्ध में उनकी धारणा अस्पष्ट है । रस स्वभावतः लोकमङ्गलकारी तथा सबका समान रूप से हित करने वाला है । इस 'समान रूप से' का अर्थ यह नहीं है कि इस आनन्द को प्राप्त करने वाले समाज के सभी व्यक्ति हो सकेंगे । जो सहृदय हैं, वे ही इसके अधिकारी हैं। सहृदय वही है जो मानव को स्वभावतः (अनिवार्य रूप से) अच्छा मानता है और अनुभव करता है कि उसके इस गुण का निरन्तर विकास होता रहा है तथा हो रहा है । साहित्य में वर्णित सत्य सीमित तथा देश-काल-परिस्थिति सापेक्ष होता है, किन्तु अहिंसा का माध्यम पाकर (रमणीयता प्रधान होने के कारण वह अहिंसात्मक बनता है) तथा नियामक हेतुओं के बन्धन से मुक्त होकर साधारणीकृत हो जाता है। परिणामतः हमारी सत्व प्रधान वृत्ति उभर आती है। सीमित सत्य को भी अहिंसा का माध्यम सामान्य स्तर तक पहुँचा देता है ।

कुछ विचारक रस को अलौकिक या लोकोत्तर मानकर एक दार्शनिक प्रश्न खड़ा करते हैं और रस के निश्चय से पूर्व आत्मतत्व की व्याख्या में उलझ जाते हैं। दूसरी ओर कुछ विचारक, जैसाकि पहले इङ्गित किया है, वर्गवाद के चक्र में उलझकर रस तक पहुँच ही नहीं पाते, अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि साहित्य को उसके विशिष्ट परिप्रेक्ष्य में देखा जाय।

(ख) धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्
—(काव्यालंकार : १-२)

[1] चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् । काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ।। (वक्रोक्तिजीवितम् प्रथम उन्मेष पंचम कारिका)

[2] साहित्य-दर्पण :- प्रथम परिच्छेद ।

[3] वही : तृतीय परिच्छेद ।

[4] आचार्य शुक्ल इस कोटि में आते हैं ।

उसकी कसौटी स्वानुभूति और लोकानुभूति दोनों को समेट कर चले। सत्य को खोजने वाले अन्य शास्त्रों का अनुगामी जब साहित्य को ठहरा दिया जाता है,[1] तब न केवल वह उद्देश्य भ्रष्ट हो जाता है वरन् उसकी विशिष्टता भी अस्वीकृत हुई सी लगती है। आज की परिस्थिति में यह आवश्यक है कि साहित्य मानवतावादी हो, सांस्कृतिक परम्पराओं की थाती को स्वीकारता हुआ उन्हें अग्रसर करे। (यहाँ मानवता का अर्थ कोई संकुचितवादी दृष्टिकोण मात्र नहीं है) यदि वह मानवतावादी होगा तो अनिवार्यतः सभी वर्ग के सहृदयों को आनन्दित करेगा—ऐसा नहीं होता और न हो सकेगा कि सच्चा मानववाद किसी एक विशिष्ट दृष्टिकोण वालों को ही आनन्द देकर रह जाय। जिस साहित्य को वर्गवादी कहा जाता है, या अस्त्र बनाया जाता है, वह मानव की अनिवार्य सद्वृत्ति में विश्वास नहीं करता—वह मानता है कि व्यक्ति की अपनी कोई मान्यता या स्वरूप नहीं होता। वह परिस्थितियों का दास मात्र होता है, जिस प्रकार की परिवेशात्मक स्थिति होगी, व्यक्ति की मान्यताएँ, दृष्टिकोण तथा साहित्य-रचना आदि उसी के अनुरूप होंगी। यह नियम न इतिहास से सिद्ध है और न साहित्य के महत्त्व के अनुकूल है। भूतकाल में अनेक साहित्यकार ऐसे युगद्रष्टा हुए हैं कि उन्होंने न केवल ऐसे आदर्श की स्थापना की थी जो आज तक प्राप्त नहीं हो सका है, वरन् समाजवादी समाज में भी उसे प्राप्त कर लिया जावेगा इसकी शक्यता दृष्टिगोचर नहीं होती है। जब मार्क्स का सिद्धान्त जिस रूप में प्रकृति पर लागू होता है उस रूप में समाज पर लागू नहीं हो पाता और इसका कारण यह बताया जाता है कि समाज व्यक्तियों का समूह है व्यक्ति बुद्धि द्वारा नियमों को समझ कर आगे या पीछे जा सकते हैं, अतः तीव्र विकास या मन्द विकास हो सकता है तो यह समझ में नहीं आता कि साहित्यकार जो समाज की आँख और मस्तिष्क होता है एवं पिछली परम्परा को समझने, वर्तमान की आलोचना करने तथा भविष्य के सम्बन्ध में सत्य सिद्ध हो जाने वाली सृजनशील मान्यता कर लेता है तो फिर वह केवल एक ही वर्ग का प्रतिनिधित्व करेगा, एक समाज दशा विशेष का समर्थन या विरोध भर ही कर सकेगा—यह सीमा-रेखा खींचना कहाँ तक न्यायसङ्गत एवं उचित है? इस पर विचार होना चाहिए और आज हिन्दी-साहित्य उस स्थिति में आ गया है जबकि वह यह घोषणा कर सकता है कि साहित्य मानव को अब तक के उपलब्ध सभी साधनों में इस दृष्टि से उत्कृष्ट है कि वह मानव-जीवन के उद्देश्य सत्य-शोधन के नितान्त अनुकूल माध्यम है। उस माध्यम के महत्व को हम स्वीकार करें, उसे एक वर्ग के हाथ का अस्त्र या राजनीति का अनुगामी मात्र या प्रचार का साधन आदि कहकर नीचे न गिरावें—और न वह केवल अतिवैयक्तिक मान्यताओं का बीहड़ नगर बनकर ही रह जाय, जहाँ पहुँच कर लेखक भी अपने को न खोज पावे। आज जो वादों का घटाटोप छाया हुआ है और साहित्यकार सृजन की अपेक्षा अपनी मौलिकता और साहित्य के क्षेत्र में अपने नाम का एक नया ऊँट छोड़ने की वृत्ति लेकर सामने बढ़ रहा है उससे और चाहे जो कुछ हो रहा हो परन्तु यह निश्चित है कि साहित्य का कोई लाभ नहीं हो रहा है और न होने की आशा है।

साहित्य के माध्यम से सत्यशोधन की प्रक्रिया ठीक उस प्रकार नहीं चलती जैसी कि शास्त्रों या विज्ञान में चलती है। शास्त्र और विज्ञान बुद्धि का माध्यम स्वीकार करते हैं जबकि साहित्य और कलाएँ हृदय की भावनाओं एवं संवेदनों को माध्यम के रूप में लेकर चलती हैं। मन की भावनाएँ विभावादि के द्वारा सत्य की ओर उन्मुख होती हैं। विभावादि का माध्यम अहिंसात्मक है, क्योंकि उसमें सभी भावों के प्रति स्वीकारात्मक दृष्टि होती है। साहित्य में सभी भाव तथा विभावादि के तत्व अपनी लौकिकता (हिंसात्मक स्थिति) को छोड़ कर सत्योन्मुख होते हैं। जो साहित्य या तो सत्योन्मुख न हो अथवा अहिंसात्मक साधन की श्रेष्ठतम सीमाओं को न प्राप्त कर सके तो वह अपने उद्देश्य पर नहीं पहुँच पावेगा और न वह कभी श्रेष्ठ साहित्य की कोटि

[1] Art Should Serve the Politics (Mao-Tse-Tung)

में आएगा। मानव मन की सभी वृत्तियाँ कल्याणकारी होती हैं और सभी उचित माध्यम के सहयोग से आनन्द का कारण बन जाती हैं अतः वृत्तियों में से कुछ को श्रेष्ठ और शेष को निम्न मानना अनुपयुक्त है। स्थायी-भावों में से कुछ को दुःखात्मक और कुछ को सुखात्मक मानने की जो वृत्ति रही है और जिस सम्बन्ध में यद्यपि बहुमत रस को आल्हादकारी मानता रहा है किन्तु नाट्यदर्पणकार ने 'सुखदुःखात्मो रसः'[1] लिखा है तथा मधुसूदन सरस्वती ने कतिपय स्थायीभावों के आस्वाद में सुख की न्यूनता प्रतिपादित की है—'द्रवीभावस्य सत्यधर्मत्वात्, तं विना च स्थायीभावासम्भवात्, सत्व-गुणस्य च सुखरूपत्वात्, सर्वेषां भावानां, सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोऽशमिश्रणात् तारतम्यमवगन्तव्यम्। अतोन सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभवः।[2] यह अभिमत लौकिक भावों की दृष्टि से तो प्रामाणिक है किन्तु साहित्यानुभव इसके विपरीत है और इसका कारण यह है कि साहित्य के अहिंसात्मक माध्यम को पाकर दुःखात्मक भाव भी आनन्ददायक बन जाते हैं। इस विचार को प्रकट करने वाले उपर्युक्त आचार्यों की दृष्टि मुख्यतः भावों की लौकिक अनुभूति पर रही है और वे माध्यम की अहिं-सक शक्ति पर विचार नहीं कर सके हैं जो लौकिक अनु-भूति को अलौकिक (लौकिक से भिन्न) स्तर तक पहुँ-चाने में समर्थ है। आज के सन्दर्भ में इन प्रश्नों पर यदि विचार किया जाय तो कह सकते हैं कि सत्यशोधन का साहित्योद्देश्य जितना महत्वपूर्ण है, उसके माध्यम की अनुकूलता भी उससे कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस महत्व को स्वीकार न करने के कारण ही प्रयोगवादी शिल्प एकांगी बन रहा है।

हमारा आगामी विशेषाङ्क—

'साहित्य-सन्देश' का जनवरी-फरवरी का अङ्क जैसा कि पिछले अङ्क में विज्ञप्ति हो चुकी है 'वीर-काव्य' विशेषाङ्क होगा। इस विशेषाङ्क में वीररस के महाकाव्यों, काव्यों तथा हिन्दी साहित्य के विभिन्न युगों में प्रवाहित होने वाली वीर रस की धारा का विश्लेषण होगा। इस विशेषांक के सम्बन्ध में साहित्य सन्देश के लेखक महोदयों से निबन्ध भेजने का अनुरोध है। आशा है कि जिस प्रकार पूर्वकाल में सहयोग मिलता रहा है, वैसा ही सहयोग इस बार भी मिलेगा। विशेषाङ्क की रूप रेखा इस प्रकार है:—

१—रसों में वीर रस का स्थान तथा महत्त्व।
२—वीररस का युग 'वीर गाथा काव्य'।
३—वीरगाथा काल के मुख्य-मुख्य वीरकाव्य।
४—पृथ्वीराज रासो।
५—भक्तिकाल के वीर काव्य।
६—रीतिकाल में वीरकाव्य परम्परा।
७—भूषण।
८—सूदन।
९—लाल।
१०—भारतेन्दु युग का वीर-काव्य।
११—द्विवेदी युग में वीर काव्य।
१२—छायावाद में वीर काव्य।
१३—प्रगतिवाद और वीर-काव्य।
१४—प्रयोगवाद और वीर रस।
१५—आधुनिक भारतीय भाषाओं में वीरकाव्य।
१६—संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में वीरकाव्य का विश्लेषण।
१७—वीरकाव्य पर शोधकार्य।
१८—जैन-साहित्य में वीरकाव्य।
१९—आधुनिक काल में वीरकाव्य।
२०—चीनी आक्रमण पर हुई रचनाएँ।
२१—स्वतन्त्रता संग्राम के समय की रचनाएँ।
२२—अंग्रेजी में वीरकाव्य।
२३—वीररस का सैद्धान्तिक विवेचन।
२४—वीररस की रचनाओं की आवश्यकता।
२५—वीररस और वीरकाव्य से सम्बन्धित अन्य कोई भी विषय।

———

[1] नाट्यदर्पण पृ० १५८। [2] भक्तिरसायन पृ० २२।

व्यक्तिवाद और हिन्दी-उपन्यास

डा० सुरेश सिनहा

साधारण व्यक्तियों के दैनिक जीवन से उपन्यासों का सम्बन्ध प्रायः दो महत्वपूर्ण तथ्यों पर आधारित रहता है। पहला तो यह कि समाज को प्रत्येक व्यक्ति का अत्यन्त उच्चस्तर पर मूल्याङ्कन करना चाहिए और गम्भीर साहित्य के लिए उसे उपयुक्त विषय समझना चाहिए। दूसरे साधारण व्यक्तियों के बीच उनसे सम्बन्धित विस्तृत विवरणों में विश्वास और कार्यों में यथेष्ट अन्तर होना चाहिए। यह विवरण कम से कम इस प्रकार का होना चाहिए कि दूसरे साधारण व्यक्ति, अर्थात् जो उपन्यास के पाठक हैं, भी अपनी रुचि प्रकट कर सकें। पर उपन्यास के अस्तित्व से सम्बन्धित इन दोनों तथ्यों में से कोई भी अत्यन्त व्यापकता अभी हाल तक नहीं प्राप्त कर सका, क्योंकि वे दोनों ही समाज के विकास पर निर्भर हैं, जिसमें व्यक्तिवाद से प्रतिपादित एक दूसरे पर निर्भर रहने के तत्व प्राप्त होते हैं।

व्यक्तिवाद शब्द बहुत प्राचीन नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से ही इसका प्रयोग प्रारम्भ हुआ है। प्रत्येक समाज में असन्दिग्ध रूप से ऐसे कुछ व्यक्ति निश्चय ही रहते हैं, जो अपनी असाधारण स्थिति तत्कालीन विचारधारा से स्वतन्त्र रहने और अपनी 'स्वतन्त्र' चेतनशीलता के कारण व्यक्तिवादी कहे जा सकते हैं। पर व्यक्तिवाद का सिद्धान्त इससे भिन्न कुछ और ही है। इसकी परिधि में एक पूरा समाज आ जाता है, जो प्रत्येक व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र विचार धारा (जो उसे दूसरे व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न स्थान प्रदान करती है), तथा विचार एवं कार्यों की प्राचीन परम्परा से अलग रहने की प्रवृत्ति से सञ्चालित होता है। 'परम्परा' एक ऐसी शक्ति है, जिसमें सदैव ही सामाजिक तत्वों का समावेश होता है, न कि व्यक्तिवादी तत्वों का। इस प्रकार के समाज का अस्तित्व स्पष्ट है, एक विशिष्ट ढङ्ग के वैचारिक दृष्टिकोण पर निर्भर करता है, विशेषरूप से एक आर्थिक और राजनीतिक सङ्गठन पर जो अपने सदस्यों को अपने द्वारा सम्पादित किए जाने वाले कार्यों में विभिन्न वैचारिक दृष्टिकोण अपनाने की व्यापकता, तथा उस व्यक्तिगत आयडियोलॉजी अपनाने की स्वतन्त्रता, जो प्राचीन परम्पराओं पर नहीं, वरन् व्यक्तिगत लोगों की व्यक्तिगत इच्छाओं पर आधारित होती हैं। चाहे उनकी सामाजिक स्थिति कुछ भी हो और चाहे उनकी अपनी व्यक्तिगत सीमाएँ कुछ भी हों। यह साधारणतया निश्चित है कि आधुनिक समाज असाधारण रूप से इस सन्दर्भ में व्यक्तिवादी है और इसके आविर्भाव की अनेक ऐतिहासिक कारणों में दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। एक तो आधुनिक व्यावसायिक पूँजीवाद का उदय एवं विकास और दूसरे विरोधवाद का व्यापक विस्तार विशेषतया उसके शुद्धतावादी रूप का विस्तार।

पूँजीवाद ने आर्थिक सञ्चयन में यथेष्ट वृद्धि की और सामाजिक रूपविधान एवं प्रजातान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था से इसके परस्पर साम्य ने व्यक्ति की भावाभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की भावना की भी वृद्धि की। इसके परिणामस्वरूप नवीन आर्थिक सङ्गठन, तथा नवीन सामाजिक रूप विधान आदि अब सामूहिक परिवार की भावना, धार्मिक भावना, एकता एवं सङ्गठन की भावना, नागरिक भावना और किसी अन्य इसी प्रकार की सामूहिक एकता की भावना पर आधारित नहीं हुए वरन् व्यक्ति की व्यक्तिगत सत्ता पर आधारित हुए। व्यक्ति अब स्वयं ही अपनी आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक अभिनयों की पूर्णता के लिए अपने ही प्रति उत्तरदायी रहने लगा। यह कहना कठिन है कि कब इस नवीन परिवर्तन ने समाज को समग्र रूप में प्रभावित करना प्रारम्भ किया। कदाचित् उन्नीसवीं शताब्दी तक ऐसा

नहीं हुआ था, पर इस आन्दोलन का सूत्रपात निश्चय ही उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व हो चुका था। सोलहवीं शताब्दी में सुधारों और राष्ट्रीय राज्यों के उदय एवं विकास ने आंशिक सामाजिक समानता एवं एकता को निर्णयात्मक ढङ्ग से चुनौती दी और प्रथमबार पूर्ण 'राज्य' ने पूर्ण 'व्यक्ति' का राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिवेश के बाहर सामना किया। यद्यपि परिवर्तन की गति अत्यन्त मन्द थी, और सम्भवतः व्यावसायिक पूंजीवाद का जब और अधिक विकास हुआ, तभी प्रमुखतया एक व्यक्तिवादी सामाजिक और आर्थिक ढाँचे का आविर्भाव हुआ और उसने कुल जनसंख्या के अधिकांश भाग को अपनी विचारधारा की उत्तेजना से प्रभावित करना प्रारम्भ किया। कम से कम यह सामान्य रूप से निश्चित है कि इस नवीन सङ्गठन की नींव १६८९ की शानदार क्रान्ति भी पश्चात् पड़ चुकी थी। व्यावसायिक और औद्योगिक वर्ग, जो इस व्यक्तिवादी सामाजिक रूप विधान की स्थापना की पृष्ठभूमि में विशेष रूप से क्रियाशील थे, वे और भी अधिक व्यापक राजनीतिक एवं आर्थिक शक्ति प्राप्त कर ली थी। यह शक्ति पहले ही साहित्य में प्रतिध्वनित होने लगी थी।

नगरों में मध्यवर्ग का उदय और विकास अत्यन्त तीव्रगति से हो रहा था और पाठक वर्ग में उनकी संख्या तथा उनके महत्व में आशातीत वृद्धि हो रही थी। किन्तु ठीक इसी समय साहित्य ने व्यवसाय एवं उद्योगों का पक्ष ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। यह एक प्रकार का सर्वथा नवीन विकास था। पूर्व लेखकों जिनमें स्पेन्सर, शेक्सपीयर, डॉन, बेन जॉन्सन और ड्रायडेन आदि प्रमुख थे, ने परम्परागत सामाजिक एवं आर्थिक रूप विधान को अपना अन्यतम समर्थन प्रदान किया था और नवीन उदित होने वाले व्यक्तिवाद के अनेक सिद्धान्तों पर तीव्र प्रहार किये थे। किन्तु अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ होने के साथ एडीसन, स्टील और डेफ़ो आदि लेखकों ने अपने पूर्व लेखकों से विरोध प्रकट किया, और उनके द्वारा अपनाए गये मार्ग से अलग अपना एक नया मार्ग अपनाया। उन्होंने सप्रयत्न आर्थिक व्यक्तिवाद पर साहित्यिक मुहर लगाना प्रारम्भ किया। यह नवीन उपज समान स्तर पर दर्शन के क्षेत्र में भी परिलक्षित होता है। सत्रहवीं शताब्दी के महान ब्रिटिश साम्राज्यवादी अपने राजनीतिक और तर्क शास्त्रीय विचारों में उतने ही कट्टर व्यक्तिवादी थे, जितने कि वे अपने आध्यात्म के क्षेत्र में थे। बेथन ने कुछ विशेष व्यक्तियों के वास्तविक विवरणों को एकत्रित कर सामाजिक सिद्धान्तों में से अपने नवीन ढङ्ग को अपनाकर एक नवीन प्रारम्भ की आशा प्रकट की थी। हॉब्स ने भी इस बात का अनुभव किया कि वह ऐसे विषय को उठा रहा है। जिस पर पहले न कभी उचित ढङ्ग से सोचा गया और न लिखा गया। यहाँ तक कि उसने अपने राजनीतिक और तर्क-शास्त्रीय सिद्धान्तों को व्यक्ति के मूल भूत मनोवैज्ञानिक रूप सङ्गठन पर आधारित किया। जबकि लॉक ने अपनी "Two Treatises of Government" (१६९०) में व्यक्तिगत अधिकारों पर आधारित राजनीतिक विचारों की वर्गगत व्यवस्था निर्मित की। यह चर्च परिवार या सम्राट् की परम्पराओं के बिल्कुल ही विरुद्ध था। इस प्रकार स्पष्ट है इन महान् विचारकों और चिन्तकों ने व्यक्तिवाद के राजनीतिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्षों की अनुपम व्याख्या कर उनका प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया। साथ ही ज्ञान के इस व्यक्तिवादी सिद्धान्त के अग्रगण्य नेताओं के भी अथक प्रयत्नों से इस बात का आभास मिलता है कि कैसे उन्होंने इस सिद्धान्त और अपने निष्कर्षों को स्वयं अपने से और उपन्यासों की भिन्न-भिन्न धाराओं से सम्बन्धित किया। जिस प्रकार ग्रीक के साहित्यिक रूपों के अयथार्थवादी प्रवृत्तियों और उनके सामाजिक नागरिक एवं नैतिक दृष्टिकोणों तथा सृष्टिगत सत्ता के लिए उनकी दार्शनिक प्रमुखता में आधारभूत साम्य है, उसी प्रकार आधुनिक उपन्यास साहित्य एक ओर तो आधुनिक यथार्थवादी अध्यात्मवाद से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है और दूसरी ओर अपने सामाजिक क्षेत्र में व्यक्ति से ठीक आदर्शवादी एवं विश्वव्यापी भावनाओं पर क्लासिकल दृष्टिकोण की भाँति। परिणामस्वरूप आधुनिक युग में परिस्थितियाँ पूर्णतया परिवर्तित हो

व्यक्तिवादी आर्थिक सिद्धान्तों के कारण व्यक्तिगत एवं साहित्य सम्बन्धों का, विशेषतया काम पर आधारित सम्बन्धों का महत्वपूर्णतया समाप्त हो गया और जैसा कि वेबर[1] का कथन है, मानव-जीवन के बुद्धिहीन तत्वों में काम के सर्वाधिक महत्वपूर्ण होने का कारण वह है व्यक्ति के आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किए गए कार्यों में सबसे बड़ा सिर दर्द बन गया है। फलस्वरूप उसे व्यावसायिक पूँजीवाद की आयडियोलॉजी के कठोर नियन्त्रण में डाल दिया गया है। एक अन्य सुविज्ञ[2] का कहना है कि श्रम के प्रगतिशील वर्गीकरण में जबकि हम अत्यधिक उपयोगी नागरिक बन जाते हैं। तो हम मनुष्य के रूप में अपनी पूर्णता समाप्त कर देते हैं। आधुनिक समाज का पूर्ण संगठन, नवीन सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति और स्वतन्त्र प्रयत्नशीलता को समाप्त कर देती है और तब बहुत न्यून मात्रा में मानवीय रुचि शेष रह जाती है। इस स्थिति का समाधान या तो उपन्यासों में या फिर समाचार पत्रों में प्राप्त किया जा सकता है। वास्तव में व्यक्तिवाद की स्थायी उपलब्धि धार्मिक आन्दोलन एवं सुधार के कारण प्राप्त हुई न कि धर्म निरपेक्षिता एवं पुनर्जागरण के कारण यद्यपि इस प्रकार के विवाद बहुत महत्व नहीं रखते और न तर्क संगत ही कहे जा सकते हैं कि व्यक्तिवाद के उदय एवं विकास की उपलब्धियों में कौन तत्व अधिक महत्वपूर्ण थे और कौन तत्व महत्वशून्य थे। मात्र इसी पर विवाद कर अपने मतों की प्रतिष्ठापना से कोई विशेष लाभप्रद स्थिति नहीं प्राप्त होगी। किन्तु इतना निश्चित है, साथ ही सत्य भी, कि एक तत्व प्रोटेस्टेन्ट के सभी रूपों में सर्वसामान्य है कि मनुष्य एवं ईश्वर के मध्य मध्यस्थ के रूप में चर्च की सत्ता समाप्त हो गई और इसके स्थान पर धर्म का एक सर्वथा भिन्न रूप प्रतिपादित हुआ, जिसमें व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता स्वीकृत की गई और अपनी स्वयं की आत्मिक अभिव्यक्तियों एवं तत्सम्बन्धित रूप में दिशोन्मुख होने का पूर्ण उत्तरदायित्व व्यक्ति के कन्धों पर डाल दिया गया। इस नवीन प्रोटेस्टेन्ट भावाभिव्यक्ति की दो मुख्य विशेषताएँ थीं—प्रथम यह कि व्यक्ति द्वारा स्वयं एक आत्मिक सत्ता के रूप में अपनी चेतनता की वृद्धि करने की प्रवृत्ति और दूसरे नैतिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण को प्रजातान्त्रिक आधार भूमि पर स्थापित करने की प्रवृत्ति। ये दोनों प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से रॉबिन्सन क्रूसो के लिए भी महत्वपूर्ण थीं, साथ ही उस भावी अनुमान की भावना के विकास के लिए भी जिस पर उपन्यासों का रूपगत यथार्थवाद पर आधारित है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य के रूप में स्वयं अपना आत्मिक निरीक्षण एवं दिशोन्मुख होने का यह धार्मिक विचार प्रोटेस्टेन्ट विचारधारा से भी प्राचीन है। इसका आविर्भाव व्यक्तिवाद से हुआ और उसकी चरम अभिव्यक्ति आगस्टीन के Conbessions" में हुई। यदि ईश्वर ने स्वयं अपनी आत्मिक :वृत्तियों का मूल्यांकन करने एवं फलस्वरूप दिशोन्मुख होने का उत्तरदायित्व व्यक्ति पर डाल दिया है। तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि उसने उनके दैनिक जीवन की घटनाओं में अपने उद्देश्यों का आभास देकर इस सत्य को सम्भव कर दिया। अतः शुद्धतावादियों ने अपने व्यक्तिगत अनुभवों में प्रत्येक तथ्यों को नैतिक एवं आत्मिक अर्थों में अधिक शक्ति-सम्पन्न एवं तर्कसङ्गत रूप में देखना एवं समझना प्रारम्भ कर दिया। इस व्यवस्था में सभी आत्माओं के लिए समान अवसर उपलब्ध हो गया। परिणामस्वरूप सभी व्यक्तियों को जीवन के साधारण आचरणों में अपनी आत्मिक विशेषताओं के विकास एवं प्रदर्शन के लिए भी समान अवसर प्राप्त हुआ। यह नैतिक और सामाजिक मान्यताओं को प्रजातान्त्रिक आधारभूमि पर प्रतिष्ठापित करने के लिए शुद्धतावादियों द्वारा किये जाने वाले प्रयत्नों का एक कारण था। इसमें अन्य अनेक तत्वों द्वारा भी सहायता प्राप्त हुई। उदाहरणार्थ ऐसे

[1] वेबर : एसेज़ इन सोशियोलॉजी (अर्थ और मिल्स द्वारा अनु० न्यूयार्क १९४६), पृष्ठ ३५०।

[2] टी० एच० ग्रीन : एस्टीमेट ऑव द वैल्यू एण्ड इन्फ्लुएन्स ऑव वर्क्स ऑव फिक्शन इन माडर्न टाइम्स, (सम्पा० नेटिलशिप, III) पृष्ठ ४०।

बहुत से सामाजिक, राजनीतिक एवं नैतिक कारण हैं कि शुद्धतावादियों द्वारा पुरातनपंथी मूल्यों की सीमाओं के प्रति क्यों आक्रामक रुख अपनाया जाना चाहिए था और न वे परम्परागत रोमांटिक नायकों में इसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति को अस्वीकृत करने में ही असफल हो सके। इस विवेचन से प्रायः यह स्पष्ट है कि शुद्धतावादियों ने सामाजिक एवं साहित्यिक दृष्टिकोण में विशिष्ट परिवर्तन ला दिया था। जिसका विवरण मिल्टन की 'Paradise Lost' में मिलता है, तथा और भी तर्कसंगत ढंग से डेफो के एक लेख में, जो 'Applebee's Journal' (१७२२) में मॉरिबोर की शवयात्रा के अवसर पर प्रकाशित हुआ था, प्राप्त होता है।

फ्रेञ्च यथार्थवादियों का कैथलिक विरोधी डी वोग ने उपन्यासों द्वारा प्राकृतिक एवं अस्वाभाविक तत्वों के बहिष्कृत किए जाने का समर्थन किया था[1] और यह निश्चित है कि उपन्यासों के सामान्य अर्थ अर्थात् रूपगत यथार्थवाद का यह अभिप्राय ही है कि उपन्यास में ऐसे तत्वों का समावेश किसी भी रूप में न किया जाना चाहिए, जो चेतना द्वारा समर्थित न हों। परिणामस्वरूप इस नवीन भाव धारा के उदय एवं विकास के लिये धर्म निरपेक्षिता की माप एक निश्चित शर्त बन गई। उपन्यास अपना ध्यान केवल व्यक्तिगत सम्बन्धों पर ही केन्द्रित कर सकते हैं। जैसा कि एक बार अधिकांश लेखकों और पाठकों ने यह विश्वास प्रकट किया था कि मात्र व्यक्तियों के हाथों में ही इस सृष्टि की सर्वोच्च सत्ता हो, न कि चर्च, सम्प्रदाय या धार्मिक नेताओं के हाथों में। यहाँ यह कहने का अभिप्राय नहीं है कि उपन्यासकार स्वयं या उसका उपन्यास धार्मिक नहीं हो सकता, बल्कि यह कि उपन्यासकारों का जो भी अन्तिम उद्देश्य हो, उसका अर्थ उसके द्वारा चित्रित किये जाने वाले पात्रों एवं उनके क्रियाकलापों तक ही सीमित होना चाहिए। भावनाओं की यथार्थता पात्रों के विषयगत अनुभवों के माध्यम से ही प्रकट किया जाना चाहिए। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि उपन्यासों के लिये एक सर्वव्यापी भावना की आवश्यकता होती है, जो व्यक्तिगत लोगों के मध्य सामाजिक सम्बन्धों की आधार भूमि पर आधारित रहता है। इसमें धर्म निरपेक्षिता एवं व्यक्तिवादिता भी सम्मिलित रहती है क्योंकि १७ वीं शताब्दी के अन्त तक व्यक्ति की भिन्न सत्ता नहीं स्वीकृति की गई थी। बल्कि उसे चित्र का एक तत्व समझा जाता रहा, जो अपने अभिव्यक्ति के लिए ईश्वरीय व्यक्तियों पर निर्भर रहता था, साथ ही अनेक परम्परागत सङ्गठनों पर जैसे चर्च आदि। किन्तु इसके साथ ही शुद्धतावादियों द्वारा आधुनिक व्यक्तिवाद के विकास तथा उपन्यासों के विकास में प्रदान किये गये सहयोग को किसी भी मात्रा में न्यून न समझा जाना चाहिए। वस्तुतः व्यक्तिवाद के आधुनिक स्वरूप के विकास एवं उपन्यासों के विकास की पृष्ठभूमि इन शुद्धतावादियों की महत्वपूर्ण देन है, जिसका उचित मूल्याङ्कन होना चाहिये। यह शुद्धतावाद ही था, जिसके माध्यम से डेप्पो ने उपन्यासों में व्यक्ति की सत्ता स्वीकार करने और उसके मनोवैज्ञानिक सम्बन्धों को अभिव्यक्ति प्रदान करने की प्रवृत्ति का सूत्रपात किया। डेप्पो ने मनोवैज्ञानिक संभावनाओं से अपने को पूर्णतया अलग कर लिया था, जिससे कि वह व्यक्ति की एकान्तिकता का चित्रण कर सके, और यही कारण था कि उसकी कृतियाँ उन पाठकों में अत्यधिक लोकप्रिय हुई जो अपने को सबसे अलग मानते थे। ऐसे लेखकों ने डेप्पो के महान् लेखक की संज्ञा से विभूषित किया क्योंकि उसने पहली बार व्यक्ति की सत्ता स्वीकार कर उसकी एकान्तिकता का चित्रण करने का प्रयत्न किया था।

व्यक्तिवाद की इस विचारधारा का विरोध भी किया गया और कहा गया कि व्यक्ति की एकान्तिकता अत्यन्त हानिप्रद है और पीड़ा दायक है। इस पथ पर चलकर मानव-जीवन पशु-जीवन के समान हो जाता है और मानसिक ह्रास होता है। इन आलोचनाओं का डेप्पो ने बड़े विश्वासपूर्ण ढङ्ग से उत्तर दिया। उसने

[1] विशेष विवरण के लिये देखिये : एफ० डब्ल्यू० जे० हेम्मिंग्स : द रशियन नॉवेल इन फ्रान्स (१८८४-१९१४), (१९५०), लन्दन, पृ० ३१-३२

कहा कि प्रत्येक व्यक्ति की सामर्थ्य को समझ लेने के पश्चात् उसकी आत्मानुभूतियों को उपयोगी ढङ्ग से एकान्तिक बनाया जा सकता है, और पिछली दो शताब्दियों में व्यक्तिवाद के एकान्तिक पाठक इसकी आलोचना नहीं, वरन् इस पर अपना हर्ष प्रकट करेंगे कि व्यक्तिवादी अनुभव की विश्वव्यापी प्रतिमूर्ति एकान्तिक बन गई है। यह सर्वव्यापी है यह शब्द यद्यपि व्यक्तिवाद के 'सिक्के' के दूसरी तरफ बराबर अङ्कित मिलेगा पर यह शब्द वस्तुतः असन्दिग्ध है। यद्यपि डेप्पो स्वयं इस नवीन सामाजिक एवं आर्थिक सङ्गठन का एक आशावादी प्रवक्ता था, किन्तु तब भी उसने आर्थिक व्यक्तिवाद से सम्बन्धित न्यून मात्रा में प्रेरणादायक व्यक्तियों का चित्रण अपने उपन्यासों में किया, जिसने परिणामस्वरूप व्यक्ति को उसके परिवार एवं राष्ट्र से अलग कर दिया।

व्यक्तिवाद के अनुसार दूसरे व्यक्तियों के सुख-दुःख हमारे लिये क्या महत्व रखते हैं? संभव हो सकता है कि हम सहानुभूति की शक्ति से प्रेरित होकर उनके कुछ भावों से द्रवित हो जाएँ और छिपे तौर पर उन्हें अपनी सहानुभूति दे डालें, किन्तु अन्ततोगत्वा सभी ठोस प्रतिध्वनियाँ हमारे स्वयं में ही समाहित हो जाती हैं। हमें अलग-अलग पूर्ण ढङ्ग से रहना है। हमारी भावनायें हमीं तक सीमित हैं। हम प्रेम करते हैं, हम घृणा करते हैं, हम व्यथित होते हैं हम उल्लसित होते हैं—किन्तु यह सब अपनी व्यक्तिगत सत्ता के परिवेश में एकान्तिकता की पृष्ठभूमि पर ही होता है। इस तथ्यों के सम्बन्ध में यदि हम किसी से कुछ कहते हैं तो मात्र इतना ही कि अपनी इन एकान्तिका की इच्छाओं की पूर्ति में हम उनकी सहायता चाहते हैं और परिवार, राष्ट्र एवं दूसरों से अलग रहना चाहते हैं। यह स्वयं हमारे तक ही सीमित रहता है कि हम सुखी होते हैं या पीड़ित होते हैं।

किन्तु अन्य चरम प्रवृत्तियों की भाँति इस प्रवृत्ति की भी शीघ्र ही प्रतिक्रिया होनी आरम्भ हो गई। जैसे-जैसे व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत की जाने लगी और इस तथ्य कि व्यक्ति समाज के ऊपर निर्भर करता है तथा उसका एक अभिन्न अङ्ग है, और जो अभी तक सर्व सम्मत एवं मान्य था, को भ्रमपूर्ण सिद्ध किया जाने लगा और जिसे व्यक्तिवाद ने सबसे जबरदस्त चुनौती दी थी, तो इसकी अत्यन्त विशद व्याख्या एवं विश्लेषण होना प्रारम्भ हुआ। मनुष्य अनिवार्यतः एक सामाजिक प्राणी है—ऐसी चर्चा प्रमुख रूप से अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिकों में प्रारम्भ हुई। जिनमें डेविड ह्यूम सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे।[1] उन्होंने कहा कि हम अपने अन्दर ऐसी किसी भी भावना को जन्म नहीं दे सकते, जिसका सम्बन्ध समाज से न हो। 'प्रकृति की सभी शक्तियों और तत्वों को एक ही व्यक्ति (ईश्वर की) सेवा करनी चाहिए और उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिये। सूर्य और चन्द्रमा को उसी के संकेतों पर निकलना और डूबना चाहिये। समुद्र और नदियों को उसी रूप में बहना चाहिए, जैसा चाहता है। सृष्टि को उसी पथ पर अग्रसर होना चाहिये। जिसे वह लाभप्रद समझता हो। पर यह सब होने के बावजूद भी व्यक्तिवाद की गतिशीलता अवरुद्ध नहीं की जा सकी और व्यक्तिवाद ने इन सभी को ठुकरा दिया। व्यक्तिवाद की सशक्तता ने उपन्यासकारों का ध्यान बराबर अपनी ओर आकर्षित किया और उन्होंने व्यक्तिवादी उपन्यासों की रचना प्रारम्भ की।

व्यक्तिवादी उपन्यास वैयक्तिक जीवन चित्रण पर ही प्रमुख रूप से आधारित होते हैं। उनमें पहले पृष्ठ के पहले शब्द से लेकर अन्तिम पृष्ठ के अन्तिम शब्द तक सभी कुछ व्यक्तिवादी ढङ्ग से विकसित होता है। पात्र व्यक्तिवादी होते हैं। कथानक का विकास व्यक्तिवादी ढङ्ग से होता है। उपन्यासकार का जीवन दर्शन व्यक्तिवादी होता है। पात्रों के कथोपकथन एवं क्रिया-कलाप, सभी कुछ व्यक्तिवादी होते हैं। उनमें सामूहिकता अथवा सहयोग की भावना का पूर्ण अभाव होता है। व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता स्वीकृति होती है, समाज की सत्ता को पूर्णतया तिरस्कृत किया जाता है। व्यक्तिवादी उपन्यासों के पात्रों का सामाजिक रूढ़ियों में

[1] डेविड ह्यूम : ट्रीटाइज ऑव ह्यूमन नेचर (१७३९) बुक २ सेक्सन ५

कोई आस्था नहीं होती। परम्परागत रीति-रिवाजों, अन्ध विश्वासों, सामाजिक शोषण एवं अन्याय, विवाह और प्रेम आदि समस्याओं के प्रति उनके व्यक्तिवादी विचारों की अभिव्यक्ति होती है और वे समाज में एक ऐसी क्रान्ति करना चाहते हैं जिससे परम्परावादी समाज ध्वस्त हो जाये और उसके स्थान पर व्यक्तिवादी समाज की रचना हो, जिसमें व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता सर्वमान्य हो। ये पात्र किसी भी रूप में समाज की परवाह नहीं करते। उनके लिये समाज कोई अस्तित्व नहीं रखता। स्वयं उनका अपना अस्तित्व एवं उनके अपने विचारों का अस्तित्व ही उनके लिये सब कुछ होता है। व्यक्तिवादी जीवन दर्शन में व्यक्ति का अपना अहं ही सभी कुछ महत्व रखता है, और उस अहं की रक्षा में ही व्यक्ति गतिशील होता है। व्यक्तिवाद की चरम सीमा में यह व्यक्तिगत अहं अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लेता है।

व्यक्तिवाद मध्यवर्गीय शिक्षित वर्ग की आस्था विवाह विधान के परम्परागत रूप में बनाए रखता है, पर जब समकालीन सामाजिक परिस्थितियों की कटुता उसके विश्वासों को ध्वस्त करता है, तो वह अपनी उस आस्था को ठुकरा कर प्रेम का विकास व्यक्तिवादी स्तर पर करता है, फिर दो प्रेमीजनों के विवाह सूत्र में बँधने में समाज मध्यस्थ नहीं रह जाता इस प्रकार व्यक्तिवादी जीवन दर्शन विवाह संस्था को भी धीरे-धीरे तोड़ रहा है, जर्जरित कर रहा है, और उसके स्थान पर नारी और पुरुष के मध्य ऐसे व्यक्तिवादी प्रेम का विकास हो रहा है, जो उन्हें जीवन-पर्यन्त 'मित्र' बनकर रहने की प्रेरणा देता है, विवाह में उनकी विशेष रुचि नहीं रह जाती। यह एक प्रकार से संस्कारयुक्त प्रेम था पूर्ण तिरस्कार कर संस्कारयुक्त प्रेम का विकास है, जिसकी पृष्ठभूमि में व्यक्तिवादी चेतनशीलता, समाज की निडरता और अहं की प्रधानता क्रियाशील रहती है। व्यक्तिवाद जाति भेद और वर्ण-व्यवस्था को भी नहीं मानता। एक ब्राह्मण की लड़की का मुसलमान युवक से प्रेम, या ब्राह्मण कन्या का अछूत से प्रेम व्यक्तिवाद के अनुसार मान्य है, और उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जिससे मुँह बिचकाया जाए। व्यक्तिवाद वेश्या विवाह और विधवा-विवाह का समर्थन करता है। यदि वेश्या में नेह है, ममता है, जीवन में गरिमा प्राप्त करने की लालसा है तो व्यक्तिवाद उसे किसी गृहिणी नारी से कम नहीं मानता, और देवी के ही रूप में उसकी श्रद्धा करता है। ऐसी देवी, जिसे समाज का अभिशाप और परिस्थितियों की विषमता समाज के नर्क में ढकेल देती है। व्यक्तिवाद व्यक्ति की गरिमा और एकनिष्ठ प्रेम की महत्ता को अन्यतम रूप में स्वीकार करता है।

हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में पूर्व-प्रेमचन्द काल और प्रेमचन्द काल में व्यक्तिवादी जीवन दर्शन का अधिक प्रभाव नहीं पड़ पाया। इन दोनों ही काल के उपन्यासकार व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता मानने को तैयार न थे। वे व्यक्ति को समाज की एक अभिन्न इकाई ही मानते थे और उसी रूप में चित्रित करते थे। वे सभी सामाजिक सुधार तो चाहते थे और रूढ़ियों का भी नाश (विशेषरूप से प्रेमचन्द काल में) चाहते थे, हर सामाजिक रूप विधान को पूर्ववत बनाए रख समाज की सत्ता का विकास चाहते थे। वे व्यक्ति थे अहं को नहीं, सामाजिक अनुशासन को महत्त्व देते थे, और व्यक्ति का विकास और जीवन की गतिशीलता समाज के नियन्त्रण में चाहते थे। पर प्रेमचन्द की मृत्यु तक परिस्थितियाँ परिवर्तित हो गई थीं। ज्वालामुखी का मुख खुल चुका था और उसके विस्फोट को तथाकथित 'सामाजिक सुधारक' रोक सकने में असमर्थ थे। समाज में मध्यवर्ग नवीन चेतना से सञ्चारित हो रहा था और उसे अपना भी महत्व समझ में आने लगा था। वह यह समझने लगा था कि उसकी पीड़ाएँ, उसका दुःख-दर्द, उसकी भावनाएँ, प्रेम, विवाह सम्बन्धी निराशा और कुण्ठाएँ—इन सब के अपने-अपने अर्थ हैं और समाज को उनकी भावाभिव्यक्ति को समझना पड़ेगा। उनके अन्दर एक ज्वाला सुलग रही थी, क्रान्ति की चिनगारी आग उगलने को तैयार थी और सामाजिक रूप-विधान का तख्ता पलट देने के शोले भड़क चुके थे। समय बड़ा नाजुक था और उस

समकालीन नाजुकता से उपन्यासकार विमुख नहीं रह सकता था। फलस्वरूप उत्तर-प्रेमचन्द काल में स्थिति में परिवर्तन हुआ और व्यक्तिवादी भावनाओं ने उपन्यासकारों की मन:स्थिति को अपने स्पन्दन से गुदगुदाना और झंकृत करना प्रारम्भ किया। प्रथम व्यक्तिवादी उपन्यास माना जाना चाहिए। 'चित्रलेखा' पाप-पुण्य एवं प्रेम की समस्याओं का व्यक्तिवादी ढङ्ग से विश्लेषण किया गया है। 'अञ्चल', भगवतीचरण वर्मा से घोर व्यक्तिवादी हैं। 'चढ़ती धूप' (१९४५) में उन्होंने प्रेम समस्या को लिया है और उसकी नायिका ममता अपने पति की अपेक्षा अपने प्रेमी को अधिक महत्त्व देती है। वह तो अपने पति से यहाँ तक कह देती है कि यदि उसका प्रेमी चाहे तो अब भी उसे किसी कोठे पर बिठा कर वेश्या वृत्ति करा सकता है, और वह (पति) उसके प्रेमी के पावों की धूल भी नहीं है। अपने प्रेमी की मृत्यु पर वह पति के रहते हुए भी अपनी चूड़ियाँ तोड़ देती है और माँग का सिन्दूर पोंछ देती है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी (पतिता की साधना। चलते-चलते, यथार्थ से आगे), उपेन्द्रनाथ अश्क (गर्मराख, गिरती दीवारें, शहर में घूमता आईना पत्थर-अलपत्थर), उदयशङ्कर भट्ट (नए मोड़, लोक-परलोक सागर लहरें और मनुष्य) सुरेस सिन्हा (तुमने मुझे पुकार तो नहीं, एक और अजनबी) जनार्दन मुक्तिदूत (अधूरे उपन्यास), नरेशमेहता (यह पथ बन्धु था, डूबते मस्तूल) आदि ऐसे दूसरे उपन्यासकार हैं, जिनकी विभिन्न रचनाओं में व्यक्तिवादी जीवन दर्शन एवं चिन्तन का विकास प्रस्फुटित होता है। इन सभी उपन्यासों के अध्ययन एवं विश्लेषण के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलेगा कि व्यक्तिवादी उपन्यासों में समष्टिगत चेतना की तुलना में व्यष्टिगत चेतना को अधिक महत्व प्रदान किया गया है। इनमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना का सबल स्वर उद्घोषित होता रहता है और सामाजिक चेतना को तिरस्कृत कर व्यक्तिनिष्ठ चेतना को महत्व प्रदान करने की भावना परिलक्षित होती है।

—कल्पना, १६ पुरुषोत्तमनगर, हिम्मतगंज,
इलाहाबाद—३

कामायनी के इड़ा सर्ग में बिम्ब-विधान

श्री बालकृष्ण निमकर

"वस्तु"[1] और "वस्तु के विचार"[2] में तार्किक दृष्टि से कारणता का सम्बन्ध है। मनोवैज्ञानिक अर्थ में पूर्वोक्त उत्तेजक है और उत्तरोक्त मानसिक प्रतिक्रिया। साहचर्य के नियमों (Laws of Association) से इसकी व्याख्या करना सहज है कि कालान्तर में शब्द विशेष जो किसी वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है, उसमें और वस्तु में अचेतन साहचर्य हो जाता है और तब केवल शब्द (जो 'वस्तु विशेष' का प्रतिस्थापित है) उन अनेक चेतन अचेतन प्रक्रियाओं को जन्म देता है जो प्रारम्भ में वस्तु के प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न होती थी। बिम्ब (Imagery) की प्रेषणीयता (Suggestivity) के विषय में यह निर्विवाद है कि शाब्दिक अर्थ से पृथक, बिम्ब-विधान एक जटिल मानसिक प्रक्रिया को जन्म देता है। जिसमें निर्दिष्ट बिम्ब, मुक्त बिम्ब कोई प्रधान भावना एवं अनेक गौण भावनाओं का प्रस्फुरण सम्मिलित है। उदाहरणार्थ 'अन्धकार' न केवल अन्धकार की श्यामलता का बिम्ब है, वरन् वह मन में असीम अस्तित्व की भावना, नीरवता आदि को चित्रित कर निराशा या घनीभूत शोक को सूचित करता है। 'कामायनी' में इड़ा की पात्र रूप में एवं प्रतीकात्मक दोनों स्थितियाँ होने के कारण 'इड़ा' सर्ग में सफल बिम्ब-विधान परीक्षण के लिये एक विशिष्ट महत्त्व रखता है।

ऊपरी दृष्टि से व्यक्त वस्तु (विषय) और उसके बिम्ब में पूर्ण धर्म-साध्य के साथ ही उसमें अचेतन (Suggestivity) की क्षमता तुरन्त लक्षित होती है। बाह्य दृष्टि से बिम्ब की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि यदि वह किसी अमूर्त विषय के लिये प्रयुक्त हुआ हो, तो बिम्ब और विषय में धर्म और स्वरूप की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण साहश्य हो। एकाकी, क्षुब्ध और महत्वाकांक्षी जीवन के लिये प्रसादजी का बिम्ब है।

'झंझा प्रवाह' सा वह निकला जीवन 'विक्षुब्ध महा समीर' 'ले साथ विकल परमाणु पुञ्ज' मनु का लक्ष्य है वह पवन सा गतिमय अस्तित्व "जो चूम चला जाता अग जग प्रतिपग वन कम्पन की तरंग।' किन्तु यह बाह्य विशेषता उतनी महत्वपूर्ण नहीं जितनी निर्देशन क्षमता[1] जिसका सूक्ष्म विश्लेषण यहाँ अभीष्ट है।

महाकाव्य होने के कारण कामायनी का बिम्ब-विधान उदात्तता से संवर्तित है। 'उदात्तता' एक जटिल मनोवैज्ञानिक प्रभाव है जो महत् विषय, भाषा शैली, और बिम्ब-विधान के सम्मिलित योग दान से उत्पन्न होता है। इस उदात्तता का कारण यों तो सम्पूर्ण 'कामायानी' में ही ऐसे बिम्बों का प्राचुर्य है जो (१) सामाजिक मस्तिष्क के अचेतन स्तरों तक धँसे हुए संस्कारों से सीधा सम्बन्ध बनाये हुए हैं, जैसे 'अन्धकार' 'नील तुहिन जलनिधि' 'धूमसा दुर्निबार' 'चेतनता की किरणें' 'जीवन निशीथ'। रेखाङ्कित शब्दों द्वारा सूचित 'वस्तुएँ' आदिमयुग से मानवीय अनुभव के निकट रहने से उनमें और जैसा कि प्रसिद्ध मनोविश्लेषक युंग (Jung) ने कहा है, 'सामाजिक अचेतन मन' में एक निकट साहचर्य उत्पन्न हो चुका है। इसलिये उनकी प्रभावोत्पादकता व्यक्ति विशेष तक सीमित नहीं। युंग के सिद्धान्तानुसार संस्कृत प्रतीक

---

[1] 'वस्तु' का द्रव्य बोध है सम्पूर्ण इन्द्रिय गम्य पदार्थ।

[2] 'वस्तु के विचार' का व्यापक मनोवैज्ञानिक अर्थ में प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाली मन की सम्पूर्ण प्रतिक्रिया।

[1] Suggestivity.

और स्वर्ग-नरक आदि की प्राचीन धारणाएँ चेतना के अचेतन स्तरों से सम्बन्धित हैं और आदिम युग से सामाजिक मन के अनुभवों के निकट रहने के कारण उनकी निर्देशन क्षमता का क्षेत्र विस्तृत है। (२) उदात्त प्रभाव का दूसरा स्रोत है बिम्ब, जिन वस्तुओं के सूचक हैं उनकी व्यापकता या सीमा-हीनता। जैसे—

"नभ नील लता की डालों में,
उलझा अपने सुख से हताश"

अथवा 'मङ्गल रहस्य सकुचे सभीत' (३) प्रसाद ने बारम्बार ऐसे बिम्बों का विधान किया है जिनके द्वारा सूचित वस्तु में असीम गहनता है। गहनता का यह प्रभाव बिम्ब द्वारा उत्पन्न होता है, किन्तु भाषा का योगदान भी कम महत्वपूर्ण नहीं। गहनता सूचक शब्दों के साथ दीर्घ वर्णों का प्रयोग कवि के भाषा शक्तियों से पर्याप्त परिचय का द्योतक है। गहनता और असीमता की व्यञ्जना दीर्घ वर्णों के प्रयोग से सफल रूप में होती है। उदाहरणार्थ "जीवन निशीथ के अन्धकार" अभिशाप प्रतिध्वनि का इस प्रकार लीन हो जाना "नभ सागर के अन्तस्तल में जैसे छिप जाता महामीन।"

'इड़ा' सर्ग में प्रसाद की स्थिति यह है कि एक ओर तो उन्हें चिन्तनशील जागृत अहं-मय व्यक्तित्व की गम्भीरता विषाद आदि को व्यक्त करना है और दूसरी ओर अस्थिर मन (मनु) की चञ्चलशीलता को। दूसरी समस्या है इड़ा के पात्र रूप एवं प्रतीकात्मक स्वरूप का एक साथ निर्वाह। प्रथम स्थिति के कारण प्रसाद के बिम्ब-विधान में ऐसे बिम्बों का जो स्थिर, गम्भीर विषाद की मनःस्थिति को व्यक्त करें तथा ऐसे बिम्बों का जो मन की आवेगमयी चञ्चलता को चित्रित करें, प्रचुर प्रयोग हुआ है। प्रथम प्रकार के बिम्बों का पर्याप्त विश्लेषण किया जा चुका है। मन की आवेगमयी चञ्चलता को चित्रित करने वाले बिम्बों में प्रसाद की अपनी विशेषता है। (१) प्रथम तो अस्थिरता, कर्तृत्व या गति को चित्रित करने वाले बिम्ब चिरन्तन वस्तुओं के प्रतीक हैं, जो मन के गहरे स्तरों तक धँसी हुई धारणाओं से सीधा सम्बन्ध रखते हैं। (२) द्वितीय बिम्बों के साथ प्रयुक्त विशेषण, प्रायः सदैव ही बिम्ब द्वारा निर्दिष्ट वस्तु का आवश्यक धर्म है। यह एक महत्वपूर्ण गुण है। (३) रगण और जगण की ऐसे स्थानों पर पुनरावृत्ति होने के कारण ह्रस्व के तुरन्त बाद दीर्घ और पुनः ह्रस्व वर्ण आते हैं। इस प्रकार की आवृत्ति के कारण, स्वर के बार-बार गिरने उठने का अस्थिर गतिशीलता से पूर्ण सामञ्जस्य है। शैली की दृष्टि से इस प्रकार के गुण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। ऐसे उदाहरणों का 'कामायनी' में प्राचुर्य्य है। उदाहरणार्थ 'रागमयी सी महाशक्ति' 'जीवन नद हाहाकार भरा हो उठती पीड़ा की तरङ्ग' 'असीम अमोघ शक्ति।' न केवल स्वर वरन् भावना भी बार-बार घनीभूत और प्रसरित होती है, जैसे—

'नित्यता विभाजित हो पल पल में,
काल निरन्तर चले ढला।"

निम्नलिखित रेखांकित शब्द विशेषणों के ऊपर उल्लिखित गुणों के उत्तम उदाहरण हैं—

'जीवन समाधि के खण्डहर पर जल उठते दीपक अशांत'

अथवा—

'आनन्द उच्छलित शक्तिस्रोत जीवन-विकास वैचित्र्य भरा'

अथवा—

'वसुधा के समतल पर उन्नत चलता फिरता हो दंभ स्तूप'

कला-पक्ष की दृष्टि से 'इड़ा' सर्ग प्रसादजी की सर्वोच्च मौलिक उपलब्धि है। कवि का मूल सम्बन्ध है इड़ा की पात्र रूप में स्थिति से, किन्तु उसके प्रतीकात्मक स्वरूप पर भी उसे कोई आपत्ति नहीं। अभिव्यक्ति की दृष्टि से इसका अपरिहार्य परिणाम यह है कि बिम्ब प्रतीकों का भी कार्य करने लगते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से बिम्ब और प्रतीक में अन्तर की स्पष्ट विभाजक रेखा है। बिम्ब चित्रात्मक अभिव्यक्ति के साधन हैं, जिसके द्वारा अमूर्त भावना तक को मूर्त बिम्ब के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। बिम्ब अपनी प्रकृति से प्रतीक नहीं, चित्रात्मक अभिव्यक्ति का साधन है। दूसरी ओर प्रतीक का बिम्बात्मक (मूर्त चित्रात्मक) होना आवश्यक नहीं। यों तो सम्पूर्ण 'कामायनी' में ही किन्तु स्पष्ट और प्रचुर रूप से 'आशा' और 'इड़ा'

सर्ग में काव्य की चित्रात्मकता में बिम्ब और प्रतीक का अद्भुत सामञ्जस्य है। विशेषतः इड़ा के रूप चित्रण में इसीलिये उपमा और रूपक का प्राचुर्य्य लक्षित होता है, जैसे—

'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल'
वह विश्व-मुकुट सा उज्ज्वल तम
शशिखण्ड सदृश था स्पष्ट भाल।"

उसके एक हाथ में था 'कर्म कलश वसुधा जीवन रस धार लिये' और दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये'। न केवल यह वरन् 'त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी आलोक वसन लिपटा अराल'। इड़ा जो बुद्धि की प्रतीक है, स्वभावतः अस्थिर, चञ्चल और गतिमयी है, इसीलिये 'चरणों में थी गति भरी ताल।

प्रसाद का बिम्ब-विधान वाह्य मूर्त वस्तुओं तक सीमित नहीं, वे रूप के द्वारा काल्पनिक बिम्बों की विराट सृष्टि करते हैं जैसे 'आलोक-वसन', 'सुखनीड़', 'विवाद का चक्रवाल'। वातावरण के चित्रण के लिये बिम्बों का प्रयोग एक ओर तो कलापक्ष को चित्रात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है और दूसरी ओर प्रतीकात्मक स्थिति को स्पष्ट करता है—

"नीरव थी प्राणों की पुकार।
मूर्च्छित जीवन-सर निस्तरंग नीहार घिर रहा था अपार।।

सूर्य के लिये प्राची में 'एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग' एक उपयुक्त बिम्ब है।

प्रसाद के बिम्ब-विधान की शक्ति जिसका उद्देश्य चित्रात्मक अभिव्यक्ति (निर्दिष्ट बिम्ब)[1] से कहीं अधिक मुक्त बिम्बों[2] की उत्पत्ति है, की सर्वोच्च अभिव्यक्ति 'इड़ा' सर्ग में है। निर्दिष्ट बिम्ब वे हैं जो प्रयुक्त शब्द-विशेष से मस्तिष्क में उत्पन्न होते हैं। कवि द्वारा निर्दिष्ट होने से सभी पाठकों के मन में वे ही बिम्ब उत्पन्न होंगे किन्तु साहचर्य के नियमानुसार प्रत्येक गहन बिम्ब के साथ अनेक सहवर्ती भावना एवं बिम्बों का साहचर्य होता है तथा एक निर्दिष्ट बिम्ब अनेक अनिर्दिष्ट या मुक्त बिम्बों के समूह को जन्म देता है। मुक्त-बिम्ब व्यक्ति-भेद से बदलते रहते हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध मन के उस अचेतन भाग से है, जहाँ अगणित दमित इच्छाएँ, आवेग और संस्कार सञ्चित हैं। प्रसाद के बिम्ब-विधान का आधार (निस्सन्देह अचेतन रूप में) निर्दिष्ट बिम्ब से अधिक अनिर्दिष्ट या मुक्त बिम्ब की शक्ति में आस्था है। इसीलिये उनके बिम्बों में चित्रात्मकता से कहीं अधिक अचेतन-निर्देशन है। उदाहरणार्थ 'नीरव थी प्राणों की पुकार' में ध्वनि-बिम्ब से अधिक महत्व जटिल मानसिक स्थिति का है जिसमें प्रेम, आकुलता आदि का एक विशिष्ट स्थान है, जिनका इससे साहचर्य है। प्राणों की नीरव पुकार एक ध्वनि-बिम्ब है, जो निर्दिष्ट है। किन्तु इससे किसी के मन में अनन्त शून्य में बहती हुई मंदिम ध्वनि, किसी के मन में निशीथ की निस्तब्धता में उठने वाली क्षीण स्वर लहरी, और किसी के मन में अकूल शान्त सागर में बहती हुई छोटी नौका का बिम्ब जागृत हो सकता है। ये अनिर्दिष्ट या मुक्त बिम्ब हैं, किन्तु निर्दिष्ट बिम्बों से इनका साहचर्य होने के कारण ये निर्दिष्ट बिम्बों से लिपटे रहते हैं। अनिर्दिष्ट बिम्ब व्यक्ति के विशिष्ट अचेतन मन से सम्बन्धित होने के कारण व्यक्ति-भेद से परिवर्तनशील है। प्रसाद के बिम्बों का अनेक मुक्त बिम्बों से संश्लेषण होने के कारण उनकी अचेतन-निर्देशन की क्षमता उल्लेखनीय है।

कला पक्ष की दृष्टि से बिम्ब-प्रयोग एक कलात्मक संक्षिप्तीकरण है; जिसमें एक शब्द में अनेक भावनाएं संवेग एवं सहवर्ती बिम्ब भरे हुए होते हैं। इनका उपयुक्त उपयोग शब्द शक्तियों के विकास में सहायक है। कई बार जटिल भावों की गहनता केवल बिम्ब-प्रयोग से ही व्यक्त की जा सकती है, तथा कई बार कथोपकथन में शिथिलता दोष से केवल बिम्ब-विधान ही सुरक्षित निकाल सकता है। प्रसाद के बिम्ब प्रमुख भाव, छन्द योजना एवं प्रतीक विन्यास से पूर्ण सामञ्जस्य रखते हैं।

—४, नागेश्वर मार्ग फनसापुरा, महेश्वर (म० प्र०)

[1] Tied imagery.
[2] Free imagery.

नाटक और उपन्यास का अन्तर

प्रो० विजय वापट

संस्कृत के आचार्यों ने काव्य के दो भेद किये हैं— श्रव्य-काव्य और दृश्य-काव्य। आचार्यों की यह कल्पना इन्द्रीय सन्निकर्ष के आधार पर आधारित थी। जिस काव्य का रसास्वादन हम नेत्रों द्वारा देखकर एवं कर्णों द्वारा सुनकर एक साथ कर सकते हैं वह दृश्य-काव्य है। जिस काव्य का रसास्वादन हम सुनने मात्र से कर सकते हैं वह श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत आ जाता है। संस्कृत के रूपक और उपरूपक दृश्य-काव्य के अन्तर्गत आते हैं और पद्य, गद्य एवं चम्पूः श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत।
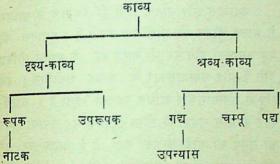
काव्य के इन दो भेदों में ही नाटक और उपन्यास अलग हो जाते हैं। पाश्चात्य धारणाओं के अनुसार साहित्य जीवन की आलोचना है। नाटक और उपन्यास दोनों ही जीवन की आलोचना करते हैं। नाटक और उपन्यास के तत्व समान हैं, पर दोनों की टेकनीक में अन्तर है। 'अवस्थानुकृति नाट्यम्'[1] के अनुसार नाटक में जीवन का अनुकरण ही होता है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि नाटक में मानव जीवन का अभिनय होता है। उपन्यास जीवन की आलोचना करता है और प्रेमचन्दजी के अनुसार उपन्यास मानव-जीवन का चित्र है।[2] यहाँ प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि फिर उपन्यास और नाटक में अन्तर क्या रहा। वस्तुतः नाटक को अभिनेय होना चाहिए और उसमें अभिनय न हो तो वह पाठ्य नाटक रह जावेगा और उदयशङ्कर भट्टजी के अनुसार ऐसा पाठ्य नाटक 'नाटकोपन्यास' रह जावेगा। नाटक और उपन्यास की शैली का बहुत बड़ा अन्तर है। इसी शैली की विभिन्नता के माध्यम से हम इस अन्तर को स्पष्ट कर सकते हैं। एक बात निश्चित है कि यह अन्तर अभिनेय नाटक और उपन्यास का है न कि पाठ्यनाटक और उपन्यास का कारण पाठ्य-नाटक और उपन्यास एक दूसरे के अधिक समीप है।

नाटक में अभिनय शिल्प की प्रधानता है। अभिनय की प्रधानता के कारण ही वह मेरे विचार से नाटक कहलाने का अधिकारी है। यहाँ बरबस मुझे पाश्चात्य विद्वान डाइडेडोर्ट का कथन याद हो आता है— "नाटक का मूल अंश नाट्यकार की रचना नहीं, वह तो अभिनेता की कला है।" तात्पर्य यह कि नाटक के लिए मंच आवश्यक है उपन्यास के लिए नहीं। नाटककार के लिये मंच का ज्ञान आवश्यक है उपन्यासकार के लिए इसकी आवश्यकता नहीं। इस रूप में नाटक को हम अनेक कलाओं का मिश्रण मान सकते हैं। जिसमें मंचीय कला, अभिनय कला प्रमुख हो उठती है। हडसन तो ड्रामा को लिटरेचर नहीं मानते वे उसे कम्पाउण्ड आर्ट मानते हैं :—

"The Drama is not pure literature. It is a compound art, in which the literary element is organically bound up with the elements of stage, setting and histrionic interpretation."[1]

उपन्यास तो अपने आप में पूर्ण होता है। नाटक की पूर्णता मञ्च में होती है। बिना मञ्च के उसका

[1] आचार्य धनञ्जय।
[2] 'कुछ विचार' प्रेमचन्द।

[1] The Study of prose Fiction—Hudson.

उद्देश्य ही पूर्ण नहीं हो सकता। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार "बिना रङ्गमञ्च के नाटकों में प्राणों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।" उपन्यास के प्राण उपन्यास में ही हैं। नाटक की अन्य कलाओं से उपन्यास मुक्त है। नाटक के प्रस्तुतिकरण के लिए जिन तत्वों की आवश्यकता है वह उपन्यास के लिए आवश्यक नहीं। पाश्चात्य विद्वान हडसन ने अपनी पुस्तक में इस विषय पर कहा है जो अत्यन्त उपयुक्त है—

"The novel is independent of these secondary arts; it is, as Marion crawford once happily phrased it, a "Pocket Theatre," containing within itself not only plot and actors but also costume; scenery, and all the other accessories of a dramatic representation."[1]

वस्तुतः उपन्यास एक जेबी रङ्गमञ्च है। उसे हम कभी भी पढ़ सकते हैं। एक ही बैठक में उसे पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती और न ही वह एक बैठने के योग्य होगा। कुछ छोटे उपन्यासों को छोड़कर उपन्यास का अध्ययन हम कई सप्ताह तक कर सकते हैं पर नाटक का प्रस्तुतीकरण कम ही समय का होगा और उतने समय तक रङ्ग भवन में हमें बैठना पड़ेगा। बिना विश्राम के अन्यत्र जाये हुये, पर उपन्यास की ऐसी बात नहीं है। उपन्यास का लाभ एक समय में एक ही उठा सकता है पर नाटक का लाभ एक साथ अनेक प्रेक्षक उठा सकते हैं। उपन्यास इस दृष्टि से स्वतः पूर्ण है। उपन्यास का पाठक उपन्यास में सब कुछ पा लेता है। नाटक तो अपना पूर्ण रूप मञ्चन में प्राप्त करता है स्वतः में नहीं। लेखक की सम्पूर्ण कल्पना एवं उद्देश्य उपन्यास में निहित रहता है, नाटक उपन्यास के समान स्वतः पूर्ण नहीं होता। नाटक की पूर्णता मञ्च में होती है। हडसन ने इस विषय को भी स्पष्ट किया है और इस आधार पर वे नाटक और उपन्यास का अन्तर इस रूप में भी करते हैं—

"The novel is self contained, that is, it provides within its own compare everything that the writer deemed necessary for the comprehension and enjoyment of his work. The drama, on the other hand; when it reaches us in the form of print and when we read it as literature in the same way as we read a novel is not in this sense self contained."[1]

यहाँ तक उपन्यास और नाटक के अन्तर की सामान्य चर्चा थी। अब उपन्यास और नाटक के शैलीगत अन्तर को भी देखना चाहिये जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

उपन्यास और नाटक दोनों ही कथानक के माध्यम से मानव जीवन की आलोचना करते हैं। कथानक की यह समानता होने पर भी नाटककार के साधन सीमित होते हैं और उपन्यासकार के साधन असीमित। इस दृष्टि से उपन्यासकार अधिक स्वतन्त्र रहता है। नाटककार के पास समय की सीमा रहती है पर उपन्यासकार को समय का कोई बन्धन नहीं है। नाटककार को अपनी भावनाओं का स्पष्टीकरण बड़ी कठिनाई से करना पड़ता है। उपन्यासकार के पास यह कठिनाई नहीं रहती, वह तो स्वतन्त्र रूप से अपनी विचार स्थिति प्रकट करता चलता है। नाटककार तो समय और परिस्थिति के हाथ की कठपुतली होता है। भावनाओं का द्वन्द्व, प्रकृति दृष्य आदि कोष्ठक में ही वह दे पाता है। उपन्यासकार जैसा खुल्लमखुल्ला वह कुछ भी नहीं कह सकता।

नाटककार की अपेक्षा उपन्यासकार वर्णन अधिक कर सकता है। सभी घटनाओं का वह विस्तृत वर्णन करता है, ब्यौरा देता है पर नाटककार यह नहीं कर सकता। वह तो पात्रों के माध्यम से ही घटनाओं की ओर संकेत करता है। स्पष्टीकरण के लिये उपन्यासकार स्वयं आता है पर नाटककार नहीं आ सकता वह तो नाटक में प्रत्यक्ष नहीं आ सकता। उसे जो कुछ

[1] The Study of prose Fiction—Hudson Page 129.

[1] The study of the Drama—Hudson

कहना होता है वह पात्रों के माध्यम से कहला देता है। इस दृष्टि से उसकी सीमा है। जीवन के मार्मिक प्रसङ्ग को उपन्यासकार पाठकों के समक्ष प्रत्यक्ष रूप से रख देता है। नाटककार ऐसा नहीं कर सकता उसके लिये बन्धन अधिक हैं।

उपन्यासकार प्रत्येक बात का विश्लेषण स्वतन्त्र रूप से एवं वर्णनात्मक रूप से करता है। वह सारी कथा को भी वर्णनात्मक रूप में प्रस्तुत करता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को भी और स्थूल से स्थूल बातों को भी। कारण वर्णन करने में वह स्वतन्त्र है।

उपन्यास में लेखक अत्यन्त स्वच्छन्द होकर अपने हृदय पटल पर पड़े हुये जीवन के जीते जागते चित्रों को प्रस्तुत करता है। यह बात पूर्णतः सत्य है कि नाटक और उपन्यास दोनों ही व्यक्तियों के चरित्रों का उद्घाटन करते हैं। उपन्यासकार नाटकीय एवं विश्लेषणात्मक दोनों ही पद्धतियों को अपने उपन्यास में अपना सकता है परन्तु नाटककार के पास केवल नाटकीय पद्धति है। केवल कथोपकथन है जिसके सहारे वह सब कुछ कहता है। वह पात्रों के साथ स्वयं नहीं आ सकता पर उपन्यास में उपन्यास के पात्रों के साथ स्वयं भी आता है और उनका विश्लेषण भी करता है। नाटक में पात्रों के चरित्र का विश्लेषण पात्र या तो स्वगत कथन के माध्यम से या अन्य पात्रों के कथनों से हो सकता है। नाटककार स्वयं उनके विषय में मौन ही रहता है। गोदान उपन्यास में प्रेमचन्दजी होरी के स्वयं के कथनों से चरित्र स्पष्ट करते ही हैं पर वे स्वयं भी उसके चरित्र के सम्बन्ध में विश्लेषण करते हैं, स्वयं सामने आ जाते हैं। नाटककार को नाटक में यह सुविधा नहीं है। पात्रों के कथोपकथन एवं क्रियाकलाप ही उसके साधन हैं। उपन्यासकार इस दृष्टि से अधिक-स्वतन्त्र हो जाता है। घटनाओं का विकास वह स्वयं दिखाती है। देशकाल व वातावरण का वर्णन भी वह वर्णन के माध्यम से कर जाती है। नाटककार यह संकेत रङ्ग-संकेत में ही दे पाता है। तात्पर्य यह कि उपन्यासकार पात्रों के साथ-साथ चलता है और नाटककार प्रेक्षकों के समक्ष पात्रों को छोड़ देता है स्वयं अलग होजाता है।[1]

उपन्यास में अतीत की घटनाओं का अतीत में घटित रूप में ही वर्णन होता है। अर्थात् उपन्यास भूतकाल की कहानी कहता है। नाटक यद्यपि भूतकाल के कथावस्तु को लेकर चले फिर भी मंच पर वे प्रत्यक्ष घटित होती हुई घटनाओं को दिखाता है। ऐसा लगता है कि मञ्च पर वर्तमान में प्रत्यक्ष घटनाएं हमारे सामने घटित हो रही हैं। उपन्यास में वातावरण का चित्रण शब्दों के माध्यम से ही होता है। जिसे समझने के लिये पाठकों की कल्पना शक्ति एवं मस्तिष्क पर अधिक बल पड़ता है। नाटक में, मंच पर प्रत्यक्ष दृश्य रूप में वातावरण प्रस्तुत किया जाता है, इसलिये वह पाठकों पर निश्चितः ठोस प्रभाव डालता है। कल्पना और मस्तिष्क पर अधिक बल नहीं पड़ता। प्रत्यक्ष होने के कारण इसीलिये नाटकों का प्रभाव अधिक प्रेक्षकों पर पड़ता है। नाटककार सीनसीनरी के माध्यम से प्रभाव अधिक स्थायी रूप से उत्पन्न कर सकता है। उपन्यास के पास यह सुविधा नहीं है। उसके पास केवल शब्द हैं। उपन्यासकार को अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। पात्रों की वेश-भूषा दृश्य आदि का वर्णन नाटककार रंग संकेत में करता है और मञ्च पर यह प्रत्यक्ष हो उठता है। चरित्रों की स्पष्टता के लिए नाटक अधिक सरल इस दृष्टि से हो जाते हैं। इस दृष्टि से नाटककार के अर्थ और भाव प्रत्यक्ष हो उठते हैं और वे प्रभावशील भी होते हैं।

नाटक में पात्र अपने भावों की अभिव्यक्ति कथोपकथन एवं अभिनय द्वारा पूर्णतः प्रकट करते हैं दर्शक की कल्पना पर अधिक जोर नहीं पड़ता। उपन्यासकार का माध्यम तो शब्द है। उसे कथा सूत्र को इस तरह वर्णन द्वारा स्पष्ट करना होता है जिससे पाठक कथा सूत्र को स्मृति और बुद्धि द्वारा जोड़दे।

नाटक में प्रभाव का ध्यान अधिक रखा जाता है। कम पात्रों में उसे नाटक को प्रभावशील बनाना पड़ता है, पर उपन्यासकार वास्तविकता को लेकर चलता है।

[1] The study of the Drama.
—Hudson Page 189.

पात्र वह अधिक रख सकता है। कथोपकथन से उपदेश भी दे सकता है। नाटककार लम्बे-लम्बे कथोपकथन के माध्यम से उपदेश नहीं दे सकता। यदि ऐसा हुआ तो उसके नाटक में कार्य (एक्शन) की कमी हो जायगी। उसका नाटक केवल 'टाकिंग शाप' मात्र रह जावेगा। नाटककार इसीलिये संक्षिप्त कथोपकथन को अपनाता है तथा सदैव एक्सन की प्रधानता रखता है। यदि इस कारण उसके भाषण कुछ अपूर्ण या संक्षिप्त हो तो भी अन्तर नहीं पड़ता।

नाटक के माध्यम से मानव की रुचि का परिष्कार अधिकाधिक रूप में होता है। किसी तथ्य को पढ़ लेने की अपेक्षा, दृश्य रूप देखने पर उसका प्रभाव अधिक स्थायी होता है। उपन्यासकार का लक्ष्य सदैव कथा जिज्ञासा की ओर रहता है पर नाटककार का लक्ष्य सदैव प्रभाव व चरित्र की ओर अधिक रहता है।

नाटक में नाट्य संधियाँ, अर्थ प्रकृतियाँ व कार्य की अवस्थाएँ शीघ्र दृष्टिगोचर होती हैं पर उपन्यास में इतनी शीघ्र नहीं। नाटक में रस की महत्ता होती है उपन्यास में रस की उतनी महत्ता नहीं है।

भाषा की दृष्टि से नाटककार को अधिक सजग रहना पड़ता है। नाटककार मनोभावों को कथोपकथन द्वारा व्यक्त करता है। उपन्यास में कथोपकथन की मात्रा नाटक की अपेक्षा कम ही होती है।

नाटक और उपन्यास दोनों का लक्ष्य एक ही है जीवन की आलोचना। अपने लक्ष्य की प्राप्ति में नाटक जितना अधिक वैधानिक नियन्त्रण में रहता है, उपन्यास को उतनी ही अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। नाटक और उपन्यास की सामग्री एक होने पर भी दोनों में अन्तर है। नाटक में समय, स्थान और कार्य का बन्धन हो सकता है पर उपन्यास में इनका कोई बन्धन नहीं कार्य सङ्कलन इसका अपवाद अवश्य है।[1]

प्रेक्षक सदैव यह अपेक्षा करते हैं कि नाटक दो और तीन घन्टों से अधिक देर नहीं चलना चाहिये। आज यदि यह बात सत्य न होती तो एकाङ्की इतने लोकप्रिय न हो सकते थे। एकाङ्की कम समय में अधिक से अधिक काम कर जाते हैं। उपन्यास में इस प्रकार की समय की सीमा नहीं होती। वह एक पृष्ठ से लेकर हजारों पृष्ठों तक लिखा जा सकता है। समय का बन्धन न होने से उपन्यासकार नाटककार की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र हो जाता है।

उपन्यासकार चरित्रों के सम्बन्ध में भी स्वतन्त्र रहता है अधिक से अधिक वह पात्रों को स्थान दे सकता है पर नाटककार को यह सुविधा नहीं है। उसे कम पात्रों से ही काम चलाना पड़ता है और उसी में उसे विविधता भी दिखानी होती है।

यही कारण है कि उपन्यासों में हम पात्रों की संख्या अधिक पाते हैं और नाटकों में कम। कभी-कभी उपन्यास में अनावश्यक पात्र भी आ जाते हैं जो न तो अपना कोई विशेष चरित्र ही रखते हैं और न ही कथा-वस्तु के विकास में सहायता ही देते हैं। नाटक में पात्रों के सम्बन्ध में बिना आज्ञा प्रवेश नहीं वाली बात याद रखनी चाहिये।

उपन्यास में भावना एवं घटना का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। नाटक में पात्र व उसके कार्यों का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। प्रत्येक घटना को उपन्यास में स्थान मिल जाता है, भावनाओं का स्पष्टीकरण किया जाता है पर नाटक में घटनाएँ पात्रों के कार्य व्यापार से दिखाई जाती हैं।

कार्य की प्रधानता नाटक में होने से नाटक का नायक अधिक सजग होता है। उपन्यास में नायक की यह सजगता धीरे-धीरे प्रकट होती है। नाटक में नायक की शिथिलता स्वीकार नहीं की जा सकती उसे तो सदैव कार्यरत रहना चाहिये।

नाटक और उपन्यास के तत्वों में भले ही समानता हो पर दोनों के प्रस्तुतीकरण में अन्तर है दोनों की टेकनीक सर्वथा भिन्न है। दोनों मानव-जीवन की आलोचना करते अवश्य हैं पर दोनों अलग-अलग रास्तों को अपनाते हैं। —माधव महाविद्यालय, लश्कर।

———

[1] The study of the prose Fiction. Hudson—Page 130.

भूले-बिसरे चित्र

डॉ० एस० एन० गरोशन

हिन्दी उपन्यास की सामाजिक यथार्थवादी परम्परा प्रेमचन्द के बाद क्षीण एवं शिथिल होती ग्रायी है। यद्यपि हमारे नवीनतम उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं का अधिक गहरा अध्ययन और वैयक्तिक मनोभावों का अधिक वैज्ञानिक विश्लेषण होने का दावा किया जाता है, और एक सीमा तक यह सही भी है—तो भी यह मानने में हमें आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि प्रेमचन्द ने जितने विशाल सामाजिक जीवन की पृष्ठभूमि को अपनाया था, उतने विशाल जीवन के क्षेत्र में पदार्पण करने का धैर्य किसी परवर्ती लेखक को नहीं हुआ है। हमें यह भी मानना पड़ेगा कि प्रेमचन्द के उपन्यासों को पढ़ते समय हमें जन-जीवन से लेखक की मानसिक निकटता का, तथा विषय के प्रति उसकी ईमानदारी का जो अनुभव होता है, वह शायद ही और किसी उपन्यासकार की रचनाएँ पढ़ने पर होता है।

१९४० ई० के पश्चात् हिन्दी उपन्यास दो विभिन्न दिशाओं की ओर उन्मुख हुआ। जैनेन्द्रकुमार ने 'सुनीता' में जिस व्यक्ति-विश्लेषण की नींव डाली, और जिसे अज्ञेय ने 'शेखर' द्वारा सुदृढ़ बना दिया वह अधिकाधिक सशक्त होता आया है। सीमित सामाजिक परिवेश में व्यक्ति के वैकारिक जगत् की विषमताओं का उद्घाटन करने वाली इस औपन्यासिक धारा को इलाचन्द्र जोशी, धर्मवीर भारती, डॉ० देवराज आदि लेखकों ने पुष्ट किया है।

दूसरी ओर व्यक्ति एवं समाज को तुल्य स्थान देने वाली प्रेमचन्द की परम्परा का अनुसरण करते हुए नागार्जुन, यज्ञदत्त आदि ने जो उपन्यास प्रस्तुत किये हैं वे सामाजिक चेतना को जागृत रखने में सफल हुए हैं। इस सामाजिक चेतना का चरम रूप आञ्चलिक उपन्यासों में प्रकट हुआ है।

इन दोनों धाराओं की अपनी विशेषतायें हैं, अपनी परिमितियाँ भी हैं। परन्तु यह कहना सम्भव नहीं है कि उनका विकास कहाँ तक हो सकता है, और उनकी उपलब्धियाँ क्या-क्या हो सकती हैं दोनों की सम्भावनाओं का परीक्षण अभी होना ही है। वस्तु-विन्यास चरित्र-चित्रण, सामाजिक चित्रण आदि के लिए प्रेमचन्द ने जो पद्धति अपनायी थी, उसकी उपयोगिता अपार थी। लेकिन किसी परवर्ती लेखक ने इस पद्धति की चरम शक्तियों के परीक्षण का प्रयास नहीं किया है। पाश्चात्य भाषाओं में परिवारिक वृत्तान्त अथवा सामाजिक इतिहास प्रस्तुत करने वाले जो वृहत् उपन्यास लिखे गये हैं, उनके समान कोई रचना हिन्दी में नहीं मिलती। प्रूस्त का 'अतीत का पर्यवेक्षण', गाल्सवर्दी का 'फ़ॉर्साइट सागा', शोलोखोव के दोन उपन्यास (दोन नदी धीरे बहती है,' 'दोन समुद्र को बह जाती है' ।) जैसे विख्यात उपन्यास, जो किसी श्रेष्ठ महाकाव्य से कम उदात्त नहीं हैं, जीवन की विराटता एवं समग्रता को आकर्षक रङ्गों में चित्रित करते हैं। इनके समान विकासोन्मुख जीवन को उसकी विस्मृति और संकुलता के साथ प्रस्तुत करने वाला कोई उपन्यास हिन्दी में नहीं लिखा गया है। अब भगवतीचरण वर्मा का 'भूले-बिसरे चित्र' इस दिशा में एक महान् कृति के रूप में सामने आता है।

मुन्शी शिवलाल से नवलकिशोर तक की चार पीढ़ियों का यह पारिवारिक वृत्तान्त लगभग १८८५ ई० (कांग्रेस की स्थापना का वर्ष) से लेकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तक के हमारे सामाजिक जीवन का भी एक विशद चित्र उपस्थित करता है। भारत के इतिहास में यह साठ-सत्तर वर्ष का समय अपना विशेष महत्व रखता है। इस काल में भारत के रूढ़ि-प्रतिष्ठित आचार-विचारों के सामने एक गम्भीर प्रश्न चिह्न लगा। शतियों से रूढ़मूल हुई अनेक धार्मिक तथा सामाजिक

मान्यताओं पर सन्देह किया जाने लगा और कई मान्यताओं का ध्वंस हो गया। भारतीय समाज के बाह्य रूप में ही नहीं, चिन्तन की मौलिक धारा में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे। सामाजिक सङ्गठन, पारिवारिक सम्बन्ध, धार्मिक विश्वास, नैतिक मूल्य आदि को प्रभावित करने वाले सुधारवादी आन्दोलन इस युग में एक प्रमुख शक्ति के रूप में रहे। वस्तुतः इस युग का बौद्धिक कृतित्व तथा सांस्कृतिक उपलब्धियाँ इतनी विशद हैं कि उन पर एक ऐसे वृहत् उपन्यास की रचना हो सकती है जो टाल्स्टाय के 'युद्ध और शान्ति' जैसे मनोरमिक उपन्यास, अथवा प्रूस्त, दुहमेल आदि के सरितोपम उपन्यासों की विशालता एवं अगाधता से समन्वित हो। हाल में हमारे प्रतिष्ठित उपन्यासकारों का ध्यान इस ओर गया है और इस राजनैतिक, सामाजिक वातावरण के आधार पर कुछ उपन्यास लिखे गये हैं। उनमें एक गणनीय रचना है 'भूले-बिसरे चित्र'।

'भूले-बिसरे चित्र' के विषय को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक सामाजिक व राजनैतिक विकास-क्रम से सम्बन्धित है और विशेष भावात्मक न होने पर भी सामाजिक इतिहास के रूप में महत्वपूर्ण है। दूसरा पीढ़ियों से होकर विकसित होते हुए पारिवारिक जीवन का चित्र है जो उपन्यास के वैकारिक अंश के सुरक्षितत्व का आधार है। सम्भवतः दोनों का एक साथ सम्यक् रूप में निर्वाह करना अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य है। टाल्स्टाय जैसे महान् कलाकार को भी 'युद्ध और शान्ति' में ऐसी ही समस्या से उलझना पड़ा था। पात्रों के वैयक्तिक तथा पारिवारिक जीवन में टाल्स्टाय वैकारिकता और रसात्मकता को सुरक्षित रख सके और अनेक स्थानों में हृदय के कोमल से कोमल भागों के अभिरम्य चित्र रच सके। पर युद्ध-सम्बन्धी विषय ने जो उपन्यास का एक अविच्छिन्न अङ्ग है, इस वैकारिक कथा के क्रमिक विकास में बाधा डालकर उसे कुछ शिथिल बना दिया है। वर्माजी भी इसी तरह दोनों प्रकार के विषयों को सम्बद्ध कर वैकारिक अंश को सुरक्षित रखने में एक कठिन परीक्षा का सामना करते दीखते हैं। वैसे 'युद्ध और शान्ति' की अपेक्षा 'भूले-बिसरे चित्र' की शिथिलता कम है; पर वर्माजी का वातावरण भी अधिक सीमित है और उनकी वैकारिक कथा की तीव्रता भी कम है।

चार पीढ़ियों की यह पारिवारिक कथा एक ऐसे वर्ग का चित्र उपस्थित करती है, जो ब्रिटिश शासन के काल में विशेष प्रभाव का पात्र हुआ। इस काल में भारत के उच्च-मध्यम तथा निम्न-मध्यम वर्गों की जनता के एक बृहत्-अंश ने अपने ग्रामीण-विभागों तथा परम्परागत उद्योगों में विस्थापित होकर एक नये प्रकार के जीवन को अपनाया। ज्वालाप्रसाद का परिवार इसका उदाहरण है।

इस कौटुम्बिक जीवन के परिवेश के रूप में जो सामाजिक जीवन चित्रित किया गया है, वह हमारे सामाजिक इतिहास के अनेक अङ्गों पर प्रकाश डालता है। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं शती के प्रारम्भिक दशकों में हमारे पारिवारिक संगठन, आर्थिक व्यवस्थिति, जीवन-रीति, चिन्तन-पद्धति आदि में समूल परिवर्तन की प्रेरणा देने वाले जो सम्भव विकास हुए उनका एक विहग-वीक्षण 'भूले-बिसरे चित्र' में उपलब्ध है।

सामाजिक जीवन की मूल इकाई के रूप में प्रतिष्ठित, पर काल-क्रम से दुर्बल सम्मिलित परिवार विदेशी शासन के सुदृढ़ और व्याप्त होने पर शिथिल होने लगा। जो संयुक्त परिवार पारस्परिक प्रेम और सहयोग का उदात्त उदाहरण था जो व्यक्तियों की पलहीनताओं तथा विवशताओं के बावजूद उनके संरक्षण को अपना दायित्व मानता था और एक दूसरे के लिये त्याग करने में ही जीवन की सार्थकता समझता था, वही धीरे-धीरे जीर्ण होकर आलस्य और पारस्परिक पोषण करने लगा जब श्रम का फल व्यक्ति स्वयं न भोग पावे, और निरुत्तरदायी होकर सम्मिलित सम्पत्ति का दुर्व्यय करने वाले आलसियों को भी परिवार की ओर से मिले, तब व्यक्तिगत कर्मण्यता का कुण्ठित हो जाना और पारस्परिक प्रेम एवं सहानुभूति का शिथिल हो जाना स्वाभाविक ही है। यही दशा ज्वालाप्रसाद और उसके चचेरे भाइयों के सम्बन्ध में होती है। जहाँ

ज्वाला अपने प्रयत्न एवं विश्वस्तता से स्थान और प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है, वहाँ राधेलाल और उसके पुत्र उसके पुत्र ज्वाला के अधिकार का दुर्विनियोग करके और अन्यों को धोखा देकर विशाल सम्पत्ति के उपार्जन का प्रयत्न करते हैं। इससे अतृप्त ज्वाला को अन्त में हृदय को कठोर बनाकर उस परिवार को ही घर से निकाल देना पड़ता है। सम्मिलित परिवार की यह आन्तरिक सड़न और बाहरी विशृङ्खलता हमारे सामाजिक इतिहास का एक करुणाजनक अध्याय है।

सामन्त वर्ग की अवनति इस युग की दूसरी मुख्य घटना थी। मुसलमानों के आक्रमण तथा शासन काल में राज्य तथा अधिकार से वञ्चित होने पर साहसिक सामन्त वर्ग ने जान पर खेलकर भी न झुकने की जो मनोवृत्ति अपनायी थी, वह उन्नीसवीं शती में भी पूर्णतया लुप्त नहीं हुई। इस पतनोन्मुख वर्ग के प्रतिनिधियों के रूप में वर्माजी ने घाटमपुर के जमींदार ठाकुर गजराजसिंह और उसके साले ठाकुर बरजोर सिंह का चित्रण किया है। गजराजसिंह अपनी लुप्त सम्पन्नता की दशा में भी काफ़ी उधार लेकर और अपने अनेक गाँवों को अन्याधीन करके बड़े आडम्बर से पुत्री का विवाह मनाता है। बरजोरसिंह निरन्तर अपनी ज़मीन प्रभूदयाल के पास रहन रखता जाता है, और कर्ज अदा करने में असमर्थ होकर सारी ज़मीन खो बैठता है। फिर भी उसका पीना और गौरव के नाम पर निरर्थक-व्यय करना बन्द नहीं होते। जब उसे अपनी अन्तिम ज़मीन को भी छोड़ने का अवसर आता है, तब वह आहत सिंह की भाँति क्रूर होकर खड़ा हो जाता है, और प्रभूदयाल की हत्या कर आत्म-हत्या भी कर लेता है। उसका परिवार अनाथ हो जाता है।

सामन्त वर्ग के पतन और नये पूंजीवादी वर्ग के उत्थान का आर्थिक परिणाम भी दूर-व्यापक है। शान, गौरव और आडम्बर के लिए सब कुछ व्यय करनेवाले तथा-कथित अभिजात वर्ग से धन-सञ्चय के पीछे समस्त सद्भावनाओं को तजने का सन्नद्ध पूंजीवादी वर्ग को धन का हस्तान्तरीकरण धन-विनियोग की दिशा को ही बदल देता है।

इस काल में और एक वर्ग जो उदित हुआ वह अफ़सरों का है। नौकरशाही का अनिवार्य परिणाम यही है, कि शासन-यन्त्र के सञ्चालन के लिए विभिन्न स्तरों के अनेक कर्मचारियों और सेवकों का निर्माण किया जाता है। इसके फल-स्वरूप अनेक व्यक्ति इस नये क्षेत्र में आ जाते हैं और उनके जीवन क्रम में भी व्यतियान आ जाता है। समाज के आर्थिक ढाँचे पर और पारिवारिक सम्बन्धों पर इसका प्रभाव पड़ता है। ज्वालाप्रसाद के परिवार की दशा यही है। यह परिवार ग्राम तज कर नगर में आ जाता है और पूर्व-संस्कारों से भिन्न संस्कारों को अपनाता है। यद्यपि ज्वालाप्रसाद गाँव और नगर के बीच की कड़ी के रूप में है, तो भी अनन्तर-पीढ़ियों को ग्रामीण जीवन से विशेष सम्बन्ध ही नहीं रहता। व्यापारिक और व्यावसायिक महत्वाकांक्षा भी गाँव से नगर की ओर जीवन के विस्थापन में प्रेरक रही है। प्रभूदयाल के पुत्र लक्ष्मीचन्द का जीवन इसका उदाहरण है।

प्रस्तुत कथानक के ही काल में भारतीय नारी-जीवन में जो विकास हुआ उसका भी अत्यन्त धूमिल चित्र मिलता है। हमारे राजनैतिक जीवन में इस स्वतन्त्रता आन्दोलन का जितना महत्व है, उतना ही सामाजिक जीवन में नारी-जागृति का भी है। तत्कालीन भारतीय समाज के चित्रण में इन दोनों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु 'भूले-बिसरे चित्र' का विषय अत्यन्त विस्तृत है और शायद ऐसे विस्तृत विषय को अधिक शिथिल होने से बचाने के लिए इन प्रवृत्तियों की उपेक्षा आवश्यक समझी गयी हो, यह निस्तर्क है कि इनके बिना भी 'भूले-बिसरे चित्र' भारतीय समाज और परिवार के विकास की विविध दशाओं और रूपों का एक विराट एवं प्रभावोत्पादक चित्र हमारे सामने रखता है और प्रेमचन्द की परम्परा में एक स्वर्णिम कड़ी जोड़ता है।

—हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय मद्रास–५

कृष्णायन का महत्व

प्रो० प्रकाशशरण अवस्थी

'कृष्णायन' के अध्ययन में कुछ बातें विशेष रूप से ध्यान देने की हैं। विज्ञान के क्षिप्र प्रसार ने आज हमारे रागतत्व में मन्थन पैदा कर दिया है; आज हमारी परम्परा-प्राप्त भावनाओं से विश्वास का संबल पृथक हो चला है। अतएव विश्वास की क्रोड़ में पनपी भावनाओं की चर्वणा में कुछ वैज्ञानिक आलोचक कठिनाइयों का अनुभव करते हैं। वे आलोचक कृष्णायन की असमीचीनता उसके साधारणीकरण काठिन्य एवं पिछड़ेपन की चर्चा कर सकते हैं। ऐसे भारतीय अथवा अभारतीय आलोचक Classics के रसानुभव में अक्षम होते हैं। उन्हें रिचर्ड्स के निम्नलिखित शब्दों को स्मरण रखना चाहिए।

"The absence of intellectual belief need not cripple emotional belief."

हमें काव्य के अन्तर्गत विश्वासों की रसात्मक अनुभूति के लिए "काव्यात्मक स्वीकृति" का अनुदान देना होगा। काव्यकार के विश्वास उसके पूर्वग्रहों तथा कृति की अभिव्यञ्जन शिराओं में आन्दोलित विश्वासों में अन्तर है। हम कृतिकार के विश्वासों (वैयक्तिक) को बुद्धिसम्मत और तर्कसम्मत न होने पर ठुकरा सकते हैं पर काव्य के वाङ्मय में आलोड़ित विश्वासों का भावात्मक स्वीकार सत्समालोचक और सहृदय पाठक के लिए आवश्यक है। बिना विश्वास किए भी कविता का रसास्वाद हो सकता है, पर वह प्रबन्ध-काव्य अथवा Classics का नहीं। दाँते, होमर, मिल्टन, तुलसीदास, जेम्सज्वायस और कृष्णायनकार हमसे किसी न किसी रूप में (जान बूझकर अविश्वास-निरोध की भावना) माँगते हैं। भावात्मक विश्वास के अभाव में उन पर दोष लगाना अनुचित है। हाँ कुछ कवि अपने विश्वासों को अपने प्राकृथनिक ढङ्ग से हमारी चेतना पर संक्रमित कर देते हैं। कृष्णायनकार की टोन में यह त्वरित-संवेदनशीलता नहीं है। आज खड़ीबोली की कविता के युग में उसने जान-बूझकर 'तुलसी शैली' अपनाई है।

इसी से सम्बन्धित प्रश्न प्रबन्ध काव्यकार की आन्तरिक सङ्गति का है। अभिव्यञ्जना और अभिव्यंग्य का अनमिलवर्तन तो काव्य-मात्र का दोष है ही पर प्रबन्ध काव्य के लिये विषय वस्तु की सुसम्बद्धता विशेष रूप से अनिवार्य है। प्रबन्ध काव्यकार की समन्वयात्मक जीवन दृष्टि का साकार बाह्य-सहसम्बन्धन काव्य की प्रभविष्णु अभिव्यञ्जना में व्याप्त होता है। प्रबन्धकार के व्यापक जीवन-दर्शन में उपाङ्गों और अन्तर्विरोधों का समन्वय आवश्यक है तभी वह ऐतिह्य और परम्परा को चिन्तना के पोषक परमाणु दे सकता है।

कृष्णायन के आन्तरिक मूल्यों का अन्वेषण उसके जीवन-दर्शन के सम्यक उद्घाटन के बिना सम्भव नहीं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने आरोहण-काण्ड में कृष्ण द्वारा मैत्रेय को दिये गए उपदेश में भारतीय-दर्शन-तत्वों के सार को समझाने का प्रयास किया है। किन्तु वे काव्य में अभिव्यक्त विश्वास परम्परा का अतिक्रमण कर संभवतः निज की प्रपत्तियों को ग्रन्थकार पर आरोपित कर उनके आधारों की शोध में संलग्न हो जाते हैं। कृष्णायनकार पर अवांछित संश्लेषण का आरोप कर वे कहते हैं।

"जैनों के निरूपण से मुक्त जीव ही ईश्वर संज्ञा धारण करता है, वही पृथ्वी पर अवतार लेकर प्रकट होता है। किन्तु हिन्दू-दर्शनों में जीव को ईश्वर की संज्ञा नहीं दी गई है। कृष्णायन के कवि ने मुक्त जीव की कल्पना जैन आधार पर ग्रहण की है क्योंकि वह उसे अधिक व्यावहारिक प्रतीत हुई है।[1] कृष्णायन पर

[1] आधुनिक साहित्य—नन्ददुलारे वाजपेयी।

जैन धर्म के मुक्त जीव की कल्पना के आधान का प्रयास पाण्डित्य प्रदर्शन अथवा मौलिक गवेषणा की झोंक में व्यर्थ में मानसिक ऊहापोह में पड़ना है। यदि वाजपेयी जी की थीसिस सही होती तो कृष्णायन काव्य की आन्तरिक सहेतुकता तथा दार्शनिक क्रम-बद्धता में अन्तर्विरोध आ जाता।

कृष्णायन काव्य में वेद-पुराण और गीता के भक्ति-मार्ग की चर्चा यत्र-तत्र मिलती है किन्तु उक्त जैन पद्धति का कहीं निर्देश नहीं है। जैन धर्म में ईश्वर को विश्व का रचयिता नहीं स्वीकार किया गया है। उसके यहाँ यदि ईश्वर है तो वह एक नहीं बल्कि असंख्य है। चार घाति कर्मों का नाश कर जीव सर्वज्ञ हो जाता है जिसका दूसरा नाम केवली भी है। कृष्णायन का ईश्वर चक्रधारी पूर्णावतार सगुणसमष्टि एवं माया का सूत्रधार है। वह पुरुष सूक्त की दुहाई देकर सृजन यज्ञ के कर्तृत्व की उद्घोषणा करता है। [८६३।५ से न० ६ तक] वह ईश्वर षाड्गुण्य विग्रह युक्त, जगत् की सृष्टि स्थिति एवं संहार का करने वाला, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को देने वाला, प्रकृति का निर्देशक एवं अनुशासक है। वह अन्तर्यामी, सगुणावतार, अपने भक्तों, जीवन्मुक्तों को भी "ईशहि सम सो भव अधिराजू" बना देता है और भक्ति से द्रवित होकर प्रकृति को 'तासु अनुचरी' घोषित कर देता है। नरों को "प्रकृति-अधीश्वर" तथा धरिणी को वैकुण्ठ बना सकता है। जैन धर्म के अर्हन्त या तीर्थङ्कर केवली कृष्णायन के ईश्वरावतार की लौकिक-पारलौकिक समग्रता तथा जीवन्युक्त की विशाल अनात्मगत सम्भावनाओं को स्पर्श नहीं कर पाते। सृष्टि के सञ्चालन में उनका कोई हाथ नहीं है। मुक्ति का उपदेश वे अवश्य करते हैं किन्तु उनके प्रति भक्ति मोक्ष नहीं दिला सकती। निम्न पंक्तियों में कृष्णायन का ईश्वर भक्त के मन के मल आवरण का एक-एक कर नाश कर अन्त में पूर्ण सायुज्य मुक्ति की घोषणा करता है "अन्तद्वै त भावहु अवसाना। होत अभिन्न भक्त भगवाना।" जो कि संभवतः "विदेह मुक्ति" की ही बात है।

कृष्णायन के मुक्त-जीव और ईश्वर की कल्पना सम्बन्धी भ्रम के निराकरण करने के पश्चात् उसके दार्शनिक स्वरूप का अवलोकन करना भी श्रेयस्कर होगा। कृष्णायन में कवि ने मधुप-वृत्ति से सञ्चार करते हुए गीता, भागवत तथा वेदान्त की अन्यान्य सूक्ष्मान्वेषणमयी व्याख्याओं से अपने विश्वासानुकूल तत्वों की क्रमिक निबन्धना की है। उसका समग्र झुकाव ईश्वराद्वयवाद के प्रतिष्ठापन तथा सगुण अवतारवाद के व्यापक प्रसार की ओर है। इस चिन्तना के स्वरूप-निर्माण में वेदान्त के अङ्गभूत अन्यान्य मत-मतान्तरों की सूक्ष्म प्रेरणाओं ने योग दिया है। इसलिए वह कुछ जटिल और व्यापक होगया है।

कृष्णायनकार ने जीव को ईश्वर की संज्ञा नहीं दी है मुक्त जीव को ईश्वर का समानधर्मा कहा है और जीव से ईश होने की परम्परा का उल्लेख किया है। सम्भवतः इसी अभिस्थापन ने वाजपेयीजी को जैन धर्म की मुक्त-जीवों वाली कल्पना का स्मरण करा दिया है। जीवन-मुक्त की कल्पना गीता तथा वेदान्त के अन्य भाष्यकारों मध्व, वल्लभ आदि के अनुसार निर्मित की गई। यह अवतारणा रामानुज की 'विदेह मुक्ति' के सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल है।

"भए बिना मनुजत्व विनासा।
मुक्त माहिं ईशत्व विकासा॥
अछनहु देह सो होत विदेहा।
भवलीला उद्देशहु एहा॥

रामानुज भाष्य की आलोचना सी करते हुए कृष्णायनकार आगे कहते हैं—

लहि ईशत्व जीव मुनिराजू।
सकहि न करि जो पुनि भव काजू॥
तो असमर्थ ब्रह्म अनुदारा।
सकत महूँ नहिं लै अवतारा॥

मुक्त जीव ईश्वर के कार्य-कलाप में निज कर्तृत्व से योगदान करते हैं—

सोई भवनाट्य रहस्य सब, सम्यक मुनिवर जान।
निज इच्छा सो ताहि महँ, करत योग निज दान॥

योगवासिष्ठ के जीवनमुक्त का आचरण तथा गीता के स्थित-प्रज्ञ के लोक-संग्रहार्थ कर्म कृष्णायन के जीवन-मुक्त की कल्पना के आदर्श हैं। ईश समान धर्मा जीवन-

मुक्त का आख्यान करते हुए कृतिकार ने प्रकारान्तर से मुक्ति की सायुज्य, सामीप्य, सारूप्यादि अवस्थाओं की भी चर्चा की है। भगवान अपने निष्काम भक्त को अपना दैवी स्वरूप स्वयं प्रदान करते हैं।

सबहि चतुर्भुज बपु अभिरामा।
सबहि पीत पट धर घनश्यामा।।

वस्तु सत्ता की यथार्थता एवं आध्यात्मिकता का समवेत निदर्शन करते हुए वे बल्लभ, जीव गोस्वामी तथा बलदेव विद्याभूषण के आधार पर मुक्ति में ईश्वर भिन्न अस्तित्व की ओर संकेत करते हैं।

निवसत लहि सब पूर्ण विकासा।
पै नहि तहहुँ बहुत्व दिनासा।।

एक स्थान पर राधा और माधव के प्रतीकों द्वारा जीवन्मुक्ति और ईश्वर के सम्बन्ध को विवक्षित किया गया है। जीव गोस्वामी के अनुसार मात्र इच्छा से ही जीवन्मुक्त अपने शरीर को धारण करता है। राधा-कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति हैं। वे कृष्ण रूप ही हैं और कृष्णलीला को अपनी स्वेच्छा-शक्ति एवं विधायक प्रतिभा से अभिव्यक्त करती हैं।

कृष्णायन में विवेकी भक्तों तथा भगवदनुग्रह प्राप्त मुक्त जीवों के विशेष ताच्छील्य का निश्चित निरूपण किया गया है। शांकर अद्वैत तथा रामानुज के विशिष्टाद्वैत का मध्यम मार्ग वेदान्त का भेदाभेद दर्शन है। वेदान्त सूत्र के बाद के भाष्यकार भेदा-भेद सिद्धान्त (भास्कर और यादव के मत) के आधार पर शङ्कर की अत्यन्त आभ्यन्तरिकता तथा रामानुज के अतिरिक्त सगुणात्मक मानववाद के सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं। कृष्णायन में भी यह समन्वय कई स्थलों पर स्पष्ट प्रतीत होता है। यदुवंशी कुल के नाश का कारण "विभक्तिहिं महँ ते लीना" बताया गया है। दूसरी ओर अहंकृति के दासों द्वारा "विविधत्व विनाश" की भी भर्त्सना की गई है। कृष्णायनकार सद्-भक्तों और मुक्तजीवों के चारित्र्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं:—

"मम मत समदर्शी मति जिनकी,
सकत जे बहु महँ एक विलोकी।।"

कृष्णायन की सर्ववादी प्रवृत्ति भी भेदाभेद के अधिक अनुकूल है, किन्तु कृष्णायन के व्यापक कलेवर में सर्ववाद आध्यात्मिक ईश्वराद्वैत की क्रोड़ में पनपा है।

कृष्णायन की जीवन्मुक्त तथा सर्वमुक्ति की कल्पना वेदान्त के बिलकुल अनुकूल है। उसमें अभिव्यक्त जीव ईश होने की परम्परा भारतीय अवतारवाद की नूतन मानवीय टीका है, जिसमें कई प्रेरणाएँ समवेत रूप से काम कर रही हैं। हो सकता है वह ईसाई अवतारवाद से भी प्रभावित हो किन्तु उसकी पृष्ठभूमि पूर्णरूप से वेदान्तिक है। प्रगतिशील अवतारवाद की कल्पना के साथ कृष्णायनकार ने निखिल जीव समुदाय के कल्याणार्थ "सर्व हित को निज हित समझने वाली" दिव्य दृष्टि का उल्लेख किया है। डा० राधाकृष्णन अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में सर्वमुक्ति की कल्पना को अद्वैत वेदान्त के अनुसार सिद्ध करते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा में पृथक्-पृथक् ब्रह्म ने वैयक्तिक आत्मा का स्वरूप बन्धन स्वीकार किया है। जैसे ही वह इस प्रपञ्च छलना से छूट जायेगी, वह मुक्त हो जाएगी पर अन्य जीवात्माओं का मायापाश द्वारा बन्धन-काल, सृष्टि-क्रम को निरन्तर बनाए रखेगा। यदि आत्मा अपने में सर्वदा सार्वकालिक स्वतन्त्र है और संसृति पूर्ण जगत् में अवस्थित है तो केवल कुछ आत्माओं को समय-समय पर अपना मोक्ष प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नहीं है।

सामूहिक-मुक्ति की यह प्रशस्त कल्पना भी वेदान्त पर आधृत है। कृतिकार ने इसे इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"हरिहि सदृश अस हरिकुलहु अविनाशी मुनिनाथ
युग-युग तासु विकास नव युग-युग मै तहि साथ।"

गोस्वामीजी ने भी "राम प्रेम पुर छाय में" में इसी ओर इङ्गित किया है। यहाँ अविनाशी विशेषण से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। यहाँ विश्वप्रपञ्च के भौतिक विकास की भूमिका में जीवन्मुक्त और अवतारी ईश्वर के सहसम्बन्धों का दिग्दर्शन कराया गया है। कृष्णायन का अवतारवाद ऐसे स्थलों पर संश्लिष्ट हो उठा है। भगवान स्वेच्छा के पाश से अधिक सर्वहितकामना के

पाश से बँधे दिखाई देते हैं, किन्तु वेदान्ददेशिक के भेदाभेद के ईश्वर के विरुद्ध लगाये गए आरोप यहाँ समीचीन नहीं प्रतीत होते। इसका श्रेय प्रमुखतः काव्य की अनेकार्थी अभिव्यञ्जना को देना चाहिए। गीता में भी "सम्भवामि युगे-युगे" के साथ अवतार के मात्र-देवत्व के स्वरूप का सामञ्जस्य करने का प्रयास किया गया है। भागवत में भी मात्र देवत्व की बहुदेववाद से मिलाकर श्रेणी विभाजन के पश्चात् एवं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति' का समन्वय दर्शित किया गया है। यह समन्वय गोचर जगत की भूमिका में भी करने का प्रयास रामानुजी वेदान्त का उपक्रम है। ब्रह्म को 'निरुपाधिक शरीरात्मा' का सम्बोधन देना तथा जीव आत्माओं और जगत की यथार्थता को स्वीकारना इस सामञ्जस्य के प्रतीयमान विरोध के दो छोर हैं।

कृष्णायन का ईश्वर Sartre का Ensoi भी है वह निरपेक्ष ब्रह्म, ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट स्वरूप सब कुछ है। किन्तु समग्र बाह्य विश्व के प्रतीयमान अस्तित्व के साथ सर्व मोक्ष के अभाव में निरपेक्ष निर्गुण ब्रह्म अथवा रामानुज-शब्दावली में सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम अपनी चरमाभिव्यक्ति (शाश्वत मुक्त पुरुषों द्वारा अनुभूत) के मात्र क्रियाशील रूप को ईश्वर में प्रत्यक्षीकरण कराता है। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से ज्ञान का प्रतिफलन परमेश्वर की सत्येच्छा निर्मित प्रकृति के स्वरूप की सम्प्राप्ति में होता है। 'हरिहि सदृश अस हरि हरिकुलहु' के विकास का उद्गार शांकर वेदान्त के कार्यब्रह्म या ईश्वर की विकासशील क्रियमाणता का मुखर उदाहरण प्रस्तुत करता है।

अब 'हरि' तथा 'हरिकुल' की सापेक्षिक अमरता को भी समझ लेना चाहिए। 'भामती' में अमरता की शास्त्रानुकूल वेदान्ती व्याख्या की ओर संकेत किया गया है। 'आभूत सम्प्लवं स्थानममृतत्वं हि भाषते' समस्त मुक्त जीव आभूत-सम्प्लव अपने शरीरी व्यक्तित्व को अक्षुण्ण रख सकते हैं (शरीर धारण का अर्थ पार्थिव एषणाओं से आत्मा का एकीकार नहीं है) ऐसी पञ्चभूतात्मक प्रलय पर्यन्त शरीर धारण को अमरता का अभिधान दिया गया है।

वेदान्त की इस व्यापक पृष्ठभूमि के आधार पर जीवनमुक्ति तथा विदेहमुक्ति के प्रतीयमान अन्तर्विरोध का शमन भी हो जाता है, जो कृष्णायनकार को भी अभीष्ट है। अस्तु कृष्णायन की समस्त दार्शनिक पृष्ठभूमि गीता और वेदान्त के आधार पर ही निर्मित है। उसकी ईश्वर कल्पना तथा उसका अवतारवाद अपेक्षाकृत अधिक संश्लिष्ट है। उनके निर्माण में रामानुज तथा यादव की युगदत्त प्रेरणाएँ काम कर रही हैं। अचेतन रूप से कवि इस पृष्ठभूमि में आत्माभिव्यक्ति के लिए सङ्घर्ष करता हुआ शाङ्कर अद्वैत की भामती तथा अन्य अर्वाचीन व्याख्याओं[1] के अधिक समीप आ जाता है। कहीं-कहीं दक्षिणपन्थी समाजवाद अथवा मानववाद या अन्त में उग्र राष्ट्रीयवाद की झलक मिलती है पर ये स्फुरणाएँ उसके समग्र दर्शन की अन्विति को निरूपित नहीं कर पातीं।

कृष्णायन के जीवन-दर्शन की दार्शनिक व्याख्या उसकी आन्तरिक-सहेतुकता के मूल्याङ्कन के लिए अपेक्षित है। कृष्णायन में छिन्न संवेद्यता के दर्शन नहीं होते। उसमें वेदान्ती-दर्शन की व्यापक परम्परा की पृष्ठभूमि में समस्त युगबोध को आकलन करने की अपूर्व क्षमता है। कृष्णायनकार ने सत्य, शील और सौन्दर्य के चरम समन्वय की विग्रहवान सञ्चारिणी अनुभूति का बहुमुखी नेत्रदशाओं की अनेकरूपता के व्यापक धरातल पर आज के क्षुब्ध संसार के बाह्य परिवेश से उदात्त निदर्शन कराया है। इसका प्रचार घर-घर नगर-नगर में अपेक्षित है।

— आगरा कालेज, आगरा।

---

[1] डा० राधाकृष्णन।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में आधुनिकता

श्री धनपत चौधरी

अतीत से मुख मोड़ना अपराध है पर वर्तमान से आँखें मूँदना आत्महत्या, अतीत के गौरवपूर्ण इतिहास को भूलना उस समय के राष्ट्रनायकों के प्रति अन्याय है परन्तु वर्तमान युग की समस्याओं पर विचार न करना केवल काल्पनिक नगरी में खोये रहना है। प्रसाद न तो अतीत से मुख मोड़कर अपराधी बनना चाहते थे और न ही वर्तमान से आँखें मूँद कर आत्मघाती। यही कारण है कि उनके नाटकों में अतीत एवं वर्तमान का समन्वय बड़े सुन्दर ढङ्ग से हुआ है। प्रसादजी जानते थे कि केवल इतिहास के स्वर्णिम अध्यायों को दोहरा कर कोई भी जाति जीवित नहीं रह सकती—कोई भी राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता जब तक कि उसमें वर्तमान की वास्तविकता का समावेश न हो—जब तक कि वर्तमान की समस्याओं से जूझा न जाए। परन्तु साथ ही प्रसादजी इस बात से भी अनभिज्ञ नहीं थे कि अपनी प्राचीन संस्कृति एवं आदर्शों को भुलाकर कोई भी राष्ट्र अधिक देर तक जीवित नहीं रह सकता; यही कारण है कि प्रसाद के नाटकों के ऐतिहासिक कथानक की धुँधली सी झिलमिलाती हुई यवनिका के पीछे आधुनिकता झाँकती हुई दृष्टिगोचर होती है।

'चन्द्रगुप्त' भी इसका अपवाद नहीं है। यद्यपि इसका कथानक चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की घटनाओं को लिए हुए है परन्तु फिर भी पग-पग पर हमें आधुनिकता की झलक दृष्टिगोचर होती है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में आए आधुनिक तत्त्वों को हम निम्नाङ्कित शीर्षकों में देख सकते हैं।

हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का चित्रणः—'चन्द्रगुप्त' में प्रसादजी ने चाणक्य और राक्षस के माध्यम से ब्राह्मण एवं बौद्ध धर्म के वैमनस्य का सुन्दर चित्रण किया है। चाणक्य एक स्थान पर कहता है—"यदि अमात्य ने ब्राह्मण का नाश करने का विचार किया हो! तो जन्मभूमि की भलाई के लिए उसका त्याग करदें क्योंकि राष्ट्र का शुभ चिन्तन केवल संयमी ब्राह्मण ही कर सकते हैं—एक जीव की हत्या से डरने वाले तपस्वी बौद्ध सिर पर मँडराने वाली विपत्तियों से, रक्त समुद्र की आँधियों में आर्यावर्त्त की रक्षा करने में असमर्थ प्रमाणित होंगे।" इन पंक्तियों में बौद्ध एवं ब्राह्मण धर्म के संघर्ष का आभास मिल जाता है। इस प्रकार प्रसाद ने जिस बौद्ध एवं ब्राह्मण संघर्ष का चित्रण किया है वह उनके समकालीन हिन्दू-मुस्लिमों के परस्पर विरोध की ओर ही संकेत है। प्रसाद के काल में ही मुस्लिम लीग का उदय हो चुका था। मुस्लिम लीग की स्थापना ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के परस्पर प्रेम को शत्रुता में परिवर्तित कर दिया और दोनों को एक दूसरे के जानी दुश्मन बना दिया था। इसका स्पष्ट परिणाम १९४७ में हमारी आँखों के सम्मुख आया जबकि हिन्दू और मुस्लिम दोनों ने एक दूसरे के खून से होली खेली और भारत—भारत और पाकिस्तान दो खण्डों में विभाजित हो गया।

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की विजय की झलक—प्रसाद का युग स्वतन्त्रता संग्राम का युग था। २६ जनवरी सन् १९३० की कांग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने की घोषणा कर दी थी। यद्यपि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारतीयों को अपनी मुक्ति की कुछ आशा हो गई थी परन्तु रोलट एक्ट, जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड ने सभी आशाओं पर पानी फेर दिया। ऐसे ही समय में प्रसाद ने चन्द्रगुप्त नाटक की रचना कर निरुत्साहित भारतीयों में आत्म-सम्मान तथा उत्साह एवं साहस का सञ्चार किया तथा अत्याचारी नन्द के विरुद्ध-चन्द्रगुप्त की विजय दिखाकर निराश भारतीयों के हृदय में स्वतन्त्रता संग्राम की सफलता

की भावना भर दी।

चाणक्य गांधी का ही रूप—चाणक्य और गांधी की नीति में पर्याप्त अन्तर है जबकि एक की नीति 'सफलता मिलनी चाहिए—साधन चाहे कोई भी हो;' की है तो दूसरे की नीति अहिंसा और सत्य पर आधारित है। जहाँ चाणक्य एक ओर कठोर है वहाँ दूसरी ओर गाँधी कोमल और सहृदय व्यक्ति हैं। नीति और व्यक्तित्व में इतनी विषमता होने पर भी दोनों में कुछ साम्य अवश्य है। चाणक्य कहता है—"मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी वह (आत्म-सम्मान) मिलेगा। आक्रमणकारी बौद्धों और ब्राह्मणों में भेद नहीं करेगा।" इन पंक्तियों में हमें बीसवीं शती में गांधी द्वारा लोगों को प्रान्तीयता तथा साम्प्रदायिकता को भूल कर एकता के एक सूत्र में बँध जाने का सन्देश ही सुनाई देता है। गाँधीजी मृत्यु-पर्यन्त सभी धर्मों को एक सूत्र में बँध जाने का सन्देश देते रहे हैं। चाणक्य का नन्द को शान्ति-पूर्वक सिंहासन छोड़ने के लिए कहना, गाँधी का अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए नम्रता-पूर्वक आग्रह करना ही है। चाणक्य में गाँधी का आभास दिखाने के हेतु ही प्रसाद ने उसमें कोमलता का सम्मिश्रण कर दिया है।

नारी जागरण—मौर्यकालीन इतिहास का अवलोकन करने पर हमें ज्ञात होता है कि उस समय नारी केवल लूट का माल समझी जाती थी, अथवा उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था; वे पढ़ी-लिखी बहुत ही कम होती थीं। परन्तु 'चन्द्रगुप्त' की नारियाँ कला में निपुण हैं, राजनीति में भाग लेती हैं, जन नेतृत्व करती हैं; गीत गाती हैं, नृत्य करती हैं। इस प्रकार प्रसाद की नारी-पात्रों को राजनीति से लेकर ललित कलाओं तक का ज्ञान है। प्रसाद की नारी पात्रों में इन सभी गुणों को देखकर यह विश्वास नहीं होता कि ये चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की हैं। वास्तविकता तो यह है कि ये नारी पात्र मौर्यकाल के न होकर गांधी आन्दोलनों में पुरुषों के कन्धों से कन्धा मिलाकर कार्य में जुटने वाली २० वीं शती की नारियाँ ही हैं क्योंकि २०वीं शती का प्रारम्भ नारी जागरण का युग था।

अंग्रेजी शासन के अत्याचारों का चित्रण—अंग्रेजों ने फूट की नीति को ही अपनाया था जिस का आभास हमें नन्द की नीति में मिल जाता है। नाटक में एक स्थान पर एक स्नातक कहता है—"वह सिद्धान्त विहीन नृशंस (नन्द) कभी बौद्धों का पक्षपाती, कभी वैदिकों का अनुयायी बन कर दोनों में भेद नीति चला कर बल सञ्चय करता रहता है। मूर्ख जनता धर्म की ओट में नचाई जा रही है।" यह पंक्तियाँ अंग्रेजों की भेद-नीति की ओर ही संकेत करती हैं। फिर अंग्रेजों का अत्याचारपूर्ण शासन भी प्रसाद की तूलिका से नहीं बच सका। नन्द का अत्याचारपूर्ण राज्य अंग्रेजों के जुल्मी शासन का ही रूपान्तर है। ला० लाजपतराय की मृत्यु तथा जलियाँवाला बाग का नग्न हत्याकाण्ड अंग्रेजों के अत्याचारों का जीता जागता चित्र है।

प्रजातन्त्र का स्वरूप—प्रसाद का युग स्वतन्त्रता संग्राम का युग था। प्रसादजी को स्वतन्त्रता प्राप्ति की आशा होगई थी इसीलिए उन्होंने चन्द्रगुप्त नाटक में प्रजातन्त्र शासन का स्वप्न लिया था। नन्द पर लगाए गए अभियोगों का प्रजा द्वारा निर्णय करवाना; मन्त्रियों की परिषद बनाना तथा जनता द्वारा चन्द्रगुप्त को राजा घोषित करवाना—प्रसाद का एक स्वप्न ही था जो कि उन्होंने प्रजातन्त्र शासन पद्धति के विषय में लिया था। प्रसाद ने जिस चन्द्रगुप्त की कल्पना की है वह चाहे ऐतिहासिक राजा न बन सका हो परन्तु २०वीं शती के राष्ट्रपति का रूप उसमें अवश्य झलकता है। चाणक्य चन्द्रगुप्त से कहता है—"वत्स, चन्द्रगुप्त स्वेच्छाचारी शासन का परिणाम तुमने स्वयं देख लिया अब मन्त्रि-परिषद की सम्मति से मगध और आर्यावर्त्त का कल्याण करो।"

जनता का विद्रोह—चन्द्रगुप्त में जनता नन्द के अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह कर देती है और नन्द की रङ्गशाला में भी लोग पहुँच जाते हैं। यह जन-विद्रोह बीसवीं शती के भारतीयों का अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह का रूपान्तर ही है। इन विद्रोहियों के हमें दो दल मिलते हैं—चाणक्य का नरम दल, जो नन्द को उसके

अत्याचारों के लिए क्षमा माँगने पर उसे छोड़ देने को तैयार है, दूसरा शकटार का गरम दल—जो नन्द के अत्याचारपूर्ण शासन का अन्त करने के लिए उसे मारने पर ही तुला हुआ है। प्रसाद के युग में भी अंग्रेजी शासन से छुटकारा पाने के लिए दो विभिन्न मार्ग—दो विभिन्न दल अपनाए हुए थे। शान्ति के मार्ग को अपनाए हुए गांधी का नरम दल और शक्ति को आश्रय बनाये हुए सुभाष और तिलक का गर्म दल। तिलक कहा करते थे कि स्वतन्त्रता भिखारियों की तरह माँगने से नहीं मिला करती—उसे सङ्घर्ष से ही प्राप्त किया जा सकता है। प्रसाद ने अन्त में शकटार द्वारा नन्द का वध दिखा कर गान्धीवाद पर से अपनी आस्था को उठते दिखाया है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त में हमें प्रसाद के युग के दो दलों तथा जन-विद्रोह का चित्रण मिलता है।

प्रेम का स्वरूप—मौर्यकालीन भारत में नारी को वासना की तृप्ति का साधन मात्र ही समझा जाता था। किसी नारी की सुन्दरता सुन कर एक राजा उसकी प्राप्ति के लिए दूसरे राज्य को रोंद देता था और उस नारी को लाकर अपने रङ्गमहल में रख लेता था और अपनी काम-वासना को तृप्त करता था। परन्तु उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए अलका और कार्नेलिया को उस युग की प्रेमिकाएँ मान लेने में हमें सन्देह होता है। उनका प्रेम शारीरिक भूख तक सीमित नहीं है, उनके प्रेम का उच्च आदर्श है। वे इसी आदर्श के अधीन होकर प्रेमी के साथ देश-सेवा के कामों में जुटी रहती हैं। प्रेम का यह उच्च आदर्श आधुनिक युग का ही है। मौर्यकालीन भारत में नारी के लिए ऐसा करना असम्भव था।

गणतन्त्र—चन्द्रगुप्त में प्रसाद ने कई छोटे-छोटे गणतन्त्रों का उल्लेख किया है—मालवों व क्षुद्रकों का गणतन्त्र, आम्भीक का स्वतन्त्र गणतन्त्र, नन्द का गणतन्त्र आदि। इन गणतन्त्रों के चित्रण में प्रसाद के समकालीन भारत की भौगोलिक स्थिति का ही निरूपण हुआ है। भारत भी उन दिनों दो भागों में बँटा हुआ था—(१) भारतीय प्रान्त, (२) ब्रिटिश अधीन भारत। इन गणतन्त्रों में कुछ दोष होते थे जिन्हें प्रसाद ने चित्रित किया है—

(१) आक्रमण होने पर एक दूसरे की सहायता नहीं करते थे। (२) परस्पर दाह और वैरवृत्ति रखते थे। (३) गलत ढङ्गों से उनमें प्रतिस्पर्द्धाएँ उत्पन्न हो जाती थीं। प्रसाद के युग में भी गणतन्त्रों की यही दशा थी।

प्रसाद ने हमारे सम्मुख यह आदर्श रखा कि जब तक देश खण्डों में बँटा हुआ है तब तक राष्ट्रीयता की भावना लोगों में नहीं आ सकती। इसीलिए उन्होंने चाणक्य के मुख से 'जब मालव और मागध को भूल कर' तथा सिंहरण के मुख से 'परन्तु मेरा देश मालव ही नहीं' आदि पंक्तियाँ कहलायी हैं।

राष्ट्रीय जागरण—जिस व्यापक रूप में राष्ट्रीय भावना का चित्रण चन्द्रगुप्त नाटक में हुआ है वह राष्ट्रीयता उस युग की नहीं है। उस समय राष्ट्रीयता अपने अपने गणतन्त्रों तक ही सीमित थी। गणतन्त्र को ही राष्ट्र कहा जाता था। सन् १९३० तक नवीन भारत की जिस राष्ट्रीयता तक हम पहुँच चुके थे इस ऐतिहासिक नाटक में वह अपने समुज्ज्वल रूप में चित्रित हुई है। नाटक के सभी पात्र चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिंहरण, अलका, कल्याणी, मालविका—देशप्रेम के रङ्ग में रँगे हुए हैं, यहाँ तक कि विदेशी पात्र कार्नेलिया भी भारत का गुणगान करने में लगी हुई हैं। वह कहती है "अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि हैं, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।" नाटक के आरम्भ में ही सिंहरण कहता है—"परन्तु मेरा देश मालव ही नहीं, गान्धार भी है। यही क्या, समग्र आर्यावर्त्त है।" एक जगह चाणक्य भी अपने शिष्यों को उपदेश देता हुआ कहता है—"मालव मागध को भूल कर जब तुम आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी वह (आत्म सम्मान) मिलेगा।" इन पंक्तियों में हमें बीसवीं शताब्दी के भारतीय नेताओं द्वारा लोगों को प्रान्तीयता एवं साम्प्रदायिकता को भूल कर एकता के एक सूत्र में बँध जाने का सन्देश ही प्रतिध्वनित होता सुनाई देता है। यदि यह कहा जाये कि प्रसाद ने तत्कालीन राष्ट्रीय भावना को व्यक्त करने के लिए ही अलका, सिंहरण, मालविका

(शेष पृष्ठ २४४ पर)

बरवै छन्द के प्रथम प्रणेता कवि लक्षदास

डा० मुरारिलाल शर्मा 'सुरस'

बरवै अवधी का लाड़ला छन्द कहा जाता है। अद्यावधि यह मान्यता रही है कि बरवै छन्द की रचना सबसे पहले रहीम ने की, किन्तु यह धारणा भ्रमपूर्ण है क्योंकि बरवै के रहीमकृत कहे जाने का आधार बाबा वेणीमाधवदास के 'मूल गोसाईं चरित' ग्रन्थ में दिया गया यह कथन माना जाता है 'कवि रहीम बरवै रचे पठये मुनिवर पास' साथ ही यह कथा प्रचलित है कि रहीम के किसी सिपाही की नव विवाहिता स्त्री ने अपने पति के द्वारा उसके नौकरी पर जाते समय:—

'प्रेम प्रीति का बिरवा चलेउ लगाय।
सींचन की सुधि लीजियो मुरझि न जाय॥'[1]

लिखकर रहीम के पास भेजा था जिससे प्रेरणा ग्रहण करके रहीम ने बरवै छन्द में 'नायिका भेद' ग्रंथ लिखा और तुलसीदासजी को भी बरवै छन्द लिखने की प्रेरणा दी।

उपर्युक्त विवरण से यह तो स्पष्ट है ही कि बरवै छन्द के प्रथम प्रणेता होने का जो श्रेय रहीम को दिया जाता है वह सर्वथा उचित नहीं है, क्योंकि यह छन्द तो जनता में बहुत पहले से ही प्रचलित था। कवि लक्षदास तथा 'उद्धव के बरवै' मिलते हैं। उपलब्ध स्रोतों से पता चलता है कि लक्षदासजी का रचनाकाल तुलसीदास से पर्याप्त पहले का है और संवत् १६२४ तक लक्षदास के विद्यमान होने का पता चलता है।[2] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि लक्षदासजी के जीवन के अन्तिम दिनों में तुलसीदास और उनका (लक्षदास) पारस्परिक मिलन भी हुआ था और तुलसीदास ने उनकी रचनाओं तथा व्यक्तित्व से प्रेरणा ग्रहण की थी। इतिहास सिद्ध बात है कि रहीम तुलसीदास से आयु में छोटे थे क्योंकि रहीम का जन्म १४ सफर ९६३ हिजरी (सं० १६१३ वि०) को हुआ था।[1] इस प्रकार यह पता चलता है कि बरवै छन्द का प्रयोग तुलसी और रहीम की काव्य रचना के प्रारम्भ होने से पर्याप्त पहले भी प्रचलित था।

लक्षदासजी की रचनाओं में बरवै छन्द में कृष्ण की लीला शीर्षक के अन्तर्गत ११३ बरवै मिलते हैं जो कवि रचित 'कृष्ण रस सागर' ग्रन्थ में सङ्कलित मिलते हैं। 'कृष्ण की लीला' नाम की रचना को देखकर यह अनुमान होता है कि कवि ने इस नाम की कोई स्वतन्त्र पुस्तक लिखी होगी किन्तु आज उसके पूरे छन्द उपलब्ध नहीं हैं। लक्षदास की एक और रचना 'भागवत-पुराणसार' में भी बरवै छन्द मिलते हैं। उनके प्रारम्भ में 'अथ बरवै उधरा' और अन्त में 'इति बरवै कृष्ण के समाप्त' लिखा गया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि 'कृष्ण की लीला' के सम्बन्ध में लिखे गये बरवै छन्दों का यह भाग ही आज प्राप्य है। अतः अनुमान होता है कि लोक में प्रचलित बरवै छन्द को साहित्यिक रचना का रूप सबसे पहले लक्षदास ने ही दिया क्योंकि उनके पूर्व की रचनाओं में भी इस छन्द का प्रयोग नहीं मिलता। इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि रहीम को बरवै छन्द के साहित्यिक रूप देने का जो श्रेय दिया जाता है वह सर्वथा अनुचित है क्योंकि लक्षदास के पर्याप्त समय पश्चात् रहीम कवि ने रचनाएँ कीं। अभी तक हिन्दी साहित्य के इतिहासों में अवधी कृष्ण काव्य के प्रणेता कवि लक्षदास का विवरण अज्ञात है। अपनी फतेहपुर की यात्राओं के दौरान में मुझे इस कवि का विवरण ज्ञात हुआ है। जिनकी अन्य रचनाओं के सम्बन्ध में मैं फिर कभी विस्तृत विवरण प्रस्तुत करूँगा।

—अध्यक्ष हिन्दी विभाग, आर्य कालेज, लुधियाना (पञ्जाब)

[1] रहीम रत्नावली (१९८५ वि०, सम्पा० मायाशङ्कर याज्ञिक पृ० २१–२२

[2] उत्तर भारती (दिसम्बर १९६०) अवधी के एक विस्मृत कवि भक्त लक्षदास शीर्षक लेख।

[1] अकबरनामा भाग २, पृ० ७६

पृथ्वीराज रासो में उल्लिखित अमरसिंह सेवरा

श्री अगरचन्द नाहटा

कवि चन्द रचित पृथ्वीराज रासो हिन्दी-साहित्य का पहला महाकाव्य और अति प्रसिद्ध ग्रन्थ है। मूलतः पृथ्वीराज चौहान सम्बन्धी वह एक लघु-काव्य रहा होगा पर आगे चलकर उसमें इतना अधिक परिवर्तन और परिवर्द्धन हुआ कि मूल-ग्रन्थ की भाषा और उस का स्वरूप क्या था यह बतलाना एक कठिन समस्या हो गई है। मुनि जिनविजयजी सम्पादित पुरातन प्रबन्ध संग्रह में पृथ्वीराज और जयचन्द के दो प्रबन्धों में जो ४ पद्य उद्धृत मिले हैं और उनमें से ३ पद्य भाषा परिवर्तन और पाठ भेद के साथ पृथ्वीराज रासो के वृहद एवं प्रकाशित संस्करण में प्राप्त होजाने से रासो की मूल भाषा अपभ्रंश के निकट थी, यह निश्चित हो जाता है। पर अभी तक ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला कि वह मूल रूप में कितने पद्यों का या कितने परिमाण का था। मेरी खोज से रासो के मध्यम, लघु और लघुतम इन ३ और संस्करणों की कई प्रतियों का पता चला है उनकी परिभाषा क्रमशः १२००-१३००, ३५००-४०००, और ७०६०—१०००० अनुष्टुप श्लोकों का है। आश्चर्य की बात है कि इन संस्करणों की प्राप्त प्रतियों में भी एक-रूपता नहीं है। वृहद संस्करण तो करीब ३५००० श्लोकों का है। यद्यपि कई लेखकों ने उसका परिमाण १ लाख श्लोक तक का माना है।

रासो में कथित प्रसङ्ग और संवत् इतिहास से मेल नहीं खाते पर काव्य की दृष्टि से सभी विद्वान् इसे एक महत्वपूर्ण काव्य मानते हैं। जहाँ तक १७ वीं शताब्दी से पहले की कोई प्रति प्राप्त न हो जाय और मूल ग्रन्थ में कितने व कौन से पद्य थे, निश्चित नहीं हो जाय वहाँ तक रासो के वृहद संस्करणों में जो अनेक प्रसङ्ग वर्णित हैं वे कब एवं किसने जोड़े—यह कहना कठिन है और यह निर्णय किये बिना वृहद संस्करण की कई बातें जो चन्द के नाम से और उससे सम्बन्धित कही गई हैं, वे कहाँ तक सही हैं, नहीं कहा जा सकता। यहाँ एक ऐसे ही प्रसङ्ग की चर्चा की जा रही है। जो चन्द कवि के जैन-धर्म के विरोधी रूप को घोषित करती है और वह प्रसङ्ग ऐतिहासिक दृष्टि से अप्रमाणिक-सा लगता है।

लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर डा० विपिनबिहारी त्रिवेदी ने 'चन्द वरदाई और उनका काव्य' नामक एक शोध-प्रबन्ध लिखकर डी० फिल्० की उपाधि कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्राप्त की है और वह शोध-प्रबन्ध हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद से सन् १९५२ में प्रकाशित हो चुका है। उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ ४४ में गुजरात नरेश भीमदेव चालुक्य के जैन मन्त्री अमरसिंह सेवरा और उसके साथ कवि चन्द के सङ्घर्ष का प्रसङ्ग वर्णित है।

१—भोलाराय समय १२—उस समय गुजरात में जैनधर्म का बड़ा प्रचार था और वहाँ का तत्कालीन नरेश भीमदेव चालुक्य जिसके स्वयं जैनधर्म अङ्गीकार करने[1] के प्रमाण रासो में उपलब्ध नहीं हैं, कतिपय कारणोंवश उक्त धर्म का प्रवर्तक (पक्षपाती) था यथा-

श्रोतान राग लग्ग लिषै, पट्टनवै पट्टैसरां।
जैन ध्रंम उग्गाइयां, ते न कूर लग्गोकरां॥
छन्द ११

और उसका जैनमन्त्री अमरसिंह सेवरा (छन्द ८ सं० १२) हिन्दू मतावलम्बियों के प्रति अति असहिष्णु था। उसने अपने मन्त्र-तन्त्र-बल से अमावस्या को चन्द्रमा दिखला दिया और इस प्रकार ब्राह्मण ज्योतिषियों को झूठा ठहराकर राजाज्ञा से दण्डस्वरूप उनके सिर मुँडवा दिये।.........उसके छन्द (छले छन्द-चेटकों

[1] पद्यांक ९० में ऐसा लिखा है 'वेद धर्म जिन मञ्जरा, जैन ध्रम परिमान'। पर वह सही नहीं है।

द्वारा चमत्कार शक्ति) से नर, नाग और देवता खिंचकर चले आते थे। विदर्भ देश, दक्षिण दिशा तथा पश्चिम की सम्पूर्ण भूमि उसने जीत ली थी, वहाँ के निवासियों को जैन धर्मानुयायी बना दिया था अथवा उक्त देश विजित कर चालुक्य नरेश के साम्राज्य में सम्मिलित कर दिये थे, यथा—

जिन अमरसीह[1] सेवरा, चन्द मावस उग्गाइय।
जिन अमरसीह सेवरा, विप्र सब सीस मुड़ाइय॥
कहर क्रूर पाषंड चण्ड चारन मिलि बत्तं।
दुज दो पंजर हेम, देहि उत्तर धन हित्तं॥
नर नाग देव छन्दों चलै, आकर्षे आवंत कर।
विदरम्भ देसे दष्षिन दिसा, सब वित्ती पच्छिम सुधर
छन्द ६

नोट—ब्राह्मण धर्म द्वेषी जैन अमरसिंह सेवरा के कृत्यों से किसी भी तत्कालीन हिन्दू धर्मानुयायी को प्रसन्नता न हुई होगी और इन्हीं सारी बातों को लेकर चन्दबरदाई का भी विरोधी हो जाना अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता।

भीमदेव का यह जैन मन्त्री मारण, मोहन, वशीकरण, तन्त्र-मन्त्र आदि में बड़ा कुशल था। पृथ्वीराज ने अपने मन्त्री कैमास को नागौर में चालुक्य नरेश से होने वाले युद्ध का भार सौंपा। अमरसिंह सेवरा ने अपने मत्र-तन्त्र बल तथा लाल खत्री नामक एक रूपवती लड़की द्वारा कैमास पर वशीकरण कराके नागौर में चालुक्यराज की दुहाई फिरवादी (छ० २१०–२७१) चन्द ने स्वप्न में यह सूचना पाकर नागौर को प्रस्थान किया और वहाँ यही सब प्रत्यक्ष देखा (छ० २७२–२७६) फिर उसने भैरों और देवी का अनुष्ठान करते हुये (छ० २०७–२८१) देवी से जैन की माया जीतने का वरदान माँगा।

अमरसिंह सेवरा ने भी चन्द का मन्त्र व्यर्थ करने के लिये अनुष्ठान किये (छ० २८७–२८८)। इन दोनों में ये मन्त्र-तन्त्र युद्ध खूब चले (छ० २८९–३०३) जिनके अन्त में प्रयास के बाद चन्द की विजय हुई, सेवरा की माया नष्ट हुई और कैमास का उद्धार हुआ।

(२) चन्द द्वारिका समयौ ४२—में कहा गया है कि द्वारिकापुरी की गोमती नदी में स्नान करके जो अपने को शुद्ध नहीं करता वह दूसरे जन्म में सेवरा जैन साधु) होता है। उसके केश नीचे जाते हैं, वह न मुँह धोता है न विवेकपूर्वक अपने वस्त्र धोता है, आँखों में आँसू आने पर अनेक उपवास करता है, देवताओं के दर्शन नहीं करता, गंगा, गया श्राद्ध आदि कर्म नहीं मानता। कवि चन्द का कथन है कि इस मार्ग में भ्रमते हुये जीव की न जाने क्या गति होगी।

(३) उपर्युक्त समय में आगे चलकर पढ़ते हैं कि द्वारिकापुरी से लौट कर चन्द भीमदेव चालुक्य की राजधानी पट्टनपुर आया, वहाँ चालुक्य नरेश ने उसका अपने जैनमन्त्री सेवरा से वाद (शास्त्रार्थ) करा दिया, जिससे चन्द की अपूर्व विजय हुई।

इन विवरणों से प्रतीत होता है कि चन्द को शास्त्रार्थ में जैन अमर सेवरा को परास्त करने में विशेष प्रयत्न करना पड़ा था[1]।

उल्लिखित स्थल २ के छं० ४८ तथा ४९ पर पृ० रा० के ना० प्र० स० वाले सम्पादकों की टिप्पणी है कि "छं० ४८ और ४९ दोनों मो० प्रति में नहीं हैं तथा क्षेपक जान पड़ते हैं। 'कवि चन्द कहक', ऐसा पाठ कहीं भी नहीं पाया गया है। कथाक्रम, काव्य, भाषा आदि ४८ और ४९ छन्दों की बहुत कुछ भिन्नता है। अतएव हमें इन दोनों छन्दों के क्षेपक होने का सन्देह है।" जो कुछ भी हो यदि सारे एतद् प्रासङ्गिक वर्णित स्थलों के क्षेपक सिद्ध करने के पुष्ट प्रमाण प्राप्त हों तब तो बात दूसरी है। अन्यथा जैन साधुओं के विपरीत आचरण, उनके धर्म प्रचार से हिन्दुओं का जैन धर्म में दीक्षित हो जाना, उनकी धर्म-दिग्विजय के अवसर-अवसर, स्थान-स्थान पर अभिमान, उनके द्वारा ब्राह्मण आचार्यों की पराजय नित्य प्रति देखते-सुनते महाराज पृथ्वीराज के कट्टर हिन्दू, देवी के वरदायी, चन्द कवि का भी जैनों के प्रति अपने तीव्र विरोधी उद्गार प्रगट करना बहुत सम्भव है। साथ ही उन

[1] लघु संस्करण में 'महात्मा अमरसी ज्ञाता, साम दान करि, भेद विधाता में सेवरा शब्द माना।

[1] देखो इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ३९-४०।

स्थलों में प्रयुक्त हुए वाक्य "जैन वर्द्धस वर्द्धयाइ; अमरसिंह सेवरा के कार्य 'कहर कूर पाषण्ड', 'बढ्ढा जैन सुजैन लगि', 'तजै न ध्रम सेवरा' आदि कवि के आदरणीय संस्मरण नहीं हैं। इन्हीं सारे आधारों पर चन्द बरदायी का जैन धर्म द्वेषी होना समझ पड़ता है।

डा० त्रिवेदी ने सेवरा शब्द के सम्बन्ध में अकबर के फरमान का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "श्वेताम्बर जैन साधुओं के लिए संस्कृत में श्वेत-पट्ट शब्द है इसी का अपभ्रंश भाषा में सेवड़ रूप होता है वही रूप विशेष बिगड़ कर सेवड़ा हुआ। सेवड़ा शब्द का प्रयोग दो तरह से होता है—जैनों के लिए और जैन साधुओं के लिए।

गुजरात के महाराजा भीम का समय संवत् १२३५—१२९६ तक का है। उसके अनेक शिलालेख और ताम्रपत्र मिल चुके हैं पर उनमें कहीं भी उनके मन्त्री अमरसिंह का उल्लेख नहीं है। श्री गोविन्द भाई देसाई ने अपने 'गुजरात नो प्राचीन इतिहास' के पृष्ठ २०५ में चन्द के पृथ्वीराज रासो का उल्लेख करते हुए लिखा है "चन्द वारोठनुं लखाण घणुंज विगतवार अणे जाणवां जोग छै। तेमा मिठूं मरचूं उमेरी बात रसिक करेली छै तेथी खरूं सुं हंसे ए विषे संदेह छ्वै छ्वै।" "चन्द ने भीम के मन्त्री अमरसिंह द्वारा तन्त्र-मन्त्र के बहुत-से अमावस्या को चन्द्रमा दिखला दिया लिखा है" ऐसा प्रसङ्ग जिन प्रभसूरि जिनचन्द सूरि आदि कई जैनाचार्यों के चरित्र में आता है अतः उनके जीवन की सुनी-सुनाई बात को अमरसिंह सेवरा से सम्बन्धित कर दिया हो, यह सम्भव है। जहाँ तक जैन धर्म से सम्बन्ध है अमरणे के भीम के मन्त्री होने की तो बात दूर पर उसके समय में भी कोई ऐसा प्रभावशाली सेवरा नहीं था। वायड़गच्छीय कवि अमरचन्द का समय संवत् १३०० के आसपास का है वे बीसलदेव (गुजरात) के राजा के समय में हुये हैं। अतः सेवरा भीम के मन्त्री अमरसिंह सेवरा का प्रसङ्ग कल्पित सा और प्रक्षेपित लगता है।

—नाहटों की गवाड़, बीकानेर।

(पृष्ठ २४० का शेषांश)

कल्याणी आदि की कल्पना की थी तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

युद्ध का आदर्श—प्रसाद ने बीसवीं शताब्दी के युद्ध का आदर्श भी चन्द्रगुप्त में रखा है। पहले जो युद्ध होते थे उसमें किसानों के खेतों को बहुत हानि होती थी। परन्तु आर्य सैना की युद्ध पद्धति ऐसी थी कि रण-क्षेत्र के पास ही किसान अपने खेतों में काम कर सकता था—उसे किसी प्रकार का भय नहीं था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसादजी ने मौर्य-कालीन प्राचीन चित्र को लेकर उसमें आधुनिक रंग की तूलिका से रँग भर कर उसे और भी सुन्दर, सुहा वना तथा आकर्षक बना दिया है। प्रसादजी ने पुरातनता तथा नवीनता का समावेश इस प्रकार किया है कि न तो पुरातन में ही कोई अन्तर आया है और न नवीनता को कोई ठेस पहुँची है। ऐसा करना प्रसाद की महान प्रतिभा का ही काम था।

अतः प्रसाद को जहाँ भारतीय संस्कृति के पुरातन गौरव से मोह था वहाँ वे अपने युग की समस्याओं को भी भलीभाँति समझते थे। प्रसाद पर यह दोष लगाना कि उन्होंने वर्त्तमान से पलायन स्वरूप अतीत को अपनाया है उनके प्रति अन्याय होगा। वह तो देश के सच्चे सेवक थे—राष्ट्र के सच्चे भक्त थे। उन्होंने अपने युग की समस्याओं एवं परिस्थतियों से पलायन नहीं किया—उनके प्रति विमुखतापूर्ण रुख नहीं अपनाया, बल्कि उन घटनाओं की ओर अन्य लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए इतिहास को अपने नाटकों का आधार बना कर उनमें वर्तमान युग की समस्याओं और परिस्थितियों का समावेश कर दिया। इस प्रकार प्रसाद कवि साकी ने पुरानी सुराही (प्राचीन इतिहास) में से नवीन जाम (आधुनिक समस्याएँ) के प्याले भर-भर कर सामाजिकों को पिलाए और उन्हें राष्ट्रीयता की भावना से मदमस्त कर दिया इसी में प्रसाद की महानता है।

—पञ्जाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ (पञ्जाब)।

आलोचना

चन्द्रसखी का काव्य—लेखक–अमरनाथ, प्रका०–ज्ञानालोक प्रकाशन, लखनऊ। पृष्ठ ६३, मूल्य २.००

चन्द्रसखी का नाम सभी हिन्दी प्रेमी बड़े आदर से लेते हैं। आज की यह अनिवार्य आवश्यकता है कि विलुप्त साहित्य को प्रकाश में लाया जावे। चन्द्रसखी की कविताओं का एक सङ्कलन निकला है और उसी को आधार बनाकर यह लघु समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखा गया है। पुस्तक परिचयात्मक ही है, किन्तु साहित्यिक महत्त्व की है। इस पुस्तक से आशा है गम्भीर अध्ययन की प्रवृत्ति जाग्रत होगी और चन्द्रसखी पर अधिक व्यापक काम होगा।

निबन्ध

साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध—ले०–महादेवी वर्मा, प्रका०–लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद। पृष्ठ २००, मूल्य ७.५०

महादेवी वर्मा के समीक्षाप्रधान लेखों के इस संग्रह का सङ्कलन गङ्गाप्रसाद पाण्डेय ने किया है। इस संग्रह में उनके साहित्यकार की आस्था, काव्यकला, छायावाद, रहस्यवाद, गीतिकाव्य, यथार्थ और आदर्श सामयिक समस्या और हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या शीर्षक लेख दिए गए हैं। इन लेखों में छायावादी सौन्दर्य शास्त्र के मूल सिद्धान्त उभर कर सामने आए हैं तथा इस सन्दर्भ में पाण्डेयजी के निम्न शब्द अत्यन्त मार्मिक तथा पुस्तक के महत्त्व को स्पष्ट करने वाले हैं।

"महादेवीजी की विवेचना उनके कवि तथा विचारक के सामञ्जस्य का सुफल है। साहित्य के सनातन और स्थायी सत्यों का निरूपण जिस निष्पक्ष और परिमार्जित एवं सरस-स्पष्ट शैली में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। अपने युग के सृजन में प्राण-प्रवेग भरने के साथ युग की समीक्षा को प्रेरणा देने में भी यह समीक्षा सफल रही है। सुलझे विचारों की शक्तिमत्ता, सूक्ष्म निरीक्षण की निष्ठा, आत्मानुभूत सिद्धान्त की सुबोध प्रतिपादना और जीवन दर्शन की व्यापकता से सञ्चालित यह विवेचना साहित्यक अभिप्रायों के आकलन, अङ्कन और उद्घाटन में अद्वितीय है। जीवन की विकासशील संयोजना, सौन्दर्य की आराधना तथा साहित्य-साधना के लिए आत्मा के जिस परिष्करण की अनिवार्यता होती है वह महादेवी जैसे विदग्ध कलाकारों की नीजी महत्ता है।" इस सङ्कलन में उनकी ये सभी विशेषताएँ मिलती हैं, इस संग्रह से छायावादी सौन्दर्यशास्त्र अधिक स्पष्टता के साथ समझा—समझाया जा सकेगा—ऐसी आशा है।

कविता

हिन्दी रुबाइयाँ—सम्पादक–श्री नीरज, प्रकाशक–हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली। पृष्ठ ११२, मूल्य १.००।

१०९ कवियों की कृतियों से छाँटकर नीरजजी ने चुनी-चुनी रुबाइयाँ इस पुस्तक में संग्रह की हैं। सम्पा-

दन बहुत ही सुन्दर हुआ है। रुबाइयाँ एक से एक बढ़कर है। इन्हें पढ़ने में बड़ा आनन्द आएगा। हिन्दी में मुक्तक काव्य की कमी नहीं है। यह रुबाइयाँ भी मुक्तक छन्द ही हैं। अतः हम अनुरोध करेंगे कि पाठक इस पुस्तक को पढ़ने का कष्ट करें।

शैल और सागर – ले०–अप्पासाहेब सनदी 'शैल' तथा सिद्धलिङ्ग पट्टणशेट्टी 'सागर', प्रका०–स्नेह प्रकाशन, बेलगाम। पृ० ८२, मू० २.००।

उपर्युक्त दो कवियों की कविताओं के संग्रह इस पुस्तक में हैं। अहिन्दी भाषा-भाषी ये कवि अभिवन्दनीय हैं कि उन्होंने हिन्दी को अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम चुनकर भावात्मक एकता की दिशा में कार्य किया है। कविताओं में वैयक्तिक भावनाओं को सामाजिकता के साथ अनुस्यूत करके प्रस्तुत किया गया है।

परमवीर—ले०–श्री नारायणसिंह 'भाटी', प्रकाशक–कलावतार पुस्तक-मन्दिर रातावाड़ा, जोधपुर। पृष्ठ ७५, मूल्य २.५०

यह पुस्तक लद्दाख में चुशूल के युद्ध क्षेत्र में भारतीय सेना के कमाण्डर श्री शैतानसिंह की वीरता और उनके जीवन पर प्रकाश डालने के लिए लिखी गई है। भाटीजी कवि हैं उन्होंने राजस्थानी भाषा में यह ओज पूर्ण पुस्तक रची है। जिसे पढ़कर बाँहें फड़क उठती हैं।

शैतानसिंहजी को परमवीर चक्र प्रदान किया गया था। इस कारण इस पुस्तक का नाम परमवीर रखा गया है। राजस्थानी भाषा के पद्यों के साथ-साथ पृष्ठ के दूसरी ओर हिन्दी गद्य में वर्णन है और दसियों चित्र देकर पुस्तक की महत्ता और बढ़ा दी है।

कौन से सन्दर्भ देदूँ—ले०–श्री सुरेन्द्र, प्रका०–पूजा प्रकाशन, जयपुर। पृ० , मू० ४.००।

यह श्री सुरेन्द्र की कविताओं का प्रथम संग्रह है। इसमें कवि की वेदना प्रकृति एवं परिवेश के माध्यम से प्रकट हुई है। कुछ कविताओं में कवि ने अपनी भावनाओं को लोकवृत्तियों के माध्यम से प्रस्तुत किया है जिनमें उनका परिनिष्ठित अभिव्यक्ति कौशल स्पष्ट प्रकट होता है। आशा है उनका आगामी संग्रह और अधिक सौष्ठवपूर्ण होगा।

उपन्यास

प्रायश्चित—ले० यज्ञदत्त शर्मा, प्रका०–हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली। पृ० ११४, मू० १.००

साहित्य का उपजीव्य समाज है, अतः सामाजिक कथाओं को लेकर चलने वाले उपन्यास अन्यों की अपेक्षा अधिक गम्भीर उद्देश्य से परिचालित होते हैं। यज्ञदत्त शर्मा सामाजिक कथाकार हैं। प्रस्तुत उपन्यास सामाजिक समस्याओं को सामने रखकर चलता है नारी की दशा को—उसकी विषम परिस्थितियों को देखता, दिखाता चला गया है। लेखक ने कमला जैसी संवेदनशील नायिका को पति और देवर के बीच द्वन्द्व का आधार बनाकर मातृत्व का आदर्श प्रस्तुत किया है और उसके पति को महान् ईर्ष्यालु तथा शक्की बनाने की धुन में अव्यावहारिकता की सीमा तक बढ़ आया है। प्रेमचन्द की निर्मला वाली समस्या को बिना समस्याओं को नवीन परिवेश दिए प्रस्तुत करने वाली यह कथा-पुस्तिका अपने उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर पाई है। संयोगों और अति नाटकीय संयोजनाओं का आश्रय ग्रहण किया गया है।

खिलती कली—ले०–मामा बरेरकर। प्रका०–राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली। पृ० १७४, मूल्य ३.२५।

सामाजिक समस्याओं के सफल चित्रकार मामा बरेरकर हिन्दी में लिखते हैं और अनेक हिन्दी उपन्यासकारों से श्रेष्ठतर साहित्य दे रहे हैं। इस उपन्यास की नायिका देवी नामक एक युवती है जो पुराण पंथी परिवार में अनाथ के रूप में रहती है। वह वास्तव में अनाथ नहीं है वरन् उसके चाचा ने उसके पिता की जायदाद को हड़प लिया है। वह पुराण पंथी बनकर सारी समस्या का समाधान करती है तथा अपने प्रेमी को जो अपने काका के पास रहता है तथा जो कायर है धीरे-धीरे सँभालती है और अन्त में पुराण पंथ का पर्दाफाश करके उससे विवाह कर लेती है। उपन्यास का कथानक एक रहस्यमय पर्दे में भीतर भीतर चलता है। खिलती कली उपन्यास को लिखने वाली इस उपन्यास की नायिका पाठकों के आकर्षण का मुख्य केन्द्र है। उपन्यास सरल और स्वाभाविक चित्रण की विशे-

षता से समन्वित है और इसी कारण वह हिन्दी में लोकप्रिय सिद्ध होगा। आशा है आज के समाज के ह्रासशील तत्त्वों को ऐसी कथाओं के द्वारा ध्वस्त होने में सहायता मिलेगी।

बड़े सरकार—ले०-भैरवप्रसाद गुप्त, प्रका०-हिन्द-पाकेट बुक्स, दिल्ली। पृ० १२६, मू० १.००

इतिहास के एक चरण (सामन्त युग) को साकार प्रस्तुत करने का उत्तरदायित्व आज के कथाकार पर है। सामन्तकालीन ह्रासशील संस्कृति में अनेक ऐसे तत्व रहे हैं जो आज की व्यवस्था में आकर टूट रहे हैं और उनका टूटना समाज हित की दृष्टि से अहितकर है अर्थात् भावी समाज-रचना के आकांक्षी इन तत्वों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील है। आवश्यक है कि सामन्ती युग का चित्रण करने वाला साहित्यकार इन तत्वों पर दृष्टि डाले बिना आगे बढ़ जाय—यह कदाचित् अनुत्तर-दायित्वपूर्ण दृष्टिकोण होगा। भैरवप्रसादजी के इस उपन्यास में हमें यह अभाव अपने पूर्ण रूप में खटकता है। मानवीय संवेदना को वैयक्तिक स्तर से प्रस्तुत करने का यह प्रयास इतिहास का माध्यम लेकर बढ़ता है। इसमें ऐतिहासिकता अप्रमुख है और नारी-वेदना प्रमुख। सामन्ती वातावरण का चित्रण अतिरञ्जित, एकाङ्गी और कहीं-कहीं अस्वाभाविक तक हो गया है। पात्रों की वेदना की घोषणा तो की गई है किन्तु परिवेश के वे अन्तर्सूत्र प्रकट नहीं हो सके हैं जो उन मजबूरियों के कारण हैं।

जुहू—लेखक-पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, प्रकाशक-हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली। पृ० ११५, मू० १.००

पाण्डेय बेचन शर्मा पुराने साहित्यकार हैं और उनके नाम से जो कुछ नया निकलता है, हिन्दी पाठक की उस ओर उत्सुकतापूर्ण दृष्टि जाना स्वाभाविक है। उनका यह नवीन सामाजिक उपन्यास हमें निराशा ही अधिक देता है, क्योंकि इसमें जिस अनैतिकता, फ्लर्टेशन यौनवृत्ति तथा बम्बई के वासनाजन्य जीवन का चित्रण किया गया है उसके प्रति लेखक की निजी मनोवृत्ति रमने की रही है और पाठकों को एक सीमा तक रमाने की, अतः रञ्जनवृत्ति ने व्यंग्य को उस सीमा तक उभरने नहीं दिया है कि वह पाठकों के मन पर अपनी अमिट छाप छोड़ता। कथानक में उस कार्यान्विति का अभाव है जो इसे उपन्यास की संज्ञा दे पाती। कुछ छोटी-छोटी कथाओं को हलके रेखांकनों द्वारा उभार कर बिना जोड़े छोड़ दिया गया है। इस कोटि का साहित्य सस्ती मनोवृत्ति को भड़काने का कार्य करेगा। गम्भीर पाठक को आकृष्ट नहीं कर पाएगा।

जयमाला—ले०-शैलेश मटियानी, प्रका०-हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली। पृ० ११६, मू० १.००

हिमाचल प्रदेश की लोक कथा को पौराणिक शैली में लिखकर इस लघु उपन्यास के द्वारा लोक तात्त्विक अंशों को उभारा गया है। इस कथा में अम-ङ्गला जयमाला बौरी के कुलटा जीवन तथा सामन्त-कालीन वीर और शृङ्गार का सुन्दर वर्णन है। इस में आकर्षण के साथ ही साथ हमारे परिवारी जीवन के विविध पहलुओं की झाँकी भी कराई गई है। कथा की अपेक्षा मुख्य आकर्षण शैली का है।

कहानी

शरलक होम्ज की जासूसी—लेखक-कॉनन डायल, अनु०-देवेन्द्रकुमार, प्रका०-हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली। पृ० ११७, मू० १.००

हिन्दी में उपन्यास का सशक्त प्रारम्भ तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों से हुआ है और तब से लेकर आज तक एक वर्ग ऐसा निरन्तर बना रहा है जो इस कोटि के कथा साहित्य की माँग करता रहा है। अतः जनाभिरुचि का अनुगमन करने वाले साहित्यिक इस दिशा में कार्यशील हैं। शरलत होम्ज की जासूसी कथाएँ विश्वविख्यात हो चुकी हैं। हिन्दी में उनकी तीन कहानियों का यह संग्रह प्रस्तुत करके उसी आवश्यकता की पूर्ति का एक प्रयास किया गया है।

किनारे से किनारे तक—ले०-राजेन्द्र यादव, प्रका०-राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली। पृ० २०६, मू० ४.००।

राजेन्द्र यादव की कहानियों का यह नया संग्रह मध्यवर्गीय वर्ग-चेतना को मुखरता प्रदान करने का उद्देश्य लेकर चला है। आज का कथाकार स्वयं मध्य-

वर्गीय होने के कारण उसी वर्ग की कुण्ठाओं तथा अभावों का वर्णन करता है। वस्तुतः उसका दुर्दमनीय अहं ही प्रगतिशीलता की खोल ओढ़कर चल रहा है। परिवेश का एकांगी चित्रण आज की कला की एक ऐसी सीमा है जो राजेन्द्र यादव के कथा-साहित्य में भी मिलती है। संग्रह के प्रारम्भ में एक भूमिका दी गई है जिसमें आज की कहानी की परिभाषा देने का प्रयास है। इस प्रयास का मुख्य परोक्ष उद्देश्य अपनी कहानियों को एक सीमा तक औचित्य प्रदान करना है।

नाटक

गोरा—ले०—जीवनलाल गुप्त, प्रका०—साहित्य-वाणी, इलाहाबाद। पृ० १२४, मू० २.७५।

कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रसिद्ध उपन्यास गोरा का यह रङ्गमञ्च योग्य नाट्य रूपान्तर उनकी जन्म शताब्दी पर इलाहाबाद में खेलने के लिए तैयार हुआ था। यह प्रकट है कि इसमें अभिनय के आवश्यक गुण हैं तथा रङ्गमञ्चीय आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर ही इसकी दृश्ययोजना हुई है। आशा है यह नाटक अधिकाधिक स्थानों पर खेला जायगा।

जीवनी

नोवल पुरस्कार विजेता साहित्यकार—लेखक—ठा० राजबहादुरसिंह, प्रका०—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली ६। पृष्ठ २२८, मूल्य ७.००।

किसी भी शिक्षित और साहित्य-प्रेमी नोवल पुरस्कार का नाम न सुना हो—यह सम्भव नहीं। संसार का सबसे प्रसिद्ध और सबसे मूल्यवान यह पुरस्कार है जो प्रति वर्ष संसार के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार को दिया जाता है। साहित्यकार ही नहीं, यह पुरस्कार प्रसिद्ध वैज्ञानिकों को और संसार में शान्ति स्थापित करने वाले राजनीति-विशारदों को भी दिया जाता है। इन पुरस्कारों की बड़ी प्रतिष्ठा है जिसका अर्जन भारत में भी कई महान् व्यक्ति कर चुके हैं।

वर्तमान पुस्तक में उन महान् व्यक्तियों के जीवन और उनके कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है जिन्होंने एक या अनेक ग्रन्थ लिखकर अपनी कृति से संसार को चकित किया है। भारत में यह सौभाग्य महाकवि रवीन्द्र को सन् १९१३ में मिला था। पहला पुरस्कार १९०१ में दिया गया था। अब तक यह पुरस्कार ५७ व्यक्तियों को मिल चुका है जो भिन्न-भिन्न देशों और जातियों के हैं।

पुरस्कार स्टाकहाल के वैज्ञानिक अल्फ्रेड नोवल की दी हुई सम्पत्ति से उनकी वसीयत के अनुसार जाति और देश के भेदभाव बिना दिया जाता है। सम्पत्ति की ब्याज से लगभग ४० हजार पौण्ड प्रति वर्ष मिलते हैं जो पाँच व्यक्तियों को ८-८ हजार पौण्ड के लगभग मिलते हैं। पुरस्कार (१) एक सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार, (२) एक प्राणिशास्त्र के सर्वश्रेष्ठ आविष्कार करने वाले को, (३) प्रकृति-विज्ञान या पदार्थ विज्ञान में नई बात का आविष्कार करने वाले को, (४) एक रसायनशास्त्र के नए तत्व का उद्घाटन करने वाले को, (५) संसार के राष्ट्रों में बन्धुभाव और शान्ति स्थापित करने वाले व्यक्ति को—इस प्रकार पांच पुरस्कार प्रति वर्ष दिए जाते हैं जो प्रत्येक ८ हजार पौण्ड का एक लाख बीसहजार रुपए के लगभग होता है।

निश्चय ही इस पुस्तक के लेखक ने हिन्दी में एक आवश्यक ज्ञान देने वाली पुस्तक का प्रणयन करके एक बड़े अभाव की पूर्ति की है।

इतिहास व संस्कृति

जैन रथ यात्रा देहली का इतिहास—ले०—रघुवीरसिंह जैन, प्रका०—जैन साहित्य-सदन, दिल्ली। पृ० ७५, मूल्य लिखा नहीं।

जैसा कि पुस्तक के नाम से ज्ञात है इसमें दिल्ली की जैन रथयात्रा का इतिहास सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है तथा 'इन्तजामनामा बरामद रथ सरावगियान' जैसी महत्वपूर्ण सैयद फजलहुसैन साहब की नज्म का हिन्दी रूप देकर इसे विशेष महत्व प्रदान किया गया है। इस पुस्तक में प्रामाणिक सामग्री के आधार पर इस विषय का विवेचनपूर्ण इतिहास दिया गया है। पुस्तक भारतीय सांस्कृतिक विकास-क्रम के एक महत्वपूर्ण पहलू से सम्बन्धित है।

वे क्रान्ति के दिन—ले०—श्री महावीर त्यागी, प्र०—हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली। पृष्ठ १०८, मुल्य १.००।

त्यागीजी की पुस्तक १९३० और १९४०-४२ के आन्दोलन के दिनों का स्मरण दिलाती है। इस पुस्तक में लेखक ने गांधीजी, सरदार पटेल, महामना मालवीय, नेहरूजी, किदवई साहब, पन्तजी आदि नेताओं से सम्बन्ध रखने वाली अनेक घटनाओं का वर्णन ऐसी ओजस्वी भाषा में किया है कि इसे पढ़कर एक ओर उपन्यास जैसा आनन्द आता है तो दूसरी ओर इतिहास के पृष्ठ पढ़ते दिखाई देते हैं। राजनीति की चालें और चुनाव की दिलचस्प बातें भी पढ़ने में आती हैं। १९३० में गांधीजी का भ्रमण और धन-संग्रह, मालवीयजी और किदवई के साथ की गई चुनाव की कलाबाजियां, घर की तलाशी का तिलिस्मी बयान—सभी सचमुच पढ़ते ही बनती हैं। त्यागीजी ने यह पुस्तक लिखकर हिन्दी को एक अपूर्व पुस्तक दी है—हम इसका स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि ऐसे ही और भी संस्मरण लिख कर वे हिन्दी का भंडार भरेंगे।

धर्म

अहिंसा दर्शन (चार भाग)—ले०-श्री मनोहरलाल शाह, प्रकाशक-महासभा परीक्षा बोर्ड, जंबरी बाग इन्दौर। पृष्ठ क्रमशः ६८, ७४, ९४, १३२। मूल्य ५०, ६२, ७५, १.२५ न० पै०

यह पुस्तक विद्यार्थियों में नैतिक और धार्मिक-भावना जागृत करने के लिये तैयार की गई है, जिनमें विभिन्न महापुरुषों की जीवनियां, निबन्ध और स्तुति स्तोत्र है। पुस्तकें उपयोगी हैं और विशेष रूप से जैन-विद्यार्थियों को लक्ष्य करके लिखी गई हैं।

राजनीति

तटस्थ की पुकार—ले०-श्री राजगोपालाचारी, प्रका०-प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, दिल्ली। पृ० २२५, मू० २.५०

स्वतन्त्र भारत के प्रथम भारतीय गवर्नरजनरल श्री राजगोपालाचारी ने परमाणु युद्ध और परीक्षण-विस्फोटों के विरुद्ध जो भाषण और वक्तव्य दिए हैं उन सबको अंग्रेजी में The voice of the uninvolved में संग्रहीत किया गया है और उक्त पुस्तक उसका हिन्दी अनुवाद है जिसे नेशनल बुकट्रस्ट ने प्रकाशित कराया है। पुस्तक आज की विषम एवं भयङ्करतम स्थितियों को सामाजिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से खोल कर सामने रखती है तथा बताती है कि आज की स्थिति में हमारा क्या कर्तव्य होना चाहिए? इसमें १९२२ से १९५९ तक की सामग्री सङ्कलित है। हिन्दी जगत में इस पुस्तक से निश्चय ही समस्या को समझने में सहायता मिलेगी।

विज्ञान

बिजली की कहानी—ले० आरनॉल्ड मैण्डल वॉम (अनु०) अजयकुमार, प्रका०-राजपाल एंण्ड संस, दिल्ली। पृ० १४२, मू० २.००

विद्वान लेखक की अंग्रेजी में लिखी मूल पुस्तक Electricity the story of Power का यह हिन्दी अनुवाद है। अनुवाद सरल भाषा तथा सुन्दर शैली में हुआ है। साथ ही उसमें जो रेखाचित्र दे दिये गए हैं, उनसे यह पुस्तक अत्यन्त सुन्दर तथा आसानी से समझ में आ जाने वाली सिद्ध हुई है। बिजली हमारे आज के जीवन का एक ऐसा मुख्य तत्त्व है जिसके बिना हमारा जीवन आगे बढ़ना कठिन हो गया है। बिजली की विकास कथा को आगे ले जाने वाले वैज्ञानिकों और उनकी वैज्ञानिक उपलब्धियों का परिचय देने वाली यह पुस्तक सभी विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपादेय है।

बालोपयोगी

दूर देश के नन्हे-मुन्ने—लेखक-अधिराजमोहन, प्रका०-प्रकाशन विभाग, भारत सरकार। पृष्ठ १८८, मूल्य २.००

आठ अध्यायों में लिखी गई इस पुस्तक के प्रत्येक अध्याय में किसी एक देश के पारिवारिक जीवन की झांकी दी गई है। आज के वैज्ञानिक युग में यह आवश्यक है कि हमारे बच्चे प्रारम्भ से ही शेष दुनिया के साथ अपना प्रारम्भिक परिचय प्राप्त करें तथा अवकाश मिलने पर उस ज्ञान को अधिक व्यापक बना सकें। इस दिशा में यह पुस्तक बड़ी सहायता देगी। पुस्तक की उपादेयता इसी से सिद्ध है कि इस पर भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा पुरस्कार प्राप्त हो चुका है।

तत्त्व बोध चित्रावली—सम्पा०-पं० श्रीनिवास जैन शास्त्री तथा पं० जयन्तीप्रसाद जैन शास्त्री, प्रका०-दिगम्बर जैन परिषद् प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ ५८, मूल्य १.००

जैन शास्त्रों में जिन गहन एवं गम्भीर तत्त्वों का विश्लेषण हुआ है, उसे आज सामान्य जनता तक उपयुक्त माध्यम से पहुँचाना एक समस्या है। इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य यही है। पुस्तक को मोटे टायप में छपवा कर इसे बालोपयोगी बनाया गया है। इस पुस्तक में जीव, अजीव, द्रव्य, तत्त्व, कर्म आदि को चार्ट देकर समझाया गया है। आशा है इस पुस्तक को शिक्षा-संस्थाओं में पाठ्य-क्रम के रूप में स्वीकार किया जायगा।

भारत की स्वाधीनता की कहानी—ले०-प्रो० राधाकृष्ण शर्मा, प्रका०-राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली। पृ० ७५, मू० १.२५

बच्चों को अपने देश की स्वाधीनता की घटनाएँ बताना आवश्यक है। चूँकि बच्चे इतिहास को कहानी के रूप में ही भली प्रकार समझ पाते हैं। अतः स्वतन्त्रता संग्राम की कहानी कुछ चित्रों के साथ इस पुस्तक में दी गई है। आशा है पुस्तक बालकों के मनोरञ्जन और शिक्षण का कार्य साथ-साथ कर सकेगी।

स्फुट

वीर बैरिस्टर जमुनाप्रसाद जैन स्मृति अङ्क—सम्पादक श्री गोकुलप्रसाद जैन, प्रकाशक-अ० भा० दिगम्बर जैन परिषद्, दिल्ली। पृष्ठ १६८, मू० २.००

परिषद् के इस प्रकाशन में जैन समाज के एक कर्मठ कार्यकर्त्ता के जीवन पर प्रकाश डालने वाले लेखों का संग्रह है। इस से बैरिस्टर साहब के व्यक्तित्व पर ही प्रकाश नहीं पड़ता वरन् तत्कालीन समाज का एक चित्र भी सामने आता है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। हम इसके लिये सम्पादक को बधाई देते हैं।

बिक्री कैसे बढ़ाएँ—ले०-सन्तराम बी० ए०, प्र.-राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ १६२, मूल्य ३.५०

प्रत्येक व्यवसायी चाहता है कि उसकी बिक्री बढ़ती रहे, व्यापार में लाभ हो तथा ग्राहक प्रसन्न रहें। इस व्यक्तिगत उद्देश्य के अतिरिक्त इससे संयुक्त उद्देश्य राष्ट्रवैभव को उन्नत करना भी है। इस विषय पर विदेशी भाषाओं में अनेक पुस्तकें हैं जिनमें से कुछेक अन्तर-राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। इस पुस्तक के द्वारा लेखक ने उन पुस्तकों से प्रोत्साहित होकर वे गुर और सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं जो इस विषय की पुस्तकों में सामान्यतः दिए जाते हैं किन्तु इस विशेषता के साथ कि समस्याएँ भारतीय हैं तथा पत्र आदि की संयोजना भी भारतीय परिवेश से करके उपयुक्त उदाहरण दिए गए हैं। पुस्तक व्यापारियों के लिए उपादेय है।

सजिए और सजाइए—ले०-सावित्रीदेवी वर्मा, प्रका०-हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली। पृष्ठ ११६, मूल्य १)

अब से दो दशक पूर्व स्त्री सुबोधिनी महिलाओं का उनके क्षेत्र में प्रशिक्षित करने वाली एकमात्र पुस्तक थी। जैसे-जैसे हम अधिक आगे बढ़ रहे हैं वैसे ही वैसे हमारी माँग स्थिति के अनुरूप साहित्य की दिशा में भी अधिकाधिक प्रबल होती जा रही है। आधुनिक जीवन में प्रचलित साज शृङ्गार के ढङ्गों का उचित ज्ञान अनिवार्य आवश्यकता के रूप में उभरा है। प्रस्तुत पुस्तक इस विषय पर लिखी गई अद्यावधि ज्ञान से समन्वित पुस्तक है जिसमें भारतीय और पाश्चात्य दोनों प्रकार की प्रसाधन सामग्री का अच्छा परिचय है। इसके साथ ही साथ घर को सजाने की प्रविधियों पर भी प्रकाश डाला गया है। पुस्तक की पारिवारिक उपादेयता निर्विवाद है। यदि पुस्तक में प्रसाधन सामग्री के उन नामों की सूची देदी जाती जो स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयुक्त हैं तथा हानिकारक नहीं हैं तो महिलाओं को सस्ते विज्ञापनदाताओं के चंगुल से मुक्ति मिल जाती।

पकाइये खाइये—ले०-सावित्री देवी वर्मा, प्रका०-हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली। पृ० १३६, मू० १.००

हमारे जीवन में खाने का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अपरिहार्य है। हमारा जीवन जैसे-जैसे अधिक जाग्रत तथा आधुनिक बन रहा है वैसे ही वैसे यह भी आवश्यक हो गया है कि हम भोजन की दृष्टि से अधिकाधिक वैज्ञानिक बनते जायें। आज हमारे पुराने और परम्परागत भोजन के नियम तो चल ही रहे हैं किन्तु दूसरी ओर पाश्चात्य जीवन पद्धति का

भोजन भी हम स्वीकार करने लगे हैं। इस पुस्तक में भारतीय और पाश्चात्य दोनों प्रकार का भोजन बनाने की विधियाँ दी गई हैं। इतना ही नहीं भोजन बनाने के साथ परोसने तथा मेहमानों को तृप्त कराने की युक्तियाँ भी बताई गई हैं। पुस्तक परिवारों के लिए अत्यन्त उपादेय है।

दो मास में संस्कृत—ले०-वासुदेव द्विवेदी, प्रका०-सार्वभौम संस्कृत प्रचार कार्यालय, वाराणसी। पृष्ठ ३६, मू० ०.२५

संस्कृत भाषा का महत्त्व असंदिग्ध है। महात्मा गांधी ने कहा है कि प्रत्येक भारतीय को अपनी संस्कृति का परिचय पाने के लिए संस्कृत सीखनी चाहिए। उसीको सिखाने के लिए यह पुस्तक लिखी गई है।

सम्मेलन पत्रिका (श्रद्धाञ्जलि विशेषांक)—सम्पा० ज्योतीप्रसाद मिश्र 'निर्मल'; रामप्रताप त्रिपाठी 'शास्त्री' प्रकाशक-हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग। पृष्ठ ५४०, मूल्य ८.००

सम्मेलन पत्रिका के इस महत्वपूर्ण विशेषांक में हिन्दी के तीन महान् सेवकों के प्रति श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की गई हैं। एक महामना मालवीयजी, दूसरे आचार्य पं० रामनरेश त्रिपाठी, तीसरे महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'। इस अंक में केवल श्रद्धाञ्जलियाँ ही नहीं, इन महापुरुषों के सम्बन्ध में ऐसे लेख भी हैं जिनसे इनके सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। पत्रिका के इस विशेषाङ्क के लिये हम उसके सम्पादकों को हार्दिक बधाई देते हैं।

प्रेम पत्र—सम्पा०-प्रकाश पण्डित, प्रका०-हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली। पृष्ठ १११, मूल्य १.००

संसार के प्रसिद्ध व्यक्तियों के प्रेम-पत्रों का यह संकलन समाजसेवा, राष्ट्रसेवा, मानवसेवा आदि के भावों की प्रेम के ऊपर श्रेष्ठता प्रतिपादित करता है। कुछ पत्रों में भाव-विह्वलता तथा प्रेम के बीच आने वाले अनेक मनोभावों की सुन्दर व्यञ्जना भी हो सकी है। प्रेमपत्रों में विविधता का ध्यान रखा गया है। साहित्यकारों को इसमें प्रधानता दी गई है। कविता में लिखे गये प्रेम-पत्र भी दिए हैं। हास्य-व्यंग्य प्रधान पत्रों को भी स्थान दिया गया है।

अनमोल मोती—संग्रहकर्ता-मानस हंस, प्रका०-हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली। पृष्ठ ११२, मूल्य १.००

विभिन्न ग्रन्थों में सन्तों और महात्माओं ने ऐसे अनेक वाक्य और विचार लिखे हैं जिन्हें पढ़कर सैकड़ों हजारों वर्ष के अनुभव का निचोड़ मिलेगा। इन विचारों या सूक्तियों को विषयवार इकट्ठा कर दिया गया है जिससे पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है। ऐसी पुस्तकों का प्रचार खूब होना चाहिए।

नई बुनाई—लेखक-लीलाप्रकाश, प्रकाशक-हिन्द पाकेट बुक्स, प्रा० लि०, दिल्ली। पृ० १०४, मु० १)

स्त्रियों को आजकल बुनाई का बड़ा शौक है। नई तरह की बुनाई की बातें इस पुस्तक में सचित्र रूप में दी गई हैं। स्त्रियाँ इस नवीनतम कृति का आदर करेंगी और पुस्तक को उपयोगी पावेंगी।

भारत ज्ञानकोश (वार्षिकी) १९६३—प्रकाशक-हिन्द पाकेट बुक्स, प्रा० लि०, दिल्ली। पृष्ठ २६४, मूल्य २.००

इण्डियन ईयर बुक की तरह से हिन्दी में देश और विदेश की सैकड़ों बातों की जानकारी इस पुस्तक से मिलेगी। राजनैतिक, व्यावसायिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक, शैक्षिक, कृषि, नियोजन आदि-आदि जिस विषय की जानकारी आप चाहें इस पुस्तक से मिल सकती है। ऐसी उपयोगी पुस्तक इस सीरीज में निकालने के लिये प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

यह सच है—प्रकाशक-हिन्द पाकेट बुक्स, प्रा० लि०, दिल्ली। पृ० ११८, मूल्य १.००

इस पुस्तक में संग्रहकर्त्ता ने ऐसी बातों का सङ्कलन किया है जो देखने में विचित्र और आश्चर्यजनक मालूम होती हैं, पर वास्तव में हैं सत्य। यह बातें सभी तरह की हैं जिन्हें विभिन्न विषयों में बाँट दिया गया है। इसे पढ़ने से मनोरञ्जन भी होगा और ज्ञान-वर्द्धन भी।

—— —

हमारे उत्कृष्ट तथा नवीन प्रकाशन

उपन्यास

पुस्तक	लेखक	मूल्य
सिसकते साज	[गुलशन नन्दा]	६.००
नील कमल	,,	४.५०
माधवी	,,	४.५०
सूखे पेड़ सब्ज पत्ते	,,	४.५०
पत्थर के होंठ	,,	३.७५
एक नदी दो पाट	,,	४.२५
डरपोक	,,	४.००
रूपमती	[अनु० ,,	४.००
काली घटा		२.५०
गुनाह के फूल		२.५०
मुझे जीने दो	[अनिता चट्टोपाध्याय]	५.००
भोर का तारा	,,	३.००
सुहाग दीप	[दया शङ्कर मिश्र]	४.००
मँझदार	[मुज़तर हाशमी]	४.२५
एक लड़की फूल, एक लड़की काँटा	[मुज़तर हाशमी]	४.००
बादल छँट गये	[कृष्ण चन्द्र]	३.००
तारों की छाँव	[आदिल रशीद]	४.००
एक लड़की एक समस्या	[आदिल रशीद]	३.७५
पागल कौन ?	[रणवीर]	४.००
प्रोफेसर	[यादवेन्द्र शर्मा "चन्द्र"]	४.५०
आँचल में दूध : आँखों में पानी	[यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र']	५.००
मिट्टी का कलंक	,,	३.००
शान्ति, संघर्ष और प्रेरणा	[एस. पी. पाण्डेय]	५.००
ग़ज़ाला	[शौकत थानवी]	३.७५
नसीम	[शौकत थानवी]	३.५०
इन्शा अल्लाह		३.००
कुतिया	,,	४.२५
कार्टून	,,	४.२५
चार सौ बीस	,,	३.२५
साँच को आँच	,,	३.७५
दिलफेंक	,,	२.७५
अपने हुए पराये	,,	३.२५
तन के उजले मन के काले	[जमनादास 'अख्तर']	३.२५
कश्मीर की बेटी	,,	२.७५
आँसू	,,	३.२५
आग	,,	२.५०
बुर्दा फ़रोश	,,	२.२५
पायल	,,	४.५०
दर्द	[रईस अहमद जाफ़री]	३.७५
कावेरी के किनारे	[उमाशंकर]	४.७५
यह बस्ती यह लोग	[हरिदत्त शर्मा]	३.५०
राख की परतें	[कमल शुक्ल]	३.२५
धरती की बेटी	,,	३.५०
प्रेम पुजारिन	[सुदर्शन]	२.२५
कौन किसी का ?	[रवीन्द्रनाथ टैगोर]	२.२५
नीरजा	,,	२.२५
समाज का अत्याचार	[शरत्चन्द्र चटर्जी]	२.७५
पंछी, पिंजरा और उड़ान	[शरण]	३.५०
डाल का पंछी	,,	४.७५
३० लाख के हीरे	[तीर्थराम फ़िरोजपुरी]	२.५०

इस माह के प्रकाशन

पुस्तक	विषय	लेखक/सम्पादक	मूल्य
१—मैं अकेली	[उपन्यास]	गुलशन नन्दा	२.५०
२—राही मञ्जिल और रास्ता	[उपन्यास]	आदिल रशीद	२.५०
३—दो तिल दो आँखें	[उपन्यास]	कृष्णगोपाल 'आबिद'	२.५०
४—एक दिल सौ तूफान	[उपन्यास]	मुज़तर हाशमी	४.००
५—बच्चे कब क्या सीखते हैं	[मनोविज्ञान]	अ० अ० 'अनन्त'	३.७५
६—बच्चों के खेल	[स्वास्थ्य]	गोस्वामी राम बालक	२.५०
७—मानसिक सफलता	[जीवनोपयोगी]	दयानन्द	२.५०
८—१००१ शेर	[उर्दू काव्य]	नूर नबी अब्बासी	२.५०
९—श्रेष्ठ कवयित्रियों की प्रतिनिधि रचनाएँ	[हिन्दी-काव्य]	स्नेही	२.५०

देश के सभी पुस्तक विक्रेता तथा न्यूज पेपर एजेन्ट्स को हम अपनी स्थाई वितरक योजना के लिए सादर आमंत्रित करते हैं कि वह हमारी योजना के सदस्य बनकर लाभ उठायें। योजना के विवरण के लिये पत्र व्यवहार करें।

एन० डी० सहगल एण्ड संस

दरीबा कलां, दिल्ली।

'साहित्य-सन्देश' आगरा की विगत १२ वर्षों की फाइलों का विवरण

सन्	पाठ्य सामग्री की पृष्ठ संख्या	लेखों की संख्या	विशेषाङ्क जो सम्मिलित हैं	मूल्य	डाक-व्यय
१९५१-५२	५३२	१०५	आलोचनाङ्क	१)	१)६६
१९५२-५३	५१८	११४	कहानी अङ्क	१)	१)६६
१९५३-५४	५१८	१०९	आधुनिक काव्याङ्क	१)	१)६६
१९५४-५५	४८०	९६			१)६६
१९५५-५६	५०१	१०८	अन्तः प्रान्तीय नाटकाङ्क	१)५०	१)५४
* १९५६-५७	५०१	११८	आधुनिक उपन्यास अङ्क	१)	१)७८
१९५७-५८	५५६	१२८	(१) भाषा विज्ञान विशेषाङ्क	२)	१)८४
			(२) प्रगति विशेषाङ्क	१)	
* १९५८-५९	५५८	१३४	(१) सन्त-साहित्य विशेषाङ्क	१)५०	१)६०
*			(२) ऐतिहासिक उपन्यास अङ्क	२)	
१९५९-६०	५२०	१२४	(१) रीतिकाव्यालोचनाङ्क	२)	१)७४
*			(२) प्रगति अङ्क १९६०	१)	
१९६०-६१	५०८	१०५	(१) शोध विशेषाङ्क	२)	१)६०
*			(२) प्रगति विशेषाङ्क १९६१	१)	
१९६१-६२	५८४	१३४	(१) निबन्ध-विशेषाङ्क	२)	१)६५
			(२) निराला विशेषाङ्क	१)	
* १९६२-६३	५२५	१२४	(१) साहित्य-शास्त्र विशेषांक	१)५०	१)६५
*			(२) रांगेय राघव स्मृति अंक	१)	
*			(३) शिवपूजनसहाय स्मृति अंक	)५०	

मोटी वसली की जिल्द, आवरण पृष्ठ और विषय-सूची के साथ

प्रत्येक फाइल का मूल्य ६) है। पृथक-पृथक मँगाने पर डाक-व्यय २१)३४ न० पै० लगेंगे जैसा प्रत्येक फाइल के सामने लिखा है। पूरा सैट एक साथ मँगाने पर रेल से हम अपने खर्चे पर ७२) में आपके पास भेज देंगे। आर्डर भेजते समय आप अपने रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखें।

पहले पाँच वर्षों की फाइल बहुत कम बची हैं। १९५१ से पूर्व का एक भी अङ्क शेष नहीं है।

* चिन्हित विशेषाङ्क फुटकर प्रतियों में भी मिल सकेंगे—शेष सभी विशेषाङ्क फाइलों में ही मिलेंगे।

'साहित्य-सन्देश'

आलोचना-प्रधान मासिक-पत्र — वार्षिक मूल्य ५)

पता—'साहित्य-सन्देश' कार्यालय, आगरा।

REGD. No. L, 263. December 1963 License No. 16.
Sahitya-Sandesh, Agra. Licensed to post without prepayment.

रामचरनलाल द्वारा साहित्य-प्रेस में मुद्रित तथा साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा से प्रकाशित।

साहित्य-सन्देश

मार्च १९६४

सम्पादक—महेन्द्र एक प्रति ५० पैसे

साहित्य रत्न भंडार
आगरा

विकास का काम

साथ साथ चलता है

रक्षा-प्रयत्नों में भरपूर मदद देने के लिए यह जरूरी है कि प्रत्येक गांव का एक-एक कृषि उपज कार्यक्रम तैयार किया जाए।

नीति सम्बन्धी तालमेल रखने और खेतों में पैदावार बढ़ाने के लिए एक उच्च अधिकार प्राप्त केन्द्रीय कृषि उपज बोर्ड बनाया गया है। वर्तमान संकट को ध्यान में रखते हुए कृषि-उत्पादन बढ़ाने, आयात कम करने और विदेशी मुद्रा को रक्षा सम्बन्धी जरूरतों के लिए बचा कर रखने की हर संभव कोशिश की जा रही है।

कृषि पैदावार बढ़ाने के अभियान में आप मन, वचन और कर्म से पूरा-पूरा सहयोग दीजिए।

योजना को सफल बनाइये

भारत की रक्षा-व्यवस्था को सुदृढ़ कीजिए

स्वत्त्वाधिकारत्व का घोषणा-पत्र, फार्म ४, रूल ८

१—प्रकाशन का स्थान	५, गांधी मार्ग, आगरा
२—प्रकाशन का समय	मासिक (हर महीने की १ तारीख)
३—मुद्रक का नाम	रामचरनलाल
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	११७ सी, महात्मा गांधी मार्ग, आगरा
४—प्रकाशक का नाम	महेन्द्रजी, सञ्चालक साहित्य-रत्न-भंडार, आगरा
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	साहित्य-कुञ्ज, आगरा
५—सम्पादक का नाम	महेन्द्रजी
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	साहित्य-कुञ्ज, आगरा
६—पत्र के स्वत्त्वाधिकारी	महेन्द्रजी

मैं यह घोषित करता हूँ कि ऊपर दिए विवरण, जहाँ तक मेरा विश्वास और जानकारी है, सही हैं।

तिथि १-३-६४ महेन्द्र

साहित्य सन्देश

सम्पादक : महेन्द्र | सहकारी : डॉ० मक्खनलाल शर्मा

भाग २५] आगरा—मार्च १९६४ [अङ्क ९

हमारी विचारधारा

आज का परिवेश और वीर-भाव—

आज विश्व रङ्गमञ्च पर परिवर्तन अत्यन्त तीव्रता से हो जाते हैं तथा उनकी अप्रत्याशित स्थिति स्पष्ट होते होते बदल जाती है। संसार के समक्ष जितनी भयङ्कर और विस्फोटक समस्याएँ आज उपस्थित हुई हैं उतनी आज से पूर्व कभी भी नहीं थीं। यह कहा जा सकता है कि विज्ञान की चरम विकसित स्थिति ने मानव के हृदयस्थ भावों की भूमिका तथा दिशा को बदला है। प्राचीन काल में तथा कुछ समय पूर्व तक सामान्यतः विरोधी वीर एक दूसरे के समक्ष रहकर अपनी वीरता एवं शक्ति का चमत्कार दिखाते थे। आज के युद्ध में सङ्घर्ष का यह प्रत्यक्ष रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। एक बन्द कमरे में बैठा हुआ वैज्ञानिक गणित के द्वारा हिसाब लगाकर आणविक अस्त्रों को छोड़ सकता है। वीरता की अपेक्षा बुद्धि-कौशल और एकाग्रता की अपेक्षा उससे की जाती है। फलस्वरूप युद्ध वीरता-प्रदर्शन का स्थान न रहकर विज्ञान के चमत्कारों का क्रीड़ा-स्थल बन गया है। आज युद्ध सेना द्वारा सेना के विरुद्ध नहीं लड़ा जाता, वरन् देश और एक समाज के विरुद्ध दूसरे देश और सम्पूर्ण समाज द्वारा लड़ा जाता है। उसमें केवल सेना के सिपाही ही नहीं मारे जाते वरन् निरीह और शान्त नागरिकों का भयङ्कर संहार दृश्य दृष्टिगोचर होता है। आज हिंसा जितना सूक्ष्म रूप धारण करती जा रही है वीरता के लिए भी उतनी ही बड़ी चुनौती देती है और वीर का कर्म भी उतना ही सूक्ष्म तथा गहन बनता जा रहा है। वीर का स्थायीभाव उत्साह है। जो सैनिक एकान्त केबिन में बैठकर गणित का हिसाब लगा रहा है उसका युद्ध कर्म की सूक्ष्मता के कारण उत्साह युक्त नहीं दिखाई दे पाता और उत्साह के अभाव में उसे वीरता कैसे माना जायगा? दूसरी ओर वह व्यक्ति जो युद्ध में संलग्न तो नहीं है किन्तु आज के भीषण संहार की प्रक्रिया को अकल्याणकारी मानकर आगे आता है, सङ्घर्ष की ओर अग्रसर होने वाले शक्तिशाली व्यक्तियों, व्यक्ति-समूहों तथा समाजों को रोकने का प्रयास करता है। इस प्रयास में निरन्तर अपमानित और असफल होता है, किन्तु अपने प्रयास को चित्त में किञ्चित भी अन्यथा भाव लाये बिना निरन्तर बनाए रखता है—वह उत्साहपूर्वक संलग्न रहने से उत्साही और वीर कहा जायगा। उत्साह हृदयगत भाव है, बुद्धि व्यापार मात्र नहीं है, अतः आज की स्थिति में काव्य क्षेत्र का वीर कौन होगा? यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्व का है।

वीर-रस का आश्रय पूर्वकाल में कोई क्षत्रिय, राजा, सेनापति आदि हुआ करता था एवं वह युद्ध, दान, त्याग, तपस्या आदि के द्वारा अपने उत्साह का प्रदर्शन करता था। और वीर कहलाता था इसीलिए युद्ध

वीर, दानवीर आदि के भेद किये गए हैं। आज की स्थिति में जब कि देश स्वतन्त्र है वीरों के लिए कुछ नवीन मोर्चे खुल गए हैं। पूर्व काल में देश के शासक अंग्रेज के विरुद्ध सङ्घर्ष था। आज देश की चतुर्दिक सीमाओं पर अपनी गिद्ध-दृष्टि लगाए रखने वाले विदेशी विस्तारवादी शासकों से सङ्घर्ष करना है और इस सङ्घर्ष में स्थिति का लाभ उठाकर अपनी थैली भेजने वाले समाज के उन तत्वों से भी लड़ना है जो देश-प्रेम की बात तो करते हैं किन्तु देश पर आए सङ्कट का पूरा-पूरा लाभ उठाना उचित मानते हैं। आज की वीरता उतनी प्रदर्शन और वाह्य सङ्घर्ष की द्योतक नहीं है जितनी कि पूर्वकाल में थी। आज परिस्थिति के बदल जाने से वीरता आत्मसंयम, सहिष्णुता, धैर्य, स्थिति को ठीक से समझ कर अपने को उसी के अनुरूप बदल लेने तथा दूसरों को मारकर अपने मार्ग से हटा देने के स्थान पर—विरोधी के अनुचित मार्ग का अहिंसात्मक प्रतिकार और सतत शिक्षण करने की है। आज का वीर वही कहा जा सकता है जो वैयक्तिक स्तर से ऊपर उठकर सामाजिक विकृति को अपना प्रतिपक्षी मानकर निरन्तर सङ्घर्षरत रहता है। उसका सङ्घर्ष थोड़े-बहुत समय चलकर समाप्त नहीं हो जाता वरन् तब तक निरन्तर चलता रहता है जब तक कि या तो विकृति का निरसन नहीं हो जाता अथवा सङ्घर्ष करने वाला वीर ही वीरगति को प्राप्त नहीं हो जाता। आज की सामाजिक दशा का अध्ययन करके हम समझ सकते हैं कि मनुष्य बुद्धिशील होने के कारण प्रारम्भ काल से लेकर आज तक अधिक संस्कार वान बनता चला आया है। प्रारम्भिक युग में परस्पर सङ्घर्ष तथा असुरक्षा की स्थिति अत्यन्त अधिक थी। मनुष्य धीरे-धीरे सङ्गठित होकर इन बुराइयों का दमन करने का प्रयास करने लगा। समाज में चलने वाली विकृतियों को रोकने के लिए उसने विकृति का सङ्गठन खड़ा किया, जो सेना कहलाया। यह सेना तब से लेकर आज तक समाज की शक्ति तथा उसकी वर्तमान काल तक की चालक शक्ति (Dynamics) बनी हुई है। मार्क्स ने जिन समाज-विकास के चरणों को स्वीकार किया है चाहे वह दास-युग हो, सामन्त-युग या पूँजीवादी युग, सभी में अन्तिम मान्यता सेना की रही है। वे जिस समाजवादी समाज की स्थिति से निर्गत हो रहे हैं, उसका आधार भी वही है। एक प्रकार से कहा जा सकता है कि मार्क्स सेना की शक्ति से ऊपर की किसी शक्ति की बात नहीं सोच सके। आज विज्ञान की शोधों ने सेना और सङ्घर्ष की उपयोगिता खो दी है, और इसका कारण यह है कि प्रत्येक मानव में जो स्वयं जीवित बने रहने की सहज और स्वाभाविक प्रवृत्ति (जिजीविषा) है, वह उसे प्रेरित करती है कि वह ऐसी योजना करे जिससे वह स्वयं सुरक्षित बना रहकर दूसरों को अपना वशवर्ती बनावे। यदि आज कोई भी आणविक अस्त्रों से सज्जित देश दूसरे को अपने अधिकार में लाना चाहकर आणविक युद्ध में संलग्न होता है तो उसकी स्वयं की भी रक्षा नहीं हो सकेगी—ऐसी स्थिति निश्चित हो चुकी है। अतः आज युद्ध के द्वारा समस्या का हल दिखाई नहीं देता है। आज का वीर इस चुनौती को स्वीकार करता है क्योंकि जब समस्या है तो उसका निराकरण होना ही चाहिए। समस्या जितनी भयङ्कर और महान है उसके निराकरण के लिए उतने ही अधिक साहसी और बड़े वीर की आवश्यकता है।

कुछ विचारकों ने एक मार्ग जो परम्परा प्राप्त ही है, आगे आकर साहस के साथ प्रस्तुत किया है। ये वीर कहते हैं कि समाज का शासन जिस सङ्गठित विकृति के द्वारा अब तक हुआ है, आज वह इतनी भयावह बन गई है कि जिसकी रक्षा के लिए उठी थी, उसीको खाने लगी है, अतः समाज उसका आधार त्यागकर संस्कृति को अपनावे तभी समस्या सुलझ सकती है। संस्कृति वाली शक्ति अहिंसा की है। अहिंसा के मार्ग को अपनाकर चलने वाले वीर को अधिक त्यागी, प्रेमी, कष्टसहिष्णु, धैर्यशील, सत्यनिष्ठ होना होगा। बन्दूक उठाने वाले का काम जितने साहस से चल जाता था, बन्दूक छोड़ने वाले सैनिक का काम उतने ही साहस से कभी नहीं चल पाएगा। हिंसा को आधार बनाकर चलने वाला वीर सङ्घर्षरत रह कर मृत्यु का वरण

करके इतना पर्याप्त था किन्तु अहिंसक सैनिक से विशेष अभीप्सा है। वह सदैव मरने की तैयारी रखे, किन्तु, भयहीन रहे; चाहे सामने वाला उसे अपना शत्रु कहे, किन्तु, वह उसे निरन्तर प्रेम करता चले। इस मार्ग में प्रथम की अपेक्षा अधिक वीरता की आवश्यकता है यह सिद्ध हो जाता है।

अब थोड़ा आज के आलम्बन के स्वरूप पर विचार करें, क्योंकि आलम्बन के स्वरूप के अनुरूप ही आश्रय की चेष्टा होती है, आज के भारतीय समाज में कुछ मान्यताएँ ऐसी चल रही हैं जो कालक्रमानुसार तो पिछड़ चुकी हैं जैसे व्यक्तिगत सम्पत्ति के क्षेत्र का प्रश्न। आज की परिस्थिति को देखते हुए प्रत्येक प्रगतिशील विचारक यह मानता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और सत्ता का युग समाप्त हो गया है और सामूहिक सत्ता और सम्पत्ति का युग आ गया है। काल का यह प्रवाह अभी जनजीवन में मान्य नहीं हुआ है अतः जो वीर इस समस्या का निराकरण करने की प्रतिज्ञा करके उठेगा, वह सीधे-सीधे सङ्घर्ष नहीं कर सकेगा। उसे अभी इस मान्यता को जनस्वीकृति प्राप्त करानी होगी। जब जन-जीवन में इस विचार को मान्यता प्राप्त हो जायगी तो इसके लिए वह तीव्र सङ्घर्ष (सत्याग्रह) कर सकेगा। हिंसा के आधार पर टिकी हुई यह व्यक्तिगत सम्पत्ति की मान्यता अधिकाधिक सूक्ष्म रूप धारण करती जारही है—साथ ही हिंसा का रूप भी सूक्ष्मता में प्रवेश कर रहा है तब यह अनिवार्य हो जाता है कि अहिंसा भी सूक्ष्मता और सूक्ष्मतम रूपों की ओर अग्रसर हो। आज अमेरिका में नीग्रो अपने अधिकारों के लिए अहिंसात्मक सङ्घर्ष कर रहे हैं। किङ्ग मार्टिन लूथर के नेतृत्व में उनका सत्याग्रह सौम्यतर बना है और यह सौम्यतम की ओर अग्रसर होगा—ऐसी आशा है। आज के सच्चे वीर की कसौटी अपने कर्म का वह प्रभाव नहीं है जो स्वयं उस पर फल पर, या दृष्टा पर पड़ता है; वरन् उसके सत्याग्रह का प्रभाव तभी सौम्यतर माना जायगा जबकि वह अपने प्रतिपक्षी के मन में सत्याग्रही के प्रति प्रेम और सहानुभूति उत्पन्न कर सकेगा। आज का सत्याग्रही वीर यदि अपने कर्म द्वारा इस फल को उपलब्ध न करा सका तो उसका कर्म वीरता की कोटि में नहीं आएगा, फलतः उसे वीर नहीं माना जायगा। आज परिस्थिति के बदल जाने से लोकशिक्षण तथा सत्य का आग्रह करने वाला वीर ही सच्चा लोकनायक कहा जाना चाहिए तथा उसकी गौरवगाथा आज के काव्य का विषय है।

वर्तमान स्थिति में आज अनेक प्रकार की सामाजिक कुरीतियाँ चल रही हैं, जिन्हें दूर करने का प्रयास अनेक प्रकार से किया गया है किन्तु असफलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्राप्त हो सका है। उन बुराइयों के दूर करने के अनेक विध प्रयास तथा उस दिशा में स्थापित आदर्शों का वर्णन भारतीय साहित्यकार का प्रमुख उपजीव्य होना चाहिए। इस दिशा में जितना कार्य अनेक आन्दोलनों द्वारा नहीं हो सकता, उससे भी अधिक साहित्य द्वारा होना सम्भव है। इस दिशा में अग्रसर होने वाले सामान्य भारतीयों के चरित्र की उन विशेषताओं को सामने आना चाहिए, जिन्हें सामान्यतः सामने लाने के छुटपुट प्रयास ही हो सके हैं। आज हम लोक तान्त्रिक युग में प्रवेश कर चुके हैं। लोकतन्त्र केवल राजनीतिक उपलब्धि मात्र नहीं है वरन् हमारे समग्र जीवन को एक विशेष दिशा देने वाली दृष्टि है, जिसमें देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप विकास होता रहेगा। लोकतान्त्रिक समाज व्यवस्था में सभी नागरिकों को समान रूप से यह सुविधा हो कि वे अपने विकास के समान अवसर उपलब्ध कर सकें। दूसरी ओर व्यक्ति चेतना तथा समाज चेतना में सामञ्जस्य स्थापित किया जाय अर्थात् व्यक्तिगत एवं समाजगत विकास की दिशायें इस प्रकार सुनियोजित होनी चाहिए कि इनसे उत्पन्न स्थिति में सङ्घर्ष न हो सके। लोकतन्त्र के नाम पर विश्व में एक ओर व्यक्तिवाद समाज की छाती पर चढ़ा हुआ है तो दूसरी ओर समाज के नाम पर चन्द व्यक्ति सम्पूर्ण समाज के व्यक्तियों को मानसिक गुलामी का जीवन भोगने को बाध्य किए हुए हैं। व्यक्तिवाद में स्वतन्त्रता का ढोल तो पीटा जाता है किन्तु नीचे वालों को उसके भोग की फुरसत नहीं है, समाजवाद

में सामान्य जन की दैनिक आवश्यकता जहाँ कहीं पूरी होने लगी हैं, वहाँ उन्हें विचार, कथन एवं प्रचार आदि की स्वाधीनता नहीं है, अतः आज का वीर इन दोनों अतिवादी दृष्टियों के विरुद्ध सङ्घर्ष करता है। आज के वीर का दृष्टिकोण केवल विघटनवादी तथा निषेधात्मक नहीं है, वरन् वह समाज रचना का एक सृजनात्मक आदर्श सामने रखकर चलता है। इस प्रकार खण्डन और सृजन की प्रक्रिया एक साथ चलाकर ही वह सच्चा उत्साह प्रकट कर सकता है।

उत्साह जो वीर का स्थायी भाव है, कष्ट सहन की क्षमता तथा निरन्तर आनन्द की स्थिति के अन्तर्भावों पर आधारित है। साक्षात युद्ध की अपेक्षा सामाजिक असमानता तथा शोषण आदि के विरुद्ध अहिंसात्मक संघर्ष में इन दोनों विशेषताओं के लिए अधिक शक्यता तथा विस्तृत क्षेत्र है। प्रथम में संघर्षमय स्थिति अल्पकालीन होती है या हो सकती है, किन्तु द्वितीय में अनिवार्यतः यह काल अधिक होता है। प्रथम के द्वारा क्रिया शील होने पर उद्देश्य की उपलब्धि नहीं हो सकती, जबकि द्वितीय के द्वारा प्रारम्भ से ही अंशतः होने लगती है। संहारकारी युद्ध कभी भी स्थायी शान्ति नहीं ला पाया है और न ला सकेगा, क्योंकि शान्ति और सुव्यवस्था लाने की यह युक्ति साधन साध्य के विपरीत है। आज यह सिद्ध हो चुका है कि जो साधन साध्य के अनुकूल नहीं होगा, उससे साध्य की उपलब्धि नहीं हो सकेगी। दूसरी ओर अहिंसात्मक सङ्घर्ष का साधन साध्य के अनुकूल है, अर्थात् यह कह सकते हैं कि इस मार्ग पर चलकर उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है। वीरता से प्राप्त होने वाला फल केवल कर्म की समाप्ति पर ही उपलब्ध होता हो ऐसा कहना उपयुक्त नहीं होगा। वीर जैसे जैसे कर्म में अधिकाधिक प्रवृत्त होता जाता है वैसे ही वैसे उसका प्रयास के अनुरूप फल का स्वरूप निश्चित होता चलता है। इस कर्म से उसे आनन्द भी साथ ही साथ मिलता रहता है, इस प्रकार सिद्ध है कि वीरता का सच्चा कर्म अहिंसात्मक संघर्ष ही है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक देश तथा समाज में शोषण और असमानता के अवसर उपलब्ध हैं, जिनकी ओर आज के वीरों का ध्यान निरन्तर केन्द्रित होता जा रहा है—यह अच्छा लक्षण है, किन्तु साथ ही एक खतरा भी है कि पिछले चालीस पचास वर्ष में सशस्त्र सङ्घर्ष द्वारा समस्याओं के निरसन की जो प्रवृत्ति अधिकाधिक बलवती बनी है, उसने समस्या को सुलझाने के प्रयास में उसे अधिकाधिक उलझाया है। अफ्रीका, अमेरिका तथा भारत आदि देशों में समस्या को सुलझाने के जो अहिंसात्मक प्रयास हो रहे हैं, तथा जिनमें आशातीत सफलता मिली है, आज के साहित्यकार का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि तटस्थ बुद्धि से इनका अध्ययन करे तथा इनके सम्बन्ध में उसे जो उचित प्रतीत होता है, उसे रागात्मक माध्यम से व्यक्त करे। साहित्यकार से समर्थन की अनिवार्य अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए और जिस धर्म तथा राजनीति ने ऐसा किया है, उसकी प्रतिक्रिया भयङ्कर रूप में हुई है तथा कला और साहित्य को अपने श्रेष्ठतम स्थान को त्यागकर सामान्य प्रचारात्मक मञ्च पर उतरना पड़ा है। आशा है आज का हिन्दी साहित्यकार इस खतरे को समझता है और अनिवार्यतः वह वीर रस की अभीप्सित कोटि की रचनाओं की ओर अग्रसर होगा।

ससम्मान विदाई—

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त, प्रसिद्ध पत्रकार पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और समाज-सेवक आचार्य काका कालेलकर बारह वर्ष संसद के सदस्य रहकर अभी इस भार से मुक्त हुए हैं। इस अवसर पर आप महानुभावों की विदाई में राजधानी में कई सम्मान समारोह हुए। भारती संगम की ओर से एक समारोह में राष्ट्रकवि को मानपत्र के साथ एक तैलचित्र भी राष्ट्रपति द्वारा प्रदान किया गया। यह सम्मान समारोह इन व्यक्तियों का नहीं, इनके माध्यम से हिन्दी-भारती का सम्मान था और इस नाते से हम सम्मानित व्यक्तियों को ही नहीं, सभी साहित्य-प्रेमियों को बधाई देते हैं।

———

रीति-सम्प्रदाय तथा हिन्दी की रीति-परम्परा

श्री शिवनाथ अरोरा

संस्कृत में काव्य-शास्त्र सम्बन्धी पाँच सम्प्रदाय विकसित हुए। रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति तथा ध्वनि में किसी भी एक गुण को प्रमुखता देने वाला सम्प्रदाय उसी नाम से पुकारा गया। इन पाँचों सम्प्रदायों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से काव्य-समीक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त स्थिर किये। इनमें से रीति-सम्प्रदाय का अपना विशिष्ट स्थान है। इस सम्बन्ध में कुछ कहने से पूर्व 'रीति' शब्द को समझ लेना ठीक होगा।

'सरस्वती कंठाभरण' में भोज ने रीति की परिभाषा देते हुए लिखा है—

"वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इतिस्मृतः,
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते।"

अर्थात्, वैदर्भ आदि (कवियों) की रचना-पद्धति काव्य-मार्ग कही गई है। 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति 'रीङ्' धातु से हुई जिसका अर्थ है 'जाना'। इस प्रकार 'रीति' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है गति या प्रस्थान। रूढ़ि अर्थ में इसका प्रयोग पद्धति या विधि आदि के लिए होने लगा।

'रीति' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वामन ने किया। उनसे पूर्व भामह ने 'रीति' के लिए 'काव्य' शब्द का प्रयोग किया था। फिर दण्डी ने रीति के अर्थ में ही 'मार्ग' शब्द प्रयुक्त किया और वैदर्भ तथा गौड़, दो मार्गों का उल्लेख भी किया। रीति को गुणों से सम्बन्धित कर दण्डी ने काव्य के दसों गुणों को वैदर्भी मार्ग (रीति) का प्राण बताया। उनके सूत्र "इति वैदर्भ मार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः," को दृष्टिगत कर वामन ने 'रीति' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग करते हुए अपने सूत्र "रीतिरात्माकाव्यस्य" में रीति को काव्य की आत्मा बताया और साथ ही रीति की सम्यक् परिभाषा एवं लक्षण-निरूपण करके रीति-सम्प्रदाय की स्थापना की।

गुणों से युक्त विशिष्ट पद-रचना को वामन ने 'रीति' बताया जैसा कि उनके "विशिष्ट पद-रचना रीतिः" एवं 'विशेषो गुणात्मा' से स्पष्ट है। गुणों का अर्थ है काव्य को शोभित करने वाले धर्म। इस प्रकार वामन की परिभाषा के अनुसार काव्य को शोभित करने वाले धर्म (गुणों) से युक्त पद-रचना का नाम 'रीति' है।

वामन के पश्चात् 'रीति' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया। कुन्तक ने रीति को कवि-प्रस्थान-हेतु अर्थात् कवि-कर्म की विधि बताया और भोज ने रीति से 'काव्य-मार्ग' तात्पर्य समझा। आनन्दवर्द्धन ने रीति को 'संघटना' अर्थात् सम्यक् घटना (पद-रचना) बताया। बाद में पं० विश्वनाथ ने भी आनन्दवर्द्धन की परिभाषा के अनुकरण पर अपनी परिभाषा दी—"पद-संघटना रीति रङ्ग संस्था—विशेषवत्—उपकर्त्री रसादीनाम", अर्थात् पदों की संघटना का नाम रीति है। वह अङ्गों के गठन की भाँति है तथा काव्य के रसादि के उत्कर्ष में सहायक है। मम्मट ने रीति को नियत वर्ण-व्यापार बताया। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'रीति' की परिभाषा आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार विभिन्न प्रकार से की। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा बताकर काव्य में उसको सर्वोपरि महत्त्व दिया, किन्तु आगे चलकर आनन्दवर्धन आदि द्वारा ध्वनि, विशेषतः रस-ध्वनि, को काव्य की आत्मा बताये जाने पर रीति का महत्व घट गया और वह रसादि की उपकर्त्री ही रह गई। उसको काव्य की आत्मा मानने के स्थान पर काव्य का बाह्य उपकरण ही माना गया। फिर भी 'रीति' की परिभाषा में कोई मौलिक अन्तर नहीं आया। "यद्यपि रीति के महत्व में आकाश-पाताल का अन्तर हो गया—वह आत्म-पद से भ्रष्ट होकर अङ्ग-संस्थान मात्र रह गई,

तथापि उसकी परिभाषा में कोई मौलिक अन्तर नहीं हुआ। वामन की 'विशिष्ट पद-रचना' ही रीति की सर्वमान्य परिभाषा रही—यह विशिष्टता भी प्रायः शब्द और अर्थ के चमत्कार पर आश्रित मानी गई, और और वामन के निर्देशानुसार गुणों के साथ भी रीति का नित्य सम्बन्ध रहा। अन्तर केवल इतना हुआ कि वामन ने जहाँ शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्मों के रूप में गुणों को और उनसे अभिन्न रीति को अपने आपमें सिद्धि माना, वहाँ आनन्दवर्धन तथा परवर्ती आचार्यों ने आश्रय से रीति को भी रसाभिव्यक्ति के माध्यम रूप में ही स्वीकार किया।"[1]

रीति-परम्परा काफी लम्बे समय तक चलते रहने पर भी लोकप्रियता प्राप्त न कर सकी। संस्कृत के अप्रचलित होते चले जाने के साथ ही रीति-परम्परा का भी लोप हो गया। हिन्दी में उसको कोई महत्व नहीं दिया गया। हिन्दी के किसी भी आचार्य ने रीति को काव्य की आत्मा नहीं माना। रीतिकाल में भी रीतिवाद को सिद्धान्त रूप में स्वीकार नहीं किया यद्यपि व्यावहारिक रूप में उसके विभिन्न तत्वों, गुणों आदि का समावेश एवं निरूपण कर उनके प्रति अपने निश्चित मत की अभिव्यक्ति कवि एवं आचार्यों ने की।

संस्कृत की रीति-परम्परा १७ वीं शताब्दी के अन्त तक अथवा १८ वीं शताब्दी के प्रथम चरण तक चलती रही। हिन्दी के रीतिकाल का आरम्भ १७ वीं सदी के मध्य से हुआ। इस प्रकार संस्कृत की रीति-परम्परा हिन्दी को उत्तराधिकार रूप में मिली यद्यपि 'रीति' का प्रयोग हिन्दी में उस विशेष अर्थ में नहीं किया गया जिसमें उसका प्रयोग संस्कृत में हुआ। संस्कृत में रीति काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों में एक था जबकि हिन्दी में उसे काव्यशास्त्र का विवेचन करने वाले लक्षण-ग्रन्थों के अर्थ में प्रयुक्त किया गया। संस्कृत में रीत शब्द एक विशेष रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त हुआ जिसका तात्पर्य 'एक विशिष्ट पद-रचना' समझा गया। संस्कृत में रीति-सम्प्रदाय ने रचना अथवा काव्य के बाह्याकार को प्रमुखता देकर उसका प्रतिपादन करने वाली 'रीति' को काव्य की आत्मा माना जबकि हिन्दी में 'रीति' शब्द से ऐसा कोई अर्थ नहीं निकलता। हिन्दी में रीति का अर्थ काव्य-रचना-पद्धति एवं उस पद्धति का विवेचन करने वाले शास्त्र के रूप में किया गया। इस प्रकार काव्य-रचना-पद्धति पर प्रकाश डालने वाले तथा काव्य के विभिन्न अङ्ग-उपाङ्गों आदि का लक्षणों सहित विवेचन करने वाले ग्रन्थों को लक्षण-ग्रन्थ या रीति-ग्रन्थ कहा गया। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि काव्य-रचना-पद्धति अथवा उसके नियमों के विधान को रीति तथा उन नियमों का विवेचन करने वाले ग्रन्थों को 'रीति-ग्रन्थ' नाम दिया गया। साथ ही इन रीतिग्रन्थों में निर्दिष्ट नियमों के अनुसार रचे गये काव्य को रीतिकाव्य की संज्ञा से अभिहित किया गया। इस प्रकार रीति-काव्य वह काव्य है जिसकी रचना आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य-रचना सम्बन्धी नियमों के आधार पर तथा उसका पालन करते हुए की गई हो। रीति-ग्रन्थों के प्रणयन एवं उनकी परम्परा का उल्लेख करने से पहले हमें उनकी रचना के कारणों को पृष्ठभूमि-रूप में समझना होगा। अतः हम संक्षेप में रीतिकाल की साहित्यिक पृष्ठभूमि का उल्लेख करेंगे।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल को हम हिन्दी काव्य की पूर्ण प्रौढ़ता का युग कह सकते हैं। इस काल के अन्त तक हिन्दी काव्य विकसित होकर प्रौढ़ता प्राप्त कर चुका था। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी जैसे निर्गुण-सगुण उपासकों ने हिंन्दी काव्य को पूर्णता प्रदान करके उसे विश्व के किसी भी काव्य के समक्ष रखे जाने योग्य बना दिया था। गुण और परिमाण, दोनों ही दृष्टि से वह भक्तिकाल के अन्त तक समृद्धि के उच्च शिखर पर पहुँच चुका था। इतनी अधिक और इतनी सुन्दर काव्य-रचना हो चुकने के पश्चात् यह स्वाभाविक ही था कि काव्य का शास्त्रीय मानदण्ड निश्चित करके उसके आदर्श का निरुपण किया जाता। प्रत्येक साहित्य के इतिहास में यही स्वाभाविक क्रम रहा है कि पहले साहित्य-सृजन होता है, फिर उस साहित्य के विवेचन के पश्चात् उसके गुणों

[1] डॉ० नगेन्द्र—भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका (भाग दो) पृष्ठ ४०।

के आधार पर उच्च तथा सत्साहित्य के सामान्य लक्षण एवं सिद्धान्त स्थिर किये जाते हैं जिनकी कसौटी पर आगे रचे जाने वाले साहित्य की परख और उसका मूल्यांकन किया जा सके और साथ ही नये सृजेताओं का मार्ग-प्रदर्शन भी किया जा सके। सत्साहित्य के ये सामान्य लक्षण एवं उनके आधार पर निश्चित किये गये ये नियम तथा सिद्धान्त साहित्य के विकास के साथ-साथ परिवर्तित तथा विकसित होते रहते हैं किन्तु उनकी मूल प्रवृत्ति साहित्य-सृजन हेतु उचित मार्ग-निदेश-अपरिवर्तित ही रहती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी ऐसा होना स्वाभाविक ही था। भक्ति-युग में प्रचुर परिमाण में उच्चकोटि का साहित्य-सृजन हो जाने के पश्चात् उनके आधार पर साहित्य के लक्षण एवं सिद्धान्त स्थिर करने की ओर कवियों का ध्यान गया, इसीलिये वे लक्षण अथवा रीति-ग्रन्थों के प्रणयन की यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि इनकी रचना के विना कवि-कर्म अधूरा समझा जाने लगा और इसके फलस्वरूप अनधिकारी तथा अयोग्य व्यक्ति भी अपने आचार्यत्व के प्रदर्शन हेतु रीति-ग्रन्थों के प्रणयन के लिये वाध्य हुये।

भक्तिकाल का साहित्य "अलङ्कारों के अनपेक्षी, शब्द जालशून्य, सत्य की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है, उसमें बनाव-श्रृङ्गार करने की चेष्टा नहीं की गई है, जो कुछ है वह आन्तरिक है।"[1] कबीर की सीधी-सादी वाणी तथा सूर-तुलसी के बाह्याडम्बर शून्य काव्य ने हिन्दी साहित्य को इतना समृद्ध बना दिया था कि उन के पश्चात् लोगों का ध्यान आने वाले कवियों की सुविधार्थ भाषा तथा भावों का व्यवस्थित रूप स्थिर करने, काव्य को अलंकृत करने एवं संस्कृत की काव्य-रीति के अनुकरण पर हिन्दी में भी काव्य-रीति स्थापित करके उसके निर्वाह करने की ओर गया। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भक्त-कवियों में काव्यशास्त्रीय नियमों, काव्य-रीतियों अथवा अलङ्कार आदि के ज्ञान का अभाव था। हम देखते हैं कि अनेक कवि पूर्ण रूप से काव्य शास्त्रीय नियमों एवं रीतियों के ज्ञाता थे। उनमें और रीतिकालीन आचार्य-कवियों में इतना ही अन्तर है कि जहाँ एक ओर रीतियुगीन कवियों ने काव्य-कला के नियमों के पालन को मुख्य-स्थान देकर अपने अन्तः करण की उदात्त भावनाओं की अभिव्यक्ति को गौण स्थान दिया, वहाँ दूसरी ओर भक्तियुगीन कवियों ने अपनी भक्ति-भावनापूर्ण अन्तःवृत्तियों के समक्ष काव्यशास्त्रीय नियमों एवं काव्य-रीतियों के निर्वाह तथा अलङ्कारों के प्रयोग को विशेष महत्त्व न देकर इनको काव्य-रचना का साधन ही माना, साध्य नहीं। इसके अतिरिक्त रीतिकाल के कवियों द्वारा कविकर्म के सम्यक् सम्पादन के लिए रीति अथवा लक्षण-ग्रन्थों का सृजन अनिवार्य समझा जाने लगा, भक्ति युग में यह प्रवृत्ति न थी। रीति युग में इस प्रवृत्ति का एक दुष्परिणाम यह हुआ कि जीवन की विविध अनुभूतियों एवं भावनाओं को दर्शाने वाले काव्य की रचना होने लगी। फलस्वरूप कवियों को अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं की अभिव्यक्ति तथा उस अभिव्यक्ति से जा सकने वाली विविधता, मौलिकता तथा अनेकरूपता से रीतियुग का काव्य वंचित रह गया। फिर भी एक तथ्य ने इस काव्य को प्राणवान बनाने में सहायता दी—वह यह कि रीतियुगीन आचार्य भावुक तथा सहृदय कवि थे। अतः रीति-ग्रंथों के प्रणयन में भी लक्षणों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने जो कविता की वह सरस एवं मर्मस्पर्शी है। रसों एवं अलङ्कारों के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये। प्रेम और सौन्दर्य की नूतन तथा हृदयग्राही व्यञ्जना इन कवियों ने की। इस युग में ऐसे भी कवि हुए जिन्होंने रीति की परवाह न करते हुए स्वतंत्र रूप से काव्य-रचना करके प्रेम और सौन्दर्य के सूक्ष्म एवं मनोहारी रूप को अपने काव्य में प्रकट किया।

रीतिकालीन कविता के सम्बन्ध में एक और बात उल्लेखनीय है। वह यह कि रीति-कविता का पालन-पोषण राजाओं और रईसों की छत्रछाया में हुआ। इन राजाओं और रईसों के पास वैभव की कमी न थी। आत्म गौरव और जातीय गौरव से शून्य उनके जीवन में चिन्ता का कोई स्थान न था। अतः भोग-

[1] डॉ. श्यामसुन्दरदास (हिन्दी साहित्य, पृष्ठ २३६)

विलास का उनके जीवन में एक प्रमुख स्थान बन जाना स्वाभाविक ही था। अपने मनोरञ्जन के सभी उपकरण—कनक, कामिनी और कविता—उन्होंने जुटा रखे थे जिनका मुक्त उपभोग वे सुरा की खुमारी में करते थे। इन्हीं राजाओं के आश्रय में रहकर रोटी पानी की चिन्ता से मुक्त हो काव्य-रचना करने के लिये अनेक कवि उनके दरबार में रहा करते थे। काव्य-कला के प्रदर्शन से ही उनकी आजीविका चलती थी, अतएव वे उस कला को अधिक से अधिक मनोरंजक एवं परिष्कृत बनाने का प्रयास निरन्तर करते रहते थे। कविता उनके लिये किसी प्रचार या सुधार आदि का साधन न होकर स्वयं में एक साध्य थी। इसीलिये उसके युग के काव्य में अन्तःकरण का स्वर भावनात्मक न होकर बाह्याडम्बर एवं चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति से युक्त है। जैसा कि डा० नगेन्द्र ने कहा है, "रीति-काव्य में आत्मा की काँपती हुई आवाज आपको नहीं मिलेगी। वह अपने प्रतिनिधि रूप में वैयक्तिक गीत कविता नहीं है। वह कलात्मक कविता है—स्वभावतः उसमें वस्तुतत्व (Objectivity) असंदिग्ध है। इसलिये उसकी मूल प्रेरणा सीधी आत्माभिव्यंजना की प्रवृत्ति में न खोजकर आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति में खोजनी चाहिए। हिन्दी साहित्य के प्राचीन इतिहास में यही युग ऐसा था जब कला को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया गया था। अपने शुद्ध रूप में रीति कविता न तो राजाओं और सैनिकों को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी, न सामाजिक अथवा राजनीतिक सुधार की परिचारिका ही। काव्य-कला का अपना स्वतन्त्र महत्व था—उसकी साधना उसी के अपने निमित्त की जाती थी—वह आपना साध्य आप थी।"[१]

इस प्रकार रीतिकाल में रीति-ग्रन्थों के प्रणयन का श्रीगणेश हुआ और रीतिग्रन्थों की इस परम्परा में अनेक आचार्य-कवियों ने ग्रन्थ-रचना करके अन्य कवियों का मार्ग-निर्देशन किया। एक बात यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह यह कि जहाँ संस्कृत-रीतिग्रन्थों के रचयिता कवि न होकर आचार्य ही थे वहाँ हिन्दी में लगभग सभी रीति ग्रन्थकार आचार्य कवि भी थे और उन्होंने अपनी भावुकता एवं सरसता के कारण विविध काव्याङ्गों के सुन्दर लक्षण (उदाहरण) प्रस्तुत किये।

वैसे तो हिन्दी में काव्य-रीति का सम्यक् विवेचन सर्वप्रथम केशव ने किया किन्तु हम उनसे रीति-ग्रन्थों की परम्परा का आरम्भ नहीं मान सकते क्योंकि उनके पश्चात् पर्याप्त समय तक रीति ग्रन्थों की रचना नहीं की गई। रीतिग्रन्थों की रचना की अखण्ड परम्परा केशव से लगभग ५० वर्ष बाद प्रारम्भ हुई जब कि चिन्तामणि त्रिपाठी ने अपने तीन रीति-ग्रन्थ सं० १७०० के लगभग लिखे। केशव ने भामह और उद्भट के समय की काव्यशास्त्रीय मान्यताओं को अपने ग्रन्थों में स्थान दिया। भामह और उद्भट के समय में रस, रीति, अलङ्कार, इन सभी के लिए 'अलङ्कार' शब्द का ही प्रयोग होता था। केशव की 'कविप्रया' में भी अलङ्कार और अलङ्कार्य (वर्ण्य-विषय) में भेद नहीं किया गया। केशव अलङ्कार-प्रेमी चमत्कारवादी कवि थे, अतः रस, ध्वनि आदि की अपेक्षा अलङ्कार को अधिक महत्व देकर उन्होंने काव्य में आत्मा की अपेक्षा उसके बाह्य उपकरणों को ही प्रधानता दी। उनके पश्चात् काव्यशास्त्रीय विवेचन करने वाले रीति-ग्रन्थों की परम्परा कुछ काल के लिए अवरुद्ध हो गई।

लगभग ५० वर्ष बाद चिन्तामणि त्रिपाठी ने 'काव्य-विवेक', 'कविकुल-कल्पतरु' तथा 'काव्य-प्रकाश' ग्रन्थ लिख कर रीति-ग्रन्थों की परम्परा को फिर से प्रारम्भ किया। इसके पश्चात् तो यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रही। इसीलिए चिन्तामणि त्रिपाठी के इन ग्रन्थों के रचना-काल सं० १७०० से ही रीतिकाल का आरम्भ माना गया है। इसके उपरान्त तो रीति अथवा लक्षण-ग्रन्थों की ऐसी परम्परा चली कि प्रत्येक कवि के लिए रीति-ग्रन्थ की रचना करना अनिवार्य माना जाने लगा। संस्कृत के विभिन्न काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों का विकसित रूप एवं उनके अन्तर्गत विभिन्न सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन का उदाहरण रीतिकालीन

[१] 'रीतिकाव्य की भूमिका', पृष्ठ १४७।

कवियों के सम्मुख था ही। अतः उन्होंने अपनी-अपनी रुचि के सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की विशेषताएँ ग्रहण करके उन सिद्धान्तों का निरूपण किञ्चित हेर-फेर के साथ किया। हिन्दी रीति-साहित्य की पृष्ठभूमि में केवल तीन ही सम्प्रदाय रह गये थे—रस, अलङ्कार और ध्वनि। रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदायों का लोप हो चुका था। अतः इन्हीं तीन लोकप्रिय सिद्धान्तों के आधार पर अपने मत स्थिर करके रीतिकालीन कवियों ने अपने-अपने सिद्धान्तों एवं नियमों का प्रतिपादन अपने ग्रन्थों में किया। केशव के उपरान्त रचे गये इन ग्रन्थों के प्रणेताओं ने भामह, उद्भट आदि के परवर्ती आचार्यों के उस मार्ग का अनुसरण किया जिसमें अलङ्कार तथा अलङ्कार्य का भेद स्पष्ट हो चुका था। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों के इतिहास की पुनरावृत्ति हिन्दी में भी हो गई। आगे हम संक्षेप में रीतिकालीन कवियों पर संस्कृत के विभिन्न काव्यशास्त्रीय प्रभावों का उल्लेख करेंगे।

हिन्दी में रीति-ग्रन्थों की परम्परा प्रचलित होने तक संस्कृत में समीक्षा सम्बन्धी पाँचों सम्प्रदायों की स्थापना एवं विकास हो चुका था। जैसा पहले कहा जा चुका है, इन पाँच सम्प्रदायों में दो—रीति और वक्रोक्ति—तो लुप्त हो चले थे। शेष तीन सम्प्रदायों—रस, ध्वनि तथा अलङ्कार—का प्रचलन था। रस और ध्वनि को आचार्य मम्मट आदि ने एक में ही मिला दिया था और उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं किया था। किन्तु ध्वनि में बौद्धिक तत्व तथा रस में ऐन्द्रिय तत्व की प्रधानता होने के कारण दोनों में भेद को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। इसी आधार पर पं० विश्वनाथ ने ध्वनि को पर्याप्त महत्व देते हुए भी रस को काव्य की आत्मा बताया। उनके अनुसार रस के बिना काव्यत्व नहीं हो सकता। उन्होंने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' कहकर रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा। इस प्रकार रस-सम्प्रदाय ही सर्वाधिक प्रचलित सम्प्रदाय रहा।

काव्य-शास्त्र सम्बन्धी संस्कृत ग्रन्थों में रस, ध्वनि, अलङ्कार आदि का इतना विशद एवं व्यापक विवेचन हो चुका था कि अब उसमें नये तत्वों के उद्घाटन अथवा किसी प्रकार के संशोधन आदि की अधिक गुञ्जाइश न थी। इसीलिए हिन्दी के रीति-ग्रंथकारों ने अपनी कोई मौलिक उद्भावना न करके अपनी-अपनी रुचि के सम्प्रदाय का मार्ग अपनाकर उसके सिद्धान्तों का विवेचन एवं निरूपण अपने लक्षण-ग्रन्थों में किया। अब प्रश्न यह उठता है कि कवि-आचार्यों का इन रीति-ग्रन्थों की रचना में उद्देश्य क्या था। इस प्रश्न के दो उत्तर हो सकते हैं। या तो वे हिन्दी-साहित्य से सम्बन्धित काव्य-शास्त्र का निर्माण करना चाहते थे अथवा वे संस्कृत काव्य-शास्त्र का निर्माण करना चाहते थे अथवा वे संस्कृत काव्य-शास्त्र का उलथा हिन्दी में प्रस्तुत करना चाहते थे। पर हम देखते हैं कि रीतिकालीस इन आचार्यों ने लक्ष्य-ग्रन्थों के आधार पर स्वतन्त्र लक्षण-ग्रन्थ लिखकर अपने नये सिद्धान्तों की स्थापना नहीं की। वे तो अपनी रुचि के सम्प्रदाय सम्बन्धी पुराने आचार्यों के सिद्धान्तों का समर्थन अपनी ओर से कुछ घटा-बढ़ाकर, करते रहे। अपने प्रतिपाद्य सिद्धान्तों को अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों पर आधारित करके ही उन्होंने सन्तोष प्राप्त कर लिया। इस प्रकार हिन्दी में रीति-ग्रन्थों की दो सौ वर्ष लम्बी परम्परा में कोई नवीन सैद्धान्तिक उद्भावना नहीं हुई और न ही काव्य शास्त्र सम्बन्धी अभिनव नियमों या सिद्धान्तों के निर्माण एवं विवेचन का प्रयास हुआ। "इस प्रकार कुल मिलाकर यह निष्कर्ष निकालने में सङ्कोच नहीं होना चाहिए कि हिन्दी के आचार्यों का उद्देश्य हिन्दी-साहित्य सम्बन्धी नवीन काव्यशास्त्र का निर्माण करना नहीं था। निस्सन्देह ये आचार्य संस्कृत काव्यशास्त्र का हिन्दी उलथा ही प्रस्तुत करना चाहते थे। इस प्रवृत्ति का प्रमुख उद्देश्य शृङ्गार-रस परिपूर्ण अथवा स्तुतिपरक कवित्त, सवैये लिखकर अपने आश्रयदाता राजाओं से सुखद आश्रय एवं पुरस्कार प्राप्त करना था और गौण उद्देश्य था उन सुकुमार बुद्धि आश्रयदाताओं, उनके कुमारों एवं पारिषदों को सरल रूप में काव्यशास्त्र सम्बन्धी शिक्षा देना।"[१]

[१] डा० सत्यदेव चौधरी : हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, षष्ठ भाग, पृष्ठ २९१

अधिकांश रीति-ग्रन्थकारों ने रस और ध्वनि सम्प्रदायों का ही अनुसरण किया। आचार्य केशव ही ऐसे थे जिन्होंने अपवाद रूप में अलङ्कार सम्प्रदाय का अनुसरण करके अलकार को काव्य का आवश्यक गुण माना और अपने काव्य में भी अलङ्कारों का ऐसा जाल फैलाया कि वे बाह्याडम्बर मात्र बनकर रह गये। 'कविप्रिया' में उन्होंने कहा भी है—

"जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन, सरस, सुवृत्त,
भूषण बिन न बिराजई, कविता, बनिता मित्त।"

अनेक अलङ्कार-ग्रंथों के प्रणयन से यह सिद्ध है कि हिन्दी में संस्कृत के अलङ्कार-सम्प्रदाय का प्रभाव पर्याप्त रूप में पड़ा, यद्यपि स्पष्ट रूप से किसी ने भी अलङ्कार को काव्य की आत्मा न बताकर केवल आवश्यक उपकरण ही बताया फिर भी रस के सम्बन्ध में कुछ न कहकर अलङ्कार-ग्रन्थों का निर्माण करना इन कवियों के अलङ्कारवादी होने का प्रमाण है। केशव के अतिरिक्त राजा जसवन्तसिंह, उत्तमचन्द भण्डारी तथा ग्वाल कवि भी प्रसिद्ध अलङ्कारवादी रीति कवि हुए हैं।

रीतिकाल में ध्वनि सम्प्रदाय के अनुयायी कवियों में कुलपति, श्रीपति, दास, प्रतापसाहि और बिहारी प्रमुख हैं। उनकी काव्य-पद्धति और रीति-सिद्धान्त दोनों से ही इस बात का प्रमाण मिलता है। बिहारी ने यद्यपि लक्षण-ग्रन्थों की रचना नहीं कि तथापि उनकी काव्य-पद्धति ध्वनिवादी ही है। कुलपति ने ध्वनि को काव्य की आत्मा बताते हुये अपने 'रस रहस्य में कहा—

"व्यंग्य जीव ताको कहत, शब्द अर्थ है देह,
गुन-गुन, भूषन भूषनै, दूषन दूषन देह।"

इसी प्रकार ध्वनिवादी रीतिकार प्रतापसाहि ने भी 'व्यंगार्थ कौमुदी' में कहा—

"व्यंग्य जीव है कवित में, शब्द, अर्थ, गति अंग,
सोई उत्तम काव्य है बरनै व्यंग्य प्रसंग।"

इस ध्वनिवादी दृष्टिकोण के विपरीत दृष्टिकोण था रसवादी आचार्यों का जिन्होंने रस-सम्प्रदाय के अनुकरण पर रस को काव्य का सार अथवा उसकी आत्मा बताया। इन रसवादी आचार्य-कवियों में मतिराम, देव, रसलीन तथा बेनी प्रबीन प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त रस सिद्ध कवियों ने, जिनमें घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि प्रमुख हैं, काव्य के बौद्धिक अथवा मानसिक पक्ष की अपेक्षा उसके हृदय-पक्ष को प्रधानता दी। इन सभी आचार्यों एवं कवियों ने रस के वर्णन के अतिरिक्त काव्य के अन्य अङ्गों के विवेचन की नितान्त उपेक्षा ही की। विशेषतः रीतिमुक्त कवियों—घनानन्द, ठाकुर आदि ने तो रस के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की परवाह ही नहीं की। आचार्यों में मतिराम ने अपने ग्रन्थ 'रसराज' की रचना पण्डितों अथवा आचार्यों के लिए न करके कवियों एवं काव्य-रसिकों के लिये की, जैसा कि उन्होंने कहा भी है—

"रसिकन के रस को कियो नयो ग्रंथ रसराज।"

इसी प्रकार रसज्ञ कवि देव ने भी 'काव्य सार शब्दार्थ को, रसु तेहि काव्य सुसार' कहकर काव्य में रस की अनिवार्यता सिद्ध करते हुए उसको काव्य का सार (Esseuce) बताया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत के रस, ध्वनि एवं अलङ्कार सम्प्रदायों की आधार भित्ति पर रीतिकालीन आचार्य कवियों ने रीति-ग्रन्थों का अपना विशाल भवन निर्मित किया जिसमें रीति-कवियों की कुशल तूलिका ने अलङ्कार तथा आन्तरिक सज्जा का कार्य किया। विशेष रूप में शृङ्गार रस की सार्वभौम सत्ता को स्वीकृति इस युग के आचार्य-कवियों की अपनी विशेष उपलब्धि है। वैसे तो रुद्रभट्ट तथा भोज ने 'शृङ्गारवाद' की स्थापना की थी, किन्तु उसके अविकसित तथा अप्रचलित रूप को इतना विकास प्रदान करके उसको इतने महत्वपूर्ण पद पर आसीन करना कि लोग 'भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल सिंगार' कहने लगे—यह रीति-युगीन वातावरण एवं उसमें पनपे कवियों का ही कार्य था।

रीति काव्य के इस विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीति काव्य का अपना विशेष स्थान सुरक्षित है।

(शेष पृष्ठ ३५६ पर देखिए)

नई कविता-एक तार्किक समीक्षा

डॉ० प्रद्युम्नकुमार जैन

हिन्दी साहित्य में नई कविता की धारा का अवलोकन करने पर अपना दार्शनिक मन बार बार यह प्रश्न पूछने के लिए बाध्य हो जाता है, कि क्या नई कविताओं की क्रणित होती हुई पगध्वनियाँ हिन्दी के इतिहास-क्रम के उठते हुए वक्र की ओर ऊँची शैल-मालाएँ हैं अथवा उसमें अनायास पड़ते हुए पठार की अवनति-शृङ्खलाएँ ? उन्हें विकास की अगली मञ्जिल मानने वालों की मान्यता शायद नवीन दर्शन की इस मान्यता से निगमित होती हुई प्रतीत होती है, कि भविष्यत् का प्रत्येक क्षण चिरन्तन विकास-क्रम का ही प्रतीक है, क्योंकि विकास, उनकी निगाहों में, एक चिरन्तन, मूलभूत और शाश्वत सत्य है। इसलिए ये लोग न्याय-प्रक्रिया की एक उल्टी चक्र-धारा में फँस गए हैं, जो कि सम्भ्रान्ति के आक्रोश में नहीं जानते कि वे क्या जानते हैं। और उस अनजाने 'जानने' के आधार पर उनका सब कुछ 'करना' एक वच्चों का खिलवाड़ हो गया है। इन्होंने विकास नामी सामान्य-सिद्धान्त दूसरों से उधार लेते समय यह भी सोचने का कष्ट नहीं किया, कि यह सामान्य निष्कर्ष किस आधार और विधि से निकाला गया। उसकी क्या सीमा है और क्या पोल ? उसे त्रैकालिक और त्रिलोक-व्यापी सत्य मान ये नई कविता के यथाकथित उन्नायक यह मान बैठे कि काल-क्रम में जो कुछ भी खुराफात उनके मस्तिष्कों में उपजेगी, वे होंगी सामान्य विकास की अगली मञ्जिलें। और शायद इसीलिए नई कविता के नाम पर उठी हुई निठल्ली पंक्तियाँ उन्हें हिन्दी साहित्य की युगान्तकारी उन्नति-शिखरें जान पड़ीं।

विकास··· यह है एक विचार और अब हो गया है एक सिद्धान्त। नये युग में यह विकल्प उठा। पश्चिमी मनीषी डारविन के मस्तिष्क में, फिर वह पल्लवित होता हुआ चला आया स्पेंसर, मॉरगन-वर्गसाँ, और यहां तक कि पूर्वी सीमा के अन्तर्गत योगिराज अरविन्द के आध्यात्मिक क्षेत्र में। सभी बुद्धिवादियों ने उनकी बात को सुना और कुछ ने स्वीकार भी किया। इन बुद्धिवादियों ने अपनी उद्गम्नात्मक विधि से देखा और परखा, कि प्रत्येक प्राणी अपने वातावरण से येन केन प्रकारेण समायोजित होना चाहता है। उसके लिए वह प्रयत्न करता है और प्रत्येक प्रयत्न में वह कुछ न कुछ सफल भी होता जाता है। यह है उसका विकास। चूँकि समायोजन की समस्या एक तथ्य है अतः वह शाश्वत सत्य। अतः उससे निगमित विकास भी है एक तथ्य और एक शाश्वत सत्य। तो यह विकास निष्कर्ष है प्राणियों के समायोजनार्थ प्रयत्न रूपी आधार वाक्यों का। न्यायतः यह निष्कर्ष सत्य है, क्योंकि उसके आधार वाक्य सत्य हैं। यह एक नैयायिक प्रक्रिया है जो आधार वाक्य से चलकर निष्कर्ष पर आई। इस में निष्कर्ष की सिद्धि हुई आधारों से, आधारों की निष्कर्ष से नहीं। अब कोई आधारों को सिद्ध करे निष्कर्ष से तो यह है एक नैयामिक दोष और सम्भ्रान्ति का उदाहरण। अब यहाँ विकास एक निष्कर्ष है और प्राणी के सतत प्रयत्न उसके आधार। अतः विकास के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि प्राणियों के प्रत्येक प्रयत्न उन्नति के परिचायक हैं। हाँ, उन्नतिशील प्रयत्नों के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि यहाँ विकास है। अतः कवियों के प्रत्येक प्रकार के प्रयत्न विकास के आधार पर उन्नतिशील कहना निराधार है।

अब यदि कहा जाए कि नई कविता को साहित्यिक उन्नति की परिचायिका निगमन तर्क विधि से नहीं, प्रत्युत उद्गमन तर्क विधि से कहा जाता है। यह हमारे मौलिक अनुभवों से अनुस्यूत निष्कर्ष है। यदि ऐसा, तो देखना है कि अनुभव में क्या आता है ! अनुभव यदि संवेदना-जन्य माना जाए, तो उसमें घटनाओं

के अतिरिक्त और कुछ नहीं आता जिसे विषय-गत रूप से स्थापित किया जा सकता है। यदि उसे अतीन्द्रिय ज्ञान-जन्य माना जाए तो उसके वस्तु-विन्यास को सत्यापित नहीं किया जा सकता। प्रथम रूप में चूँकि घटनाएँ मात्र ही आती हैं। अतः मात्र अनुभव के आधार पर उक्त घटनाओं को उन्नति-शील या अवनति-शील कहना अतिरञ्जित होगा। यदि उसमें बौद्धिक-प्रक्रिया का भी समावेश मानें तो बौद्धिक-प्रक्रिया सदैव निगमन परक ही होती है। अतः यदि उन्नति या अवनति की बात कही जाती है तो वह निगमन परक होने के नाते सदैव सामान्य सापेक्ष होगी। और अभी हम देख चुके हैं कि नैगमनिक प्रक्रिया से नई कविता उन्नतिशील सिद्ध नहीं होती! दूसरे रूप में यदि उन्नति या अवनति की बात सोची जाए, तो वह सत्यापन-योग्य न होने के कारण असिद्ध है। अतः किसी भी विधि से नई कविता उन्नतिशील वक्र की परिचायिका सिद्ध नहीं होती।

नई कविता को उन्नति का प्रतीक कहने के लिए एक और विकल्प हो सकता है; यह, कि उद्गमन और निगमन की सम्मिलित विधि। कहा जा सकता है कि पहले उद्गमन विधि के अन्तर्गत हम विशेष उदाहरणों के निरीक्षण से, जो कि वास्तव में समायोजन की दिशा में उन्नतिशील हैं, एक प्राक्-कल्पना (Hypothesis) तदुपरान्त व्यापक सत्यापन के आधार पर एक सिद्धान्त (Theory) की रचना करते हैं। विकासवाद का सिद्धान्त भी इसी प्रकार बना। फिर निगमन विधि के द्वारा इस सामान्य सिद्धान्त से विशेष निष्कर्षों को अवतरित करते हैं। नई कविता को उन्नति का प्रतीक हम इसी प्रकार मानते हैं। अब देखना यह है कि इस विकल्प का भी क्या मूल्य है? यह सर्व मान्य सत्य है कि शुद्ध उद्गमन विधि से निकाला गया कोई भी सामान्य निष्कर्ष केवल सम्भाव्य होता है। वर्टण्ड रशल के शब्दों में "यद्यपि यह एक विरोधाभास सा लगता है, कि सम्पूर्ण निश्चित विज्ञान सम्भाव्यता के बिचार से शासित है......प्रत्येक व्यक्ति, जिसके अन्दर विज्ञान का जरा सा भी तत्व मौजूद है यह कभी नहीं कहता कि आज विज्ञान में जिस पर विश्वास किया जाता है; वह पूर्णतया सही ही है। वह इतना ही जोर देता है कि यह परिपूर्ण सत्य की ओर उन्मुख मार्ग की एक मञ्जिल है।" ('साइण्टिफिक आउटलुक' से पृष्ठ ६६—हिन्दी अनुवाद लेखक का)।

तो जब कोई वैज्ञानिक निष्कर्ष पूर्ण निश्चित नहीं फिर उसके आधार पर निकाला गया कोई निष्कर्ष भी निश्चित कैसे हो सकता है। क्योंकि निष्कर्ष का सत्य तो अपने आधार से ही निगमित होता है। अतः उद्गमन विधि से स्थापित विकास-सिद्धान्त किस प्रकार नई कविता को पूर्ण निश्चित रूप से प्रगति-स्तम्भ सिद्ध कर सकता है? इन वैज्ञानिक सिद्धान्तों को सत्य केवल कामचलाऊ (Provisional) रूप में ही स्वीकार किया जाता है। अतः व्यावहारिक या काम-चलाऊ रूप से हम नई कविता को भी प्रगति का द्योतक मान सकते हैं। परन्तु केवल कामचलाऊ सत्य को इतनी अधिक मान्यता देना युक्त-सङ्गत नहीं, क्योंकि इसका हेतु अन्य समान शक्तिवान प्रतिपक्षी हेतुओं द्वारा निष्फल हो जाता है। अब हम कुछ प्रतिपक्षी हेतुओं का भी उल्लेख करेंगे।

नई कविता के नीचे दर्शन की यह विचाराधारा परिव्याप्त जान पड़ती है, कि चेतना की अविराम धारा नैसर्गिक रूप से प्रवाहित हो रही है। उसकी नैसर्गिक अभिव्यक्ति किन्हीं पूर्व-निश्चित प्रतिमानों का अनुसरण नहीं करती, बल्कि स्वयं प्रतिमानों की रूप सज्जा उसकी प्रत्येक करवट का पर्यवलोकन करती है। अतः सौन्दर्य का अलङ्करण उसे विभिन्न प्रतिमानों से प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत स्वयं प्रतिमान ही उसके सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के निमित्त बन कर अलङ्कार बन जाते हैं। चेतना का नैसर्गिक प्रवाह स्वयं हैं, और सौन्दर्य-पीयूष वह अपने प्रत्येक आलेखन से निर्बाध रूप से बरसाता है। अतः नई कविता, जैसा कि विचार है, उसी मुक्ति निर्बाध और अतीव सौन्दर्य-शुभ्र चेतना की अभिव्यक्ति है। अतः स्वभाविक है उसके लिए, कि उसके सामने पिङ्गल, छन्द, अथवा अलङ्कार के नियम और कृत्रिम सीमायें अर्थ हीन जान पड़ें। वह मुक्त है, निर्द्वन्द है

इन सारे बन्धनों से और है यह नये युग के विकास का प्रथम चरण।

दर्शन की उपर्युक्त भाव-भूमि निस्सन्देह उर्वर सिद्धान्त की पीठिका है। उसकी वैधता को चुनौती देना, वास्तव में, अपने बौद्धिक दिवालियापन को दर्शित करना है; परन्तु साथ ही साथ उसे व्यवहार के प्रत्येक स्तर पर समान रूप से लागू कर देना जीवन के यथार्थ से आँखें भी मींच लेना है। मुख्य प्रश्न यह है, कि यह निश्चित कैसे हो, कि चेतना का नैसर्गिक प्रवाह कौन सा है और अनैसर्गिक कौन ? किसी अभिव्यक्ति को नैसर्गिक कहने का मापदण्ड क्या है ? क्या यह कहना उचित है कि जो कुछ होता है वह नैसर्गिक ही है ? यदि हाँ, तो अनैसर्गिक क्या कहा जाए ? जो नहीं होता क्या वह अनैसर्गिक ? परन्तु न होने वाली चीज का कहना ही क्या। इसका दूसरा अर्थ है कि अनैसर्गिक वह है जो कुछ नहीं है। अतः अनैसर्गिक एक झूठा विकल्प है। फिर, उसे विकल्प कहना ही वृथा है। और जब अनैसर्गिक का विकल्प मिथ्या हुआ, तो उसकी प्रतियोगिता का प्रश्न ही क्या ? अतः नैसर्गिक का कोई विकल्प नहीं। वह भी मिथ्या हुआ। परन्तु यह निष्कर्ष नई कविता के दर्शन से सङ्गति नहीं रखता।

उपर्युक्त न्याय के आधार पर हम यह मानने को बाध्य हैं, कि चेतना की अविरल अभिव्यक्ति में नैसर्गिकता तथा अनैसर्गिकता दोनों ही सम्भाव्य हैं। अतः नैसर्गिकता ग्रहण के लिए अनैसर्गिकता का बचाव भी परम आवश्यक है। यह तभी हो सकता है जब कि अभिव्यक्ति की भाव-शैली में संयम हो। और संयम भी तभी जब कि चेतना के लिए कुछ यम-नियमों का बन्धन हो। अतः किन्हीं नियमों को न मानने वाली नयी कविता असंयत है। और इसीलिए उसे नैसर्गिक निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

अपने मत को और अधिक स्पष्ट करने के लिए, आइए, पहले नैसर्गिकता का स्पष्टीकरण कर लें। किसी भी द्रव्य की नैसर्गिक अवस्था वह है जो अपने निजी स्वभाव में स्थित हो, जो निजमय हो। यदि उसमें परमयता का लेशमात्र भी समावेश हुआ तो उसकी निजमयता उतनी ही बाधित होगी। वह द्रव्य उतना ही अनैसर्गिक होगा। यह सत्य है कि निजमयता की वह उत्कृष्टतम आध्यात्मिक अवस्था किसी नियम की उपाधि से बँधी नहीं होती, बल्कि सारे नियम ही उससे निगमित होते हैं। सत्य है उस अवस्था से व्यक्त हुई कविता मुक्त होगी; सत्यं शिवं सुन्दरं का पूर्ण प्रतीक होगी। उस अवस्था की कविता सर्वगुण सम्पन्न होगी, पूर्ण होगी। उस अवस्था में स्थित व्यक्तित्व भी परम और पूर्ण होगा। वह नियामक और नियन्ता होगा और होगा सभी सम्भव बाधाओं से मुक्त। परन्तु प्रश्न है यथार्थ का, किंवा ऐसा व्यक्तित्व कोई सत्ता में भी है ? मैं समझता हूँ, विरला ही कोई। तो हम किसे करें नैसर्गिक व्यक्तित्व और उसकी नैसर्गिक अभिव्यक्ति ? फिर यदि मान भी लें कि ऐसा कोई हो सकता है, तो उसकी अभिव्यक्ति में समरूपता (Uniformity) जो कि सुन्दरं की सहज दशा है, अवश्य होगी। समरूपता का ही दूसरा नाम नियम है। अतः नैसर्गिक अभिव्यक्ति (कविता) नियम-मुक्त नहीं हो सकती। अब हम सीधे-सीधे इस आधार पर एक न्याय-युक्ति की रचना कर सकते हैं, जिसकी वैधता को चुनौती आसानी से नहीं दी जा सकती। यथा—

यदि अभिव्यक्ति नैसर्गिक है तो वह नियम-मुक्त नहीं होगी। —साध्य वाक्य

∵ वह नियम मुक्त है। —पक्ष-वाक्य

∴ वह नैसर्गिक नहीं है। —निष्कर्ष वाक्य

अतः वह नई कविता जो कि सर्वथा नियम-मुक्त है, नैसर्गिक नहीं हो सकती। यद्यपि हाँ, हम यह नहीं कह सकते हैं कि:—

चूँकि अभिव्यक्ति नैसर्गिक नहीं है।—पक्ष

इसलिए नियम—मुक्त है। —निष्कर्ष

यह तार्किक रूप से दोष पूर्ण है, क्योंकि तार्किक दृष्टि से यह हो सकता है कि कुछ अनैसर्गिक कविताएँ (अभिव्यक्तियाँ) नियम बद्ध हों। परन्तु तार्किक बुद्धि यह नहीं मान सकती, कि नियम-मुक्त कविता नैसर्गिक हो। निसर्ग के साथ नियमों का साहचर्य अवश्य है।

अब अन्तर केवल इतना ही है, कि जो कवि चारित्रिक रूप से पूर्ण है, उसका अन्तरंग नैसर्गिक होगा। उसकी अभिव्यक्ति उसके अन्तरंग की अनुचरी होगी। अतः उक्त अभिव्यक्ति में स्वभावतः समरूपता होगी, और वह सौन्दर्य की धात्री होगी। अलङ्कार, पिंगल, छन्द जो कि सौन्दर्य के प्रतीक हैं, जनक नहीं, उसमें से स्वभावतः फूटेंगे। अतः कविता निखर उठेगी। साहित्य चमक उठेगा। अलंकार, पिंगल आदि सौन्दर्य के प्रतीकों का उक्त निसर्ग से नियत साहचर्य है। वे परिणाम हैं उसके; उसकी अभिव्यक्ति के प्रतिमान। और चूँकि परिणाम से ही परिणामी का अन्दाज होता है, अतः नैसर्गिक कविता का अन्दाज होगा इन्हीं अलंकार, पिंगल, छन्द आदि सौन्दर्य के प्रतीकों से। परिणाम से परे परिणामी न तो होता है और न हो सकता है। अतः इन प्रतीकों से परे नैसर्गिक कविता को कहीं ढूँढ़ना मिथ्या है और मृग मरीचिका। हाँ, यह सत्य है, तार्किक दृष्टि से भी, कि सभी अलंकार, पिंगल आदि प्रतिमानों से युक्त कविताएँ नैसर्गिक नहीं होतीं। परन्तु इसका विलोम, कि सभी नैसर्गिक कविताएँ इन प्रतिमानों से युक्त अवश्य होती हैं, निश्चित रूप से सही है। इस तथ्य पर तार्किक दृष्टि से कोई दो मत नहीं हो सकते। अतः सौन्दर्य पारखी व्यक्ति सौन्दर्य की अभिव्यक्ति सौन्दर्य के प्रतीकों में ही ढूँढ़ेगा, अन्यत्र नहीं। अन्यत्र यदि कोई सौन्दर्य का ढिंढोरा पीटता है, तो वह मिथ्या है। सौन्दर्य अपने नियमों का उल्लङ्घन करके नहीं, प्रत्युत उन्हें पचा कर ही निखरता है और निखर सकता है। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सौन्दर्य के लक्षणों और प्रतीकों से दूर ले जाकर नयी कविता के सृष्टिकार कविता भारती की सेवा नहीं कर रहे हैं। यह उनकी प्रगति का प्रतीक नहीं प्रत्युत है साहित्य के विकासशील चक्र में पड़े हुए पठार का लक्षण। यह दुर्भाग्य है। अतः दुर्भाग्य से जितना शीघ्र छुटकारा मिले, वही उत्तम है।

—ज्ञानपुर, बनारस।

———

(पृष्ठ ३५४ का शेषांश)

यह सत्य है कि कुछ लोगों ने इसका बहिष्कार इसको अश्लील कहकर किया, किन्तु यह उनके संकुचित दृष्टिकोण एवं अपर्याप्त निरीक्षण का ही परिणाम था। गार्हस्थ्य शृङ्गार के अपूर्व एवं अद्वितीय विवेचन के लिए हमें रीति काव्य का ही मुँह ताकना पड़ता है। हिन्दी में मुक्तक परम्परा के विकास में रीतिकाल का योगदान अविस्मरणीय है। हिन्दी में सम्यक् काव्यशास्त्र के निर्माण का श्रेय भी रीति काव्य को ही है। इस प्रकार यह बात स्वतः सिद्ध है कि पूर्वाग्रहों का चश्मा उतार देने पर रीतिकाव्य हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मील के पत्थर के रूप में हमें दिखाई देगा। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र के निम्नलिखित कुछ शब्दों को उद्धृत करने का लोभ संवरण न करते हुए हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे—

"इस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाव्य का अपना विशिष्ट स्थान है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा को हिन्दी में अवतरित करते हुए विवेचन एवं प्रयोग दोनों के द्वारा रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा कर और उधर सर्जना के क्षेत्र में कविता के कला रूप की सिद्धि करते हुये भारतीय मुक्तक परम्परा का अपूर्व विकास कर ब्रजभाषा के कला-प्रसाधनों के सम्यक् परिष्कार संस्कार द्वारा रीति-कवियों ने हिन्दी काव्य की समृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान किया है। एकान्त वैशिष्ट्य की दृष्टि से भारतीय वाङ्मय में ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व के वाङ्मय में आलोचना और सर्जना के संयोग से निमित यह काव्य विधा अपना उदाहरण आप ही है। किसी भी भाषा में इस प्रकार का काव्य इतने प्रचुर परिमाण में नहीं रचा गया है।"[1]

—शारदा सदन कालेज, मुकुन्दगढ़ (राजस्थान)

[1] हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास, पृष्ठ भाग, पृष्ठ ५४६।

भाषा और समाज

[१]

डॉ० हेमचन्द्र जोशी

['भाषा और समाज' डा० रामविलास शर्मा की भाषा विज्ञान पर लिखी गई पुस्तक है। इस पुस्तक के सम्बन्ध में हम दो हिन्दी के समीक्षकों के समीक्षात्मक लेख दे रहे हैं। ये लेख एक दूसरे से अनेक मानों में भिन्न हैं तथा कुछ मानों में समान हैं। आशा है पाठक वृन्द एक कृति के सम्बन्ध में विचार वैविध्य एक स्थान पर पाकर अधिक लाभान्वित होंगे। —सम्पादक]

इस पुस्तक को पढ़ने पर मालूम हुआ कि लेखक का हिन्दी और भाषा विज्ञान से बहुत कम सम्बन्ध है। लेखक ने हिन्दी भाषा के किसी अङ्ग पर निबन्ध लिखकर डा० की उपाधि प्राप्त नहीं की और न ही वह हिन्दी ही पढ़ता होगा; क्योंकि पुस्तक सूची में ऐसी पुस्तकों का एकदम अभाव है, जिनसे किसी भी ज्ञान पिपासु को भाषा विज्ञान का शुद्ध ज्ञान होता हो। भाषा-विज्ञान संस्कृत के आविष्कार के साथ जन्मा। संस्कृत से तुलना करके पता चला कि अमुक भाषाएँ आर्य परिवार के भीतर हैं। इस ज्ञान का आरम्भ पादड़ी हर्वास और कुछ फ्रेंच पादरियों ने भारत में संस्कृत सीखकर किया। उससे पहले यूरोप के सब धर्म गुरु यह मानते थे कि परमात्मा ने अपनी वाणी इब्रानी भाषा के द्वारा संसार को दी। इस कारण संसार की सब भाषाओं की जननी इब्रानी ही हो सकती है। इस अन्धविश्वास ने सैकड़ों वर्ष तक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में महान अन्धकार का युग ला दिया। चार-पाँच सौ वर्ष से ईसाई धर्म प्रचारक पादरियों का संसार की सब जातियों और सब धर्मों के लोगों में जाना और अपने धर्म-प्रचार के लिए उनकी भाषा सीखना भाषा-विज्ञान के लिए महान् वरदान सिद्ध हुआ। संस्कृत पढ़कर सर विलियम जौन्स ने १७९४ ई० में कलकत्ते में रायल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना करते हुए अपना जो भाषण दिया कि संसार के ज्ञान विकास के लिए संस्कृत का आविष्कार एक महान् घटना है। संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं से भरी पूरी सुललित और व्याकरण में आगे बढ़ी हुई है। इन वाक्यों ने संसार के विद्वानों में संस्कृत प्रेम भर दिया और सबकी चेतना संस्कृत के महत्व के विषय में जाग्रत हो उठी। सर विलियम जौन्स का यह वाक्य पढ़ कर स्काटलैंड के भाषा विशारद डुगलस स्टेवर्ट्स ने अपने एक लेख में लिखा कि भारत के ब्राह्मण महान् धूर्त हैं उन्होंने ग्रीक और लैटिन का अध्ययन करके एक बोली बना दी है। और इस बोली में सैकड़ों पुस्तकें रच ली हैं और संसार को धोखा दे रहे हैं कि यह नई अविष्कृत संस्कृत वाणी भारत में पैदा हुई और अति प्राचीन है, किन्तु यह हाल ही में बनाई गई है। इस वाक्य ने जर्मनी, फ्रान्स आदि देशों में विद्वानों को प्रोत्साहन दिया कि वे संस्कृत का इतिहास तथा उसके ग्रन्थों का अध्ययन करें।

जर्मनी के श्लेगल और बौप संस्कृत के अध्ययन में चिपट गये। बौप ने २१ वर्ष की आयु में पेरिस जाकर संस्कृत का गम्भीर अध्ययन करने की ठान ली, उसकी पहली पुस्तक, जिसके प्रकाशित होने के समय अर्थात् १८१६ ई० से संसार के विद्वान् भाषा-विज्ञान का जन्म मानते हैं। इसमें उसने संस्कृत की तुलना ग्रीक, लैटिन, ईरानी तथा जर्मन भाषाओं से की। इसके बाद वह बर्लिन में १८२२ ई० में प्राच्य भाषाओं का अध्यापक नियुक्त किया गया। इसने अपना सारा जीवन आर्य-भाषा-परिवार की भाषाओं के अध्ययन में खपा दिया। अपने तीन खण्डों के वृहत् ग्रन्थ में इसने तुलना करके यह सिद्ध कर दिया कि आर्य-भाषा-परिवार अपने शब्दों और व्याकरण के नाना रूपों में अभी तक समानता दिखाता है। इसके बाद लासन, वेबर, कुर्टिसस, बेनफे, ओपरेस्ट आदि ने बौप का अनुसरण करके वेदों से लेकर पञ्चतन्त्र तक सभी ग्रन्थों का सम्पादन किया और उनमें से बहुतों को छपाया। यह काम यूरोप के सभी देशों में होता रहा। १८३८ ई० में ऋग्वेद का अलग संस्करण छपा। बेनफे ने सामवेद का सम्पादन किया और उसके शब्दों का एक कोश भी छापा। बोयटलिंक और रोट ने सेण्टपीटर्सबुर्ग से रूसी सरकार की सहायता से ७ बड़े-बड़े खण्डों में संस्कृत जर्मन कोश प्रकाशित किया। उनके अधीन प्रायः १५० महापण्डित

संस्कृत शब्दों के उदाहरण और उत्पत्ति ढूँढ़कर उनकी सहायता कर रहे थे। यह कोश आज भी संस्कृत की शोध का आदर्श ग्रन्थ माना जाता है। इसका संक्षिप्त संस्करण बोएटलिङ्क द्वारा सम्पादित, हमने नागरी-प्रचारिणी सभा के लिये मँगवाया था। इस बृहत् कोश के अनुसरण पर और डा० कात्रे के सम्पादकत्व में एक इससे कई गुना बड़ा कोश पूना की लिंग्विस्टिक सोसाइटी भारत-सरकार की सहायता से प्रकाशित करने जा रही है। श्लाइसर, बुगभान आदि पण्डितों ने सभी आर्यभाषाओं की तुलना करके वह काम किया है कि अब आर्यभाषा परिवार पर कोई सन्देह नहीं रह गया है। यह क्रम अभी तक जारी है किन्तु आर्यभाषा परिवार की सभी भाषाओं की छानबीन का काम प्रायः १९०० ई० तक समाप्त हो चुका था और इससे आगे का काम यूरोप के सभी विश्वविद्यालय आज भी कर रहे हैं। इन पुस्तकों की संख्या कम से कम ८-१० हजार है। बिना इनको पढ़े और इनके निदानों का भलीभाँति अध्ययन किये जो विद्वान हिन्दी के भाषा-विज्ञान पर नाम-मात्र भी लिखने का दुस्साहस करेगा वह अपनी पुस्तक में ज्ञान का प्रदर्शन न कर पायेगा।

'भाषा और समाज' में जिन पुस्तकों से सहायता ली गई है वे प्रामाणिक नहीं हैं। इसका कारण यह है कि हमारे भाषा-विज्ञान के पण्डितों ने भाषाविज्ञान पर इन ८-१० हजार पुस्तकों में से शायद ही कोई देखी हो। ये पुस्तकें अधिकांशतः जर्मन और फ्रेंच भाषाओं में हैं। हिन्दी में भाषाविज्ञान की जो पुस्तकें हैं उनमें सैकड़ों अशुद्धियाँ प्रवेश कर गई हैं। यह उन्हें शुद्ध करने का अवसर नहीं है। हिन्दी का एक विद्वान 'मौसी' शब्द को संस्कृत परम्परा से न आया हुआ विशुद्ध हिन्दी का समझता है। उसे पता ही नहीं कि यह शब्द 'मातृष्वसा' प्राकृत माउसी, माउपरसआ आदि से आया है। दूसरा विद्वान अवेस्ता के निज्द से सं० नीड़ को निकला बताता है। उसे पता ही नहीं कि आर्य भाषा परिवार के एक शब्द से दूसरी आर्य भाषा का प्रतिरूप नहीं बनता। निज्द के स्थान पर संस्कृत में निषद् शब्द है जिससे निषाद 'पड़ौसी' निकला है।

ऐसे सैकड़ों अशुद्ध उदाहरण हैं जो हमारे भाषा-विज्ञानी हमें सिखाकर हमारी आँख खोलना चाहते हैं। इन पुस्तकों में से 'भाषा और समाज' एक है। इसमें अनेक काल्पनिक बातें प्रमाण रूप में ले ली गई हैं। विज्ञान कल्पना नहीं, प्रमाण पर आधारित है। भाषा-विज्ञान को भी प्रमाण ही मानने पड़ते हैं। प्रमाणों द्वारा एक जर्मन पण्डित वाकरनागल ने सिद्ध किया है कि पाणिनि के कुछ सिद्धान्त अशुद्ध हैं।

डा० रामविलास शर्मा हिन्दी के बड़े उत्साही प्रेमी मालूम पड़ते हैं। इस दृष्टि से उन्हें मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ किन्तु उन्होंने प्रमाण देने और अपनी बातों को सत्य सिद्ध करने का जो उपयोग किया है उसमें त्रुटियाँ हैं। उदाहरणार्थ इन्होंने हिन्द और हिन्दी शब्द को फारसी न मानकर भारतीय माना है। मुझे भी बड़ी खुशी होती यदि इसके प्रमाण ये पुष्ट रूप में दे देते। क्योंकि भाषाविज्ञान तथा इतिहास के प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि हिन्द-हिन्दी शब्द हमारे किसी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलते। कहा जाता है कि हिन्दु शब्द किसी नये तन्त्र में केवल एक स्थान में मिलता है और यह ग्रन्थ पुराना नहीं है। मेरे छुटपन में हिन्दू शब्द पर प्रयाग के दैनिक पत्र लीडर में वाद विवाद छिड़ा। उसमें एक सज्जन ने बताया हिंसान्दूषयतीतिहिन्दुः अर्थात् हिन्दू शब्द की उत्पत्ति हिंसा को बुरा समझने वाले से है। यही बात डा० साहब के ग्रन्थ में भी देखी जा रही है। हिन्द-हिन्दू शब्द ईरान के बादशाह डेरीयस के बहीस्तून और पसीयोलिस के शिलालेखों में आज तक खुदा हुआ है। यह डेरीयस राजा २५०० वर्ष पहले हुआ है, ग्रीक पुस्तकों में प्रमाण मिलते हैं कि ईरान जाकर उन्होंने यह शब्द अपनाया। डेरीयस सिन्ध और गांधार पर भी राज करता था। उसने अपने को अहं ऐर्याणां ऐर्यों लिखा है। अर्थात् उसने बताया है कि जो जातियाँ अपने को आर्य कहती हैं उनमें से श्रेष्ठ आर्य हूँ। हेनरी रौलिसन साहब ने एक ग्रन्थ में सप्रमाण लिखा है कि सिन्ध और गांधार के निवासी डेरीयस की प्रजा में से कुछ सैनिक ग्रीक के माराथोन के युद्ध में ईरान की

तरफ से पहुँचे और लड़े। सो हमें जानना चाहिए कि सिन्ध प्रदेश का नाम ईरान में हिन्दु पड़ा।

दूसरी बात यह है कि सूरत के आस-पास के गुजराती भले ही सगाई को हगाई और साढ़े सात को हाड़हात बोलें इससे कुछ प्रमाणित नहीं होता। यह केवल प्राचीन अवेस्ता का ही नियम था कि संस्कृत के प्रारम्भिक 'स' का उच्चारण 'ह' होता था। 'सिन्धु को' ईरान की भाषा में 'हिन्दू' कहा जाता था। 'सहस्र' का 'हजंग्र' होता था। 'सप्त' का 'हप्त' होता था, 'सप्ताह' का 'हप्ता', 'सम' का 'हम' आदि-आदि मध्य या अन्त में आने वाले 'स' कभी बदलते थे 'ये' सब नियम भाषा के पण्डितों द्वारा गम्भीर विचार के बाद स्थिर किये गये हैं इन्हें बिना प्रमाण काटना कोई अर्थ नहीं रखता। किसी भी भाषा के अपने अक्षर कहीं भी स्थान ग्रहण कर सकते हैं। जिसका लेखक को कुछ पता नहीं मालूम पड़ता क्योंकि उसके उदाहरण सुरमा, सुरूर, सिरका, साल आदि फारसी के अपने ही शब्द हैं और उनका 'स' से आरम्भ होना फारसी भाषा की प्रकृति पर निर्भर है। स्वयं 'शत्' का अवेस्ता में 'हत' नहीं हुआ है, 'सत' ही रह गया है जो फारसी में 'सद' रूप में पाया जाता है।

अब और लीजिये 'सिन्धु' का 'हिन्दू' होना भारतीय आर्य भाषाओं की परम्परा के विरुद्ध है। आप किसी 'स' से प्रारम्भ होने वाले संस्कृत शब्द को लीजिए वह न पाली और न प्राकृतों में 'ह' रूप में बदलता है। सरस्वती शब्द को ही लीजिये। फारसी में इसका रूपान्तर हरकैति है, किन्तु प्राकृत में इसका 'सरस्सइ' हो गया है जिसका प्राचीन हिन्दी में तुलसी ने 'सरसइ' रूप दिया है। लिखा है 'सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा'। 'सीता' का रूप प्राकृत और हिन्दी में 'सीया' 'सिम्रा आदि है 'सूम्रा' शब्द 'सूचा' है 'सूर' शब्द सं० में 'सूर्य' है। प्रा० में 'सूतक' को 'सूग्रग' कहते हैं। कहाँ तक उदाहरण दिये जाँय। इसके लिए डा० महोदय संस्कृत, पाली प्राकृत और हिन्दी कोश देख लें। उन्हें पता चलेगा कि संस्कृत का प्रारम्भिक 'स' न. भा. आ. हिन्दी बंगला मराठी आदि तक 'स' ही रह गया है। हाँ मध्य में आने वाला अक्षर 'स' कहीं-कहीं 'ह' हो गया है। उदाहरणार्थ एकहत्तर बहत्तर आदि में 'स' का रूप 'ह' हो गया है।

और लीजिये। डा० साहब को विदेशी भाषाओं का ज्ञान Self Taught Series जैसी पुस्तकों से प्राप्त हुआ है कहीं-कहीं वह ज्ञान भी अधूरा रह गया है। उनमें प्रत्येक विदेशी शब्द का उच्चारण रहता है।

इन विदेशी भाषाओं का ज्ञान न होने के कारण डॉ. साहब ने नाना स्थानों में अनेक गलतियाँ कर रक्खी हैं। उदाहरणार्थ डॉ. साहब ने जर्मन शब्द (गेन) को गेहेन लिखा है। जर्मन भाषा अच्छी तरह न पढ़ सकने के कारण यह भूल हुई है। जर्मन भाषा में शब्द के बीच का (ह) जब किसी स्वर के बाद आता है तो उसका कार्य केवल इतना है कि वह इस स्वर को दीर्घ कर देता है। इस प्रक्रिया में h का कोई उच्चारण नहीं होता। जर्मन भाषा का यह एक साधारण नियम है जिसका डॉ. साहब को ज्ञान ही नहीं है। और देखिए एक स्थान पर आपने बिनेन आइनेर स्टुण्डे लिखा है पर इन शब्दों का जर्मनी में मैंने जो उच्चारण सुना है वह है बिन्नन आइनर स्टुन्ड Binnen einer stunde) उच्चारण के अज्ञान से भी भाषा विज्ञान में बड़ी बड़ी भूलें हो जाया करती हैं।

अब एक उदाहरण लीजिए डॉ. साहब ने लिखा है कि संस्कृत और ग्रीक क्रतुस से अंग्रेजी शब्द Hard और जर्मन शब्द Hart निकले हैं। इनमें पहली भूल तो यह है कि संस्कृत और ग्रीक भाषाओं में क्रतुस शब्द एक से दिखाई देने पर भी उनका अर्थ एक नहीं है संस्कृत क्रतुस का अर्थ 'यज्ञ वृद्धि' आदि है। उसका अर्थ 'सख्त 'कड़ा' आदि नहीं है। डा. साहब से निवेदन है कि वे कृपया संस्कृत कोशों को भली भाँति देख लें। संस्कृत भाषा के अज्ञान के कारण और उसी उच्चारण का क्रतुस शब्द देखकर यह भ्रमपूर्ण बात भाषा और समाज पुस्तक में दी गई, इस सम्बन्ध में एक भ्रमपूर्ण और अशुद्ध कथन और देखिये जो विदेशी भाषाओं के भाषा विज्ञान के ज्ञान के अभाव के कारण आपने की है। आपने लिखा है—आर्य शब्द के प्रचार का श्रेय बहुत

कुछ जर्मन विद्वानों को है । यहाँ कुत्ते के लिये हुण्ड (Hund) शब्द है जो हमारे श्वान की बिरादरी का है। 'श' ने यहाँ भी ह का रूप धारण किया शत और कण्टुम के बदले हुण्ट और हुण्डर्ट शब्द हैं श्वेत से इसी ध्वनि परिवर्तन के अनुसार ह्वाइस (अंग्रेजी ह्वाइट) श्रद् से हर्त्स (अं० हार्ट) शष से हाज़ (अं. हेअर), यूनानी (और संस्कृत) क्रतुस से हार्ट (कठिन, अं. हार्ड) इत्यादि बने हैं।"

उक्त काव्य में जो लिखा गया है कि आर्य शब्द के प्रचार का श्रेय बहुत कुछ जर्मन विद्वानों को है इसका डॉ. साहब के पास क्या प्रमाण है। उसका उल्लेख पुस्तक में अवश्य होना चाहिये था। इस पुस्तक की एक बड़ी त्रुटि यह है कि जिन-जिन भाषाओं या शब्दों का उल्लेख भाषा और समाज पुस्तक में है वह डॉ. साहब बिना किसी पुस्तक का उल्लेख किये अथवा बिना कोई प्रमाण दिये लिखते चले जाते हैं यह हम ऊपर क्रतुस का उल्लेख करते हुये दिखा आये हैं कि इस अज्ञान से कितनी बड़ी भूलें हो जाया करती हैं। अब देखिये कि आर्य भाषा को जर्मन आर्य नहीं कहते वह इन्हें इन्डो-जर्मन कहते हैं।

हाँ 'आर्य' शब्द भी उनके यहाँ है पर इसका प्रचार प्रारम्भ में अंग्रेजी और फ्रेंच लोगों ने किया। इसके बाद डा० साहब लिखते हैं इनके यहाँ कुत्ते के लिए हुण्ट (hund) शब्द हैं जो हमारे श्वान की बिरादरी का है इस वाक्य में कुछ भूलें देखिए हुण्ट शब्द ठीक है किन्तु यह श्वान की बिरादरी का नहीं है। भाषा-विज्ञानी विद्वान हूँण्ड या हुण्ट की बिरादरी शुन शब्द से करते हैं। गीता में कहा है "शुनिश्चैव श्वहाके च", इसमें जो शुन शब्द है वह हुण्ट की बिरादरी का दावा करता है। श्व शब्द नहीं और नहीं श्वान। दूसरी भूल देखिए लेखक को जर्मन भाषा का बहुत थोड़ा ज्ञान होने के कारण उसने hund शब्द भी लिख दिया है। अब जर्मन का व्याकरण देखिये उसमें यह नियम है कि संज्ञा का पहला अक्षर बड़ा लिखा जाना चाहिए। इस कारण लेखक को Hund लिखना चाहिए था। बड़ा खेद है कि अधूरी विद्या प्राप्त करने के बाद ही लेखक ने ग्रन्थ को लिखने का साहस किया ऐसी अनेक भूलें इस ग्रन्थ में मिलती हैं।

एक वाक्य और लीजिए—शत और केण्टुम के बदले हुण्ट और हुण्डेर्ट शब्द है इसमें देखिए कि लेखक ने विदेशी भाषाओं के भाषा विज्ञान का नाम मात्र भी अध्ययन नहीं किया और न उसके विषय में कोई कोश ही देखा। लेखक को यह पता ही नहीं है कि h का उच्चारण प्राचीन समय में जर्मन, अंग्रेजी आदि भाषाओं में 'क' या 'ख' था। उदाहरण hard शब्द गौथिक भाषा में hardus था जिसका उच्चारण कारडुस होता था। यह रूप ग्रीक क्रतुस से आया। साधारण प्रमाण देता हूँ Hittile का उच्चारण कुछ लोग 'हित्ताइत' करते हैं वास्तव में यह खित्ताइत है। अंग्रेजी में प्रसिद्ध लेखक चैकौफ को chehov लिखते हैं, यहाँ भी h का उच्चारण 'क या ख' है। तथाकथित हित्ताइत लोग पुरानी बाइबिल में खेत (Khet) कहे गये हैं। अंग्रेजी में Who शब्द लै० Que था। यह संस्कृत क्वः का प्रतिरूप है, भले ही इसे आजकल 'हू' पढ़ते हैं। प्राचीन समय में h ख या क था। कैण्टुम शब्द पर विचार कीजिए लेखक का कहना है कि 'शत' (शतम्) और केण्टुम के बदले हुण्ट और हुडर्ट शब्द है। लेखक ने यह नहीं बताया कि हुण्ट किस भाषा का शब्द है अंग्रेजी में तो यह शब्द नहीं है और न यह शब्द जर्मन भाषा में ही मिलता है। जर्मन भाषा में 'हुन्दर्त' शब्द सौ के लिए है और यह भी विद्वान् लेखक ने नहीं बताया कि यह हुण्ट और हुण्डेर्ट शब्द शत के परिवर्तित रूप हैं या केण्टुम के। हम पहले बता आये हैं कि 'ह' का उच्चारण कभी 'क' या 'ख' होता था। सो यूरप के सभी विद्वान् और A Concise Etymological Dictionary of the English Language के सम्पादक प्रसिद्ध विद्वान् स्कीट साहब ने Hundred की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—M. E. hundred, A. S. hundred Ger. hundert. The A. S. hund is congnet

with Latin cen-tum, answering to an Idg. Form Krmto'm.

शब्द से हेर्ल्स (अं० हार्ट) यह डॉ० साहब लिखते हैं सो उन्हें मालूम हो गया होगा कि प्राचीन समय में यूरुप के कई देशों में क या ख उच्चरित होता था। षष से हाजे (अं० हेअर) हुआ। बात ठीक है; किन्तु लेखक को मालूम ही होगा कि ष भारत में यजुर्वेद के समय से ख बोला जाता है। इसी कारण गोस्वामी ने ष का उच्चारण ख किया है। यहाँ तक कि प्राचीन हिन्दी में अनेक स्थानों पर इस ष के स्थान पर ख लिखा जाता था। भाषा-भाखा ही बोला जाता था। षडंग को पण्डित लोग आज भी खडंग कहते हैं इसलिये हाजे और हेअर के प्रथम अक्षर भी यूरोप में क या ख था।

विद्वान लेखक ने भारत की प्राकृतों की टक्कर में यूरोप की भाषाओं की प्राकृतों के अभाव की ओर ध्यान खींचा। भाषा विज्ञान के सब पंडितों के ज्ञान का इस दृष्टि से खण्डन किया। किन्तु खेद है कि विद्वान लेखक भाषा विज्ञान के अध्ययन की अधकचरी जानकारी होने के कारण अपने पाठकों को महान भ्रम में डाल रहा है। मैंने भाषा विज्ञान की इस कमी की ओर एक लेख में ध्यान खींचा है कि हमारे अध्यापक अधूरे ज्ञान के कारण किस प्रकार भाषा विज्ञान को कच्चा ज्ञान बनाकर पुस्तकें लिख रहे हैं। यूरोप में प्राकृतों के लिये भले ही प्राकृत शब्द न हो पर ध्वनि विकार नियम यूरोप की भाषाओं में विकार अर्थात् उनके शब्दों के प्राकृतीकरण होने के कारण ही बनाया गया था। यूरोप की जितनी बोलियाँ आजकल लिखी और बोली जाती हैं उनका रूप सदा बदलता गया है। ग्रीक क्रतुस शब्द गौथिक में खाड्रुंस रूप में प्रायः १२०० वर्ष पहले घिस गया था। प्राकृत का अर्थ है वे शब्द जो बनकर घिसते जाते हैं और जिन्हें जनता बोलती है। प्रापण शब्द का पावन वन गया और आज हिन्दी में उसका रूप पावना है। यह प्राकृत का ही रूप है जो हिन्दी या खड़ी बोली में है। विंशति सं० रूप है जो स्वयं घिस गया है अर्थात् इसके एक अक्षर का रूप विकृत हो गया है। हम जानते हैं कि सं० में दो के रूप द्वि और द्वौ है इस कारण विंशति द्विंशति का घिसा हुआ रूप है। द्वि का रूप कई भाषाओं में घिसकर विं या वि रह गया है जो अब कहीं-कहीं बी भी हो गया है। लैटिन में इसका रूप विगति है। फ्रैंच में वैंतँ आदि। किन्तु सं० तथा यूरोप की अन्य भाषाओं में द्वि का प्राकृत रूप में द् घिसने पर भी अँगरेजी में द्वौ का प्रतिरूप ट्वो है वर्तमान उच्चारण और मूल उच्चारण टो लिखा जाता है भले ही इसका स्वाभाविक रूप टू हो गया है, किन्तु इसके अक्षर साफ बताते हैं कि कभी यह ट्वो था। जर्मन में यह शब्द त्स्वाइ हो गया है जिसके भीतर द् के स्थान पर त आ गया है। भारत में वेदों में भी विंशति मिलता है। उत्तरी यूरोप की जातियों ने इस द् की किसी न किसी रूप में रक्षा की है। इसी प्रकार देखिये, अँग्रेजी एम (हूँ) ग्रीक एस्मि से गौथिक में इस्म रूप में परिवर्तित होकर अर्थात् सभी भाषाओं की जो परम्परा है उसका अनुसरण करके अब एम रूप में परिवर्तित हो गया है। जर्मनी के व्युत्पत्ति शास्त्र के विद्वान क्लूगे साहब ने बताया है कि जर्मन शब्द (Fuchs) फुखज इतना अधिक प्राकृत रूप में आ गया है कि अपने मूल तक इसे पहुँचा कठिन हो गया है (इसका रूप आदि आर्य भाषा में पुच्छ था ऐसे हजारों उदाहरण यूरोपियन मध्यकालीन भाषाओं से दिये जा सकते हैं जिसका हमारे विद्वान लेखक को कुछ पता नहीं मालूम पड़ता। हमारे विद्वान लेखक ने यूरोप की उन पुस्तकों को कभी नहीं देखा जो यूरोप की मध्यकालीन प्राकृतों पर हैं।

अब एक और तमाशा देखिये कि विद्वान लेखक की भाषा विज्ञान की विद्वता इस वाक्य से बहुत ही स्पष्ट हो जाती है। लैटिन परिवार की भाषाओं की उत्पत्ति किसी आदि लैटिन से नहीं बनीं, न जर्मन, स्लाव, द्रविड़ आदि भाषा परिवारों की उत्पत्ति अपनी-अपनी आदि भाषाओं से हुई है। इसी प्रकार संस्कृत परिवार की भाषाओं का जन्म भी संस्कृत से नहीं हुआ।"

भाषा-विज्ञान पर प्रामाणिक ग्रन्थ लिखने वाले विद्वान लेखक को इतना भी पता नहीं है कि ग्रीक और लैटिन आदि आर्य भाषा की उतनी ही सगी पुत्रियाँ हैं जितनी सगी संस्कृत है। किन्तु लैटिन बार-बार बदली है। उदाहरणार्थ प्राचीन लैटिन में देवर शब्द के स्थान पर देविर शब्द था। जो बाद की लैटिन में लेविर हो गया इसी प्रकार एक लैटिन 'नव्य लैटिन' भी कहलाती थी। उस नव्य लैटिन से इटालियन, फ्रैन्च, रोमान्स, प्रोवांशल, स्पेनिश और पोर्तुगीज भाषाएँ निकलीं। इन भाषाओं में भी इस समय नये रूप चल रहे हैं जिनकी जब व्युत्पत्ति लिखी जाती है तो प्राचीन रूप भी दिये जाते हैं क्योंकि भाषा का नियम है कि उसकी ध्वनि और शब्दार्थ का निरन्तर विकार और विस्तार चलता रहता है। जर्मन और रूसी भाषा के विद्वानों ने इन भाषाओं के प्राचीन रूपों पर बहुत कुछ लिखा है। खेद है कि विद्वान लेखक ने इस विषय का एक ग्रन्थ भी नहीं पढ़ा। जर्मन की प्राचीन प्राकृत गौथिक का नाम भी इनके ग्रन्थ में देखने में नहीं आया और नहीं प्राचीन अंग्रेजी प्राकृतों का ही कहीं उल्लेख मिला। यह नई बात लेखक ने हमें बताई है और वास्तव में इसे एक अविष्कार ही समझना चाहिये कि लेखक की कल्पना में भाषा में परम्परा का जो महत्व है उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। और बिना इस अस्तित्व के हम शब्दों के अर्थ में गड़बड़ी कर सकते हैं और भाषाओं की व्युत्पति नहीं निकाल सकते हैं। इस नियम के अनुसार तो भाषा या बोली उतनी ही व्युत्पत्ति हीन हो जायेगी जितनी कोई नवीन से नवीन भाषा। एक उदाहरण लीजिये। हम हिन्दी के मीठा शब्द का अर्थ चीनी या शक्कर समझते हैं। हलुवा मीठा होता है, गन्ना मीठा होता है, मिश्री मीठी होती है, गुजरात और महाराष्ट्र में मीठूं जिसका एक रूप हिन्दी में मिट्ठू भी है नमक को कहते हैं। यदि इन शब्दों की कोई परम्परा न हो तो हम दोनों को स्वतन्त्र बने हुए बिना व्युत्पत्ति का मानेंगे और हैरानी में पड़ जायेंगे कि इन दो स्वतन्त्र भाषाओं के स्वतन्त्र शब्दों की व्युत्पत्ति और परम्परा कैसे ढूँढ़े? फलतः इनका अर्थ घपले में रह जायेगा। इस घपले को दूर करने के लिये हम भाषा विज्ञान की सहायता लेंगे और उत्पत्ति और परम्परा का रहस्य ढूँढ़कर इस गुत्थी को सुलझायेंगे। अब देखिये मीठा शब्द संस्कृत के मिश्र के एक रूप मिष्ट से घिसते-मँजते प्राकृत में मिट्ठ हो गया है और वह मिट्ठ हिन्दी में मीठा कहलाने लगा। अब इस पर और थोड़ा विचार किजिये, मिश्र का अर्थ मिलाना होता है तथा मिष्ट का मिलाया हुआ प्राकृत के विद्वान जैनी हेमचन्द्र सूरि ने अपने प्राकृत व्याकरण में बताया है कि मिट्ठ शब्द मृष्ट से बना सो यह कोई बड़ा भेद नहीं है क्योंकि मृष्ट का अर्थ मिलाया या गुदा हुआ होता है। अब यहाँ यह भी मालूम हो जाता है कि शब्द कैसे बनते हैं। इस शब्द का तमाशा देखिये कि उत्तर भारत में चीनी मिलाने के कारण मीठा-मिठाई आदि शब्द बने। गुजरात और महाराष्ट्र में उन लोगों को लवण-युक्त पकवान पसन्द आने के कारण वहाँ मीठूं लवण हो गया। उत्तर भारत से सम्बन्ध होने के कारण शक्कर मिले हुए पकवानों को मिठाई भी कहते हैं। वैसे गुजराती में मीठे को गौड़ (गुड़ मिला हुआ) भी कहते हैं। भाषा विज्ञान के अनुसार स्वतन्त्र बोलियाँ संसार में बहुत कम हैं। बोलियों का इतिहास और उनकी परम्परा सदा अति प्राचीन समय तक पहुँचती है। बिना परम्परा की भाषाएँ सभ्य और संस्कृत समाजों में तो होती ही नहीं और असभ्य समाज में भी देखने में नहीं आईं।

उक्त बातों में हमने बता दिया है कि प्राकृतें भले ही भारत की हों, ईरान की हों और यूरोप की हों बिना प्रमाणों के उनका अस्तित्व ही नहीं माना जाता। कल्पना पर कोई प्राकृत बनाई नहीं जाती। यदि अंग्रेजों की भाषा के पूर्वज एम के स्थान पर इस्म न लिखते तो कोई भाषा विज्ञानी 'इस्म' देना स्वीकार नहीं करता। यह शब्द १२०० वर्ष पहले उल्फिलास ने बाइबिल का गौथिक में अनुवाद करते समय प्रयुक्त किया है। और उल्फिलास के गौथिक अनुवाद के कुछ अंश आज भी प्राप्त हैं। रूसी भाषा की मध्यकालीन प्राकृत में भी बाईबिल का अनुवाद हुआ था। इस बाईबिल की

डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

भाषा-विज्ञान में पाश्चात्य भाषाविज्ञान तथा अमरीकी भाषाविज्ञान के अन्धानुकरण से भाषाविज्ञान में समाज निरपेक्षता अधिक बढ़ रही है। "वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के विदेशी आचार्यों की तुलना में उनके भारतीय शिष्यों ने भाषातत्त्व को और भी समाज-निरपेक्ष बना दिया है। सामाजिक विकास के सन्दर्भ में भी भाषा का अध्ययन किया जा सकता है, यह बात सुनते ही ये ऐसे चौंक उठते हैं जैसे विप्रवर के चौके में शूद्र घुस आया हो।" (पृष्ठ १५)। ध्वनिविज्ञान भाषाविज्ञान का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है किन्तु विशेषज्ञ किसी भाषा की प्रकृति पर ध्यान न देकर केवल ध्वनि-उच्चारण और स्थान, स्वरूप आदि पर ही अपने कार्य की इतिश्री समझ बैठते हैं—"कुछ ध्वनिविज्ञानियों की वर्गीकरण-नामकरण-दक्षता सामन्ती साहित्यशास्त्रियों के नायिकाभेद और अलङ्कारशास्त्र की याद दिलाती है। अन्तर यह है कि नायिकाओं का वर्गीकरण ध्वनियों के वर्गीकरण से अधिक सरस होता था।"

'भाषा उत्पत्ति' भाषाविज्ञान का प्रथम प्रश्न है। इस पुस्तक में पावलोव के शरीरशास्त्र के आधार पर भाषा को एक 'बाधित उत्तेजक' क्रिया सिद्ध किया गया है। 'भाषा' मनुष्य (और पशु) द्वारा भी बाह्यजीवन में उसके प्रकृति से सङ्घर्ष, उसके प्रभाव और आपसी सहयोग का फल है। वह कोई स्वयं प्रकाश्य ज्ञानात्मक उपलब्धि नहीं है। मनुष्य को "जीवन यापन की आवश्यकताओं ने उसे ध्वनिसंकेतों का उपयोग करने के लिए विवश किया, अपने शारीरिक गठन के कारण वह अन्य पशुओं की अपेक्षा अधिक ध्वनिसंकेतों से काम ले सका।" (पृष्ठ १६)।

भाषा की ध्वनिप्रकृति में लेखक ने विभिन्न भाषाओं के 'ध्वनिस्वभाव' पर प्रकाश डाला है। यथा बँगला में शकार बहुलता है। हिन्दी में श और ष का भेद मिट गया है। व्रज, अवध और मिथिला में 'ण' का प्रयोग नहीं होता। इन प्रदेशों में श, ण, व की जगह स, न, ब बोला जाता है किन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि 'सांस्कृतिक कारणों' से खड़ी बोली के साहित्यिक रूप में श, ण, ल, व का प्रयोग खूब होता है। हिन्दी-प्रदेश में जिस तरह सत्कार की जगह 'शत्कार' कहने पर लोग मुस्करा उठते हैं, उसी तरह 'भाषा' की जगह 'भासा' कहने पर भी।

प्रत्येक भाषा अन्य भाषाओं को बोलते समय उनकी ध्वनियों को अपनी ध्वनिप्रकृति के अनुकूल करती है, इसीलिए अंग्रेजी विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न रूपों में सुनाई पड़ती है। शब्द-निर्माण में भी यही प्रवृत्ति पाई जाती है। यथा उक्त पुस्तक के लेखक के अनुसार हिन्दी शब्द फारसी का नहीं है। कहा जाता है कि ईरानी सिन्धु या सिन्ध को हिन्द कहते थे। 'स' के लिए 'ह' की इस ईरानी प्रवृत्ति को सत से 'हफ्त' के उदाहरण से पुष्ट किया जाता है किन्तु प्रस्तुत पुस्तक में सकारात्मक ईरानी शब्दों का सङ्कलन करके यह दिखाया गया है कि ईरानी ने सिन्धु से हिन्द नहीं बनाया बल्कि हिन्दी प्रदेश की भाषाओं में दकारात्मक प्रवृत्ति प्रबल है। कश्मीरी, राजस्थानी, पञ्जाबी और हिन्दी में महाप्राणात्मकता बहुत अधिक है अतः हिन्द हिन्दी जैसे शब्द भारत में ही बने। यही नहीं प्रचलित भाषाविज्ञान के विरुद्ध डा० शर्मा का अनुमान है कि यूनानी

प्रतियाँ आज भी मिलती हैं और गिरजों में पढ़ी जाती हैं। रूसी भाषा की परम्परा लिखते समय इस प्राकृत से सहायता ली जाती है और इसे प्राचीन गिरजों की स्लाविश कहा जाता है। इस कारण यदि हम किसी प्राकृत का न तो भाषा क्रम सप्रमाण जानते हैं और नहीं उसका कोई साहित्य वर्तमान है तो अपनी कल्पना और भाषा विज्ञान का अधूरा ज्ञान होने के कारण ही उसका अस्तित्व समझते हैं जैसा कि हमारे विद्वान लेखक ने खड़ी बोली के सम्बन्ध में अजीब बातें लिखने की हिम्मत की है।

—वाराणसी।

भाषा में स्वप्न के लिये 'हुप्नोस' जैसे शब्दों में हकारात्मकता पर भारत का प्रभाव पड़ा होगा। (पृष्ठ २७)

पाणिनि ने 'र' और 'ल' का अभेद स्वीकार किया था। डा० सुनीतकुमार चटर्जी के अनुसार पश्चिम की बोलियों में 'र' और पूर्वी बोलियों में 'ल' की प्रधानता थी। किन्तु डा० शर्मा के अनुसार पूर्वी बोलियों में 'र' का प्रयोग अधिक था। इसी प्रसङ्ग में डा० चटर्जी की इस मान्यता का खण्डन किया गया है कि वैदिक मन्त्र भारत से बाहर निर्मित हुए। हिन्दी प्रदेश में 'ष' का 'छ' हो जाता है, शतञ्जीव का छतंजी, षष्ठ का 'छ' या 'छह' आदि। संस्कृत भाषा में भी इष् से 'इच्छति' जैसे रूपों में छकार विद्यमान है। इससे डा० शर्मा ने यह अनुमान लगाया है कि संस्कृत बोलचाल की भाषा थी और हिन्दी प्रदेश में चूँकि 'ष' की जगह 'छ' के उच्चारण की प्रवृत्ति थी, अतः इस ध्वनिप्रकृति ने संस्कृत को भी प्रभावित किया, इसका यह भी अर्थ हुआ कि संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी-प्रदेश में अन्य भाषाएँ बोली जातीं थीं और हिन्दी आदि आधुनिक भाषाएँ उन्हीं जनभाषाओं से निकली हैं जिनमें 'ष' को 'छ' बोला जाता होगा। अतः संस्कृत से हिन्दी, अवधी आदि का विकास हुआ है यह गलत है!

प्रचलित भाषा-विज्ञान के अनुसार मूल भारोपीय भाषा की कण्ठ्यध्वनियाँ (क, ख, ग, घ) लैटिन, ग्रीक आदि में सुरक्षित रहीं, भारत और रूसी शाखा में ये ध्वनियाँ ऊष्म (स ष, श) होगईं। लैटिन में 'सौ' संख्या कैंतुम और संस्कृत में शत, फारसीं में सद प्रमाण हैं। डा० शर्मा ने इस धारणा का भी खण्डन किया है:—"प्रश्न यह है कि किम्, कः, कुतः, कत, कुत्र आदि क-युक्त शब्दों का विशाल भण्डार रखने वाली संस्कृत ने केन्तुम के 'क' को ही क्यों अछूत समझा? उत्तर भारत में ऐसी भाषाएँ तो हैं जो श तथा अन्य वर्णों को हकार में बदल देती हैं लेकिन 'क' का स्थान 'श' को देने वाली भाषाएँ कौन सी हैं? उधर लैंटिन और ग्रीक दोनों में 'श' का अभाव है। इसलिए सम्भावना यही अधिक है कि उन्होंने 'श' के बदले 'क' रूप अपनाए होंगे।" (पृष्ठ ३८)

यह स्थापना केन्तुम-शतमवादियों के लिए एक चुनौती है। प्रतिवर्ष भाषा-विज्ञान के छात्रों से यह प्रश्न पूछा जाता है और प्रतिवर्ष छात्र एक अप्रमाणित गलती को दुहराते चले जा रहे हैं कि केन्तुम-शतम का वर्गीकरण सही है।

प्रचलित भाषा-विज्ञान मानता है कि मूल भारोपीय ज और झ ध्वनियाँ आधुनिक आर्यभाषाओं में लुप्त हो गई हैं किन्तु डा० शर्मा के अनुसार ये ध्वनियाँ हमारी भाषाओं में मिलती हैं, अतः डा० चटर्जी का यह अनुमान असङ्गत है कि "अग्निम् ईले (ईडे) पुरोहितम्" (ऋग्वेद) का रूप यों रहा होगा—"अग्निम् इज़्दह पुरज़्-धितम्"। अनेक उदाहरण देकर डा० शर्मा ने यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त निकाला है कि ग्रीक, लैटिन, संस्कृत की जननी 'मूलभारोपीय भाषा' की कल्पना भ्रान्त है। ये सब स्वतन्त्र भाषाएँ हैं, और इनमें समानताएँ इन भाषा के बोलने वालों के परस्पर सम्पर्क का फल है। एक भाषा में परस्पर विरोधी ध्वनियाँ होती हैं अतः संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि की ध्वनि-प्रकृति एक अखण्ड, अविच्छेद्य इकाई न होकर विरोधी ध्वनि-प्रकृतियों का समन्वय है। (पृष्ठ ४२)। डा० शर्मा के अनुसार योरोपीय भाषाओं में अल्प प्राणध्वनियाँ अधिक हैं, महाप्राण अघोष ध्वनियों के ही अपनाए गए हैं, सघोष ध्वनियों के महाप्राण योरोपीय भाषाओं में बहुत कम हैं। इसके विपरीत भारतीय भाषाओं में सघोष महाप्राण बहुत हैं, यह अन्तर महत्वपूर्ण है। डा० शर्मा ने निष्कर्ष निकाला है कि भ्रात और ब्रात में इसलिए भ्रात को ही मूल रूप मानना चाहिए। इसी प्रकार घ, ध, भ आदि सघोष महाप्राणों को 'मूल' और इनके योरोपीय रूपों को परवर्ती मानना चाहिए!

भाषा की भाव प्रकृति का अध्ययन भी दिलचस्प है, यथा संख्यावाचक शब्दों में दहाई यहाँ बाद में रखी जाती है, इसके विपरीत योरोपीय भाषाओं में प्रायः १९ के बाद दहाई पहले आती है। किन्तु लैटिन, ग्रीक आदि में कई संख्या-वाचक शब्दों में दहाई बाद में भी आती है, ऐसे स्थानों में डा० शर्मा के अनुसार भारतीय प्रभाव समझना चाहिए। "पूर्व की संख्या पद्धति ने

ग्रीक-लैटिन भाषाओं को प्रभावित किया" ! (पृष्ठ ४८) 'भाषा और समाज' के अनुसार यूरोप की आर्य भाषाएँ अरबी आदि शमी परिवार के जितनी निकट हैं, उतनी भारतीय भाषाओं के नहीं ! इसी तरह शमी भाषाओं और चीनी भाषा के सादृश्य पर बल दिया गया है। द्रविड़ भाषाओं को भारतीय भाषाओं के निकट माना गया है (पृष्ठ ६१)। 'मूल शब्द भण्डार' को वर्गीकरण के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है और इस दृष्टि से भी अनेक उदाहरण देकर यह सिद्ध किया गया है कि "पिता-माता, भ्राता आदि के आधार पर यूनानी भाषा को भारत-योरोपीय परिवार के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता" (पृष्ठ ७३)। इसी प्रसङ्ग में डा० शर्मा ने इस अनुमान का विरोध किया है कि यूरोप से आर्य लोग भारत आए थे किन्तु ह्लोज्नी के इस मत को वह स्वीकारते हैं कि यदि आर्य बाहर से आये थे तो उनका आगमन मध्य-एशिया से अधिक सम्भव है। वस्तुतः योरोप से भारत आगमग या मध्य एशिया से भारत आगमन, इन दोनों सिद्धान्तों को पूर्णतः प्रमाणित करना भाषाओं के आधार पर सम्भव नहीं लगता किन्तु भारत में आर्य आगमन पर भाषा, पुरातत्व, साहित्य आदि के आधार पर इतने अधिक प्रमाण है कि आर्य आगमन सिद्धान्त का खण्डन और भी अधिक असम्भव होगया है ! ह्लोज्नी कहते हैं कि उन्होंने सिन्धु लिपि पढ़ ली है किन्तु वह यह भी कहते हैं कि अभी इसे पूर्णतः प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। अतः जब तक पुरातत्त्व भाषा-शास्त्रियों के अनुमानों को पुष्ट नहीं करता तब तक 'तर्कसङ्गत अनुमान' को ही प्रमाण माना जाएगा।

'भाषा और समाज' की उपर्युक्त मौलिक धारणाओं के पश्चात् हिन्दी भाषाभाषियों के लिए एक सर्वथा मौलिक धारणा यह है कि संस्कृत परिवार की भाषाओं का जन्म संस्कृत से नहीं हुआ है। संस्कृत— हिन्दी, बँगला, अवधी आदि की जननी नहीं है। किशोरीदास वाजपेयी इस मौलिक धारणा के पिता हैं ! हिन्दी, बँगला, अवधी, व्रज आदि भाषाएँ संस्कृत के साथ-साथ विभिन्न प्रदेशों में जनबोलियों से विकसित हुई हैं, संस्कृत खड़ी बोली की तरह एक प्रदेश की बोली होकर फिर परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा के रूप में अन्य प्रदेशों में भी स्वीकृत होगई किन्तु इससे उन-उन प्रदेशों की बोलियों का प्रयोग बन्द नहीं हुआ, इन्हीं से आधुनिक भाषाओं का विकास हुआ है। अतः संस्कृत प्राकृत—अपभ्रंश—आधुनिक भाषाएँ—यह सोपान अपनाना गलत है। उदाहरणतः हिन्दी कारक 'ने' संस्कृत से भिन्न किसी बोली से आया होगा। डा० शर्मा के अनुसार हिन्दी की बोलियों में 'त्र' वाले रूप नहीं हैं, इतै, उतै, यत्र तत्र के अपभ्रंश क्यों माने जायें ? संस्कृत में 'कृ' से 'कर्' नहीं हुआ, 'कर्' से 'कृ' हुआ है ! संस्कृत में गिर् [निगलना] का संकुचित रूप 'गॄ' है, कौन प्राचीन है ? अतः हिन्दी की 'देना' क्रिया दा या दद् का भ्रष्ट रूप नहीं है। वह संस्कृत के समानान्तर किसी जनपदीय भाषा की क्रिया है ! 'पूछत' 'प्रच्छ' से ही बना, यह आवश्यक नहीं है। पियत या पीता को 'पिबति' से सिद्ध नहीं किया जा सकता, इसी प्रकार 'सोना' [क्रिया] न सस् से बना है, न स्वप् से वह 'सो' का विकसित रूप है ! हिन्दी 'दौड़' का मूल पूर्वी का 'दौर' है। कन्नौजी का 'हुइहै' अवधी के होइहै का लघुरूप है, ये भू से नहीं निकले। डा० शर्मा अवधी-प्रेमी हैं, लिखा है कि संस्कृत के विकास में पूर्वी प्रदेशों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, यह तो ठीक ही है किन्तु पूर्वी प्रदेशों के योगदान का महत्व ईरान अफगानिस्तान होकर आर्यों के आगमन के सिद्धान्त से कम होता है, बस इसीलिए आर्य आगमन ईरानी मार्ग से नहीं मानना चाहिए ? एक और कारण भाषा और समाज में यह गिनाया गया है कि "तीसरा कारण पूर्वी प्रदेशों की वर्तमान गरीबी है, जिससे संस्कृत जैसी भाषा के विकास में उनके योग की कोई कल्पना नहीं करता।" अन्तिम कारण सही नहीं है क्योंकि मध्यदेश की कल्पना में प्रयाग तक का भाग सम्मिलित किया जाता रहा है, वैयाकरण कुछ भी कहें, 'आर्य' कही जाने वाली संस्कृत में गढ़ प्रथम कुरु-पाञ्चाल और तत्पश्चात् अयोध्या, प्रयाग, काशी आदि बने। 'त्रेतायुग' में ही पूरब को यह गौरव प्राप्त हो चुका था। मनुस्मृति

में हिमालय और विन्ध्याचल के मध्य प्रयाग तक का देश मध्यदेश कहलाता था :—

हिमवद्-विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग् विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः (मनु. २—२१)

भाषा और समाज में प्राकृत, अपभ्रंशों के प्रति डा० शर्मा का दृष्टिकोण कुछ अधिक कोमल होना चाहिए था। यह विवादास्पद है कि प्राकृत और अपभ्रंश सर्वथा कृत्रिम भाषाएँ थीं। संस्कृत के नाटकों में इन का प्रयोग इतना अवश्य सिद्ध करता है कि इन्हें जनता समझती थी अन्यथा भरत विभिन्न वर्गों के लिए विभिन्न पदों के लिए भिन्न भाषाओं का प्रयोग अनिवार्य न करते। नाट्यशास्त्र की प्रतिज्ञा है कि नाट्य में 'लोकवृत्तानुकरण' होना चाहिए। इसके बाद संस्कृत काव्य और साहित्य के ह्रासकाल प्रारम्भ होने पर, राजशेखर जैसे संस्कृतज्ञ लोक-भाषाओं की 'मधुरता' की प्रशंसा करते हैं— 'मधुरः मधुरावासि-भणितिः'—मथुरा की मधुर भाषा शौरसेनी [सम्भवत- अपभ्रंश] के माधुर्य की प्रशंसा है। राजशेखर ने लाट देश के विषय में लिखा है, कि लाट-जन संस्कृत के शत्रु होते हैं, परन्तु प्राकृत पाठ सुन्दर करते हैं। उनके प्राकृत काव्य पाठ के समय उनका जिह्वा सञ्चालन भला लगता है—

पठन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः ।
जिह्वया ललितोल्लाप-लब्ध-सौन्दर्य मुद्रया ॥
[काव्य मीमांसा सप्तम अध्या.] ।

गुर्जर प्रतिहारों के कन्नौजी राज्य में नवम् शताब्दी में संस्कृत आम भाषा नहीं थी अतः अपभ्रंशों का प्रचार अधिक था। राजशेखर के अनुयायी हेमचन्द्राचार्य ने अपभ्रंश के दोहों का संग्रह किया था जो स्पष्टतः जनता में कहे जाते होंगे। कन्नौजी दरबार के ही कवि भवभूति ने प्राकृतों का नाटकों में प्रयोग किया है। इसी दरबार के अन्य कवि वाक्पतिराज ने 'गौडवध' काव्य प्राकृत में लिखा था। राजशेखर ने स्वयं कर्पूर मञ्जरी सट्टक प्रांकृत में लिखा। प्राकृत सम्भवतः इस युग तक अपभ्रंशों को स्थान देकर केवल शिक्षितों की भाषा रह गई हो। वस्तुतः सम्भावना यही है कि प्राकृत जन प्राकृतों के साहित्यिक रूप हैं और प्रचलित भाषा-विज्ञान की इस धारणा को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है।

राजशेखर के अनुसार प्राकृतों के विषय में दो मत हैं। कुछ उन्हें प्रकृति सिद्ध मूल भाषा मानते हैं और संस्कृत को उनका परिनिष्ठित रूप। दूसरा मत यह है कि संस्कृत मूल भाषा है और प्राकृत उसका विकृत रूप। "वह प्राकृतों अर्थात् साधारण जनों की भाषा है।" इन मतों में राजशेखर प्रथम मत को मानते हैं। जबकि डा० शर्मा द्वितीय मत के समर्थक हैं। राजशेखर ने अपभ्रंश को 'भव्य भाषा' कहा है :— 'सुभव्योऽपभ्रंशः' मारवाड़, पूर्वी पञ्जाब [यानों हिन्दी प्रदेश !] तथा स्यालकोट का विस्तृत भाग अपभ्रंश भाषी था —सापभ्रंश प्रयोगाः सकल मरु भुवष्ट-क्क-भादान-काश्च। [काव्य मीमांसा अध्याय १०]। यही नहीं काठियावाड़ और गुजरात में अपभ्रंशों का प्रयोग होता था। [काव्य० अध्याय ७]। राजशेखर 'भूत भाषा' को 'सरसरचनं' कहते थे।

दण्डी के अनुसार महाराष्ट्री प्राकृत के लिए "महा-राष्ट्र में प्रयुक्त भाषा" कहा है (काव्यादर्श, ३४)। शौर-सेनी, गौड़ी लाटी तथा "अन्यों" को "व्यवहार" में प्राकृत भाषा कहा जाता था (काव्यादर्श, ३५) भरत-मुनि ने भी मागधी, अवन्तिजा, शूरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका, दाक्षिणात्या तथा प्राच्या, इन सात प्राकृत भाषाओं की चर्चा की है। आचार्य दण्डी ने आभीर "आदि" भाषाओं को अपभ्रंश के अन्तर्गत माना है।

"महाभाष्य" में संस्कृत के अतिरिक्त अन्य व्यवहृत भाषाओं को "अपभ्रंश" कहा गया है, उन्हें "कृत्रिम" नहीं कहा जा सकता।

जो वैयाकरण "प्राकृतों" और अपभ्रंशों को "कृत्रिम" भाषा मानते हैं- उन्हें साहित्यिकों के उक्त मतों पर विचार करना चाहिए।

संस्कृत किस प्रकार राष्ट्रभाषा बनी और किस प्रकार यहाँ राष्ट्रीयता का उदय हुआ, इस प्रश्न पर डॉ० शर्मा ने समाजशास्त्रीय विधि से मार्मिक विचार प्रकट किए हैं। "हमारे इतिहास की विशेषता है कि भिन्न भाषाओं और जातियों के स्वतन्त्र अस्तित्व की

चेतना रहते हुए भी यहाँ अखिल देशगत राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ।" इसका कारण धर्मविशेष न होकर हमारी संस्कृति है, जिममें बौद्ध, जैन आदि भिन्न मतावलम्बियों की देन शामिल है" (२१९)। यह एकता साम्राज्यों और उसके साथ-साथ अन्तरप्रान्तीय व्यापार के कारण भी सम्भव हुई थी। इस एकता का वाहन थी संस्कृत, जो शासकों की सांस्कृतिक भाषा थी। भारत में भाषा का सम्बन्ध धर्म से जुड़ गया। संस्कृत ब्राह्मणवादियों की भाषा मानी जाती रही है, यद्यपि बौद्धों के महायान मत ने इसे स्वीकार किया परन्तु महायान को हीनयान ने कभी वास्तविक बौद्ध मत नहीं माना। ब्राह्मणवाद के विरोधी विरोध प्रकट करने के लिए प्राकृतों में लिखने लगे। सिद्धों ने ब्राह्मणों की विषमतावादी, वर्णवादी प्रवृत्तियों का विरोध इसीलिए बोलियों में (अर्द्धमागधी) किया। जब संस्कृत केवल उच्च वर्ग की भाषा हो, उस समय जनभाषाओं का अपनाना प्रगतिशील कदम था या प्रतिक्रियावादी ? धर्माचार्य अपने-अपने धर्मप्रवर्तकों की भाषाओं में तब भी लिखते रहे जब वे भाषाएँ अव्यवहृत होगईं किन्तु यह प्रवृत्ति तब सभी में थी और इस प्रवृत्ति से उन्हें संस्कृत और अब हिन्दी अपनाने में कोई बाधा नहीं हुई। "सामन्तीयुग के ह्रासकाल" तक प्राकृतों और अपभ्रंशों का उच्चारण संस्कृत से कठिन होगया। इसके सिवा अधिकांशतः जनता का सांस्कृतिक सम्बन्ध संस्कृत से था, अतः संस्कृत शब्द अपनाए गए। राजस्थानी के विकास में अपभ्रंश का सोपान स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

भाषा और समाज में जातीयता के प्रश्न पर विस्तार से विचार किया गया है। बङ्गाली, पञ्जाबी, गुजराती, महाराष्ट्री, हिन्दी भाषा-भाषियों की अलग-अलग जातियाँ हैं, अर्थात् बङ्गाली जाति की भाषा बँगला है, उसका एक प्रदेश है, सामान्य आर्थिक जीवन है और सामान्य संस्कृति है जो विभिन्न धर्मों, आचारों, कलाओं आदि के एक साथ विकसने से बनी है। पूँजीवादी व्यवस्था में महाजातियों (नेशन) का निर्माण होता है किन्तु जातियों का निर्माण सामन्तवाद में भी हो जाता है, कुछ जातियों का निर्माण पूँजीवादी व्यवस्था में भी होता रहता है। इस सम्बन्ध में डॉ० शर्मा का नवीन मत यह है कि "भाषा, संस्कृति और इतिहास किन्हीं परिस्थितियों में आर्थिक उपकरणों से प्रबलतर सिद्ध होते हैं" [२७१]। जो लोग प्रगतिवादियों को अर्थवादी कहते हैं, उन्हें यह स्थापना ध्यान से पढ़नी चाहिए। आशा यह है कि भाषा के बाद इतिहास पर लिखते समय डॉ० शर्मा को यह कहना पड़े कि किसी जाति का संगठित मनोबल इतिहास के वैज्ञानिक नियमों से भी प्रबलतर साबित होता है। यह एक तथ्य है कि मार्क्सवाद में अर्थ को निर्णायक तत्व मान कर अन्य तत्वों को इतिहास के विकास में उस सीमा तक महत्व नहीं मिलता, जिस सीमा तक उनका महत्व है। अब इस प्रवृत्ति की जाँच पड़ताल होरही है, यह प्रगतिवाद के लिए शुभ लक्षण है। 'मूलतः' मार्क्सवादी स्थापनाएँ सत्य हैं किन्तु किसी देश में उनके प्रकाश में अध्ययन करते समय वे केवल स्थूल रेखाओं का ही नाम दे सकती हैं, यही कारण है कि स्तालिन के जातीयता-सिद्धान्त के प्रकाश में राहुलजी हिन्दी प्रदेशों में बोलियों के अनुसार प्रान्त-निर्माण चाहते थे और डॉ० शर्मा पूरे हिन्दी प्रदेश का एक प्रान्त चाहते हैं।

बँगला, मराठी, गुजराती आदि जातियों के लिए अलग-अलग राज्यों का संघर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ है। इस जातीयता के सिद्धान्त ने देश की कम हानि नहीं की है, उत्तरदायित्व सब पर है। इसी सिद्धान्त के आधार पर पाकिस्तान का समर्थन किया गया था। और उन समर्थकों में साम्यवादी दल के धुरन्धर सिद्धान्तवादी भी थे। यह दिलचस्प बात है कि हिन्दी-उर्दू मसले पर हिन्दू साम्यवादियों और मुसलमान साम्यवादियों में तीव्र मतभेद है इससे सम्प्रदायवादी हिन्दू और मुसलमान लाभ उठाते हैं। एक दृढ़ केन्द्रीय शासन ही देशगत एकता की रक्षा कर सकता है जबकि प्रान्तीयतावाद अर्थात् जातीयतावाद इतना प्रबल हो रहा हो। रूस में समस्या इसलिये हल हो गई कि रूसी भाषा को अनिवार्य किया गया, और इसमें ढील नहीं बरती गई। जनतन्त्रात्मक शासन में यह सम्भव नहीं है क्योंकि

यहाँ आञ्चलिक दबाव' की केन्द्र उपेक्षा नहीं कर सकता, चुनाव का भय है। अतः जातीयवाद और राष्ट्रवाद में आवश्यक संतुलन नहीं आ पाया। यह आज मुख्य समस्या है। हिन्दू मुस्लिम सम्प्रदायवाद से भी अधिक यह नया 'जातिवाद' (प्रान्तवाद) भयङ्कर सावित हो रहा है, आसाम में भाषा के झगड़े प्रमाण हैं अतएव इस उपदेश का कोई प्रभाव पड़ना नहीं है कि सब जातियों को देशगत हित का ध्यान रखना चाहिये। हर प्रान्त में राजनैतिक दलों ने इस जातिगत भाव को भड़काया, गलत नारे दिये गये, देशगत हित के साथ जातीय प्रेम किस रूप में सम्बद्ध है, इस पर सबसे कम बल दिया गया। दायाकोव साहब ने १९-४६ में घोषणा की कि भारत एक राष्ट्र नहीं है, बस फिर जनपदीय आन्दोलनों की ऊष्मा चरम सीमा पर जा पहुँची। अब प्रमुख जातियों के प्रान्त बन गये हैं; फलतः अब नम्बर है, अप्रमुख जातियों का और भारत में अप्रमुख जातियाँ प्रमुख जातियों से हजार गुनी अधिक हैं। क्योंकि यहाँ इस देश में भाषा से भी अधिक महत्त्व, आचार, खानपान, विवाह-सम्बन्धों आदि को मिला। उदाहरणतः कुमाउनी "जाति" गढ़वालियों से घृणा करती है क्योंकि उनका "इतिहास" भिन्न है। कल इन जातियों के नाम पर अलग राज्य की माँग हो सकती है। जाति और राज्य के सम्बन्ध को यदि अलग रखा जाता तो देशगत एकता में बाधा न पड़ती किन्तु जातिवाद (कास्ट) के सिवा एक नया जातिवाद और आ गया। अतः यह उचित ही हुआ है कि "भाषा और समाज" में जातीयतावाद के साथ-साथ देशगत एकता पर भी बल दिया गया है। जातीयवाद और राष्ट्रवाद का सबसे अच्छा हल यह है कि राज्य (स्टेट्स) तो शासन की सुविधानुसार हों किन्तु भाषागत जन-समूहों को ध्यान में रखकर राज्य के भीतर यूनिटें कायम की जाएँ और उन-उन स्थानीय भाषाओं और संस्कृतियों की उन्नति के उपाय किये जाएँ। इस जाति-पाँति के झगड़े ने राष्ट्रवाद की ही हानि नहीं की है, बल्कि आर्थिक सङ्घर्ष से भी जनता का ध्यान हटा दिया गया है। मजदूर तक जातियों के आधार पर संगठित होने लगे हैं। इस प्रवृत्ति की ओर India, the most dangerous decades नामक पुस्तक में भी एस० हैरीसन ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है। उक्त पुस्तक में डा० शर्मा का राष्ट्रभाषा हिन्दी के विरुद्ध एक उद्धरण दिया गया है, पता नहीं इस उद्धरण को शुद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है या नहीं :—

"The demand for a Rastra Bhasha, in the month of Indian big business reveals its own imperialist and colonial ambitions". (on the language question in India.)

यदि एक मजदूर हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में चाहता है तो क्या उसे पूँजीवादी कहा जायगा? अहिन्दी प्रदेशों में पैर जमाने के लिए देशगत एकता की परवाह न करके, स्थानीय व्यापारियों का सहयोग लेकर उत्तर भारत के हिन्दी पक्षपाती व्यापारियों का विरोध यदि तर्क-सङ्गत है तो स्थानीय पूँजीपतियों का विरोध इसीलिए असङ्गत भी है क्योंकि वह उस प्रदेश की जाति का व्यक्ति है! मुख्य प्रश्न यह है कि अँगरेजी के स्थान पर यदि विश्वविद्यालयों की भाषा हिन्दी नहीं हुई अथवा अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी को अनिवार्य रूप से नहीं सिखाया गया तो क्या देश की एकता रह सकेगी? तीन भाषाओं का फार्मूला यदि सब वास्तविक रूप में प्रयुक्त करें तो एकता बच सकती है किन्तु दक्षिणी भाषाओं से यहाँ हिन्दी प्रदेश में 'मराठी' ही अधिक पढ़ी जाएगी क्योंकि वह सरलतम है और मराठी वस्तुतः दक्षिणी भाषा है नहीं। यू० पी० में इस वर्ष सबसे अधिक 'मराठी' ही कक्षा ६ में प्रारम्भ की गई है। सौभाग्यवश मद्रास को छोड़कर हिन्दी का उतना विरोध नहीं है अतः आशा यह है कि कम से कम एक सौ वर्ष बाद अँगरेजी का स्थान हिन्दी ले सकेगी! इस प्रश्न पर इतनी अधिक अनुदारता है कि डा० शर्मा के तर्क बहुत कम प्रभाव डाल सकेंगे। दूसरे यह 'हिन्दुस्तानी जाति' का अस्तित्व भी अस्थायी है। विभाजन और उसके बाद के झगड़ों के कारण वैम-

न्य इतना अधिक है कि प्रगतिशीलों और दृढ़ राष्ट्रवादियों को छोड़कर प्रायः इसी धार्मिक पक्षपात के लोग शिकार हो रहे हैं। देवनागरी लिपि को उर्दू वाले इसी लिए नहीं अपनाते कि उनका फारसी लिपि से भावात्मक लगाव बहुत अधिक है, इस कटु सत्य को स्वीकार करके ही हम इस कटुता के विरुद्ध सङ्घर्ष कर सकते हैं। कल्पित मनोराज्य में विचरण से कोई समस्या नहीं सुधरती। मजहबी अन्धविश्वास मुख्य समस्या है। इतिहास और विज्ञान की शिक्षा और प्रगतिशील शक्तियों की प्रबलता से ही यह कार्य सम्भव है, इसके अभाव में सहिष्णुता की अपील सतही प्रयत्न है और दुर्भाग्यवश इतिहास और विज्ञान की शिक्षा में भी हमारा धार्मिक पक्षपात छूटता नहीं है। यह सम्भव है कि एक सदी बाद शिक्षा के प्रभाववश हिन्दी-उर्दू एक हो जाए किन्तु जैसा कि डा० शर्मा ने स्वयं कहा है कि कोई भी जाति दृढ़सङ्कल्प होकर अपनी 'संस्कृति' और 'भाषा' की रक्षा शासित और शोषित होने पर भी कर लेती है। सम्भावना यही है कि हिन्दी जाति के भीतर रामपुर, मुरादाबाद, बरेली, शाहजहाँपुर आदि शहरों में ही नहीं, गाँवों में भी शिक्षा के साथ जो 'जातीय प्रेम' बढ़ रहा है उससे हिन्दी उर्दू अलग-अलग दो शैलियों के रूप में बनी रहेंगी और मैं समझता हूँ कि यदि 'हिन्दी जाति' के प्रति सबमें निष्ठा हो और मजहबी रोग कम हो जाए तो हिन्दी और उर्दू की अलग-अलग शैलियाँ विकसित हों, इसमें कोई हानि नहीं है। उर्दू का अपना मजा है, दोनों एक हो गई तो भी लोग उस मजे के लिए मीर और गालिब को पढ़ेंगे ही। देवनागरी लिपि को यदि सार्वदेशिक लिपि मान लिया जाये तो बहुत से कष्ट दूर हो जाएँ पर राजनीतिज्ञों की कृपा से यह भी शीघ्र ही सम्भव नहीं है।

भोजपुरी और मिथिला के सम्बन्ध में डा० शर्मा ने उदयनारायण तिवारी की मान्यताओं का रोचक खण्डन किया है। भोजपुरी हिन्दी के निकट है, यह स्पष्ट है। अनुवाद की समस्या पर भी लेखक ने महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। लेखक के मत से वैज्ञानिक शब्दों के लिए भी अपनी शब्दावली होनी चाहिए और विज्ञान को भी भारतीय भाषाओं के माध्यम से पढ़ाना चाहिए।

इसी प्रकार हिन्दी को राष्ट्रसङ्घ में स्वीकृति दिलाने पर बल दिया गया है। "वास्तव में संसार की सभी भाषाओं से हिन्दी का व्यवहार करने वालों की संख्या सबसे अधिक है।" (पृ० ४६५)। यह भी यहाँ प्रमाणित किया गया है क्योंकि चीनी एक भाषा समूह है, कोई एक भाषा सारे चीन में नहीं समझी जाती।

डा० शर्मा ने इस ग्रन्थ में सारस्वत शैली का प्रयोग किया है, यहाँ पत्रकारात्मक शैली नहीं है, इस कारण इस पुस्तक का विशेष महत्व है। यत्र-तत्र अवश्य डा० रामविलास शर्मा अपने मधुर तिक्त व्यंग्यों से शैली को सरस बनाते चलते हैं। घोर परिश्रम करके उदाहरण एकत्र किए गए हैं और यहाँ डा० शर्मा का भाषाज्ञान देखते ही बनता है। विशेषज्ञ प्रारम्भिक अध्यायों में और साधारण पाठक बाद के अध्यायों में रम सकता है। हम आशा तो यह करते थे कि डा० शर्मा काव्य-सिद्धान्तों के क्षेत्र में यह चमत्कार दिखाते किन्तु 'सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति' और 'भाषा और समाज' इन दो ग्रन्थों में डा० शर्मा ने अटूट श्रम किया है और यही कारण है कि ये दो ग्रन्थ अधिक विश्वास जगाने में सफल हुए हैं, इनमें बहुत कुछ ऐसा है जो ग्रहणीय है और विचारणीय तो सभी कुछ है।

—गवर्नमेण्ट डिग्री कालेज, नैनीताल।

हिन्दी में शोध की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

[१]

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

[साहित्य-सन्देश के सम्पादकीय में हमने हिन्दी में शोध की समस्याओं पर विचार प्रकट किये थे। तथा इस सम्बन्ध में हिन्दी के विद्वानों से उनके विचार हमें भेजने का अनुरोध किया था। इस क्रम में हमें जो अनेक पत्र तथा लेख मिले हैं उनमें से इस अङ्क में दिये जा रहे हैं। डा० देवेन्द्रकुमार तथा श्री चन्द्रपाल शर्मा दोनों ने हमारे विचारों का समर्थन किया है। तथा लगभग वही आशंकाएँ प्रकट की हैं। इससे यह सिद्ध हो रहा है कि हिन्दी शोध को शीघ्राति शीघ्र पूर्व विवेचित सम्पादकीय तथा इन लेखों में वर्णित सुझावों की ओर ध्यान देना आवश्यक है।]

—सम्पादक

भारतीय साहित्य में चिन्तन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। चिन्तन में केवल परम्परा का ही आलेखन नहीं मिलता है वरन् प्राचीन साहित्य, संस्कृति, इतिहास, आदि वाङ्मय की उपलब्धि और नये सन्दर्भों में उसका मूल्याङ्कन भी हमें प्राप्त होता है। चिन्तन की यह प्रवृत्ति कई दिशाओं में अत्यन्त प्राचीन काल से बनी रही है। अपने-अपने मौलिक दृष्टिकोणों के अनुसार विविध आचार्यों ने अपनी मान्यताओं की स्थापना कर विभिन्न युगों में साहित्य-परम्परा में नये अध्याय जोड़े थे। जिनका कि आज भी हमें उल्लेख मिलता है। परम्परा के क्रमबद्ध इतिहास को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवृत्ति सदा से भारतीय साहित्य में बनी रही है। जिन मनीषियों ने इस परम्परा में समय-समय पर मौलिक चिन्तना से साहित्य को प्रभावित कर उसे नई दिशाओं में मोड़ा। उनके नाम आज भी अपना विशेष स्थान बनाये हुए हैं और हम उनके सिद्धान्तों को विभिन्न 'वादों' के नाम से जानते हैं। रस, रीति, अलङ्कार, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के सिद्धान्त ऐसे ही वादों के अन्तर्गत गिने जाते हैं जिन ने भारतीय साहित्य की चिन्तन-धारा को विशेष रूप से विकसित किया था।

आचार्य भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक भारतीय साहित्य-शास्त्र की चिन्तना का जो विकास हुआ उसमें कई प्रकार की शोध-दृष्टियां लक्षित होती हैं। यद्यपि तैत्तिरीयोपनिषत् में रस के महत्त्व का वर्णन मिलता है[१] किन्तु भरतमुनि के पूर्व से ही रस के अनुगामी आचार्यों का उल्लेख मिलता है और अन्त तक इस परम्परा का चिन्तन तथा विकास होता रहा है। वास्तव में ध्वनि-प्रस्थान रसप्रस्थान का ही परवर्ती विकास है जो रस की सूक्ष्म व्यञ्जक शक्ति को अभिव्यक्त करता है। अपने-अपने मौलिक विचारों को जिन आचार्यों ने दर्शन शास्त्र की भूमिका पर विवेचित किया है वे आज तक शाश्वत-साहित्य चिन्तना को समाहित किए हुए है, उदाहरण के लिए पण्डितराज जगन्नाथ इस परम्परा के अन्तिम आचार्य माने जाते हैं। उनका समय सत्रहवीं शताब्दी कहा जाता है। अन्तिम खेवे के ये आचार्य अपने शोध-प्रबन्ध 'रसगङ्गाधर' में प्राचीन आचार्यों के मत की समीक्षा करते हुए जिस निष्पक्ष दृष्टि से समालोचना प्रस्तुत करते हैं वह वस्तुतः दार्शनिक शैली में विवेचित है। किन्तु जहाँ उन्होंने प्राचीनों के मतों का उनकी शैली में विशदीकरण किया वहीं एक नई दृष्टि से वस्तुतत्व का उन्मेष भी किया है जिसके कारण उनका प्रबन्ध आज भी पण्डितों का कंठहार बना हुआ है। वस्तुतः हमें प्राचीन-शोध-प्रबन्धों में प्राचीनों के मतों की आलोचना तथा नये दृष्टिकोण से नई भाव-भूमि पर विवेचन विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। किन्तु आधुनिक शोध-कार्यों में हमें इस प्रवृति का

[१] रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।

अभाव मिलता है। नई पीढ़ी के लोग अपनी मान्यताओं की अलग ही पहल करते हैं जिनको पढ़ कर न तो यह समझ में आता है कि यह 'विलायती उत्थान' है और न यही पता लगता है कि भारतीय साहित्य के किसी सिद्धान्त को जड़ खोद कर किसी आधुनिक क्रीम से उसे पुष्ट किया है। ऐसी स्थिति में आधुनिक आलोचना और आधुनिकतम साहित्य की स्थिति कितनी दृढ़ हो सकती है—इसे हमारे पाठक सरलता से समझ सकते हैं। मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि—इसका मतलब यह नहीं है कि वे जो चिन्तन कर रहे हैं उसमें कोई मौलिकता नहीं है, किन्तु मेरा यह आशय है कि ऐसी आलोचना किसी एक वर्ग तक सीमित रहती है जो इस देश के साहित्य और संस्कृति के प्रकाशन में पूर्णतया समर्थ तथा उपयोगी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वे स्वयं अँधेरे में हैं। किसी सुदूर के इतिहास के क्षितिज से उन्हें वह प्रकाश मिलता है जिसके आलोक में वे यहाँ के साहित्य को रचने और मूल्याङ्कन करने का प्रयत्न करते हैं।

हिन्दी में आज जो शोध-कार्य हो रहा है वह अधिकतर एकाङ्गी विचारों से ग्रस्त है। और उसका कारण यही कहा जा सकता है कि अधिकतर आत्म-चिन्तन की प्रक्रिया या तो एकदम आधुनिक है या सङ्कीर्ण यथा सीमित मान्यताओं से त्रस्त। इस सन्दर्भ में यह कहना अनुचित न होगा कि साहित्य-शास्त्र की परम्परा में हिन्दी में अभी तक जो विचार किया गया है उसमें हमें सन्तुलित विचारकों में पं० रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० नगेन्द्र जैसे समर्थ आलोचक ही इस परम्परा का सम्यक् प्रतिनिधित्व करते दिखाई पड़ते हैं। वस्तुतः शोध-प्रबन्ध में विषय-चिन्तन की जितनी आवश्यकता है उतनी ही सन्तुलित विचारों के प्रतिपादन की।

प्रायः यह देखा जाता है कि लोग सरलता की ओर बढ़ना चाहते हैं। इसलिए एक तो विषय-चुनाव में इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि कमसे कम समय में काम पूरा हो जाय और दूसरे विषय कठिन न हो। इसके लिए अधिकतर निर्देशक ऐसे ही विषय सुझाते हैं जो कुर्सी पर बैठ कर सरलता से निष्पन्न किये जा सकते हों। अधिकतर शोधार्थी भी जटिल विषयों से घबड़ाते हैं। व्याकरण और भाषा-विज्ञान जैसे विषयों पर इने-गिने ही रुचि रखते हैं। और यह सत्य है कि जिस विषय पर शोध-कार्य करने वाले की रुचि न हो वह उसे कभी ठीक से नहीं कर सकता। शोध-छात्र हस्तलिखित ग्रन्थों पर कार्य करने से तो और भी अधिक कतराते हैं। क्योंकि भण्डारों से हस्तलिखित प्रतियों को जुटाने में और उनके अध्ययन-मनन में समय अधिक लगता है और श्रम भी अधिक करना पड़ता है। इसी प्रकार क्षेत्रीय पर्यटन, अन्वेषण आदि के कार्य में रुचि रखने वाले उँगलियों पर ही गिने जा सकते हैं। कहने का अर्थ यह है कि हिन्दी में आज समालोचना का क्षेत्र ज्यों-ज्यों विस्तृत होता जा रहा है त्यों-त्यों विषयों के चयन और मनन में पुनरुक्ति बढ़ती जा रही है। और इसका एक परिणाम यह भी हो रहा है कि कुछ कवियों पर या रुचिकर लेखकों पर आवश्यकता से अधिक शोध-कार्य हो रहा है और कुछ एकदम अछूते पड़े हैं।

यदि इस देश की साहित्यिक परम्परा का इतिहास लिखा जाये तो यह स्पष्ट हो जायगा कि आधुनिक साहित्य पर जितना अधिक कार्य हुआ है उतना प्राचीन साहित्य पर नहीं। और जितना प्राचीन साहित्य पर कार्य हो चुका है उसके मुकाबले मध्ययुगीन साहित्य पर अभी तक कार्य नहीं हुआ है। साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं, भाषा, इतिहास, पुरातत्व, कला शिल्प तथा समाज-संस्कृति आदि विभिन्न विषयों पर कई प्रकार का अनुसन्धान तथा शोध-कार्य करने के लिए काम बाकी पड़ा है। कार्य की विपुलता और कठिनता को ध्यान में रखकर, उसका विचार कर यही कहना पड़ता है कि अनुसन्धान तथा शोध के लिए कार्य-क्षेत्र तथा विषयों की कमी नहीं है। केवल लगन और ईमानदारी से कार्य करने वालों और निर्देशकों की कमी दिखाई पड़ती है।

अब हिन्दी के आधुनिक शोध-कार्य को ध्यान में रखकर मैं कुछ बातें आपके सामने प्रस्तुत करता हूँ। यह मानी हुई बात है कि आज हिन्दी में बहुत काम हो रहा है। और जितनी तेजी से हिन्दी में प्रबन्ध निकल रहे हैं उतने संसार की किसी अन्य भाषा में

नहीं। इन शोध-प्रबन्धों में सभी प्रकार के प्रबन्ध हैं। लेकिन अधिकतर प्रबन्धों में कुछ न कुछ ऐसे तत्व मिलते हैं जिनसे अनुसन्धित्सु का सारा प्रयत्न फीका जान पड़ने लगता है। उच्च स्तर के प्रबन्ध बहुत कम देखने को मिलते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से इसके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं:—

१—अधिकतर ऐसे शोध-छात्र या शिक्षक आज हिन्दी में शोध-कार्य कर रहे हैं। जो या तो जीविका की ओर से निश्चिन्त नहीं हैं अथवा डिग्री मिल जाने से जिन्हें आर्थिक लाभ की सम्भावना है। और शिक्षक वर्ग प्रायः ऐसे विषयों पर कार्य करना चाहता है जिसे वह अपनी कक्षाओं में पढ़ाता रहा हो या पढ़ाता हो। इसका एक कारण यह भी है कि अप्रसिद्ध विषयों पर लिखे गये प्रबन्ध बहुत ही कठिनाई के बाद प्रकाशित हो पाते हैं। दूसरे, प्रकाशक ऐसे ही प्रबन्धों का प्रकाशन चाहते हैं जो परीक्षोपयोगी हों।

२—हिन्दी के शोध-प्रबन्ध प्रायः आकार-प्रकार में बृहत् देखे जाते हैं। हिन्दी के लिए ५००-६०० पृष्ठों का प्रबन्ध लिखा जाना आज साधारण सा समझा जाने लगा है। और अधिकतर प्रबन्धों में भरती की सामग्री कितनी रहती है इसे कोई भी विद्यार्थी सरलता से ढूँढ़ निकाल सकता है। इस प्रसङ्ग में "जायसी ग्रन्थावली" की भूमिका के रूप में लिखे गये २०२ पृष्ठों का पं० रामचन्द्र शुक्ल का प्रबन्ध विशेष उल्लेखनीय है जो आज के अच्छे से अच्छे शोध-प्रबन्ध की चिन्तना से कहीं अधिक स्फीत एवं सुलझे हुए विवेचन तथा युक्तियुक्त प्रतिपादन से पूर्ण है।

प्रायः यह भी देखा जाता है कि अधिक लिखने में कभी-कभी अवान्तर विषय की बातें भी आ जाती हैं जिन्हें शोधार्थी सहजता से टाल सकता है। वास्तव में निर्देशक के साथ ही शोध-कार्यार्थी का दायित्व विशेष बढ़ जाता है। वह अपनी रुचि, लगन, प्रवृत्ति तथा पकड़ के अनुसार विषयानुकूल बातों का चिन्तन-मनन कर अपनी योग्यता से प्रबन्ध को सारगर्भित बना सकता है।

३—हिन्दी के कई शोध-प्रबन्ध तटस्थ, निस्पृह योगी की भाँति दिखाई पड़ते हैं जिनमें लेखक का मत उदासीन रहता है। और ऐसे प्रबन्धों को देख कर सरलता से कहा जा सकता है कि ये अधिकतर संकलनात्मक हैं, जिनमें उस विषय पर लिखी हुई लगभग सभी पुस्तकों का सार या उनके मतों का संग्रह कर दिया गया है पर लेखक का अपना कोई मत नहीं है। और इसका एक मात्र कारण मानसिक शैथिल्य कहा जा सकता है। कवि केशवदास पर लिखे हुए प्रबन्ध अधिकतर इसी प्रवृत्ति को सूचित करते हैं।

४—हिन्दी में नवीन प्रस्थापनाओं का क्षेत्र नहीं के बराबर है। हिन्दी में यह प्रवृत्ति आज भी नहीं आ सकी है कि पूर्ववर्ती आचार्यों की विचार-सरणि का ऊहापोह कर अपने स्वतन्त्र चिन्तन से नये-नये विचारों को प्रमाण पूर्वक प्रस्तुत कर सकें। इसलिए पहले के लेखकों ने जो कुछ कहा है उसका प्रमाण देते हुए विषय को चलता कर देने की प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई देती है। लेकिन मेरे विचार में किसी शोध-ग्रन्थ में चिन्तन की युक्ति मुख्य है जो विचारों के ऊहापोह और अपनी प्रस्थापनाओं में निहित होती है जिसकी आज हिन्दी के प्रबन्धों में उपेक्षा की जा रही है।

५—आज के अधिकांश प्रबन्धों में व्यवस्थित अध्ययन की कमी मिलती है। इसका यही कारण हो सकता है कि एक तो इस देश में पिछले ढाई सौ वर्षों से शोध-कार्य की परम्परा प्रचलित नहीं रही है। इसलिए इस ओर लोगों की प्रवृत्ति नहीं रही। दूसरे, निर्देशक सारा कार्य शोधार्थी के ऊपर छोड़ देते हैं। शोधार्थी भी ज्यों-त्यों कर गुरु कृपा से देर-सबेर उपाधिधारी बन जाता है। अतएव उचित निर्देशन न मिलने से इस परम्परा की नींव ही दोष पूर्ण रही है जिसका सुधार होना आज कठिन-सा प्रतीत होने लगा है।

६—इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय यह भी है कि शोध-संस्थानों की बहुत कमी है। वास्तव में हमारे देश में शोध-संस्थान का महत्व अभी तक नहीं आंका गया है। लोग तकनीकी तथा विज्ञान विषयों के लिए ही

शोध-संस्था की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। लेकिन मानवीय ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाओं के लिए शोध-संस्थान का होना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि बिना शोध-संस्थानों के शोधार्थियों को उचित निर्देशन, सामग्री तथा क्षेत्र सुलभ नहीं हो पाता। और उनके अभाव में जितने अधिक पन्ने रंगे जा रहे हैं उनका कोई मूल्य स्थिर नहीं हो पाता। इसलिए मेरा हिन्दी वालों से यही निवेदन है कि भले ही शोध-कार्य कम हो पर अच्छा होना चाहिए। इसके लिये व्यवस्थित अध्ययन प्रणाली और रीतिबद्ध योजना बनना चाहिए। जिसके अनुसार शोध-संस्थान में रहकर शोधार्थियों को शोध-कार्य करना आवश्यक है। और उस कार्य का श्रेय विद्यार्थी के साथ ही प्राध्यापक को मिलना चाहिए। उसका पूरा उत्तरदायित्व प्राध्यापक पर रहना चाहिए। तभी स्तर ऊँचा उठ सकता है।

७—जैसा कि "साहित्य-सन्देश" की "हमारी विचारधारा" में कहा गया है[१] कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के तत्वाधान में सभी शोध संस्थाओं की एक सम्मिलित योजना निर्धारित की जानी चाहिए उक्त बातों को ध्यान में रखते हुए यह अत्यन्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। क्योंकि जब तक केन्द्रीय शासन की ओर से इस सम्बन्ध में योजना कार्यान्वित नहीं की जाती तब तक देश के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक बिखरी हुई सामाजिक, साहित्यिक, धार्मिक सांस्कृतिक आदि विभिन्न प्रकार की हस्तलिखित, ताम्र-पत्र-शिलालेखों आदि में अङ्कित, उल्लिखित तथा अवशिष्ट सामग्री की सुगमता एवं आवश्यक सुविधाएँ शोधार्थियों को मिल नहीं सकती और इसलिए जिस स्तर का कार्य अपेक्षित है वह हो नहीं पाता। क्योंकि शोध-विषयक कार्य इतना विस्तृत और बिखरा हुआ है कि जब तक व्यवस्थित रूप से कोई योजना आयोग इस पर पूर्णतया विचार नहीं करता तब तक इसका समुचित सुधार और विकास नहीं हो सकता। कारण आज प्रायः सभी के सामने अर्थ का प्रश्न प्रश्नवाचक चिन्ह लगा कर खड़ा रहता है। और शोध का कार्य स्थिरता तथा निश्चिन्तता का है। इसलिए इस ओर ध्यान देने के लिये मैं आप सबका विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

८—विभिन्न विश्वविद्यालयों में भारत की अलग-अलग संस्थानों में हो रहे शोध-कार्य के विषयों की सूची प्रति वर्ष तैयार होनी चाहिए। इससे शोधार्थी और निर्देशक दोनों को ही सुभीता रहेगा। मेरे विचार में यह कार्य सरलता से आरम्भ किया जा सकता है। इसके लिए मैं सभी संस्थाओं से निवेदन करूँगा कि वे यदि इस प्रकार का योजनाबद्ध कार्य आरम्भ करें तो अवश्य ही हिन्दी के शोध-कार्य का स्तर बहुत कुछ ऊँचा उठ सकता है।

९—हिन्दी के निर्देशक विद्वानों से भी मेरा निवेदन है कि वे अपने रुचिकर तथा विशेष अधिकृत विषयों में ही छात्रों को प्रोत्साहित करें और पहले से ही अपने विषयों की रूप-रेखा को अङ्कित कर उन विषयों पर शोधार्थियों को शोध-कार्य करने के लिए प्रेरित करें। क्योंकि कभी-कभी यह होता है कि विषय की अनुकूलता के अनुसार वर्ष-दो वर्ष का समय तो विद्यार्थी अपने शोध-विषय की रूप-रेखा बनाने, सोचने में ही गँवा देता है। और अन्त तक वह अपने विषय की सार्थकता को सुलझाने में एवं भलीभाँति प्रकट करने में असमर्थ रहता है। इसका एक कारण यह भी है निर्देशक उस विषय में जिसमें कि वे निर्देशन करते हैं रुचि नहीं लेते। ऐसी स्थिति में स्तर ऊँचा कैसे हो सकता है? अतएव कभी कभी निर्देशक का दायित्व भी शोधार्थियों को सम्हालना पड़ता है और आये दिन उसके परिणाम हम लोगों के सामने प्रकट होते रहते हैं।

१०—यह स्पष्ट है कि दिनोंदिन हिन्दी का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है। इसलिए हिन्दी-सेवियों का कर्तव्य भी बढ़ता जाता है। केवल हिन्दी के लिए ही नहीं अन्य विषयों के लिए भी दिनोंदिन हिन्दी का दायित्व वृद्धिगत होता जा रहा है। किन्तु आश्चर्य की बात है कि हिन्दी में अब तक ऐसा कोई प्रामाणिक व्याकरण, साहित्यकोष, व्युत्पत्तिकोश, लिंगानुशासन,

[१] देखिये—"साहित्य-सन्देश" के अक्टूबर, १९६३ का सम्पादकीय वक्तव्य लेख। पृ० १३४—३५।

धातु रूपावली और भाषा-विषयक इतिहास देखने को नहीं मिल सके जो शोधार्थियों की सीमा को प्रसार करते लक्षित होते हों। वस्तुतः ये कुछ ऐसे विषय हैं जो पर्याप्त ज्ञान और विषयानुशीलन की सूक्ष्म ग्राहक शक्ति तथा विवेचन की अपेक्षा रखते हैं।

इन दोषों के रहते हुए भी हिन्दी में कुछ नवीन प्रवृत्तियाँ भी पिछले दशक में विकासशील हुई हैं जिनसे हिन्दी के उज्ज्वल, भविष्य की कामना की जा सकती है। इन प्रवृत्तियों में से कुछ निम्न-लिखित हैं—

पाठालोचन की वैज्ञानिक पद्धति, लोक साहित्य-विज्ञान, भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन, मध्ययुगीन भारतीय साहित्य में—प्राकृत और अपभ्रंश की कथाकाव्य, चरितकाव्य और रासाकाव्य जैसी पृथक विधाओं का अध्ययन, दक्षिण तथा उत्तर भारत की भाषाओं और साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन।

इसी प्रकार समालोचना में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एक स्वतन्त्र अध्ययन की भूमिका मानी जाने लगी है। किन्तु यह आधुनिक साहित्य के मूल संस्पर्शों की ही विवेचना नहीं करती, प्रत्युत् इसमें जीवन और व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं को भी समझने का प्रयत्न किया जाता है। लेकिन मेरी जानकारी में 'व्यक्तित्व और कृतित्व' के नाम से जो प्रबन्ध प्रकाश में आये हैं उनमें इतिवृत्त मात्र ही दृष्टिगत हुआ है। इस प्रकार विश्लेषण में उपयोगी कई स्वतन्त्र चिन्तनाओं का भी समावेश किया जाना चाहिए।

इस सन्दर्भ में मेरा निवेदन है कि शासन और हम संस्कृत की सामान्य जानकारी के अतिरिक्त हिन्दी के विद्यार्थियों को मध्ययुगीन भाषा और साहित्य की थोड़ी-बहुत जानकारी अवश्य दें जिससे हिन्दी की निकटतम भाषा और साहित्य से उनका परिचय बढ़े। यह खेद की बात है कि जिस अपभ्रंश भाषा से हिन्दी का विकास हुआ है वह आज किसी भी विश्वविद्यालय के हिन्दी के पाठ्यक्रम में अनिवार्य नहीं है।

पिछले दशक में लोक-साहित्य पर जो शोध-कार्य हुआ है उससे पता लगता है कि मुख्य उद्देश्य पिछड़ता जा रहा है जिससे लोग लोक-साहित्य का कार्य सरल एवं सुगम समझने लगे हैं। प्रायः देखा भी यही जाता है कि कुछ लोकगीत या लोककथाओं के सङ्कलन तथा थोड़ा अध्ययन मात्र से प्रबन्ध शीघ्र ही तैयार हो जाते हैं। इसीलिए आज विभिन्न विश्वविद्यालयों में चल रहे शोधकार्य में लोक-साहित्य विषयक कार्य अधिक हो रहा है। अकेले अवधी लोक-साहित्य तथा लोकगीतों पर ही छह विभिन्न विश्वविद्यालयों में शोधार्थी कार्य कर रहे हैं। इसी प्रकार उपन्यास पर भी कार्य तेजी से चल रहा है। यदि हिन्दी-साहित्य का भण्डार किसी प्रकार भरना ही हमारा उद्देश्य हो तो बात अलग है, नहीं तो पुनरावृत्ति को रोकना चाहिए। इसके साथ ही जो प्रबन्ध बहुत समय से कठिन श्रम से लिखे गए हैं उनका प्रकाशन भी होना चाहिए। इसके लिए इलाहाबाद लखनऊ और देहली विश्वविद्यालय की भाँति अन्य विश्वविद्यालयों को भी हिन्दी परिषद् की स्थापना कर अच्छे-अच्छे प्रबन्धों को प्रकाशित करना चाहिए।

अन्त में मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि हिन्दी के शोध एवं अनुसन्धान के लिए भारतवर्षीय किसी ऐसी परिषद् या समिति अथवा आयोग का गठन होना चाहिए जो योजनाबद्ध रीति से विभिन्न विश्वविद्यालयों में हो रहे शोध अथवा अनुसन्धान कार्य पर समय-समय पर विचार-विमर्श तथा व्याख्यानमालाओं का आयोजन कर अनियमितता तथा स्वच्छन्द प्रवृत्ति का नियमन कर सके। अब समय आ गया है जब हमें इस महत्वपूर्ण योजना पर सोच-विचार करना ही पड़ेगा।

—विज्ञान महाविद्यालय, रायपुर (म० प्र०)

————

प्रो० चन्द्रपाल शर्मा

आज हिन्दी में शोध का कार्य बड़ी तेजी से हो रहा है परन्तु जब किसी अवसर पर हिन्दी-शोधार्थी एवं शोध निर्देशक एक साथ एकत्रित होते हैं, तो यह प्रश्न बार बार उठता है कि शोध का स्तर गिरता जा रहा है। अन्य विषय वालों को तो यह भ्रान्ति होगई है कि हिन्दी में शोध कार्य करना साधारण आलोचनात्मक पुस्तक लिखने के समान सरल कार्य है।

आज शोधार्थी तीन प्रकार के हैं। प्रथम तो वह स्नातकोत्तर युवक वर्ग जो स्थान प्राप्ति की दौड़ में पीछे रह गया है, वह अपने को 'ठाली' की उपाधि से बचाने के लिए इस कार्य में लग जाता है जबकि उसका ध्यान पूर्णतः स्थान प्राप्ति की ओर ही केन्द्रित होता है। दूसरा वह अध्यापक समुदाय जो इस कार्य की पूर्ति के बाद अपनी वेतन वृद्धि को देखता है और तृतीय वह शोधार्थी जिसको शोध कार्य में वास्तविक रुचि है। इसी प्रकार निर्देशकों के दो वर्ग हैं—एक तो जिनको हिन्दी साहित्य से इतना लगाव है कि वे निर्देशन कार्य में अपार आनन्द का अनुभव करते हैं और द्वितीय वह जो कुछ निहित स्वार्थ वश इस कार्य को कर रहे हैं। अब प्रश्न यह है कि इन दोनों को ही किस प्रकार सही दिशा दी जा सके।

हिन्दी के शोध कार्य में प्रगति सन् १९५५–५६ से आई है और इस ८–९ वर्ष के काल में ही आज शोध की ओर आने वाले व्यक्ति को कुछ ऐसी कठिनाई सम्मुख आती है कि उसका साहस साथ छोड़ देता है। प्रथम तो जब उससे निर्देशकों द्वारा यह कहा जाता है कि आज शोध का स्तर गिर रहा है अतः पहले अपने को पर्याप्त अध्ययन करके शोध करने के योग्य बनाओ, उस समय उसके पास मौन के अतिरिक्त और उत्तर ही नहीं रह जाता। परन्तु यदि इस स्तर के गिरने के उत्तरदायी व्यक्ति की खोज की जाय तो यही कहना संगत प्रतीत होता है, इसकी जिम्मेदारी शोधार्थी पर कम निर्देशकों पर अधिक है चूंकि पिछले आठ दस वर्षों में उनका ही शोध कार्य सम्मुख आया है जो निर्देशक के रूप में कार्य करा रहे थे।

इस समस्या के समाधान के लिए कुछ सुझाव हैं:—

१—निर्देशक शोधार्थी से यह न कहकर कि कोई विषय खोज लो, कार्य करा देंगे, यह कहें कि इन विषयों में से अपनी रुचि का कोई विषय चुनलो। अतः प्रत्येक निर्देशक के पास इन विषयों की लम्बी सूची होनी चाहिए जिन पर कार्य कराने में वे अपने को समर्थ समझते हैं। इसके लिए एक उपाय यह हो सकता है कि प्रत्येक निर्देशक जिन विषयों पर अच्छा कार्य करा सकते हैं तथा जिन विषयों से शोध की दिशा में प्रगति होगी, उन सभी विषयों की सूची भारतीय हिन्दी परिषद को दे दें तथा वहाँ से वे सभी विषय पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित होकर शोधार्थी के सम्मुख आ सकें और उस विशाल भण्डार में से वह अपनी रुचि व सामर्थ्य के अनुसार एक विषय चुन ले।

२—उन नगरों में जो शिक्षा के केन्द्र बने हुए हैं, शोध संस्थान निर्मित किये जायँ और वहाँ आने वाले शोध छात्रों के लिए ऐसी सुविधाएँ प्रदान की जायँ जिनसे वे भली भाँति अध्ययन कर सकें।

३—एक ऐसी मासिक शोध-पत्रिका का प्रकाशन होना चाहिए जिसमें शोध की तकनीक शोध सम्बन्धी समस्याओं के समाधान शोध कार्य की प्रगति आदि की सूचना मिलती रहे। इस पत्रिका में विद्वानों के शोध-सम्बन्धी संस्मरण भी प्रकाशित होने चाहिए।

४—विश्व विद्यालयों से मांग की जाय कि शोध करने व कराने वाले अध्यापकों का कार्य भार अन्य लोगों से कुछ कम हो तथा इस कार्य में रुचि पैदा करने के लिए निर्देशकों को विशेष रूप से सुविधा दी जाय।

५—भारतीय हिन्दी परिषद अथवा विभिन्न विश्वविद्यालयों के द्वारा समय समय पर शोध-शिविरों का आयोजन होना चाहिए जिसमें संधित्सु अपनी कठिनाइयों के सभी पहलुओं पर विचार कर सकें।

यदि इन सुझावों को कार्यान्वित किया जा सके तो आशा है कि शोध-कार्य प्रगति के पथ पर बढ़ सकेगा और शोध-सम्बन्धी बहुत सी कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी।

—राजपूत कालेज, धौलाना।

समालोचना

आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन : एक अध्ययन - ले०-डा० नेमीचन्द्र शास्त्री, प्रका०-चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी। पृ० २८४, मू० १५.००

हिन्दी में अभी तक ऐसी कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी जो आचार्य हेमचन्द्र के व्याकरण का समीक्षात्मक या तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करती हो। व्याकरण जैसे विषय पर प्रामाणिक रूप से लिखी हुई पुस्तकों का हिन्दी में अभाव-सा प्रतीत होता है। लेखक ने आचार्य हेमचन्द्र के प्रसिद्ध व्याकरण शब्दानुशासन का संस्कृत के विश्रुत आचार्य पाणिनि और अन्य वैयाकरणों के व्याकरण शास्त्र का तुलनात्मक विवेचन कर जिस संतुलित बुद्धि का परिचय दिया है वह प्रशंसनीय है। प्रस्तावना में सामाजिक और सांस्कृतिक अध्ययन विशेष रूप से उपादेय है। इसमें संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश तीनों ही भाषाओं के व्याकरण का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन किया गया है जो प्रत्येक अनुसन्धित्सु के लिए उपयोगी है। क्या ही अच्छा होता यदि लेखक आधुनिक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते ? इससे पुस्तक का कलेवर तो अवश्य बढ़ जाता पर विषय आधुनिक दृष्टि में निखर उठता। फिर भी पुस्तक अत्यन्त मूल्यवान है।

अभिनव प्राकृत-व्याकरण—ले०-डा० नेमीचन्द्र शास्त्री, प्रका०-तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी। पृ० ५३३, मूल्य १५.००

यद्यपि अंग्रेजी और हिन्दी में प्राकृत के व्याकरण पर लिखी हुई कई पुस्तकें मिलती हैं जिनमें से डा० रिचर्ड पिशेल कृत "प्राकृतों का व्याकरण" (अनु० डा० हेमचन्द्र जोशी) अत्यन्त प्रामाणिक और व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत करती है, किन्तु विद्यार्थियों के लिए अभी तक कोई ऐसा संस्करण नहीं था जिसमें सभी प्राकृत के व्याकरणों के नियम एक साथ मिल सकते—अभिनव प्राकृत-व्याकरण वास्तव में इसी कमी को पूरा करता है। प्राकृत व्याकरणों के सामान्य नियमों की प्रक्रिया एवं जानकारी के लिए यह पुस्तक महत्व पूर्ण है। विद्यार्थी और अध्यापक दोनों के लिए यह पुस्तक उपादेय है। परिशिष्ट में जोड़ी गई विविध अनुक्रमणिकाओं से प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल्य और भी अधिक बढ़ गया है। एक साथ दो सुन्दर प्रकाशनों के लिए बधाई है।

निबन्ध

निबन्धिनी—लेखक-गङ्गाप्रसाद पाण्डेय, प्रका०-साधना सदन, लूकर गञ्ज, इलाहाबाद। पृष्ठ २०२, मूल्य ३.५०

निबन्धों के इस संग्रह में साहित्य सम्बन्धित २४ निबध संग्रहीत हैं। इस संग्रह में साहित्य, कला आदि के विविध उपयोगी एवं महत्व के प्रश्न उठाए गए हैं। अधिकांश निबन्ध विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखे गए हैं। पुस्तक में विषय का प्रतिपादन सौष्ठवपूर्ण तथा सरल शैली में किया गया है

जिससे सामान्य हिन्दी पाठक भी उससे लाभान्वित हो सकते हैं।

मानदण्ड—ले० आचार्य नलिनविलोचन शर्मा, प्रका०—मोतीलाल बनारसीदास, पटना—४। पृ० १४२, मू० ५.००

स्वर्गीय आचार्य नलिनविलोचन शर्मा हिन्दी के समर्थ कवि, शोध कर्त्ता, समीक्षक तथा सृजक अध्यापक थे। उनके समीक्षा, शोध, साहित्यकार, संस्कृत साहित्य आदि के सम्बन्ध में लिखे गए लेखों का यह संग्रह हिन्दी जगत को एक मूल्यवान देन है। जैसा कि भूमिका में श्रीमती कुमुद शर्मा (उनकी पत्नी) ने लिखा है, वे निबन्धों में अपने व्यक्तित्व का अधिकांशतम स्थिति में समाहार करते थे। उन्होंने लिखा है—'ऐसा लगता है जैसे उनके विराट व्यक्तित्व की समग्र गरिमा इन निबन्धों में सिमट आई।' काव्य के क्षेत्र में वे नये प्रयोगों के पक्षपाती थे और 'नकेनवाद' के प्रवर्त्तकों में से एक थे, किन्तु वे केवल काव्य में ही अपने को रीत नहीं पाए। उनके पास और भी बहुत कुछ था जिसे उन्होंने इन निबन्धों में व्यक्त किया है। प्रत्येक कृति या कलाकार को वे दूसरों के सुविज्ञ दृष्टिकोण से देख कर सन्तोष करने वाले नहीं थे। उनके पास अपनी निजी पारखी दृष्टि थी और उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्थिति तक पहुँचने वाला प्रयोग करते थे। परम्परागत आलोचकों के समान वे आलोचना और शोध के क्षेत्राधिपतियों की उपलब्धियों को अन्तिम नहीं मानते, वरन् यह घोषणा करते हैं कि हिन्दी के नव्यालोचन का कार्य अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है। वह आज तक की सामग्री के ढूह पर खड़ा होने वाला भावी आलोचक करेगा। आचार्य भी पूर्वाग्रहों तथा रुचिवाद में आचार्य शुक्ल के समान दृढ़ हैं। एक ओर जहाँ वे आचार्य द्विवेदी तक को मूल्यांकन करने वाला श्रेष्ठ समीक्षक नहीं मानते वहाँ माचवे, केसरी, शिवचन्द्र, नरेश और जगदीश पाण्डेय जैसे द्वितीय और तृतीय स्तर के लेखकों का भी सविस्तार विवेचन किया है। इस पुस्तक से हिन्दी के विचारक प्रेरित होंगे ऐसी आशा है।

कविता

पूर्वा पर—ले० उदयशङ्कर भट्ट। प्रकाशक-आत्माराम एन्ड सन्स, दिल्ली ६। पृ० १६७, मू० ५.००

'युगदीप' और 'यथार्थ और कल्पना' का यह संयुक्त संस्करण है, किन्तु इसमें ९ नवीन रचनाएँ भी हैं। भट्टजी आज के युग की समाज-चेतना के सजग गायक हैं। वे अपने कवि को न भारतीय सांस्कृतिक परम्परा तक सीमित रख पाए हैं और न भौतिकवादी मार्क्स दर्शन में ही उनकी आस्था अपना अन्तिम लक्ष्य पा गई है। वे जान बूझकर मार्ग देख देखकर आगे बढ़ने में विश्वास करते हैं तथा सच्चे अर्थ में प्रगतिशील बनने के लिए लिखते हैं। 'मैं प्रगतिवाद में विश्वास करते हुए भी भारतीय जीवन के परम्परा प्राप्त विवेक के सुसंस्कृतलोक में विश्वास करने को बाध्य हूँ।'

(भूमिका : पृष्ठ 'च')

उनकी यह मान्यता अनेक कविताओं में मुखर हो उठी है। भट्टजी प्रगतिशीलता को मानवता के साथ जोड़कर चलते हैं। उनकी पूर्ण मानवता का प्रतीक महात्मा गांधी हैं, जिनके सम्मान में उन्होंने उल्लसित मन से लिखा है—

दो सहस्र वर्षों के पीछे कल तक जो था साधारण नर।
वही हमारे लिए बन गया आज वन्द्य बापू पावनतर,
तीस कोटि आँखों में उसका चित्र भर रहा निर्मलता है।।
....
अब भी प्राणद अमर हँसी वह हरती मेरी आकुलता है।
नर में ही सुरत्व पलता है। (पृष्ठ १४७)

हम आज के अन्य प्रगतिवादियों में से भट्टजी को अलग करके कह सकते हैं कि उसी प्रकार की स्पष्ट दृष्टि रखने वाले साहित्यकार हिन्दी और भारत का कल्याण करेंगे, जो चाओ-माओ और स्टालिन की नीति को साहित्य में उतार लाना ही कला की चरम सिद्धि मानते हैं उन्हें समय रहते भट्टजी जैसे भविष्य द्रष्टाओं से अपना पथ प्रशस्त करा लेना अधिक उचित है।

कहरानामा—मसलानामा—ले० मलिक मुहम्मद जायसी। सम्पा०—अमरबहादुरसिंह अमरेश। प्रका०-हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद। पृ० १०९ मू. २.५०

कहरानामा और मसलानामा नामक दोनों कृतियाँ जायसीकृत मानी जाती रही हैं। अब तक वे लुप्तप्राय थीं। कुछ समय पूर्व इन कृतियों की शोध इसके सम्पादक अमरेश जी ने की थी और उस समय इनका प्रामाणिक होना संदिग्ध था। हिन्दी के अनेक विद्वानों का ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ। हिन्दुस्तानी पत्रिका में प्रकाशित इसके पूर्व रूप को पाठशोध करके छापा जाय—यह आवश्यक समझा गया। अब पुनः संशोधित पाठ के साथ दोनों कृतियाँ पुस्तकाकार रूप में सामने आई हैं। प्राचीन ग्रंथों के प्रकाशन और पाठशोधन का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हिन्दी में कतिपय विद्वानों को छोड़कर सामान्य अभिरुचि इस ओर नहीं रही है, इस बात को देखते हुए अमरेश जी की प्रशंसा होनी चाहिए कि उन्होंने यथेष्ट श्रम करके इन प्राचीन कृतियों का उद्धार किया है। इन दोनों कृतियों के प्रारम्भ में सम्पादक ने विस्तुत भूमिका लिखकर हिन्दी के विद्वानों तथा पाठकों के लिए अमूल्य सामग्री दी है। परिशिष्ट में पाण्डुलिपियों के फोटो दिए गए हैं तथा जायसनगर एवं जायसी के भवन के चित्र हैं।

कलियां खिलकर फूल बनी हैं—ले० महेशचन्द्र 'नक्श' प्रकाशक–आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली—६। पृ० ६८, मूल्य १.५०

उर्दू शायरी को देवनागरी लिपि का माध्यम तुरन्त ही मिलना चाहिए, अर्थात् उर्दू की कविता फारसी और देवनागरी दोनों लिपियों में सामने साथ-साथ आए, आज वह आवश्यकता बन गई है। 'नक्श' की कविताओं का यह संग्रह बड़ा ही आकर्षक तथा कल्पना शीलता की ऊँची उड़ान भरने वाला है। इन कविताओं में केवल इश्क की रागिनी ही नहीं है वरन् आज के समाज के अनेक प्रश्न भी प्रतीकों के माध्यम से हमें स्पष्ट कराए गए हैं। आज समाज में एक ओर शोषक वर्ग है और दूसरी ओर शोषित। कवि अत्यन्त भावुक तथा शोषितों के प्रति हमदर्दी रखने वाला है। अतः जब उसे कलियों (शेषकों) के चटक कर खिलने की ध्वनि (पूँजीवादी दिखावा) सुनाई देती है तो वह मजरूहों के ख्याल में लौ-लीन हो जाता है :—

जब मैं कलियों के चटकने की सदा सुनता हूँ,
मुझको मजरूह बहारों का खयाल आता है।

आज कोई भी संवेदन शील कवि इससे भिन्न अपनी सहानुभूति नहीं रख सकता है।

संग्रह की कविता में आए कठिन उर्दू शब्दों के अर्थ नीचे दे दिए हैं—यह अच्छा है।

उपन्यास

जागरण—ले०–श्री मन्मथनाथ गुप्त, प्रकाशक–राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ १६५, मू० ३.५०।

प्रस्तुत उपन्यास में भारतीय इतिहास के उस अध्याय का चित्रण है, जब महात्मा गान्धी का राजनैतिक नेता के रूप में अभ्युदय हुआ था। उपन्यास में खिलाफत आन्दोलन की झाँकी प्रस्तुत की गई है। एक रायसाहब का पुत्र राजेन्द्र किस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेता है, किस प्रकार गान्धीवाद से प्रभावित होता है, जिस प्रकार जेल में क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आता है, गान्धीवादी और क्रान्तिकारी कार्यकर्त्ताओं के दृष्टिविन्दु और कार्य-प्रणाली में क्या अन्तर था? किस प्रकार दोनों आन्दोलन एक विराट सङ्घर्ष के अङ्ग थे, अवसरवाद के कौन से रूप थे, किस प्रकार उच्च वर्ग राष्ट्रीयता से प्रभावित हुआ, अमनसभाइयों और शासकों के गठबन्धन का रूप क्या था? इन सबका चित्रण उपन्यास में हुआ है। उपन्यास में राजेन्द्र नायक प्रतीत होता है परन्तु वास्तविक नायक है, राष्ट्रीय-आन्दोलन, सबसे अधिक आकर्षक पात्र हैं श्यामा और आनन्दकुमार। कथा सुगठित है किन्तु न तो संवादों में प्राण है और न पात्रों की मानसिक स्थितियों का गम्भीर विश्लेषण हुआ है। मार्क्सवादी मन्मथनाथ गुप्तजी से यह भी आशा थी कि वह गान्धीवादी राजनीति की वर्गगत भूमिका भी स्पष्ट करेंगे। उपन्यास सामान्य कोटि का है क्योंकि इसमें पात्रों और परिस्थितियों का संकुल चित्रण नहीं हो पाया।

हिन्द पाकेट बुक्स के तीन उपन्यास—(१) **मामूली लड़की**—ले०–बलवन्तसिंह, (२) **उन्माद**—ले०–हंसराज रहबर, (३) **लता**—गुजराती के सात उपन्यासकारों की कृति। तीनों उपन्यास अपने-अपने ढङ्ग के अनूठे हैं। मूल्य प्रत्येक का १.००

कहानी

१. वनवासी पाण्डव—ले०—उर्मिला सब्बरवाल,
२. पञ्चायत का न्याय—ले०—सन्तोषनारायण नौटियाल।

उक्त दोनों पुस्तकें दिल्ली के प्रसिद्ध प्रकाशक आत्माराम एण्ड सन्स ने समाज-शिक्षा माला में प्रकाशित की हैं। पहली कहानी के रूप में है, दूसरी एकाङ्की। दोनों में मोटे अक्षरों में ऐसी कथाओं का वर्णन है जो हमारे ग्रामीण समाज और बालकों को शिक्षाप्रद होंगे। पृष्ठ दोनों में ४५-४५ और मूल्य एक-एक रुपया है।

नाटक

बेबात की बात—ले०—उपेन्द्रनाथ अश्क, प्रका०—हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली। पृष्ठ १२४, मू० १.००

अश्कजी के चार एकाङ्कियों का यह संग्रह उनकी हास्य वृत्ति का परिचायक और पाठकों के मनोरञ्जन का साधन है। चारों एकांकी सामयिक और पठनीय हैं।

ईडीपस—पाप, प्रेम और मृत्यु—लेखक—सोफोक्लीज (अनु० रांगेय राघव)—प्रका०—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली—६। पृष्ठ १५७ मूल्य ३.००

सोफोक्लीज की दुखान्तकियों की विश्व-प्रसिद्ध कथाएँ अनेक रूपों में आज तक की कला, संस्कृति तथा शोधों को प्रभावित करती रही हैं। मनोविज्ञान शास्त्र में जिस मातृरति ग्रन्थि (औडीपस इम्पल्स) का नाम आता है। वह ईडीपस दुखान्तकी के नायक के नाम पर है। जिसे परिस्थितिवश अज्ञान में ही अपने पिता की हत्या करके माता से विवाह करना पड़ा था तथा उससे सन्तान उत्पन्न की थी। इस कथानक पर लिखे गये दो दुखान्तकी नाटकों का हिन्दी अनुवाद इस पुस्तक में दिया गया है। दोनों अनुवाद अच्छे हैं, इन्हें अँग्रेजी से अनुवादित किया गया है, यदि अनुवाद मूल ग्रीक से किए जाते तो विश्वास है कि उसमें मूल की अधिकाधिक विशेषताएँ बनी रह सकती थीं। अभी हिन्दी के अनुवादकों में इस बात की कमी है कि वे मूल भाषाएँ सीख कर अनुवाद की ओर उन्मुख नहीं हो रहे हैं। आज यह सरकार का दायित्व माना जाता है। आशा है इस ओर ध्यान दिया जायगा और हिन्दी में भी अंग्रेजी के समान अच्छे अनुवाद होंगे। अपनी सीमाओं के भीतर यह अनुवाद भी अच्छा है।

इतिहास

शककालीन भारत—लेखक—प्रशान्तकुमार जयसवाल, प्रकाशक—साधना-सदन, लूकर गञ्ज, इलाहाबाद। पृष्ठ १६७, मूल्य ५.५०

इतिहास के क्षेत्र में जो शोध होती है उसका माध्यम हिन्दी न होने के कारण, जब तक वह पाठ्यक्रम में निर्धारित नहीं हो जाती, उसका हिन्दी अनुवाद होने की स्थिति नहीं आती है। यह लेखक का एम० ए० का शोध प्रबन्ध है, और प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी में इसका प्रकाशन हुआ है। इस पुस्तक में शककालीन भारत का मानचित्र देकर शकों का जातीय परिचय, भौगोलिक स्थिति, राजनीतिक उत्थान, उज्जयिनी और सुराष्ट्र के महाक्षत्रप, राजनीतिक विचार और शासन-पद्धति, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, धार्मिक स्थिति, भाषा और साहित्य तथा कला आदि से सम्बन्धित विवेचन इन अध्यायों में किया गया है। सारी सामग्री के चयन और विश्लेषण में लेखक ने यथेष्ट परिश्रम और मौलिकिता का परिचय दिया है। आज इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि इतिहास तथा अन्य कला विषयों के साथ ही साथ विज्ञानविषयों के शोध प्रबन्धों को अधिक से अधिक संख्या में हिन्दी में प्रकाशित किया जाय। इसके लिए लेखक और प्रकाशक दोनों बधाई के पात्र हैं।

भूगोल

बुद्धकालीन भारतीय भूगोल—लेखक—डा० भरतसिंह उपाध्याय, प्रका०—हिन्दी साहित्य-सम्मेलन प्रयाग। पृ० ६२१, मू० १२.००।

भारतवर्ष का अतीत गौरवमय था, यह सामान्य कथन सामान्य शिक्षित और अशिक्षित भी जानता और कहता है किन्तु हम जैसे-जैसे पढ़ते और जानते जाते हैं उतना ही अधिक चमत्कृत होते हैं। हमारे बौद्धकालीन साहित्य में तत्कालीन इतिहास का ही नहीं भूगोल का भी जितना व्यापक विवेचन है तथा जो सन्दर्भ मिलते

हैं उनके आधार पर जो कुछ कार्य हो सकता है उसका एक सुन्दर उदाहरण डा० उपाध्याय का यह शोध प्रबन्ध है। इस शोध ग्रन्थ में पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में बौद्धकालीन सामग्री उसके स्रोत, प्रामाणिकता तथा उसके भौगोलिक महत्व पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्ययन के लिए विद्वान् लेखक ने अपने को केवल पालि त्रिपटिक तथा उसकी अट्ठकथाओं पर ही आधारित किया है। इससे इस अध्ययन की प्रामाणिकता एकांगी है।

दूसरे परिच्छेद में जम्बुद्वीप उसके प्रादेशिक विभाग और उनका प्राकृतिक भूगोल लिखा गया है। इसमें स्थानों, प्रदेशों आदि का सांस्कृतिक महत्व भी दिखाया गया है।

तीसरे परिच्छेद में बुद्धकालीन भारत का राजनैतिक भूगोल बताया गया है। इस युग की राजशक्तियाँ, राजतंत्र, अनेकगण तथा उनकी कार्यप्रणाली आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। यह अध्याय इस ग्रन्थ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा वृहद अध्याय है।

चौथे परिच्छेद में मानव-भूगोल का विवेचन है। इसमें जनसंख्या, मुख्य पेशे, फसलें, सिंचाई, अकाल, गौ तथा पशुपालन, राजसेवा, शिल्प-वाणिज्य, तथा समाज के अनेक वर्गों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अन्तिम अध्याय में आर्थिक और व्यापारिक भूगोल दिया गया है। इसमें राज्य, व्यापार, व्यापारिक मार्ग, जल परिवहन, समुद्री व्यापार, विदेश सम्बन्ध, बन्दरगाह, आयात, निर्यात मुद्रा और विनिमय तथा तौल और माप आदि की सुव्यवस्थित जानकारी दी गई है। सारा अध्ययन पाठक के मन पर एक गम्भीर प्रभाव छोड़ता है तथा बताता है कि हिन्दी और संस्कृत साहित्य में आज जो व्यक्तित्व और कृतित्व वाली शोधें हो रही हैं, उन्हें तुरन्त ही नयी दिशा दी जानी चाहिए। डा० उपाध्याय के समान नवीन मार्गों को लेकर जब तक हम आगे नहीं बढ़ेंगे तब तक चर्वित चर्वण से हानि ही अधिक होती रहेगी। आशा है इस शोध प्रबन्ध के प्रकाशन से हिन्दी शोध क्षेत्र में पुनर्विचार का वातावरण बनेगा।

कोश

मानक हिन्दी कोश—सम्पा०—रामचन्द्र वर्मा, प्र०-हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। पृ० ६१८, मूल्य २५)

हिन्दी भाषा में अनेक कोशों के होते हुए भी अभी ऐसे शब्द कोश की नितान्त आवश्यकता अनुभव की जारही है जो परिनिष्ठित स्तर पर प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध करा सके। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, ने जो हिन्दी शब्द सागर का प्रकाशन किया था उससे हिन्दी जगत् की एक बड़ी क्षतिपूर्ति हुई थी किन्तु अनेक वर्षों से वह अप्राप्य है और हिन्दी-जगत् में उस स्तर के कोश का अभाव यथेष्ट काल से बना हुआ है। दूसरी बात यह है कि कहाँ द्विवेदी-युग की हिन्दी भाषा और साहित्य पर आधारित कोष और कहाँ आज की समृद्ध हिन्दी की आवश्यकता पूर्ति का उद्देश्य सामने रख कर लिखा जाने वाला यह नया कोश। हमें यह जानकर अत्यन्त सन्तोष है कि इस कोश का सम्पादन भी अनुभवी तथा लब्ध प्रतिष्ठ कोशकार श्री वर्माजी ने किया है। वर्माजी ने जीवन का यथेष्ट भाग कोश सम्बन्धी शोध में किया है। आज इस कोश के द्वारा उनके अमूल्य अनुभव हिन्दी जगत् के समक्ष आसके हैं और आशा है इस कोश के पूर्ण होने पर हिन्दी में एक ऐसे नवीन कोश की उपलब्धि हो जायगी जिससे कोश विज्ञान की ओर अधिकाधिक ध्यानाकर्षण हो सकेगा। आज हिन्दी के राज्य भाषा बनने के फलस्वरूप ऐसी नवीन आवश्यकताएँ तथा जिम्मेदारियाँ आगई हैं जो हिन्दी के विद्वानों को इस प्रकार के तथा इससे भी आगे जाकर अनेक क्षेत्रों के तकनीकी शब्दों के संग्राहक कोशों की आवश्यकता प्रस्तुत करती है।

इस कोश में हिन्दी भाषा के मानक एवं शुद्ध दोनों रूपों का निर्देशन अत्यन्त श्रम के साथ किया गया है। अन्य कोशों से भिन्न इसमें दोनों का समावेश है जिससे आगे चलकर हिन्दी भाषा का शब्द-रूप विकास स्पष्ट हो सकेगा तथा आगे के कोशकारों के लिए अनेक नवीन क्षेत्रों को अपने अधिकार में लेने की प्रेरणा दी जा सकेगी। इस कोश में शब्दों की व्युत्पत्तियाँ एवं निरुक्तियाँ दी गई हैं जिनसे शब्दों का मूल रूप तथा

वास्तविक अर्थ स्पष्ट हो जाता है। अरबी आदि भाषाओं के विकसित एवं हिन्दी में प्रचलित रूपों का मूल रूप दे देने से हिन्दी पाठकों का विशेष लाभ होगा। इस कोश ने इस आवश्यकता को समझा है तथा अन्य भाषाओं के समानार्थ वाची शब्द देकर वास्तविक ज्ञानार्जन की प्रक्रिया को प्रश्रय दिया है।

कोश का मुख्य उद्देश्य (जो सर्वाधिक प्रचलित है) शब्दों के अर्थ जानना है। इस कोश में अर्थों का विवेचन विभिन्न प्रयोगों की दृष्टि से अर्थ में आजाने वाले अन्तर की दृष्टि से किया गया है। दूसरी ओर अर्थों को एक क्रम दिया गया है तथा उन्हें वर्गीकृत किया गया है जिससे अनेक नवीन अर्थ प्रकाश में आ गए हैं। अर्थों के सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट करके मुहावरों में प्रयोग भी बताया गया है। आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण शब्दों के अँगरेजी पर्याय भी दे दिए हैं जिससे अँगरेजी शब्दों के प्रयोग करने वालों को भी इस कोश से विशेष सहायता मिल सकेगी। इस प्रकार की अनेक विशेषताओं से सम्पन्न यह हिन्दी कोश अपना प्रथम खण्ड हिन्दी जगत् के सम्मुख लेकर आया है। हिन्दी जगत् में इसका सम्मान होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि यह कोश जल्दी-से जल्दी अपने सम्पूर्ण रूप में सामने आजाय जिससे एक आवश्यक अभाव की पूर्ति हो सके।

भाषा शास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोश—ले० राजेन्द्र द्विवेदी। प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली। पृष्ठ ३०७, मूल्य १०.००।

लेखक के अपने शब्दों में इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन भाषाशास्त्र के पारभाषिक शब्दों को उनके इतिहास और विकास के परिप्रेक्ष्य में सांगोपाग प्रस्तुत करना है और उसके लिए इन बोलियों के विवरण की अपेक्षा भाषा, शब्द, अर्थ, ध्वनि वाक्य लिपि, भाषोत्पत्ति भाषा विज्ञानेतिहास आदि आदि शब्दों की टिप्पणियों की ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।' यही इस ग्रन्थ का सच्चा मूल्याङ्कन है। लेखक ने इस ग्रन्थ में सङ्कलन का ही विशेष कार्य किया है किन्तु जैसा प्राक्कथन में डॉ० बाबूराम सक्सेना ने संकेत किया है कि अन्य विद्वानों के उद्धरणों का विवेचन करके ग्राह्य और अग्राह्य को पृथक पृथक करने की चेष्टा नहीं की गई है, यह कथन नितान्त सत्य है। इसके साथ ही भाषा-विज्ञान की पुस्तकों में छपाई की अशुद्धियाँ अर्थ का अनर्थ कर देती है। पृष्ठ ११६ पर 'राम' के ध्वनि तात्विक खण्ड भोलानाथ तिवारी की पुस्तक के अनुसार र्+आ+म+अ दिये गये हैं, किन्तु यहां म हलन्त होना चाहिए जो कि छपाई की भूल है। इसके साथ ही पाद टिप्पणी के प्रसङ्ग में (२. भोलानाथ तिवारी, भाषा विज्ञान पृष्ठ १६६) में पुस्तक के संस्करण का भी निर्देश कर देना, आवश्यक था। सन् १६५७ के द्वितीय संस्करण में यह प्रसङ्ग पृष्ठ १६० पर देखने को मिला।

इन छोटी मोटी अशुद्धियों के होने पर भी हम लेखक के प्रयत्न की प्रशंसा करेंगे। भाषाविज्ञान के पारिभाषिक कोशों में इस ग्रन्थ का अपना विशेष स्थान रहेगा। हिन्दी जगत इस ग्रन्थ का सम्मान करेगा, ऐसी आशा है। आगामी संस्करण में कतिपय अभावों की भी पूर्ति की जा सकेगी।

स्फुट

कार्यालय कार्य-विधि—ले०—रामचन्द्रसिंह सागर, प्रका०—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृ० २३६, मूल्य ६.००

जैसा कि पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है पुस्तक लिखने का उद्देश्य हिन्दी में दफ्तरों की कार्यवाही सिखाने की शिक्षा देना है। जैसा कि कहा गया है पुस्तक भारत-सरकार द्वारा सञ्चालित विभागीय परीक्षाओं, सचिवालय, तथा संघलोक सेवा आयोग द्वारा सञ्चालित प्रतियोग परीक्षाओं के पाठ्यक्रम को दृष्टि में रखकर लिखी गई है। इस विषय में अब तक अनेक पुस्तक निकल चुकी हैं फिर भी नई पुस्तकों की आवश्यकता बनी रही है। इस दिशा में अभी यथेष्ट कार्य होना है। प्रस्तुत पुस्तक आवश्यकताओं को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होगी—ऐसा प्रतीत होता है।

जी. पी. श्रीवास्तव की कृतियों में हास्य-विनोद—ले०—श्याम मुरारी जैसवाल। प्रका० लखनऊ विश्वविद्यालय। पृष्ठ २४१, मूल्य ६.००

एक तो हिन्दी में हास्य की ही कमी है और उससे भी अधिक कमी है हास्य से सम्बन्धित गहरी पैठ रखने वाली समीक्षात्मक सामग्री की। हिन्दी शोध के क्षेत्र में हास्य से सम्बन्धित कुछ प्रयास पहले हो चुका है, किन्तु वह सामान्य सिद्धान्तादि को लेकर चलने वाला रहा है। हास्य - व्यंग्यकारों पर अलग अलग काम हो, यह आवश्यकता आज भी बनी हुई है। श्री जैसवाल ने जी. पी. श्रीवास्तव के हास्य-व्यंग्य पर अपना एम. ए. का शोध प्रबन्ध लिखकर एक ऐसे वयोवृद्ध तथा मूक तपस्वी का मूल्याङ्कन किया है, जिसने हिन्दी भाषा और साहित्य की ओर अनेकानेक नवीन पाठकों को आकर्षित ही नहीं किया है। वरन् प्रबुद्ध पाठकों का भी मन: प्रसादन किया है, इस पुस्तक में तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में हास्य के स्वरूप, प्रकार तथा हिन्दी साहित्य में उसके महत्व पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय खण्ड श्रीवास्तव जी के साहित्य की पृष्ठभूमि से सम्बन्धित है तथा इसमें उनका जीवन परिचय भी दिया गया है। तृतीय खण्ड इस पुस्तक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अङ्ग है। जिसमें उनकी प्रमुख रचनाओं का विश्लेषण हुआ है, इस अध्याय में श्रीवास्तव के साहित्य की आलोचनात्मक व्याख्या में उनकी भाषा, व्याकरण, शब्द प्रयोग, पात्र, शीर्षक, कथानक, संयोग, कथोपकथन गीत, शैली, सामाजिक समस्याएँ आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

भाषा दर्शन—ले०-डॉ० रामलालसिह, प्रका०- विद्यामन्दिर बनारस सिटी। पृष्ठ ३६६, मूल्य ८·५०

डॉ० रामलालसिह ने इस ग्रन्थ के प्रणयन से हिन्दी-भाषा विज्ञान-शृङ्खला में एक नवीन कड़ी जोड़दी है। इस पुस्तक को उन्होंने विद्यार्थियों के लिए उपयोगी बनाने की चेष्टा की है। परिशिष्ट में भाषा-विज्ञान विज्ञान है या कला एवं विभिन्न विज्ञानों के भीतर भाषा-विज्ञान का स्थान जैसे विषयों को सम्मिलित करके विद्यार्थियों की फरमाइशों को पूरा करने का प्रयत्न किया गया है। भाषाविज्ञान की नवीनतम शब्दा-वली का प्रयोग करके विषय विवेचन को आधुनिकतम बनाने का प्रयास किया है किन्तु कहीं-कहीं यह विवेचन स्पष्ट नहीं हो पाया है। उदाहरणार्थ पृष्ठ २०८ पर 'सम ध्वनियों में अर्थ बदले की शक्ति नहीं होती, जैसे--'कपड़ा-कपड़ा'। किन्तु दूसरे शब्द में 'अ' ध्वनि का अभाव है, इसका अर्थ यह हो गया कि 'अ' कोई ध्वनि ग्राम नहीं है, जोकि सत्य नहीं। इसी प्रकार 'हिन्दी के फ में वह सङ्घर्ष नहीं जोकि अंग्रेजी के फ़ में है। इसका अर्थ हुआ कि हिन्दी के फ में भी थोड़ा बहुत सङ्घर्ष है। इस प्रकार की भाषा भाषा-विज्ञान विषय के विवेचन के लिए उपयुक्त नहीं। इसी प्रकार पृष्ठ २५४ पर बना मूल स्वर चित्र में भी त्रुटि रह गई है।

कतिपय मानवीय त्रुटियों के अतिरिक्त लेखक का प्रयास स्तुत्य है। हिन्दी जगत इस प्रकाशन का तस्तुत: स्वागत करेगा।

राष्ट्रीय ग्रन्थ-सूची— सम्पादक–वी० एस० केशवन् आदि। प्रकाशक–भाषा विभाग, उत्तर प्रवेश सरकार, लखनऊ। पृ० ४४७, मू० ८.००।

राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता में प्राप्त सन् १९६० की उन सभी साहित्यिक मूल्य की पुस्तकों का इसमें विवरण दिया गया है जो उस वर्ष हिन्दी में छपी हैं। इसमें अस्थायी मूस्य की पुस्तकें आदि नहीं हैं। हिन्दी के शोधार्थियों तथा इतिहासकारों के लिए उस सूची की अनिवार्य आवश्यकता तो सभी निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं किन्तु आज भी पुस्तकालयों, विश्व-विद्यालयों, प्रकाशकों और पत्रकारों के लिए इस प्रकार के सन्दर्भ ग्रन्थों की अनिवार्य आवश्यकता अनुभव की जाती है। इस प्रकार के ग्रन्थ साधनों के अभाव में सामान्य लेखकों और प्रकाशकों की सीमा से परे हैं, अत: सरकार द्वारा इस प्रकार का प्रयास अनिवार्य आवश्यकता बन गया है। यह अन्यन्त प्रसन्नता की बात है कि सरकार ने इस आवश्यकता को समझकर इस ओर कदम उठाया है। उस माला का यह तीसरा ग्रन्थ है। ग्रन्थ में पुस्तकालयों की आवश्यकता जो समझ कर पूस्तकों का बिषयानुसार वर्गीकरण भी दे दिया है। इस प्रकाशन माला का अधिकाधिक विस्तार हो—इसकी अनिवार्य आवश्यकता है।

लाइब्रेरी के लिए उत्तमोत्तम हिन्दी पुस्तकें

जनवरी १९६४ का साहित्य-सन्देश का पुस्तकाङ्क के नाम से हमने विशेषांक छापा है इसमें हिन्दुस्तान के लगभग २०० प्रमुख प्रकाशकों की उच्चकोटि की सभी विषयों की हिन्दी को पुस्तकें सम्मिलित की गई हैं। अभी तक ऐसा उपयोगी सूचीपत्र शायद ही किसी पुस्तक विक्रेता ने छापा हो। हर विषय की पुस्तकें अद्यावधि क्रम से छापी गई है—लेखक और मूल्य भी प्रत्येक पुस्तक के सामने प्रकाशित किया गया है।

अपनी लाइब्रेरी

के लिए पुस्तकें छाँटते समय इस सूचीपत्र को सामने रख कर पुस्तकों का यदि आप चयन करेंगे तो निश्चय ही आपकी लाइब्रेरी एक अच्छी लाइब्रेरी मानी जायगी, क्योंकि इसमें सभी उच्चकोटि के लेखकों की पुस्तकों का समावेश है।

यदि आपके यहाँ यह सूचीपत्र न हो तो एक प्रति मुफ्त मँगा लें।

पता :—

साहित्य रत्न भण्डार

साहित्य कुञ्ज, आगरा।

REGD. No. L, 263. March 1964 License No. 16
Sahitya-Sandesh, Agra. Licensed to post without prepayment.

रामचरनलाल द्वारा साहित्य-प्रेस में मुद्रित तथा साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा से प्रकाशित ।

साहित्य-सन्देश

अप्रैल १९६४

सम्पादक—महेन्द्र एक प्रति ०.५०

साहित्य रत्न भंडार
आगरा

'साहित्य-सन्देश' आगरा की विगत १२ वर्षों की फाइलों का विवरण

सन्	पाठ्य सामग्री की पृष्ठ संख्या	लेखों की संख्या	विशेषाङ्क जो सम्मिलित हैं	मूल्य	डाक-व्यय
१९५१-५२	५३२	१०५	आलोचनाङ्क	१)	१)६६
१९५२-५३	५१८	११४	कहानी अङ्क	१)	१)६६
१९५३-५४	५१८	१०९	आधुनिक काव्याङ्क	१)	१)६६
१९५४-५५	४८०	९६			१)६६
१९५५-५६	५०१	१०८	अन्तः प्रान्तीय नाटकाङ्क	१)५०	१)५४
* १९५६-५७	५०१	११८	आधुनिक उपन्यास अङ्क	१)	१)७८
१९५७-५८	५५६	१२८	(१) भाषा विज्ञान विशेषाङ्क	२)	१)८४
			(२) प्रगति विशेषाङ्क	१)	
* १९५८-५९	५५८	१३४	(१) सन्त-साहित्य विशेषाङ्क	१)५०	१)९०
*			(२) ऐतिहासिक उपन्यास अङ्क	२)	
१९५९-६०	५२०	१२४	(१) रीतिकाव्यालोचनाङ्क	२)	१)८४
			(२) प्रगति अङ्क १९६०	१)	
१९६०-६१	५०८	१०५	(१) शोध विशेषाङ्क	२)	१)९०
*			(२) प्रगति विशेषाङ्क १९६१	१)	
१९६१-६२	५८४	१३४	(१) निबन्ध विशेषाङ्क	२)	१)९५
			(२) निराला विशेषाङ्क	१)	
* १९६२-६३	५२५	१२४	(१) साहित्य-शास्त्र विशेषांक	१)५०	१)९५
*			(२) रांगेय राघव स्मृति अंक	१)	
*			(३) शिवपूजनसहाय स्मृति अंक	)५०	

मोटी वसली की जिल्द, आवरण पृष्ठ और विषय-सूची के साथ

प्रत्येक फाइल का मूल्य ६) है। पृथक-पृथक मँगाने पर डाक-व्यय २१)३४ न० पै० लगेंगे जैसा प्रत्येक फाइल के सामने लिखा है। पूरा सैट एक साथ मँगाने पर रेल से हम अपने खर्चे पर ७२) में आपके पास भेज देंगे। आर्डर भेजते समय आप अपने रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखें।

पहले पाँच वर्षों की फाइल बहुत कम बची हैं। १९५१ से पूर्व का एक भी अङ्क शेष नहीं है।

* चिन्हित विशेषाङ्क फुटकर प्रतियों में भी मिल सकेंगे—शेष सभी विशेषाङ्क फाइलों में ही मिलेंगे।

'साहित्य-सन्देश'

आलोचना-प्रधान मासिक-पत्र — वार्षिक मूल्य ५)

पता—'साहित्य-सन्देश' कार्यालय, आगरा।

जीवनोपयोगी पुस्तकें

अमरवाणी	मानसहंस
अनमोल मोती	,,
सफलता के ८ साधन	जेम्स ऐलन
जैसा चाहो वैसा बनो	स्वेट मार्डेन
सफल कैसे हों	,,
प्रभावशाली व्यक्तित्व	,,
अपनी उन्नति आप कीजिए	,,
सफलता का रहस्य	,,
गांधीजी की सूक्तियाँ	ठा० राजबहादुरसिंह
वे सफल कैसे हुए	एस० के० बोल्टन
सुख और सफलता के साधन	सन्तराम बी० ए०
नई जिन्दगी	श्रीरामनाथ 'सुमन'

प्रत्येक का मूल्य एक रुपया

इस मास के नए प्रकाशन

परिवर्तन (उपन्यास) गुरुदत्त
नारी ,, अखिलन
हीरे की कनी (कहानियाँ) अमृता प्रीतम
डाकुओं के बीच (संस्मरण) रामकुमार 'भ्रमर'
दुनिया रंग-बिरंगी (हास्य व्यंग्य) देवराज दिनेश
भारतीय फिल्मों की कहानी बच्चन श्रीवास्तव
सेक्स की समस्याएँ डा० लक्ष्मीनारायण
मधुबाला (काव्य) कवि बच्चन
वैशाली की नगर वधू (उपन्यास) चतुरसेन शास्त्री
केवल इसका मूल्य २.००
पृष्ठ २५०

आजादी खतरे में है।
पूरी ताकत लगा कर इसकी रक्षा कीजिए।

—जवाहरलाल नेहरू

देश की रक्षा आपका भी काम है

आजादी की रक्षा के लिए हमें पूरे अनुशासन और त्याग से काम करना है। पूरी ताकत से काम करके और पैदावार बढ़ा कर देश की रक्षा में मदद दीजिए।

आप का अनुशासन भारत की शक्ति है

सम्पादक : महेन्द्र

सहकारी : डॉ० मक्खनलाल शर्मा

भाग २५] आगरा—अप्रेल १९६४ [अङ्क १०

हमारी विचारधारा

द्विवेदीयुगीन समीक्षा के आयाम—

हिन्दी समीक्षा की जो धारा भारतेन्दु-युगीन गंगोत्री से निःसृत हुई थी वह द्विवेदीयुगीन समतल वनस्थली में आकर विस्तृत होने के लिये गहराई में उतरी, उसे संस्कृत परम्परा की स्थायी निधि को शीघ्रातिशीघ्र आत्मसात करने की चिन्ता हुई। आचार्य द्विवेदी ने विशेष रूप से इस उत्तरदायित्व को उठाया। भारतेन्दु युग में सृजनात्मक साहित्य के सामानान्तर समीक्षा पद्धति का विकास हुआ था किन्तु द्विवेदी युग में सृजनात्मक साहित्य जिस गति से अग्रसारित हुआ, वह गति समीक्षा ग्रहण न कर पाई और वह पिछड़ गई। उसे अंग्रेजी और संस्कृत की समोक्षा पद्धतियों में से अपना भण्डार भरने की इच्छा हुई क्योंकि व्यवहारिक समीक्षा के विकास के लिये अब सैद्धान्तिक पक्ष के समृद्ध होने का प्रश्न उपस्थित हो गया था। द्विवेदीजी ने स्वयं संस्कृत काव्यों की समीक्षा की तथा संस्कृत काव्य रमणीय आधार को हिन्दी में प्रस्तुत किया एवं अन्य लोगों से अंग्रेजी के काव्य रमणीय ग्रन्थ अनुवादित कराये। आलोचना के महत्व को प्रतिपादित किया,[1] किन्तु सामयिक सृजनात्मक साहित्य की ओर इतना ध्यान नहीं दिया जा सका जितना कि भारतेन्दु-युग में दिया गया था एवं उस परम्परा को अग्रसारित करने की दृष्टि से दिया जाना चाहिये था। यह दूसरी बात है कि भारतेन्दुयुगीन समीक्षा के सभी प्रगतिशील तत्व किसी न किसी रूप में अक्षुण्ण बने रहे। इस युग में भारतेन्दु युग की कसौटी मान्य रही। भारतेन्दु युग में जनता को सच्चा समीक्षक माना गया था। आचार्य द्विवेदी ने भी अच्छी कविता की कसौटी श्रोता घोषित किया।

"अच्छी कविता की सबसे बड़ी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही बोल उठें कि सच्चा कहा। वही कवि सच्चे कवि हैं जिनकी कविता सुनकर लोगों के मुँह से सहसा यह उक्ति निकलती है।"[1]

द्विवेदी युग विज्ञान की उन मान्यताओं को स्वीकार करके आगे चला जिनकी ओर हमें भारतेन्दु का ध्यान आकृष्ट होता दिखाई देता है। द्विवेदीजी ने विज्ञान की अधुनातन उपलब्धियों का परिचय अनेक प्रकार से सरस्वती के द्वारा हिन्दी जगत तक पहुँचाया। वे 'अमीवा' से लेकर कृषिक्षेत्र की खोजों तक को सफल रूप से महत्त्व देते थे और उन लेखकों को समय-समय पर प्रोत्साहित करते थे जो विदेशों से सीख कर यहाँ आते थे तथा हिन्दी की ओर ध्यान नहीं देते थे। द्विवेदीजी केवल विज्ञान को लेकर ही चलना श्रेष्ठ नहीं मानते थे, वरन् वे संस्कृति, धर्म और अध्यात्म क्षेत्र

[1] वाग्विलास पृष्ठ ६३।

[1] संचयन पृष्ठ ७८।

की उपलब्धियों को विज्ञान के साथ मिलाकर चलना उपयुक्त मानते थे। उन्हें विश्वास था कि जब तक हमारा भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार का पूर्ण विकास नहीं होगा तब तक हम अपने परिवेश के अनुकूल सिद्ध नहीं हो सकेंगे और आज के युग में टिकना असम्भव हो जायगा। द्विवेदीजी समाज परिवर्तन आवश्यक मानते थे। वे व्यक्ति और समाज दोनों के परिवर्तन द्वारा ही भावी समाज रचना में विश्वास रखते थे। उन्हें व्यक्तिगत एवं समाजगत उपलब्धियों में विरोध प्रतीत नहीं होता था। उन्हें यह स्पष्ट लगता था कि समाज का विकास बिना व्यक्तियों के उठे, असम्भव है तथा कुछ व्यक्ति चाहे जितने उठ जायँ, जब तक सम्पूर्ण समाज में एक हवा नहीं बनेगी तब तक गुण का विकास एवं स्थिति बनी रहने वाली नहीं है।

चूँकि इस युग की समीक्षा साहित्य के इतर जीवन को प्रभावित करने के उद्देश्य से प्रेरित थी इसलिये जब भी अवकाश मिलता था, ये समीक्षक राजनीति[१], धर्म[२], व्यवसाय[३], कृषि[४], विज्ञान[५], पुरातत्त्व[६], नृतत्त्व[७], जीव-विज्ञान[८], राष्ट्रीय आन्दोलन[९], नेताओं का स्वभाव[१०], अंग्रेजी राज की शोषक, नीति[११], जनसंख्या[१२], लीग आफ नेशन्स[१३], राष्ट्रीय एकता[१४], हिन्दी प्रचार[१५], संगठन[१६], नव स्वतन्त्र देशों की गाथा[१७], सच्चा प्रतिनिधित्व[१८], गान्धीवाद[१९], जेल न्याय और पुलिस की सख्ती[२०], लोक संस्कृत का अभ्युदय[२१], सामयिक समस्या की प्रमुखता[२२] आदि विषयों को प्रत्यक्ष और परीक्ष रूप से स्वीकार कर लेते थे। एवं इन विषयों पर अनेक विध शैलियों में अपनी कलम चलाते थे। समीक्षकों की दृष्टि सार्वजनीन, सार्वभौमिक सार्वकालिक साहित्य की ओर थी किन्तु ये गुण सरल भाषा के साथ ही स्वीकृत थे अन्यथा नहीं।

आज देश, काल तथा वर्ग आदि की सीमाओं का खण्डन विज्ञान ने कर दिया है। आज विश्वीय भावना अनिवार्यता बन गई है। किन्तु द्विवेदी युग में स्थिति भिन्न थी, किन्तु हिन्दी समीक्षा के उस युग का आधार परम्परा प्राप्त भारतीय जीवन-दर्शन तथा व्यापक मानवीय धरातल पर टिका था, अतः उनमें इन तत्वों का होना आश्चर्य की बात नहीं है। इस युग में यह भावना संस्कृत साहित्य के अति-परिचय से अधिक पल्लवित हुई और उसने युगीन साहित्य को शाश्वत साहित्य की पीठिका पर रखकर जाँचा। परिणामतः एक ऐसे मानवतावाद का जन्म हुआ जिसका प्रारम्भ हमें १९२० तक पहुँचते-पहुँचते बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा। सरस्वती के सम्पादकीय में 'हिन्दी कविता का भविष्य, शीर्षक लेख में द्विवेदीजी ने लिखा—'अभीतक वह मिट्टी में सने किसानों और कारखाने से निकले हुए मैले मजदूरों को अपने काव्य का नायक नहीं बनाना चाहता था।.........परन्तु अब वह शूद्रों की भी महत्ता देखेगा और तभी जगत का रहस्य सबको विदित होगा.........जो साधारण है वही रहस्यमय है, वही अनन्त सौन्दर्य से युक्त हैं।' इससे यह सिद्ध हो जाता है कि द्विवेदीयुगीन मानवतावादी दृष्टि उधार ली हुई नहीं है वरन् उसका मूल भारतीय मिट्टी तथा यहीं की परिस्थिति में है।

आज सर्वोदयी मान्यतानुसार अध्यात्म और विज्ञान का ऐसा समन्वय स्वीकार किया जाता है जो भौतिक और आध्यात्मिक दोनों जीवनों के एक साथ विकास का समर्थक है इसमें वेदान्त के उस रूप का समर्थन नहीं किया जाता जो हमें इस जीवन की निस्सारता समझकर केवल आत्मा तक ही सीमित करना चाहता है। द्विवेदीयुगीन मान्यताएँ भौतिक और आध्यात्मिक जीवन को एक दूसरे का पूरक मान कर चलीं तभी तो वे लोग लिख सके—

[१] लेखाञ्जलि—पृष्ठ ९९, १०५। [२] वही, पृष्ठ ७१-२। [३] वही, पृष्ठ १४८-१४९। [४] वही, पृष्ठ ११६। [५] वही, पृष्ठ ४। [६] वही, पृष्ठ ११। [७] वही, पृष्ठ ८-९। [८] वही, पृष्ठ १५। [९] वही, पृष्ठ १६०। [१०] वही, पृष्ठ १७२। [११] वही, पृष्ठ १३१। [१२] वही, पृष्ठ १०६, १०९। [१३] वही, पृष्ठ १२४। [१४] वही, पृष्ठ १६६। [१५] समालोचना समुच्चय पृष्ठ १६०। [१६] लेखाञ्जलि पृष्ठ १६८-६९। [१७] वही, पृष्ठ १६८। [१८] वही, पृष्ठ १७४। [१९] वही, पृष्ठ १८०। [२०] वही, पृष्ठ १९६। [२१] द्विवेदी पद्यावली पृष्ठ ११५। [२२] वही, पृष्ठ १२३।

"हिन्दू भाइयों को यह समय मत-मतान्तरों में पड़ने का नहीं है और न सन्तोष का है और न देहाती बनकर उदासीन होकर बैठने का है। भाइयो, ऐसे घोर काल में कुछ धार्मिक कार्य नहीं हो सकता, न वह शास्त्र विदित ही है। केवल देश बचाने के लिये जिस तरह हो सके, कटिबद्ध होकर यत्न करो। यह समय देश-विदेश व जाति-पाँति के विचार का नहीं है, सबका प्रायश्चित केवल मरते हुए देश भाइयों को बचाना ही परम धर्म है। यही सबका परम कर्तव्य है। जैसे हो सके वैसे शिल्प-शिक्षा का प्रचार करो। जैसे बन पड़े वैसे कला-कौशल सीखने का यत्न करो। यही सबका उद्धार है और कुछ नहीं।"[1]

आचार्य द्विवेदी साहित्य की शक्ति को अमर, सार्वकालिक, सार्वदेशिक तथा सार्वजनीन मानकर उसी कोटि के साहित्य सृजन को प्रोत्साहित करते थे। यह शक्ति सत्य को आधार मानकर अहिंसा की पद्धति से उसके उद्‌घाटन पर ही प्रकट हो सकती है—संभवतः यही सिद्धान्त उनके शब्दों से ध्वनित होता है। वे भाषा एवं भावों के उस रूप पर बल देते थे जो उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो तथा साहित्य को अमरता प्रदान कर सके—

"एक बात का ध्यान रखिएगा। भाषा सरल हो। भाव सार्वजनीन और सार्वकालिक हो। सब देशों के सब मनुष्यों के मनोविकार प्रायः एक से होते हैं। काव्य ऐसा होना चाहिए जो सबके मनोविकारों को उत्तेजित करे देश, काल से मर्यादाबद्ध न हो ऐसी ही कविता अमर होती है।"[2]

सत्य का लोक कल्याणकारी रूप अहिंसा का माध्यम अपनाता है। देश, काल और परिस्थिति में सीमित सत्य जब हिंसक प्रक्रिया को अपनाकर चले तो हम समझ सकते हैं कि वह समाज के एक अङ्ग का कल्याण भले ही करे उसे लोक कल्याणकारी नहीं माना जा सकता। और दूसरी बात यह है कि उसमें सत्य का अंश भी माध्यम की अपूर्णता के कारण

[1] इन्दु: कला ४ : खण्ड २ : किरण ६ : पृष्ठ ५४०। [2] द्विवेदी पद्यावली : पृष्ठ ११४।

अधिक मात्रा में प्रकट नहीं हो सकेगा। यथार्थवाद के नाम पर जिन व्यक्तिगत अथवा सामाजिक विकृतियों को कलावादी दृष्टिकोण से अङ्कित किया जाता है तथा बुराइयों में भी सौन्दर्य दिखाया जाता है उसका समाज पर अच्छा प्रभाव न पड़कर दूषित प्रभाव पड़ता है। जब तक ये सब चीजें जीवन में हैं तब तक उनका साहित्य में भी वर्णन रहेगा। इसमें दो मत नहीं हो सकते क्योंकि साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है, किन्तु अकल्याणकारी तत्वों को सामाजिक अहित की दृष्टि से चित्रित करना चाहिए। आचार्य द्विवेदी ने अपने युग के साहित्यकारों को दिशा निर्देश करते हुए लिखा था—

'उसमें चोरों, डाकुओं, व्यभिचारियों, दुराचारियों के चित्र दिखाने की क्या जरूरत ? प्रसङ्ग आ ही जाय तो इस प्रकार के चित्रों की विवृत्ति ऐसे शब्दों से करनी चाहिये जिससे उनका असर पढ़ने वालों पर बुरा न पड़े। दोष समझकर उनकी विवृति करनी चाहिये। जो उपन्यास लेखक अश्लील दृश्य दिखाकर पाठकों के पाशविक विचारों की उत्तेजना करता है अथवा ऐसे चरित्रों के चित्र खींचता है जिनसे दुराचारों की वृद्धि हो सकती है, वह समाज का शत्रु है।'[1]

सत्य को साहित्य का ध्येय स्वीकार करने वाला समीक्षक साहित्यकार के लिए प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करेगा। इस सम्बन्ध में विनोबाजी की मान्यता अत्यन्त स्पष्ट है—

'मेरा मानना है कि साहित्यिकों को अपनी-अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा जरूर होनी चाहिए। लेकिन उसके साथ-साथ सब मिलकर कोई सामूहिक प्रयोग करें, तो उसका जो दर्शन होगा, वह एक समर्थ दर्शन होगा।'[2]

द्विवेदी युग के समीक्षक साहित्य और साहित्यकार की इस शक्ति को पहचानने लगे थे। सत्य तक पहुँचने के अनेक विध प्रयोग करने के पक्षपाती थे। काव्य जब जब कृत्रिमता के प्रभाव में आया है या उसकी रचना किसी आश्रयदाता या सिद्धान्त के लिए हुई है

[1] महावीरप्रसाद द्विवेदी : सञ्चयन : पृष्ठ १४७।
[2] आचार्य विनोबा—साहित्य का धर्म पृष्ठ १२।

तभी-तभी उसकी शक्ति घटी है, वह उद्देश्य भ्रष्ट हुआ है और सत्य शोधन का वाहन न सिद्ध होकर असत्य का प्रचारक मात्र बन कर रह गया है। आचार्य द्विवेदी के निम्न शब्द इन तथ्यों पर पूर्ण प्रकाश डालने में समर्थ हैं :—

"दबाब से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में भाव आप ही आप पैदा होते हैं। जब वह निडर होकर उन्हें अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उस का पूरा पूरा असर लोगों पर पड़ता है। बनावट में कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति के गुण-दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों उन्हें यदि वे रोक-टोक प्रकट करदें तो उनकी कविता हृदयद्रावक हुए बिना न रहे। परन्तु परतन्त्रता या पुरस्कार प्राप्ति या और किसी प्रकार की रुकावट के पैदा हो जाने से यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस अतएव प्रभावहीन हो जाती है।"[1]

सर्वोदय मानवतावादी तथा करुणामूलक दर्शन है। वह साहित्य को इसी कसौटी पर कसना समीचीन समझता है। द्विवेदी-युग में भगवान की अपेक्षा मानव की स्थापना पर अधिक बल दिया जाने लगा। प्राचीन काल में जिन पात्रों को तिरस्कृत और हेय माना जाता था, इस युग में उनके प्रति सहानुभूति के भाव प्रकट किए गये। 'रामचरित मानस' के अनेक नीच पात्रों जैसे शूर्पणखा, मन्थरा, कैकेयी आदि के प्रति साहित्यकारों और समीक्षकों का दृष्टिकोण परिवर्तित हुआ। मिश्रबन्धुओं ने शूर्पणखा के सम्बन्ध में लिखा —

"शूर्पणखा का चरित्र ऐसा बुरा न था, जैसा साधारण लोग समझते हैं। वह रामचन्द्र से व्यभिचार करने न गई थी, वरन् नियमपूर्वक विवाह करना चाहती थी। अपना विधवा होना प्रकट न करना उसका आदिम अपराध था। लक्ष्मण से भी विवाह करने पर झट से राजी हो जाना कुछ अनुचित कहा जा सकता है, किन्तु वह भी एक शूर और सुपात्र थे और जब उनके बड़े भाई ने इसका विचार मानकर उसे उनके पास भेजा, तब इसका मान जाना अनुचित भी न था। इसके साथ भगवान का व्यवहार योग्य नहीं कहा जा सकता।"[1]

इस युग ने मानवतावाद की स्थापना इस दृढ़ता के साथ की कि वे रामचन्द्रजी और कृष्णजी को उनके अवतारी पुरुष होने के कारण आदर्श नहीं मानते थे वरन् उनके मनुष्योचित गुणों के कारण उन्हें मानवता का रक्षक स्वीकार करके महान ठहराया। पदुमलाल-पुन्नालाल बख्शी ने इस सम्बन्ध में रामचन्द्रजी के चरित्र का विश्लेषण करते हुए लिखा—

'रामचन्द्र ईश्वर थे, पर आये थे वे मनुष्य के ही रूप में। उनमें मनुष्योचित गुण थे। वह पुत्र थे, भ्राता थे, स्वामी थे। उन्होंने मनुष्यों के सुख-दुःख और आशा-निराशा का अनुभव किया था.........कौशल्या की तरह हम भी हाथ जोड़ कर कहते हैं—"भगवान! आप अपना विश्व रूप मत दिखाइए। ईश्वर के रूप में मत आइए। हमें आप तपस्वी रूप में ही दर्शन दीजिए।"[2]

अब तक मानव निरन्तर यह अनुभव करता रहा है कि वह अपूर्ण है। अपनी अपूर्णता को समझकर उसने पूर्णता को समझने तथा उस ओर अग्रसर होने का निरन्तर प्रयास किया है और विकास का क्रम यह सिद्ध करता है कि उसे सफलता भी कम नहीं मिली है। साहित्यकार उसके विकास की दिशा का निर्देशन करता हुआ पूर्वानुभवों को सामने लाकर स्पष्ट करता है और इस प्रकार सत्य के प्रत्यक्षीकरण की दिशा प्रशस्त करता है। हिन्दी समीक्षकों की द्विवेदी-युगीन उपलब्धियां इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

———

[1] द्विवेदी मीमांसा पृष्ठ १८९।

[1] मिश्रबन्धु—हिन्दी नवरत्न, पृष्ठ ११६।

[2] प. पुन्ना. बख्शी—विश्व साहित्य, पृष्ठ ७३-७४।

भट्टनायक का भावितिवाद*

भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा में रस काव्य का एक महत्वपूर्ण मूल्य है। भरत मुनि के अनुसार तो रस रहित नाटक निरर्थक होता है। विश्वनाथ तक आते-आते सम्पूर्ण काव्य के विषय में यही बात कही जाने लगी। रस-सिद्धान्त के इस इतिहास में भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक विविध आचार्यों ने अपनी प्रखर प्रतिभा के आलोक में उसे गतिमान किया। किन्तु यह एक खेद का विषय है कि हिन्दी का विद्यार्थी इस समग्र इतिहास के मर्म तक नहीं पहुँच पाया। जहां तक रस के स्वरूप का प्रश्न है उस पर रामचन्द्र शुक्ल ने स्वतन्त्र दृष्टि से विचार किया है किन्तु रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में श्यामसुन्दरदास ही आधार माने जाते रहे हैं। यही कारण है कि रस-निष्पत्ति सम्बन्धी कई ऐसे मत प्रचलित हो गए हैं जो असङ्गत एवं अपूर्ण हैं। श्यामसुन्दरदास के सम्मुख एक भिन्न परिस्थिति और प्रयोजन था जिसकी पूर्ति के लिये उन्होंने 'साहित्यालोचन' की रचना की थी। किन्तु आज की परिस्थिति में जब कि प्राचीन ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करण प्राप्त हैं और उनके आधार पर नवीन शोध कार्य चल रहा है, रस-निष्पत्ति के विविध वादों के विषय में जो भ्रान्तियां हैं उनका निराकरण हो जाना चाहिए।

सबसे पहली बात जो हमारे सामने आती है वह है रस-निष्पत्ति के वादों के नामकरण की। भरत के मत के लिए निष्पत्तिवाद का प्रयोग मान्य है। लोल्लट के सिद्धान्त को उत्पत्तिवाद मानना भी पूर्णतः सङ्गत नहीं है। उसके लिए उपचितिवाद का प्रयोग अधिक सार्थक होगा क्योंकि इनके अनुसार विभावादि से उपचिति स्थायी भाव ही रस है। अभिनवगुप्त के मत के लिए जो अभिव्यक्तिवाद नाम प्रचलित है वह मान्य है। किन्तु शंकुक के मत को अनुमितिवाद तथा भट्टनायक के मत को भुक्तिवाद कहना सर्वथा असङ्गत एवं भ्रामक है।

इसको समझने के लिए हमें पहले यह देखना होगा कि किसी भी वाद के नामकरण का आधार क्या होगा? इस विषय में भरत का रस सूत्र ही आधार माना जाएगा और इसलिए निष्पत्ति के अर्थ के आधार पर ही वाद का नामकरण करना सङ्गत एवं मान्य होगा। अभिनव के अनुसार तो निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति है किन्तु शंकुक के अनुसार न तो उसका अर्थ अनुमिति है और न ही भट्टनायक के अनुसार उसका अर्थ भुक्ति है।

शंकुक ने रस-सूत्र की व्याख्या करते हुए दो अवधारणाओं का प्रयोग किया है—एक अनुकृति का और द्वितीय अनुमिति का। नट नायक के भावों की अनुकृति करता है और फिर जब सामाजिक चित्र-तुरग न्याय से नट को ही नायक तथा नट द्वारा अनुकृत भाव को नायक का भाव समझने लगता है तब वह अनुमिति के द्वारा उसका बोध कर चमत्कृत होता है। स्पष्टतः अनुमिति से पूर्व रस की अनुकृत भाव की सत्ता होनी चाहिए। दोनों व्यापार एक साथ ही नहीं हो सकते। अब यदि इन दोनों व्यापारों पर विचार किया जाए तो निष्पत्ति का अर्थ अनुकृति होगा और अनुमिति साधन है आस्वाद का। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है वादों के नामकरण का आधार निष्पत्ति का अर्थ है, आस्वाद का साधन नहीं। इसलिए श्री शंकुक के वाद का नाम अनुमितिवाद गलत है। मेरे मत में वस्तुतः उसका नाम अनुकृतिवाद होना चाहिए।

इसी प्रकार जब हम भट्टनायक के मत पर विचार करते हैं तो उनके प्रचलित नाम में वही असंगति है जो शंकुक के मत के नाम में है। भट्टनायक ने काव्य-

* लेखक ने अपना नाम लिखने की कृपा नहीं की है।
—सम्पादक

शब्द के तीन व्यापार माने हैं—एक अभिधा व्यापार जिसके द्वारा अर्थ बोध होता है, द्वितीय भावकत्व व्यापार जिसके अन्तर्गत विभावादि के साधारणीकरण-सिद्धान्त की अवधारणा स्वीकृत है और तृतीय भोग-कृत्व व्यापार जिसके द्वारा रस का भोग होता है। स्पष्ट है कि यहाँ निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति नहीं है क्योंकि भट्टनायक ने यह बार-बार कहा है कि रस के भावित होने पर ही उसका भोग होता है—'भाविते च रसे तस्य भोगः'। अतएव भट्टनायक के अनुसार पहले तो रस की भाविति होती है फिर उसकी भुक्ति होती है। अतएव यहाँ निष्पति का अर्थ हुआ भाविति। और इसलिए भट्टनायक के मत का नाम भावितिवाद ही होना चाहिए।

अभिनवगुप्त ने भोग के अतिरिक्त रस की सत्ता नहीं मानी। अतएव उनके अनुसार रस का भोग या उसकी चर्वणा और उसकी निष्पति में कोई भेद है ही नहीं। चर्वणा के अतिरिक्त रस की सत्ता ही नहीं है। रस चर्वणा रूप ही है। इसलिए उनके अनुसार निष्पत्ति और आस्वाद दोनों अभिन्न व्यापार हैं। किन्तु भरत से लेकर भट्टनायक तक सभी आचार्यों ने इन दोनों व्यापारों को भिन्न-भिन्न माना है।

यह सवाल हो सकता है कि निष्पत्ति और आस्वाद को अभिन्न मानने से रस के स्वरूप आदि पर क्या प्रभाव पड़ता है? इसके उत्तर में जो प्रधान बात सामने आती है वह यह कि अभिनवगुप्त ने सामाजिक के हृदय में रस की स्थिति मानी है और इसीलिए रस की निष्पत्ति और आस्वाद में सहभाव है। इसके विपरीत भरत से लेकर भट्टनायक तक सभी आचार्यों ने सामाजिक को रस का आश्रय नहीं माना। रस सम्बन्धी दो व्यापारों—निष्पत्ति और आस्वाद को पृथक्-पृथक् न समझने के कारण ही यह भ्रान्ति भी प्रचलित होगई है कि भट्टनायक के अनुसार रस का आश्रय सामाजिक ही है। यदि भट्टनायक के मत को जो विवरण अभिनवभारती तथा लोचन आदि में उप-लब्ध होते हैं उन्हें ध्यानपूर्वक देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि भट्टनायक के अनुसार सामाजिक रस का भोक्ता तो है मगर रस का आश्रय नहीं। इस सत्य को पूर्ण रूप से समझने के लिए भाविति के स्वरूप का स्पष्टीकरण अनिवार्य है।

इस सम्बन्ध में मूल समस्या तो यह है कि रस किसे कहा जाये—उस भावप्रवण योजना जो काव्य या नाटक में रचित होती है या उस भावात्मक प्रक्रिया को जो उस रचना के अनुशीलन से सामाजिक के मन में उत्पन्न होती है? अथवा रस सामाजिक के आस्वाद को कहा जाए या काव्य की उस निर्मिति को रस कहा जाए जिसका आस्वाद किया जाता है? भरत ने तो काव्य की उस निर्मिति को रस कहा है जो विभावादि के संयोग से निष्पन्न होती है। अभिनव ने उस निर्मिति के आस्वाद को रस माना है। इसीलिए भरत के अनुसार रस का आश्रय रङ्ग-मञ्च और अभिनव के अनुसार रस का आश्रय सामाजिक है। वस्तुतः हमें प्रथम मत ही अधिक मान्य प्रतीत होता है। यह भी स्पष्ट है कि उस मत को भरत द्वारा प्रतिपादित रूप में ग्रहण करने में कई असंगतियाँ उत्पन्न हो जाने की आशङ्का है। अतएव उस मत के सम्यक् संशोधन की अपेक्षा है। इस संशोधन का एक रूप भट्टनायक की भाविति की अवधारणा में मिलता है।

सामाजिक की सभी भावात्मक प्रतिक्रियाएँ रस नहीं कही जातीं। कुछ भाव की कोटि तक ही रहती हैं। अतएव अभिनव के अनुसार सामाजिक की एक विशिष्ट भावात्मक प्रतिक्रिया ही रस कही जाती है।

इसी प्रकार काव्यात्मक निर्मिति के विषय में यह कहा जा सकता है कि उसका कौन सा रूप रस कह-लाता है। पहले तो रस निर्मिति का रूप भरत निर्दिष्ट सूत्र के अनुकूल ही था। विभावादि की संसृष्टि ही वह निर्मिति है जो रस कही जाती थी। विश्वनाथ ने विभावादि में से किसी एक के भाव में रस की स्थिति मानी है। उनके अनुसार ऐसी अवस्था में इसके अन्य अवयवों का तात्कालिक समाक्षेप हो जाता है। यद्यपि विश्वनाथ अभिनव की परम्परा में आते हैं किन्तु फिर भी उनका यह मत रस वस्तुवादी परम्परा में भी

(शेष पृष्ठ ३९८ पर)

कलावादी सम्प्रदाय

डा० कन्हैयालाल सहल

१९ वीं शती के उत्तरार्द्ध में फ्रांस में एक ऐसी विचारधारा प्रवाहित हुई जिसका सीधा सम्बन्ध कलावाद से माना जाता है। फ्रांस के ज़ोला आदि इसके पृष्ठपोषक थे। इङ्गलैण्ड में व्हिसलर, स्विनबर्न तथा आस्कर वाइल्ड ने कला में किसी भी प्रकार के नैतिक अनुशासन को स्वीकार नहीं किया। उक्त लेखकों की दृष्टि में कला का कला के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य नहीं हो सकता। कला विषयक यह सिद्धान्त 'कला कला के लिए' कहलाता है। ए० सी० ब्रैडले के शब्दों में "काव्यानुभूति स्वत: अपना साध्य है और इसका अपना आन्तरिक मूल्य है। यह आन्तरिक गुण ही इसका काव्यगत मूल्य है। संस्कृति या धर्म के साधन के रूप में भी काव्य का बाह्य मूल्य हो सकता है, काव्य के द्वारा शिक्षा भी दी जा सकती है, भावावेग का शमन भी इसके द्वारा होता है, किसी सन्निमित्त को अग्रसर करने में भी यह सहायक होता है तथा कवि को इसके द्वारा यश और धन अथवा अन्त:करण की शान्ति भी प्राप्त होती है। इन कारणों को लेकर भी काव्य का मूल्याङ्कन भले ही किया जाय किन्तु यह मानना होगा कि काव्य का कोई भी बाह्य गुण उसका आन्तरिक गुण नहीं है और न उसके द्वारा आन्तरिक गुण का निर्धारण ही हो सकता है। यदि काव्य-रचना करते समय कवि, अथवा आस्वादन के समय पाठक, इन बाह्य उद्देश्यों को दृष्टि के सम्मुख रखे तो काव्यगत मूल्य में ह्रास ही होगा ; और इसका कारण यह है कि बाह्य उद्देश्य काव्य को उसके वातावरण से विच्छिन्न कर देते हैं, उसका स्वरूप ही बदल डालते हैं। काव्य की प्रकृति किसी का खण्ड बनना नहीं है, न काव्य यथार्थ जगत् की अनुकृति ही है, किन्तु काव्यलोक अपने आप में स्वतन्त्र तथा पूर्ण है। इस लोक को पूर्णत: अधिकृत करने के लिए हमें इसी में प्रवेश करना होगा, इसके नियमों का अनुसरण करना होगा तथा काव्य-सर्जना अथवा आस्वादन के समय यथार्थ जगत् के विश्वासों, उद्देश्यों तथा विशेष परिस्थितियों की हमें अवहेलना करनी होगी।"

विभिन्न कलावादी समीक्षकों ने 'कला कला के लिए' सूत्र की बहुविध व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। एक समीक्षक के मतानुसार कला का प्रारम्भ ही वहाँ होता है जहाँ उपयोगिता का अन्त हो जाता है।[1] अर्थशास्त्री यह मानकर चलता है कि भोजन, वस्त्र तथा घर—ये तीन मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं। इनकी पूर्ति के लिये प्रत्येक मनुष्य को प्रयत्नशील रहना पड़ता है। हाँ, यह अवश्य है कि देश-विशेष की भौगोलिक परिस्थिति तथा जलवायु की विभिन्नता के कारण कहीं तो कम परिश्रम से ही मनुष्य अपनी इन प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेता है तथा कहीं उसे एतदर्थ विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। किन्तु इन आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी जब मनुष्य के पास शक्ति एवं समय अवशिष्ट रह जाते हैं तब उसके द्वारा अनेक कलात्मक उद्भावनाएँ होती हैं। पशुओं को प्राय: अपनी शक्तियों का उपयोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में ही करना पड़ता है किन्तु उदर-पूर्ति आदि के पश्चात मनुष्य अपने समय के अवशिष्टांश को ऐसे कार्यों में लगा सकता है जिनका आनन्द के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य नहीं होता। दिन-भर कठिन परिश्रम के बाद यदि कोई आनन्दविभोर होकर बाँसुरी बजाने लगता है तो उसके ऐसा करने में सिवाय मनोरञ्जन के और कोई उद्देश्य नहीं रहता। इस प्रकार का कार्य किसी प्रकार की उपयोगिता को लक्ष्य में रखकर नहीं किया जाता।

मनुष्य को भला बनना पड़ता है ताकि सामाजिक शृङ्खला छिन्न-भिन्न न होने पावे किन्तु मनुष्य इस

[1] Art begins where utility ends.

विचारधारा से भी ऊपर उठकर कह सकता है—भलाई भलाई के लिए है, उसका कोई उद्देश्य नहीं है। ज्ञान-प्राप्ति आजकल उपयोगिता को लक्ष्य में रखकर की जाती है, जैसे वर्तमान युग में असंख्य युवक आजीविका प्राप्त करने के लिए विद्याध्ययन कर रहे हैं किन्तु पुरा काल में जहाँ 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' का उद्घोष किया गया था, वहाँ ज्ञान-प्राप्ति केवल ज्ञान-प्राप्ति के लिए ही की जाती थी। इसी प्रकार कला के लिए भी समझना चाहिए। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद उसका तो निर्माण ही स्वान्तःसुखाय होता है। जब हमारे हृदय में प्रेम अथवा दूसरे मनोवेगों का समुद्र उमड़ पड़ता है, तब हम अभिव्यक्ति के आवेश को रोक नहीं सकते—इस प्रकार की अभिव्यक्ति होती है केवल अभिव्यक्ति के लिए।

मनुष्य की कुछ रचनाएँ जो आवश्यकता अथवा उपयोगिता की पूर्ति के लिए की जाती हैं, सोद्देश्य कही जा सकती हैं; किन्तु जिनमें किसी आवश्यकता विशेष की पूर्ति के लिए प्रयत्न नहीं किया जाता, उन रचनाओं की कला से भिन्न और कोई संज्ञा हो ही नहीं सकती। कल्पना कीजिए, हम अपने रहने के लिए एक कुटी बनाते हैं क्योंकि यदि कुटी न हो तो हम रहें कहाँ? किन्तु जब हम उस कुटी को विविध उपकरणों द्वारा सुन्दर रूप देने का प्रयत्न करते हैं तो इस प्रयत्न के मूल में हमारी कौनसी वृत्ति अन्तर्हित रहती है? यह निश्चित है कि उपयोगिता से इसका कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध नहीं है, वस्तुतः इसके मूल में प्रच्छन्न है हमारे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति। अपनी कुटी को सुन्दर बनाने में मनुष्य को आनन्द मिलता है, इसलिए वह उसे सुन्दर रूप देता है, उपयोगिता की दृष्टि से वह ऐसा नहीं करता। कोई वस्तु हमारे लिए उपयोगी तभी तक है, जब तक वह हमारी किसी आवश्यकता की पूर्ति करती है। 'स्वान्तःसुखाय' सृष्टि में उपयोगिता की ओर लक्ष्य नहीं रहता। मनुष्य है ही सच्चिदानन्द स्वरूप फिर उससे आनन्द की अभिव्यक्ति क्यों न हो? किन्तु इस प्रकार की कलात्मक अभिव्यक्ति तभी सम्भव है, जब मनुष्य को जीवन-सङ्घर्ष की आवश्यकताओं से छुट्टी मिल जाय, अन्यथा नहीं। जिन देशों में मनुष्यों को जीवन-सङ्घर्ष के लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता है, वहाँ इस प्रकार की स्वान्तः सुखमूलक अभिव्यक्ति के अवसर पर बहुत विरल होते हैं। भारतवर्ष पर प्रकृति देवी की कृपा रहने के कारण पुरा काल के मनीषी ऋषियों द्वारा वेद-उपनिषद आदि का निर्माण हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि आनन्द किसी आवश्यकता की पूर्ति का परिणाम नहीं है, आनन्द तो आत्मा का स्वरूप है। आनन्द की अभिलाषा का मूल स्वयं आत्मा में ही है। जिस प्रकार जिजीविषा तथा जिज्ञासा की वृत्ति स्वाभाविक है, उसी प्रकार आनन्द की वृत्ति भी।

जीवन-संघर्ष की आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने के बाद मनुष्य के पास जो शक्ति अवशिष्ट रह जाती है, उसी में सब प्रकार की कला सृष्टि के उद्गम पाये जाते जाते हैं। रवि बाबू ने अपने 'कला क्या है' शीर्षक निबन्ध में इसको 'अतिरिक्त कोष' के नाम से अभिहित किया है। उनके मतानुसार 'कला कला के लिए' वाला सिद्धान्त भी, जो अब तक खूब बदनाम हो चुका है, इसी 'अतिरिक्त कोष' की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित है। किन्तु इस सिद्धान्त का लेखकों और कवियों द्वारा बहुधा दुरुपयोग भी हुआ है। बहुत से साहित्यिक यह मान कर चले कि मानव जीवन की नग्नता, दीनता, हीनता, स्वार्थपरता, बुभुक्षा, कामना, आसङ्ग-लिप्सा तथा वासना का यथार्थरूप में चित्रण करना उनका जन्मसिद्ध अधिकार है। इस मान्यता के परिणामस्वरूप 'घासलेटी साहित्य' की सृष्टि हुई। बंगला भाषा में जो इस प्रकार का साहित्य रचा गया, उसे 'कामायन साहित्य' की आख्या प्राप्त हुई।

संस्कृत समीक्षकों ने रस को काव्य की आत्मा बतलाते समय किसी प्रकार की हिचकिचाहट प्रकट नहीं की थी किन्तु उनकी दृष्टि में रस-दशा 'विगलित-वेद्यान्तर' सात्विक अनुभूति से ही संबद्ध थी। अनेक पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा भी कलावाद का विरोध किया गया। टालस्टाय ने 'ह्वाट इज आर्ट' नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में प्रेषणीयता को कला का आवश्यक गुण माना और कलावादी विचारधारा का खण्डन करते

हुये बताया कि धर्म के प्रति अविश्वास ने ही कलावाद को जन्म दिया। प्रसिद्ध समीक्षक आई० ए० रिचर्ड्स ने भी काव्य की शेष सृष्टि से भिन्न अलौकिक सत्ता स्वीकार नहीं की और न काव्य-जगत के अनुभवों को ही सामान्य अनुभवों से भिन्न माना।

कलावाद के नाम पर जीवन की नग्न कुत्साओं के चित्रण का भी अनेक समीक्षकों द्वारा घोर विरोध किया गया। यथार्थ जगत् के हूबहू चित्रण में साहित्यकार का वैशिष्ट्य क्या है? वास्तविक जगत् की बुराइयों से ऊब कर अनेक बार मनुष्य किसी आदर्शलोक में विचरण करना चाहता है। इस प्रकार की इच्छा स्वाभाविक है और इसे बिना सोचे समझे 'पलायनवाद' की संज्ञा नहीं दे डालनी चाहिए। जीवन में जो अपूर्णता है, कला की स्वप्नसृष्टि द्वारा अनेक बार उसे पूर्णता का रूप दिया जाता है।

इसके साथ ही साथ वह भी सत्य है कि कला को जीवन से विच्छिन्न करके नहीं देखा जा सकता क्योंकि कला भी अधर में उद्भूत नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने पर वह चिरस्थायी भी नहीं रह सकती।

हमें वह भी स्वीकार करना होगा कि कला कदापि यथार्थ की हूबहू अनुकृति नहीं हो सकती। जीवन की विशृङ्खलता, अव्यवस्था, आकस्मिकता और अर्थहीनता को कलाकार इस प्रकार काट-छाँटकर व्यवस्थित और शृङ्खलित ढङ्ग से प्रस्तुत करता है जिससे उसकी कृति सौन्दर्य की दीप्ति से भास्वर हो उठती है। अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'साकेत' में ही मैथिलीशरण गुप्त ने भी कलावाद के प्रतिरोध में अपना स्वर मुखरित किया है—

"यह तुम्हारी भावना की स्फूर्ति है,
जो अपूर्ण, कला उसी की पूर्ति है।
हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा?
किन्तु होना चाहिये कब क्या, कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।"

अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध लेखक जी० के० चेस्टरटन ने भी बड़े निर्भीक भाव से इस सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुये लिखा था—

"किसी भी महान् साहित्यिक कृति के लिए नैतिक धरातल का होना सदैव आवश्यक होता है। 'कला कला के लिए' वाला सिद्धान्त बहुत अच्छा सिद्धान्त है, यदि इसका अर्थ यह हो कि उस धरती में और उस पेड़ में (जिसकी जड़ें धरती में हैं) महदन्तर है, किन्तु यह एक बहुत बुरा सिद्धान्त है यदि इसका अर्थ यह हो कि वह पेड़ हवा में अपनी जड़ें रखकर भी उतनी ही अच्छी तरह से विकसित हो सकता है।"

जब से मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धति का प्रचार-प्रसार हुआ, 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त पर और भी अधिक कुठाराघात हुआ। मार्क्सवादी समीक्षकों ने इस बात पर बल दिया कि कोई भी कलायुगीन परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती – निश्चय ही कला का सम्बन्ध हमारे जीवन के क्रिया-कलापों से है।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को उचित रूप में समझने का प्रयत्न करना चाहिए। यह सत्य है कि इस सिद्धान्त को समझने में अनेक भ्रान्तियाँ हुई हैं तथा इसका दुरुपयोग भी बहुत हुआ है। 'कला कला के लिए है', इसका अर्थ यदि यह है कि कला के अपने नियम हैं तथा जैसे क्रोचे ने कहा था, सौन्दर्यशास्त्र तथा आचारशास्त्र दो भिन्न-भिन्न शास्त्र हैं तो इस मत को मानने में किसी को आपत्ति न होगी। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि सौन्दर्यशास्त्र और आचारशास्त्र का क्षेत्र भिन्न-भिन्न होते हुए भी 'कला कला के लिए' का अर्थ यह नहीं है कि कला में नैतिकता नहीं पाई जाती किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि कला नैतिकता के प्रचार का माध्यम भी नहीं है। कलावादी समीक्षक स्पिगर्न ने तो यहाँ तक कहा था कि विशुद्ध काव्य में 'नैतिकता अथवा अनैतिकता ढूँढ़ना उसी तरह की बात है जैसे किसी समबाहु त्रिभुज को नैतिक कहना और विषमबाहु त्रिभुज को अनैतिक।

स्पष्ट है कि कलावादी सम्प्रदाय को उसके उचित परिपार्श्व में देखने पर ही हम उसका सम्यक् मूल्याङ्कन कर सकेंगे। — बिड़ला आर्ट्स कालेज, पिलानी।

आचार्य वामन और प्रयोगवाद

डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

कतिपय प्रयोगवादी बन्धु कहते हैं कि प्राचीन काव्यशास्त्र आधुनिक कला और काव्य के मूल्याङ्कन में पूर्णतः अक्षम है। निश्चित रूप से प्राचीन आचार्यों ने अपने समय के साहित्य के आधार पर ही विचार किया है। एक यह भी कठिनाई थी कि संस्कृत भाषा का साहित्य जन-प्रचलित साहित्य नहीं था, वह केवल शिक्षित वर्ग तक ही सीमित था, फिर भी हमारे आचार्यों की अन्तरदृष्टि इतनी गम्भीर थी कि हमारी नवीनतम कला और कविता के मूल्याङ्कन में भी प्राचीन काव्यशास्त्र से सहायता मिलती है। क्योंकि नूतनकाव्य शास्त्र प्राचीन काव्यशास्त्र के इन उपयोगी अंशों की नींव पर ही खड़ा हो सकता है अतः यहाँ नई कविता के बहुप्रचारित 'बिम्बवाद' अथवा 'सादृश्यवाद' पर वामन की अन्तर-दृष्टियुक्त विवेचना उपयोगी हो सकती है।

नवीनता का जो आन्दोलन आज चल रहा है, संस्कृत साहित्य में भी वह एक सीमा तक प्रचलित हुआ था, इसके प्रमाण मिलते हैं। प्रायः नूतन बिम्बों के अनुसन्धान में कविजन उसी प्रकार अनौचित्य की की ओर चले जाते थे, जिस प्रकार हमारे आज के प्रयोगवादी कवि। फलतः हास्यरस की सृष्टि तो होती थी किन्तु कवि को हास्यरस अभिप्रेत न होता था। रति, उत्साह, शोक की अभिव्यक्ति में बिम्बों की अनुपयुक्तता से श्रोता लोग हँसने लगते थे, उसी प्रकार जिस प्रकार आज के अनुचित सौन्दर्य-बोध के कारण लोग हँस पड़ते हैं अतः आचार्य वामन ने विस्तार से बिम्ब विधान के अनौचित्य पर विचार किया।

अलङ्कारवाद में दो प्रकार की रुचियाँ प्रधान थीं। भामह और उनके अनुयायी वक्रोक्ति-अतिशयोक्ति को उक्ति मात्र का सौन्दर्य मानते थे। प्रयोगवाद की व्यंग्य-मय, भर्त्सनात्मक तथा प्रहारात्मक रचनाओं के विवेचन के लिए 'भामह' और बाद के कुन्तक का वक्रोक्ति-वाद सहायक हो सकता है किन्तु प्रयोगवाद नवीन मानसिक स्थितियों के लिए नए उपमानविधान या बिम्बविधान पर भी बल देता है अर्थात् विरोधमूलक उक्तियों के अतिरिक्त प्रयोगवाद में साम्यमूलक अलङ्कारों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में होता है, वामन ने इसी पक्ष पर अपने उपमा-विवेचन में बल दिया है। वामन द्वारा विवेचित उपमा-विवेचन वस्तुतः बिम्ब-विवेचन है। वर्ण्यवस्तु को चेतना में स्फुरित करने का एकमात्र उपमा है, सदृश प्रतिवस्तु को अवतारणा, सदृश प्रतिवस्तु ही बिम्ब है। श्री रॉबिन के अनुसार बिम्ब या इमेज प्रतीक, उपमा और रूपक—इन तीन रूपों में प्राप्त होता है। इनमें वामन रूपक को उपमा का ही एक भेद मानते हैं और बहुत से प्रसिद्ध उपमान ही 'प्रतीक' बन जाया करते हैं, प्रतीक में बिम्ब का आधारभूत गुण 'सादृश्य' कम मात्रा में ही रह पाता है अर्थात् प्रतीक में सादृश्य एकदेशीय और अपर्याप्त रह जाता है अतः भारतीय साहित्य और सिद्धान्त में प्रतीक से उपमा का अधिक आदर हुआ है। वामन के अनुसार जहाँ गुणों में उपमान उत्कृष्ट हो किन्तु गुणलेश से उपमेय के प्रति साम्य हो, वहाँ उपमा होती है।

इसका ध्वनित अर्थ यह है कि श्रोता एक ओर तो कवि द्वारा वर्णित 'वस्तु' तथा 'अनुभूति' का आनन्द लेता है और साथ ही वह वर्ण्यवस्तु से भी अधिक उत्कृष्ट 'बिम्ब' या 'इमेज' का भी आनन्द ग्रहण करता है। वामन के अनुसार उपमान या बिम्ब दो प्रकार के होते हैं, लोकप्रसिद्ध यथा चन्द्रमा के समान मुख तथा कवि-कल्पित। प्रयोगवाद कविकल्पित उपमानों का आन्दोलन है, यह वामन के विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है। कवि-कल्पित उपमानों के लिए वामन ने नवीं शताब्दी की अवधि तक संस्कृत साहित्य

में प्रयोगवादियों के नूतन बिम्बविधान को प्रस्तुत किया है। यह स्पष्ट नहीं होता कि वामन ने ऐसे प्रयोगवादी उदाहरणों की स्वयं रचना की है अथवा दूसरों के पद्य उद्धृत किए हैं, यदि ये उदाहरण स्वयं उनके हैं, तो निश्चित रूप से वामन एक अच्छे प्रयोगवादी कवि थे; आज के किसी भी प्रयोगवादी को वह प्रभावित कर सकते हैं, कविकल्पित उपमा का यह उदाहरण है:—

उद्गर्भहूणतरुणीरमणोपमर्द—
भुग्नोन्नतिस्तननिवेशनिभं हिमांशोः ।
बिम्बं कठोरबिसकाण्डकडारगौरैर्विष्णोः
पदं प्रथममग्रकरैर्व्यनक्ति ।[1]

अर्थात् व्यक्तगर्भा हूण सुन्दरी के उपमर्दित और आलिंगित होने के कारण दमित और कृष्णमुख स्तन के समान चन्द्रमा का बिम्ब पके हुए मृणालदण्ड के समान पीत और शुभ्र उदयकालीन किरणों से आकाश को प्रकाशित कर रहा है।

यहाँ चन्द्र-बिम्ब की उपमा गर्भिणी हूण तरुणी के स्तन से दी गई है! सर्वथा नूतन कल्पना है! इसी प्रकार आधुनिक प्रयोगवादियों के समान नवीन वस्तुओं का वर्णन भी प्राचीन प्रयोगवाद की विशेषता है, नारङ्गी का नूतन वर्णन देखिए और साथ ही शिरीज पुष्प का :—

(१) सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धि नारङ्गकम ।
(२) अभिनवकुशसूचिस्पर्धि कर्णे शिरीषम् ।

प्रथम पद्य का अर्थ है—अभी हाल ही घुटी हुई किसी शराबी पठान की ठोड़ी के समान यह नारङ्गी का फल है!

द्वितीय पद्य में शिरीष पुष्प को डाभ की नई झाड़ू के समान बताया गया है! प्रयोगवाद का यह क्लासीकल प्रयोग है।

इसी तरह किसलयों को तोतों की चोंच से उपमा दी गई है?[2]

[1] काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति—द्वितीय अध्याय, अधिकरण ४
[2] वही।

वामन के अनुसार किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को मन में उतारने के लिए ही बिम्ब का प्रयोग नहीं होता अपितु प्रशंसा और निन्दा के लिए भी बिम्ब-विधान किया जाता है। इस प्रशंसा और निन्दा के क्षेत्र में आप प्रयोगवादियों की आत्म-निन्दा, आलोचक-निन्दा, राजनीति-निन्दा, मानव-जीवन-निन्दा, आस्था-निन्दा, आत्मविश्वास-निन्दा, आशानिन्दा, उल्लास-निन्दा अर्थात् 'सर्वनिन्दा' को रख सकते हैं। किन्तु वामन कवि-कल्पित बिम्ब-विधान में नवीनता प्रेमी कवियों को बार-बार सावधान करते हैं। प्रथम बिम्बविधान में उपमान हीन नहीं होना चाहिए। यह हीनता उपमेय पर भी लागू होती है, हीनता जाति, परिमाण और धर्म की हो सकती है, आधुनिक प्रयोगवाद में यह 'बिम्बहीनत्वदोष' पग-पग पर मिलता है, वामन के उदाहरण लीजिए —

"आपने (सैनिकों ने) भङ्गियों के समान साहस किया।"[1]

यहाँ वीर को हीन उपमान से उपमा दी गई है, यह जातिगत हीनत्वदोष हुआ। यह सूर्य अग्नि के समान चमक रहा है—यह परिमाणगत हीनत्व है। 'कृष्णमृग के चाम को धारण किए हुए और मूंज की कर्धनी से युक्त नारद नीलेमेघ से घिरे हुए सूर्य के समान शोभित हुए।' यह धर्मगत हीनत्व का उदाहरण है—यहाँ उपमान धर्म के आसपास कृष्णचर्म की तरह मेघ तो हैं किन्तु मौञ्जी-मेखला के लिए बिजली का सन्निवेश कवि ने मेघों के साथ नहीं किया अतः उपमान में 'धर्मगत हीनत्व' दोष है। कोई प्रयोगवादी इन दोनों की चिन्ता करता है? आखिर वह क्यों परवाह करे? प्राचीन परम्परा कूड़ा है, यह कह कर वह अपने सौन्दर्य-बोध की अज्ञता को सुविधा से छिपा सकता है।

हीनत्व की तरह अधिकत्व भी दोष होता है, यह भी जाति, परिमाण और धर्मगत होता है। यथा "भगवान रुद्र की तरह महापराक्रमी कहार अन्दर आ

[1] चाण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम्—४-२-६

जाएँ"¹ यहाँ उपमान में अधिजत्व दोष है। "आँखें रेडियम सी चमक रही हैं" ऐसे आधुनिक प्रयोगों में यही उपमान का अधिकत्व दोष है। "वह सुन्दरी बाजरा की बाल जैसी है" अज्ञेयजी की इस उपमा में उक्त उपमानगत हीनत्व दोष है। कुँवरनारायण की इस उपमा में भी हीनत्व दोष है—

पर आकाश प्रकाश न मुझको;
मरने देते सरल मौत कुत्ते की।

वामन ने उपमेय और उपमान को एक ही लिङ्ग-वचन में प्रयुक्त करने पर बल दिया है ताकि बिम्ब वर्ण्यवस्तु के साथ पूर्ण सादृश्य प्राप्त कर ले। सौभाग्य-वश हिन्दी में संस्कृत की तरह तीन लिङ्ग-वचन न होने से लिङ्ग-वचन सम्बन्धी दोष कम मिलते हैं।

'असादृश्य' बिम्ब-विधान का पाँचवा दोष है, यथा "फैली हुई अर्थरूप रश्मियों से युक्त काव्य-रूपी चन्द्रमा को मैं ग्रथित कर रहा हूँ।"² काव्य और चन्द्रमा में असादृश्य होने से दोष है। आधुनिक प्रयोगवाद का सब से बड़ा दोष है—किञ्चित सादृश्य से ही असादृश्य उपमानों का जमाव। वैज्ञानिक उपमानों से विज्ञान के साथ निकटता भले ही प्राप्त की गई हो किन्तु असादृश्य रूप बिम्ब-दोष बहुत अधिक मात्रा में बढ़ा है। वामन के इस कथन की आज कौन उपेक्षा कर सकता है—

असादृश्यता ह्युपमा तन्निष्ठाश्च कवयः। ४-२-१७

अर्थात् सादृश्य के अभाव में उपमा नष्ट हो जाती है और सादृश्य विहीन उपमा द्वारा प्रस्तुतकर्त्ता कवियों का (यश, प्रतिष्ठादि का) भी नाश हो जाता है।

यह प्रश्न वामन के समय भी उठा था कि यदि किञ्चित सादृश्य वाले उपमानों की भीड़ एकत्र करदी जाए तो वर्ण्यवस्तु स्फुटित हो जाती है। आधुनिक प्रयोगवादी अनजाने ही इसे मानते हैं, किन्तु वामन का कथन है कि अधिकाधिक सादृश्य वाले एक बिम्ब का प्रयोग ही कवि की कसौटी है, अधिक असमर्थ उपमानों का प्रयोग दोष है यथा—"कर्पूरहारहरहाससितं यशस्ते।" तुम्हारा यश कपूर, मुक्ता-हार, तथा शिव के हास्य के समान है। इन उपमानों को यश उपमेय के साम्य में प्रस्तुत किया गया है। वामन के अनुसार ये सभी उपमान पूर्ण सादृश्य से हीन हैं अतः अपर्याप्त हैं क्योंकि इन सबसे भी अर्थ की पुष्टि नहीं होती—न कश्चिदर्थविशेषं पुष्णाति।

'असम्भव' दोष छठा और अन्तिम उपमा दोष है। यह असम्भवता भी आधुनिक प्रयोगवाद में पर्याप्त मिलती है। वामन का उदाहरण यह है—

"खिले हुए कमल के भीतर सुन्दर चाँदनी के समान नायिका के उल्लसित मुख पर मुस्कराहट की छाया चमक रही है"—यहाँ चादनी में कमल का खिलना बताया गया है अतः यह असम्भव दोष है। यदि कहो कि अतिशयता के कारण यहाँ विशिष्टता का प्रदर्शन है तो वामन का उत्तर है कि विरुद्ध अतिशय का प्रयोग नहीं करना चाहिए "न विरुद्धोऽतिशयः"।

(४-२-२१)

बिम्बवाद की महिमा—वामन बिम्बवादी थे। वामन के पश्चात् अप्पय दीक्षित ने ही उपमा का महत्त्व समझ पाया था। वस्तुतः भरत ने ही काव्य में बिम्बों का महत्त्व भली भाँति समझ लिया था। इसीलिये नाट्य-शास्त्र में यमक शब्दालङ्कार के अलावा रूपक, दीपक और उपमा इन तीन अर्थालङ्कारों में दीपक और रूपक वस्तुतः उपमा के ही प्रपञ्चमात्र हैं यही दृष्टि वामन के यहाँ स्वीकृत है। अपनी चमत्कार-वाद लिप्सा के कारण भामह इस मर्म को नहीं समझ सके अतः वामन ने अनुप्रास और यमक शब्दालङ्कारों के सिवा अन्य सब अर्थालङ्कारों (संख्या ३०) को उपमा का ही विस्तार भेद माना है, इससे वामन की सहृदयता और काव्य प्रक्रिया से सम्बन्धित उनकी अन्तरदृष्टि का पता चलता है। आधुनिक प्रयोगवाद की काव्य-प्रक्रिया में बिम्बवाद प्रबलतम है, इस प्रकार आधुनिक प्रयोगवादियों की तरह वामन सर्वत्र उपयुक्त बिम्बविधान का ही अनुसंधान करते थे, यहाँ तक कि

¹ विशन्तु विष्टयः शीघ्रं रुद्रा इव महौजसः।
—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ४-२-११

² ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थ रश्मिम्।
—४-२-१६ काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति

विरोध मूलक अलङ्कारों में भी उन्होंने उक्ति की वक्रता को सौन्दर्य का आधार न मानकर बिम्ब को ही सौन्दर्य का आधार माना है अतः वामन द्वारा अन्य अलङ्कारों को उपमा का प्रपञ्च सिद्ध करना वस्तुतः बिम्बवाद का प्रवर्तन है। अतः वामन अलङ्कारों की परिभाषाओं में सर्वत्र बिम्बवाद पर ही ध्यान रखते हैं। प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार में उपमेय के समान अन्य वस्तु का वर्णन होना चाहिये यह वामन का लक्षण है। परवर्ती परिभाषाओं में दो वाक्यों की समानता और दोनों के एक धर्म पर बल दिया गया है किन्तु वामन का बल इस बात पर है कि वस्तु के सदृश प्रतिवस्तु हो।

समासोक्ति, अपन्हुति, रूपक आदि साम्यमूलक अलङ्कारों में तो बिम्बविधान सभी मानते हैं किन्तु श्लेष, वक्रोक्ति, विभावना विरोध जैसे अलङ्कारों में भी वामन को साहश्य की चिन्ता है। श्लेष के लक्षण में कहा गया है—'स धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेष'—अर्थात् तंत्र से प्रयोग होने पर उपमान और उपमेय के धर्मों में तत्त्वारोप श्लेष कहलाता है। तन्त्र का अर्थ है, एक बार उच्चारण किये गये विशेषज्ञों से अनेक अर्थों की झङ्कार ! यथाः—जिस जितेन्द्रिय (महावीर) जिन में वार बन्धुओं के स्तनों ने अथवा योद्धाओं ने किसी प्रकार का विकार या भय रूप क्षोभ उत्पन्न नहीं किया, वह जिन तुम्हारी रक्षा करें" (४-३-७) यहाँ वारवधूस्तन और योद्धा दो पक्ष हैं, दोनों के लिए आकृष्ट, ऊष्मा, उद्धत, गुरु तथा स्थूलादि विशेषणों से उपमेय और उपमान दोनों पक्षों का बिम्बविधान स्पष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार वक्रोक्ति का वामनीय लक्षण मौलिक है। वह श्लेष और काकु वक्रोक्ति नहीं मानते जैसा कि अन्य आलङ्कारिकों ने किया है, वामन—"साहश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति—"यह लक्षण करते हैं। लक्षणा अनेक कारणों से होती है, इनमें साहश्य नामक कारण से की गई लक्षणा ही वक्रोक्ति है—"प्रातः तनिक देर में ही सरोवरों के कमल खिल गए, और क्षण भर में कैरव निमीलित हो गये।" नेत्र के उन्मीलन और निमीलन साहश्य से कमलों के विकास और कैरव के संकोचन को लक्षणा से बोधित किया गया है अतः यहाँ वक्रोक्ति है। कुन्तक ने काव्य के चमत्कार तत्त्व को वक्रोक्ति कहा है किन्तु वामन यहाँ वक्रोक्ति में भी साहश्य पर बल दे रहे हैं। वाक्छल पर नहीं।

अतिशयोक्ति में भी सम्भाव्य धर्म के उत्कर्ष की कल्पना को ही अतिशयोक्ति माना गया है, सर्वथा अनर्गल प्रलाप को अतिशयोक्ति नहीं माना गया। इसी प्रकार आक्षेप अलङ्कार में वामन उपमान के आक्षेप या निषेध को ही आक्षेप अलङ्कार कहते हैं।

इस प्रकार वामन ने सभी अलङ्कारों में साहश्य या सम्यक् बिम्बविधान पर बल किया है। 'शोभा-भ्रंश' या सौन्दर्यहानि को वह अक्षम्य अपराध समझते थे तभी उन्होंने कहा है कि अलङ्कार ही सौन्दर्य है अर्थात् कवि की चित्तवृत्ति, माधुर्य आदि) से काव्य में सौन्दर्य या अलंकृति का जन्म होता है और बिम्बविधान द्वारा अर्थात् उपमादि अलङ्कारों के प्रयोग से उस गुणजन्म सौन्दर्य की वृद्धि होती है। वामन का बिम्बविधान इस प्रकार भावहीन या चमत्कारवादी नहीं है, वह 'सगुण अभिव्यक्ति' को काव्य की आत्मा मानते थे। काव्य में कवि के मन पर होने वाली जगत् की प्रतिक्रिया से जो उत्तेजना उत्पन्न होती है, वही काव्य का प्राण है, यदि वे ऐसा न मानते तो आधुनिक प्रयोगवादियों की तरह वह भावों और रसों का निषेध करके कोरे बिम्बविधान की प्रक्रिया ही समझाते रहते किन्तु उन्होंने स्पष्ट कहा है :—काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्—काव्य का ग्रहण अलङ्कार के कारण है, अलङ्कार का यहाँ अर्थ है सौन्दर्य या अलंकृति यह सौन्दर्य दोषों की हानि और गुणों के उपादान से उत्पन्न होता है। अर्थात् गुणों द्वारा वामन कवि की मानसिक स्थितियों—भाव कल्पना, बुद्धि का योगदान स्वीकार करते हैं और इसके साथ ही दोष हीन बिम्बविधान की आवश्यकता भी स्वीकार करते हैं अतः जब वामन कहते हैं कि रीति काव्य की आत्मा है तब यह समझना भूल होगी कि आचार्य केवल शब्दविन्यास या पदविन्यास को ही काव्य मानते हैं, वामन विशिष्ट पद रचना को रीति या शैली या अभिव्यक्ति कहते हैं। विशिष्ट का अर्थ है,

गुण सहित रीति—विशेषो गुणात्मा अर्थात् काव्य "सगुण अभिव्यक्ति विशेष' है।

काव्य के उपकरणों में आत्मा की शोध और काव्यात्मा के साथ अन्य अङ्गों की सङ्गति स्थापित करने पर ही हमारा ध्यान अधिक रहने से हम अपने आचार्यों के विवेचन के मर्म (Implications) को भूलते रहे हैं। यदि आज के विज्ञान के प्रकाश में देखा जाए तो काव्य शास्त्र में 'आत्म-वाद' का अंश अवैज्ञानिक है क्योंकि आत्मा अवयवसंस्थान अवयव आदि का जो भेद आचार्यों ने किया है, यह सर्वथा द्वैतवाद पर आधारित है; शरीर और आत्मा के भिन्न और परस्पर विरोधी तत्त्व मानने के कारण रस और अलङ्कार अथवा भाव और बिम्ब विधान का परस्पर सम्बन्ध-स्थापन आचार्यों द्वारा भ्रान्त रूप में प्रस्तुत हुआ है, न तो इस कूटस्थ और तटस्थ आत्मा की तरह होता है और न अलङ्कार हारादिवत् होते हैं, काव्य की पूरी प्रक्रिया संश्लिष्ट है। काव्यांगों में परस्पर अविच्छिन्नता है, जिस प्रकार जीवन अनेक तत्त्वों की अविच्छिन्न इकाई है, उसी प्रकार काव्य भाव, कल्पना, बुद्धि, बिम्ब-विधान और पद रचना की एक अखण्ड अभिव्यक्ति है, यह तत्व वामन को ज्ञात नहीं था क्योंकि तब शरीर और आत्मा के विषय में अद्वैतवाद के नाम पर द्वैतवाद (शरीर और चेतना का विरोध) प्रचलित था किन्तु इस पक्ष के दुर्बल होने पर भी वामन 'बिम्ब विधान' और उसके दोषों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं, वामन सगुण बिम्ब विधानवादी थे, जबकि आज का प्रयोगवाद गुणों को महत्त्व नहीं देता और दोषों की परवाह नहीं करता। वामन ने ऐसे कवियों को सलाह दी है कि सदोष बिम्ब विधान से तो कुकवित्व की ही सृष्टि हो सकती है; और कुकवित्व आत्म-विडम्बना ही है, इससे तो मौन रहना अच्छा, अकुण्ठ कीर्ति जिस कार्य से न मिले वह व्यर्थ है—

प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः
अकीर्त्तिवर्त्तिनीं त्वेव कुकवित्वविडम्बनाम्।
(१—१—५)

—गवर्नमेण्ट कालेज' नैनीताल।

———

(पृष्ठ ३९० का शेषांश)

स्वीकार किया जा सकता है। अतएव जहाँ विभावादि में से एक की स्थिति भी है वहाँ भी काव्य-निर्मिति को रस कहा जा सकता है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि काव्यनिर्मिति कब रस का पद ग्रहण करती है ? भट्टनायक के अनुसार जब वह निर्मिति भावकत्व व्यापार के फलस्वरूप भावित होती है तभी रस-पद को ग्रहण करती है। भावित होने का अभिप्राय यह है कि भावकत्व व्यापार (साधारणीकरण) के प्रभाव से वह निर्मिति वैशिष्ट्य से विनिर्मुक्त होकर भासित होती है। काव्य-निर्मिति का वैशिष्ट्य-विहीन रूप में प्रकाशित होना ही उसकी भाविति है। इसी रूप में सामाजिक काव्यात्मक निर्मिति का योग करता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि रस-भाविति में कवि का क्या योगदान है ? इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि प्रत्येक कविता समान रूप से प्रभाव शाली नहीं होती। सभी कवि रससिद्ध नहीं होते। सभी काव्य-निर्मितियाँ वैशिष्ट्य-विहीन रूप में प्रकाशित नहीं होती। सामाजिक सभी निर्मितियों का भावन नहीं कर सकता। इसका कारण सहृदयगत दोष नहीं वरन् निर्मिति गत-दोष ही है जो रचनाकार की अपरिपक्वता की ओर संकेत करता है। कवि में यदि प्रतिभा का अभाव है अथवा उसकी कुशलता मन्द है तो वह सही अर्थों में काव्य-निर्मिति की रचना करने में असमर्थ रहेगा। अतः यह भट्टनायक के उपर्युक्त मान्यता में कवि कौशल अन्तर्निहित ही समझना चाहिए।

———

साहित्य की परिभाषा

निर्मला अस्थाना

वर्ण्य के चतुर्मुख विस्तार को उसकी समग्र गहराइयों के साथ संक्षेप में पूर्णरूपेण उद्घाटित करने वाली पूर्ण परिचयात्मक उक्ति को परिभाषा कहा जाता है। यह परिभाषा इसलिये की जाती है कि हमें वर्ण्य का स्पष्ट परिचय मिल सके। स्पष्ट और पूर्ण परिचय की आधार भूमि पर साहित्य की परिभाषा की आवश्यकता पड़ी।

संसार की सभी भाषाओं में पहिले साहित्य का निर्माण हुआ, बाद में साहित्य की परिभाषा की गई है।

विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य को परिभाषा में बाँधना चाहा। पर यह पूर्णरूपेण बँध नहीं पाया, और फलतः विवाद भी बढ़ते गये। इन विवादों से ऊपर उठकर सर्वाङ्गपूर्ण परिभाषा करने की चेष्टा विद्वानों ने की पर पण्डितों को साहित्य की किसी भी परिभाषा से पूर्ण तोष नहीं हुआ। एक युग की बहुत सी मान्यतायें दूसरे युग में जाते-जाते परिवर्तन हो जाती है। तब प्रथम युग में की गई साहित्य की परिभाषा दूसरे युग के साहित्य को पूर्णतः अपनी सीमाओं में घेर नहीं सकती, कारण कि वह परिभाषा युग-विशेष की सङ्कीर्ण या अत्युन्मुक्त सामाजिक मान्यताओं के अनुसार उद्भूत हुये साहित्य की है। दूसरे युग का साहित्य दूसरे प्रकार की मान्यताओं के पोषक समाज का प्रतिबिम्ब है, अस्तु बहुत सम्भव है कि इस साहित्य की सीमायें उस युग-विशेष के साहित्य की सीमाओं से अन्तर रखती हों। तब निश्चित ही उस युग विशेष में की गई साहित्य की परिभाषा इस दूसरे युग के साहित्यशास्त्री को स्वीकार नहीं होगी और वह किसी दूसरी परिभाषा की खोज करेगा। फलतः दोनों युगों की साहित्य-साधना में भी महान अन्तर है। दो युगों की साहित्य साधना का यह अन्तर उन दो युगों की अलग-अलग साहित्य की परिभाषाओं का कारण है।

संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' में साहित्य की परिभाषा देते हुये लिखा है :—

"शब्दार्थौ सहितां काव्यम् गद्यम् चतद्विधा"

अर्थात् काव्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ का साहित्य होता है। गद्य और पद्य उसकी दो विधायें हैं। पर आचार्य भामह की यह परिभाषा स्पष्ट नहीं है। इस परिभाषा में शब्द और अर्थ के सहितत्व की बात कही गई है।

पर शब्द अर्थ से समन्वित होते हैं। इस परिभाषा के अनुसार प्रत्येक अर्थ समन्वित शब्द 'काव्य' है पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। सामान्य जीवन के दैनिक वार्तालाप में प्रयुक्त शब्द सभी शब्द अर्थ से समन्वित होते हैं। पर वे काव्य की सीमा में नहीं आते। अस्तु भामह की परिभाषा से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'काव्य' में शब्द और अर्थ का सहितत्व आवश्यक है, न कि शब्द और अर्थ का सहितत्व सर्वत्र 'काव्य' होता है।

भामह की परिभाषा अरूप परिभाषा है। वह हमारे सामने साहित्य का कोई स्पष्ट चित्र उपस्थित नहीं करती। पर इस परिभाषा के द्वारा 'काव्य' और 'साहित्य' शब्द का ऐक्य जाना जा सकता है।

साहित्य भी अपने व्युत्पत्ति मूलक अर्थ में 'सहितत्व' का भाव रखता है।

"साहितत्व भावं साहित्यं"। यही साहितत्व का भाव भामह की परिभाषा में शब्दार्थौ सहितौ से व्यक्त होता है।

चन्द्रालोककार जयदेव ने कहा—

"निर्दोषा लक्षण वती सरी निर्गुण भूषिता।
सालंकार रसानेक वृत्ति वाक् काव्य जाम माक्"।

इस परिभाषा में निदोष, गुणयुक्त, श्रम अलंकृत मनोहर अर्थ-समन्वित वाक्य को काव्य कहा है।

विद्वानों ने इस परिभाषा में कई आक्षेप किये हैं। इस परिभाषा का सर्वाधिक विवादग्रस्त वाक्यांश 'सालङ्कार' है। बहुत से आचार्यों ने अलङ्कारों का काव्य में अनिवार्य स्थान माना है। जयदेव उन्हीं आचार्यों में हैं। दण्डी ने अलंकारों को 'काव्य' में शोभा उत्पन्न करने करने वाला माना—"काव्य शोभा करान् धर्मान् श्रलंकारात् प्रचक्षते"।

जिन विद्वानों ने अलंकार को काव्य को अनिवार्य धर्म नहीं माना उन पर रुष्ट होकर यहाँ तक कहा गया कि जो काव्य में अलङ्कारों को नहीं मानता वह अग्नि को शीतल क्यों नहीं मानता? परन्तु फिर भी अलंकारों की काव्य में अनिवार्य सत्ता स्वीकार नहीं की गई। मम्मट ने स्पष्ट ही कह दिया—

स्फुटालङ्कार विरहेपि न काव्यत्व हानिः।

अस्तु उपरोक्त परिभाषा के अनुसार काव्य को सालंकार होना चाहिए, पर काव्य में अलङ्कारों की आवश्यकता अनिवार्य नहीं। इस परिभाषा के द्वारा साहित्य की सीमाएँ, क्षेत्र संकुचित या सीमित हो जाते हैं।

जयदेव की परिभाषा से मिलती-जुलती मम्मट की परिभाषा है। मम्मट ने अपनी परिभाषा में अलङ्कारों को वह स्थान नहीं दिया है जो जयदेव ने दिया है। एक इसी प्रमुख सूक्ष्म या तत्व से जयदेव और मम्मट की परिभाषायें भिन्न प्रतीत होती हैं।

मम्मट के अनुसार—"तद दोषौ शब्दार्थौ सगुणावकत्वकृती पुनः क्कापि" अर्थात् शब्द और अर्थ निर्दोष हों, उक्ति गुण सहित हों और प्रायः अलङ्कार से युक्त हों। स्पष्ट ही इस परिभाषा में अलङ्कारों की अनिवार्यता पर आचार्य का कोई आग्रह नहीं है। जयदेव की परिभाषा से मम्मट की परिभाषा में एक अन्तर और है। जयदेव के अनुसार अमुक-अमुक गुणों से युक्त वाक्य काव्य हैं। पर मम्मट ने यह स्पष्ट नहीं लिखा। वे वाक्य और शब्द के विवाद में नहीं पड़े। उन्होंने एक विशेष प्रकार की उक्ति को ही काव्य माना।

पर मम्मट की इस परिभाषा में काव्य के केवल बाह्य रूपों का ही परिचय है, काव्य की आत्मा का कोई संकेत नहीं है। इस प्रकार यह परिभाषा न केवल एकाङ्गी है वरन् इसमें अधिक महत्वपूर्ण अंश को छोड़ दिया गया है।

बाह्य रूपों का परिचय भी इस परिभाषा में इस कोटि का है कि इसे परिभाषा मानने में हिचक होती है। इसमें केवल कुछ बातें गिना दी गई हैं और उनसे संयुक्त उक्ति को काव्य बना दिया गया है। अस्तु यह परिभाषा भी खरी नहीं उतरती। बाह्य रूपों का जो परिचय इस परिभाषा में दिया गया है, वह भी सर्वमान्य नही है। मम्मट ने 'तद दोषो शब्दार्थौ' लिखा है; जिसके अनुसार शब्द अर्थ दोनों में अदोष की स्थापना की गई है। जयदेव ने भी निर्दोषा लक्षणवती कहकर इसी अदोषत्व की ओर संकेत किया है, पर यह अदोषत्व भी साहित्य में अनिवार्य नहीं होता। केवल निर्दोष को साहित्य मानने में एक कठिनाई यह है कि दोषों का मापदन्ड क्या हो? दोष किन्हें माना जाय?

यदि आचार्यों द्वारा गिनाये काव्य दोषों को मान्यता दे दी जाय, तो शुद्ध साहित्य बहुत कम बचता है, प्रायः नहीं ही बचता है। इस प्रकार 'निर्दोषत्व' की शर्त लगा देने से साहित्य की सीमायें बहुत संकुचित हो जाती हैं। यदि तददोषौ शब्दार्थों को साहित्य स्वीकार किया जाय तो फिर साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत 'काव्य-दोष, प्रकरण की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। वस्तु साहित्य के विषय में यह कथन कि साहित्य में शब्द अर्थ दोष रहित होते हैं—उसी प्रकार अशुद्ध है जिस प्रकार मनुष्य के विषय में यह कथन कि मनुष्य वह है जो सत्य बोलता है। यह कहा जा सकता है कि मनुष्य को सत्य बोलना चाहिये, इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि साहित्य में शब्द और अर्थ यथासम्भव निर्दोष होने चाहिये। उपरोक्त विवेचन से यह परिणाम निकलता है कि मम्मट की परिभाषा पूर्ण नहीं है। जितनी है उतनी भी निर्विवाद नहीं है।

उपरोक्त सभी परिभाषाओं से एक दम भिन्न प्रकार की परिभाषा विश्वनाथ महापात्र की है। विश्व-

नाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में साहित्य की परिभाषा करते हुये साहित्य की आत्मा को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उन्होंने लिखा है :—

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"

अर्थात् रसपूर्ण वाक्य ही काव्य हैं।

यह परिभाषा अपेक्षाकृत बहुत पूर्ण है। इसमें केवल वाक्य साधना को काव्य स्वीकार किया गया है। इस प्रकार रस से पूर्ण अनेक साधनाओं से साहित्य का पार्थक्य स्पष्ट हो गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सङ्गीत कला मूर्तिकला चित्रकला आदि अनेक विधायें रस से पूर्ण होती हैं। श्रोता या दर्शक को रस से सराबोर करती हैं पर ये सब काव्य नहीं हैं। क्योंकि काव्य वाक्य-साधना है। दूसरी ओर 'वाक्य साधना' के अन्तर्गत साहित्य की विभिन्न शैलियाँ आ जाती हैं। गद्य, पद्य, नाटक, चम्पू सभी वाक्य के द्वारा ही आकार पाते हैं। वस्तु 'वाक्यम्' के द्वारा जहाँ काव्य का अन्य सरस विधाओं से पार्थक्य स्पष्ट किया गया है वहीं बिना किसी विवाद के साहित्य की समस्त विधायें भी उसके द्वारा सूचित कर दी गई हैं।

'वाक्यम्' के साथ-साथ काव्य के लिये दूसरी अनिवार्य शर्त है उसके रसात्मक होने की। अर्थात् वाक्य रस से पूर्ण होना चाहिये। यह रसमयता काव्य के आन्तरिक स्वरूप की परिचायिका है। रस सभी कलाओं की आत्मा माना जाता है। दूसरी रचनाओं में रस का वैसा स्वरूप नहीं दीखता जैसा काव्य में। यह परिभाषा पूर्णता के बहुत निकट पहुँच जाती है पर विद्वानों ने इस पर भी आपत्तियां उठायी हैं। विश्वनाथ के परवर्ती आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने इस परिभाषा में यत्किञ्चित सुधार कर दिया है। आचार्य जगन्नाथ ने 'वाक्य' को अस्वीकार करके शब्द की स्थापना की है। उनके अनुसार रस अर्थ में होता है और अर्थ शब्द में। वस्तु रसमय शब्द ही काव्य है। उनके अनुसार—

"रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"

अर्थात् रमणीय अर्थ को सिद्ध प्रतिपादित करने वाला शब्द काव्य है। विश्वनाथ ने जिस भाव की विवृति के लिये 'रसात्मक' वाक्यांश का प्रयोग किया था, उसी भाव के उद्घाटन के लिये पण्डितराज ने रमणीयार्थ प्रतिपादकः वाक्यांश का प्रयोग किया है। वस्तुतः पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार काव्य की अन्तिम सार्थक इकाई वाक्य नहीं शब्द है। अतः रसात्मकं वाक्यम् के स्थान पर 'रमणीयार्थ प्रतिपादकं' शब्द अधिक उचित है।

आधुनिक काव्य रूपों को दृष्टि में रखते हुये रस की दृष्टि से किया गया यह विवेचन भी सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है। यह विवेचन 'काव्य' के लिये है। पर यदि काव्य और साहित्य को एक मानकर विचार किया जाय तो यह विवेचन अशुद्ध मालूम होता है। साहित्य के अन्तर्गत विचारात्मक निबन्ध आदि भी आते हैं। ये रस प्रदान में सक्षम नहीं होते। विचारों को जागरित करते हैं। इस परिभाषा के अनुसार वे साहित्य में नहीं आ पाते हैं। पर ये परिभाषायें काव्य के लिये की गई हैं। साहित्य की दृष्टि से यदि इसमें कोई त्रुटि है तो इसका उत्तरदायी परिभाषाकार आचार्य नहीं है, वह भ्रान्त जनरुचि है जो साहित्य और काव्य को एक मान कर चली है।

आचार्य कुन्तक ने साहित्य की परिभाषा करते हुए लिखा है—

साहित्यमनयो शोभा शालिनाम् प्रति काव्य सौ,
अन्यूनानति रिक्तत्वं मनोहारिण्य वस्थितिः।

अर्थात् जिसमें शब्द और अर्थ की शोभा के प्रति न्यूनता और आधिक्य से रहित (परस्पर स्पर्धा पूर्वक) मनोहारिणी श्लाघनीय स्थिति हो उसे साहित्य कहते हैं।

इस परिभाषा की प्रथम ज्ञापना यह है कि साहित्य में शब्द और अर्थ शोभा की ओर ले चलते हैं, राग की ओर ले चलते हैं, ज्ञान की ओर नहीं। इस प्रकार शुष्क ज्ञान की धाराओं से साहित्य का पार्थक्य स्पष्ट हुआ है।

कुन्तक ने आगे चल कर साहित्य के ही विवेचन में लिखा है—"तद्विदा आह्लादकारिणी"—अर्थात् साहित्य आह्लाद का उत्पन्न करने वाला होता है। यही आह्लाद मूल परिभाषा में शोभाशालिनाम से प्रकट

हुआ है, और इसी को आचार्य विश्वनाथ तथा पण्डित-राज जगन्नाथ ने 'रसात्मक' तथा 'रमणीयार्थ प्रति-पादक:' द्वारा स्पष्ट किया है। इस प्रकार कुन्तक भी साहित्य की आत्मा को ही स्वीकार करते हैं।

भामह ने शब्द और अर्थ के सहितत्व की बात तो कही थी पर यह सहितत्व किस कोटि का हो इस बात पर विचार नहीं किया था। कुन्तक ने इस प्रश्न पर विचार किया और बताया कि साहित्य में शब्द और अर्थ का सहितत्व एक विशिष्ट कोटि का होता है, जहाँ न शब्द अधिक है न अर्थ दोनों समान महत्वपूर्ण हैं और दोनों साथ मिलकर 'शोभा' उत्पन्न करने की साधना करते हैं। साहित्य में जब वे परस्पर सामान महत्व लेकर शोभा की ओर अग्रसर होते हैं तो उनमें एक विशेष प्रकार की मनोहारिणी स्थिति आ जाती है। इस मनोहारिणी स्थिति में शब्द अर्थ से अधिक शोभा उत्पन्न करने की चेष्टा करता है और अर्थ शब्द से अधिक।

ऊपर विवेचित संस्कृत की परिभाषाओं से जो सामान्य तथ्य प्राप्त होते हैं, वे निम्न हैं—

(१) साहित्य वाक्य या शब्द साधना है।

(२) साहित्य ऐसी साधना है जो रमणीयता उत्पन्न करती है।

(३) साहित्य में शब्द और अर्थ का विशिष्ट सह-योग होता है।

इन परिभाषाओं में एक सामान्य बात दृष्टिगोचर होती है। आधुनिक साहित्य-शास्त्री साहित्य और समाज में अभिन्न सम्बन्ध मानता है, पर इन संस्कृत की परिभाषाओं में ऐसा कहीं प्रकट नहीं होता कि साहित्य समाज के विभिन्न रूपों को देखकर उद्भूत होता है। दूसरी बात इन परिभाषाओं में 'काव्य' और 'साहित्य' को एक मानने की है।

साहित्य की समाज के महत्व को स्वीकार करके चलने वाली परिभाषा विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने की है उन्होंने लिखा है—संसार का विश्वास हमारी चितवंशी में कौन सी रागिनी बजा रहा है; साहित्य उसी को स्पष्ट करने का प्रयास है।

गुरुदेव की परिभाषा एक कवि की परिभाषा है जिसमें साहित्य के तो सभी रूप आजाते हैं, साहित्य से बाहर का भी बहुत कुछ आ जाता है। एक अर्थशास्त्री संसार को देखता है उससे उसके मन में निश्चित विश्वासों कीं सृष्टि होती है और उन विश्वासों को स्पष्ट करने का वह जो प्रयास करता है वह साहित्य नहीं अर्थशास्त्र है। परन्तु और गम्भीरता में उतरने से यह आक्षेप भी धुल जाता है, अर्थशास्त्र आदि जीवन की अन्य विधाओं से साहित्य का पार्थक्य 'चितवंशी में बजती हुई रागिनी के द्वारा स्पष्ट हो जाता है। अर्थ-शास्त्री बाह्य संसार से प्राप्त विश्वासों को चितवंशी में नहीं बजाना, बुद्धि की कसौटी पर कसता है। यदि बाह्य संसार में देखे गये अकाल से व्यक्ति यह विश्वास प्राप्त करें कि इस स्थित में मानव नहीं रह गया है और इस विश्वास का बुद्धि के प्रयोग से यथातथ्य चित्रण कर दे तो वह धर्मशास्त्री है, पर यदि मानव मानव नहीं रह गया तो थोड़ा आगे बढ़कर उसके चित में विश्वास जम जाय कि आज मानवता मर रही है— तो चित्त की इस विशिष्ट विश्वासमयी स्थिति में वह जो शब्द विधान भाव विभोर होकर करेगा वह अर्थ-शास्त्र नहीं होगा 'काव्य' होगा। अर्थात् चितवंशी में बजती हुई रागिनी से विश्वकवि का संकेत लोकोतर आनन्द से है। जीवन की अर्थशास्त्रादि अन्य विधाओं के लिए चितवंशी में बजती हुई रागिनी वाक्यांश उचित नहीं होगा। उनके लिए हमें चितदर्पण पर पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब कहना पड़ेगा।

साहित्य की परिभाषा हिन्दी विद्वानों ने भी की है पर उनमें स्वतन्त्र विवेचन प्रायः नहीं है। संस्कृत आचार्यों के बात को ही घुमा फिरा कर इन विद्वानों ने कहा है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने एक निबन्ध में लिखा है—

'ज्ञानराशि के संचित कोष का नाम साहित्य है"

यह परिभाषा का अतिवादी छोर है। ज्ञान की विभिन्न धारायें होती हैं और उनके संचित कोष सर्वत्र साहित्य नहीं होते।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "कविता क्या

है" निबन्ध में बड़ी अच्छी-अच्छी व्याख्यायें की हैं, पर वे सब कवित्व के लिए हैं। साहित्य पर लागू नहीं होतीं। संस्कृत साहित्य में तो काव्य के अन्तर्गत समस्त साहित्य आ जाता है पर हिन्दी साहित्य की मान्यतायें दूसरी हैं। यहाँ कविता साहित्य की एक विधा मात्र है। शुक्लजी ने काव्य की परिभाषा दी है:—

रसोद्रेक या हृदय की मुक्तावस्था के लिये किया हुआ शब्द विधान काव्य है।

हृदय की मुक्तावस्था वहाँ होती है जहाँ संसार की अनेकता में एकता का दर्शन होता है, अर्थात् अपने पृथक अस्तित्व की बात भुला दी जाती है। दूसरी स्थिति में काव्य का सच्चा आनन्द प्राप्त किया जाता है। स्पष्ट है कि इस परिभाषा में साहित्य के सभी रूप नहीं आते।

श्री जयशङ्करप्रसाद ने काव्य की परिभाषा देते हुये कहा है—

"काव्य आत्मा की सङ्कल्पात्मक अनुभूति है। जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेम रचनात्मक ज्ञान धारा है।

आगे उन्होंने लिखा है—"संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में सङ्कल्पात्मक अनुभूति कही जाती है।"

श्रेय सत्य की एक बड़ी सौन्दर्यमयी (चारु) स्थिति होती है। सर्वत्र श्रेय सत्य में चारुत्व नहीं भरा होता, वह एक विशिष्ट प्रकार की स्थिति में होता है। साहित्य अनायास ही उस विशिष्ट स्थिति के श्रेय सत्य को अभिव्यक्त कर उठता है। इस चारुत्व पूर्ण श्रेय सत्य को शास्त्रीय पदावली में "सौन्दर्य शिवम् सत्यम्" कहा जा सकता है।

इस परिभाषा में एक नये प्रकार से चिन्तन किया गया है। श्रेय से साहित्य का हितकारी होना, चारुत्व से उसका शोभाधायक होना और सत्य से उसकी चिरन्तनता का आभास दिया है। प्रसादजी ने ऐसे साहित्य का अनायास ही सिद्ध हो जाना लिखा है। कुन्तक ने भी एक विशिष्ट मनोहारिणी स्थिति की व्याख्या की थी, पर उन्होंने यह नहीं लिखा था कि यह मनोहारिणी स्थिति अनायास ही प्राप्त हो जाती है।

पन्तजी ने लिखा है—

कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है

यह एक कवि की परिभाषा है और नितान्त अस्पष्ट है। इस परिभाषा की व्याख्या के लिये परिपूर्ण क्षणों की व्याख्या आवश्यक है।

हिन्दी की इन उपरोक्त परिभाषाओं में कुछ ऐसे तथ्य प्रकाश में आते हैं जो संस्कृत की परिभाषाओं में न आ पाये थे। ये निम्नलिखित हैं—

(१) रचनाकार के चित्त में समाज को देखकर जो विचार झंकृत हो उठता है उसी को स्पष्ट करने का प्रयास साहित्य है।

(२) हृदय की मुक्तावस्था के लिये किया गया शब्द विधान काव्य है।

(३) काव्य में बौद्धिक क्रियाओं का अस्वीकार होता है।

(४) काव्य सत्यं शिवं सुन्दरं का अनायास होने वाला संगम है।

(५) कविता साहित्य का एक अङ्ग मात्र है।

साहित्य पर पश्चिम में भी खूब विचार हुआ विद्वानों ने अत्युतम परिभाषायें दीं उनमें से एक दो का संक्षिप्त विवेचन उपरोक्त पूर्वार्द्ध परिभाषाओं के स्पष्ट करने में सहायक होगा। अस्तु:—

शेक्सपीयर ने कविता के विषय में लिखा है—

"As imagination bodies forth,
The forms of things unknown,
The poets pen turns them to shape
and give to airy nothings
a local habitations and a name.

अर्थात् कवि की कल्पना अज्ञात वस्तुओं को रूप देती है और उसकी लेखनी वाली, नगण्य अस्तित्व शून्य पदार्थों को भी मूर्त बनाकर नाम और ग्राम प्रदान करती है। पर यह शुद्ध परिभाषा नहीं है

इसमें केवल कल्पना के महत्व का उद्बोध किया गया है। कल्पना काव्य के लिये आवश्यक अवश्य है, पर केवल वही काव्य की परिभाषा नहीं है।

वर्डसवर्थ के अनुसार कविता प्रबल मनोवेगों का सहजोद्रेक है। जिसका स्रोत शान्ति के समय में स्मृत मनोवेगों से फूटता है। यह परिभाषा शुद्ध कविता की परिभाषा है। साहित्य के अन्य रूप इसमें नहीं आते। इसमें सहजोद्रेक से जिस सहजता की ओर संकेत किया गया है उसी की ओर प्रसादजी ने भी संकेत किया है कि श्रेय सत्य अपने पूर्ण चारुत्व में अनायास काव्य में आ उतरा है।

प्रसिद्ध विद्वान Gaethe ने साहित्य की परिभाषा की है—

> Literature is the fragment of fragments.
> It is the smallest part of which has been done, or spoken or recorded, only the smallest part has survived.

उस परिभाषा की दो प्रकार से परिभाषायें की गयी हैं। एक तो साहित्य छोटे से छोटी इकाई है। अर्थात् बाह्य जगत का यह अनन्त प्रसार रचनाकार के मन में बिस्मृत होते होते जब इतना छोटा रह जाता है कि उससे कम वह भूल ही नहीं सकता, तब उस लघुतम इकाई के प्रभाव को अभिव्यक्त करने को बाध्य होता है। यही प्रभाव की सूक्ष्मतम अविस्मरणीय इकाई है। यह सूक्ष्मतम इकाई 'चिरन्तन सत्य' होती है और इसी की अभिव्यक्ति साहित्य है। इसी सूक्ष्मतम इकाई को प्रसादजी ने यह विशिष्ट स्थिति कहा है जहाँ श्रेय सत्य पूर्ण चारुत्व में होता है। दूसरी ओर जो किया गया है, जो कहा गया है, जो अङ्कित किया गया है उस सबका वह लघुतम अंश साहित्य है। जो नष्ट नहीं हो सकता। यहां जिस लघुतम अंश पर गेटे ने जोर दिया है उसी को विश्वनाथ ने वाक्य और पण्डितराज जगन्नाथ ने शब्द कहा है। वाक्य या शब्द जब आनन्द से पूर्ण होता है तभी वह देश और काल की सीमाओं को जीतकर अनष्टत्व की स्थिति को प्राप्त कर सकता है। अर्थात् अनष्टत्व के पूरक के रूप में कहा जा सकता है कि इस चिरन्तन के लिये साहित्य में सत्यं शिवं और सुन्दरम् की स्थापना हो।

अस्तु गेटे का विवेचन भी भारतीय विद्वानों के विवेचन से बहुत दूर नहीं है।

उपरोक्त सभी परिभाषाओं में कोई भी सर्वगुण सम्पन्न पूर्ण परिभाषा नहीं है, अब भी किसी ऐसी पूर्ण परिभाषा की अपेक्षा की जा सकती है।

—A/20 Chamanganj Kanpur

विद्यापति के दृष्टकूट

श्री शालिग्राम गुप्त

हिन्दी के कूट अथवा दृष्टकूट काव्य का मूल वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य में है और परवर्ती कवियों को वह अनेक मार्गों में विकसित और पल्लवित होकर प्राप्त हुआ है। शुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से कूट काव्य चित्र-काव्य का भेद है क्योंकि उसमें अलङ्कारिकता की प्रधानता होती है। तथापि उसे चित्रकाव्य के संकुचित क्षेत्र में सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि अधिकांश कूट रचनाओं में भावव्यञ्जना विकास की चरम सीमा तक तक पहुँच गयी है, अतः उसकी गणना ध्वनिकाव्य अथवा उत्तम काव्य के अन्तर्गत की जा सकती है।

कूट काव्य का मूल स्रोत है जीवन की कतिपय रहस्यमयी धार्मिक और लौकिक अनुभूतियों को व्यक्त करने की आन्तरिक अभिलाषा। इसी अभिलाषा से प्रेरित होने पर कवि की वाणी अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से युक्त होकर काव्य के रूप में प्रस्फुटित होती है। धार्मिक प्रक्रियाओं की रक्षा और काव्य में कतिपय मौलिक तत्वों की उद्भावना करने के अतिरिक्त मध्य-कालीन भारतीय कवियों की पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना और कला-चातुर्य प्रदर्शन की आकांक्षा ने ही कूट काव्य को विकसित किया। अनेक हाथों में पड़कर कूट शैली शनैः शनैः परिमार्जित होती गई और उसने एक ऐसा कलात्मक रूप धारण कर लिया जिससे काव्य के रूप में मान्यता प्राप्त करने के लिए उसमें सभी तत्वों का समावेश हो गया।

'कूट' अथवा 'दृष्टकूट' शब्दों का प्रयोग काव्य के प्रसङ्ग में बहुत प्राचीन नहीं है, यद्यपि 'वाक्छल' के अर्थ में 'कूट' शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन है। हिन्दी-साहित्य में कूट रचना के लिए एक नया समस्त पद 'दृष्टकूट' अधिक प्रचलित है। इसकी निरुक्ति इस प्रकार की गई है—"दृष्टं कूटम् यस्मिन तत्" अर्थात् काव्य जिसमें शब्द और अर्थों में छल अथवा क्लिष्टता दृष्टि-गोचर हो अथवा यों कहें कि जिसमें क्लिष्टता के साथ साथ भाषा का कलात्मक विधान हो वह 'दृष्टकूट' है। इस शब्द का प्रयोग संग्रहकर्ताओं ने विशेष रूप से विद्यापति और सूरदास के कूट पदों के लिए किया है। चाहे दृश्य-काव्य हो, चाहे श्रव्य-काव्य, भावक के मन पर उसका आनन्ददायक प्रभाव तभी होगा, जब उसमें वाग्वैदग्ध अथवा वाणी की कलात्मकता होगी। सम्भवतः इसी उद्देश्य से विद्यापति और सूरदास ने अनेक कूट पदों की रचना की है।

वस्तुतः हिन्दी में कूटकाव्य की दो प्रमुख धारायें मिलती हैं—उलटवाँसी और दृष्टकूट। उलटवाँसियों का प्रयोग रहस्यात्मक और आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना के लिए हुआ है और दृष्टकूटों का प्रयोग विशेषतः साहित्यिक उत्कर्ष अथवा काव्य-कौशल के लिए किया गया है। रहस्यात्मक और आध्यात्मिक अभिव्यञ्जनायें संस्कृत में विशेषकर वैदिक साहित्य में प्रचुरता से उपलब्ध हैं पर उलटवाँसियाँ प्रधानतः सिद्धों, नाथपन्थियों तथा निर्गुण सन्त कवियों के ही आविष्कार हैं और उसी परम्परा में कबीर, दादू आदि सन्त कवियों ने इसकी रचना भी की है। महाकवि चन्दवरदाई, विद्यापति और सूरदास आदि ने संस्कृत की कलात्मक कूट परम्परा को अपनाया है और उनके कूट पद 'दृष्टकूट' कहलाते हैं।

प्रश्न यह है कि मैथिली में पदरचना करने वाले कवि विद्यापति के पदों में कलात्मक कूट काव्य का जो विकसित रूप मिलता है उसके लिए ऐसे कौन से कारण थे जिन्होंने अभिव्यञ्जना की ऐसी गूढ़ शैली को अपनाने के लिए उन्हें प्रेरित किया जो सामान्यतः उनकी अकृत्रिम और सरल शैली से मेल नहीं खाती? इस जिज्ञासा का समाधान हम इस तरह कर सकते हैं—कवि ने इन पदों की रचना प्रमुखतः दो प्रयोजनों

से की होगी—(अ) काव्य कला के प्रेम के कारण और (ब) मधुरा भक्ति का गुप्त सन्देश देने के कारण।

काव्याभिव्यक्ति के विषय के रूप में कृष्ण की मधुरा भक्ति विषयक शृङ्गार लीला का समावेश सर्व प्रथम जयदेव ने अपने 'गीत गोविन्द' में किया है। उन्होंने आरम्भ में ही कहा है :—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावली शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्।
—गीत गोविन्द १।३

फिर मैथिली में वहाँ के कवियों और आचार्यों यथा केशवमिश्र और गोविन्द ठाकुर आदि ने केवल रस को ही काव्य की आत्मा कभी नहीं माना। उन्होंने अलङ्कारों को भी उतना ही महत्व दिया है जितना रस को। सम्भवतः इसी मत के अनुयायी होकर कवि विद्यापति ने भी अलङ्कार और रस दोनों के माध्यम से काव्य चमत्कार उत्पन्न करके अपना कौशल दिखाया है। फिर विद्यापति के पदों में सर्वोत्तम पद रत्न वे हैं जिनमें राधाकृष्ण की प्रणयलीला का वर्णन है। रति ही जिसमें एक मात्र स्थायी भाव है जिसके आलम्बन राधा और कृष्ण हैं। इस प्रकार कवि विद्यापति द्वारा निर्मित राधाकृष्ण की प्रेम मूर्ति में ऐन्द्रिक रति का गहरा रङ्ग है। हिन्दू भक्तों के लिए साक्षात ईश्वर रूप राधा-कृष्ण की इस शारीरिक और ऐन्द्रिक रति को गुप्त रखने के लिए ही विद्यापति ने कूट जैसी रचनाओं का सम्भवतः आश्रय लिया है। इस प्रकार जयदेव और विद्यापति की काव्य रचना का मूल उद्देश्य सम्भवतः काव्य-कला प्रदर्शन मात्र ही था। पुनः अपनी इन कूट रचनाओं में विद्यापति ने यमक, अतिशयोक्ति विरोधाभास और सन्देह आदि अलङ्कारों का प्रयोग तो किया ही है, साथ ही शब्दों और रहस्यवादी प्रहेलिकाओं आदि का भी समावेश किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विद्यापति के ये पद उनके पाण्डित्य और काव्य कौशल के ज्वलन्त प्रमाण हैं और ही राधा-कृष्ण के प्रारम्भ के रूपमें ईश्वरीय प्रेम के व्यञ्जक भी।

महाकवि चन्दवरदाई का एक यमक और श्लेष पर आश्रित एक कूट का उदाहरण देखिए—

हरि हरि हरिबन हरित महि, हरन पिष्पयं श्रंपि।
सारँग रुकि सारँग हने, सारँग करनि करप्पि॥
(हमीररासो छन्द १२६/६२)

यहाँ 'हरि' और 'सारंग' शब्दों के अनेक अर्थ हैं। कविचन्द की भाँति 'सारंग' शब्द विद्यापति और सूरदास को भी बहुत प्रिय था और उन्होंने चमक द्वारा कूटों की रचना में इस शब्द का अनेक पदों में प्रयोग भी किया है।

'सारंग' संस्कृत का अनेकार्थवाची शब्द है। 'अमर कोश' में इसके निम्न लिखित अर्थ दिए गए हैं—

सूर्य, सफेद पंख का पक्षी, हंस, विष्णु, शरीर, अग्नि, बछड़ा, बेटा, चातक और देवता।

नन्ददासजी ने अपनी 'अनेकार्थ-मञ्जरी' में 'सारंग' शब्द के अर्थ इस प्रकार किये हैं—

रवि, ससि, हथ, गज, गगन, गिरि केहरि कुञ्ज, कुरंग।
चातक, दादुर, दीप, अलि ये कहियँ सारंग॥

किन्तु इसके अतिरिक्त इस शब्द के कुछ और भी अर्थ हैं जैसे—

शबल, कृष्णमृग, भृङ्ग, कोकिल, सारस, राजहंस, मयूर, छत्र, मेध, वस्त्र, केश, शङ्ख, शिव, कामदेव, पद्म, कर्पूर, धनुष, चन्दन, एक प्रकार का वाद्ययंत्र, अलङ्कार, स्वर्ण, पृथ्वी, रात्रि, और प्रकाश।
(देखिये सं० इं० कांश आप्टे)

इस प्रकार 'अमरकोश' के पश्चात् 'सारङ्ग' शब्द के अर्थों में बराबर वृद्धि होती रही, किन्तु नन्ददास अपने समय के सम्पूर्ण प्रचलित अर्थों को अपनी 'अनेकार्थ मञ्जरी' में देने में असफल रहे हैं। क्योंकि उनसे बहुत पूर्व उनके दिए हुए अर्थों से भिन्न 'सारङ्ग' शब्द के कुछ नवीन अर्थों में प्रयोग कवि विद्यापति ने भी किये थे, जैसे—

सारँग नयन, नयन पुनि सारँग, सारँग तसु समधाने।
सारँग उमर उगल पस सारँग, केलि करथि मधुपाने।[1]

अर्थ—उसके नेत्र सारँग (हरिण) के समान हैं, वचन सारँग (कोयल) के समान हैं। उसके संधान में

[1] विद्यापति पदावली—रामवृक्ष वेनीपुरी, पद १२

सारंग (कामदेव) शामिल है। सारंग (कमल) जैसे मुख पर दसों अर्थात् कई सारँग (भ्रमर समूह अर्थात् लटें) मधुपान करने के उद्देश्य से मँडरा रहे हैं।

इसी के साथ एक अन्य उदाहरण भी लीजिए —

जलन्धर अम्बर रुचि पहिराउलि संतसारँग कर वामा।
सारँग वदन दाहिन कर मन्डित, सारँग गति चलु रामा।।
माधव तोरे बोले आनलि राही,
सारँग भास पास सजो आनलि।
तुरित पठावह ताही.................[1]

अर्थ – मेघ के समान [काला] वस्त्र पिन्हाकर बाँये हाथ में श्वेत [प्रकाश-मय] दीपक (सारंग) लेकर और दाहिना हाथ अभय मुद्रा (सारंग वदन) की स्थिति से शोभित कर गजगामिनी (सारँग गति) रामा [रमणोत्सुका] चली।

हे माधव ! [मैं] तुम्हारे कहने से राधा को ले आई। कोकिल कण्ठी (सारँग भास) [राधा] को [मैं गुरुजनों के] समीप से ले आई हूँ। [इसलिए] उसे शीघ्र [वापस] भेज दो।

इन दोनों उद्धरणों में विद्यापति ने 'सारँग' शब्द का क्रमशः हरिण, कोयला, कामदेव, कमल, भ्रमर, दीपक तथा गज के अर्थों में उपयुक्त किया है। सूरदास ने भी अनेक अर्थों में 'सारँग' शब्द का प्रयोग किया है और कूट शैली में कुछ नये अर्थों में उद्भावना भी की की है। यहाँ यह कहना तो और भी कठिन है कि 'सारँग' शब्द सूरदास के समय तक कितने कितने अर्थों में प्रयुक्त होता हुआ अर्थ विस्तार पा गया और क्यों? परन्तु यह निर्विवाद है कि सूरदास ने 'सारंग' शब्द का जितने व्यापक अर्थों में प्रयोग किया है उतने व्यापक अर्थों में किसी अन्य ने नही।[2]

रूपकातिशयोक्ति का एक उदाहरण लीजिए जिसमें 'सारंग' शब्द का सूरदास ने क्रमशः खञ्जन, कोकिल, चन्द्रमा, कमल, पद्मिनी नायिका, श्यामरंग, सर्प, हाथी, सिंह, नदी और कामदेव के अर्थों में प्रयोग किया है।

सँग सोभित वृषभानु किशोरी।
सारँग नैन, बैन बर सारंग,
सारंग बदन कहै छविकारी।
सारँग अधर, सुधर कर सारंग,
सारंग जाति, सारंगमति भोरी
सारँग बरन, पीठि पर सारंग,
सारंग जाति, सारँग कटि थोरी।
सारँग कुलिन, रजनि रुचि-सारँग,
सारँग अङ्ग सुभग भुज जोरी।
बिहरत सघन कुञ्ज सखि निरखति,
(सूरसागर पद २७६१)

शैली की दृष्टि से इस पद के साथ विद्यापति की इन पंक्तियों की तुलना की जा सकती है :—

सारँग नयन वचन पुनि सारंग सारँग वसु समधाने।
सारँग उपर उगल दस सारंग, केलि करथि मधुपाने।।

इसी प्रसङ्ग में चन्दबरदाई का प्रस्तुत छन्द भी उल्लेखनीय होगा।

कुञ्जर उप्पर सिंघ, सिंघ उप्पर दोय पब्बय।
ससि उप्पर इक कीर, कीर उप्पर मृग दिट्ठौ।
मृग उप्पर कोदण्ड संघ कंद्रप बयट्ठौ।
अहि मयूर महि उप्परइ, हीर सरस हेम न जरयौ।
सुरभुजन छंडि कवि चन्द कहि, तिहि घोषैं राजापरयौ
(पृथ्वीराज रासो ६१/११४६)

पुनः कवि चन्द के इस छन्द की तुलना शैली की दृष्टि से विद्यापति की इन पंक्तियों से भी की जा सकती है।

माधव की कहव सुन्दरि रूपे।
कनक कदलि पर सिंह समारल, तापर मेरु समाने।
मेरु उपर दुइ कमल फुलायल नाल बिना रुचि पाई।।
(बेनीपुरी पद १२)

अर्थः हे माधव ! उस सुन्दरी का रूप किस प्रकार

(शेष पृष्ठ ४१२ पर)

---

[1] —बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पद १३२

[2] 'सारंग' शब्द के व्यापक अर्थों में हुए प्रयोग के लिए सूरसागर (सभा संस्करण) के निम्नलिखित पद देखे जा सकते हैं—पद संख्या ३३, १८१३, २२६८, २३३२, २७१५, २७२६, २७६१, ३३८६, ३४१६, और ४०२४।

महाकवि सूर एवं महाकवि तुलसी की भक्ति-साधना में अन्तर

के० रामनाथन एम० ए०

भक्ति धार्मिक भावना की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। भक्ति के स्रोत मनुष्य मात्र के हृदय में हैं। रामायण, महाभारत, गीता, नारद भक्ति-सूत्र, शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र एवं श्रीमद्भागवत भक्तितत्व के प्रतिपादक प्रमुख ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त वेद, उपनिषद, पुराण, आगम आदि ग्रन्थों एवं अनेकानेक काव्य में भक्ति-सम्बन्धी विषयों की उपलब्धि हुई है। सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, अमूर्त, अगम्य एवं अगोचर परब्रह्म भगवान को प्राप्त करने के लिए भक्त-जीव उन्हें नाम, रूप एवं लीलाओं से सम्बद्ध करके उनके प्रति अपना आत्मीय सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इष्टदेव के रूप में कल्पित परब्रह्म के प्रति अनन्यतम श्रद्धा एवं प्रेम दिखाना, तथा उस प्रेमसागर भगवान से प्रेम पाना यही भक्ति है। किसी प्रकार की भी भक्ति क्यों न हो उसके लिए किसी न किसी आलम्बन का होना नितान्त आवश्यक है। इसीलिये कबीर आदि निर्गुणोपासकों ने भी नाम, मन्त्र एवं प्रतीक भावों को अपनी भक्ति का आधार बनाया था। आदर्श भक्ति निःस्वार्थ, कामना-रहित, प्रतिक्षण वर्धमान होने वाली, सूक्ष्मतर, गुण-रहित एवं अविच्छिन्न भावधारा है। इस पवित्र भक्ति को पाकर भक्त अपनी समस्त इन्द्रियों एवं अपने सम्पूर्ण अन्तःकरण से अपने उपास्य का ही अनुभव अविच्छिन्न रूप से करता रहता है। मूर्ख कहते हैं कि प्रेम एवं भगवान दो भिन्न तत्व हैं। वस्तुतः प्रेम ही भगवान है एवं भगवान ही प्रेम। अतः भगवत्प्राप्ति के लिए श्रद्धा-मिश्रित अनन्य प्रेम जो भक्ति कहलाता है, यही एक-मात्र साधन है। एक वाक्य में कहना हो तो भक्ति की परिभाषा इस प्रकार है—"भक्ति परमात्मा एवं जीवात्मा के मध्य रहने वाला प्रगाढ़ रागात्मक बन्धन है।"

सूर एवं तुलसी, ये दोनों आदर्श भक्त हैं। उनकी भक्ति से युक्त ये निम्नोधृत पंक्तियाँ इसके लिये प्रमाण हैं—

सूर—तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान।
छूट गरों कैसैं जन जीवत, ज्यौं पानी बिनु दान॥

तुलसी—अरथ न धरम न काम रुचि,
गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद,
यहि बरदानु न आन॥

इस प्रकार की असंख्य उक्तियाँ उनके काव्यों में प्राप्त होती हैं। इन दोनों की भक्ति की परिणति एक समान है। किन्तु भक्ति की साधना या उपासना की दृष्टि से इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। भक्ति का मूलाधार भावतत्व है। भावों की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। इसी प्रकार उपासक एवं उपास्य के मध्य में स्थित रागात्मक सम्बन्धों की भी कोई सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। तथापि संसार में मानव प्रेम के चार मुख्य भाव हैं जो भक्ति में भी मान्य हुए हैं। वे भाव हैं दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य। हनुमान, उद्धव, यशोदा एवं राधा क्रमशः उक्त भावों की भक्ति के लिये उदाहरण स्वरूप हैं। तुलसी एवं वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व के सूर की भक्ति दास्यभाव की है। दास्यभाव की भक्ति में शान्तभाव भी निहित रहता है। इन दोनों की भक्ति में यह विशेषता देखने को मिलती है। दास्यभाव का भक्त भगवान के ऐश्वर्य रूप को साधना का आधार बनाता है। तुलसी एवं विनयपदों के रचयिता सूर, इन दोनों में यह विशेषता भी परिलक्षित होती है। समस्त भक्ति मार्गी साधकों में वैराग्य की भावना प्रायः रहती है। क्योंकि भक्त जगतोन्मुख राग को पूर्णतः त्याग कर उसे पूर्णतः अपने इष्टदेव में केन्द्री-भूत कर देता है। किन्तु तुलसीदासजी को जगत् के प्रति जो राग उत्पन्न हुआ, उसका क्या कारण है, यह प्रश्न सबके मन में उत्पन्न होता है। इसका समा-

धान यह है कि जगत् को उन्होंने 'सीयाराम मय' समझा अतः वह उनके लिये वन्दनीय हुआ। "सियाराम मय सब जग जानी" की भावना सब जगत् के प्रति न होगी, तब वह तुलसी के लिए वन्दनीय भी नहीं हो सकता, इस दृष्टिकोण के कारण तुलसी की भक्ति पूर्णतः प्रवृत्ति से भी समन्वित हो सकी है। सूर की जगत् के प्रति यह दृष्टि नहीं थी, इसीलिए यह उनके लिए त्याज्य हुआ। इसीलिये सूर की भक्ति में निवृत्ति की प्रखरता दृष्टिगोचर होती है। वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के उपरान्त सूर की भक्ति निवृत्ति की पराकाष्ठा से संयुक्त हुई। इष्टदेव के प्रति विरहोत्कंठा दास्य भाव के भक्त में अन्य भावों के भक्त की अपेक्षा बहुत कम रहती है। भगवदैश्वर्य को विराट सृष्टि में व्याप्त देखकर दास्यभाव का उपासक विराट ब्रह्ममय स्वरूप से भी अपना थोड़ा बहुत सन्तोष कर लेता है। भगवत् सान्निध्य की उसमें लालसा होने पर भी उसके लिये अधिक तड़पन उसमें नहीं होती, किन्तु शेष भावों के उपासकों में सृष्टि में अपने-अपने अन्तःकरणों की प्रवृत्तियों को रमाने की सामर्थ्य नहीं रहती। अतः इन सब में प्रिय सान्निध्य को पाने के लिये तीव्र तड़पन से युक्त लालसा रहती है। विशेषतः मधुर भाव के उपासक में यह स्थिति चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई रहती है। सूर में तो दास्य के अतिरिक्त सख्य, वात्सल्य एवं मधुर, इन तीनों भावों की पूर्ण उपस्थिति व्यक्तिगत साधना के रूप में है। अतः सूर के भक्त के व्यक्तित्व में उक्त सभी विशेषताएँ समाविष्ट हुई हैं। किन्तु तुलसी के भक्त के व्यक्तित्व में केवल दास्य भाव है, जैसे—कि उन्होंने स्पष्ट घोषणा की है—

"सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि"

अतः सूर के भक्त में पूर्ण तल्लीनता है एवं तुलसी के भक्त में वह तल्लीनता दो धाराओं के रूप में विच्छिन्न हुई है। एक धारा सियाराममय जगत् की ओर प्रवाहित होती है और दूसरी इष्टदेव श्रीरामचन्द्र की ओर। तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम के सम्मुख समाज का सिर नत एवं उसका हृदय भी आश्वस्त हुआ। सूर के लीला पुरुषोत्तम के समक्ष साहित्य आत्मतल्लीन एवं मनोहरता से आप्लावित हुआ।

सूर ने विष्णु से इतर शिव, ब्रह्म आदि को असमर्थ कहकर उनका स्पष्टतः बहिष्कार किया है। सूर के इस अनादर का कारण अन्य देवों के प्रति उनका द्वेष नहीं, वरन् अपने उपास्य के प्रति परम अनन्य भक्ति ही है। भगवान की कथा को अपनाने के कारण भी उन्हें ऐसा करना पड़ा। तुलसी ने राम एवं शिव का तथा सीता एवं शक्ति का समन्वय ही नहीं किया, अपितु अन्य देवी-देवताओं से भी राम भक्ति का वरदान देने की याचना करके अपने अद्वैतवादी व्यक्तित्व का परिचय दिया है। इस तथ्य से भी तुलसी की अपेक्षा सूर की अनन्य भक्ति तल्लीनता का स्पष्टीकरण होता है।

किसी भक्तिभाव की वैयक्तिक साधना के प्रमुख भावों का निर्णय आत्मनिवेदनात्मक कविता के आधार पर सरलता से हो सकता है। किन्तु प्रबन्ध काव्यों में इसका निर्णय करना कठिन है। ऐसी परिस्थिति में इस समस्या का परिष्कार तीन उपायों से किया जा सकता है—(१) उन भावात्मक स्थलों के आधार पर जिनमें कवि-हृदय की अनुभूति अधिक केन्द्रित मिलती हो। (२) इस बात की छानबीन करने से कि अमुक कवि का सम्बन्ध किन-किन सम्प्रदायों से है। (३) यदि प्रबन्ध काव्य के रचयिता-कवियों ने आत्मनिवेदनात्मक कविता की रचना की हो तो उसके आधार पर। इन तीनों दृष्टियों से देखा जाय तो तुलसी की रचना में सख्य, वात्सल्य एवं शृङ्गार रसों की उपलब्धि होने पर भी उन तीनों को उनकी व्यक्तिगत साधना के भावों के रूप में कदाचित परिगणित नहीं किया जा सकता। सर्वत्र उन्होंने अपनी परम दीनता का एवं राम के परम ऐश्वर्य-रूप का प्रदर्शन किया है। इसीलिए उनकी व्यक्तिगत साधना का भाव दास्यभाव ही है।

सूर की व्यक्तिगत उपासना का भाव दास्यभाव होने में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। अब सूर का अन्य भावों से वैयक्तिक सम्बन्ध है या नहीं, इस प्रश्न का समाधान सोचना परम आवश्यक है। सूर वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे जिसमें वात्सल्य एवं सख्यभाव

की उपासनायें प्रचुर मात्रा में थीं। सूर ने तो वात्सल्य रस के इतने अधिक पद लिखे हैं कि वात्सल्य को रस मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वात्सल्य भाव का उपासक चार भावों से उपासना कर सकता है—शान्त, दास्य, सख्य एवं वात्सल्य। दूसरे शब्दों में वात्सल्य भाव की उपासना के अन्तर्गत शान्त, दास्य एवं सख्य भाव भी अन्तरङ्ग भावों के रूप में आ जाते हैं। सूर के वात्सल्य के पदों में ये चारों प्रकार के भाव समाविष्ट हैं। इन बातों से सूर के वैयक्तिक उपासना का भाव वात्सल्य होना स्पष्ट होना स्पष्ट होता है। सूर को सख्य भाव की उपासना की प्रेरणा वल्लभ सम्प्रदाय के अतिरिक्त निम्बार्क सम्प्रदाय से भी प्राप्त हुई होगी। सख्य भाव में उनकी वृत्ति पर्याप्त रमी है, इसीलिए इस प्रकार के वे असंख्य पदों की रचना कर सके। अष्टछाप के लिए 'अष्ट सखा' शब्द भी प्रयुक्त होता है जो वल्लभ सम्प्रदाय के सख्यभाव की उपासना पर प्रकाश डालता है। अतः सख्यभाव भी सूर की व्यक्तिगत साधना का भाव रहा होगा। सूर के शृङ्गार के पद भागवत की अपेक्षा बहुत ही विस्तृत संख्या में हैं, एवं ये भागवत की अपेक्षा बहुत अधिक तीव्रतम अनुभूति से अनुप्राणित हैं। 'भ्रमरगीत' प्रसङ्ग में सूर ने भागवत की अपेक्षा नितान्त विस्तृत वर्णन ही नहीं किया, अपितु अपने अन्तःकरण की समस्त घनीभूत तीव्रतम अनुभूति का वृहत् स्रोत भी बहाया। वैयक्तिक उपासना भाव के रूप में ही यह सम्भव हो सकता है; अन्यथा यह असम्भव है। आण्डाल, मीरा एवं नरसी की भाँति सूर ने आत्मनिवेदनात्मक शैली के रूपमें मधुर भाव के उद्गारों को व्यक्त नहीं किया। तो भी राधा-गोपिकाओं के अन्तः करण से इनका तादाम्य पूर्णतः स्थापित हो गया। उनके भावों में भक्ति भाव की मानसिक वृत्ति पूर्णतः रम गयी। हो सकता है कि चैतन्य, निम्बार्क आदि सम्प्रदायों का सूर पर प्रभाव पड़ा हो। इन कारणों से यह निश्चित किया जा सकता है कि सूर के शृङ्गार के पद उनकी व्यक्तिगत उपासना के मधुर भाव के प्रतीक हैं।

सारांश यह है कि तुलसी भक्ति-साधना लोक मङ्गल-रूपी प्रवृत्तिभाव से समन्वित दास्य भाव ही है। सूर की भक्ति-साधना पूर्ण वैराग्य-प्रधान दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर भावों से समन्वित है। सूर के सख्य, वात्सल्य एवं मधुर भाव भी उनकी व्यक्तिगत उपासना के भाव हैं—आत्मनिवेदनात्मक शैली में अभिव्यक्त नहीं हुए हैं। इस कारण से बहुतों को यह भ्रम हो सकता है कि सूर भी तुलसी की भाँति केवल दास्यभाव के ही उपासक हैं।

—श्री वेङ्कटेश्वर वि० वि०, तिरुपति।
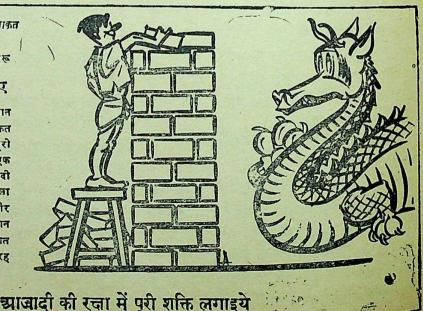
अनुभवप्रकाश के रचयिता दीपकवि गुणावली चौपाई के कर्ता से भिन्न हैं

श्री अगरचन्द नाहटा

नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६७ अङ्क ४ में मुनि कान्तिसागरजी ने सभा के प्रकाशित कतिपय खोज-विवरण ग्रन्थों के अपेक्षित संशोधन प्रकाशित किए हैं, उनमें १४ वें विवरण में दीप कवि के अनुभव-प्रकाश के विवरण के सम्बन्ध में रचना काल और कवि के अस्तित्व समय पर विवरणकार मौन है। इन पंक्तियों के लेखक के संग्रह में दीपकवि कृत गुणकरण्ड गुणावली चौपाई की एक प्रति है जिसकी अन्तिम प्रशस्ति में कवि ने अपने सम्बन्ध में इस प्रकार प्रकाश डाला है। इस वक्तव्य के अनुसार मुनि कान्तिसागरजी ने अनुभवप्रकाश के रचयिता दीप कवि और गुणकरण्ड गुणावली चौपाई के रचयिता दीप कवि को एक मान लिया है, पर वास्तव में यह ठीक नहीं है। नाम साम्य के कारण ही उनको यह भ्रम हुआ है। गुणकरण्ड चौपाई के कर्ता दीप कवि श्वेताम्बर गुजराती लोंकागच्छी हैं और अनुभवप्रकाश के कर्ता दिगम्बर विद्वान दीप कवि काशलीवाल हैं। गुणकरण्ड चौपाई की रचना सं० १७५७ में हुई है। अनुभवप्रकाश के रचयिता का समय इसके २० वर्ष बाद का है। लोंका गच्छीय दीप कवि के रचित पांचम चौपाई हमारे संग्रह में है और सुदर्शन सेठ का छप्पयबद्ध रास भी उनका प्राप्त है, जो राजस्थानी भाषा की एक सुन्दर रचना है और वह प्रकाशित भी हो चुकी है। मुनिशान्तिसागरजी के गुणकरण्ड चौपाई के जो पद्य उद्धरित किये है उनमें कुछ पाठ अशुद्ध भी हैं। जैन गूजर कवियों भा० ३ पृष्ठ ३९३ में इस चौपाई का आदि अन्त प्रकाशित हो ही चुका है।

अनुभवप्रकाश के रचयिता दीप कवि के सम्बन्ध में पं० परमानन्द शास्त्री का एक लेख 'पं० दीपचन्दजी शाह और उनकी रचनाएँ' शीर्षक अनेकान्त वर्ष १३ के अङ्क ४–५ और उसका परिशिष्टीकरण ७ में प्रकाशित हो चुका है। दीपचन्द काशलीवाल साँगानेर के निवासी थे और पीछे से आमेर में आकर बस गये थे। स० उल्लेखवाणी उनकी सर्वप्रथम रचना चिदविलास है। यह गद्य रचना सं० १७७९ में पूर्ण हुई थी। ग्रन्थ के अन्त में लिखा है "यह ग्रन्थ दीपचन्द सावर्मी कीयो है वास साँगानेर। आमेर में आये तब यह ग्रन्थ कियो संवत् १७७९ मिती फागुण बुदी पंचमी को यह ग्रन्थ पूर्ण कियो।"

दीपचन्द के रचित ग्रन्थ चिदविलास, अनुभव-प्रकाश, आत्मावलोकन, परमात्म-पुराण, उपदेश रत्न-माला, ज्ञान-दर्पण, स्वरूपानन्द, भावदीपिका और सवैया टीका उपलब्ध हैं उनमें से अनुभव प्रकाश के २ संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें से नेमीचन्द वाकलीवाल, मदनगञ्ज का प्रकाशित संस्करण हमारे ग्रन्थालय में है। आत्मावलोकन श्री पाटणी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला मारोठ से छप चुका है और चिदविलास भी वहीं से छपने वाला था, सम्भवतः प्रकाशित होगया होगा। भावदीपिका, परमात्मपुराण, ज्ञानदर्पण, स्वरूपानन्द उपदेश सिद्धान्त रत्न, सवैया टीका और अनुभव प्रकाश श्री दिगम्बर जैन अमर ग्रन्थमाला उदासीन आश्रम तुकोगञ्ज इन्दौर से छप चुके हैं। भावदीपिका और अनुभव-प्रकाश स्वतन्त्र रूप से छपे हैं, पर बाकी ५ ग्रन्थ अध्यात्म पंच संग्रह के नाम से प्रकाशित हुए हैं। चिदविलास भी यहाँ से छपने वाला था। इस तरह दीपचन्दजी की प्राप्त आठों रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

दीपचन्दजी की उपरोक्त रचनाओं में अनुभव-प्रकाश आत्मावलोकन, चिद विलास, परमात्म पुराण और भाव दीपिका ये चार रचनाएँ गद्य में हैं, इनके द्वारा तत्कालीन भाषा और गद्य लेखन शैली का अच्छा पता चलता है। सवैया की टीका भी गद्य में है। ज्ञान-दर्पण

स्वरूपानन्द और उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला ये तीन पद्य में है। दीपचन्दजी की सभी रचनाएँ अध्यात्म प्रधान हैं, इससे उनका अध्यात्म प्रेम और तत्संबंधी ग्रन्थों की निर्माण रुचि का भली भाँति परिचय मिल जाता है।

चिद विलास की रचना १७७९ में हुई। इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। प्रकाशित अनुभव प्रकाश में रचना काल का उल्लेख नही है, पर राजस्थान के जैन शास्त्रों की ग्रन्थ सूची भा० ४ के पृष्ठ ४८ में इस ग्रन्थ का रचना काल सं० १७८१ पोष बदी पाँचम होने का उल्लेख है। इसी तरह आत्मावलोकन के प्रकाशित संस्करण में रचना काल का उल्लेख नहीं है, पर उपरोक्त सूचीं के पृष्ठ १०० में इस ग्रन्थ की सं० १७७४ में या इससे पहले इसकी रचना हो चुकी थी ऐसा निश्चित होता है। अन्य रचनाओं में से केवल स्वरूपानन्द के अन्त में सं० १७९१ के माघ सुदी पांचम का उसके खो जाने का उल्लेख मिलता है :—

संवत् सतरा सौ सही अरु इकानवै जानि।
महा मास, सुदि पञ्चमी, कियो सु सुख की खानि।।९४।।
देव परम गुरु उर धरों, देत स्वरूपानन्द।
'दीप' परम पद कों लहै, महा सहज सुखकंद।।९५।।

उपरोक्त रचनाओं के अतिरिक्त २ छोटी रचनाओं का उल्लेख उपरोक्त सूची के पृष्ठ ५८३ और ७७७ में हुआ है यथा—

(१) पद (मोरे प्रभु सू प्रीति लगी)
(२) आरति (इह विधि आरति करत प्रभु तेरी)

इन दोनों रचनाओं में दीपचन्द का नाम है और व सम्भव है वे अनुभव प्रकाश के रचियता दीपचन्द ही हो, पर इसी नाम वाले अन्य दीपचन्द की भी वे रचनाएँ हो सकती हैं।

यहाँ एक महत्वपूर्ण नवीन ज्ञातव्य की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक समझता हूँ कि दीपचन्द ने अपने नाम और निवास स्थान के अतिरिक्त अपनी जाति और पिता आदि का कहीं उल्लेख किया देखने में नहीं आया। डा० कस्तूरचन्द काशलीवाल और परमानन्दजी आदि सभी ने इनकी जाति काशलीवाल बतलाई है। पर हमारे संग्रह में चिद विलास और अनुभव विलास की हस्तलिखित प्रति है उसमें से चिद विलास के अन्त में उनकी जाति पलिवाल लिखी है यथा "इति श्री साधर्मी साह दीपचन्द पलिवाल कृत शुक्ल पदो एकादशाम भोम वासरे लपिकृतम्।" तथ्य क्या है। उसकी प्राचीन प्रतियों में काशलीवाल लिखा या पलिवाल, खोज किया जाना चाहिए।

— नाहटों की गवाड़, बीकानेर।

(पृष्ठ ४०७ का शेषांश)

कहा जाये ?...... उसकी कञ्चन निर्मित जंघाओं पर सिंह जैसी कटि शोभित है। उसके ऊपर सुमेरु पर्वत (सुमेरु जैसे ऊँचे कुच) शोभा प्राप्त कर रहे हैं। उस पर्वत पर नाल विहीन कमल फूल रहे हैं (कुचाग्र भाग की कालिमा कमलवत् है)।

कवि चन्द की भांति विद्यापति की उपर्युक्त पंक्तियों का प्रभाव सूरदास के निम्नलिखित पद पर जो कि रूपकातियोक्ति का बहुत उत्तम उदाहरण है और जिसमें कवि ने प्रसिद्ध उपमानों द्वारा राधा के अङ्गों का वर्णन किया है देखना अप्रासंगिक न होगा।

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज बर क्रीड़त,
तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर,
गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर,
ता ऊपर अमृत फल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव,
ता पर सुक, पिक, मृग-मद काग।
खञ्जन, धनुष, चन्द्रमा ऊपर,
ता ऊपर इक मनिधर नाग।

(सूर सागर पद २७२८)

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि रूपकातिशयोक्ति के प्रयोग द्वारा वर्णन में सूरदास अपने पूर्ववर्ती सभी कवियों से श्रेष्ठ हैं। उन्होंने राधा के सम्पूर्ण अङ्गों का वर्णन अनेक पदों में किया है किन्तु प्रत्येक पद में एक नया ही चमत्कार है जो उल्लेखनीय है।

—शान्तिनिकेतन पश्चिम बंग।

उपन्यासों के उपकरण

डा० रवीन्द्रकुमार जैन

हिन्दी-उपन्यासों में उपलब्ध आलोचकों द्वारा प्रस्तुत सामग्री के आधार पर और लेखक के स्वानुभव के आधार पर जो उपकरण उपलब्ध होते हैं वे कथावस्तु, चरित्र, कथोपकथन, वातावरण एवं विचार और उद्देश्य हैं। वर्णन, शैली-भाषा एवं रस को भी कतिपय विचारकों ने उपन्यास-तत्वों के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु आज यह कहने की आवश्यकता नहीं रह गई है कि ये सब उक्त प्रमुख तत्वों में ही समाहित है। इनमें स्वयं इतनी गरिमा नहीं कि इन्हें स्वतन्त्र महत्व दिया जा सके; यद्यपि वर्णन और शैली को प्रमुखता देने वाले 'बाणभट्ट की आत्माकथा' जैसे उपन्यास भी अपवाद स्वरूप मिलते ही हैं।

प्रत्येक उपन्यास में एक कथासूत्र (थीम) आदि से अन्त तक प्रवर्धमान रहता है। साहित्यकार साधारण में से असाधारण को चुनकर ही महान् बन सकता है। साहित्यसृष्टा सदैव महती अन्तरदृष्टि, प्रभावात्मकता एवं व्यापक संवेदनशीलता की वरेण्य कसौटी पर कस कर ही किसी विषय को चुनता है। जो घटना जीवन के मर्म को घर्षित कर उसमें प्राण, ज्योति और गति का सञ्चार करने में पूर्णतया सक्षम हो सके, वही सृष्टा की प्रतिभा एवं मेधा की सङ्गिनि बनकर कलापूर्ण महती कृति का रूप धारण कर सकती है। वस्तुतः बात यह है कि उपन्यास मूलतः एक कलापूर्ण कृति है अतः उसमें दिग्दर्शित जीवन के कार्यव्यापार एवं घटनाएँ सामान्य, सरल एवं स्वाभाविक होते हुए भी कलाकार की प्रतिभा, कौशल एवं शिल्प के संयोग से असाधारण हो जाते हैं। कथानक का चयन एवं उसका व्यवस्थित-कलापूर्ण प्रस्तुतिकरण ही लेखक की महानता के मानदण्ड हैं कथावस्तु उपन्यासों में विविध रूपों में प्रस्तुत होती है—यथा कथासूत्र (थीम), मुख्य कथानक (प्लाट), प्रासङ्गिक कथाएँ, अन्तर्कथाएँ (एपीसोड), उपकथानक (अण्डरप्लाट)। उपन्यास में इन विविध प्रकारात्मक कथानक-रूपों के आजाने से उसमें पात्रों की संख्या और कृति के कलेवर में वृद्धि हो ही जाती है। फलतः न मुख्य कथानक का ही पूर्णतया संगठन हो पाता है और न पात्रों का चरित्र विकास ही ऐसी अवस्था में सम्भव होता है। कई पात्र तो उपन्यास की घटना-भित्ति में निर्जीव पुत्तलिकाओं जैसे रहकर अपने सारहीन स्पन्दनहीन एवं मृतप्राय व्यक्तित्व की करुण गाथा को ही मौन भाव से संकेतित करते हैं।

मुख्य एवं अकेला कथानक ही अपने आप में इतना मर्यादित, सुगठित, पूर्ण, गति युक्त, मौलिक, प्रभावपूर्ण एवं अभिराम होना चाहिए कि पाठक को मनोरञ्जन के लिए किसी अन्य दिशा की ओर दृष्टि न दौड़ाना पड़े। प्रभावान्वित के लिए भी यह कथानक-दृष्टि परमावश्यक है। यदि किसी प्रकार से लेखक को उपकथानक अथवा अन्तर्कथा की अपनी रचना में अनिवार्यता अनुभूत हो तो उसकी मुख्य कथा के साथ शतप्रतिशत सङ्गति बैठाना चाहिए।

इतिहास और कल्पना कथा वस्तु के आधार हैं। इतिहास के पृष्ठों में न जाने कितने मर्मस्पर्शी प्रसङ्ग शुष्क, मूर्च्छित एवं उपेक्षित से दबे पड़े रहते हैं। कलाकार उन्हें अपनी मानवीय भावना और कला से सज्जित कर, औपन्यासिक अभिरामता देकर अमर बना देता है। उपन्यासकार मक्षिका स्थाने मक्षिका वाले अन्धे, रूढ़ एवं निष्प्राण सत्य का आदी नहीं होता है। वह मानव-कल्याण-सापेक्ष सत्य को ही ग्रहण करता है। जिस ऐतिहासिक घटना में ऐसा सत्य नहीं होता है। वह मानव-कल्याण-सापेक्ष सत्य को ही ग्रहण करता है। जिस ऐतिहासिक घटना में ऐसा सत्य नहीं होता उसमें उस क्षमता (मानव कल्याण-परक, ईमानदारी से भरी) का परिष्कार करके ही उसे ग्रहण

करता है। अर्थात् लेखक अपने जीवन, राष्ट्रीय हितों और विश्वासों की छाया में इतिहास का उपन्यास द्वारा पुनरुद्धार करता है। कल्पना से आशय है देश और समाज में घटित घटनाओं के प्रति लेखक का अपना निर्णय, मानवीय स्तर पर देखे गये उसके अपने प्रभाव, अपना विश्वास, अपने अनुभवों (बाह्य एवं अन्तर्जगत के) और विश्वासों से ही उपन्यासकार की कल्पना का गठन होता होता है। उसकी कल्पना का आधार मानव लोक है, धरती है, प्रकृति है और वह सब है जो सम्भव है, सुलभ है, स्वाभाविक है। उसकी कल्पना में पलायन नहीं, अन्तःप्रवेश है, मानव के अन्तः बाह्य जगत की अपने अन्तःकरण के माध्यम से छानबीन हैं। कुछ उपन्यास इतिहास और कल्पना के मिश्रित कथानक को लेकर रचे जाते हैं। वास्तव में शुद्ध ऐतिहासिकता किसी भी उपन्यास में सम्भव नहीं है। इतिहास और कल्पना का सानुपातिक मिश्रण ही कृति को श्रेष्ठ बनाता है। कल्पना प्रधान उपन्यासों का आधार समाज और उसके कार्य हैं।

प्रेमचन्द युग में कथानक एवं घटनाएँ देश और समाज के सच्चे एवं व्यापक स्तर की हो गईं। उनमें व्यापक जीवन दृष्टि एवं गति ने स्थान पाया। जीवन का यथार्थ महत्व सहानुभूति एवं यथार्थवादी कला के साथ प्रकट हुआ। सच्ची एवं व्यापक घटनाओं के साथ समूह-सापेक्ष एवं वर्ग-सापेक्ष पात्रों को भी महत्व मिला। कथानक के विषय में ध्यान देने की सबसे बड़ी बात यह है कि उपन्यास में वह मानव-चरित्र के विविध प्रभावमय, सच्चे एवं खरे चित्र को प्रस्तुत करने में योग दे सके, कथानक साधन है साध्य नहीं। जहाँ कथानक साध्य हो जाता है वहीं उसमें एक गहरी जीवन हीन जड़ता भर जाती है। वह इतिहास की शुष्कता, समाचारपत्रों की सूचनात्मकता अथवा डायरी की सूत्रात्मकता के अधिक निकट हो जाता है। उसमें कुछ ऐसा अनुभव होता है जैसे घटनाओं की आँधी में सूखे पत्तों की भाँति असहायावस्था में पात्र भटक रहे हैं।

'उपन्यास मानव-चरित्र का चित्र है।' अतः उसमें मानव के स्वभाव, गुण, रुचियों, अरुचियों एवं कार्य-व्यापारों का उसके अन्तर्मन के तलस्पर्शी अध्ययन, विश्लेषण से संस्पृष्ट चित्रण अपेक्षित है।

मानव-व्यक्तित्व की विशालता, दुरूहता, गम्भीरता एवं रहस्यमयता की आधार भूमि पर ही उपन्यास का सूत्रपात हुआ है। नाटक एवं कविता की अपेक्षा उपन्यास में मानवचरित्र एवं उसके कार्य-व्यापारों का अधिकाधिक व्यापक, स्पष्ट, स्वाभाविक एवं कलापूर्ण चित्रण होता है। अतः उपन्यास मूलतः मानव-चरित्र से उद्भूत है। जब इस मूल आधार से भटक कर अन्य बातों में (अमानवीय, अलौकिक घटनाओं में, शैली की प्रगल्भता में, लम्बे चौड़े भावुकतापूर्ण वर्णनों में, भाषा-शिल्प के इन्द्रजाल में) उलझ जाता है तभी वह उपन्यास न रहकर कुछ और हो जाता है। पात्रों की सजीवता और क्रियाशीलता उपन्यास का प्राण है। इस प्राण को प्रभावक एवं ज्योतिर्मय बनाने के लिए उपन्यासकार में मानव-मन के गहन संवेदन एवं विश्लेषण की अपूर्व क्षमता अपेक्षित है। कोरा निरपेक्ष एवं वस्तुवादी अध्ययन कार्यकर नही हो सकता अतः उसमें पूर्णता लाने के लिए लेखक की कल्पना शक्ति और कलात्मक योजना भी अपेक्षित है। चरित्र-चित्रण की पूर्णता पर ही महान् उद्देश्यों की अवतारणा सम्भव है। देशीय के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी महान् एवं आत्मीय सिद्ध होने वाले चरित्रों की सृष्टि केवल वही साहित्यकार कर सकता है जो स्वयं महती संवेदनाशीलता, अन्तर्दृष्टि, ईमानदारी से युक्त निर्भीकता, अकुण्ठता एवं कलापूर्ण अभिव्यक्ति से परिव्याप्त हो, जिसने चरित्रों की प्रभावात्मक स्वाभाविकता को अधिकाधिक उद्घाटित किया हो। पात्रों में जो जीवन है, कार्य-व्यापार है, भावनाएँ हैं, लालसाएँ हैं, वे सब यदि ऐसी हैं जिन पर सहज ही विश्वास होता चले, हम में उनके प्रति अपनापन घर करता चले, उनके साथ हम रोने हँसने लगे, जीने-मरने लगे तो समझना चाहिये कि हम वस्तुतः किन्ही महान् चरित्रों के साथ हैं। महत्ता स्वाभाविकता में उद्भूत कलात्मकता में ही है।

प्रेमचन्द जैसे महान उपन्यासकार के पात्र व्यक्तित्व हीन एवं घटनाओं के बर्फ से जड़ीभूत से हैं। उनका जो

कुछ भी व्यक्तित्व है वह समाज-सापेक्ष एवं घटना-समस्या मुखापेक्षी है। अनेक अवसरों पर तो प्रेमचन्द स्वयं अपने पात्रों के मन्तव्यों और कार्य-व्यापारों का स्पष्टीकरण देकर, उनकी उँगली पकड़ कर मानो उन्हें चलाते हैं। वास्तव में प्रेमचन्दजी में सामूहिक, जातीय एवं पारिवारिक समस्यायें मुख्य हैं और पात्रों का व्यक्तित्व-बिन्दु उनके सागर में विलीन हो गया है।

प्रेमचन्दजी के पीछे महान उद्देश्यों और आदर्शों की वेगवती धारा थी अतः उनके पात्र अन्त तक पूर्णतया समूह एवं वर्ग की समस्याओं का भी पूर्णतया प्रतिनिधित्व नहीं कर पाते। घटना और समस्या का जैसा अंकुरण एवं विकास उनकी कृतियों में दृष्टिगत होता है, वैसा स्वाभाविक एवं प्रेरणाप्रद अन्त नहीं। ऐसा लगता है जैसे अन्त में घटना को—समस्या को एक नया मोड़ बरबस दे दिया गया है। ऐसा क्यों हुआ? सुधारवाद, समझौता एवं आदर्श का प्रस्तुतीकरण लेखक की अपरिहार्य मनोग्रन्थि एवं भावधारा थी इसीलिए।

पात्र तीन प्रकार के होते हैं—वर्गगत-सामान्य व्यक्ति मिश्र। अब तक उपन्यासों में पात्र प्रायः वर्गगत एवं मिश्र ही आते रहे। पिछले १५-२० वर्षों से व्यक्ति-चारित्रों का प्राबल्य बढ़ा है व्यक्ति चरित्र ही श्रेष्ठ उपन्यास का प्राण है। 'शेखर एक जीवनी', 'नदी के द्वीप', 'सन्यासी' आदि कृतियाँ व्यक्ति-चरित्रों के आदर्श उदाहरण हैं। मिश्र चरित्र के लिए प्रेमचन्द (सुमन, गजाधर,) वृन्दावनलाल वर्मा (लक्ष्मीबाई, सुन्दर, खुदाबख्श, विन्नी,) भगवतीचरण वर्मा चित्रलेखा आदि को उदाहरण के रूप में समझा जा सकता है। चरित्रों के विभाजन का द्वितीय प्रकार भी है—(१) स्थिर, (२) गतिशील। स्थिर वे हैं जो एक जीवन धारा और आदर्श से बँधे हुए हैं। प्रेमचन्द के होरी, कृष्णचन्द्र, जैनेन्द्र की कट्टो, भगवतीचरण वर्मा के श्वेताङ्क एवं बीजगुप्त ऐसे ही पात्र हैं। गतिशील पात्रों में जीवन का उत्थान पतन मिलता है। वे सचेष्ट एवं सजग होते हैं, उनमें व्यक्तित्व की चिनगारियाँ होती हैं। ऐसे पात्रों में जैनेन्द्र की सुनीता, अज्ञेय के शेखर, शशि, जोशीजी के नन्दकिशोर और प्रेमचन्द की सुमन और सदन को लिया जा सकता है। पात्रों का एक तीसरा विभाजन प्रकार भी है—सुडौल-गोल, पिचका हुआ, चपटा। राउण्ड पात्र वे हैं जो गेंद की भाँति प्रत्येक पक्ष से एक से लगते हैं। अर्थात् प्रत्येक दृष्टि से जिनमें सजीवता, स्फूर्ति, मांसलता एवं क्रियाशीलता की परिपूर्णता मिलती है। और दमित, अपूर्ण एवं जीवन-स्पन्दन से हीन होते हैं, वे फ्लैट अथवा पिचके हुए कहे जाते हैं।

पात्र के साथ उसका चरित्र-चित्रण भी महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। लेखक की योग्यता घटना और पात्रों के चयन की अपेक्षा उनके संयोजन एवं चरित्रचित्रण की सजीवता एवं कौशल में है। पात्र के अन्तरमन और बाह्य व्यक्तित्व के गहन अध्ययन को जब सृष्टा की व्यापक संवेदनशीलता और कलापूर्ण अभिव्यक्ति मिल जाती हैं, तभी चरित्रों में प्राणवत्ता, स्फूर्ति एवं गति आती है। चरित्र चित्रण की सफलता पात्रों को अधिकाधिक सजीव एवं अभिराम व्यक्तित्वमय बना देने में है। पात्र के स्वभाव और प्रवृत्तियों का सच्चा, पैना निर्भीक और निरपेक्ष चित्रण ही चरित्र-चित्रण की कसौटी है। चरित्र-चित्रण में गहराई, सफाई और सचाई सर्वाधिक मात्रा में अपेक्षित है।

स्पष्ट है कि श्रेष्ठ (कला पूर्ण) उपन्यास महान् हो और महान् उपन्यास कला पूर्ण हो आवश्यक नहीं है। लेखक जितना अधिक कथानक और पात्रों के विषय में (रूप गठन) पूर्व योजना बनाकर चलेगा उतनी ही अधिक मात्रा में कृति कलात्मक दृष्टि से हीन सिद्ध होगी। अतः कथानक और पात्रों का स्वाभाविक विकास एक श्रेष्ठ कृति के लिये आवश्यक है। जितनी कल्पना शक्ति दुर्बल है, मस्तिष्क भी शक्ति हीन है, श्रेष्ठ (कला-पूर्ण सुगठित) उपन्यास दे सके हैं अपनी सचाई, ईमानदारी, स्पष्टता एवं आग्रहराहित्य के कारण। इन लेखकों की श्रेष्ठता की सबसे बड़ी कुञ्जी यह थी कि ये स्वयं को पहले से ही महान् मानकर नहीं चले, अतः आग्रहों और मिथ्या-उच्चता भावों की पङ्क ने इनकी कृतियों को जड़ीभूत बनाकर सड़ाँध से नहीं भरने दिया।

चरित्र-चित्रण के प्रत्यक्ष विश्लेषात्मक एवं परोक्ष-अभिनयात्मक ये दो प्रकार हैं। उपन्यासकार अधिकाधिक स्वतन्त्र है अतः वह प्रायः प्रत्यक्ष प्रकार को ही अपनाता है। इसमें वह प्रत्येक प्रसंग, वार्ता, घटना अथवा पात्र के मन के भाव को यथावसर सुस्पष्ट करने का स्वयं अवसर निकाल लेता है। नाटककार को चरित्र-चित्रण में अभिनय के विविध प्रकार एवं मञ्च की भारी सुविधा है, परन्तु उपन्यासकार तो दृश्यों एवं मनोभावों के सजीव वर्णनों द्वारा ही यह कार्य कर सकता है अतः हम कहते हैं कि सजीव वर्णन करने की पूर्ण क्षमता ही सफल चरित्र-चित्रण की कुँजी है। परन्तु फिर भी श्रेष्ठता दूसरे प्रकार को ही दी जाती है। कृतिकार स्वयं को जितना अधिक घटनाओं और पात्रों से दूर रख सके उतनी ही अधिक सप्राण एवं स्पन्दनयुक्त उसकी कृति होगी। नाटकीय परोक्ष चित्रण के परिवेश में रचे गये उपन्यास आज श्रेष्ठ माने जाते हैं—उनमें स्वाभाविकता एवं सच्ची-कला की अधिकाधिक सम्भावना रहती है।

उपन्यास का तृतीय उपकरण कथोपकथन है। कथोपकथन का नाता पात्रों के चरित्र-चित्रण एवं कथावस्तु के विकास से है। इन दोनों बातों का ध्यान रखकर जो कथोपकथन लिखे जाते हैं वे ही सफल होते हैं। कथानक जितने अधिक पात्रानुकूल, स्वाभाविक, अभिनयात्मक संक्षिप्त, सरल एवं प्रभावक होंगे, घटना और चरित्रों में उतनी ही सजीवता आयेगी। उपन्यासकार में चुस्त, चुटीले एवं प्रसङ्गानुकूल कथोपकथन प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता होनी चाहिये। गठे हुए कथानकों से कृति में एक विशिष्ट वातावरण की गरिमा के साथ स्पन्दनपूर्ण जीवन परिप्लावित होने लगता है। कथानक, उपन्यास में दृश्य काव्य की सजीवता और वास्तविकता का अद्भुत सञ्चार कर उसे एक भव्य, कलापूर्ण एवं प्रेष्यत्व-युक्त कृति की महत्ता प्रदान करते हैं। लेखक का कौशल अन्य बातों में तो परखा ही जाता है परन्तु कथोपकथन में विशेष रूप से। कथोपकथन में भाषा का भी भारी महत्त्व है। भाषा पर लेखक का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। भाषा, भावों और विचारों की वाहिनी है। अतः प्रत्येक शब्द एवं वाक्य, रस, पात्र और परिस्थिति का साक्षात् चित्र सा प्रस्तुत कर दे यही उसकी सबसे बड़ी सफलता है।

उपन्यास का अन्तिम किन्तु महत्वपूर्ण उपकरण है विचार और उद्देश्य। यह तथ्य आज सुविदित है कि विचार और उद्देश्य की पूर्वयोजना से उपन्यास की कला एवं स्वाभाविक भावधारा जड़ित, बन्धनबद्ध एवं निजत्वहीन अतः निर्जीव हो जाती है। विचार और उद्देश्य उपन्यास को बहुधा राजनीतिक, सुधारवादी एवं धार्मिक नैतिक आदर्शों और आग्रहों से बोझिल एवं कृत्रिम कर देते हैं। उनमें निजत्व का सर्वथा लोप हो जाता है। किन्तु उपन्यास में विचारों और उद्देश्य के विषय में एक दूसरा पक्ष भी है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह सच है कि प्रत्येक उपन्यास में सिद्धान्त और विचारों का प्रतिपादन उद्देश्य की दृष्टि से नहीं होता, फिर भी किसी न किसी अंश में विचार और उद्देश्य आ ही जाते हैं।

कुछ आलोचक एवं विचारक उपन्यास में उक्त तत्वों के अतिरिक्त रस और शैली को भी तत्वों के रूप में मानते हैं। भारतीय धारा रसवादी रही है अतः रस को यदि माना भी जाय तो वह घटना तथा चरित्र के अन्तर्गत ही समाहित हो जावेगा। शैली का उपन्यास में महत्व है परन्तु यह भी चरित्र-चित्रण, कथोपकथन में अन्तर्भूत हो जाती है।

उपन्यास के सभी तत्व परस्पर इतने संश्लिष्ट एवं अभिन्न हैं कि उन्हें विश्लेषण द्वारा यत्किञ्चित समझा ही जा सकता है, पूर्णतया एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। सभी तत्व पारस्परिक सहयोग, सौहार्द एवं शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व से ही उपन्यास का अभिराम, प्रभावक एवं जीवित रूप प्रस्तुत करते हैं। सम्पूर्ण कृति से प्रभाव-ऐक्य रूपी महान् लक्ष्य की सिद्धि भी सभी उपकरणों की अन्विति, अभेद्यता तथा गतिशीलता पर निर्भर है।

—श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति (आन्ध्र)

आलोचना

कवि समय मीमांसा—ले०–विष्णुस्वरूप, प्रका०–काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५ । पृष्ठ ३११, मूल्य ८.००

संस्कृत काव्यशास्त्री राजशेखर ने काव्य मीमांसा में 'कवि समय' का विवेचन किया था । अन्य अनेक आचार्यों ने भी इस विषय का थोड़ा-बहुत परिचय अवश्य दिया है किन्तु विषय अब तक उपेक्षित ही रहा है। 'कवि समय' को स्पष्ट करने वाला प्रचलित शब्द 'काव्य रूढ़ियाँ' है । इस पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध में दो खण्ड हैं । सर्व प्रथम प्रस्तावना में लेखक ने विषय का महत्त्व और सीमा विस्तार स्पष्ट करके यह बताया है कि उस दिशा में अब तक क्या कार्य हो चुका है ? इस शोध प्रबन्ध का लक्ष्य, अनुसन्धान प्रणाली तथा प्रबन्ध योजना पर भी प्रकाश डालना है ।

ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में कवि समय का सिद्धान्त पक्ष लिया गया है, जिसमें उसकी परिभाषा, प्रमुख लक्षण, प्रवृत्तियाँ तथा काव्यशास्त्र में कवि समय का स्थान आदि विषय लिए गये हैं । दूसरे खण्ड में व्यवहार पक्ष लिया गया है । इसमें मुख्य-मुख्य कवि प्रसिद्धियों का विवेचन है । इसके अन्तर्गत वनस्पति वर्ग को दो अंशों में विभाजित किया गया । प्रथम में पद्म, नीलोत्पल, कुमुद, कुन्द, मालती, शङ्खालिका, भूर्जपत्र तथा चन्दन का । द्वितीय में प्रियंगु, बकुल, अशोक, तिलक, कुरबक, मँदार, चम्पक, सहकार, नमेरू, तथा कर्णिकार आदि वृक्षदोहदों का वर्णन है । पक्षि वर्ग में हंस, मयूर, कोकिल, चक्रवाक, चकोर तथा चातक आदि का विवेचन है । इसमें रत्न वर्ग, वारि वर्ग, आकाश वर्ग, वर्षा वर्ग, संख्या वर्ग तथा वात्सलीय वर्ग आदि का भी सुन्दर विश्लेषण है । पुस्तक के अन्त में दिए गये परिशिष्ट आदि महत्वपूर्ण हैं । निस्सन्देह रूप से ग्रन्थ में यथेष्ट श्रम किया गया है ।

जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि—लेखक–डा. प्रेमसागर जैन एम. ए. पी-एच. डी. । प्रकाशक–ज्ञानपीठ काशी । पृष्ठ संख्या २२३, मूल्य ६.००

प्रस्तुत गवेषणापूर्ण शोध प्रबन्ध जैन भक्ति काव्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है । भक्ति का स्वरूप, जैन भक्ति के अङ्ग, जैन भक्ति के भेद, आराध्य देवियाँ उपास्य देव आदि शीर्षकों के माध्यम से जैन-भक्ति काव्य के सम्बन्ध में लेखक ने अध्यवसाय के साथ सामग्री का सङ्कलन किया है जो कि वस्तुतः जैन भक्ति साहित्य तथा भक्ति के अङ्गों से परिचय कराने में समर्थ हैं । लेखक इसके लिए बधाई के पात्र हैं । आशा है पाठकगण पुस्तक का आदर करेंगे ।"

सुगम भाषा-विज्ञान—ले०–प्रो० तपेश चतुर्वेदी, प्रका०–साहित्य भवन, आगरा । पृ० ३३८, मू० ४.००

विद्यार्थियों की आवश्यकता को देख कर चतुर्वेदी

जी ने भाषा-विज्ञान सम्बन्धी यह पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक में अपने विषय की सम्पूर्ण सामग्री का समुचित उपयोग करते हुए विद्यार्थियों की आवश्यकता पूर्ति करदी गई है। अपने घोषित उद्देश्य में लेखक सफल हुआ है क्योंकि उसने अपेक्षित सामग्री एक ही ग्रन्थ में सरल और स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करदी है। पुस्तक के अन्त में दिए गए परिशिष्टों द्वारा पुस्तक की उपादेयता निश्चित ही बढ़ी है। आशा है विद्यार्थी समाज में पुस्तक का यथेष्ट सम्मान होगा।

निबन्ध

काव्यशास्त्रीय निबन्ध—ले०—डॉ० सत्यदेव चौधरी प्रका०—वासुदेव-प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ २४०, मू. ७.००

संस्कृत और हिन्दी काव्यशास्त्र की परम्परा तथा उसके सिद्धान्त पक्ष पर लिखे गये निबन्धों का यह संग्रह अनेक समस्याओं को इस प्रकार उठाता है कि वे आज के विद्यार्थी तथा चिन्तक के लिए नवीन दृष्टि कोण की प्रेरक सिद्ध हो जाता है। इस पुस्तक में लेखक ने परम्परा प्राप्त परिपाटी पर चलने की अपेक्षा कतिपय उन प्रश्नों को उठाया है जिनके सम्बन्ध में वह किसी न किसी ऐसे कारण से उन्मुख हुआ है कि कुछ नया या परम्परा से अलग होकर कहने की प्रेरणा हुई है। यह केवल शुष्क समीक्षा ग्रन्थ नहीं है, वरन् कहीं-कहीं इसमें मन को रमाने की वृत्ति भी है। आशा है इसमें विवेचित विषयों पर हिन्दी के समीक्षक उनके नए परिप्रेक्ष्य में विचार करेंगे और देखेंगे कि परम्परा प्राप्त प्रश्नों से आज की समस्या के सुलझाने में क्या सहायता मिल सकती है।

प्रस्तुत पुस्तक में जिन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का विवेचन हुआ है उसमें से एक साधारणीकरण की व्याख्या- है। लेखक ने भरत से लेकर आज तक इस क्षेत्र में हुए कार्य के ऐसे सूक्ष्म तन्तुओं को समेट कर सामने लाने का प्रयास किया है, जिनके द्वारा इस प्रश्न के नवीन पहलू सामने आते चले गये हैं। आज के अधिकांशतः समीक्षा ग्रन्थों की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि उनमें अधिकांश चर्वित चर्वण ही होता है, इस दृष्टि से इस पुस्तक को भी अपवाद नहीं कहा जा सकता है, फिर भी इतना सन्तोष है कि इसमें कुछ नया है, जिसकी हिन्दी छात्रों, विचारकों को आवश्यकता है।

कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबन्ध—ले.- विष्णुकान्त शास्त्री, प्रका०—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी। पृष्ठ १७६, मूल्य ४.५०

पुस्तक का नाम प्रथम आलोचनात्मक लेख के शीर्षक पर रख दिया गया है। अन्य आलोचनात्मक लेखों में साहित्य, कला तथा शिक्षा नीति आदि के सम्बन्ध में विचार प्रकट किये गए हैं। कुछ लेखों की सामग्री उपादेय सूचनाओं से समन्वित है और शेष सामान्य हैं। लेखक ने जहाँ बहुचर्चित विषयों पर लेखनी उठाई है तो सहज जिज्ञासा होती है कि सम्भवतः उसने कुछ नया कहना चाहा होगा, किन्तु पढ़ने पर निराशा ही मिली है। उदाहरणार्थ यदि रीतिकालीन हिन्दी कविता से सम्बन्धित निबन्ध देखें तो हमें ज्ञात होता है कि इस दिशा में जो कार्य हो चुका है तथा जिन विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया जा चुका है और किया जा रहा है लेखक उनमें से अधिकांश से अपरिचित है और उसने जो विचार दिए हैं वे चर्वित चर्वण मात्र हैं। इतना ध्यान तो रखना ही चाहिए था कि असम की भाषा 'असमी' है न कि असमिया। पुस्तक की छपाई, कागज, गेटअप आदि सन्तोषजनक है किन्तु सामग्री नितान्त अपर्याप्त तथा स्तर से नीचे की है।

कविता

अकबर सर्वस्व या कुल्लियाते अकबर—लेखक-महा कवि इलाहाबादी। प्रका०—अकबर मेमोरियल कमेटी १ मीनप्पा रोड प्रयाग।

प्रथम भाग पृष्ठ संख्या ५२७ मूल्य दस रुपये।
द्वितीय भाग " " २२६ " दस "
तृतीय भाग " " ३२८ " आठ रुपये।
चतुर्थ भाग " " १९६ " सात रुपये।

उर्दू के प्रसिद्ध कवि अकबर इलाहाबादी की रचनाओं के अनेक सङ्कलन पाठकों के समक्ष आ चुके हैं किन्तु उनके सर्वाङ्गपूर्ण साहित्य को हिन्दी संसार में लाने का यह प्रथम स्तुत्य प्रयास है।

प्रस्तुत सङ्कलन के प्रथम भाग में अकबर की

गज़लें, रुबाइयाँ, कतआत और नज़्में सम्मिलित हैं। 'करजन सभा' जैसे नज़्म से अकबर की राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति हुई है। जो एक अन्तर्निहित तीक्ष्ण व्यंग्य की अभिव्यक्ति ही है। उनकी शायरी का प्रथम दौर उनकी इश्कियाँ गजलों से प्रारम्भ होता है किन्तु उस साहित्य में भी उनका एक स्वस्थ जीवन दर्शन, शाश्वत सत्यों की अभिव्यक्ति तथा उनकी कलात्मकता सुरक्षित है।

द्वितीय भाग में जो रचना में संग्रहीत है उनमें सामाजिक उपयोगिता के साथ व्यंग्य की मात्रा बढ़ गई है। इसमें गजलों के अतिरिक्त सवैया, कतआत और नज़्में भी हैं। एक अंग्रेज़ी शिक्षित युवक की सफलता अकबर के शब्दों में सुनिए—

बी० ए० की कमाले कामयाबी है यही।
सर्विस के लगाव से मुअज्जिज बनना॥

विभिन्न सामाजिक राजनीतिक विषयों पर अकबर ने गम्भीर दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। सन् १९११ के देहली दरबार का विनोदपूर्ण वर्णन भी इसी भाग में है।

तृतीय भाग में 'तालीमे नसवाँ'। स्त्री शिक्षा जैसे सामाजिक विषयों पर अकबर ने अपनी दो एक राय प्रकट की है। उनका व्यंग्यकार का रूप इसमें अधिक प्रखर है। सम्पादक उचित शीर्षक तथा उचित विभाजन रेखाओं की ओर आग्रह कम है अतः पाठकों को इसमें मानसिक परिश्रम करना पड़ेगा।

चतुर्थ भाग में गजलों, कतआत के साथ मसनवियाँ [वर्णनात्मक कविताएँ] भी हैं, "अकबर सर्वस्व" का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग है, क्योंकि इसमें देश के राजनीतिक आन्दोलनों पर कवि ने अपने विचार प्रकट किये हैं।

'अकबर सर्वस्व' के चारों भाग साहित्य प्रेमियों के मनोरञ्जन के लिए तो उपयोगी है ही, 'अकबर' की काव्य-कला के क्रमिक विकास और उनके व्यक्तित्व को समझने के लिए भी इनसे बहुत सहायता मिल सकती है।

कठिन उर्दू शब्दों के हिन्दी अर्थ नीचे टिप्पणियों में दिये गये हैं किन्तु यदि टिप्पणियों का उचित रूप पालन नहीं हुआ है। साथ ही रचनाओं का काल व शीर्षकों का अभाव 'अकबर सर्वस्व' नामक संग्रह की सबसे बड़ी दुर्बलता है।

आशा है आगामी संस्करणों में इनकी ओर विशेष ध्यान दिया जायगा।

कविता

मेरे भारत मेरे स्वदेश—रचयिता गुलाब खण्डेलवाल, प्रकाशक पारिजात प्रकाशन, डाक बँगला रोड, पटना—१। पृष्ठ ५०, मूल्य १॥)

प्रस्तुत काव्य संग्रह बिहार के प्रतिष्ठित कवि श्री गुलाब खण्डेलवाल की नई कृति है। इसके पहले कवि की सात पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। अतः गुलाबजी हिन्दी के जाने-माने कवि हैं।

'मेरे भारत, मेरे स्वदेश' में १०८ दोहों के अतिरिक्त ७ कविताएँ संग्रहीत हैं, जो राष्ट्रीयता की उदात्त भावना से सम्पन्न हैं। भारत पर चीनी आक्रमण के बाद हिन्दी में राष्ट्रीयता कविता के नाम पर बहुत सा सस्ता साहित्य लिखा गया, जिसमें कृत्रिम आवेश और प्रलापात्मकता की गन्ध आती है। गुलाब खण्डेलवाल की इन कविताओं में जहाँ स्वदेश के प्रति अगाध प्रेम की परिणति हुई है, वहाँ स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अदम्य उत्साह एवं सशक्त प्रेरणा की अनुभूति मिलती है। उनकी कुछ कविताओं पर प्रसादजी की छाप दिखाई देती है। 'भारत वन्दना' में पुरानी प्रशस्तिगान की परिपाटी है पर भाषा में शिथिलता नहीं है। हाँ, संस्कृत के तत्सम शब्दों में बाहुल्य से बोझिलता अवश्य आ गई है। यदि गुलाबजी भाषा के सम्बन्ध में अधिक सूझबूझ औदार्य और कौशल का परिचय दें, तत्सम शब्दों का कम प्रयोग करें तो उनकी कविता को अधिक लोकप्रियता मिलेगी।

उनकी 'वीर भारती' (जिसमें १०८ दोहे हैं) भाव, भाषा, छन्द और कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से अनूठी है। इस दिशा में नए हिन्दी के कवियों को प्रयास करना चाहिए, जबकि कई उर्दू कवियों ने भी दोहे को अपना कर उसमें जान डाल दी है। इस सफल प्रयास के लिए गुलाबजी बधाई के पात्र हैं।

आशा है, इस सुरुचिपूर्ण पुस्तक का हिन्दी जगत में स्वागत होगा।

उपन्यास

डॉ० सदाशिव—ले०-वनफूल (अनु० माया गुप्त), प्रका०-राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ १५८, मू. ३)

इस उपन्यास में उन डॉ० सदाशिव की कहानी कही गई है जो अनेक बार ठगे जाकर अव्यावहारिक बन कर अन्त तक विश्वास करते चले जाते हैं। आज दुनिया में सब कुछ मँहगा है यदि कोई सस्ती है तो वह इंसान है। इंसान अपनी इज्जत चाहता है तो इंसानियत की इज्जत करनी होगी। डॉ० सदाशिव सम्भवतः इंसानियत के कमाल हैं। वे हिन्दू-मुस्लिम, ऊँच-नीच, निर्धन-धनिक आदि की सीमाओं से हो ऊपर उठे हुए नहीं हैं, वरन् डाक्टरी का पेशा इसलिए करते हैं कि इस पेशे के द्वारा वे समाज के पिछड़े अङ्गों की सेवा करते हैं। उनके अलावा अन्य कोई डाक्टर इन लोगों के मुहल्लों में घुसना भी पसन्द नहीं करता है।

इस उपन्यास में नायक ने अनेक पात्रों, घटनाओं, समस्याओं, स्थितियों आदि पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है तथा आज के समाज में चलने वाली प्रवृत्तियों के उभय पक्षों का तटस्थ एवं वस्तुपरक चित्र दिया है। इस उपन्यास की यह यथार्थवादी मान्यता उपयुक्त नहीं लगती कि सभी दृष्टियों से आदर्श जीवन व्यतीत करने वाला डॉ० सदाशिव अन्त में दूसरों की सहायता में अपनी जीवन-लीला समाप्त कर बैठता है। यह तो आश्चर्यजनक नहीं है किन्तु समाज-विरोधी तत्त्व खुले रहते हैं। वे दूसरों का धन और अस्मत लूटकर भी सुरक्षित हैं, हो सकता है वे वर्तमान शासन के अङ्ग हों किन्तु समाज में आज भी ऐसे तत्त्व पनप और उभर रहे हैं जो इनसे उठकर लोहा लेंगे। उन तत्त्वों तक लेखक की दृष्टि नहीं पहुँच पायी है। लगता है लेखक निराशा के कुहासे से अपने को मुक्त नहीं कर पा सका है। शैली, शिल्प, चित्रात्मकता एवं प्रभाव की दृष्टि से यह एक सफल कृति है।

गाँव—मू० ले०—मुल्कराज आनन्द (अनु० शिवदानसिंह चौहान तथा श्रीमती चौहान) प्रका०—राजपाल एण्ड संस, दिल्ली। पृ० २७५, मू० ५·५०

मुल्कराज आनन्द का नाम सभी हिन्दी पाठक जानते हैं। यद्यपि वे मूलतः हिन्दी में न लिखकर अंग्रेजी में लिखते हैं किन्तु उनकी कृतियों का हिन्दी अनुवाद हिन्दी के मौलिक उपन्यासों के समान ही चाव से पढ़े जाते हैं। अभी हिन्दी में उनकी कृतियों की अच्छी समीक्षायें नहीं निकली हैं, और संभवतः हिन्दी-समीक्षक उन्हें अपना नहीं मानता। यह दृष्टि-दोष दूर होना चाहिये। प्रस्तुत उपन्यास भी अन्यों के समान उनके The village का हिन्दी रूप है जिसमें मूल के गुण अपनी पूर्ण दशा में सुरक्षित हैं। आनन्द पञ्जाब के जन-जीवन के सफल चित्रकार हैं, उनका दृष्टिकोण व्यापक आधार लेकर चलता है जिसमें सूक्ष्म निरीक्षण, व्यक्तियों के निजी गुण दोष तथा उनकी वे वैयक्तिक विशेषतायें उभर कर सामने आती हैं जिनके कारण वे और सबसे भिन्न दिखाई देते हैं। अनेक पात्रों में वर्गगत तथा वैयक्तिक दोनों प्रकार की विशेषताओं का चरम विकास दृष्टिगोचर होता है। वे पात्रों की छोटी से छोटी क्रियाओं के पीछे रहने वाली मनोवृत्ति के तह में प्रवेश करके उसका रहस्योद्घाटन करने में समर्थ हैं। वे पात्रों की क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में कभी-कभी जो निजी टिप्पणी करते चलते हैं या इसके लिये अनिवार्यतः अवकाश की खोज में रहते हैं, यह उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत उपन्यास में पंजाब के ग्रामीण जन-जीवन का वैविध्यपूर्ण चित्रण अपने में अपूर्व है जिसमें वहाँ का समग्र जीवन उसके पर्व, त्यौहार, शादी ब्यौहार, फसलें प्रकृति सौन्दर्य, किसान जमीदार, विश्वास आडम्बर, जीवन-मृत्यु तथा बालकों से लेकर मृत्यु मुख में पड़े हुए बृद्धों तक की गहन वृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है। कथानायक लालू देहाती युवक है जिसमें सम्मान पूर्वक विवाहित-जीवन बिताने की आकांक्षा है किन्तु जमीदार का शोषणपूर्ण अत्याचार उसे फौज में भर्ती करा देता है। और उसका परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है। फौजी जीवन के रूप का विश्वसनीय चित्रण अत्यन्त व्यंजक है।

उपन्यास अत्यन्त उच्चकोटि का है ।

एक थी अनीता—ले०—अमृता प्रीतम, प्रका०—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली । पृ० १५०, मू० ३·००

अमृता प्रीतम काल्पनिक प्रेम के जो अनोखे चित्र देती हैं, उसका एक नमूना यह उपन्यास भी है । इस उपन्यास की नायिका अनीता पति और पुत्र से सन्तुष्ट दिखती हुई भी असन्तुष्ट है और अवसर आने पर भी अपने प्रेमी सागर की वासनापूर्ति का साधन न बनकर उसने यह सिद्ध किया है कि वासनापूर्ति की अपेक्षा मानसिक आकर्षण अधिक महत्वपूर्ण है । वह यथार्थ जगत की पात्री होने की कभी चेष्टा नहीं करती । एक अद्भुत रहस्यात्मक आवरण सदैव उसके चारों ओर खिचा रहता है जो सारे वातावरण को अवास्तविक बनाने में समर्थ सिद्ध होता है । इस प्रकार के उपन्यासों में यह देखा जा सकता है कि उपन्यास लेखिका का जीवन के प्रति दृष्टिकोण कितना थोथा और निष्क्रिय है । क्या ही अच्छा होता यदि अनीता आदर्शों को साकार रूप देने का प्रयास करती और चाहे उस प्रयत्न में उसका वही अन्त होता जैसा कि दिखाया गया है । अमृताजी के पात्र वायवी न होने के कारण पाठकों का विश्वास अर्जित नहीं कर पाते हैं । इसमें घटनायें या तो हैं ही नहीं या मानसिक प्रतिक्रिया के प्रतीक रूप में प्रस्तुत हुई हैं । पात्रों की प्रतिक्रियायें नितान्त अमनोवैज्ञानिक तथा अविश्वसनीय हैं । भाषा दोषपूर्ण शैली अस्वाभविक तथा परिवेश कृत्रिम है ।

टूटते-बन्धन—ले०—भगवतीप्रसाद वाजपेयी, प्रका०—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली । पृष्ठ १६७, मूल्य ४.००

भगवतीप्रसाद वाजपेयी के नाम से जो उपन्यास निकलते हैं उनसे हिन्दी पाठक एक अच्छे मनोवैज्ञानिक उपन्यास की आकांक्षा कर बैठता है किन्तु प्रस्तुत उपन्यास से उसकी यह कामना अपूर्ण ही नहीं रहती, वरन् यह भी प्रतीत होने लगता है कि वाजपेयी के पास कहने को कुछ नहीं रह गया है, वे चुक गये हैं । वे बात लकीर पीट रहे हैं । टूटते-बन्धन भारत-चीन सङ्घर्ष के सन्दर्भ को उठाकर चलता है, एक नारी से सन्तुष्ट न होकर दूसरी और तीसरी की ओर खिचने वाला मध्य-वर्गीय शिक्षित युवक तीनों को परेशानी में डालकर फौज में भरती हो जाता है और रङ्गमञ्च से पलायन आज की समस्याओं का एक सुन्दर हल हमारे सामने लाया जाता है । भगवती बाबू सिद्ध करना चाहते हैं कि उन्मुक्त प्रेम ही समाज की सारी समस्याओं की एकमात्र रामबाण औषधि है । पात्र, घटनाएँ तथा समस्याओं का प्रस्तुतीकरण ऊपर से आरोपित है न कि परिवेश की सहज फलश्रुति । अतः सब कुछ एकाङ्गी और तरुण मनोवृत्ति का परिचायक है ।

विहान (मौलिक सामाजिक उपन्यास)—ले० भूजेन्द्र 'आरत', प्रका०—मित्रमण्डल देवघर (सं० प०)। पृष्ठ १४६, मू० १.६०

प्रस्तुत उपन्यास मध्यम वर्ग पर लिखा गया है । कथा साधारण है—एक व्यक्ति अनाथ बालक को ले जाकर उसे अपना बेटा समझ कर पढ़ाता है और बाद में शादी के प्रश्न पर पुत्र अलग हो जाता है । वह योग्य व आदर्श डाक्टर बनकर जीवन के संघर्ष से जूझता है और अन्त में अपने पिता से मिल जाता है । अपनी एक सहपाठिनी की पितृहीन चचेरी बहिन से शादी कर लेता है । यद्यपि बीच बीच में स्थानीय चित्रण (Local colour) का पुट देने का प्रयास किया है किन्तु उसमें लेखक विशेष सफल नहीं हो सका है । पुस्तक में आदर्श की भावना को सङ्घर्ष के साथ चित्रित किया गया है । गेटअप छपाई साधारण है । पुस्तक पठनीय है ।

जिन्दगी के रंग—ले०—धीरेन्द्र पङ्कज, प्रका०—दिल्ली पुस्तक सदन—दिल्ली । पृष्ठ १३३, मू. २.७५

प्रस्तुत सामाजिक उपन्यास में लेखक ने आज के सामाजिक जीवन की प्रमुख समस्या सैक्स को आदर्शवादी ढङ्ग से सुलझाने का प्रयास किया है । उपन्यास की कथा मध्यम वर्ग से सम्बन्धित है । कथा में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सैक्स की समस्या को उभारा गया है । उपन्यास का प्रमुख पात्र अजय जो समाज सेवक है और अपने आदर्श को अन्त तक कायम रखकर एक युवती के जीवन को सफल बनाने में समर्थ होता है,

प्रभावशाली चरित्र है। माधुरी का चरित्र भी प्रेमिका के रूप में सजीव है। शेष पात्र निर्जीव से लगते हैं। छपाई व गेटअप साधारण है। यदि व्यर्थ की बातों को कम करके जीवन के संघर्ष को तीव्र और आदर्श को उचित मात्रा में रखा गया होता तो पुस्तक का महत्त्व विशेष होता—वैसे आज के समाज के लिए पुस्तक उपयोगी है।

कहानी

रामायण-कथा—ले०—रघुनाथसिंह, प्रका०—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी—१। पृष्ठ ३२४, मूल्य ४.५०

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने रामायण से सम्बन्धित पचास उपाख्यानों को कहानी शैली में प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत करने का ढङ्ग मौलिक और प्रभावशाली है। कहीं-कहीं भाषा क्लिष्ट हो गई है, लेकिन गद्य-काव्य का सा आनन्द आने लगता है।

लेखक ने वाल्मीकि रामायण के पश्चात् रामकथा में जुड़े उपाख्यानों को भी अपने विन्यास में समेट लिया है। सभी उपाख्यान मिलकर भारतीय संस्कृति की मुख्य-मुख्य बातों को समझाने में समर्थ हैं। 'उत्तर-काण्ड' का 'सीता निर्वासन' शीर्षक उपाख्यान पुस्तक की सबसे प्रभावशाली रचना है। वैसे 'भगीरथ' 'अम्ब-रीष', 'परशुराम', 'श्रवण' आदि विशेष सुन्दर बन पड़े हैं। पुस्तक में प्रूफ सम्बन्धी भूलें कहीं-कहीं खटकती हैं। समग्र रूप में पुस्तक पठनीय व शिक्षाप्रद है। छपाई व गेटअप सुन्दर है।

नाटक

पशु—ले० टी० एन० गोपीनाथन् नायर (अनु० रघुवीरशरण व्यथित तथा बसुवन्) प्रका०—वासदेव प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ ९६, मूल्य १.८०

प्रस्तुत पुस्तक मलयालम भाषा के सामाजिक लघु-नाटक 'भृगम' का हिन्दी रूपान्तर है। इस रङ्ग-मञ्च के लिए लिखे गए नाटक में आधुनिक समाज की पूँजी-वादी मनोवृत्ति का एक रूप इस नाटक के नायक राघवन कुरूप की वर्ग गत विशेषता द्वारा स्पष्ट किया गया है। वह नारी को केवल भोग और शोषण का साधन मात्र मानता है और परिणामस्वरूप अन्त में स्वयं मारा जाता है। नाटक में अतिरञ्जना का प्रभाव स्पष्ट है। नायक को ऐसे स्वार्थी व्यक्ति का रूप दिया गया है जो दूसरों का पालन-पोषण उन्हें बलि-पशु समझकर करता है।

स्फुट

जिन्दगी और मौत—ले०—श्री दिनेश पालीवाल, प्रका०—विमल प्रकाशन, दीक्षित-प्रेस, इटावा। पृ० ९२, मू० १.००

भावुकता यदि विचार का आधार पा जाती है तो शक्ति बनकर अवतरित होती है; अन्यथा वह केवल भावों का निम्नस्तरीय ऊहापोह मात्र कर साहित्य को सस्तापन प्रदान करके रह जाती है। आजकल या तो सस्ती भावुकता अथवा बोझिल बौद्धिकता साहित्य के जिम्मे डाली जाती है और उसका परिणाम होता है अस्थिर कथा-साहित्य, रोमाञ्चक वर्णन तथा स्तम्भित कर देने वाले विवरण। इस पुस्तक का लेखक एक निश्चित दृष्टिकोण लेकर चलने को उद्यत दिखाई देता है और उसी को सामने रखकर व्यंग्य का खुला प्रयोग करता है। आशा है इस प्रयोग में से आगे कुछ अधिक प्रौढ़ निकल सकेगा।

आकाश वाणी विविधा—प्रका०—प्रकाशन विभाग, भारत-सरकार, दिल्ली। पृ० २१६, मूल्य ३.५०

पिछले वर्षों की भाँति १९६२ के वर्ष में आकाश-वाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा हिन्दी में प्रसारित सामग्री में से जो स्थायी महत्व की मानी गई है, वह इस संग्रह में दी गई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसमें कुछ तो अत्यन्त महत्व का है और यह भी उचित है कि संग्रहों में बहुत कुछ साधारण भी आ जाता है। आकाशवाणी के प्रसारण में सांस्कृतिक वार्ताओं, साहित्यिक समीक्षाओं तथा रेखाचित्र आदि का अत्यन्त उत्कृष्ट रूप कभी देखने को नहीं मिलता है। सामान्य जनता की रुचि इस ओर है किन्तु पता नहीं क्यों इस ओर ध्यान कम ही दिया गया है। इस संग्रह में भी इनका अभाव है। आशा है इस ओर ध्यान दिया जायगा।

विश्वविद्यालय स्तरीय साहित्यिक-ग्रन्थ

साहित्यिक निबन्ध

कला, साहित्य और समीक्षा—डॉ. भगीरथ मिश्र १०.००
मूल्य और मूल्याङ्कन डॉ.—रामरतन भटनागर ७.५०
साहित्य, अनुभूति और विवेचन—डॉ. संसारचन्द्र ६.००
साहित्य, शोध, समीक्षा—डॉ. विनयमोहन शर्मा ५.५०
साहित्य, सन्दर्भ और मूल्य—डॉ. दशरथ मिश्र ४.००
आलोचना के पथ पर—डॉ. कन्हैयालाल सहल ५.००
विचार और निष्कर्ष— डॉ. वासुदेव ७.५०
आलोचना के द्वार पर— डॉ. ओम्प्रकाश कुलश्रेष्ठ ४.५०
आलोचना की ओर— ,, ४.००
साहित्यवार्ता— श्री गिरिजादत्त शुक्ल ५.५०
चिन्तन और कला— प्रो. जयनाथ नलिन ३.५०
साहित्य के आलोक-स्तम्भ— श्री विश्वम्भर मानव १.००
आधुनिक हिन्दी निबन्ध—डॉ. सुरेशचन्द्र गुप्त तथा कृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार ५.००
सरल साहित्यिक निबन्ध— डॉ. सुरेशचन्द्र ३.००
सरल सामयिक निबन्ध—श्री कृष्णचन्द्र विद्यालं. ३.००

समीक्षा शास्त्र के सैद्धान्तिक ग्रन्थ

समीक्षा शास्त्र के सरल सिद्धान्त— श्री गोविन्द त्रिगुणायत ४.००
शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त—" " ८.००
" " "–१ " " १०.०
भाषा और साहित्य का विवेचन— जियालाल हण्डू तथा रघुनाथ सफाया ३.००
साहित्य-प्रबोध— डा. सोमनाथ गुप्त १.५०
काव्याङ्ग-परिचय— बद्रीप्रसाद पञ्चोली १.६२

साहित्यिक इतिहास ग्रन्थ

हिन्दी साहित्यानुशीलन—स्नातक सत्यकाम वर्मा ९.००
हिन्दी का आधुनिक साहित्य—" " ४.००
हिन्दी साहित्य दिग्दर्शन—संकटाप्रसाद उपाध्याय ३.५०
हिन्दी साहित्य का परिचयात्म इतिहास— श्री यज्ञदत्त शर्मा १.२५
हिन्दी-साहित्य का सुगम इतिहास—श्री व्यथितहृदय १.५०

समीक्षात्मक ग्रन्थ

महाकवि प्रसाद—डा० विजयेन्द्र स्नातक डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल ३.५०

रत्नाकर का काव्य— श्री लल्लनराय एम. ए. ४.००
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनका साहित्य— डॉ० जयचन्द्रराय ३.००
शुक्ल समीक्षा— प्रो० टेकचन्द शास्त्री ३.५०
प्रतिनिधि-कवि डॉ० सत्यदेव चौधरी ३.५०
गद्य-विवेचन— श्री फूलचन्द पाण्डेय २.५०
सेठ गोविन्ददास की नाट्य-कला तथा कृतियाँ— डॉ. रामचरण महेन्द्र ५.००
गोविन्ददास : व्यक्तित्व और कृतित्व " " ६.००
भारतीय नाट्य-शास्त्र— सं० डॉ० नगेन्द्र १२.००
आलोचना और आलोचक—सं० डॉ० मोहनलाल डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्ता ३.००
प्रतिनिधि आलोचक— " " " ४.५०
हिन्दी वार्षिकी १९६०— सं० डॉ० नगेन्द्र ६.५०
हिन्दी वार्षिकी १९६१ सं० " " १०.००
हिन्दी वार्षिकी १९६२ " " " प्रेस में
गोस्वामी तुलसीदास— डॉ० राजेश्वर प्रसाद १.५०
आदर्श आलोचना— डॉ० दशरथ ओझा २.५०

शोध-प्रबन्ध

हिन्दी अलङ्कार-साहित्य— डॉ० ओमप्रकाश ६.००
हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य—डॉ० " ८.००
सूर की काव्य-कला - डॉ० मनमोहन गौतम १०.००
अपभ्रंश-साहित्य— डॉ० हरिवंश कोछड़ १०.००
हिन्दी और बङ्गला के वैष्णवकवि-डॉ, रत्नकुमारी १०.००
मतिराम : कवि और आचार्य—डॉ० महेन्द्रकुमार १०.००
राजस्थानी कहावतें— डॉ० कन्हैयालाल सहल ८.५०
हिन्दी उपन्यासों में चरित्र-चित्रण का विकास— डॉ० रणवीर रांग्रा १५.००
केशवदास : जीवनी, कला और कृतित्व— डॉ० किरणचन्द शर्मा १५.००
गोस्वामी तुलसीदास : व्यक्तित्व, दर्शन साहित्य— डॉ० रामदत्त भारद्वाज १८.००
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त और समीक्षा—डॉ० जयचन्द्रराय १०.००
गुरुमुखी लिपि में हिन्दी-काव्य-डॉ. हरभजनसिंह १६.००
'रामचन्द्रिका' का विशिष्ट अध्ययन-डॉ. गार्गी गुप्ता १५.००

भारती साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली।

REGD. No. L, 263. April 1964 License No. 16
Sahitya-Sandesh, Agra. Licensed to post without prepayment.

रामचरनलाल द्वारा साहित्य-प्रेस में मुद्रित तथा साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा से प्रकाशित।

साहित्य-सन्देश

मई १९६४

सम्पादक—महेन्द्र एक प्रति ०.५०

साहित्य रत्न भंडार
आगरा

'साहित्य-सन्देश' आगरा की विगत १२ वर्षों की फाइलों का विवरण

	सन्	पाठ्य सामग्री की पृष्ठ संख्या	लेखों की संख्या	विशेषाङ्क जो सम्मिलित हैं	मूल्य	डाक-व्यय
	१९५१-५२	५३२	१०५	आलोचनाङ्क	१)	१)६६
	१९५२-५३	५१८	११४	कहानी अङ्क	१)	१)६६
	१९५३-५४	५१८	१०९	आधुनिक काव्याङ्क	१)	१)६६
	१९५४-५५	४८०	९६			१)६६
	१९५५-५६	५०१	१०८	अन्त: प्रान्तीय नाटकाङ्क	१)५०	१)५४
*	१९५६-५७	५०१	११८	आधुनिक उपन्यास अङ्क	१)	१)७८
	१९५७-५८	५५६	१२८	(१) भाषा विज्ञान विशेषाङ्क	२)	१)८४
				(२) प्रगति विशेषाङ्क	१)	
*	१९५८-५९	५५८	१३४	(१) सन्त-साहित्य विशेषाङ्क	१)५०	१)९०
*				(२) ऐतिहासिक उपन्यास अङ्क	२)	
	१९५९-६०	५२०	१२४	(१) रीतिकाव्यालोचनाङ्क	२)	१)८४
				(२) प्रगति अङ्क १९६०	१)	
	१९६०-६१	५०८	१०५	(१) शोध विशेषाङ्क	२)	१)९०
*				(२) प्रगति विशेषाङ्क १९६१	१)	
	१९६१-६२	५८४	१३४	(१) निबन्ध विशेषाङ्क	२)	१)९५
				(२) निराला विशेषाङ्क	१)	
*	१९६२-६३	५२५	१२४	(१) साहित्य-शास्त्र विशेषांक	१)५०	१)९५
*				(२) रांगेय राघव स्मृति अंक	१)	
*				(३) शिवपूजनसहाय स्मृति अंक	)५०	

मोटी वस्ली की जिल्द, आवरण पृष्ठ और विषय-सूची के साथ

प्रत्येक फाइल का मूल्य ६) है। पृथक-पृथक मँगाने पर डाक-व्यय २१)३४ न० पै० लगेंगे जैसा प्रत्येक फाइल के सामने लिखा है। पूरा सैट एक साथ मँगाने पर रेल से हम अपने खर्चे पर ७२) में आपके पास भेज देंगे। आर्डर भेजते समय आप अपने रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखें।

पहले पाँच वर्षों की फाइल बहुत कम बची हैं। १९५१ से पूर्व का एक भी अङ्क शेष नहीं है।

* चिन्हित विशेषाङ्क फुटकर प्रतियों में भी मिल सकेंगे—शेष सभी विशेषाङ्क फाइलों में ही मिलेंगे।

'साहित्य-सन्देश'

आलोचना-प्रधान मासिक-पत्र वार्षिक मूल्य ५)

पता—'साहित्य-सन्देश' कार्यालय, आगरा।

साहित्य सन्देश

सम्पादक : महेन्द्र   सहकारी : डॉ० मक्खनलाल शर्मा

भाग २५]   आगरा—मई १९६४   [अङ्क ११

हमारी विचारधारा

महान् साहित्यकार नेहरू—

नेहरूजी के सम्बन्ध में जितनी सामग्री उनके स्वर्गवासी होने के पश्चात् दृष्टिगोचर हुई है उसमें उनके गुणों पर प्रकाश डाला गया है। किसी ने उन्हें महान् राजनीतिज्ञ कहा है तो किसी ने लोकतन्त्र का सर्वश्रेष्ठ पुजारी। किसी के लिए वे शांति के श्रेयष्कर अनुष्ठान करने वाले थे तो दूसरों के लिए सर्वाधिक प्रिय जन-नेता। कोई उन्हें तारुण्यमूर्ति कहता है तो दूसरा उन्हें विज्ञान युग का नवीन मानव घोषित करता है। ये सभी कथन अपने स्थान पर सत्य हैं किन्तु इन सबसे अधिक बड़ा सत्य यह है कि वे मूलतः साहित्यकार थे, और कुछ तत्पश्चात्। उन्होंने १९३७ में छद्म नाम से अपने सम्बन्ध में जो लेख लिखा था और जो कलकत्ते से माडर्न रिव्यू में प्रकाशित हुआ था[१], उसका एक उद्धरण देना अनुपयुक्त न होगा।

"जवाहरलाल की जय! राष्ट्रपति ने आँखें ऊपर उठाईं और अपनी प्रतीक्षा में खड़ी भीड़ के बीच से वे तेजी से निकल गए, उन्होंने अपने हाथ ऊपर उठाए, और उनके पीले और कठोर चेहरे पर मुस्कान की एक रेखा दौड़ गई।····मुसकान गायब हो गई और चेहरे पर फिर कर्कशता और उदासी छा गई। कुछ ऐसा लगा, जैसे इस मुसकान और मुद्रा में कोई सच्चाई नहीं है····धुर उत्तर से कन्याकुमारी तक उन्होंने किसी ऐसे पराक्रमी सीजर के समान अभियान किया है, जो अपने पीछे सुयश का प्रकाश और विजय की गाथाएँ छोड़ गया है। क्या ये सब क्षणस्थायी कल्पना है जिससे वे अपना विनोद करते हैं····या यह उनकी शक्ति की महत्त्वाकांक्षा है, जो उन्हें एक भीड़ से दूसरी भीड़ की तरफ खींचती है··· अगर इस कल्पना ने रूप बदला तब क्या होगा। जवाहरलाल जैसे व्यक्ति बड़े और भले काम करने की अपनी समस्त क्षमता के बावजूद, लोकतन्त्र के लिए खतरे से खाली नहीं हैं। वे अपने को लोकतन्त्रवादी और समाजवादी कहते हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे ऐसा दिल से कहते हैं····जवाहरलाल फासिस्ट नहीं हो सकते····उनके भीतर का आभिजात्य इतना परिष्कृत है कि वह फासिस्टवाद के भौंड़े और भदेसपन पर कभी नहीं उतर सकता। इतना तो उनका चेहरा और स्वर ही बतलाता है···फिर भी उनका सम्पूर्ण मानसिक गठन ऐसा है कि उन्हें तानाशाह बनादे।'

अपनी यह आलोचना नेहरूजी ने इसलिए लिखी थी कि कहीं कांग्रेस उन्हें तीसरी बार अपना राष्ट्रपति

[१] The Modern Review (Calcutta) Vol. 62. Nov. 1937. Page 546—547.

न बनादे। इस उद्धरण में हमें नेहरूजी की मुद्राङ्कन क्षमता, भाव और विचारों को एक दूसरे के सामने रखकर उनका तारतम्य बिठाने की शक्ति तथा भाषा पर अधिकार आदि गुणों का अच्छा परिचय मिल जाता है।

नेहरूजी की अनेक रचनाओं में से तीन का विशेष महत्त्व है, और ये हैं 'मेरी कहानी', 'विश्व इतिहास की झलक' और 'हिन्दुस्तान की कहानी'। उन्होंने सर्वप्रथम अपनी आत्मकथा लिखी और उसके बाद आत्मविश्वास जग जाने पर उन्होंने अन्य ग्रंथ लिखे। यद्यपि इनमें से कोई रचना साहित्यिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं है फिर भी इनको पढ़ने पर हमें पता चलता है कि उनमें एक श्रेष्ठ साहित्यकार के सभी गुण हैं तथा इन रचनाओं में स्थान-स्थान पर हमें इन गुणों के इतने परिष्कृत एवं अभ्यस्त रूप में दर्शन हो जाते हैं कि दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। अपनी रचनाओं के हिन्दी अनुवादों में वे इतने जागरूक और सतर्क रहते थे कि अपने अत्यधिक व्यस्त समय में कुछ मिनट इसके लिए भी निकाल लेते थे। उनकी सस्ता साहित्य मण्डल के मन्त्री श्री मार्तण्ड उपाध्याय के साथ हुई बातचीत से पता चलता है कि वे अनुवाद के सही गुणों से किस गहराई के साथ परिचित थे और अपनी रचनाओं के अनुवादों में उनका प्रयोग चाहते थे—

"पहला वाक्य पढ़ते ही तेज होकर बोले—"आप लोग तर्जुमा करते हैं या मजाक करते हैं? अरे इस जुमले का सीधा सा तर्जुमा करते 'ईद का चाँद' या 'दूज का चाँद'! इतना लम्बा अंग्रेजी जैसा ही तर्जुमा कर डाला। कुछ नहीं। लोग तर्जुमा करना जानते ही नहीं। जैसा अंग्रेजी में लिखा है, वैसा ही हूबहू हिन्दी में उतार देते हैं। अरे भाई, अँग्रेजी के मुहावरे, अंग्रेजी का ढङ्ग अलग है, अपनी जबान का अलग। अँग्रेजी को पढ़कर, हजम करके, उसे अपनी जबान में लिखो।....उन्होंने फिर दूसरा पन्ना उलटा, तीसरा उलटा और एक जगह नये अध्याय पर अटक कर बोले—"यह तर्जुमा कौन कर रहा है? अरे भाई, आप लोग जुगराफिया भी पढ़े हैं? शहरों के नाम के ठीक से हिज्जे भी नहीं करना जानते। यह लुजां क्या बला है?" मैंने कहा—"वह गलती होगई मालूम होती है। लोसान करना था, जल्दी में वह रह गया।" एक दम जैसे उनको कोई झटका लगा और वे बोले—"जानते हो न बूझते हो लोसान चाहिए था। अरे साहब, वह न लुजां है और न लोसान वह है लोजान।' मैं हक्का बक्का सा खड़ा रहा। देखकर बोले—'आपकी समझ में आया नहीं मालूम होता है लाइए कागज कलम....' और यह कहते कहते उन्होंने अपनी जेब से कलम निकाली और बोले—"ऐसे लिखा जाता है लो—जा न।" और उसी कागज पर तीन बार 'लोजान' शब्द उन्होंने लिख डाला।" फिर एक दम विचार मग्न और गम्भीर होकर बोले—"असल में तरजुमा का काम है बड़ा कठिन। सब ठीक से नहीं कर पाते। कोशिश करना कि ठीक तरजुमा हो।"

साहित्यिक प्रयासों के सम्बन्ध में वे कितने जागरूक थे, इस उद्धरण से उसका पता चल जाता है।

नेहरूजी की वसीयत एक श्रेष्ठ साहित्यिक रचना है। उसमें संस्कृति और गङ्गा का ऐसा श्रेष्ठ चित्र दिया गया है जो अच्छे से अच्छे साहित्यकारों से टक्कर ले सकता है। छायावादी कवि जिस प्रकार गङ्गा का मानवीकरण करता है उसी प्रकार नेहरूजी ने भी उसे विविध रूपों में देखा है। वे उसके बदले हुए मूडों को पहचानते हैं और उसके साथ जुड़ी हुई संस्कृति की अनेक कड़ियों पर विचार करते हैं। वे लिखते हैं—

गङ्गा हमारी सदियों पुरानी सभ्यता और संस्कृति का प्रतीक रही है। हरदम बदलती और हरदम बहती रहती है। वह मुझे हिमालय के हिमाच्छादित शिखरों और वादियों की याद दिलाती है, जिनसे मेरा लगाव और प्यार बहुत ज्यादा रहा है। गङ्गा मुझे नीचे के उन शस्य श्यामल मैदानों की याद दिलाती है जहाँ मेरी जिन्दगी और मेरे काम ढले हैं। सुबह की रोशनी में मुस्कराती-नाचती गंगा मुझे याद आती है और शाम के सायों के साथ साँवली, उदास और रहस्यों से ओत प्रोत होती हुई भी मुझे वह याद आती है—जाड़ों में सँकड़ी, धीमी पर उसकी मोहने वाली लोच

याद आती है। बरसात में फैलती हुई समुद्र की तरह गरजती याद आती है। गङ्गा में कहीं समुद्र जैसी विनाश की भी शक्ति मुझे लगती है। और इस सबकी वजह से गङ्गा मेरे लिए भारत के अतीत का प्रतीक और उसकी स्मृति है जो वर्तमान में दौड़ी चली आती है और भविष्य के महा सागर में विलीन होती है।"

गङ्गा का यह वर्णन साहित्य के श्रेष्ठतम वर्णनों के समान उत्कृष्ट कोटि का है। नेहरूजी ने गङ्गा के साथ अपनी आत्मीयता ही प्रकट नहीं की है वरन् उनका समूचा व्यक्तित्व ही उसके साथ तादात्म्य कर उठा है। वे उसके विविध रूपों पर मुग्ध हैं। यह वर्णन गङ्गा के सौन्दर्य का वर्णन करके ही नहीं रह जाता वरन् वह उसकी Sublimity का स्पर्श करता है। इसमें वे केवल मुग्ध होकर रह गए हों, इतना मात्र नहीं है वरन् वे समर्पण के उन अमूल्य क्षणों की अनुभूति को उपस्थित कर सके हैं जो दुर्लभ है।

नेहरूजी ने भारतीय संस्कृति और कलाओं के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि हमें इनके समन्वय तथा एक दूसरे के पास लाने का प्रयास करना चाहिए। जब हम अपने को दूसरों से अलग रखने का प्रयास करते हैं तब हम आगे बढ़ने की अपेक्षा पीछे लौटते हैं। वे सांस्कृतिक विकास का प्रयास करने वालों को चेतावनी देते हुए कहते हैं—

"संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में जैसे स्थापत्य-कला, सङ्गीत और साहित्य में कोई दो कलाएँ आपस में मिश्रित हो सकती हैं, जैसाकि अक्सर हुआ है और उनका सम्मिश्रण आनन्ददायक सिद्ध हुआ है। परन्तु जब ऐसी किसी चीज को सुधारने की कोशिश की जाती है, जो स्वभावतः नहीं होती और बिना विस्थापित हुए रूप धारण नहीं करती, तब एक सङ्घर्ष पैदा होता है। फिर एक ऐसी चीज सामने आती है, जो मेरे ख्याल से संस्कृति की मूलतः विरोधी है। वह है मानसिक अलगाव और जानबूझ कर अन्य प्रभावों से मस्तिष्क को बचाना।······किसी भी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का जीवन वस्तुतः एक शक्तिशाली, परिवर्तनशील और विकासशील वस्तु है।"

इससे स्पष्ट है कि नेहरूजी साहित्य, कला और संस्कृतियों के अधिकाधिक सम्पर्क और एक दूसरे के अधिक निकट लाने के पक्षपाती थे। कुछ लोगों की उनके सम्बन्ध में धारणा है कि वे आध्यात्मिक मूल्यों को अस्वीकार करते थे किन्तु उनकी निम्न पंक्तियाँ इस भ्रामक धारणा को समाप्त करने के लिए पर्याप्त हैं—

"मुझे इस विषय में कोई शङ्का नहीं कि अन्ततः आध्यात्मिक और नैतिक मूल्य ही सर्वोच्च हैं।"

वह आधार साहित्य है जिसके बल-बूते पर व्यक्तिगत, समाजगत और राष्ट्रगत सीमाएँ तोड़कर व्यक्ति अपने को समष्टि तक विस्तृत कर लेता है, उसकी सभी सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं और वर्डसवर्थ के शब्दों में आत्मा मात्र रह जाता है। नेहरूजी राष्ट्रवाद के दो पहलुओं से परिचित थे। एक रूप का उपयोग उन्होंने गान्धीजी के नेतृत्व में स्वातन्त्र्य आन्दोलन में किया और दूसरे रूप से देश और विश्व को बचाने का प्रयास अन्त तक करते रहे। वे राष्ट्रवाद के खतरनाक रूप से आगाह करते हुए कहते हैं—

"राष्ट्रवाद किसी देश के इतिहास में एक विशेष स्थिति में जीवन, प्रगति, शक्ति और एकता प्रदान करता है; परन्तु साथ ही साथ वह हमारी दृष्टि को संकुचित भी बनाता है। क्योंकि इससे हम अपने देश को संसार के अन्य देशों से कुछ अनोखा ही समझने लगते हैं। परिणामस्वरूप वही राष्ट्रवाद जो जनता के विकास का सूचक होता है, मानसिक विकास के रुक जाने का प्रतीक भी बन जाता है। राष्ट्रवाद जब सफल हो जाता है तो कभी-कभी आक्रामक बन जाता है और संसार के लिए खतरनाक सिद्ध होता है।"

नेहरूजी का यह दृष्टिकोण हमें उनकी साहित्यिक मान्यता के सार्वभौमिक रूप तक ले जाता है। नेहरूजी के विचारों की सर्वाधिक मान्यता का आधार उनकी सत्य के प्रति अडिग आस्था तथा स्थायी शान्ति के प्रयासों को बेजोड़ सहायता है। वे नेहरू परिवार के सदस्य होते हुए तथा भारतीय गणतन्त्र के प्रथम प्रधान

मन्त्री रहते हुए भी इन सीमाओं से ऊपर थे। सारा विश्व उन्हें अपना समझता था और हजारों मील दूर अपरिचित देशों के अपरिचित देहातों में रहने वाले अशिक्षित और शोषित नर-नारी उन्हें अपना रक्षक और दुःख-सुख का साथी मानते थे। यदि उनका मानवीय दृष्टिकोण इतना व्यापक और स्थायी आधार पर टिका न होता तो उनके कट्टर विरोधी आज उनका स्मरण इतने मार्मिक और दर्द भरे शब्दों में न करते। उनकी चेतना किसी भी भाषा के श्रेष्ठतम साहित्यकार की चेतना से अधिक संवेदनपूर्ण तथा भविष्य में आस्था रखने वाली सिद्ध होती है।

साहित्य-सन्देश-परिवार उनकी आत्मा की शान्ति के लिए भगवान से प्रार्थना करता है।

———

हमारा आगामी विशेषाङ्क—

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की जन्म-शती के पावन अवसर पर साहित्य-सन्देश-परिवार ने यह निश्चय किया है कि एक विशेषाङ्क जुलाई अगस्त सन् १९६४ ई० में निकाला जाय। इस विशेषाङ्क की अनुमानित निबन्ध-सूची नीचे दी जारही है। आशा है 'सन्देश' के कृपालु लेखक तथा सहृदय पाठक आवश्यक सहायता समय से रहते देंगे। सभी लेखक बन्धुओं से अनुरोध है कि वे विषय सूची में से कोई शीर्षक या अपनी रुचि का कोई अन्य शीर्षक स्वीकार करके हमें सूचना देने की कृपा करें। सभी प्रकार की प्रकाशन सामग्री तथा लेखादि हमें १५ जुलाई तक हर दशा में मिल जाने चहिये।

आचार्य द्विवेदी के सम्बन्ध में हमारा यह दूसरा विशेषाङ्क होगा। पहला विशेषाङ्क उनके निधन के अवसर पर निकला था, जब साहित्य सन्देश अपने पहले या दूसरे वर्ष में बाल्यावस्था में था। वह अङ्क अब अप्राप्य है। द्विवेदीजी पर हमारा यह दूसरा विशेषाङ्क हम आशा करते हैं साहित्य के मनीषियों के लिए उपयोगी होगा।

अनुमानित विषय सूची

आचार्य द्विवेदी जन्म शती-अङ्क—

१—द्विवेदीजी का जीवनचरित।
२—व्यक्तित्व।
३—द्विवेदी और उनका युग।
४—द्विवेदी साहित्य की पृष्ठभूमि।
५—द्विवेदीजी और उनके पूर्ववर्ती।
६—द्विवेदी साहित्य का परिचय।
७—द्विवेदीजी की कविता।
८—द्विवेदीजी की आलोचना।
९—द्विवेदीजी के निबन्ध।
१०—द्विवेदीजी और सरस्वती।
११—सम्पादकाचार्य द्विवेदीजी।
१२—द्विवेदीजी द्वारा भाषा सुधार।
१३—द्विवेदीजी के अनुवाद।
१४—द्विवेदीजी की भाषा-शैली।
१५—द्विवेदी साहित्य में हास्य-व्यंग्य।
१६—द्विवेदीजी बाल-साहित्य और स्त्री-साहित्य की भूमिका में।
१७—द्विवेदीजी और उनका सम-सामयिक साहित्य तथा साहित्यकार।
१८—द्विवेदीजी के पत्र और भाषण।
१९—द्विवेदीजी और हिन्दी संस्थाएँ।
२०—द्विवेदीजी के काव्य-सिद्धान्त।
२१—द्विवेदीजी का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव।
२२—द्विवेदीजी की हिन्दी साहित्य को देन।
२३—द्विवेदीजी और उनके युग पर हुआ शोध-कार्य।
२४—द्विवेदी-साहित्य : एक पुनर्मूल्याङ्कन।

———

साहित्य और भावी समाज रचना

डा० मक्खनलाल शर्मा

साहित्य और समाज का सम्बन्ध आज जिस रूप में स्वीकार किया जाता है प्राचीन काल में इन सम्बन्धों की स्वीकृति भारतीय काव्यशास्त्र में कुछ भिन्न प्रकार से हुई है। काव्योद्देश्यों का वर्णन करते हुए काव्य-प्रकाशकार ने जो यश, अर्थ, व्यवहार-कौशल या लोक-मङ्गल जैसे तत्वों को स्वीकृति प्रदान[1] की है, उसमें साहित्य और समाज का महत्वपूर्ण सम्बन्ध ही घोषित किया गया है।

यदि किसी भी साहित्य के इतिहास का अवलोकन करें तो हमें यह स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है कि उसने समाज से जितना ग्रहण किया है उसे ब्याज सहित चुकाने की चेष्टा की है। जो कलावादी साहित्य को जीवन से असम्पृक्त मानकर चलते हैं वे भी जब साहित्य-रचना करने बैठते हैं तो सामाजिक आधार को छोड़ नहीं पाते। उनकी मान्यता का प्रतिवादी रूप इस तथ्य में निहित है कि जीवन को साहित्य द्वारा निर्दिष्टित करने का प्रयास नहीं होना चाहिए। ये लोग शुद्ध आनन्द के लिए कला के प्रयोग की बात कहते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि साहित्य और कला आनन्द का ध्येय लेकर चलते हैं किन्तु जो आनन्द लोकमङ्गल के तत्वों से समन्वित नहीं होता उसे आनन्द नहीं कहा जा सकता। अतः कलावादी जिस आनन्द को लोक-मङ्गल से विच्छिन्न करके चलते हैं वह कभी भी आनन्द की उस चरम कोटि को नहीं पहुँच सकता जिसके कारण कवि को महत्व प्रदान करते हुए 'कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू' कहा गया है।

साहित्य समाज की भूतकालिक स्थितियों और परम्पराओं से लाभान्वित होकर उन्हें वर्तमान से जोड़ता तथा उनका मूल्याङ्कन करता है। साहित्य का कार्य इतने पर ही नहीं रुक जाता वरन् वह भविष्य का अवगाहन भी करता है। भविष्य द्रष्टा होने के कारण कवि और काव्य पर यह उत्तरदायित्व आता है कि वह ऐतिहासिक परम्पराओं और वर्तमान यथार्थ को किन भविष्य आदर्शों के रूप में रूपायित करना चाहता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे सोचना होता है कि किस समाज व्यवस्था में पहुँचकर उसके स्वप्न साकार होंगे। अतः वह एक निश्चित स्थिति लाने के लिए तदनुकूल समाज व्यवस्था का रूप पहले खड़ा करता है। साहित्य की सारी प्रक्रिया इतनी सहज और संवेदनात्मक होती है कि उसे समझने के लिए बुद्धि पर जोर डालने की आवश्यकता पड़ती है। यह प्रयास रागात्मक बिम्बों के माध्यम से होता है। इसलिए भिन्न उद्देश्य और विचारधारा लेकर चलने वाले लोग उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते क्योंकि उसमें मुख्य स्वर प्रचारक का न होकर सृजक का होता है।

इस प्रकार हम यह समझ सकते हैं जि भावी समाज रचना का सम्बन्ध साहित्य से है। साहित्य इस कार्य को अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक अहिंसात्मक प्रक्रिया द्वारा करता है। इस साहित्यिक प्रक्रिया की दूसरी विशेषता यह है कि अन्य साधनों की अपेक्षा वह सत्य के अधिक निकट और उसे अधिकतम रूप में साकार करने की क्षमता से युक्त होता है। अतः हम यदि आज के परि-वेश को ध्यान में रखकर भावी समाज रचना के तत्वों पर विचार करते हैं तो हमें सर्वप्रथम मार्क्स के द्वन्द्वा-त्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण को समझना होता है और देखना होता है कि इसके आधारित समाज रचना हमें जहाँ पहुँचा रही है, क्या उसके द्वारा हम उस अभीष्ट स्थिति को प्राप्त कर सकेंगे जिसे प्राप्त किये बिना आज की सामाजिक और व्यक्तिगत विषमताएँ दूर नहीं

[1] काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥
—काव्यप्रकाश : प्रथम उल्लास : द्वितीय कारिका।

हो सकतीं ?

वर्ग सङ्घर्ष को मार्क्सवाद में वर्ग निराकरण का साधन माना जाने से यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ है कि क्या साध्य साधन निरपेक्ष हो सकता है ? यदि नहीं, तो वर्गाधारित संघर्ष का परिणाम वर्गनाश कैसे होगा ? इस प्रश्न के साथ ही दूसरा प्रश्न जुड़ा है कि क्या बुद्धिजीवी और श्रमजीवी वर्ग नहीं हैं ? क्या पूँजीवादी मनोवृत्ति बुद्धिजीवी के सहयोग के बिना चल सकती है ? यदि ये प्रश्न उचित हैं तो क्या आज के समाजवादी देशों में उत्पन्न नया वर्गवाद इस बुद्धिवाद का ही परिणाम सिद्ध नहीं हो जाता ?

बुद्धि को जब तक पूँजी ने खरीद कर अपने वश में रखा तब तक पूँजीवाद का बोलवाला रहा, मार्क्सवादी शब्दावली में वह प्रगतिशील रहा। जैसे ही बुद्धिवादी वर्ग अंशतः पूँजीवादी खेमे से हटकर सर्वहारा वर्ग के साथ जा मिला, वैसे ही पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में अन्तर्विरोध प्रकट होने लगा और जब जहाँ इस वर्ग का अधिक समर्थन बुद्धिवादियों ने किया, वहीं पूँजीवाद पूर्ण प्रतिक्रियावादी घोषित हुआ और एक नवीन प्रकार के वर्गवाद का जन्म हुआ। उसे सर्वहारा तथा प्रशासकों ने अलग-अलग खड़े होकर स्पष्ट किया है। जब तक बुद्धि पर एक वर्ग मात्र का आधिपत्य होगा, तब तक वर्गवाद नहीं मिट सकता। एक प्रकार के वर्ग को समाप्त करके बुद्धिवादी अन्य प्रकार के वर्ग को जन्म दे देते हैं, और कुछ समय तक सामान्य लोक उनका अनुगमन करके अपनी मुक्ति को अनुभव करता है। बुद्धिवादियों और श्रमवादियों के वर्ग ही मुख्य हैं और इन वर्गों का सहकार और समन्वय ही आदिकाल से आज तक के संघर्षों का उद्देश्य रहा है। जो इतिहास के रूप में हमारे समक्ष है और आवश्यकता इस बात की थी कि इन वर्गों का सही सहकार और आगे चलकर समन्वय किया जाय।

अब दूसरा प्रश्न है कि वर्ग सङ्घर्ष को अब तक जो वर्ग निराकरण का साधन माना जाता था तो क्या कोई ऐसा अन्य साधन उसके स्थान पर हो सकता है जो उद्देश्य की उपलब्धि के सन्दर्भ में उचित सिद्ध हो अर्थात् उससे अर्थाधारित वर्गवाद के स्थान पर अन्य वर्गवाद के खड़े होने की सम्भावना के लिए यह ध्यान रखना क्या अनिवार्य नहीं होगा ? जब तक बुद्धिवादी एवं श्रमजीवी के दो वर्ग बने रहेंगे तब तक किसी न किसी रूप में वे अपने को बदलते रहेंगे और वर्गवाद अर्थ संस्कृति या अन्य आवरणों में जीवित बना रहेगा। अतः इस वर्गवाद के मूलोच्छेदन के लिए यह आवश्यक सिद्ध हो जाता है कि बुद्धि और श्रम पर आधारित वर्गों को समाप्त किया जाय। प्रत्येक बुद्धिवादी जब तक अपनी आवश्यकता पूर्ति भर के लिए श्रम नहीं करता तब तक यह सम्भव नहीं होगा कि श्रमजीवियों का शोषण रुक सके और उन्हें केवल अपने लिए ही श्रम करके मुक्ति मिल जाय एवं अपने बौद्धिक विकास का तथा सांस्कृतिक जीवन को समृद्ध करने का समान अवसर मिले।

अब यह प्रश्न आसान हो जाना चाहिये कि हम भावी समाज रचना यदि समानता, स्वतन्त्रता, शोषण मुक्ति एवं शासन मुक्ति की दिशा में करना चाहते हैं तो हमें वर्ग सङ्घर्ष का विकल्प खोजना होगा और उस विकल्प के खोजने में यह ध्यान रखना होगा कि वह उन्हीं दोषों को पुनः जन्म न दे दे, जिनसे मुक्त होने के लिये हमने उसे ग्रहण किया अर्थात् साधन साध्य के अनुकूल हो। वर्ग-सङ्घर्ष वर्ग-विहीन समाज दशा तक नहीं पहुँचा सका है तभी तो उसके त्याग का प्रश्न उठता है। मार्क्स ने समाज का आदर्श जिस रूप में प्रस्तुत किया है। उससे कोई बड़ा आदर्श अभी समाज के समक्ष नहीं आया है। अतः अभी तो उसी को प्राप्त करने के साधन का प्रश्न है। मार्क्स ने जो साधन बताया था और प्रगति के जिन भागों की स्थापना की थी वे सत्य सिद्ध नहीं हुए। समाज का रूप विज्ञान की नवीनतम शोधों तथा विश्व सङ्गठन आदि ने इतिहास को उन दिशाओं में यान्त्रिक रूप से नहीं बढ़ने दिया है जिनकी कल्पना मार्क्स ने की थी और जिनके आधार पर मार्ग निश्चित किया था। इतिहास से निर्णय लेने से भी मार्क्स ने एक दृष्टिकोण विशेष पर आग्रह रखा था अतः उसके परिणाम भी सार्वभौमिक

नहीं बन सके। मार्क्स अत्यन्त मेधावी और उदार था। अतः उसने अपने विचार में भी सुधार एवं विकास के क्रम की सम्भावना द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त को प्रतिपादित करके करदी है। आज हमें रूढ़िवाद को त्याग कर मार्क्स को उसकी सीमाओं में स्वीकार करना चाहिए। वर्ग सङ्घर्ष के आधार पर आज विश्व-शान्ति, निशस्त्रीकरण आदि के प्रश्न हल नहीं हो सकते अतः महान मार्क्सवादी चिन्तक भी सहअस्तित्व को स्वीकार कर चुके हैं। यह सहअस्तित्व वर्गसङ्घर्ष के सिद्धान्त की अगली कड़ी जैसी है जो यह सिद्ध करता है कि ऐसी किसी प्रक्रिया की नितान्त आवश्यकता है जो उद्देश्य और परिस्थिति सापेक्ष हो। इस दिशा में महात्मा गांधी और आजकल आचार्य विनोबा भावे की दृष्टि अधिक स्पष्ट मानी जा सकती है। वे इन खतरों को पहले से ही समझ कर नई तालीम के वर्ग सङ्घर्ष के विकल्प रूप में प्रस्तुत करते रहे हैं। मार्क्स-वादियों के समान उन्होंने बुद्धि को श्रम की श्रेणी में नहीं रखा है। बुद्धि को श्रम की श्रेणी में रख देने का यह दुष्परिणाम होता है कि बुद्धिजीवी सर्वहारा के साथ अपने को मिलाकर समाजवादी समाज व्यवस्था में सर्वहारा के नाम पर शासक बन जाता है। वास्तविक श्रमिक जो पहिले शोषित था क्रान्ति के पश्चात् भी स्वामी नहीं होता। सम्पूर्ण समाजवादी विश्व सञ्चा-लन मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग का रहा है। मार्क्सवाद में आर्थिक शोषण पर अधिक जोर दिया गया था। इसलिये पूँजीवादी समाज व्यवस्था में होने वाला आर्थिक शोषण तो वहाँ नहीं है किन्तु श्रम और पूँजी दोनों पर बुद्धि शासन कर रही है। जब तक बुद्धि श्रम और पूँजी का समन्वय नहीं होगा तब तक कोई भी व्यवस्था वर्गवाद को नहीं रोक पावेगी।

मार्क्सवाद हमें विज्ञान पर आधारित होने की शिक्षा देता है। हमारा जीवन विज्ञानानुमोदित तभी माना जावेगा जब हम शरीर और बुद्धि दोनों के सम्पर्क समन्वय से समाज रचना करेंगे। प्रत्येक व्यक्ति को शरीर और बुद्धि दोनों शक्तियाँ प्रकृति से मिली हैं, इससे सिद्ध है कि प्रकृति की मांग शरीर श्रम एवं बौद्धिक श्रम दोनों के समन्वय से ही पूरी होती है।

आज हम एक ऐसे सांस्कृतिक ऊहापोह के युग में आगये हैं, जहाँ इतिहास, संस्कृति, कला और साहित्य के आधार के पुनर्मूल्याङ्कन की आवश्यकता आ पड़ी है। सत्य की शोध में बुद्धि अग्रसर होती रही है और उसके ये प्रयास व्यक्तिगत एवं सामूहिक, दोनों स्वरों पर हुये हैं। सत्य पर आधारित बौद्धिक प्रयासों का यह ताँता जो इतिहास के रूप में हमारे सामने है, इसको पुनर्मूल्याङ्कित होना ही चाहिए। इतिहास की आर्थिक व्याख्या अर्थ प्रधान दृष्टिकोण का परिणाम होने के कारण एकाङ्गी सिद्ध हो जाती है।

बुद्धि और श्रम का समन्वय होने का अर्थ होगा कि व्यक्ति, व्यक्ति और समाज तथा समाज और समाज के बीच वृत्तों की टकराहटें नहीं होंगी, निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों में सङ्घर्ष न होकर अभिन्नता स्थापित होगी। व्यक्ति चेतना और समाज चेतना अन्योन्याश्रित होंगी। सांस्कृतिक दृष्टि से मानव का मत जाति, वर्ग आदि की सीमाओं से ऊपर उठ जायगा। वह विश्वमानव की भूमिका में उतरेगा और विश्वसखा के अन्तरिम-युग से निकलता हुआ शासन मुक्त समाज में पहुँचेगा।

आज साहित्यकारों के सामने सबसे बड़ा कार्य यही है कि इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये साहित्य का उपयोग किस प्रकार किया जाय। उसके लिये उन सभी खतरों से विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता भी है जो चाहे आज अस्पष्ट हैं किन्तु उस उद्देश्य को प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर होने पर अवश्य ही सामने आवेंगे।

—आगरा कालेज, आगरा।

मनोविश्लेषणवादी समीक्षा : एक दृष्टिकोण

श्री राजेन्द्रकुमार गढ़वालिया

किसी भी काल के साहित्य का मूल्याङ्कन हम तत्कालीन साहित्यिक, धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों के परिवेश में करते हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने युग से किसी न किसी रूप में प्रभावित अवश्य होता है, चाहे वह साहित्यकार ही क्यों न हो। मनोविश्लेषणवादी समीक्षा का प्रारम्भ भी हिन्दी-साहित्य में अपनी इन्हीं परिस्थितियों के कारण हुआ। राजनैतिक परिस्थितियों का प्रभाव तो यह पड़ा कि वह पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क में आया और पश्चिमी हवाएँ अपने झोंकों से उसे झकोरे देती रहीं। साहित्यिक परिस्थितियाँ भी समीक्षा के लिये वही नहीं रहीं जो पहले थीं। फ्रांस से उठकर पश्चिम के विभिन्न देशों और साहित्यों को कुछ देतीं और उनसे कुछ लेती जो बयार आयी, उसने पिछले १५-२० वर्षों में हिन्दी-साहित्य को एक नया मोड़ दिया, ऐसा मोड़ जो अपने चटपटेपन के कारण नवयुग के नये साहित्यकारों के लिये विवशता ही बन गया। समीक्षक उस नये साहित्य के प्रति उदासीन बना न रह सका।

श्रीमती कॉश ने ईट्स के काव्य पर एक समीक्षात्मक पुस्तक[1] प्रकाशित कराई थी। पाश्चात्य विद्वानों ने उसे ईट्स के काव्य का सही अवमूल्यन नहीं माना, क्योंकि उसमें पर्याप्त मात्रा में 'मनोविश्लेषण सिद्धान्त' का सहारा लिया गया था। फिर, जिस देश की संस्कृति के मूल में अन्धविश्वासों पर आधारित, कथनी और करनी में भेद रखने वाला तथाकथित, 'धर्म' छिपा हो; वहाँ ऐसी समीक्षा को कब टिकने दिया जा सकता है ? कुछ दिन पूर्व हिन्दी के शीर्षस्थ कोटि के एक प्रगतिवादी समीक्षक से भेंट हुई थी। मनोविश्लेषणवादी साहित्य के सम्बन्ध में जब उन्होंने कहा—"सेक्स की बात देखकर कह दिया जाता है 'फ्रॉयड का प्रभाव है'। सेक्स इज़ ऐज़ ओल्ड ऐज़ कालिदास। जो लोग सेक्स को ही फ्रॉयड समझते हैं, उनसे पूछिये 'क्या कभी फ्रायड पढ़ा है ?' तो वास्तव में कटु लगेगा लेकिन है सत्य ही। जिन लोगों ने साहित्यिक गतिविधियों को बाँधने का ठेका ले रखा है, लगता है फ्रॉयड के यौन सिद्धान्त के विषय में थोड़ा सुनकर 'घेरे के बाहर' जैसे दो एक उपन्यास पढ़ लिये हैं। पता नहीं क्यों इन्हीं लोगों का हिन्दी समीक्षकों पर इतना आतंक छाया है कि कोई भी अपने को 'मनोविश्लेषणवादी' अथवा 'फ्रॉयडवादी' मानने का साहस नहीं करता, जैसे यह कोई गर्हित बात है। ठीक भी है, इस खेमे के जितने समीक्षक हैं उनमें से कोई भी विशुद्ध 'मनोविश्लेषणवादी' नहीं। उनकी समीक्षा में वे तत्व हैं अवश्य, जो कभी-कभी अनजाने प्रकट हो जाते हैं, पर लगता है विवशता में उनका गला घोंटा गया है। यदि दो-एक साहसी समीक्षक हैं भी, तो वे अपने इस 'दुस्साहस' के कारण बदनाम हैं।

वास्तविकता यह है कि मनोविश्लेषणवादी समीक्षा का भी महत्व है। भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य के हेतु और प्रयोजन का तो विशद विवेचन किया, किन्तु सृजन के समय साहित्य प्रणेता की मनःस्थिति आदि पर उन्होंने विचार नहीं किया। यद्यपि पश्चिम के आचार्यों का प्रारम्भ से ही इस ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है फिर भी इस क्षेत्र में फ्रॉयड की अपूर्व देन है। फ्रॉयड की कला सम्बन्धी मान्यता के तीन आधार हैं—दमन, कामवासना तथा उदात्तीकरण 'शैशवीय-दमित-कामवृत्ति' अथवा 'बाल्यकालीन-मिथुन भाव' ही 'मातृ रति' में परिणत हो जाती है तथा इसका उन्नयन या उदात्तीकरण एक विशेष आनन्द की

[1] Mrs. V. Koch—'W. B. Yeats; The Tragic phase (A Study of the Last Poems)'.

अनुभूति देता है। यह आनन्द रेचन से प्राप्त होता है। कला और साहित्य 'दमित कामवृत्ति' या 'मिथुन-भाव' की अभिव्यक्ति का सबसे सुन्दर साधन है। इस प्रकार हिन्दी-समीक्षा को इस समीक्षा प्रणाली ने प्रथम बार साहित्य-स्रष्टा की रचना-प्रक्रिया समझने का अवसर दिया। किन्तु 'दमित-कामवृत्ति' या 'मिथुन भाव' की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में एक बात अवश्य कही जा सकती है कि वह 'स्वस्थ' और 'अस्वस्थ' दोनों प्रकार की हो सकती है। 'स्वस्थ' अभिव्यक्ति वाला साहित्य ही चिरस्थायी और समाज के कल्याण का हेतु है। फ्रायड के सिद्धान्त का यह एक बड़ा दोष है कि वह 'श्रेष्ठ' और 'निकृष्ट' कलाओं को एक ही धरातल पर रखता है, क्योंकि उसके अनुसार कला स्वप्न की भाँति स्वाभिव्यक्त क्रिया है।[1] समीक्षक केवल यथातथ्य निरूपक ही नहीं, उचित-अनुचित का निर्णायक भी है। यदि वह साहित्य-स्रष्टा की तुला है तो निकष भी। 'अस्वस्थ' अभिव्यक्तियों वाले निकृष्ट साहित्य के सृजन का गत्यवरोध इसी समीक्षा-प्रणाली से सम्भव है। इस सम्भावना में सन्देह रखने वाले देख सकते है कि किस प्रकार 'समीक्षक' का अंकुश 'घेरे के बाहर' के लेखक को उसकी प्रारम्भिक मान्यताओं के घेरे से बाहर निकाल कर 'हथौड़े और चोट' तक ले आया है।

हाँ, एक बात अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी कि इस खेवे के समीक्षक साहित्यिक चरित्रों तथा 'रचना-प्रक्रिया' समझने के नाम पर साहित्य-स्रष्टा में 'काम-ग्रन्थियों' की खोज करने ही निकल पड़े, इसे दुराग्रह ही कहा जा सकता है। समीक्षा के नाम पर साम्प्रदायिकता का पक्षपाती मैं नहीं। केवल नाम भर की उस साम्प्रदायिक समीक्षा का मैं विरोधी हूँ जिसकी प्रवृत्ति है फ्रॉयड के चरणों में प्रस्तुत मनोविश्लेषणवादी तुलसियों की 'विनय पत्रिकाओं' पर आँखें बन्द कर 'गद्गद भाव' से 'सही' लगा देना तथा मनोविश्लेषणवादी प्रभाव से अछूते साहित्य के विरुद्ध यह शोर मचाना—"तुम कहाँ इधर चले आरहे हो? यह हमारा घेरा है, हमारा चौका है, न तुमने अवचेतन की नदी में स्नान किया, न तुमने फ्रॉयड से दीक्षा ली—अछूत! अछूत!!" समीक्षक तो एक साफ सुथरा दर्पण है जिसमें साहित्य का जैसे का तैसा बिम्ब झलकता है।

एक बात और, मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण से हिन्दी-साहित्य की कतिपय विधाओं—प्रमुखतः कथा-साहित्य और प्रयोगवादी काव्यधारा—के अब तक के समीक्षात्मक अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि वहाँ 'मनोविश्लेषण सिद्धान्त का आंशिक विवेचन हुआ है और समीक्षकों ने केवल प्रभाव पर दृष्टि रखी है। प्रभावागम के स्रोतों का विवेचन नहीं किया। स्रोतों के विवेचन के लिये यद्यपि एक स्वतन्त्र लेख की ही आवश्यकता है, पर यहाँ इतना कहकर ही काम चलाया जा सकता है कि इस प्रभाव के तीन स्रोत हैं—सिद्धान्तों का अध्ययन, प्रभावित पाश्चात्य कला और साहित्य का सम्पर्क तथा हिन्दी में प्रभावित युग-परम्परा। कुछ साहित्यकार ऐसे हैं जिन्होंने व्यक्तिगत रूप से फ्रायड तथा उसके समकालीन मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों का यथेष्ट अध्ययन किया है, पर हैं ऐसे इने-गिने ही। इन साहित्यकारों में 'मनोविश्लेषण सिद्धान्त' के प्रति खुला आग्रह है, क्योंकि इनमें से कुछ तो उसी 'उपचार-गृह' में जा पहुँचे हैं, जहाँ से फ्रायड ने दर्शन और कला की ओर अपनी यात्रा आरम्भ की थी, पर हैं ये भी दो-एक ही। प्रशंसनीय बात यह है कि कुण्ठाग्रस्त रोगियों का उपचार करते-करते वे अन्तर्मन के रहस्यों को समझने लगे हैं और इसीलिये अपनी वास्तविकता को आवरण में लपेट कर प्रकट करने की अपेक्षा यह स्वीकार कर लेना 'अपने स्वास्थ्य' की दृष्टि से अच्छा समझते हैं—"मैं साहित्यकार के साथ मानस-चिकित्सक भी रहता आया हूँ।" दूसरे प्रकार के कवि और लेखक वे हैं जिन्होंने मनोविश्लेषण सिद्धान्त का अध्ययन चाहे न किया हो पर पाश्चात्य साहित्य और कला के प्रभावित अंश का अध्ययन कर उसी के अनुकरण पर उन प्रवृत्तियों को ग्रहण कर लिया। ऐसे साहित्य-सर्जकों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है, यद्यपि बहुत अधिक

[1] Mrs. Langer—'Feeling and Form.' pp. 240.

नहीं। वास्तविक अर्थों में साहित्यकारों के यही दो वर्ग, जिन्हें मैं बौद्धिक की संज्ञा भी दे सकता हूँ, हिन्दी में इस नवीन धारा के अधिष्ठाता हैं। शेष तो वे हैं जिन्होंने हिन्दी-साहित्य की गतिविधियों के 'प्रहरियों' की भाँति 'मनोविश्लेषण' का नाम सुना तथा उक्त दोनों वर्गों के साहित्य की 'गन्ध' भर ग्रहण की और 'यशसे अर्थकृते' तथा शायद 'स्वास्थ्यकृते' भी 'संज्ञा' देने की नवीन विधियों के अनुसन्धान के बहाने अपनी 'दमित कामवृत्ति' का 'उन्नयन' प्रारम्भ कर दिया। पर मनोविश्लेषण से प्रभावित साहित्य का सामान्य बोध इसी प्रकार के साहित्य के रूप में होता है।

जैसा कि मैं ऊपर स्पष्ट कर चुका हूँ, 'मनोविश्लेषणवादी' समीक्षकों की दृष्टि अब तक साहित्य-प्रणेता तथा चरित्रों के ही मनोविश्लेषण की ओर रही है, पाठक के मनोविश्लेषण तथा उस पर पड़ने वाले उन कृतियों के प्रभावों की अवहेलना की गयी है। इस समीक्षा प्रणाली को सन्तुलित और खरी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि समीक्षक का ध्यान पाठक के मनोविश्लेषण पर भी रहे। समीक्षक को इस बात का निर्भ्रान्त बोध होना चाहिये कि साहित्य और समाज का स्वास्थ्य क्या चीज है। मैं जानता हूँ कि हिन्दी के कुछ समीक्षक यह भली प्रकार समझते हैं कि "नादान उत्साहियों के हाथों में पड़कर फ्रॉयड की दुर्दशा और साहित्य की छीछालेदर भी हिन्दी में कम नहीं हुई; क्योंकि फ्रायड-दर्शन एक दुधारा शस्त्र है, जो दोनों तरफ काट कर सकता है।" लेकिन लगता है कि 'मनोविश्लेषणवादी' कहलाये जाने का भय उन्हें उसी प्रकार कचोटता है जैसे छोटे-छोटे शिशुओं को होवा और इसी कारण यह समीक्षा-प्रणाली पल-पनप न सकी।

स्वतन्त्रोत्तर समीक्षा का इतिहास इतना ही है कि वह शुक्लजी के समय में प्रारम्भ हुई, शुक्लजी के द्वारा ही उसे विकास मिला और उनके बाद देशी-विदेशी परिधान धारण कर कतिपय नवीनताओं के साथ कुछेक समीक्षकों तक बँध कर रह गयी। आजकल इस दिशा में जो कुछ कार्य हो रहा है वह विभिन्न विश्व-विद्यालयों में उपाधियों के लिए उत्सुक अनुसंधेताओं के माध्यम से। यह वास्तव में संदेहास्पद है कि वह सामग्री उस कोटि की है भी, जिसे हम साहित्य-समीक्षा कह सकें? निश्चय ही इन शोध-प्रबन्धों में उस अपेक्षित स्तर का निर्वाह नहीं, फिर भी इनके माध्यम से साहित्य का पर्याप्त मूल्याङ्कन हुआ है, ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। इनके माध्यम से कुछ नवीन मानदण्ड भी सम्मुख आये हैं। यह सब कुछ कहने से मेरा अभिप्राय इतना ही है कि विश्वविद्यालयीन शोधकार्यों में भी इस समीक्षा-प्रणाली के प्रयोग पर से प्रतिबन्ध हटा लेना ही श्रेयस्कर होगा तभी साहित्य का एक नया मूल्याङ्कन सम्मुख आ सकेगा। यह तो निश्चित ही है कि जिस बौद्धिक वर्ग के ज्ञान-विज्ञान के एक अन्यतम अङ्ग के रूप में मनोविश्लेषण सिद्धान्त स्थान पा चुका है, उसी वर्ग के मध्य से नये अंकुर फूट कर शीत, ताप और वर्षा की भयङ्करताओं का स्वतः ही निवारण करते हुए बढ़ेंगे। 'प्रगतिवादी' प्रवृत्ति को 'मार्क्सवाद का हिन्दी संस्करण' कह कर अवरोध उत्पन्न करने वाले यह जानते ही हैं कि उस वेगवती धारा को वे रोक नहीं सके। हिन्दी-साहित्य में 'मनोविश्लेषणवादी' समीक्षा भी उसी की चचेरी बहिन है, उतनी ही वेगवती, उतनी ही शक्ति सम्पन्न। "हम शोध-प्रबन्धों में 'फ्रॉयडवादी' कुत्सा की कीचड़ उछलवाना नहीं चाहते" —कहने वाले साहित्यिक गतिविधियों के 'प्रहरी' इस नवीन प्रवृत्ति के झटके को रोक नहीं सकेंगे, ऐसा मेरा अपना विश्वास है।

—१०६।१३, कार्यवीर नगर, दयालबाग, आगरा।

———

उलटवाँसी और कबीर

डा० नजीरमुहम्मद

उलटवाँसी में वक्तव्य विषय को प्रस्तुत करने का एक विशेष ढङ्ग होता है। प्रतीकों का चयन उनकी विरोध वैचित्र्यपूर्ण योजना उनकी सैद्धान्तिक व्याख्या आदि बातें बँधी-बँधाई विशिष्ट प्रणाली पर चला करती हैं। इनमें आध्यात्मिक बातों का लोक विपरीत ढङ्ग से वर्णन किया जाता है। साधक परम पुरुष की प्राप्ति के लिए संसार के प्रवाह के प्रतिकूल चलना उचित बताते हैं। किसी भी प्रवाह के प्रतिकूल चलकर ही उसके मूल में बैठा जा सकता है, सृष्टि प्रवाह के मूल स्रोत परम पुरुष परमात्मा से मिलन के लिये भी संसृति की प्रतिकूल दिशा में गमन करना परमावश्यक है। अतः सांसारिक समस्त मान मर्यादाओं विधि-विधानों तथा प्राकृतिक नियमों को उलट कर ही इन उलटवाँसियों में रखा गया। संसार में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष यह क्रम सीधा और मान्य है किन्तु साधकों ने मोक्ष काम, धर्म, अर्थ को सीधा क्रम बताया। सांसारिक क्रम ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास के स्थान पर उन्होंने संन्यास, वानप्रस्थ, गार्हस्थ्य और ब्रह्मचर्य को सीधा क्रम माना। समस्त क्रिया कलापों को उलटे ढङ्ग से दिखाये जाने के कारण ही इन्हें उलटवाँसी कहा गया है। आध्यात्मिक अनुभूति को साधारण शब्दों में अभिधा द्वारा प्रकट करना अत्यन्त दुरूह है इसीलिये तत्ववेत्ता मनीषियों को इस प्रकार की उलटी बातों का सहारा लेना पड़ा।

उलटवाँसियों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से इनके मूल रूप वैदिक साहित्य में भी प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में मनुष्य शरीर के सम्बन्ध में कहा गया है—

इदं वपुर्निवचनं जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुरापः।[1]

"यह शरीर निश्चय ही ध्यान देने योग्य है। क्योंकि इसमें नदियाँ बहती हैं और जल स्थिर रहता है।" इस प्रकार के अनेक उदाहरण ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं।[1] ऋग्वेद के अतिरिक्त अथर्ववेद में भी इस प्रकार के उदाहरण हैं। अथर्ववेद का एक महत्वपूर्ण मन्त्र है—

ईह ब्रवीतु य ईयंग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः शीर्ष्णः क्षीरं दुहते गावो अस्य वव्रिवसाना उदकं पदापुः।[2]

इसी प्रकार के अनेक उदाहरण ब्राह्मण ग्रन्थों में भी मिलते हैं। उपनिषदों में ब्रह्म ज्ञान को संक्षिप्त रूप में समझाने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ भी आत्म-तत्व को अनेक उलटी सीधी वाणियों में समझाने का प्रयास प्राप्त होता है। ईशोपनिषद में कहा गया है—

तद्धावतो न्यानत्येति तिष्ठत्।[3]

यह ठहरा हुआ भी अन्य दौड़ने वालों से आगे निकल जाता है। तथा वह गतिशील और गतिविहीन है, वह दूर है और निकट भी है सबके भीतर है और सर्वत्र बाहर भी है।[4] इसी प्रकार कठोपनिषद् में कहा गया है—"आसीनो दूरंव्रजतिशयानो याति सर्वतः।"[5] श्वेताश्वेतर उपनिषद् में आत्मा को, "अणु से भी अणु महान् से भी महान् तथा जीव के अन्तःकरण में स्थित बताया है।"[6] कठोपनिषद् की भाँति यहाँ भी आत्मा

---

[1] ऋग्वेद (४-५-४७-५)

[1] ऋग्वेद (१-१-७-१५) तथा (३-४-५८-३)

[2] अथर्ववेद (९-९-५ यही मन्त्र ऋग्वेद में भी है (१-१६-४-७ ऋग्वेद)

[3] ईशोपनिषद मन्त्र।

[4] तदेजति तन्नैजति तद्दूरेतद्वन्तिके। तदनन्तरस्य तत्सर्वस्यास्यवाह्यतः। ईशोपनिषद् मंत्र।

[5] कठोननिषद (१-२-२०)।

[6] अणोरणीयान्महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितो स्यजन्तोः। श्वेताश्वतर ३-२०।

को हाथ पैर रहित वेगवान् तथा ग्रहण करने वाला कहा है। वह चक्षु रहित होकर भी देखता है और कर्ण रहित होकर भी सुनता है।[१] तैत्तरीय उपनिषद में पृथ्वी को आकाश में और आकाश को पृथ्वी में प्रतिष्ठित बताया गया है।[२]

उपनिषदों के अनन्तर ऐसी उलटी वाणियों की शरण तान्त्रिकों ने ली थी, वे अपनी साधना सम्बन्धी बातों को लोक में प्रकट करने में हानि समझते थे—

प्रकाशत् सिद्धि हानिः स्यात् वामाचार गतौ प्रिये ।
अतो वाम पथे देवी गोपयति मातृ जारवत् ।।
—विश्वसार-तन्त्र

बौद्धों के साहित्य में उलटी वाणियों के अनेक प्रयोग प्राप्त होते हैं। धम्मपद की ये गाथाएँ तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—

मातरं पितरं हन्त्वा राजातो द्वेच खत्तिये ।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनिघो यादि ब्राह्मणो।।
मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वेच सोत्थिये ।
वेटयाद्य पंचमं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो।।[३]

बौद्ध धर्म के वज्रयान और सहजयान नामक सम्प्रदायों के अनुयायी सिद्धों के भी अनेक चर्यापदों में इसी प्रकार के कथन प्राप्त होते हैं। कण्हपा, ढेण्ढणपा, कुक्कुरीपा, गोरक्षपा, डोम्बिपा इत्यादि सिद्धों की इन उलटी वाणियों को संधा भाषा के नाम से पुकारा गया है।

सिद्धों की इस संधा भाषा का प्रभाव जैन मुनियों पर भी पड़ा। मुनि रामसिंह के काव्य में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। सिद्धों की प्रतीक शैली और संधा भाषा नाथों की वाणियों में भी अवतरित हुई। नाथ साहित्य योग साधना सम्बन्धी ग्रन्थों से भी प्रभावित था। योग साधना सम्बन्धी ग्रन्थों में भी इस प्रकार के अनेक प्रयोग दिखाई देते हैं। उदाहरणतः हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है—

गोमांस भक्षयेन्नित्य पिवेदमर वारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुल घातकाः ।।[१]

अर्थात् जो योगी प्रतिदिन गोमांस खाता है तथा अमरवारुणी पीता है उसी को हम कुलीन मानते हैं अन्य प्रकार के व्यक्ति तो कुल घातक हैं।

गोरखनाथ की वाणियों में भी इस प्रकार का रहस्य प्राप्त होता है। 'उलटी चरचा गोरख गावै' कहकर गुरु गोरखनाथ ने अपनी इन रहस्यमयी वाणियों के लिए 'उलटी चरचा' शब्द का प्रयोग किया है। चमत्कार प्रवृत्ति और रहस्यात्मकता के सहयोग ने गोरखनाथ की वाणियों को अत्यन्त अद्भुत बना दिया है। एक आश्चर्यप्रद उदाहरण देखिए—

नाथ बोलै अमृत वाणी,
वरिषैगी कंवली भीजैंगा पांणी।
गाड़ि पडरवा बाँधिलै षूटा,
चलै दमामा बाजिलै ऊटा ।।

× × ×

नगरी कौ पांणी कूई आवै, उलटी चरचा गोरख गावै[२]

गोरखनाथ के अतिरिक्त अन्य नाथों की रचनाओं में भी इसी प्रकार की उलटी बातें प्राप्त होती हैं।

इतना अध्ययन कर लेने पर यह पूर्णतः प्रत्यक्ष हो जाता है कि कबीर की उलटवासियाँ भी इन्हीं की परम्परा में से हैं। कबीर ने अपनी इस प्रकार की वाणियों को उलटा वेद कहा है।[३] संसार के प्रवाह की विपरीत दिशा में चलकर साधना करने वाले व्यक्ति को उन्होंने बहुत महत्त्व दिया है। उनका कथन है कि समुद्र की अनेक लहरें उत्पन्न होकर समाप्त हो जाती हैं। इसके उलटे प्रवाह में पड़कर ज्ञान प्राप्त करने

[१] श्वेताश्वेतर उपनिषद् ३–१९।
[२] तैत्तरीय उपनिषद् ३–९।
[३] माता पिता तथा दो क्षत्री राजाओं और अनुचर सहित राष्ट्र को नष्ट करके ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है। —पकिराणवग्गो ५, ६

[१] हठयोग प्रदीपिका उप ३ श्लोक ४७
[२] गोरखवानी—सं० डा० पीताम्बरदत्त वड़थ्वाल पद ४७ पृष्ठ १४१—२
[३] है कोई जगत गुरु ग्यानी, उलटि वेद बूझै। कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १४१ पद १६०।

वाले व्यक्ति की मैं बलिहारी जाता हूँ—

केती लहरि समंद की, कत उपजै कत जाइ।
बलिहारी ता दास की, उलटी मांहि समाइ ॥[1]

उन्हें ज्ञात है कि इन उलटवाँसियों की वास्तविक अर्थ समझने वाले सन्त के लिए त्रिभुवन हस्तामलकवत् होंगे।[2] वह व्यक्ति अवश्य ही परमतत्ववेत्ता होगा अतः वे उसे अपना गुरु बनाने के लिए भी तैयार हैं।[3]

कबीर ने अपनी उलटवाँसियों में भाव प्रदर्शित करते समय अपने विशाल अनुभव, विस्तृत पर्यटन तथा महान् ज्ञान की सहायता ली है। कबीर का साधारण जनता से अधिक सम्बन्ध था। साधारण जनता को सन्देश देने के लिए ही उन्हें अपने विचारों और भावों को प्रस्तुत करना था। वे स्वयं भी साधारण जन-जीवन और उसके कार्यकलापों का अनुभव अधिक रखते थे। इसीलिए सरल और साधारण सर्वजन बोधगम्य माध्यमों द्वारा उन्होंने दृश्य और अदृश्य गूढ़ातिगूढ़ रहस्यात्मक विषयों पर भी प्रकाश डाला। स्थूल रूप में कबीर की उलटवाँसियों के माध्यमों का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है —

१—मानव शरीर गृह वन उद्यान आदि से सम्बद्ध।

२—विभिन्न प्राणियों तथा प्राकृतिक वस्तुओं के विभिन्न कार्यों से सम्बद्ध।

३—व्यक्तिगत, सामाजिक और ग्रामीण जीवन तथा उद्योग-धन्धों से सम्बद्ध।

४—कहीं-कहीं उपर्युक्त सम्पूर्ण माध्यमों को एक ही स्थान पर प्रयोग कर दिया गया है।

रचना की दृष्टि से भी कबीर की उलटवाँसियाँ कई प्रकार की हैं। कुछ उलटवाँसियों के सभी पदों में उलटी-पुलटी अनेक बातों का संग्रह कर दिया गया है अतः इस प्रकार की पूरी उलटवाँसी ही अत्यन्त गूढ़ और रहस्यात्मक बन गई हैं यथा—

एक अचम्भा देखा रे भाई,
ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ।।टेक।।
पहले पूत पीछैं भइ माइ,
चेला के गुरु लागै पाँइ।
जल की मछली तरवर ब्याई,
पकड़ि बिलाई मुरगै खाई।
बैलहि डारि गूँनि घरि आई,
कुत्ता कूँ लै गई बिलाई।
तलि करि साखा ऊपरि करि मूल,
बहुत भाँति जड़ लागे फूल।
कहैं कबीर या पद कों बूझै,
ताकूँ तीन्यू त्रिभुवन सूझै ॥[1]

दूसरी प्रकार की उलटवाँसियों के बीच में साधारण शब्दावली में रहस्यात्मक बातों को समझाने का प्रयत्न किया गया है, इनके कुछ पदों में ही उलटी बातों का संयोग है। कुछ उलटवाँसियों की पंक्तियों के अर्द्ध भाग में उलटी बातें बताई गई हैं। शेष अर्द्ध भाग में उन्हीं का प्रभाव प्रदर्शित किया गया है जैसे—

नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझहु पण्डित ज्ञानी।
पाहन फोरि गंग एक निकली, चहुँ दिसि पानी-पानी।
तेहि पानी दुइ परबत बूड़े, दरिया लहरि समानी।
उड़ि माखी तरि बर के लागी, बोलै एकै बानी।[2]

इत्यादि इसी प्रकार साखियों में भी कहीं कहीं सम्पूर्ण पदों में ही उलटी पुलटी बातों का संयोग है और कहीं कहीं केवल किसी पदांश में उलटी बात कह दी गई है। रहस्यात्मकता की भावना इनमें भी व्याप्त है यथा—

आंगणि बेलि अकासि फल अण ब्यावर का दूध।
ससा सींग की धूनहड़ी रमै बाँझ का पूत।[3]

कबीर की उलटवाँसियों में निहित गूढ़ विचार और रहस्य की भावना असाधारण स्तर की है तथा वे समझने के लिए असाधारण ज्ञान की आवश्यकता रखती हैं।

---

[1] कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ५० साखी ११।

[2] कहै कबीर या पद कों बूझै, ताकूँ तीन्यू त्रिभुवन सूझै।
—कबीर ग्रन्थावली, पद ११, पृ० ९२।

[3] सोई पंडित सो तत ज्ञाता जो इहि पदहि विचारै।
कहै कबीर सोइ गुरु मेरा, आप तिरै मोहि तारै॥
—क० ग्र० पद ९, पृ० ९१।

[1] कबीर ग्रन्थावली, पद ११, पृष्ठ ९२।

[2] कबीर-बीजक (कबीर ग्रन्थ प्रकाशन समिति हरक बाराबंकी) पृष्ठ २८, शब्द १।

[3] कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ८६, साखी संख्या ४।

कबीर की उलटबाँसियों में आध्यात्मिक उक्तियों का बाहुल्य है। इन नीरस दार्शनिक उक्तियों में उलटबाँसी की शैली के कारण एक विचित्र चमत्कार और प्रभाव आ गया है। इसमें अलङ्कार मूलक चमत्कार के साथ ही व्यञ्जना के विविध स्वरूप भी दृष्टव्य हैं। इन में विरोध भावना के साथ-साथ प्रतीक शैली और रूपक शैली का सुन्दर संयोग हुआ है। उलट बाँसियों में अधिकतर विरोध मूलक अलङ्कारों का प्रयोग है जिनमें मुख्य-मुख्य निम्नलिखित हैं :—

असम्भव—

> बैल बियाय गाय भई बाँझ।
> बछरा दूहे तीनों साँझ॥[1]

असङ्गति—

> आगणि वेलि अकास फल।
> अणब्यावण का दूध॥[2]

विभावना—

> बिन मुख खाइ चरन बिन चालै
> बिन जिभ्या गुण गावै॥[3]

इसी प्रकार अधिक, विषम, विरोधाभास इत्यादि अलङ्कारों के अनेक उदाहरण कबीर की उलटबाँसियों में मिल जाते हैं।

कबीर ने कहीं-कहीं अनेक अद्भुत घटना और व्यापारों को एकत्र कर उलटवासियों का सर्जन किया है। ऐसे स्थानों पर प्रतीकों और अलङ्कारों का प्रभाव अधिक नहीं रहता, अद्भुत रस प्रधान एक विचित्र चित्र उपस्थित होता है, पाठक आश्चर्य चकित हो जाता है।

प्रतीकों और पारिभाषिक शब्दों के आधार पर चलने वाली उलटबाँसियाँ अधिक जटिल और रहस्यात्मक बन गई हैं। राजयोग या सुरत शब्द योग जैसे विषयों के उल्लेख से भरी हुई सभी उलटबाँसियाँ इसी वर्ग में आती हैं। इनके वर्ण्य विषय एवं पारिभाषिक शब्दों के पूर्व ज्ञान के बिना उन्हें समझ पाना कठिन है। प्रत्येक उलटवासी के अर्थ तक पहुँचने के लिए उस वर्ण्य विषय की रूपरेखा का ज्ञान आवश्यक है। कबीर ने अधिकतर अपने पदों की टेकों अथवा भोगों की पंक्तियों में इस प्रकार के अनेक संकेत किए हैं जिनसे उनके वर्ण्य विषय से परिचय पाना सुगम हो जाता है। वर्ण्य विषय की दृष्टि से कबीर की उलटवासियों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१—संसार से सम्बद्ध।

२—साधनात्मक रहस्यों से सम्बद्ध।

३—आध्यात्मिक जीवन से सम्बद्ध।

४—आत्मज्ञान, माया, मन इत्यादि की परिचयात्मक।

५—सन्देशात्मक।

प्रतीकों, रूपकों विचारों और भावों की दृष्टि से कबीर की उलटवाँसियाँ सिद्धों और नाथों से प्रभावित हैं। भाषा और शैली में भी सिद्धों और नाथों का प्रभाव प्रदर्शित होता है। सिद्धों की भाषा की प्रवृत्ति दूर होते हुए भी कबीर में प्राप्य है और गोरखनाथ की भाषा तो कबीर के अत्यन्त समीप की है। साधना के अनेक अङ्गों में भी कबीर गोरखनाथ से प्रभावित हैं।

कबीर की उलटवासियों का आगे के सन्तों पर भी प्रभाव पड़ा। बाद के सन्तों ने उलटवाँसियों को विभिन्न नामों से पुकारा। सन्त सुन्दरदास ने उन्हें 'उलटी' कहा—'सुन्दर सब उलटी कहै समुझै सन्त सुजान।'[1] उन्होंने उलटवाँसियों में अपना 'उलटा ख्याल' भरा—यथा—

> जाको अनुभव होइ सुजानै,
> सुन्दर ऐसा उलटा ख्याल।[2]

सन्त तुलसी साहब ने उनको 'उलटी रीती' कहा। शिवदयालजी ने उन्हें उलटी बात नाम दिया। बँगला भाषा के गोरखपन्थी साहित्य में इस प्रकार के पद 'गोरख धन्धे कहलाये। बंगाल के बाउल सन्तों की ऐसी रचनाएँ 'उलटा वावल' कही गई।

—अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

---

[1] कबीर ग्रन्थावली पद ८०।
[2] " पृष्ठ ८६ साखी ४।
[3] " पद १५६।

[1] सुन्दर ग्रन्थावली पृष्ठ ७६१।
[2] " पृष्ठ ५१० (संख्या ३)

प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य की परम्परायें

डा० मुरारिलाल शर्मा 'सुरस'

साहित्यिक परम्पराएँ—प्राकृत भाषा का साहित्य त्यन्त समृद्ध है। इसमें दो प्रकार की कृतियाँ उपलब्ध ोती हैं—(१) शुद्ध साहित्यिक (२) धार्मिक।

प्राकृत में यद्यपि शुद्ध साहित्यिक कृतियाँ बहुत कम फिर भी प्रबन्ध काव्यों में विमलदेव सूरि रचित उमचरिउ' तथा प्रवरसेन कृत 'सेतुबन्ध' का परवर्ती ाहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। विषय वर्णन एवं ली की दृष्टि से ये ग्रंथ अपभ्रंश साहित्य के लिये दीप म्भ कहे जा सकते हैं। संस्कृत साहित्य के चरित-व्यों के अनुकरण पर प्राकृत में वाक्पतिराज का उडवहो' पहला चरित काव्य लिखा गया जिसमें वि ने अपने आश्रयदाता राजा के शौर्य की प्रशस्ति ई है। यह परम्परा हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों में ज्यों त्यों उतर आई है।

इस काव्य की मुक्तक काव्य परम्परा दो रूपों में लब्ध है—(१) उपदेशात्मक (२) शुद्ध साहित्यिक। देशात्मक रचनाओं में धार्मिक एवं नीति सम्बन्धी क आते हैं। इनका प्रारम्भिक परिचय बुद्धजी के देशों - धम्मपद—के रूपों में हैं, जिनमें धार्मिक र नैतिक दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित ी हैं। प्राकृत साहित्य में 'समयसार' इसी-ार की रचना है। शुद्ध साहित्यिक कृतियों में गाथा शती तथा बजालग्ग की गाथाएँ हैं जिनमें दो ार के मुक्तक काव्य मिलते हैं—(१) नीति परक।) श्रृङ्गार परक। यही परम्परा हेमचन्द्र के अपभ्रंश ों में प्रकट होती हुई दिखाई देती है। लोक साहित्य ुद्ध तत्व की इस परम्परा का प्रभाव भर्तृहरि, रुक, शीलाभट्टारिका तथा विज्जिका की श्रृङ्गार-क रचनाओं में दिखाई देता है। गोवर्द्धन की आर्या-ती संस्कृत की इन गाथाओं की छाया है। यही , प्राकृत के इन श्रृंगारी मुक्तकों के प्रभाव से जय-देव का 'गीत-गोविन्द' भी नहीं बचने पाया।[1]

ध्वनि सम्प्रदाय एवं रस विवेचन के लिए आलं-कारिक विद्वानों ने अपने उदाहरण प्राकृत काव्यों से ही चुने। इससे स्पष्ट है कि इस समय संस्कृत काव्यों में इस प्रकार के उदाहरण अत्यल्प या नगण्य थे। हिन्दी के रीतिकालीन काव्य में यही धारा और भी अधिक विकसित हुई।

प्राकृत के लोक कथा साहित्य ने एक ओर संस्कृत के गद्य काव्यों—वासवदत्ता, दशकुमार चरित तथा कादम्बरी को प्रभावित किया और दूसरी ओर जैन प्राकृत तथा अपभ्रंश की धार्मिक आख्यायिकाओं—समराइच्च कहा, तरंगवती, कुवलय माला, वासुदेवहिंडी, भविसयत्तकहा आदि—को विषयगत तथा शैलीगत प्रेरणा दी।' कालान्तर में ये लोक कथाएँ प्रबन्ध काव्यों का ही अङ्ग बन गईं और प्रधान अथवा अवा-न्तर कथाओं के रूप में इनका प्रयोग होने लगा। हिन्दी के लोक काव्यों में कथात्मक रूढ़ियों का स्रोत प्राकृत का कथा साहित्य ही है किन्तु अपभ्रंश को बौद्ध सिद्धों वाली परम्परा के कुछ नये प्रतीकों तथा नई वर्णन शैली को जन्म दिया। यही शैली हिन्दी के निर्गुण सन्तों को परम्परागत दाय के रूप में प्राप्त हुई।

छन्द परम्परा—वैदिक तथा लौकिक संस्कृत काव्यों में वर्णिक छन्दों को व्यवहृत किया गया है किन्तु प्राकृत काव्यों में मात्रा या ताल छन्दों का भी प्रयोग प्रारम्भ हुआ। संस्कृत के वर्णिक छन्दों की ही भाँति प्राकृत में अतुकान्त छन्द लिखे गये किन्तु तुकान्त छन्दों का श्रीगणेश अपभ्रंश काल में हुआ। जिस प्रकार संस्कृत की छन्द परम्परा में अनुष्टुप का प्रयोग हुआ है उसी प्रकार प्राकृत में गाहा, गाहू, विगाथा, उद्गाथा,

[1] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (प्रथम भाग), पृ० ३०८।

गाहिनी, सिंहिनी तथा स्कन्धक शब्दों का प्रचलन आरम्भ हुआ। प्राकृत के अधिकांश मात्रिक छन्दों का मूल स्रोत 'गाहा' छन्द है। तुकान्त छन्द परम्परा के मात्रिक छन्द गेय होते थे इसलिए इनके प्रचलन से काव्य में संगीतात्मकता का समावेश हो गया, अतः अपभ्रंश के कवियों ने तुकान्त छन्दों को अपनाया। इसका यह अर्थ नहीं कि संस्कृत के अतुकान्त तथा वर्णिक छन्दों का प्रयोग संमाप्त होगया। इनका प्रयोग भी साहित्य में होता रहा किन्तु पहले की अपेक्षा कम।

संस्कृत के महाकाव्यों के 'सर्ग' प्राकृत में 'आश्वास' तथा अपभ्रंश में 'कडवक' कहे गए[1], किन्तु महापुराण, पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ तथा भविसयत्तकहा आदि आदि ग्रन्थों में सन्धि को 'सर्ग' के स्थान में प्रयुक्त किया गया। 'करकन्ड चरिउ' की 'सन्धियों' को परिच्छेउ (परिच्छेद) नाम से पुकारा गया। प्रत्येक सन्धि पुनः कडवकों (तथाकथित सर्गों) में विभक्त की गई। साहित्य में कडवक के प्रयोग में कोई एक नियम नहीं रहा। पुष्पदन्त के महापुराण में कई सन्धियों में नौ अर्धालियों के कडवक हैं और कई में १०, ११, १२ और १३ के। कभी-कभी तो एक ही सन्धि के अलग-अलग कड़वकों की अर्धालियों की संख्या भी भिन्न-भिन्न होती है।[2] स्वयंभू ने प्रायः आठ अर्धालियों (सोलह चरण) के बाद घत्ता का प्रयोग किया है और यही पद्धति उनके पुत्र त्रिभुवन ने भी अपनाई है। वस्तुतः घत्ता का प्रयोग एक छन्द को पढ़ने से उत्पन्न नीरसता (ऊब) को बचाने के लिए परिवर्तन तथा विश्राम के हेतु होता है। कुछ विद्वान अपभ्रंश के कडवक को सर्ग कहना स्वीकार नहीं करते क्योंकि अपभ्रंश के कडवक बहुत छोटे होने के कारण संस्कृत के 'सर्ग' के स्थानापन्न नहीं हैं। सन्धि या परिच्छेउ को 'सर्ग' के समानान्तर माना जा सकता है।[1] अवधी कृष्ण काव्य के प्रारम्भिक कवियों—लालचदास तथा लक्षदास—ने प्राकृत की इसी परम्परा के अनुसार अर्धालियों के बाद दोहा लिखने का कोई क्रम नहीं रखा।

बौद्ध सिद्ध कवियों ने दोहा, सोरठा, पादाकुलक, अडिल्ल, द्विपदी, उल्लाला तथा रोला आदि का प्रयोग किया है। अपभ्रंश की यह परम्परा हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों में चौपाई का कडवक बनाकर उसके साथ का घत्ता देने के साथ प्रचलित हुई। जायसी ने प्रत्येक कडवक में सात अर्धालियाँ रखीं हैं, तुलसी ने आठ। अपभ्रंश में दोहा मुक्तक काव्य का छन्द रहा किन्तु हिन्दी में उसका प्रयोग प्रबन्ध और मुक्तक के संयोग के साथ किया गया।

बौद्ध साहित्य की दूसरी देन 'पद' हैं। गीतिकाव्य की इस परम्परा ने संस्कृत साहित्य को प्रभावित किया जयदेव के 'गीत गोविन्द' तथा उसके परवर्ती कवियों विद्यापति, चण्डीदास, तथा ब्रजभाषा के अन्य कवियों पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई देता है। दूसरी ओर नाथ सिद्धों के प्रभाव से यह पद शैली गोरखबानी, कबीरदास, तथा अन्य सन्तों की रचनाओं में मिलती है। गोरखबानी के पदों में रागों का नामोल्लेख नहीं, किन्तु ये पद गेय हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। 'गुरु ग्रन्थ साहब' में सङ्कलित सन्त कवियों की रचनाओं में तो पदों [illegible] राग निश्चित हैं।

रस—यद्यपि सम्पूर्ण अपभ्रंश साहित्य शान्त र[illegible] में है, फिर भी इनमें एक ओर जीवन के [illegible] चित्र मिलते हैं, और दूसरी ओर लोक जीवन की सर[illegible] शृङ्गार युक्त झाँकी। ऐसा प्रतीत होता है कि अपभ्रं[illegible] का यह साहित्य लोक जीवन तथा लोक-साहित्य [illegible] स्पर्श करता हुआ चला है। नायिका विजेता पति [illegible] आगमन पर तो प्रसन्न होती ही है किन्तु यदि वह यु[illegible] में मारा जाय तो भी उसका दर्प घटता नहीं है क्यों[illegible] वह कायरों की भाँति अपने प्राण बचाकर तो न[illegible]

(शेष पृष्ठ ४४० पर)

[1] सर्गाः कडकाविधाः।

[2] पुष्पदन्त ने हरिवंश की ८३ वीं सन्धि के १५वें कडवक में १० अर्धालियों (२० चरण) के बाद घत्ता है और उसी सन्धि के १६ वें कडवक में १२ अर्धालियों (२४ चरण) के बाद घत्ता दिया गया है।

[1] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (प्रथम भा[illegible] पृ० ३६० ।

'सिद्धान्त और अध्ययन' का महत्त्व

डा० कन्हैयालाल सहल

श्री सुरेन्द्रनाथदास कृत 'काव्य विचार' नामक बड़ी महत्त्वपूर्ण पुस्तक बँगला में है जिसका हिन्दी अनुवाद भी अब सुलभ है। दासगुप्त महोदय ने स्वयं दार्शनिक विद्वान् होने के कारण काव्य के सिद्धान्तों का अच्छा विवेचन किया है। बाबू गुलाबरायजी की प्रस्तुत पुस्तक 'सिद्धान्त और अध्ययन' के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ यही कहा जा सकता है। बाबूजी अनेक बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दर्शन परिषद् के सभापति रह चुके हैं, यूरोपीय दर्शनों का इतिहास भी आपने लिखा है। यह अनिवार्यत: आवश्यक तो नहीं है कि आलोचक दार्शनिक विद्वान् हो ही किन्तु काव्य तत्वों का विचार करने वाला समीक्षक यदि दार्शनिक की प्रतिभा लिए हुए हो तो उसका विवेचन अधिक तत्त्वान्वेषी होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। प्रसिद्ध समालोचक अभिनवगुप्त तथा कोलरिज आदि भी सम्भवत: दार्शनिक होने के कारण ही इतनी तलस्पर्शिनी आलोचना कर सके। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक के १८ निबंधों का सङ्कलन है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण लेख हैं—(१) रस और मनोविज्ञान, (२) साधारणीकरण, (३) कविता और स्वप्न। मनोविज्ञान के अच्छे जानकार होने के कारण लेखक ने आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में रस का अच्छा विवेचन किया है। इस लेख को मैं लेखक की महत्त्वपूर्ण देन समझता हूँ। साधारणीकरण के सम्बन्ध में एक साथ विपुल सामग्री इस पुस्तक में मिलेगी। किन्तु साधारणीकरण वाले से इस बात पर प्रकाश नहीं पड़ता कि रस-सिद्धान्त की व्याख्या करते समय भट्टनायक ने इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की उद्भावना की थी। कविता और स्वप्न भी अनेक दृष्टियों से लेखक की महत्त्वपूर्ण रचना है। काव्य के वर्ण्य विषय इस पुस्तक का सबसे लम्बा निबन्ध है जिसमें भाव और विभावों का सुन्दर विवेचन है। रस-सिद्धान्त को समझने के लिए यह निबन्ध बहुत उपयोगी है।

अभिव्यञ्जनावाद एवं कलावाद का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है कि उसमें एक दुरूह विषय का बड़े सरल ढङ्ग से प्रतिपादन किया गया है। शब्द की तीनों शक्तियों को भी 'शब्द-शक्ति' तथा 'ध्वनि और उसके मुख्य भेद' में सोदाहरण समझाया गया है।

बाबूजी की शैली में स्थान-स्थान पर हास्य का पुट मिलता है। उदाहरणार्थ—

१—बाबूजी विषयी (यहाँ विषयी का अर्थ कामी नहीं है) के हृदय को साधारणीकरण का श्रेय देते हैं।

२—एक पुराने आचार्य ने तो वैश्यों के साथ सब कवियों को चोर ठहराया है। यदि वे आचार्य जीवित होते तो वैश्य लोग उन पर मान-हानि का दावा अवश्य करते और मैं भी दावे में शामिल हो जाता।

३—हमारे यहाँ के भेदों को देखकर दूसरे साहित्य वाले ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठे ब्रह्मवेशधारी मुसलमान की भाँति चिल्ला उठते हैं 'या अल्लाह गौड़ों में भी और'

पुस्तक में केवल सिद्धान्तों का ही आकलन नहीं है, लेखक ने अपने अध्ययन का लाभ भी पाठकों को दिया है। आचार्य शुक्ल ने हावों को आलम्बन की चेष्टा मान कर उद्दीपन के अन्तर्गत रखा है किन्तु विद्वान् लेखक का कहना है कि यदि नायिका को आश्रय माना जाय तब तो यह अनुभाव ही है किन्तु वह आश्रय रहती हुई भी नायक के लिए आलम्बन बन सकती है। अभिव्यञ्जनावाद एवं कलावाद में भी लेखक ने स्थान-स्थान पर शुक्लजी से अपना मतभेद प्रकट किया है किन्तु फिर भी कहीं अहंमन्यता का आभास नहीं मिलता, यह लेखक के विद्यावदात मन और उसके उच्च सांस्कृतिक व्यक्तित्व का परिचायक है। जहाँ से कोई अच्छी बात लेखक को मिल गई है, उसके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना वे नहीं भूले हैं।

"काव्य के हेतु' में भावापहरण के सम्बन्ध में कुछ अंग्रेजी आलोचकों के विचार लेखक ने दिये हैं किन्तु आश्चर्य होगा आपको। Vida नामक एक फ्रेंच आलोचक (१५२७) के विचार जानकर जो भावापहरण की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहता है—

Come, then, all ye youths! and care less of censure, give yourself up to steal and drive the spoil from every source,

काव्य, रस, ध्वनि, कला आदि के सम्बन्ध में जो जानकारी करना चाहते हैं उनके लिए यह पुस्तक बड़े काम की है। साहित्य के उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए तो यह विशेष उपयोगी है। संस्कृत परीक्षाओं में बैठने वाले छात्र भी यदि इस प्रकार की पुस्तकों का अध्ययन करें तो उनको भी विशेष लाभ हो सकता है।

लेखक की शैली में समन्वय का गुण है और जहाँ उन्होंने अपने मत की स्थापना में तर्क उपस्थित किया है वह समाधानकारक है।

—बिड़ला आर्ट्स कालेज, पिलानी।

(पृष्ठ ४३८ का शेषांश)

आया, उसने वीरतापूर्वक युद्ध करते हुए वहीं पर अपने प्राण दे दिये। अब रमणी को अपनी सखियों के सामने लज्जित तो नहीं होना पड़ेगा—

भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि म्हारा कंतु।
लज्जेजं तु वअंसिहु जइ भग्गा घर एंतु॥

दूसरी ओर 'प्रबन्ध चिन्तामणि' का दोहा उस काल के काव्यों की अन्तर्दृष्टि का परिचायक है—

एउ जम्भु नग्गुहं गिउं भडसिरि खग्गुण भग्गु।
तिक्खां तुरियण माणियां गोरी गली णलग्गु॥

'यह जन्म व्यर्थ ही गया। न सुभटों के सिर पर खड्ग टूटा, न तेज घोड़े सजाये और न गोरी (सुन्दरी) का आलिङ्गन ही किया।'

इसी प्रकार १२ वीं शती के उत्तरार्ध में अद्दहमाण (अब्दुर्रहमान) रचित ग्रन्थ संदेशरासक मेघदूत के ढङ्ग का एक शृङ्गारी गीति काव्य है जिसमें एक प्रोषितपतिका नायिका की भाँति टीस भरी करुण पुकार को तीन प्रक्रमों में लिखा गया है।

—आर्य कालेज, लुधियाना (पञ्जाब)

बारह घंटे : एक समीक्षा

श्री रामस्वरूप आर्य

'बारह घण्टे' यशपालजी की एक अभिनव कृति है, जिसमें मानवीय भावों का अत्यधिक संवेदनात्मक चित्र उपस्थित किया गया है। यह उपन्यास की अपेक्षा लम्बी कहानी के अधिक निकट है। वास्तव में कहानी जीवन के किसी एक चित्र को उपस्थित कर पाठक का क्षणिक कुतूहलवर्धन करती है, जबकि उपन्यास का उद्देश्य किसी पूर्ण जीवन की व्याख्या करना होता है। घटना एवं पात्रों की दृष्टि से भी कहानी की अपनी सीमाएँ हैं। इन बातों को दृष्टि में रखते हुए 'बारह घण्टे' को एक लम्बी कहानी कहना ही अधिक उचित होगा, यों आप इसे एक लघु उपन्यास की संज्ञा भी दे सकते हैं।

आज से दो तीन दशाब्दी पूर्व हिन्दी उपन्यास एक [illegible]यी बँधी लीक पर चलते थे। उनमें प्रायः उच्च-मध्य [illegible]र्ग की मर्यादाओं, मूल्यों और परम्पराओं का पूर्ण [illegible]यान रखा जाता था। मानव जीवन को स्वस्थ और [illegible]नरावरण रूप में प्रस्तुत करने का साहस उनमें नहीं [illegible]ा। यथार्थ से पलायन की प्रवृत्ति उनमें स्पष्ट लक्षित [illegible]ती है। यशपालजी के उपन्यासों में आरम्भ से ही [illegible]स कृत्रिम आदर्शवाद के प्रति विद्रोह पाया जाता है। [illegible]ारह घंटे' भी इसका अपवाद नहीं है। उन्होंने पुस्तक [illegible] भूमिका में ही अपने पाठकों से अनुरोध किया है [illegible] वे "विनी के व्यवहार को केवल परम्परागत धार[illegible]ाओं और संस्कारों से ही न देखें।"

आज का उपन्यासकार नैतिकता के बनावटी बंधनों [illegible] स्वीकार नहीं करता है। वह मानव मन की अन्त[illegible]था और पीड़ा के सजीव अङ्कन में ही अपने को [illegible]कार्य मानता है। किसी बात के अनावश्यक दुराव प्रवृत्ति उसमें नहीं पाई जाती है। वह सत्य को [illegible]ट करना चाहता है भले ही वह कुछ लोगों को [illegible]प्रय लगने वाला क्यों न हो। आलोच्य कृति में भी [illegible]क ने इसकी प्रमुख पात्री विनी के हृदय में उठने वाले भावों को अत्यन्त सहृदयता पूर्वक चित्रित किया है। भावों की सरिता में डूबती उतराती वह अपने आपको फेंटम को समर्पित कर देती है। लेखक इसे उसके 'जीवन का प्रयोजन' मानता है जबकि जेनी (विनी की मौसेरी बहन) उसके इस कृत्य को सर्वथा निंद्य घोषित करती है।

यशपाल फ्रायड के यौनवाद और युङ्ग की मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली से भी पर्याप्त प्रभावित हैं। 'बारह घण्टे' में यौनवाद (यदि कोई इसे यौनवाद ही कहना चाहे तो) भावों के सुन्दर आवरण में आया है। विनी और फेंटम के पारस्परिक व्यवहार में हमें तो आत्मिक आकर्षण ही अधिक दिखाई पड़ता है!

'बारह घण्टे' में मनोवैज्ञानिकता का पूर्ण आश्रय लिया गया है। इसमें कथावस्तु तो नाम मात्र की ही है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के लिए Leonedel ने अपने Psychological Novel नामक ग्रन्थ में कहा है 'There is no story—no plot' यशपालजी की इस रचना पर उक्त कथन बहुत अंशों में चरितार्थ होता है।

'बारह घंटे' की कथावस्तु इस प्रकार है—विनी अपने प्रिय पति की समाधि के दर्शनार्थ लखनऊ से प्रातः काल ही अपनी मौसेरी बहन जेनी के यहाँ नैनीताल पहुँचती है। पति की समाधि के प्रति अत्यधिक आकर्षण होने के कारण वह जेनी के बहुत मना करने पर भी अकेली ही सेमेट्री चली जाती है। वह नहीं चाहती कि लखनऊ से लाए गए ट्यूबरोज समाधि पर चढ़ने से पहले ही मुर्झा जाएँ। सेमेट्री में एक प्रौढ़ सज्जन—फेंटम से उसकी भेंट होती है जो उसी की भाँति वियोग-व्यथा से पीड़ित है और नित्य नियमित रूप से वहाँ अपनी पत्नी की समाधि पर अश्रुओं के पुष्प चढ़ाने आता है। यदि विनी के हृदय में अपने मृत

पति के प्रति अपार मोह है तो फेंटम की, पत्नी की समाधि के प्रति ममता पागलपन की सीमाओं को छू रही है। प्रथम दृष्टि में ही दोनों में संवेदनात्मक आकर्षण उत्पन्न होने लगता है, जिसका निर्वाह लेखक ने आद्यन्त अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया है।

फेंटम की मर्मव्यथा को सुनते-सुनते विनी अपने सुखद अतीत में खो जाती है और उसे ऐसा भान होने लगता है जैसे वह स्वयं मर चुकी हो और उसकी समाधि पर उसका पति रोमी आँसू बहा रहा हो। यहाँ लेखक ने अत्यन्त कलात्मक ढंग से फेंटम में रोमी का आभास दे दिया है। फेंटम की कहानी बहुत लम्बी है। स्वाभाविकता के निर्वाहार्थ समय का अन्तराल भरने के लिए लेखक ने तूफान और वर्षा की कल्पना की है। इससे वातावरण की सृष्टि में भी पर्याप्त सहायता मिली है।

वर्षा धीमी होने पर विनी रिक्शे में बैठकर चल देती है। किन्तु फेंटम को भी तो 'उसी ओर' जाना है अतः उसकी सज्जनता (जो उसके व्यवहार और वार्तालाप से प्रकट होती है) से अभिभूत जेनी उसे भी रिक्शा में बैठने के लिए आमन्त्रित कर लेती है। लेखक के शब्दों में "यह व्यथा में व्यथा का स्पर्श था, व्यथा को व्यथा का सहारा था।"

फेंटम की कहानी सचमुच दर्द से आर्द्र है। सहानुभूति वश विनी उसे सुनने के लिए रिक्शा 'वेलेरियो' रेस्तराँ के समीप रुकवा लेती है। फेंटम अपनी स्व० प्रिया सैनी के गुणों का वर्णन करते अघाता नहीं है। विनी उन्हें सुनते हुए बार बार अतीत की स्मृतियों में खो जाती है क्योंकि एक तो उसकी कहानी भी, इससे मिलती जुलती है और दूसरे, यह उसका वही चिर-परिचित रेस्तराँ है जहाँ उसने अपने जीवन के कुछ मधुरतम क्षण रोमी के साथ व्यतीत किए थे।

विनी को बीच-बीच में जेनी का ध्यान आता है 'हाय बहुत देर हो गयी। जेनी और पामर चिन्ता कर रहे होंगे।' 'होस्ट' की परेशानी उसके अन्तस् में कौंधती अवश्य है किन्तु सहानुभूति की सुखद तरङ्गों में वह तुरन्त ही खो जाती है।

वर्षा का प्रवाह फिर बढ़ने लगता है। किन्तु विनी को आखिर अपने घर पहुँचना है। वह एक रिक्शा कर लेती है। पर फेंटम की कहानी अभी अधूरी ही रह गई है। आत्मिक आकर्षण और सहानुभूतिवश वह पुनः फेंटम को रिक्शा में बिठा लेती है। फेंटम का मकान भी मार्ग में ही है। अतः फेंटम के आग्रह पर वह वहाँ चली जाती है। वहाँ आया सिवतिया को देखकर उसे तसल्ली होती है। आया एक अर्से के बाद इस घर में किसी स्त्री को देखकर और इससे भी बढ़कर स्वामी के चेहरे पर अलौकिक आभा लखकर प्रसन्नता से भर जाती है। वह उनका जी भर कर स्वागत सत्कार करती है। फेंटम की अनन्त कथा फिर चलती है। बीच-बीच में विनी का दर्द भी उभरता है। फेंटम विनी के स्वर में स्वर मिला कर कहता है— "जिन्दगी किसी न किसी के सहारे होती है। उस सहारे को अपनाये रखना ही हमारी दृष्टि में जीवन का प्रयोजन होता है। ×× जीवन के उसी प्रयोजन को हम प्यार कहते हैं। ×× जीवन का वह सहारा और प्यार छिन जाने पर जीवन का सत्व निकल जाता है।" फेंटम का एक-एक शब्द विनी के अन्तस्तल में प्रवेश करता चला जाता है और तब वह स्वयं अपने से प्रश्न करने लगती है "मैं कैसे चली जाऊँ? मेरा जाना क्या इतना आवश्यक है?" अन्त में वह फेंटम के यहाँ सैली के कमरे में रुकना स्वीकार कर लेती और अपनी कुशलता का समाचार...."मैं यहाँ बिल्कुल सुरक्षित हूँ और अपने उत्तरदायित्व समझती हूँ"— एक कुली के द्वारा जेनी के पास भिजवा देता है।

वास्तव में यह स्थल कहानी का 'चरम' है और कहानी यहीं समाप्त भी हो जाती है किन्तु लेखक अपनी ओर से कुछ टिप्पणी देना आवश्यक समझता है। यह वह लारेंस (एक पुलिस अफसर) के रूप में उपस्थित होकर विनी के व्यवहार को Justify करना चाहता और अपने अकाट्य तर्कों द्वारा जेनी और पामर को निरुत्तर कर देता है।

जेनी और पामर की उत्सुकता के चित्रण में लेखक को अभूतपूर्व सफलता मिली है। विनी का स

बार प्राप्त होने पर उनकी प्रतिक्रिया मानो उनके दिखावटी प्रेम की खिल्ली उड़ाती है। जेनी क्षोभ के वशीभूत होकर कहती है "इस डायन ने तो और मार डाला, डेविल टेक हर! उफ इन्सान भी क्या है? सुबह किस हालत में गयी, साँझ तक बारह घण्टे में ही कुतिया बन गई।"

कहानी में दो पात्र प्रमुख हैं, विनी और फेंटम। इन्हीं को लेकर कथा आगे बढ़ती है। ये दोनों ही सहृदयता की सजीव मूर्ति हैं। सहृदयता का यह सूत्र ही दोनों को आकर्षण के बन्धन में बांध देता है। अन्य पात्र हैं जेनी, उसका पति पामर और पुलिस अफसर लारेंस। जेनी पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करती है। उसके हृदय में बहन के प्रति प्रेम अवश्य है लेकिन वह अपनी परम्परागत दुर्बलताओं से ऊपर नहीं उठ पाती है। वह यह नहीं देख सकती कि उसकी बहन नवीन परिस्थितियों में अपनी आवश्यकताओं के अनुसार किसी से सहज स्वाभाविक सहानुभूतिपूर्ण सम्पर्क स्थापित करे। पामर भी आज के प्रियासेवी पति की भांति जेनी की हाँ में हाँ मिलाता है। प्रेम, विवाह और नैतिकता के सम्बन्ध में उसके विचार एकदम घिसे-पिटे हैं। वह कहती है "मैरिजेज आर मेड इन हैवेन। लव इज स्प्रिचुअल" और पामर उसका समर्थन करता है "निश्चय, नहीं तो विवाह और प्रेम के सम्बन्ध का स्थायित्व क्या हो सकता है?" किन्तु लारेंस उनके इन भारी भरकम वाक्यों को अपने अद्वितीय तर्कों द्वारा छिन्न-भिन्न कर देता है। लारेंस के माध्यम से यशपालजी ने अपने 'बेटन' का प्रयोग किया है। वे सती सावित्री का उदाहरण देते हैं "उसने यम से झगड़ा किया। अपने प्रेम की पार्थिव याद रखी। पार्थिव आवश्यकता के लिये यम से सशरीर सत्यवान को मांगा" आगे चलकर वे कहते हैं "तुम्हारी दृष्टि में जीवन के सहारे या प्रेम की पूर्ति के साधन के अभाव का कोई महत्व नहीं? × × तुम उस भावना और प्रेरणा को अभिव्यक्ति करने वाली आवश्यकता की खिल्ली उड़ाना चाहते हो।"

'बारह घण्टे' में कथोपकथनों की योजना भी दृष्टव्य है। सम्पूर्ण कहानी का भवन कथोपकथनों के आधार पर ही टिका हुआ है। विनी और फेंटम के वार्तालापों में उनके हृदय की सहज अभिव्यक्ति हुई है। जेनी और पामर के कथोपथनों से उनके चरित्र पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। पात्रों के वार्तालाप में अंग्रेजी शब्दों एवं वाक्यांशों के प्रयोग से और भी सजीवता आ गई है। लारेंस और कुली के वार्तालाप में स्वाभाविकता का निर्वाह हुआ है।

कहानी की सबसे बड़ी विशेषता है देश-काल एवं घटना ऐक्य। लेखक ने केवल बारह घण्टे में घटित घटनाओं को एक सूत्र में पिरोकर पुस्तक के नाम की सार्थकता को सिद्ध किया है। इसमें उसे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। फेंटम की करुण कथा आद्योपान्त दर्द से सिक्त है। विनी उसमें रुचि लेती हुई अपूर्व धैर्य का परिचय देती है। सम्पूर्ण कथा तीन स्थानों—सेमेट्री, रेस्तरां और फेंटम के भवन पर चलती है इसे हम इसका आदि, मध्य और चरम मान सकते हैं।

विनी और फेंटम के पारस्परिक आकर्षण में शारीरिकता के स्थान पर आत्मिक सम्बन्ध ही अधिक है। 'बारह घण्टे' को दृष्टिपथ में रखते हुए हमें डा० चण्डीप्रसाद जोशी का निम्न कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता—"यशपालजी का भौतिकवादी विचार-दर्शन शरीर की सत्ता प्रमुख मानता है, आत्मा उनके लिए गौण है।"[1] सत्य तो यह है कि "यशपाल ने जिन-जिन पात्रों का निर्माण किया है, वे सभी पूर्ण रूप से जनजीवन के प्रतिनिधि हैं। उनमें मानवों जैसी सङ्घर्ष, स्वाभिमान, सेक्स तथा अन्य प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। वे हमारे समाज के से व्यक्ति हैं।"[2]

विनी का अपने मृत पति के प्रति प्रेम-भाव स्थिर और अचल है किन्तु उसका अन्तरतम मर नहीं गया है। वह परिस्थिति से समझौता करती है। फेंटम में उसे रोमी की छाया मिलती है। पाठकों को भ्रम न हो,

(शेष पृष्ठ ४४७ पर)

[1] हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय विवेचन।

[2] श्री त्रिलोकीनारायण दीक्षित, 'सप्तसिन्धु' यशपाल अभिनन्दन अङ्क, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३।

बाबू गुलाबराय और डा० नगेन्द्र

श्री नारायणप्रसाद चौबे

गुलाबराय, उन आलोचकों में से थे जो प्रारम्भ से ही समालोचना-साहित्य को सम्मृद्ध बनाने में रत रहे। शुक्लजी ने ने यद्यपि रस-विवेचन का कार्य हाथ में लिया था, परन्तु साहित्य के अन्य कार्यों में वे ऐसे उलझे कि रस-विवेचन को पूर्णता प्रदान न कर सके। रसों का वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण गुलाबराय और नगेन्द्र ने ही किया। क्रम में गुलाबराय पहले आते हैं। उन्होंने पश्चिमी सिद्धान्तों के आधार पर स्थायी भावों का विवेचन भी व्यवस्थित ढङ्ग पर किया। गुलाबरायजी के 'नवरस' में शास्त्रीय-पद्धति का पूर्ण परिपाक और वैज्ञानिक-क्रम का अच्छा विवेचन है। परन्तु यद्यपि उन्होंने, शास्त्रीय विषय होने के कारण, शास्त्र का आधार तो ग्रहण किया, परन्तु उन्होंने पश्चिमी मनोविज्ञान का आश्रय लेकर विवेचन प्रस्तुत किया। स्थायी भावों को प्रारम्भिक सहज वृत्तियों से सम्बन्धित करने का कार्य गुलाबरायजी ने किया। वास्तव में नगेन्द्र के पूर्व तक इस विषय का पूर्ण परिपाक न हो सका था। नगेन्द्र ने गुलाबरायजी के कार्य को अधिक आगे तक बढ़ाकर, भावों के मनोवैज्ञानिक औचित्य पर प्रकाश डाला।

गुलाबरायजी ने शुक्लजी के साधारणीकरण के सिद्धान्त का विरोध किया। शुक्लजी ने कहा, "साधारणीकरण से तात्पर्य यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन होती है।" गुलाबरायजी का अभिमत है कि "व्यक्ति कुछ समाज धर्मों की प्रतिष्ठा के ही कारण नहीं, वरन् अपने पूर्ण व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा में सहृदयों का आलम्बन बनता है।"[1] वास्तव में साधारणीकरण में शुक्लजी ने आलम्बन की वस्तुगत वास्तविकता पर बल दिया। नगेन्द्र एक कदम आगे बढ़कर, कवि कल्पना के महत्त्व को स्वीकार कर, उसे प्रस्तुत करते हैं। गुलाबरायजी ने मध्य मार्ग का अनुसरण किया है।

शुक्लजी की व्याख्यात्मक समालोचना के साथ रिचर्ड्स के मूल्यवाद का सम्बन्ध जोड़ देने के कारण, उसे एक नवीन दिशा की ओर उन्मुख करने का प्रयास गुलाबरायजी ने किया है। वास्तव में वे कलापारखी और सौन्दर्यवादी आलोचक हैं। जहाँ भी कला और सौन्दर्य का अभाव होगा, वहाँ वे उसे काव्य या साहित्य की परिधि में रखने से इन्कार कर देते हैं। गुलाबरायजी समन्वय के महत्व का अत्यधिक प्रसार करते दिखलाई पड़ते हैं। नगेन्द्र का भी यही महत्त्व है। नगेन्द्र और गुलाबरायजी, दोनों समन्वय को जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार करते हैं और इसीलिये आलोचना में भी इसका प्रतिफलन देखने के आकांक्षी हैं। साहित्य भी 'सहित' करने की भावना का नाम है और 'सहित' करना ही समन्वय है—गुलाबरायजी का अभिमत है।

गुलाबरायजी उस समाज व्यवस्था को आदर्श मानते हैं, जिसमें भेद और विशेषीकरण के साथ-साथ अधिक से अधिक समन्वय हो। यही विकसित समाज का आदर्श है। जो काव्य इस आदर्श को पूरा करता है वही सत्काव्य है।

इस प्रकार नगेन्द्र और गुलाबराय की समीक्षण-पद्धति सम्पूरक है। दोनों आलोचना क्षेत्र में समन्वय के आकांक्षी हैं, दोनों व्यावहारिक आलोचना में कवि के उद्देश्य को खोजने की कोशिश करते हैं। दोनों ने पश्चिमी आलोचना के विकास क्रम का अनुशीलन कर अपने ज्ञान को गम्भीर और प्रशस्त बना लिया है।

—५४३, कछपुरा, गढ़ा, जबलपुर।

[1] सिद्धान्त और अध्ययन : गुलाबराय, द्वितीय संस्करण : पृष्ठ २२–२३।

'अर्द्धकथा'—साहित्यिक विवेचन

श्री धनञ्जय

चन्द से लेकर दिनकर तक के हिन्दी-साहित्य ने परिस्थितियों और प्रयोगों से अवरुद्ध तथा गतिशील होकर अनेक मार्ग ग्रहण किये। अपनी गतिशीलता में कभी वह एक मार्ग पर चलता रहा, कभी दूसरे पर। किसी पर देर तक चला, किसी को शीघ्र ही छोड़ दिया, लेकिन थककर बैठा कहीं नहीं। इस यात्रा में उसने अनेक काव्यविधाओं का निर्माण किया। साहित्य की इन्हीं विधाओं में से एक विधा है—आत्मकथा। आत्मकथा स्वयं लेखक के जीवन की यावत् घटनाओं का क्रमिक चित्र प्रस्तुत करने वाली कहानी होती है। अपने पीछे के जीवन की ओर मुड़कर देखने की मनुष्य की स्वाभाविक रक्षा होती है, इससे उसे एक प्रकार का आनन्द मिलता है। इस आनन्द की तुष्टि के लिए आत्मकथा का सृजन होता है। बीती हुई घटनाओं से प्रेरणा लेकर आगे के लिए सतर्क रहने की आवश्यकता इस विधा का दूसरा उद्देश्य है।

बनारसीदास जैन की अर्द्धकथा अकबर और जहांगीर के राजत्वकाल की समस्त उत्तरी भारत की राजनीतिक और सामाजिक अवस्था का निरभ्र चित्र प्रस्तुत करने वाली, साहित्यिक परम्परा से नितान्त विलग, लेखक के सङ्घर्षपूर्ण जीवन के ५५ वर्ष की एक-एक घटना का यथातथ्य वर्णन करने वाली हिन्दी-साहित्य की पहली और अकेली आत्मकथा है। बनारसीदास ने लगभग २३ ग्रन्थों की रचना की, उनमें अर्द्धकथा का महत्व सबसे अधिक है। इसका रचना काल सं० १६९८ है।

अलमस्त साहित्यकार घण्टा बजाकर साहित्य-मन्दिर में पूजा करने नहीं बैठता। बनारसीदास भी ऐसा ही साहित्यकार था। आत्मकथा की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि उसे सत्य की परिभाषा तक सत्य होना चाहिए। इसमें मिलावट नहीं होती। घटनायें श्लील हों या अश्लील, प्रकाश्य हों या गोप्य, अपने सही रूप में चित्रित रहती हैं। आत्मकथा लेखक आदर्शवाद और यथार्थवाद के चक्कर में नहीं पड़ता। अर्द्धकथा इस कसौटी पर बिलकुल शुद्ध उतरती है—एकदम निरपेक्ष। महात्मा गांधी ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि "मेरे पिता बहुत बीमार थे, मरणासन्न। लेकिन मैं अपनी पत्नी के साथ बगल के कमरे में सो रहा था।" और बनारसीदास भी अपनी काली करतूतों को असत्य के परदे में न रखकर कह देते हैं—

> तजि कुल कान लोक की लाज।
> भयो बनारसि आसिकबाज॥
> करै आसिकी धरि मन धीर।
> दरदबन्द ज्यौं सेव फकीर॥
> इकटक देषि ध्यान सो धरै।
> पिता आपने को धनु हरै॥
> भेजै पेसकसी हित पास।
> आप गरीब कहावै दास॥

और :—

> कहै बनारसि के गुण जथा।
> दोष कथा अब बरनौं तथा॥
> क्रोध मान माया जल रेष।
> पै लछमी को लोभ विशेष॥
> × × ×
> मुष बद्या भाषत न लजाव।
> सीयै भंड कला मन लाय॥

अर्द्धकथा सिनेमा की सी सिनेरियों की भांति हर घटना को क्रमशः मस्तिष्क के परदे पर उपस्थित करती है और प्रत्येक घटना खण्ड रूप में होती हुई भी निर्बाध जीवन-कथा प्रस्तुत करती है—सिनेमा के चित्रों की भांति ही स्पष्ट और स्वच्छ।

समय का मारा हुआ व्यक्ति बहुत ही सहनशील

ग्रौर ग्रनुभवी हो जाता है। बनारसीदास की ग्रात्मकथा को देखने से यह पता चलता है कि परिस्थितियों ने उन पर कभी रहम न किया, इसी कारण उनके प्रत्येक कथन में एक बेबसी, सूक्तिमयता ग्रौर निर्वेद की भावना दृष्टिगत होती है। ग्रपने दूसरे पुत्र की मृत्यु इस प्रकार प्रकट करते हैं—

बानारसि कै दूसरो भयौ, ग्रौर सुत कीर।
दिवस कैक में उड़ि गयो, तजि पिंजरौ शरीर॥

ग्रौर:—

कही पचावन बरष लौ, बानारसि की बात।
तीन बीच ही भारजा, सुता दोय सुत सात॥
नौ बालक हुवे मुवे, रहे नारि नर दोय।
ज्यों तरवर पतझार ह्वै, रहै ठूँठ से होय॥
तत्व द्रिष्ट ज्यौं देषियें, सत्यारथ की बात।
ज्यौं जाको परिगट घटै, त्यौं ताको उपसांति॥

मानव-मन बहुत ही नैतिक होता है। किसी वस्तु से जिस पर वह विश्वास करता ग्राया है, जरा-सी ग्राशङ्का होते ही उसकी सारी श्रद्धा, सारा विश्वास इस प्रकार लुप्त हो जाता है, जिस प्रकार 'रेन-कोट' पर पड़ी हुई बूंदें। इस मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्-घाटन ग्रर्द्धकथा में मिलता है। एक दिन बनारसीदास सीढ़ी से नीचे गिर पड़े ग्रौर:—

जब मैं गिर्‌यो पर्‌यो मुरझाय।
तब सिव कछू न करी सहाय॥
× × ×
तिस दिन सौं पूजा न सुहाय।
सिव संषौली धरी उठाय॥

ग्रर्द्धकथा की तुलना ताजमहल से की जा सकती है। यदि एक में रङ्गीनी ग्रौर नक्काशी नहीं, सरलता है तो दूसरी में उपमा, प्रतीप ग्रौर श्लेष की छटा नहीं है। शब्द-साम्य ग्रौर वर्ण-मैत्री की बहार नहीं है, कर्त्ता, क्रिया, विशेषण पर ध्यान नहीं दिया गया है। वह तो प्रारम्भ से ग्रन्त तक कर्म है—सरल, सजीव ग्रौर सत्य। प्रत्येक घटना जैसे ग्राँखों के सामने घटित हो रही हो। वातावरण भी उद्दीपन का कार्य करता है। एक बार—

भई भीर बाजार में, षाली कोउ न हाट।
कहूँ ठौर नहिं पाइये, घर घर दिये कपाट॥
फिरत सबै फावा भये, बैठन कहे न कोय।
तलै कीच सौं पग भरे ऊपर बरषै तोय॥
ग्रन्धकार रजनी समै हिम सत ग्रगहन मास।
नारि एक बैठन कह्यौ पुरुष उठ्या लै बांस॥
तिन उठाय दीने बहुर ग्राये सुर के पार।

ग्रागे जाने पर किसी झोपड़ी में शरण लेते हैं। लेकिन यमदूत की तरह वहाँ भी एक व्यक्ति पहुँचता है ग्रौर बनारसीदास तथा उनके दोनों मित्रों को हटने के लिये कहता है। बाद में दया ग्राने पर—

दीनों एक पुरानो टाट।
ऊपर ग्रानि बिछाई षाट।
कहै टाट पर कीजै सैन।
मुझै षाट बिनु परै न चैन।
एवमस्त बानारसि करै।
जैसी जाहि परै सो सहै।
× × ×
पुरुष षाट पर सोया भलै।
तीनो जने षाट कै तलै।

समाज के नेपथ्य से ही व्यक्ति-जीवन की घटनायें बोलती हैं। इसलिये किसी कृति में जीवन का चित्रण करते समय सामाजिक परम्पराग्रों, तत्कालीन सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का विवेचन मिलना स्वाभाविक है। ग्रर्द्धकथा के ग्रध्ययन से उस समय के समाज में प्रचलित ग्रनेक बातों का पता लगता है। गुरुजनों के मुख से 'ग्रकबरी-युग' की शिक्षा का ग्रादर्श सुनिये—

गुरजन लोग दैहि उपदेश।
ग्रासिक बाज सुने दुरबेस।
बहुत पढ़ै बाम्बन ग्रौर भाट।
बनिक पुत्र वह बैठे हाट॥
बहुत पढ़ै सो माँगै भीष।
मानहु पूत बड़े की सीष॥

ग्रर्द्धकथा में झूठी पुत्र-प्राप्ति की ग्राशा दिलाकर ठगने वाले पुजारी हैं, दीनार मिलने की लालच देकर यन्त्र देने वाले वंचक संन्यासी हैं, केवल सुख में साथ

रह कर मौज उड़ाने वाले नीच मित्र हैं, खोटा रुपया देकर मथुरावासी विप्रगण को ठग बताकर कोतवाल के हाथ में सौंप देने वाले ईमानदार सर्राफ हैं; तो 'मसान तक हक निवाहने वाली' कष्ट में देखकर अपनी माँ से भी छिपाकर रखे हुये २०) रुपयों को पति के हाथ में लाकर रख देने वाली पत्नी भी है। यद्यपि बनारसीदास क्रान्तिकारी या समाज सुधारक नहीं थे। लेकिन व्यक्ति की स्वाभाविक चेतना से प्रेरित होकर उन्होंने समाज की कुछ खामियों की ओर भी अंगुलि-निर्देश कर दिया है, जो उनकी साहित्यिक जागरुकता का परिचायक है।

बनारसीदास जैन धर्म में दीक्षित थे। साथ ही ज्ञान-पचीसी, अध्यात्मगीत आदि अनेक धर्मग्रन्थों की भी रचना की थी। फलतः अर्द्धकथा में अध्यात्म और दर्शन-तत्व स्थान-स्थान पर मिलता है। राय की मृत्यु पर बनारसीदास अपने उद्‌गार इस प्रकार प्रकट करते हैं—

पुन्नि संजोग जुरे रथ पाय।
कमाते तुरङ्ग मतङ्ग तबेले॥
* * *
बंध बढ़ाय करी तिथि पूरन,
अन्त चले उठि आम अकेले।
हार हुमेल की पोट सी डालकै,
ऊर दिवाल की ऊट हो बेले।

और—

ज्ञानी संपत विपत में रहै एक सी भाँति।
ज्यों रवि ऊगत आथिवत तजै न राती काँति॥

अर्द्धकथा की सबसे बड़ी विशेषता, इसमें तिथियों की अधिकता है। इसकी दी हुई तिथियों की प्रामाणिकता देखकर बहुत आश्चर्य होता है, लेकिन साहित्यकार बीते जमाने के दावे को वर्त्तमान जामने पर लिखकर जाता है। उस दृष्टि से जैन कवि बनारसीदास सबसे बड़े दावेदार हैं। इसीलिये वह सफल साहित्यकार हैं और अर्द्धकथा महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृति।

—रे. क्वा. ९३ए., सूबेदारगञ्ज, बेगमसराय, इलाहाबाद।

(पृष्ठ ४४३ का शेष)

इसलिए लेखक पुस्तक की भूमिका में ही निवेदन करता है "पाठक, विनी के व्यवहार को केवल परम्परागत नैतिकता के विश्वास से नहीं, आधुनिक परिस्थिति बोध से प्रेरित चिन्तन से भी देखने का यत्न करें।"

नारी के प्रति यशपालजी का अपना दृष्टिकोण है। उन्होंने उसे यथार्थ की कठोर भूमि पर लाकर खड़ा किया है। उनके उपन्यासों में वह उदात्त भावनाओं के साथ-साथ अपनी दुर्बलताओं को भी लेकर प्रकट हुई है। पर यह कहना कि "यशपाल की सभी कृतियों में नारी अत्यन्त दुर्बल, कामुक और वासना की मूर्ति के रूप में चित्रित की गई है"[1] उनके साथ अन्याय होगा। 'बारह घण्टे' की विनी क्या दुर्बल कामुक और वासना की मूर्ति है ?

यशपालजी के अधिकांश उपन्यास राजनैतिक समस्याओं के बोझ से दबे हुए हैं। 'दिव्या' लिखकर उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्धि पाई। 'बारह घण्टे' में विशुद्ध सामाजिक समस्या का समाधान किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'देशद्रोही' की राजबीबी 'बारह घण्टे' में नई परिस्थितियों और नए वातावरण के बीच विनी के रूप में प्रकट हुई है। 'बारह घण्टे' की रचना करके यशपाल ने अपने राजनैतिक प्रचार के कलङ्क को धो दिया है। और "सबसे बड़ी बात शायद यह है कि 'बारह घण्टे' लिखकर यशपाल ने यह स्पष्ट कर दिया है कि राजनीति के अनावश्यक समावेश के बिना भी सप्रयोजन रचना हो सकती है।[2]

—वर्द्धमान कॉलेज, बिजनौर (उ० प्र०)

[1] डा० कांति वर्मा, हिन्दी उपन्यासों में चित्रित भारतीय नारी के विविध रूप, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १५ मार्च १९६४ ई०।

[2] श्री मधुरेश, बारह घण्टे, आलोचना (त्रैमासिक) नवांक २।

'महाराष्ट्र' शब्द की व्युत्पत्ति

श्री रामगोपाल सोनी

दैनिक-जीवन में 'महाराष्ट्र' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, क्या अपनी पूर्वावस्था में वह इसी अर्थ में प्रयुक्त होता था ? यह प्रश्न हमारे सम्मुख उठ खड़ा होता है। इसी प्रश्न के समाधान के लिये हम 'महाराष्ट्र' शब्द का भाषा-वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक विवेचन करेंगे। इस 'शब्द' के पीछे 'महाराष्ट्र प्रदेश' का एक विस्तृत इतिहास छिपा है।

जिस प्रदेश को आज हम 'महाराष्ट्र' कहते हैं उसका प्राचीन नाम दक्षिणापथ' या 'दण्डकारण्य' था।[1] प्रश्न यह उठता है कि इस प्रदेश का नाम 'महाराष्ट्र' कैसे पड़ा।

श्री विश्वनाथ काशीनाथ राजबाड़े के अनुसार प्राचीन भारत में एक दूसरे से मिले-जुले अनेक छोटे-बड़े राज्य थे। उनमें बड़े और शक्तिशाली राज्यों को 'महाराष्ट्र' और छोटे राज्यों को 'राष्ट्र' कहा जाता था। 'महाराष्ट्र' के शासक को 'महाराजा' तथा जनता को 'महाराष्ट्रिक' व 'राष्ट्र' के शासक को 'राजा' वा प्रजा को 'राष्ट्रिक' कहा जाता था। विशाल एवं शक्तिशाली राज्य होने के कारण मगध उस समय 'महाराष्ट्र' कहा जाता था परन्तु कालान्तर में यह नाम मगध के लिये रूढ़ नहीं हो सका। बौद्ध-धर्म की क्रांति से भयभीत होकर मगध देशाधिपति के अनुयायी 'महाराष्ट्रिक' 'दक्षिणापथ' में आकर बस गये।

इस समय को श्री राजवाडे शक से ६०० पूर्व निर्धारित करते हैं। वैदिक-धर्म के अनुयायी 'महाराष्ट्रिक' इस नये प्रदेश में भी आकर अपने को 'महारष्ट्रिक' कहते रहे जिससे इस प्रदेश का नाम 'महाराष्ट्र' (महाराष्ट्रिकों का निवास स्थान) पड़ा। इस 'महाराष्ट्रिक' शब्द का विकास हम इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं—

(१) महाराष्ट्रिक (संस्कृत), महारट्ठ (प्राकृत), महाराष्ट्र (मराठी)।

(२) महाराष्ट्रिक, महारट्ठ, मरहट्ठ, मरहठा, मराठा।

इस प्रकार 'महाराष्ट्रिक' शब्द 'महाराष्ट्र' का 'मराठा' के रूप में प्रदेश और जाति दोनों का बोधक हुआ। 'महाराष्ट्री' और 'मराठी' भाषा का जन्म भी इसी 'महाराष्ट्रिक' शब्द से सम्बन्धित है।

ईसा पूर्व पहली शताब्दी के नानेघाट गुफा के शिलालेख में 'महारठी राजा' वेदसिरि को 'दक्षिणापथपति' कहा गया है।[1] मार्कण्डेय पुराण, ब्रह्मपुराण[2] आदि पुराणों में 'महाराष्ट्र' नाम मिलता है परन्तु मत्स्यपुराण (११४–४७) में 'महाराष्ट्र' को 'नवराष्ट्र' माना गया है। इनके अतिरिक्त गरुड (५५–१६) में 'नरराष्ट्र' तथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण (१०–५) में 'नयराष्ट्र' का भेद मिलता है परन्तु यह स्पष्ट है कि 'दक्षिणापथ' को ही इन नवीन नामों से सम्बोधित किया गया है क्योंकि आर्यों (महाराष्ट्रिक) के आगमन से ही यहाँ नवीन राष्ट्र का उदय हुआ।

वररुचि (ईसा पूर्व पहली शताब्दी) ने अपने 'प्राकृत प्रकाश' में 'महाराष्ट्री' को प्रथम स्थान देकर उस पर सविस्तार व्याकरण लिखा है और साथ ही साथ 'महाराष्ट्र' का वर्णन किया है। 'महाराष्ट्र' शब्द प्राकृत रूप 'महारट्ठ' ६ वीं शताब्दी में पाली भाषा के के 'महावंस'[3] ग्रन्थ में मिलता है।

ईसा की ८०० शताब्दी में कोउहल कवि ने अपना

[1] एष पन्था विदर्भाणामयः गच्छति कोसलान।
अतः परं च देशोऽयं दक्षिणे दक्षिणापथः॥
(महाभारत, नलोपाख्यान ६१–२४)

[1] Nanaghat cave inscription of naganika Vol 1 p. 187

[2] ब्रह्मपुराण (२७–५५)

[3] TURNOVER Mahavamsa p. 71-72

'लीलावई' खण्डकाव्य' मरहट्ठदेसि भासा में लिखा है।[१]

मध्यप्रदेश के सागर जिले में 'एरण' गाँव में ३६५ ई० का एक स्तम्भ लेख मिला है जिसमें 'महाराष्ट्र' का उल्लेख है। उसमें लिखा है "श्रीधर वर्म्मा का सेनापति सत्यनाग अपने को महाराष्ट्री मानता है।"

डॉ० व्यंकटेश केतकर (कोशकार) 'महाराष्ट्र' शब्द की व्युत्पत्ति 'महार' से मानते हैं।[३] उनके अनुसार महाराष्ट्र का अर्थ है 'महारांचा राष्ट्र' (महारों (जाति विशेष) का राष्ट्र)। महाराष्ट्र में महारों की संख्या बहुत अधिक है और प्राचीन समय में वे राज्य कार्यों में सक्रिय भाग लेते थे दूसरे शब्दों में शासन के मुख्य अङ्ग थे। आज भी बुलढाणा (महाराष्ट्र-प्रदेश) जिले में बहुत से महारों के नाम के अन्त में 'नाक' मिलता है, जैसे केशव नाक। यह 'नाक' शब्द नायक से बना है। कुछ विद्वान 'नाक' शब्द का सम्बन्ध 'नाग' से भी जोड़ते हैं। राजवाड़े की अपेक्षा डॉ० केतकर का मत अधिक युक्ति सङ्गत प्रतीत होता है क्योंकि महारों के बहुत से उपनाम पौराणिक-काल से मिलते हैं। राजवाडे ने शब्दों का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है परन्तु उनमें दुराग्रह अर्थात् अपने ही तर्कों को प्रामाणिक मानव की भावना स्पष्ट झलकती है। आधुनिक-युग में राजवाडे के मत असत्य तथा असङ्गत सिद्ध होते जा रहे हैं।

कुछ विद्वान 'महाराष्ट्र' का अर्थ 'मल्लराष्ट्र' का अर्थ 'बड़ा राष्ट्र' लगाते हैं। श्री कर्ते शिबबास ने लिखा है—

"महाराष्ट्र म्हणे महंत राष्ट्र म्हणोन महाराष्ट्र महंत म्हण जे थोर।" (अर्थात महाराष्ट्र का अर्थ महंतराष्ट्र और महंत का अर्थ महान। इस प्रकार 'महाराष्ट्र' का अर्थ है महान राष्ट्र।)

महाराष्ट्र के क्षेत्र और सीमा के सम्बन्ध में भी मत-मतान्तर हैं। कुछ लोग इसे विस्तृत भू भाग वाला प्रदेश तथा कुछ लघु क्षेत्र वाला सिद्ध करते हैं। इसलिये इसे 'महाराष्ट्र' कहना समीचीन नहीं प्रतीत होता। 'महाराष्ट्र' के लिए 'विदर्भ' का प्रयोग अनेक स्थानों पर किया गया है। महाभारत में विदर्भ-नरेश का उल्लेख मिलता है। इस आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'विदर्भ' का विस्तृत रूप ही 'महाराष्ट्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

'महाराष्ट्री' भाषा से भी कुछ भाषा-वैज्ञानिक 'महाराष्ट्र' का सम्बन्ध जोड़ते हैं। जैसे शूरसेन देश की भाषा शौरसेनी, मगध की मागधी, पिशाच देश की पैशाची उसी प्रकार महाराष्ट्र प्रदेश की भाषा 'महाराष्ट्री' कहलाई। निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि भाषा के नाम पर प्रदेश का नामकरण हुआ या प्रदेश के नाम पर भाषा का। यह विषय विवादास्पद है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'महाराष्ट्र' शब्द विभिन्न अर्थ-धारी अवस्थाओं को पार कर (विकसित होकर) वर्तमान रूप में आया है। आज भी विद्वानों में 'महाराष्ट्र' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में मतभेद है परन्तु अर्थ के सम्बन्ध में नहीं। आज मराठी-भाषी महाराष्ट्र-प्रदेश को हम 'महाराष्ट्र' कहते हैं। अब 'महाराष्ट्र' शब्द रूढ़ हो गया है।

—सिविल लाइन्स, चांदा (महाराष्ट्र)

[१] "भषियं च पियय भाए रइयं मरहट्ठदेसि भासाए" (लीलावई १३३०)

[३] प्राचीन महाराष्ट्र डॉ० केतकर

मराठी कवि परशराम की हिन्दी-कविता

प्रो० कृष्ण दिवाकर

हिन्दी-साहित्य की निर्मिति में हिन्दी-भाषियों के अतिरिक्त ऐसे व्यक्तियों ने भी योगदान दिया है जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी। हिन्दी-साहित्य तथा भाषा के क्षेत्र में अनुसन्धान कार्य की दिन-ब-दिन बड़ी प्रगति हो रही है। इस अनुसन्धान में उपलब्ध सामग्रियों से ऐसे कई अप्रकाशित तथा अज्ञात लेखक एवं कवि प्रकाश में आये हैं, आ रहे हैं। राजस्थानी, पञ्जाबी, बँगला, गुजराती, मराठी आदि आर्यभाषाओं के कवियों ने अपने भाव हिन्दी भाषा के माध्यम से व्यक्त किये हैं। इतना ही नहीं भारत के सुदूर दक्षिण में कुछ कवियों ने जिनकी मातृभाषा तमिल; तेलगु, कन्नड़ तथा मलयालम जैसी अनार्य भाषा थी, हिन्दी में रचनाएँ की हैं। यह परम्परा ईसा की पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी से दृष्टि-गोचर होती है। केरल (त्रावणकोर) के महाराज 'श्री पद्मनाभदास वंचिपाल', 'श्रीराम वर्मा', 'कुलशेखर किरीटपति' हिन्दी में सरस रचनाएँ किया करते थे।[1] तेलगु भाषी पुरुषोत्तम कवि ने कई हिन्दी नाटकों का प्रणयन किया है। इस प्रकार देखा जा सकता है कि हिन्दी-साहित्य की समृद्धि में समस्त भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों का भी हाथ रहा है।

महाराष्ट्र ने भी इस दिशा में पर्याप्त सेवा की है। 'हिन्दी को मराठी सन्तों की देन'[2] तो हिन्दी-साहित्य-संसार के समक्ष प्रस्तुत की गयी है। परन्तु मराठी भाषी अन्य कवियों की भी बहुत-सी हिन्दी रचनाएँ अभी तक अज्ञात ही हैं। इस लेख में मराठी-भाषी परशुराम कवि तथा उनकी हिन्दी कविता का परिचय संक्षेप में दिया जायगा।

परशुराम कवि का जन्म ईसा की अठारहवीं शताब्दी के मध्य में सन् १७५४ में हुआ। नासिक जिलान्तर्गत सिन्नर तालुके के बावी नामक ग्राम के ये निवासी थे। जाति से दर्जी होने से परम्परागत व्यवसाय को इन्होंने सीख लिया था। व्यावसायिक शिक्षा के साथ ही साथ इन्होंने पठन-पाठन भी कर लिया था। इन्हें बाल्यावस्था ही से सन्त-काव्य के प्रति विशेष रुचि थी। अतः इन्होंने ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम आदि सन्तों के ग्रन्थों का अध्ययन किया था जिसका प्रभाव इनकी रचनाओं में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। रामायण, महाभारत, भागवत आदि पौराणिक ग्रन्थों के मराठी रूपान्तर को उन्होंने पढ़ा था जिससे उनमें बहुश्रुतता आ गयी। हरि विजय, राम विजय, पाण्डव-प्रताप आदि ग्रन्थों का अध्ययन भी इन्होंने बड़ी रुचि से किया था। सन्तश्रेष्ठ तुकाराम के अभङ्गों का प्रभाव परशुराम की रचनाओं में विशेष दृष्टिगोचर होता है।

परशुराम के आध्यात्मिक गुरु देवपुरकर बाबा भागवत थे। उनसे अनुग्रह प्राप्त करने पर उन्हीं से पद रचना करने की प्रेरणा इन्हें मिली और फलस्वरूप इन्होंने काव्य-रचना करना प्रारम्भ किया। इनके उपास्य देवता पंढरपुर के पाण्डुरग थे। कहा जाता है कि स्वप्न में प्राप्त पाण्डुरङ्ग के आदेशानुसार इन्होंने सन्त-परम्परा के अभंगों की पद्धति छोड़ तत्कालीन लावनी छन्दों में अपनी रचनाएँ की हैं। रामायण, महाभारतादि ग्रन्थों की कथाओं को लावनी छन्द में नये रूप में प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न परशुराम ने किया।

परशुराम मितभाषी, विनयशील तथा बहुश्रुत थे। ये आजन्म निर्व्यसनी और परदारा विमुख रहे थे। इन

[1] हिन्दी-साहित्य—श्यामसुन्दरदास (दशम संस्करण) पृष्ठ ३३६।

[2] हिन्दी को मराठी सन्तों की देन नामक ग्रन्थ—आचार्य विनयमोहन शर्माजी ने मार्च १९५७ में प्रसिद्ध किया है जिसमें मराठी सन्तों की हिन्दी रचनाएँ दी गयी हैं।

का रहन-सहन अत्यन्त साधारण था। स्वयम् गौरवर्ण के तथा रूप सम्पन्न होने पर भी इन्हें सादापन ही विशेष प्रिय था। बड़े बड़े समारोह के प्रसङ्गों पर भी ये अत्यन्त सादी पोशाक पहनकर जाते रहते थे। इनका आचरण शुद्ध एवम् उच्च श्रेणी के व्यक्ति की भांति दोषहीन था। ये बड़े निर्भीक, निर्लोभी तथा निस्पृह वृत्ति के व्यक्ति थे। इनके व्यक्तित्व तथा आचरण से प्रभावित होकर सामान्य जनता इन्हें अवतारी पुरुष के रूप में देखा करती थी। छोटे छोटे ग्रामों में भी परशुराम की कविताओं की जीर्ण बहियों का गीता, रामायण के समान आदर किया जाता था। इनके पद लोग कण्ठस्थ करते थे। ये स्वयम् एक उत्तम संगीतकार थे। इनके सुमधुर कण्ठ से मुखरित लावनियों, पदों को श्रवण करने से वही आनन्द प्राप्त हो जाता था जो उच्चकोटि के शास्त्रीय सङ्गीत से प्राप्त हो सकता है।

इनकी लावनियाँ अत्यन्त लोकप्रिय होने से उन्हें सुनने के लिये जनसाधारण से लेकर बड़े बड़े राजा-महाराजाओं ने इनका आदर-सम्मान भी किया था। जिनमें बड़ौदा राज्य के फत्तेसिंह राव महाराज, सयाजीराव गायकवाड़, मल्हारराव होलकर, जनकोजी शिंदे, श्रीमन्त पेशवे आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।[1] पेशवे सरकार ने इनकी कविता से प्रसन्न होकर इन्हें इनाम के रूप में जागीर दे दी थी परन्तु निस्पृह, निर्लोभी तथा स्वाभिमानी परशुराम ने उसे स्वीकार नहीं किया। इस अवसर पर इन्होंने जो उत्तर दिया वह विशेष उल्लेखनीय है—

सुई-दो-याला हयात असूँद्या;
तेंचि इनाम मोकासा।
चैंनीखातर आम्ही राया,
पडलो नाहीं या फंदांत॥

इन पंक्तियों के द्वारा परशुराम ने श्रीमन्त पेशवे को स्पष्ट शब्दों में बताया कि मुझ जैसे दर्जी के लिये सुई और डोरा इनकी कभी कमी न हो। मेरे लिये मेरा व्यवसाय ही इनाम जागीरी है अतः आप यही आशीर्वाद दे दें कि मेरा व्यवसाय ठीक चले। ऐश-आराम तथा सुख चैन करना मेरा कभी उद्देश्य न रहा। उस उत्तर से परशुराम में स्वाभिमानी व्यक्तित्व के दर्शन हो जाते हैं। परशुराम ने स्वान्तः सुखाय ही अधिकांश रचनाएँ की थीं। यदि वे चाहते तो राजाश्रय पाकर विपुल धन राशि प्राप्त कर सकते थे, परन्तु उन का वह स्वभाव न होने से अपना बावी नामक ग्राम छोड़कर वे अन्यत्र कहीं भी नहीं गये।

परशुराम का समस्त काव्य स्फुट रचनाओं के रूप में ही पाया जाता है जो मराठी और हिन्दी दोनों भाषाओं में मिलता है। भाषा-सौन्दर्य, मधुर अक्षर-योजना, शब्दों का औचित्य पूर्ण प्रयोग, चित्ताकर्षक लय (तर्ज), संगीतात्मकता, विचारों की गहराई आदि गुण इनकी रचनाओं में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी लोक-प्रियता का भी यही रहस्य हो सकता है। इनके काव्य-गुरु विठोबा खत्री थे, जिनकी सहायता इन्हें पर्याप्त मात्रा में मिलती रहती थी। उनसे आंशिक रूप में उऋण होने तथा उनके प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता दिखाने के हेतु ही मानो परशुराम ने अपनी रचना के अन्त में आदर सहित उनके नाम का उल्लेख किया है।

लावनी तथा पोवाडा नामक महाराष्ट्र के प्रसिद्ध लोक छन्द में इनकी रचना मुख्यतः विभाजित की जा सकती है। इन्होंने आध्यात्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक सामाजिक, सामान्य व्यावहारिक आदि अनेक विषयों पर रचनाएँ की हैं। इनकी सामाजिक तथा ऐतिहासिक कविताओं में समकालीन समाज स्थिति तथा राजनैतिक स्थिति का बड़ा ही सजीव एवं सुन्दर वर्णन मिल जाता है। विषयानुकूल शब्द योजना तथा शैली का प्रयोग करना परशुराम की विशेषता थी। लावनी छन्द तथा उसके गण-मात्रा आदि का इन्हें अच्छा ज्ञान था। परशुराम तीर्थ यात्रा के निमित्त प्रसिद्ध तीर्थ क्षेत्र प्रयाग को भी गये थे। इन्होंने अपनी एक रचना में उसका वर्णन उत्तम रीति से किया है। इनकी कविताओं से अनेक ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त हो जाते हैं। परशुराम की मराठी रचनाओं में अरबी, फारसी, ब्रज

[1] लोक नाट्याची परम्परा—वि. कृ. जोशी, (प्रथम संस्करण) पृष्ठ १८७।

आदि शब्द भी पर्याप्त मिलते हैं। परशुराम ने मराठी रचना के साथ हिन्दी में भी रचनाएँ की हैं। उत्तर-मध्य-काल में राधा-कृष्ण के माध्यम से शृङ्गारिक रचना करने की एक परिपाटी-सी पड़ी थी। परशुराम की निम्न रचना में यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। मुरली की मधुर ध्वनि का यह वर्णन दृष्टव्य है :—

जमुना के तीर धेनु चरावे, नट चालक गिरधारी,
सुनो राधा प्यारी किने बजायी मुरली।
राधा, किने बजायी मुरली॥ धृ०॥
वृन्दावन को शाम कन्हैया, घुण्डकी गोकुल नगरी।
किने बजायी मुरली॥
विठु परशराम हरी गुण गावे, यशवंत छंद ललकारी।
किने बजायी मुरली॥[1]

इनकी आध्यात्मिक रचनाओं पर नाथपन्थ, सूफी सम्प्रदाय, अद्वैत आदि का समिश्र प्रभाव परिलक्षित होता है। परमात्मा रूपी प्रियतम का घर बहुत दूर होने से आत्मा विरहिणी नायिका चिंतित है कि वह उतने दूर तक कैसे पहुँच जायगी? उसे लगता है कि सारे संसार भर में उसके समान दुखी अन्य कोई न होगी। प्रियतम के उस भव्य-दिव्य महल के स्मृति पटल पर अङ्कित होने से नायिका अधिक व्याकुल हो जाती है। उस आलीशान महल में रहने वाले प्रिय से मिलन की तीव्र इच्छा नायिका के मन में हो जाती है। अपने प्रियतम के लिये इस भौतिक संसार की धन दौलत भी उसे नगण्य तथा क्षुद्र लगती है।

घर दूर पिऊका कब पोचूँगी सखी,
नहीं जहान भरनमों मेरे सरिखी दुखी॥धृ॥
तीन लाल सुनेरी महेल पिवका बना।
नव दरवाजे पर काम किया रंग मीना॥
× × ×
एक चढ़ने का जीना क्या खासी बैठक
ऊपर डेरा ताना।
पीव क्या रस के गुलपरि लपट रहे सखी,
नहीं जहान भरनमों मेरे सरिखी दुखी॥

[1] परशराम कवीच्या लावण्या—शं. तु. शालिग्राम (सन् १९०७ ई०) पृष्ठ ७०।

× × ×
कोही सखी साथ जलदी से बरी जाऊँ।
पोषाक जरीका सफेद करके लाऊँ॥
मैं लेऊँगी फेरी अलमकी एक सिवल को।
क्या करना इस दौलत को सब जल जाऊ
होने की हो गयी जो भालों में लिखी।
नहीं जहान भरनमों मेरे सरिखी दुखी॥
नामे विठु कवि की आवाज सुनकर चली।
गाती परशुराम, येसु महादू आलम दुनिया झुकी।
नहीं जहान भरनमों मेरे सरीखी दुखी॥[1]

इनकी नायिका का रूप वर्णन भी विशेष उल्लेखनीय है। नायिका ने सोलह शृङ्गार किये हैं। गले में मोतियों के हार शोभित हैं। परिधान किया हुआ सफेद वस्त्र चमकती हुई जरी की बूटियों के कारण तारों भरे गगन के समान सुशोभित था। गौर गाल पर लटकने वाले काले बाल दूर से काली नागिन की भाँति दिखाई देते थे। इसके सौन्दर्य पर सारा विश्व दीवाना हो चुका है। आँखों में बिजली की चमक है। उस सुन्दरी के कानों में जड़े हुए दो कर्णफूल मानो चन्द्र-सूर्य की भाँति द्युतिमान थे। पीन वक्ष एवम् सिंह कटि के कारण उस युवति नायिका का रूप सौन्दर्य अधिक ही खिल उठा है। परशुराम की ऐसी ही एक नायिका का यह वर्णन देखिये:—

किये सोलह सिनगार गले में
गज मोतन के हार लटके।
सफेद अंगिया ऊपरी बूँदें,
जरीके गगन × × सारे झुटके॥
लोम लौकी गौर गाल पर,
चली नागन काली बनके।
हुस्न देख तेरा भुला अलम,
एकही मारे फिरते भटके॥
जब किया नैनों ने छबिली,
जहाँ बिजली आज टूट पड़े।
चन्द्र सुरज दो बाजु उजाले,
करनफूल कानों में जड़े॥

(शेष पृष्ठ ४५४ पर)

[1] हस्तलिखित प्रति—सातारकर (कोल्हापूर)

पन्द्रहवीं शताब्दी के दो राजस्थानी जैन वीर काव्य

श्री अगरचन्द नाहटा

राजस्थान वीर-भूमि है। यहाँ के राजाओं और सैनिकों ने समय-समय पर अनेकों युद्ध किये और उन वीरों के सम्बन्ध में चारण कवियों ने अनेकों रचनाएँ की हैं, पर जैन कवियों ने भी कतिपय पौराणिक कथाओं को लेकर वीरकाव्य बनाये हैं। उनमें से सबसे पहला काव्य है शालिभद्र सूरि रचित महतेश्वर बाहुबलि रास' जिसकी रचना सं० १२४१ में हुई। इस वीरकाव्य के सम्बन्ध में मैंने एक स्वतन्त्र लेख लिखा है जो शीघ्र ही 'राष्ट्रभारती' में प्रकाशित होगा। प्रस्तुत लेख में तो १५ वीं शताब्दी के राजस्थानी जैन काव्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है जिसमें प्रसङ्गवश पाण्डवों के दो युद्धों का वर्णन किया गया है। इनमें से पहला काव्य है शालिभद्र सूरि रचित 'पंच पंडव चरित रासु'। इसकी रचना पूर्णिया गच्छ के शालिभद्रसूरि ने नादउद्रिनगर में स० १४१० में की है और दूसरी रचना शालिसूरि रचित 'विराट पर्व' है। ये दोनों काव्य पाण्डवों के सम्बन्ध में ही हैं। और प्राच्य विद्यामन्दिर बड़ौदा से प्रकाशित 'गुर्जर रासावलि' नामक ग्रन्थ में सन् १९५६ में प्रकाशित हो चुके हैं। वैसे ये दोनों काव्य गुजराती भाषा के माने जाते हैं पर १५ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक राजस्थानी एवं गुजराती दोनों भाषाएँ एक सी ही थीं। १६ वीं शताब्दी से इन दोनों भाषाओं का अन्तर अधिक स्पष्ट होने लगता है। अतः इन दोनों काव्यों को राजस्थानी भाषा का वीर काव्य कहा जा सकता है। जैसा कि इन दोनों रचनाओं के नामों से स्पष्ट है कि प्रथम में पाँच पाण्डवों का संक्षिप्त चरित्र है और दूसरे काव्य में पाँच पाण्डवों के १३ वें वर्ष के विराट अधिवास की कथा है। प्रथम काव्य में पाण्डवों और कौरवों के युद्ध का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है–

"दल मिलीयां कलगलीय सुहड गयवर गलगलीया।
धर धसकीय सलवलीय सेस गिरिवर टलटलीया।
रणवणीयां सवि संख तूर अंबरू आकंपीउ।
हय गयवर खुरि खणीय रेणु अडीउ जगु झंपीउ।
पडइं बंध चलवलइं चिंध सींगिणि गुण रूंधइं।
भिडइं सुहड रडवडइं सीस, धड नड जिम नचइं।
हसइं धुसइं अससइं, वीर मेगल जिम मचइं।
गयघडगुड गडमडत धीर धयवड धर पाडइं।
हसमसता सामंत सरसु सरसेलि दिखाडइं।"

यह काव्य डा० हरेश सम्पादित 'आदिकाल के अज्ञात रासकाव्य' में भी प्रकाशित हो चुका है जोकि मङ्गल प्रकाशन, जयपुर से छपा है। इससे पूर्व राम और रासाध्यायी काव्य में भी यह काव्य छप चुका है।

'विराट पर्व' में युद्ध वर्णन और भी अच्छे रूप में पाया जाता है। यहाँ कुछ पद्य उसी वर्णन में से उद्धृत किये जा रहे हैं :—

घमघमिउ घुरिनाद नीसाण नउ,
गह गहिउ सुरवर्ग मसाण नउ।
कलकली वहली रिणकाहली,
टलबली प्रज हूई आकुली।।७७।।
दडदडी द्रमकी द्रमक्या अरी,
हुडुहुडाट हुड हुड की करी।
कलकलइ जिम वागिनिधि प्रलइ,
किसिउ भूधर कोपि टलटलइ।।७८।।
विसम ढाक स ढूकस ढमढमी,
भरहरी भर भेरि विहामणी।
उचरी तुररी कुरुरी जसी,
सुभट ना सबि रोम ज उद्वसी।।७९।।
सुहड नी महिली रिण सांभली,
प्रिय कहइ सविते मन नीरली।
'प्रिय सुखिइँ सुर मन्दिरडउ लही,
म करिजे कइ मूं विणवालही" ।।८०।।
वीर कङ्कण भले भडि बांध्यां,
राम हाथि तइं बीडा लाध्या।

जोड जीणं भड भीषण भाला,
वीर ना सयर केसर थालां ॥८१॥
चपल तुङ्ग तुरङ्गम पाखरिया,
गुडगुड्या असवार ते साँचरिया।
नृप विराट निजांगज पाण्डवे,
सहि गयउ सभरांगणि मांडवे ॥८२॥
एतलइ शुशर्मा दलि ढोल बाजइं,
जाणे असाढू किरि मेह गाजइ।
हीया ध्रू सूकइं सर शेष सूकइं,
भय वीहता कायर जीव भूंकइ ॥८५॥
तवल ने धवके धर धूजवइं,
अरि तणां मन नु मद खूटवइं।
किलकिलाट करी हबकी करइं,
धड पडइ भड रांक रडी मरइ ॥८६॥
बाण घोरणि बिहुं पथि छूटइं,
नाद सग्गिणि तणे गुणि सूंकइं।
वीर वीरहिं सिउं भडी भाजइ,
गूढ गयमर तणी गुडि गाजइ ॥८७॥
अहह धाणुक धाणुक सिंउ जडइ,
खडग धार कि कोडि खडखडइ।
समरि तूर दसइ दिसि भींभली,
धसमस्या सुभट तेरिण सांभली ॥८८॥
तुरक पायक सायक सुंसरियां,
सुहड चर्म ति फोऽइं सुंसराँ।
गज गजिइं रथ स्यूं रथ ना धणी,
तुरग सिउं तुरंगे रथ मांडणी ॥८६॥
धड पडइं धड ऊपरि नाचतो,
रडबडइ शिर संगरि भूभतां।
रथ भरी हथीयार समा भिड्या,
नृप शुशर्म विराट वेऊ जड्या ॥६०॥

इसी परम्परा में १७ वीं शताब्दी में चित्तौड़ के वीर गोरा-बादल और पद्मिनी की कथा को लेकर जैन कवियों ने राजस्थानी भाषा में कई काव्य बनाए हैं। उनमें से हेमरत्न रचित गोरा-बादल चौपाई वर्षों से राजस्थान प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से छपी पड़ी है, पर प्रकाशित अब होगी। कवि जटमल नाहर, लब्धोदय और दौलत विजय के इसी वीर गाथा संबंधी काव्य सादूंल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट से प्रकाशित 'पद्मिनी चरित्र चौपाई' नामक ग्रंथ में प्रकाशित हो चुके हैं। गोरा-बादल सम्बन्धी इन चारों राजस्थानी के जैन वीर काव्यों की रचना सं० १६४५ से १७६० के बीच में हुई है। जैन विद्वानों के लिखित राजस्थानी गद्य में भी कई युद्ध वर्णन मिलते हैं जो मेरे सम्पादित 'सभा श्रृङ्गार' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हो चुके हैं।

—नाहटों की गवाड़, बीकानेर।

(पृष्ठ ४५२ का शेषांश)

नाजुक पतली कंबर तेरी,
जोबन जैसे गेंद चढ़े।
खड़ी महल पर मुख म्लान,
तेरे देखन खातर रह्या अड़े।

× × ×

मातृभाषा हिन्दी न होने पर भी कवि ने नायिका के रूप का कितना सुन्दर वर्णन किया है। कवि की भाषा पर दक्खिनी हिन्दी का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इनकी रचनाओं में हुस्न, अलम, जैसे अरबी शब्दों के साथ-साथ तनमों, मोतनके, पिऊ, ताको, मोहि, पीतम, भया जैसे ब्रजभाषा के शब्द भी मिलते हैं। कवि की मातृभाषा मराठी होने से बीच-बीच में मराठी शब्दों के प्रयोग अथवा हिन्दी शब्दों का मराठी के रूप के अनुसार प्रयोग पाये जाते हैं। इन गीतों की रचना गायन के स्वरानुकूल हो जाने से छन्द भङ्ग होना स्वाभाविक था। आज से लगभग २०० वर्ष पूर्व एक अहिन्दी भाषी व्यक्ति का हिन्दी में कविता करना और उसका महाराष्ट्र जैसे मराठी भाषी प्रदेश में लोकप्रिय होना हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से तथ्यपूर्ण घटना है। आज जो लोग हिन्दी का विरोध कर रहे हैं उनके लिये भी यह तथ्य विचारणीय होगा कि लगभग दो शताब्दी पूर्व भारत के अहिन्दी भाषी प्रदेशों ने हिन्दी को स्वेच्छा से न केवल स्वीकार ही किया था अपितु हिन्दी में साहित्य-सृजन कर उसके साहित्य-समृद्धि में रचनात्मक योगदान भी दिया था। —एस. एन. डी. टी. कालेज, पूना ४।

आलोचना

सूरदास और उनका भ्रमरगीत—ले०—दामोदरदास गुप्त, प्रका०—रामकृष्ण शर्मा, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली। पृ० ३४१, मू० १२.५०

विद्यार्थियों की आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य से लिखी गई यह पुस्तक भ्रमरगीतसार की व्याख्या और आलोचना से युक्त है। इसमें आचार्य शुक्ल द्वारा सम्पादित भ्रमरगीतसार के ही पदों को इस टीका में स्वीकार किया गया है। किन्तु कापी राइट की आपत्ति को बचाने के लिए कहीं-कहीं क्रम बदल दिया है। पुस्तक के दो खण्ड हैं—पहला आलोचना खण्ड, दूसरा व्याख्या खण्ड। आलोचना खण्ड में एम० ए० की परीक्षा में आने वाले प्रश्न सामने रखकर विचार किया गया है। इसका आलोचना खण्ड केवल ६६ पृष्ठ में और व्याख्या खण्ड करीब २७५ पृष्ठ में है। आलोचना खण्ड को इतने कम पृष्ठ देकर पुस्तक के साथ अन्याय किया गया है। यदि वर्तमान शीर्षकों को ही कुछ अधिक विस्तार के साथ स्वीकार किया जाता और उसमें अधिकाधिक भ्रमरगीत के उद्धरण देने की अपेक्षा विवेचन और अन्य समीक्षकों से सम्बद्ध उद्धरणों द्वारा उसकी पुष्टि करने की चेष्टा की जाती तो मेरा अनुमान है कि पुस्तक का यह खण्ड एम० ए० के विद्यार्थियों की दृष्टि से उपादेय हो सकता था। जहाँ तक व्याख्या खण्ड का सवाल है वह इस दृष्टिकोण से तो उत्तम है कि इसमें सूरदासजी के छन्द पहले देकर फिर उनकी टीका दी गई है। इससे मूल ग्रन्थ को साथ-साथ पलटते चलने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु मुख्य ध्यान शब्दार्थ और भावार्थ पर ही दिया गया है। स्नातकोत्तर के स्तर की व्याख्याएँ जिस प्रकार की होनी चाहिए वैसी व्याख्याएँ इस ग्रन्थ में नहीं हैं। इन व्याख्याओं में जो परीक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण पद हैं या तो अर्थ गलत है अथवा सम्पूर्ण अर्थ को स्पष्ट करने की चेष्टा नहीं है। जैसे पृष्ठ १२८ पर "नषन नन्दनन्दन ध्यान" शीर्षक पद की तीसरी पंक्ति का अर्थ एक पक्षीय है। इसी प्रकार पृष्ठ १४३ के छन्द की व्याख्या में हीनोपमालङ्कार बताया गया है। अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थों में यह कोई अलङ्कार नहीं है। व्याख्याकार इस छन्द में छिपे हुए वास्तविक भाव को न समझने के कारण ही ऐसी क्लिष्ट कल्पना करने को बाध्य हुआ है और उसने अलङ्कार का शुद्ध निर्देशन न करके अपने कर्तव्य के प्रति उपेक्षा का भाव दिखाया है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि लेखक ने जो अपनी भूमिका में जो टीका की उपेक्षा का रोना रोया है उसका कारण गुण ग्राहक की कमी न होकर गुण की न्यूनता है। आशा है द्वितीय संस्करण के समय इसे किसी योग्य अध्यापक से संशोधित करा लिया जायगा।

युगाचरण दिनकर— ले०—डा० सावित्री सिन्हा, प्रका०—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। पृष्ठ ३१२,

मूल्य १०.००

दिनकर हिन्दी साहित्य के प्रधान स्तम्भ बन चुके हैं। उनकी अनेक रचनाएँ मान्यता प्राप्त कर चुकी हैं और हिन्दी साहित्य की स्थायी निधियों में अपना स्थान पा चुकी हैं। पिछले दिनों उन्होंने उर्वशी लिख कर अपना यश: पथ प्रशस्त कर दिया है। अब यह आवश्यकता अनुभव की जा रही है थी कि उनकी समस्त रचनाओं का उचित मूल्याङ्कन हो। इस आवश्यकता की पूर्ति इस ग्रन्थ द्वारा हो जाती है।

इस पुस्तक में पाँच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में दिनकर की प्रामाणिक जीवनी और अप्रतिम व्यक्तित्व के अनेक पहलू सामने लाये गये हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि उनका कवि समय विशेषकर किन-किन प्रवृत्तियों और जीवन में आने वाली घटनाओं से प्रभावित होता रहा है। इसमें अनेक संस्मरण देकर पुस्तक को पूर्ण शास्त्रीय और बोझिल बनाने से प्रयासपूर्वक रोक कर सरस और मनोरञ्जक बना दिया गया है। इस अध्याय के पढ़ने में उपयुक्त जानकारी के साथ कथा-साहित्य का सा आनन्द आता है।

द्वितीय अध्याय दिनकर की राष्ट्रीय काव्य की पृष्ठभूमि का विश्लेषण करता है। इसमें दिनकर की काव्य चेष्टा के दो रूपों का वर्णन है जिन्हें डा० सिन्हा ने व्यक्तिपरक और समष्टिपरक के वर्गों में विभाजित किया है। राजनैतिक परिस्थितियाँ जो दिनकर के काव्य में आधार पृष्ठभूमि रूप में मान्यता प्राप्त कर चुकी हैं उसका सुन्दर विश्लेषण भी इसी अध्याय में किया गया है।

तीसरा और चौथा अध्याय दिनकर की काव्य-चेतना का सविस्तार मूल्याङ्कन करते हैं। इसमें विद्वान् लेखिका ने उनके काव्य की व्यक्तिपरक और वस्तुपरक दोनों दृष्टिकोणों के सुन्दर समन्वय द्वारा विवेचित किया है। हृदय की अनेक भावनाओं और परस्पर विरोधी वृत्तियों को सामने रखकर जो विश्लेषण और मूल्याङ्कन हुआ है वह दिनकर-समीक्षा की मौलिक और सर्वथा नवीन कड़ी है। डा० सिन्हा अपने इस विवेचन में मानवतावादी जीवन मूल्यों और उनके सहायक तत्त्वों पर बल देती हुई आगे बढ़ी हैं और इसकी सबसे बड़ी शक्ति है भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण तथा काव्य-परम्परा जो मूल्याङ्कन की पृष्ठभूमि में अथ से इति तक दिखाई देती है। अन्तिम अध्याय में दिनकर के काव्य शिल्प पर विचार किया गया है। इसमें दिनकर की भाषा, शब्दावली, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, अलंकार, वृत्ति, गुण, रीति, शब्द शक्तियाँ, चित्र योजना, प्रकृति-चित्र, व्यंग्य चित्र, अप्रस्तुत योजना, अलङ्करण सामग्री, उपमान, विविध-काव्य रूप तथा प्रबन्ध-विधान आदि पर विचार किया गया है, और इस सम्बन्ध में अनेक उदाहरण देकर सांगोपांग विवेचन इस अध्याय की विशेषता है।

अन्त में उपसंहार और परिशिष्ट है, दिनकरजी पर लिखा गया यह आलोचना ग्रन्थ हिन्दी में एक अभाव की पूर्ति करता है। आशा है डा० सिन्हा इसी प्रकार के ग्रंथों द्वारा हिन्दी समीक्षा की अभावपूर्ति का उच्च उद्देश्य लेकर कार्यशील रहेंगी।

कूट काव्य : एक अध्ययन—ले०—डॉ० रामधन शर्मा शास्त्री, प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिङ्ग हाउस, दिल्ली। पृष्ठ ३४२, मूल्य १२.५०

डॉ० शर्मा का यह शोध प्रबन्ध पञ्जाब विश्व-विद्यालय में १९५४ में प्रस्तुत हुआ था। इसमें उन्हें पी-एच० डी०, की उपाधि मिली है यद्यपि यह अध्ययन सूरदास के कूट पदों को आधारित मानकर चलता है किन्तु वहीं तक सीमित नहीं है। वेद से लेकर आज तक की कूट काव्य की परम्परा पर प्रकाश डाला गया है।

इस ग्रन्थ में दो भाग और छः अध्याय हैं। प्रथम भाग में कूटकाव्य का उद्भव और विकास दिखाया गया है और दूसरे में सूर के दृष्टिकूट पदों का विस्तृत अध्ययन है। प्रथम भाग के अन्तर्गत तीन अध्याय आते हैं। इन अध्यायों में प्रथम अध्याय कूट का अर्थ और इतिहास बताता है। दूसरे अध्याय में कूटकाव्य का स्वरूप, इसका प्रयोजन और भेद बताये गये हैं। तीसरा अध्याय कूटकाव्य की परम्परा का विश्लेषण करता है। इसमें वेदों से लेकर समस्त संस्कृत साहित्य में आने वाले दृष्टकूटों पर प्रकाश डाला गया है और इस प्रकार कूटकाव्य की परम्परा स्पष्ट दी गई है। कूटकाव्य की

जो परम्परा वेद से प्रारम्भ हुई वह पाली और प्राकृत में लुप्त सी दिखाई देती है। अपभ्रंश के सन्ध्या भाषा वाले पदों के माध्यम से उसे हिन्दी-साहित्य के साथ सम्बन्धित दिखाया गया है। चतुर्थ अध्याय सूर के दृष्ट-कूटों का सर्वेक्षण प्रस्तुत करता है। इसमें सूरसागर, सूरसारावली और साहित्य-लहरी तीनों ग्रन्थों को स्वीकार किया गया है। पाँचवें अध्याय में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। इस शोध प्रबन्ध का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अध्याय छटवाँ अध्याय है। इसमें कृष्ण और राधा के चरित्र के विभिन्न रूपों का अध्ययन है।

काव्य-कला की दृष्टि से इसका महत्व स्पष्ट करते हुए डा० शर्मा ने भाव और रसध्वनि, सौन्दर्यानुभूति और कल्पनाशक्ति, शैली तथा वर्णन कौशल एवं काव्य के अन्य उपादानों पर प्रकाश डाला है। अन्त में एक परिशिष्ट दिया गया है जिसमें सूर-साहित्य के कूट पद संग्रहीत हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध अपने में एक पूर्ण अध्ययन है और एक ऐसे विषय को इसमें शोध का विषय बनाया गया है जो अब तक कठिन समझा जाता था।

पदमावत—ले०—मलिक मुहम्मद जायसी, सम्पादक—डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रका०—भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद। पृ० ५९२, मू० १२.००

डा० माताप्रसाद गुप्त ने अनेक वर्ष पूर्व जायसी ग्रन्थावली का सम्पादन किया था जिसमें जायसी की रचनाओं का मूल वैज्ञानिक पाठ निर्धारण किया गया था। इस स्तर में डा० गुप्त ने जायसी ग्रन्थावली का पुनरसम्पादन किया है। इसके साथ ही साथ ग्रन्थ के रचनाकार कथाप्रसङ्ग और उसकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में भी करीब-करीब ५२ पृष्ठ की भूमिका दी है। गुप्तजी ने इसमें व्याख्या देते समय मूल के आशय की पूरी-पूरी रक्षा करने का प्रयत्न किया है। व्याख्याओं के साथ-साथ टिप्पणियाँ दी हैं इससे अर्थों की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है। रचना के अन्त में शब्दानुक्रमणी है जो शब्दों का अर्थ स्पष्ट करती है। हिन्दी-साहित्य में आज टीका-साहित्य जिस प्रकार बढ़ रहा है उसे देखकर यह निराशा ही अधिक होती है यदि डा० वासुदेवशरण अग्रवाल तथा डा० माताप्रसाद गुप्त जैसे टीकाकारों की टीकाएँ निकलीं तो उससे हिन्दी का उपकार निश्चित रूप से होगा तथा एक स्वस्थ परम्परा पनपेगी। आशा है डा० गुप्त हिन्दी के कतिपय अन्य विवादास्पद ग्रन्थों का भी उद्धार अवश्य करेंगे।

रज्जब बानी—ले०—रज्जब, सम्पा०—डा० ब्रजलाल वर्मा, प्रका०—उपमा प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, कानपुर। पृष्ठ ५४२, मूल्य २०.००

कवि रज्जब राजस्थान के श्रेष्ठ महात्मा तथा सरस्वती के वरद पुत्र थे। उनकी वाणी हिन्दी के निर्गुण काव्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। डा० वर्मा ने महात्मा रज्जब के कृतित्व और व्यक्तित्व का शोधकार किया है अतः इस विषय में उनकी गति सहज तथा गहन है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने रज्जब की कविताओं का सङ्कलन और सम्पादन किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक भूमिका दी है जिसमें इस काव्य का महत्व और विशेषताएँ प्रकट की हैं। इस भूमिका को पढ़कर महात्मा रज्जब के काव्य का महत्व समझ में आने लगता है। सम्पादक ने पुस्तक के अन्त में बाकी कोष दिया है। इस कोष में बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ सम्प्रदाय के मान्य विद्वानों को छोड़कर अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं है। हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल पर काफी काम हुआ है और हो रहा है किन्तु अभी अनेक ऐसे क्षेत्र अछूते पड़े हैं जिनकी ओर विद्वानों का ध्यान नहीं जा सका है। मध्यकाल सम्बन्धी इन शोधों के लिए मार्ग प्रशस्त हो यह अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए सबसे पहले यह उचित है कि इस युग का सारा साहित्य प्रामाणिक रूप में प्रकाशित होकर सामने आये। इस दिशा में वर्माजी का यह प्रयास महत्वपूर्ण देन है। आशा है वर्माजी अन्य सन्तकवियों की अनुपलब्ध वाणियों का सम्पादन भार उठाकर हिन्दी शोध की दिशाएँ प्रशस्त करेंगे।

निबन्ध

प्रबन्ध प्रतिमा—ले०—निराला, प्रकाशक—भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद। पृ. २५५, मू. ८.००

निरालाजी की ख्याति प्राप्त पुस्तक का यह दूसरा संस्करण है इस पुस्तक में उनके सन् ४० के आसपास तक के लेख संग्रहीत हैं। यह उनके निबन्धों का दूसरा संग्रह है। इसमें उन्होंने महात्मा गान्धी से अपने मिलने से लेकर बँगला के वैष्णव कवियों की शृङ्गार वर्णन तक का विवेचन किया है। निरालाजी के विचार समाज, साहित्य और कला सभी क्षेत्रों में अत्यन्त क्रान्तिकारी हैं। इनका व्यङ्ग अत्यन्त तीव्र और चुटीला होता है। इसके लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा—"बाजार के बनियों पर, बैल जोत कर गाड़ी ले जाने वाले, अनाज के व्यापारियों का तो प्रभाव पड़ता है, पर गौन लाद कर घोड़ी पर जाने वाले हुसैन का नहीं। जब किसी काव्य को दो ही पंक्तियों के उद्धरण पर मारे सहृदयता के आलोचक बेहोश होने लगते हैं, तब बाहोश पाठक बिना मेहनत के पूँजी का हिसाब मालूम कर लेते हैं। वे देखते हैं; यह अकेली कला की रट गलार हुशकाने वाली गला-गला की सार्थकता भी नहीं रखती।"

निरालाजी जैसा कि सभी जानते हैं बहुत ही उत्कृष्ट कोटि का गद्य लिखने में सिद्ध-हस्त थे। वे संस्कृत के उद्धरण जहाँ कहीं अवसर आता था प्रयोग करने से नहीं चूकते थे। आशा है हिन्दी प्रेमी इस द्वितीय संस्करण को प्रथम संस्करण की भाँति ही अपनायेंगे।

उपन्यास

सम्मोहिता—ले०–उषादेवी मित्रा, प्रकाशक–नेशनल पब्लिशिङ्ग हाउस, दिल्ली। पृ० २५६, मू० ५.००

उषादेवी मित्रा हिन्दी की लब्धप्रतिष्ठ उपन्यास-लेखिका हैं। उनका यह नया उपन्यास मानव-हृदय के अनेक तारों और नारी जीवन की सारी व्यथा को साकार करने के लिए लिखा गया है। उपन्यास की कथा वङ्ग-प्रदेश के सामन्तवादी समाज के पात्रों को लेकर चलती है। वहाँ की नारी-समस्या के विविध रूपों में से कुछ इसमें स्थान पा सके हैं जैसे—विधवा-समस्या, दहेज-प्रथा, प्रेम-विवाह, बेमेल विवाह आदि। किन्तु लेखिका की गहरी आस्था मानव-हृदय की सत्व-गुणी प्रकृति में है तभी तो अन्त तक पहुँचते-पहुँचते हम अनेक पात्रों में भारी परिवर्तन होते देखते हैं किन्तु यह सब नाटकीय, अविश्वसनीय तथा अमनोवैज्ञानिक नहीं है। उनकी कला की सबसे बड़ी शक्ति उनको परिवेश को देखने और अङ्कित करने की यथार्थवादिनी शक्ति है। साहित्य की चाहे सभी विधाएँ बिना यथार्थ के पल्लवित और विकसित होते चलें किन्तु कथा-साहित्य कभी भी बिना यथार्थ के नहीं टिक सकता है। सम्मोहिता में सामाजिक यथार्थ का अच्छा चित्र है। प्रत्येक उपन्यास में जीवन को एक विशेष दृष्टिकोण से ही देखा जा सकता है। उषादेवी ने एक आदर्श ग्राम की कल्पना अन्त में दी है किन्तु वह थोथी, ऊपर से थोपी गई और गहरी दृष्टि से रहित है। यदि वे ग्रामीण जीवन की सामान्य जनता की समस्याओं को चित्रित करतीं तो निश्चित ही अन्तिम चित्र का कुछ विशेष मूल्य सिद्ध हो जाता। लगता है जैसे लेखिका को आदर्श की झख है, जो चाहे अविश्वसनीय ही क्यों न बन जाय, लेकिन आना चाहिए।

त्याग का देवता—ले०–परदेशी, प्रका०–कल्याणमल एण्ड सन्स, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर। पृ० १७९, मूल्य ३.५०

यह उपन्यास जैसा कि कहा गया है ऐतिहाहिक, सामाजिक और पारिवारिक है, किन्तु दूसरी ओर इनमें से कुछ भी नहीं है। इसमें राणा सांगा के चरित्र को वीर, विचारवान और त्यागी के रूप में, सूर्यमल्ल के चरित्र को त्याग के आदर्श रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इसकी घटनाएँ इतिहास सम्मत नहीं हैं। अतः इसे ऐतिहासिक कहना असमीचीन है। सामाजिक यह है नहीं क्योंकि तत्कालीन समाज का चित्र देने की अपेक्षा आज का समाज ही हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार की क्रान्तिकारी विचारधारा और सामाजिक प्रश्न इसमें उठाये गये हैं उतने मात्र से ही कोई उपन्यास सामाजिक यथार्थ को चित्रित करने वाला सिद्ध नहीं हो जाता।

उपन्यास जैसा कि इसकी आलोचना करते हुए इसके लेखक ने लिखा है उन सब गुणों से समन्वित

प्रतीत नहीं होता। हाँ इतना अवश्य है कि राजपूताने के श्रेष्ठ वीरों की कहानी कल्पना द्वारा रुचिकर ढङ्ग से अवश्य प्रस्तुत कर देता है।

गोरी—लेखक–गोवर्धनसिंह, प्रका०–कमल कुञ्ज प्रकाशन दिल्ली। पृष्ठ १४१, मूल्य ३.००

आंचलिक उपन्यासों का जो एक जोरदार हल्ला मचा था, अब उसका तुमुल घोष कुछ कम हो चला है। धीरे-धीरे यह पता चला है कि इन अनेक उपन्यासों में से अधिकांश कल्पना पर आधारित और यथार्थ से दूर थे, अतः प्रकाशन के साथ ही व्यर्थ सिद्ध हुए। प्रस्तुत उपन्यास भी जम्मू की संस्कृति को लेकर लिखा गया है। गोरी इस उपन्यास की नायिका है और उसका प्रेमी शिव नायक। नायिका एक शहराती के चक्कर में फँसती है और गर्भवती बनती है। वह शहराती उसे अस्वीकार करता है और तब गोरी और उसके पुत्र को अपनाने वाला शिबू हमारी श्रद्धा का आधार बन जाता है। इस कथा के साथ जम्मू की डग्गर संस्कृति का बहुरङ्गी चित्र भी दिया गया है। उनके समारोह, मेले, जादू-टोने आदि का सामाजिक चित्र भी दिया गया है। सब कुछ मिलाकर उपन्यास सामान्य है।

कहानी

सरसी – ले०–शिखरचन्द, प्रका०–धीरेन्द्र कासल्ल नरेन्द्र साहित्य कुटीर, मोतीमहल, इतवारिया, इन्दौर (म० प्र०), पृ० १७०, मू० १.५०

शिखरचन्द जैन की कहानियों का यह संग्रह रुचि परिमार्जन और शिक्षण दोनों उद्देश्यों की पूर्ति करने में समर्थ है। जैन सोद्देश्य लेखक हैं और उनकी यह उद्देश्य उन्मुखता उनकी प्रत्येक कहानी द्वारा प्रकट है। उनकी कहानियों में सामाजिक आधार सर्वत्र मिलता है। आधुनिक जन-जीवन पर प्रकाश डालते हुए जो कहानियाँ लिखी हैं वे समान उद्देश्य रखने पर भी वैविध्यपूर्ण हैं। वे कला को यथार्थ पर आधारित करके आदर्श की ओर उन्मुख करने में विश्वास करते हैं। हिन्दी जगत उनकी पूर्व रचनाओं को जिस सम्मान के साथ अपनाता रहा है विश्वास है कि इस संग्रह को भी इसी भावना से स्वीकार करेगा।

नाटक

अपनी धरती—ले०–रेवतीशरण शर्मा, प्रकाशक–नेशनल पब्लि० हाउस, दिल्ली। पृष्ठ ९२, मूल्य २.००

रेवतीशरण शर्मा हिन्दी साहित्य के नवीन साहित्यकार हैं किन्तु उनमें दम-खम है और कहने के लिए बहुत कुछ है। वे उस शिल्प से भी परिचित हैं जो अनुभूति को अच्छे से अच्छे ढङ्ग से व्यक्त करती है। इनके एकाङ्की नाटक और रेडियो रूपक हिन्दी के श्रेष्ठतम माने जाने वाले साहित्यकारों से भी अधिक व्यञ्जनात्मक तथा उन कमियों से रहित होते हैं जो उनके साहित्य में मिलती हैं। इस नाटक में देश की सीमा पर होने वाले चीनी आक्रमण के एक प्रसङ्ग का अत्यन्त मार्मिक शैली में चित्रण किया गया है। देश को अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए किस प्रकार की कुरबानी करनी पड़ती है हमें शर्माजी के रूप में एक ऐसा होनहार हिन्दी-सेवी मिलने की आशा है जिसकी सानी के सम्भवतः कम ही होंगे।

मुद्राराक्षस—ले०–भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सम्पादक–डा०–सुरेशचन्द्र गुप्त, प्रका०–हिन्दी-साहित्य संसार, दिल्ली। पृ० १८६, मू० २.००

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का यह प्रसिद्ध नाटक यद्यपि अनुवादित है किन्तु इसके लिए श्रेय इस प्रकार का मिला है मानो यह उनकी मौलिक कृति हो। इस संस्करण में शुद्ध पाठ प्रामाणिक व्याख्या तथा गुण दोषादि का विश्लेषण करने की पूर्ण जिम्मेदारी दिखाई है। विद्यार्थियों के लिए यह संस्करण उपयोगी है यह निर्विवाद तथ्य है। डा० गुप्त ने जो टीका भाग दिया है वह अत्यन्त उपादेय है और विद्यार्थियों की आवश्यकता पूर्ति करने में समर्थ है।

चन्द्रावली नाटिका—ले०–श्री रुद्रदेव शर्मा, (सम्पा०–प्रो० भूषण स्वामी), प्रका०–हिन्दी साहित्य संसार दिल्ली। पृष्ठ १२०, मूल्य १.५०

भारतेन्दु की चन्द्रावली नाटिका अनेक परीक्षाओं

स्वीकृत है। पुस्तक का यह संस्करण उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए तैयार किया गया है। यद्यपि इसमें दिया हुआ परिशिष्ट और प्रारम्भ में दी हुई ४४ पृष्ठों की प्रश्नोत्तरी विद्यार्थियों की आवश्यकता पूर्ति के लिए लिखी गई है किन्तु उसका आकार और स्तर अत्यन्त हेय है। इससे विद्यार्थियों की आवश्यकता पूर्ति नहीं हो पाती है। आशा है अगले संस्करण में इन कवियों की पूर्त्ति करा दी जायगी जिससे पुस्तक की उपादेयता सिद्ध हो सके।

मनोविज्ञान

मानसिक सफलता—ले०—दयानन्द वर्मा, प्रका०—नारायणदत्त सहगल एण्ड सन्स, दरीबां कलाँ, दिल्ली—६। पृ० ११२, मू० २.५०

मनोवैज्ञानिक निबन्धों का यह सङ्कलन उतना ही सङ्कलन है जितना कि मनोवैज्ञानिक साहित्य होता है। विषय और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से इसके परिशोधन की आवश्यकता है। हाँ, एक बात अवश्य है कि कुछ उदाहरण सभी निबन्धों से दे दिये गये हैं उनके कारण उनमें अरोचक तत्व कम हो गया है। क्रोध शीर्षक निबन्ध ऐसा है जो आज से पहले कुछ निबन्धकारों ने अपना विषय बनाया था और उस पर अच्छे-अच्छे निबन्ध लिखे थे। निबन्ध को उनके समक्ष रखकर देखने का कोई प्रश्न ही नहीं है। प्रकाशक ने इस बालोचित पुस्तक का जो सुन्दर रूप प्रकाशित किया है वह हमें यह विश्वास दिलाता है कि आज हिन्दी में अच्छे प्रकाशकों की कमी नहीं है। अच्छे लेखकों की ही कमी है।

चिकित्सा

आयुर्वेदीय इन्द्र निदान—ले०—वैद्य इन्द्रमणि जैन, प्रका०—महेन्द्रकुमार जैन, सिद्धान्तरत्न, आयुर्वेद विशारद। पृ० ३४०, मू० ६.००

आयुर्वेद शास्त्र की प्रमाणिक पुस्तकें संस्कृत में हैं। और संस्कृत आज बोलचाल की भाषा न होने से वे ग्रन्थ सामान्य जनता के लिए अनुपादेय बन गये हैं। अतः आज की यह आवश्यकता है कि संस्कृत के ग्रन्थों को सरल हिन्दी में प्रस्तुत किया जाय। आयुर्वेद में माधव निदान 'निदान' ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ है। इस पुस्तक में माधव-विदान का हिन्दी पद्य अनुवाद किया है। वे ग्रन्थ केवल टीकामात्र नहीं है वरन् उसमें ऐसे रोगों को भी सम्मिलित किया गया है जो मूल ग्रन्थ में नहीं हैं। इससे इस ग्रन्थ की उपयोगिता और बढ़ गई है। आशा है चिकित्सा संसार में इस ग्रन्थ को अपनाकर हिन्दी के प्रति अपना सम्मान प्रकट करेगा।

धर्म

समयसार भाष्यम्—ले०—श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत (भा० श्री मनोहरजी वर्णी), प्रका०—श्री सहजानन्द वर्णी, चातुर्मास समिति, कानपुर। पृ० १४१, मू०

विद्वान् भाष्यकार ने अपने कानपुर चातुर्मास के प्रवास में समयसार का भाष्य लिखा है इससे अध्यात्म जैसे दुरूह विषय का सुन्दर और सरल भाषा में ऐसा ज्ञान मिलता है जिससे अनेक उलझे हुए प्रश्न सहज हल हो जाते हैं। आशा है धर्मप्रेमी लोग इस ग्रन्थ को अपनाकर इससे लाभ उठाएंगे।

बालोपयोगी

बच्चे कब क्या सीखते हैं?—ले०—अनन्त, प्रका० नारायण दत्त सहगल एन्ड सन्स दरीबा कलाँ दिल्ली-६। पृ० १८४, मूल्य ३.५०

बच्चों के सम्बन्ध में निकलने वाला साहित्य विशेषतः हिन्दी में उच्च स्तरीय नहीं होता यह आरोप पुराना होते हुए भी किसी सीमा तक आज भी सत्य है। बाल साहित्य से भी अधिक अभिभावक साहित्य की आवश्यकता अखरती है। बड़ी भारी आवश्यकता इस बात की है कि हम इस विषय का विश्लेषण वैज्ञानिक दृष्टिकोण से करें। इस दशा में प्रस्तुत पुस्तक एक अनुकरणीय प्रयास है। इन विषयों पर और अधिक व्यापक जानकारी मिले ऐसा प्रयास हिन्दी लेखकों के लिए आज अनिवार्य है। इस पुस्तक में बच्चों के विकास, पालन तथा सफल नागरिक बनाने के लिए जिन बातों का ध्यान रखने की आवश्यकता है उन पर वैज्ञानिक तथा सरल भाषा में विवेचन किया गया है। इस प्रकार की पुस्तकें केवल सिद्धान्तों

को सामने लेकर चलती हैं और यही उनकी असफलता का कारण सिद्ध होता है।

प्रस्तुत पुस्तक में जागरूक लेखक ने इस ओर विशेष सतर्कता बर्ती है। उसने विशेष सम्बन्धित समस्त जानकारी देने का प्रयास किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक का हिन्दी जगत में व्यापक स्तर पर उपयोग होगा। प्रत्येक परिवार में इसकी एक प्रति होना अनिवार्य है।

स्फुट

आर्ट की कहानी—ले०—श्री रामनाथ पसरीचा, प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिङ्ग हाउस, दिल्ली। पृ० ५४, मू० २.००

कला के इतिहास से सभी बच्चे परिचित हों, यह आवश्यक है। यह पुस्तक इसी उद्देश्य से लिखी गई है। इसमें विश्व के अनेक प्रसिद्ध कलाकारों का परिचय दिया गया है जो अपने क्षेत्र के प्रकाश स्तम्भ के रूप में मान्य हैं। प्राचीन कलाकारों के साथ ही साथ कुछ नवीन कलाकारों का भी परिचय कराया गया है। मिकासी जैसे नवीन कलाकार से परिचित होकर हमारे कला प्रेमी बच्चे अपनी रुचि को आधुनिक बना सकेंगे। पसरीचाजी ने अनेक चित्रों के रेखाचित्र इस पुस्तक में दे दिए हैं, जिससे यह लघु पुस्तिका अत्यन्त आकर्षक और उपादेय बन गई है।

भारत का सीमान्त—ले०—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिङ्ग हाउस, दिल्ली। पृष्ठ १३८, मूल्य ४.००

देश पर हुए चीनी आक्रमण के सन्दर्भ में इस पुस्तक का प्रकाशन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस पुस्तक में देश पर होने वाले आक्रमण की पृष्ठभूमि को जानने की पूरी-पूरी सामग्री दी गई है। इसमें असम, नेफा आदि का पूरा-पूरा परिचय दिया गया है। नेफा के निवासियों का जीवन तथा सीमाप्रदेश की जातियों का विवरण है। लद्दाख और मेकमोहन रेखा का पूरा-पूरा परिचय देकर तिब्बत की स्थिति को समझाया गया है और अन्त में चीनी आक्रमण तथा समझौते की बातचीतों पर भी प्रकाश डाला गया है। इस पुस्तक में विद्वान लेखक की यह भावना अथ से इति तक दिखाई देती है कि वह निर्वैर वृत्ति लेकर चला है। आज हमें चीनी विचारों और प्रक्रियाओं का विरोध करना है न कि चीनी जनता और उसकी महान सांस्कृतिक विशेषताओं का। यदि हम यह समझकर आगे बढ़ेंगे तो निश्चित ही विजय हमें वरण करेगी। हिन्दी में इस प्रकार के साहित्य का अधिकाधिक प्रचार होने की आवश्यकता है।

सन्तुलन—सम्पादक—राजेन्द्र मिलन, समानान्तर प्रकाशन २१७ माईथान, आगरा। पृष्ठ १७५, मू. ३.७५

इस पुस्तक में कहानी, नई कविता, गीत, स्केच, एकाङ्की, लघुकथा, उपन्यासांश, रिपोर्टाज, लेख आदि साहित्य की विभिन्न विधाओं का एक स्थान में संग्रह और सङ्कलन किया गया है। इस प्रकार इस एक पुस्तक के पढ़ने से पचमेल मिठाई खाने का सुख मिल सकता है।

बिखरे दाने—ले०—हरिदास ज्वाल, प्रका.—निरंजना प्रकाशन, जहानाबाद (गया), पृ० ९८, मू. २.००

पन्द्रह लघु लेखों की इस पुस्तक में ताजगी और मौलिकता मिलती है। लेख पढ़ने योग्य हैं।

नई जिन्दगी—ले०—रामनाथ सुमन, प्रका०—हिन्द पाकेट बुक्स प्रा० लि०, दिल्ली। पृ० १२०, मू० १.००

सुमनजी हिन्दी के सिद्धहस्त लेखक हैं। उनकी इस पुस्तक में नौजवानों को अनेक काम की बातें मिलेंगी। पुस्तक नैतिक दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

पति-पत्नी—ले०—डा० लक्ष्मीनारायण, प्रकाशक—हिन्द पाकेट बुक्स प्रा० लि०, दिल्ली। पृष्ठ १२०, मू. १.००

गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित विशेषकर सैक्स सम्बन्धी अनेक उपयोगी बातें देकर लेखक ने यह पुस्तक नव विवाहित पति-पत्नियों के लिये बहुत उपयोगी बना दिया है।

उर्दू शायरी के सात रंग—प्रकाशक—हिन्द पाकेट बुक्स प्रा० लि०, दिल्ली। पृष्ठ १२०, मू० १.००

उर्दू कविता ने मुक्त छन्दों के इस संग्रह में उर्दू की कई तरह की कविताओं का सङ्कलन है निश्चय ही पुस्तक आकर्षक और मनोरंजक है।

आजादी खतरे में है। पूरी ताकत लगा कर इसकी रक्षा कीजिए।

—जवाहरलाल नहरू

आपकी किफायत में देश की ताकत है

उपजाओ अधिक, खर्च कम करो

विकास कार्यों से जो भी फल मिले उस पर सबसे पहले देश की रक्षा का हक है। हमें उपज बढ़ा कर और खर्च घटा कर देश की रक्षा के लिए अधिक सामग्री और साधन जुटाने हैं। इससे मंहगाई को रोकने में भी मदद मिलेगी। हर प्रकार की फजूलखर्ची और बर्बादी को रोकिए।

DA 64/F3

REGD. No. L, 263.
Sahitya-Sandesh, Agra.
May 1964
License No. 16
Licensed to post without prepayment.

रामचरनलाल द्वारा साहित्य-प्रेस में मुद्रित तथा साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा से प्रकाशित।

साहित्य-सन्देश

जून १९६४

सम्पादक—महेन्द्र एक प्रति ०.५०

साहित्य रत्न भंडार
आगरा

'साहित्य-सन्देश' आगरा की विगत १२ वर्षों की फाइलों का विवरण

सन्	पाठ्य सामग्री की पृष्ठ संख्या	लेखों की संख्या	विशेषाङ्क जो सम्मिलित हैं	मूल्य	डाक-व्यय
१९५१-५२	५३२	१०५	आलोचनाङ्क	१)	१)६६
१९५२-५३	५१८	११४	कहानी अङ्क	१)	१)६६
१९५३-५४	५१८	१०९	आधुनिक काव्याङ्क	१)	१)६६
१९५४-५५	४८०	९६			१)६६
१९५५-५६	५०१	१०८	अन्त: प्रान्तीय नाटकाङ्क	१)५०	१)५४
* १९५६-५७	५०१	११८	आधुनिक उपन्यास अङ्क	१)	१)७८
१९५७-५८	५५६	१२८	(१) भाषा विज्ञान विशेषाङ्क	२)	१)८४
			(२) प्रगति विशेषाङ्क	१)	
* १९५८-५९	५५८	१३४	(१) सन्त-साहित्य विशेषाङ्क	१)५०	१)९०
*			(२) ऐतिहासिक उपन्यास अङ्क	२)	
१९५९-६०	५२०	१२४	(१) रीतिकाव्यालोचनाङ्क	२)	१)८४
			(२) प्रगति अङ्क १९६०	१)	
१९६०-६१	५०८	१०५	(१) शोध विशेषाङ्क	२)	१)९०
*			(२) प्रगति विशेषाङ्क १९६१	१)	
१९६१-६२	५८४	१३४	(१) निबन्ध-विशेषाङ्क	२)	१)९५
			(२) निराला विशेषाङ्क	१)	
* १९६२-६३	५२५	१२४	(१) साहित्य-शास्त्र विशेषांक	१)५०	१)९५
*			(२) रांगेय राघव स्मृति अंक	१)	
* १९६३-६४			(१) शिवपूजनसहाय स्मृति अंक	)५०	

मोटी वसली की जिल्द, आवरण पृष्ठ और विषय-सूची के साथ

प्रत्येक फाइल का मूल्य ६) है। पृथक-पृथक मँगाने पर डाक-व्यय २१)३४ न० पै० लगेंगे जैसा प्रत्येक फाइल के सामने लिखा है। पूरा सैट एक साथ मँगाने पर रेल से हम अपने खर्चे पर ७२) में आपके पास भेज देंगे। आर्डर भेजते समय आप अपने रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखें।
पहले पाँच वर्षों की फाइल बहुत कम बची हैं। १९५१ से पूर्व का एक भी अङ्क शेष नहीं है।
* चिन्हित विशेषाङ्क फुटकर प्रतियों में भी मिल सकेंगे—शेष सभी विशेषाङ्क फाइलों में ही मिलेंगे।

'साहित्य-सन्देश'

आलोचना-प्रधान मासिक-पत्र वार्षिक मूल्य ५)

पता—'साहित्य-सन्देश' कार्यालय, आगरा।

साहित्य-सन्देश

जून १९६४

सम्पादक—महेन्द्र एक प्रति ०.५०

साहित्य रत्न भंडार
आगरा

'साहित्य-सन्देश' आगरा की विगत १२ वर्षों की फाइलों का विवरण

सन्	पाठ्य सामग्री की पृष्ठ संख्या	लेखों की संख्या	विशेवाङ्क जो सम्मिलित हैं	मूल्य	डाक-व्यय
१९५१-५२	५३२	१०५	आलोचनाङ्क	१)	१)६६
१९५२-५३	५१८	११४	कहानी अङ्क	१)	१)६६
१९५३-५४	५१८	१०९	आधुनिक काव्याङ्क	१)	१)६६
१९५४-५५	४८०	९६			१)६६
१९५५-५६	५०१	१०८	अन्तः प्रान्तीय नाटकाङ्क	१)५०	१)५४
* १९५६-५७	५०१	११८	आधुनिक उपन्यास अङ्क	१)	१)७८
१९५७-५८	५५६	१२८	(१) भाषा विज्ञान विशेषाङ्क	२)	१)८४
			(२) प्रगति विशेषाङ्क	१)	
* १९५८-५९	५५८	१३४	(१) सन्त-साहित्य विशेषाङ्क	१)५०	१)९०
*			(२) ऐतिहासिक उपन्यास अङ्क	२)	
१९५९-६०	५२०	१२४	(१) रीतिकाव्यालोचनाङ्क	२)	१)८४
			(२) प्रगति अङ्क १९६०	१)	
१९६०-६१	५०८	१०५	(१) शोध विशेषाङ्क	२)	१)९०
*			(२) प्रगति विशेषाङ्क १९६१	१)	
१९६१-६२	५८४	१३४	(१) निबन्ध-विशेषाङ्क	२)	१)९५
			(२) निराला विशेषाङ्क	१)	
* १९६२-६३	५२५	१२४	(१) साहित्य-शास्त्र विशेषांक	१)५०	१)९५
*			(२) रांगेय राघव स्मृति अंक	१)	
* १९६३-६४			(१) शिवपूजनसहाय स्मृति अंक	)५०	

मोटी वसली की जिल्द, आवरण पृष्ठ और विषय-सूची के साथ

प्रत्येक फाइल का मूल्य ६) है। पृथक-पृथक मँगाने पर डाक-व्यय २१)३४ न० पै० लगेंगे जैसा प्रत्येक फाइल के सामने लिखा है। पूरा सैट एक साथ मँगाने पर रेल से हम अपने खर्चे पर ७२) में आपके पास भेज देंगे। आर्डर भेजते समय आप अपने रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखें।

पहले पाँच वर्षों की फाइल बहुत कम बची हैं। १९५१ से पूर्व का एक भी अङ्क शेष नहीं है।

* चिन्हित विशेषाङ्क फुटकर प्रतियों में भी मिल सकेंगे—शेष सभी विशेषाङ्क फाइलों में ही मिलेंगे।

'साहित्य-सन्देश'

आलोचना-प्रधान मासिक-पत्र वार्षिक मूल्य ५)

पता—'साहित्य-सन्देश' कार्यालय, आगरा।

सम्पादक : महेन्द्र सहकारी : डॉ० मक्खनलाल शर्मा

भाग २५] आगरा—जून १९६४ [अङ्क १२

हमारी विचारधारा

आ० शुक्ल की समीक्षा की पृष्ठभूमि और विज्ञानवाद—

हिन्दी-आलोचना में इतिवृत्तात्मक-युग का विकसित रूप छायावादी-समीक्षा है। जब एक ओर छायावादी समीक्षा पनप रही थी तभी दूसरी ओर आचार्य शुक्ल अपने आलोचना-सिद्धान्तों से हिन्दी जगत् को प्रकाशित कर रहे थे। यदि हम हिन्दी समीक्षा के क्रमिक विकास पर विचार करें तो हमें यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि द्विवेदी-युग के पश्चात् एक ओर छायावाद युग आ जाता है और दूसरी ओर आचार्य शुक्ल अपनी समीक्षा प्रारम्भ करते हैं। आचार्य शुक्ल से पूर्व आचार्य द्विवेदी विज्ञान की ओर विशेष ध्यान आकृष्ट कर चुके थे। विज्ञान न केवल यूरोप में वरन् भारतवर्ष में भी धीरे-धीरे जन-मानस को अपनी ओर आकृष्ट करता चला जा रहा था। १९२० के पश्चात् औद्योगिक क्रान्ति का मुखर स्वरूप सामने आने लगा था। महात्मा गान्धी के नेतृत्व में चलने वाला स्वातन्त्र्य आन्दोलन अब स्पष्ट रूप से पूर्ण स्वतंत्रता की माँग दुहरा रहा था। औद्योगिक क्रान्ति यान्त्रिकता को सामने करके चलती है और विज्ञान की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हो जाती है। इस युग में ऐसा होना स्वाभाविक था। अतः आचार्य शुक्ल के साहित्य की पृष्ठभूमि के जितने सशक्त तत्त्व हैं उनमें विज्ञानवाद सम्भवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

आचार्य शुक्ल ने 'विश्व-प्रपञ्च' शीर्षक से Riddle of The Universe का अनुवाद किया। इसे अनुवाद मात्र कहना अनुपयुक्त होगा। इस ग्रन्थ में आचार्य शुक्ल ने अपनी ओर से एक विस्तृत भूमिका एवं पाद-टिप्पणियाँ दी हैं। इन टिप्पणियों में उनकी विज्ञानवादी मान्यताएँ स्पष्ट हुई हैं। इस दृष्टिकोण के व्यापक प्रभाव को हम उनकी समीक्षा के व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों पहलुओं के साथ ही इतिहास तथा निबन्धों पर भी पड़ता देखते हैं।

आचार्य शुक्ल जगत् को सत्य और विकासशील मानते हैं। उन्हें अध्यात्मवादियों की यह रूढ़ परम्परा-वादी मान्यता स्वीकार नहीं है कि जगत् जड़ और स्थिर है। पदार्थ को वे अनादि और अनन्त मानते हैं[1], जैसा कि आज का वैज्ञानिक कहता है। उनकी इस सम्बन्ध में स्पष्ट मान्यता निम्न शब्दों से प्रकट हो जाती है—

'विश्व में जितना द्रव्य है, उतना ही सदा से है और सदा रहेगा—उतने से न घट सकता है, न बढ़ सकता है।'[2]

आचार्य शुक्ल की मान्यताएँ मार्क्सीय दर्शन से

[1] आचार्य शुक्ल, विश्वप्रपञ्च पृष्ठ १२।
[2] वही पृष्ठ १२।

मिल जाती हैं। मार्क्सीय दर्शन में गति और पदार्थ को अविभाज्य माना गया है। गति बिना पदार्थ के उसी तरह नहीं हो सकती, जिस प्रकार कि पदार्थ की स्थिति बिना गति के नहीं होती।[१] मार्क्सवाद की यह मान्यता विज्ञानानुमोदित है। आइंस्टीन ने यह सिद्ध कर दिया है कि गति और पदार्थ के इन सम्बन्धों से भी ऊपर कुछ नियम हैं और उन्होंने उनकी खोज भी की है। आचार्य शुक्ल ने मार्क्स का विधिवत् अध्ययन नहीं किया था। वे हेकेल और अन्य वैज्ञानिकों की आधुनिकतम शोधों से परिचित थे। उनका दृष्टिकोण एक सच्चे सत्य-साधक और जिज्ञासु का था। उन्हें जो कुछ नवीन और मानवीय वृद्धि का विकसित रूप प्रतीत होता था, वे उस पर विचार करते थे। आचार्य शुक्ल ने पदार्थ और गति के सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए लिखा है[२]—

'द्रव्य और शक्ति (गति) नित्य सम्बन्ध है। एक की भावना दूसरे के बिना हो ही नहीं सकती। न शक्ति के बिना द्रव्य रह सकता है और न द्रव्य के आश्रय के बिना शक्ति कार्य कर सकता है। अपने चारों ओर हम जो कुछ देखते हैं वह सब द्रव्य और शक्ति का ही कार्य है।'

शुक्लजी का दृष्टिकोण वैज्ञानिक होने के कारण भौतिकवादी है। वे प्रकृति में वही सत्ता मानते हैं जो मनुष्य में होती है।[३] उनकी धारणा है कि प्रकृति का उद्देश्य सृष्टि का विकास है।[४] प्रकृति द्वारा जगत की रचना ठीक प्रकार हुई, मानी गई है जिस प्रकार माता की कोख में भ्रूण का पालन एवं विकास होता है।[५] उनकी दृष्टि में परिवेश मात्र प्रकृति की देन न होकर आनुवंशिक विशेषताएँ भी प्रकृति द्वारा प्राप्त हुई हैं।

आचार्य शुक्ल ने अपनी आस्था हेकेल तथा डार्विन के विकासवाद में बहुत गहराई तक प्रकट की है। विकास का अर्थ उनकी समझ से एकरूपता से अनेकरूपता की ओर निरन्तर प्रवाहित होने वाली गति मात्र है।[१] शुक्लजी मानते हैं कि गति के अपने नियम हैं, जगत् के सम्पूर्ण व्यापार इन्हीं नियमों से संचालित रहते हैं। जगत् का निर्माण परमाणुओं द्वारा हुआ है। परमाणुओं से अणु और अणुओं से पदार्थ निर्मित हुआ है। परमाणुओं में आकर्षण एवं विकर्षण की शक्ति है। परमाणु जब अपनी प्रकृति वाले परमाणुओं से मिलते हैं, तब द्रव्य की उपलब्धि होती है। एक द्रव्य से दूसरा और दूसरे से तीसरा निर्मित होकर जगत की सृष्टि हुई है।[२]

शुक्लजी स्थिर यौन सिद्धान्त में किंचित आस्था नहीं रखते। उन्हें मान्य है कि जीव सृष्टि क्रम से एक में विकसित होकर दूसरी तीसरी विकासवाद के अनुसार हुई है[३] जात्यन्तर परिणाम का सिद्धान्त उन्हें पूर्णतः मान्य है।[४] इस सिद्धान्त में यह माना जाता है कि एक जाति के जीव से दूसरी जाति के जीव का विकास होता है। लाखों वर्षों में एक रूप से अनेक रूप बने हैं—एक ढाँचे से अनेक ढांचों का क्रमशः विकास होता चला गया है।[५] सृष्टि विज्ञान के सम्बन्ध में वे मानते हैं कि जिस विशिष्ट प्रकार के गुण की प्रधानता वाले परमाणु मिल गए, उनसे उसी गुण की प्रधानता वाला पदार्थ बन गया। पहले छोटे-छोटे और सामान्य कोटि के पदार्थ बने होंगे और कालान्तर में धीरे-धीरे उनसे क्रमिक रूप से विकसित होकर उन्होंने बड़े-बड़े एवं जटिल रूप ग्रहण किए होंगे। पहले जल बना होगा और उसी से जीवन अस्तित्व में आया होगा[६] और तभी पौधों और वृक्षों का सृजन सम्भव हो सका

[१] Engles : Anti Duhring, Part I, Chapter VI.
[२] आ० शुक्ल—विश्व प्रपञ्च पृ० १२।
[३] वही पृ० ३३, ३६।
[४] वही पृ० २२, २९।
[५] वही पृ० २७।

[१] वही पृ० ११२।
[२] वही पृ० ६, ७, ९ से ११ के आधार पर।
[३] वही पृ० २० २५।
[४] वही पृ० २६।
[५] वही पृ० ३०।
[६] वही पृ० ९२।

होगा। क्रमशः जीव उत्पन्न हुए होंगे, किन्तु उनमें सर्व प्रथम जल-जीव ही अस्तित्व में आए होंगे। फिर क्रमशः जल-थल-चारी, सरी-सृप पक्षी, दुग्धपायी, जरायुज तथा वनमानुष आदि का विकास हुआ होगा। वनमानुष से मनुष्य का विकास हुआ है। इन्द्रियों का विकास भी धीरे-धीरे हुआ है।[१]

शुक्लजी ने यह स्वीकार किया है कि वे सजीव की उत्पत्ति निर्जीव से मानते हैं। जीवन के लिये अन्य तत्त्वों की अपेक्षा जल-तत्त्व का अधिक तथा प्राथमिक महत्व है। वे मानते हैं कि ज्ञानेन्द्रियों और अन्तःकरण का निर्माण भी विभिन्न प्रकार के परमाणुओं से हुआ है।[२] इसका अर्थ यह नहीं है कि आचार्य शुक्ल डार्विन, हेकेल और शेफर जैसे विज्ञान-वेत्ताओं की मान्यताओं को पूर्ण रूप से स्वीकार करके चले हैं और इन स्वीकृतियों के पीछे उनका अपना कोई चिन्तन नहीं है। आचार्य शुक्ल ने सारे प्रश्नों पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया है। उन्हें प्रतीत हुआ है कि विज्ञान यद्यपि यथेष्ट सीमा तक आगे आकर अनेक प्रश्नों का उत्तर देता है और समस्याओं को सुलझाता है किन्तु जो समस्याएँ विज्ञान द्वारा भी अनुत्तरित हैं, क्या हम उन पर विचार नहीं कर सकते हैं? आचार्य शुक्ल किसी वाद या दृष्टिकोण से अपने को सीमित मानकर नहीं रहते हैं। वे सदैव जिज्ञासु बने रहकर उपलब्ध ज्ञान की सहायता से प्रस्तुत प्रश्नों का हल खोजते हैं। इसी का परिणाम है कि विज्ञानवादी होते हुए भी आचार्य शुक्ल ने अनेक विज्ञानवेत्ताओं के ज्ञान की सीमाओं में अपने को सीमित करके नहीं रखा है।

उन्होंने स्पष्ट रूप से अपना यह मतभेद भी प्रकट कर दिया है कि हेकेल आदि के समान वे चैतन्य को परिणाम मात्र नहीं मानते, वे आत्मा की स्थिति स्वीकार करते हैं। वे विकासवादी कोटि के आत्मवादी हैं। उन्हें आत्मवृत्ति या द्रव्य गुण के रूप में अमान्य है। वे उसे सत्ता मात्र मानते हैं जो भूतों से परे और स्वतन्त्र है। वह गति को नियन्त्रित नहीं करती, अधि का निर्माण करती है। वह अकर्त्ता और व्यापार हीन है। आचार्य शुक्ल की यह मान्यता अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा आज के मेधावी विचारक के लिए अत्यन्त स्फूर्तिदायक है। आज का विज्ञान उस स्थिति में पहुँच गया है जबकि आत्मा की सत्ता को मानने पर उस पद्धति से विचार कर रहा है जोकि मार्क्सवाद में अस्वीकृत है। महान अत्याधुनिक विचारों को हमारे सामने लाने वाले विचारक आचार्य विनोबा भावे यह कहते हैं कि आज का विश्व केवल विज्ञान या केवल अध्यात्म पर नहीं चल सकता है। आज अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय ही हमें सच्चा मार्ग दिखा सकता है। उनकी धारणा है कि जहाँ विज्ञान आकर रुक जाता है वहीं से अध्यात्म का प्रारम्भ होता है। वे सर्वोदय के लिये निम्न सूत्र काम में लाते हैं—

विज्ञान + आत्मवाद = सर्वोदय

आचार्य शुक्ल हमें इसी मान्यता को स्वीकार करते दिखाई देते हैं। विज्ञान उनकी विचारधारा का आधार है किन्तु विज्ञान की सीमा उनकी सीमा नहीं है। वे विज्ञान से ऊपर उठ कर अध्यात्म—आत्म तत्त्व को स्वीकार करते हैं और इस प्रकार विज्ञान को भी प्रोत्साहित करते हैं कि वह आगे बढ़े और अध्यात्मवादी तत्त्वों का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करे।

शुक्लजी ने समाज, धर्म, संस्कृति, ईश्वर, भक्ति आदि पर इस ग्रन्थ की भूमिका में विचार किया है, और इस सम्बन्ध में उनके विचार विज्ञानवाद के दृष्टिकोण के नितान्त अनुकूल हैं। विज्ञानवाद जिस प्रकार सारे तत्त्वों का विकास ऐतिहासिक क्रम में निरन्तर परिवर्तन होता देखता है, उसी प्रकार शुक्लजी भी मानते हैं कि जैसे-जैसे समाज का रूप बदलता जाता है, वैसे ही वैसे देश, काल के अनुसार धर्म के स्वरूप में भी विकास होता चला गया है। धर्म और अधर्म की भावनाओं का आधार वे लोक-रक्षा मानते हैं, न कि ईश्वर या अलौकिक शक्ति। धर्म लोक की धारणा, सञ्चालन तथा कल्याण के लिए निर्मित हुआ है। अनेक धर्मों के भिन्न-भिन्न रूपों का कारण, देश-

[१] वही पृ० २३, २४, ५३ के आधार पर।

[२] विश्व प्रपञ्च: पृ० ३२, ५३, ५४, ५५ के आधार पर।

कालगत अन्तर ही माना गया है। कोई भी धर्म ऐसा नहीं है जो सृष्टि के आदिम युग से आज तक उसी रूप में चला आ रहा हो। ईश्वर भक्ति में उन्हें किसी विशिष्ट देवी देवता का आग्रह नहीं है। इस सम्बन्ध में उन्हें गीता की यह मान्यता स्वीकार है कि जो ईश्वर के जिस रूप को भजेगा, उसे वैसे ही फल की प्राप्ति होगी।

उनकी भौतिकवादी तथा धार्मिक भावनाओं के समन्वित रूप में देखने पर हम कह सकते हैं कि वे आत्मा और शरीर, जगत और जीवन, बुद्धि और हृदय, व्यक्ति और समाज, कला और विज्ञान के समान विकास के पक्षपाती हैं।

विज्ञानवादियों के समान वे साहित्य और जीवन का नित्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। साहित्य को जीवन से अलग हटाने वाले दार्शनिकों तथा मान्यताओं का उन्होंने खण्डन किया है।[1]

'काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते। उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु मानते हैं। 'कला कला ही के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक क्या कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते।'

आज का विज्ञानवादी आदर्श की अपेक्षा यथार्थ पर अधिक जोर देता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह यथार्थ के इतना पीछे पड़ जाय कि भविष्य के प्रति देखने की दृष्टि से ही रहित हो जाय। अतः आदर्श और यथार्थ का समन्वय ही इधर हो सकता है और शुक्लजी की मान्यता इसी प्रकार की है। आचार्य शुक्ल ने 'उसने कहा था' को हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानी घोषित करते हुए लिखा—[2]

"इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ सम्पुटित है। घटना इसकी ऐसी ही है, जैसी बराबर हुआ करती है" और इसका कारण है यथार्थवाद। यह ठीक है कि इस यथार्थ का रूप लोक मङ्गलकारी है और इसमें तद्नुरूप आदर्श का

[1] आ० शुक्ल, रस मीमांसा पृ० २०१।

[2] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५५७–८।

अनिवार्य संयोजन है। जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है। मार्क्सवादी यथार्थवाद के मान्य समीक्षक गोर्की ने भी इसी रूप को स्वीकार किया है।

आज का विज्ञानवादी सौन्दर्य को गतिशील मानता है न कि स्थिर। सत्य के समान उसकी सौन्दर्य मान्यता सापेक्षतावादी है न कि निरपेक्ष। इसे आज की सर्वोदयी दृष्टि से भी मान्यता प्रदान की जा चुकी है। सर्वोदय में इस मान्यता के साथ ही साथ जगत् को नित्य परिवर्तनशील भी कहा गया है। आचार्य शुक्ल ने इस सम्बन्ध में विज्ञान का अनुसरण करते हुए लिखा है कि सौन्दर्य मङ्गल के साथ जुड़ा हुआ है। वह गति के समान नित्य परिवर्तनशील है।[1]

'अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर और निर्विशेष (Static and absolute) सौन्दर्य का मङ्गल कहीं नहीं है। वह किसी वाद के भीतर ही मिल सकता है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में गत्यात्मक सौन्दर्य और गत्यात्मक मङ्गल ही है। सौन्दर्य मङ्गल की यह गति नित्य है। गति की यही नित्यता जगत की नित्यता है।'

आज का विज्ञानवाद ऐतिहासिक आधार पर समाज एवं वर्ग सङ्घर्ष की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इतिहास समाज के बदलते हुए सम्बन्धों की 'कहानी' कहता है। इतिहास के परिवर्तन का आधार आचार्य शुक्ल ने भी जनता की बदलती हुई मनोवृत्ति को स्वीकार किया है।[2]

"जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्त्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्त्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामञ्जस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।"

इस विवेचन के आधार पर यह कह सकते हैं कि आचार्य शुक्ल की मान्यताओं में एक प्रकार की आन्त-

(शेष पृष्ठ ४७९ पर)

[1] चितामणि, पृ० ८७।

[2] हि० सा० इ० काल विभाग १

सौन्दर्य निरूपण में रस और अलङ्कार

आचार्य 'प्रवासी'

मनुष्य एक अनुभूतिशील प्राणी है। अन्य प्राणियों से भिन्न स्वानुभूत तत्वों की अभिव्यक्ति के उपकरण भी इसके पास अधिक हैं, इसीलिए वह सृष्टि की सर्वोत्कृष्ट कृति है! सुख-दुःख, आपद-विपद, आशा-निराशाओं से तो पशु-पक्षी भी मुक्त नहीं और उनका व्यापक प्रभाव उनको निरन्तर सचेष्ट भी रखता है। किन्तु अन्य प्राणी अपनी अनुभूतियों-परिस्थितियों की इतनी स्पष्ट व्याख्या नहीं कर सकते जितना मनुष्य। यद्यपि वेदना उनकी भी व्यक्त होती है—पुकार में या तड़पन में, किन्तु वाणी का उनके पास नितान्त अभाव है जिसके द्वारा वे वेदना के कारण-करण सम्बन्धों, पीड़ा की घनीभूतता एवं निराकरण की सुविधा-असुविधा के बारे में बता सकें। अतः इस दृष्टि से (अनुभूति-अभिव्यक्ति) मनुष्य सर्वसम्पन्न प्राणी कहा जा सकता है जिसे अपनी ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों के अतिरिक्त मन-बुद्धि आदि का भी सहयोग प्राप्त है, जो अनुभव और व्यञ्जना की उभय दृष्टियों से उसे विधि की सर्वश्रेष्ठ कृति बनने में सहायक होता है।

मनुष्य अनुभव करने कहीं नहीं जाता। उसे सांसारिक अनुभव सदैव और सर्वत्र जीवन में अनायास ही हो जाया करते हैं। ये ही कटु और मधुर अनुभव उसके जीवन की अर्जित सम्पत्ति हैं। किन्तु अनुभव जैसे स्वतः ही होते चलते हैं उसी प्रकार उनकी अभिव्यक्ति भी सहज स्वाभाविक है। अधिक समय तक किसी विशेष प्रकार की अनुभूति को मन की कारा में बन्द रखना मनुष्य के स्वभाव के विपरीत है। जो कोई इसकी क्षमता ग्रहण भी कर लेते हैं (जैसे कूटनीतिज्ञ आदि) वे विशिष्ट स्वभाव वाले प्राणी कहे जा सकते हैं। स्वभाव की प्रकृति और विकृति से मनुष्य का जीवन क्रमशः सरस और नीरस बनता है। सारांशतः कहा जा सकता है कि प्रकृति के क्रीड़ास्थल इस लोक में अनेक प्रकार के अनुभव मनुष्य करता है और उन्हें अभिव्यक्त भी करता है। यही उसका स्वभाव है और यही स्वाभाविक क्रिया और प्रतिक्रिया भी······क्रिया स्वानुभूति है और प्रतिक्रिया अभिव्यञ्जना! हाँ यह अवश्य है कि अभिव्यञ्जना के उपकरण अथवा शैली आदि भिन्न-भिन्न हों और ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं क्योंकि मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना वाला सिद्धान्त ही कहता है कि किन्हीं दो प्राणियों की प्रकृतियों में समानता नहीं होती।

अनुभूतियों के अनेक प्रकार होते हैं साथ ही उनका क्षेत्र भी अत्यन्त व्यापक है। अतएव रुचि वैचित्र्य की तरह अनुभूति वैचित्र्य भी मानव स्वभाव के अन्तर्गत एक प्रवृत्ति है। रुचि जिस कार्य की ओर प्रवृत्त होगी उसी क्षेत्र में प्रवृत्तियाँ भी रमण करेंगी और उसी क्षेत्र की प्रवृत्ति के अनुसार मधुर या कटु अनुभव मन को होंगे। यही इसका क्रम है। अतः रुचि, प्रवृत्ति और अनुभूति का पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध है। अनुभूति की स्वाभाविक परिणति (प्रतिक्रिया) व्यक्तिकरण या अभिव्यञ्जना में होती है जो काव्य का प्रमुख उपादान है।

कला की दृष्टि से काव्य को दो भागों में प्रायः विभाजित किया जाता रहा है और वे हैं इसके भावपक्ष और कलापक्ष। भावपक्ष हृदय भावों और मानस व्यापारों-व्यवहारों से सम्बद्ध होते हैं और कला में काव्य के स्थूल उपकरणों का समावेश होता है जिससे उसके शरीर को अथवा अङ्ग विशेष को सजाकर प्रस्तुत किया जाता है। भावपक्ष और कलापक्ष को काव्य की अन्तरात्मा और बाह्य शरीर के रूप में देखा जा सकता है।

सौन्दर्य जीवन का आवश्यक अङ्ग और काव्य का तो प्राण है। मानवीय आशा-अभिलाषाओं को चित्रित करना तथा हृदयगत मनोभावों को सूक्ष्म विवेचन और अभिव्यञ्जन ही काव्यकार का प्रमुख उद्देश्य होता है।

काव्यगत चित्रों का यथावत् प्रभाव जब तक हमारे हृदय पर नहीं पड़ेगा और हमारी (पाठकों की) मनोवृत्तियाँ जब तक उसमें लीन न हो जायेगी तब तक काव्यानन्द या रस की प्राप्ति नहीं हो सकती और जब काव्यावलोकन द्वारा रस या आनन्द ही प्राप्त न होगा तो उसमें काव्यत्व अवशिष्ट कहाँ रहा होगा वह तो केवल शास्त्रीय पोथी मात्र ही मानी जावेगी (हलवाई के मिठाई बनाने के साँचे मात्र उसमें चीनी जब तक भरी न होगी रस कहाँ से आयेगा) अतः जितनी तन्मयता से कृतिकार उसका सृजन करेगा और जितनी अधिक मात्रा में पाठकों को उससे (कृति से) रस की अनुभूति होगी उतनी मात्रा में वह श्रेष्ठ काव्य माना जायेगा, दर्शनीय, आकर्षक और प्रशंसनीय होगा।

काव्य के विभिन्न अंगों का विवेचन करते समय हमारी दृष्टि सर्व प्रथम उसकी रचना के दो प्रमुख अङ्गों पर जाती है जिसे काव्य के वाह्याङ्ग और अन्तरङ्ग कहा जा सकता है। वाह्याङ्ग में काव्य का स्थूल और दृश्यमान शरीर, आवरण, आभरण, आभूषण आदि होते हैं और काव्य की अन्तरङ्ग होती है उसकी सूक्ष्म आत्मा। रस और अलङ्कारों के सूक्ष्म रूप का दर्शन हम इन अन्तर और बाह्य दोनों अङ्गों में कर सकते हैं रस और अलङ्कार के ये उभय अङ्ग मिलकर ही उसमें सजीवता की सृष्टि करते है और दोनों संयुक्त होकर ही सहृदय के लिए सरस काव्य की सृष्टि करते हैं जिनमें कभी किसी एक (रस) की प्रमुखता रहती है तो कभी दोनों (रस और अलङ्कार) की। यह निश्चित करना आगे की बात है कि रस परिपाक में किसका योग कितना रहता है और किसको कितनी प्रमुखता मिलती है।

सौन्दर्य दर्शन और सौन्दर्य-वर्णन, मानव की आदिम प्रवृत्ति रही है। सौन्दर्य में रञ्जनकारिणी शक्ति की भी न्यूनता नहीं यानी सौन्दर्य से हमारी गोचर और स्थूल इन्द्रिय आकृष्ट होती है, आत्मा प्रभावित होती है और मन रञ्जित होता है यही इसकी महत्ता का स्पष्ट और सबल प्रमाण है इसीलिए काव्य के लिए भी सर्वोत्तम सामग्री प्रस्तुत करने का सर्वोत्कृष्ट साधन सौन्दर्याभिव्यञ्जन ही है क्योंकि काव्य में कर्तृ और कर्म दोनों पक्षों की दृष्टि तन्मयता और लय सौन्दर्याभिव्यञ्जन से निःसृत होकर ही सौन्दर्यावलोकन में दृष्टिगत होती हैं।

काव्य में सौन्दर्य दो कणों में देखा जाता है। जिन्हें शास्त्रीय भाषा में काव्य के भाव-पक्ष और कलापक्ष कहते हैं जिनका विवेचन ऊपर हो चुका है। भावाभिव्यञ्जन को प्रमुख व कलाभिव्यञ्जन (अलंकार छन्द आदि) के निरूपण को गौण माना जाता है कुछ लोग इस तथ्य की अवहेलना कर वाह्य उपकरणों और तड़क-भड़क को तो महत्व देते हैं किन्तु हृदय की आन्तरिक अनुभूतियों को स्पर्श करने वाली मार्मिक अभिव्यञ्जना तक पहुँच ही नहीं पाते। इस प्रकार की काव्य रचना रीतिकालीन कवियों द्वारा बहुतायत से हुई थी और इसी कारण उस काल के काव्य का स्तर बहुत ऊँचा नहीं माना जाता।

काव्य के उपकरणों के सृजन में अलङ्कार सहायक तो होते ही हैं वे उसके प्रमुख उपादान भी कहे जा सकते हैं। अतः रस परिपाक में भी कभी-कभी अलंकार सहायक होते हैं। इस हिसाब से अलङ्कारों के दो कार्य होते हैं—स्थूल देह की बनावट-सजावट और रस परिपाक में सहायता। रससङ्गाधर के अनुसार शब्द और अर्थ की देह है और रस काव्य की आत्मा। इसे ही प्रामाणिक मानकर हम इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि रस ही वह प्रमुख तत्व है जिसके कारण काव्य रमणीय, दर्शनीय व अभिनन्दनीय होता है। "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दं काव्यं" में मनुष्य की इन्हीं आन्तरिक वृत्तियों को लीन करने वाले शब्दों को या उससे संयुक्त वस्तु को काव्य संज्ञा दी है। मानवीय कोमल अनुभूतियों को, उसके हृदय तन्तुओं को स्पर्श कर झंकृत कर देने की शक्ति इसी प्रकार के रसयुक्त काव्य में पाई जा सकती है।

अब यह निश्चय करना है कि काव्य का सौन्दर्य किस-किस से किस सीमा तक परिष्कृत, अलंकृत और विकृत होता है। सौन्दर्य-दर्शन भी मात्र नेत्रों का कार्य न होकर हृदय की ही एक वृत्ति है। हृदय में जो भाव

समुत्पन्न होकर अधिक स्थिरता के साथ अवस्थित हो सकेगा वही रससृष्टि और आनन्द-वृष्टि अधिकतम मात्रा में कर सकेगा और यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि अलङ्कारों का कार्य इन दोनों से भिन्न नहीं है। भाव-वक्रता और विदग्धता का निर्माण करने वाले अलङ्कार निस्सन्देह पाठकों को चमत्कृत करते हैं किन्तु यदि वे इस व्यापक तत्व को विस्मृत कर केवल सजावट या प्रदर्शन की सामग्री बन जाये तो वे इस सम्मानीय पद से च्युत हो जायेंगे। वे स्वयं तो पतित होंगे ही काव्य का महत्व भी इनके कारण नष्ट हो जायेगा। फलतः ऐसे स्थलों पर अलङ्कार आभूषण न होकर भार रूप हो जायेंगे जो अपने ही दवाब से काव्य-सौन्दर्य का गला घोंटने लगेंगे। काव्य में रस की जो लहरें प्रवाहित होनी चाहिये, उनमें जिस प्राण को फूँकना काव्यकार का उद्देश्य होना चाहिए, वह पूर्ण न होकर काव्य के प्राणों के स्पन्दन तक को अवरुद्ध करने का मुख्य कारण बन जायेंगे।

ध्यान देने की एक बात यह भी है कि शब्दालङ्कारों की अपेक्षा सौन्दर्याभिव्यञ्जन द्वारा रस-परिपाक में अर्थालङ्कार ही अधिक उपयुक्त और समर्थ सिद्ध होते हैं क्योंकि मानस के आन्तरिक भावों को अपने वास्तविक रूप में देखने में वे ही अधिक कृतकार्य हो सकते है और जो अनुभूति-चित्रण में जितने ही सहायक होंगे उतने ही वे उपयोगी भी होंगे। कारण स्पष्ट है कि काव्य का लक्ष्य सौन्दर्याभिव्यक्ति मात्र ही नहीं अपितु वह तो साधनमात्र है और साधन कभी साध्य नहीं बन सकता—साध्य है काव्य को आस्वादनपूर्ण 'शिवम्' बनाना। अपनी अनुभूतियों को पाठकों के हृदल पटल पर अङ्कित करके उन्हें उनके मानसों में ठीक उसी प्रकार से प्रतिध्वनित कर देना जैसी कि ये कवि (कर्त्ता) के हृदय या मानस में हुई या हो रही है क्योंकि अभिव्यञ्जन की प्रतिक्रिया यदि पाठकों के अन्तस पर उसी सबलता से प्रभाव डाले और उतनी ही मात्रा में आनन्ददायिनी सिद्ध हो जितनी मात्रा में वह मूलरूप में अनुभूति के रूप में काव्यकार के हृदय में हुई तो निश्चय ही वही काव्य सफल माना जावेगा और वहाँ (काव्य में) प्रयुक्त सामग्री भी उसी की मात्र होगी—क्योंकि उपादान मात्र होते हुए भी प्रमुख साधन वही सामग्री सामग्री ही तो है जो रसास्वादन कराने में समर्थ हुई है चाहे वह सामग्री और वे उपादान फिर अलङ्कारों से निर्मित हों या अन्य किसी विशेष वस्तु से। तात्पर्य यह है कि रस-निष्पत्ति सत्कवियों का प्रमुख लक्ष्य या ध्येय होता है, उसके लिए सौन्दर्य प्रसाधनों द्वारा सामग्री प्रस्तुत की जाती है तो इसी दृष्टि (रस) से ही। काव्यकार या कलाकार का कार्य होता है अनुरञ्जन द्वारा शिवं व सापेक्ष्य सत्य को पाठकों के हृदय में बिना उसकी जानकारी के प्रविष्ट करा देना अथवा मनोरञ्जन जिसके लिए उसे यथासाध्य मानवीय भावों के अनुकूल सामग्री का प्रस्फुटन करना पड़ता है। अपने इस कार्य में वह जिस भाव विशेष को जाग्रत एवं प्रकट करता है उसे ही साधारण लोग तल्लीनता, भावमग्नता आदि के साथ ग्रहण करते हैं और सत्य-शिव-सौन्दर्य का व्यवस्थित और सन्तुलित निरूपण और रसात्मकता तो सदा ही उसका अन्तिम लक्ष्य होता है, उसमें फिर उपादान चाहे अलङ्कार हो या अन्य कोई।

—११५, नयापुरा, कोटा।

(पृष्ठ ४७३ का शेषांश)

स्वयं केशव ने 'विज्ञान गीता' में स्पष्ट कहा है कि चारों वर्ण अपने-अपने कर्तव्यों से च्युत हो गये थे—

ब्राह्मण बेचत वेदनि को,
सुमलेच्छ महीप की सेव करें जू।
क्षत्रिय छाँड़त हैं परजा,
अपराध बिना द्विजवृत्ति हरें जू॥
छाँड़ि दयो क्रय-विक्रय वैश्यनि,
क्षत्रिन ज्यों हथियार धरै जू।
पूजत शूद्र सिला धनु चौरति,
चित्त में राजनि को न डरै जू॥[१]

पर 'रामचन्द्रिका' में रामायणकालीन आदर्श समाज का चित्रण करते हुए परम्परा का पूरा पालन किया है।

—यूनिवर्सिटी कालेज, तिरुपति, आन्ध्र।

[१] 'केशव-ग्रन्थावली' खण्ड ३, पृष्ठ ६७५।

रामचन्द्रिका में वर्ण-व्यवस्था

बी० वी० एल० नरसिंह मूर्ति

भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था—प्रत्येक समाज को किसी न किसी आधार पर कुछ वर्गों में विभाजित करना मनुष्य का स्वभाव है। अत्यन्त आदिम अवस्था के समाजों को छोड़ कर अन्य सभी समाजों को जीवन-विधान, शिक्षा, व्यवसाय, आर्थिक स्थिति आदि अनेक आधारों पर कुछ वर्गों में विभाजित किया गया था। भारतीय समाज को अत्यन्त प्राचीन काल में ही चार वर्गों में विभाजित किया गया था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। प्राचीन भारत के मनीषी ही नहीं, बल्कि ईरान के प्राचीन न्याय-रक्षक, ग्रीस के महान् राजनीतिज्ञ एवं दार्शनिक प्लैटो तथा टामस एक्विनस जैसे मध्ययुगीन विद्वान् भी समाज के चार वर्गों में विभाजन के पक्ष में थे[1]। श्रम-विभाजन (Division of labour) के द्वारा सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का सिद्धान्त ही भारतीय समाज के चार वर्णों के विभाजन के मूल में था। पुरुष सूक्त में प्रयुक्त एक रूपक[2] भी कार्य-विभाजन के सिद्धान्त को ही पुष्ट करता है। इसके अनुसार परब्रह्म के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न माने गये हैं। इस रूपक की महत्ता के विषय में डा० मङ्गलदेव शास्त्री का कथन है—जैसे किसी जीवित शरीर में मुख से लेकर पैर तक सब अङ्गों में परस्पर गहरा आङ्गांगि भाव का, परस्पर आश्रयाश्रित-भाव का सम्बन्ध होता हे, वैसे ही समाज-रूपी शरीर में चारों वर्णों का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। शरीर में कोई अङ्ग दूसरे अङ्ग की उपेक्षा नहीं करता; एक ही पीड़ा में सब व्याकुल हो जाते हैं; कोई भी अङ्ग अपने लिये नहीं, अपितु दूसरे अङ्गों के हित में ही काम करता है। वास्तव में किसी भी समुन्नत समाज के विभिन्न अङ्गों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में इससे अच्छा दृष्टान्त हो ही नहीं सकता[1]।" गीता में मनुष्यों को उनके स्वभाव के आधार पर विभाजित करके उनके कर्त्तव्य स्पष्ट किये गये हैं[2]। प्रत्येक मनुष्य अपने स्वभाव के अनुकूल होने वाले कर्म को ही पूर्ण तत्परता एवं सफलता के साथ कर सकता है। इसी तत्परता में समाज की प्रगति निहित है!

स्वभाव के आधार पर वर्ण-विभाजन किये जाने के कारण आरम्भिक काल में वर्ण-परिवर्तन पर कोई रोक नहीं थी। कृष्ण यजुर्वेद में कहा गया है कि ब्राह्मण का पिता, पितामह सब श्रुति ही है।[3] इससे यह तात्पर्य निकाला जा सकता है कि ज्ञानवान कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण बन सकता था। प्राचीन काल में

---

[1] "The quadritype division of Society into four social-personality groups (Varnas) is a universal law as founded by both ancients, such as the legists of India and Iran and Plato of Greece and medieval scholasties like Thomas Agninas"—

Radhakamal Mukerjee,' The Indian Scheme of life'. Introduction X.

[2] ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्बाहूराजन्यकृत :।
अरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥
'ऋग्वेद-संहिता', मण्डल १० सूक्त १०, मंत्र १२

[1] 'भारतीत संस्कृति का विकास', प्रथमखण्ड, वैदिक धारा, पृष्ठ १२७–१२८।

[2] ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥
—'गीता', १८–४१

[3] किं ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छसि मातरम्।
श्रुतं चेदस्मिन्वेद्यं स पिता स पितामहः॥
यजुर्वेद मैत्रायिणी संहिता, काण्ड ४, प्रपाठक ८, अनुवाक्–१

वर्ण-परिवर्तन के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जैसे ब्राह्मण परशुराम का क्षत्रिय, विश्वामित्र का ब्रह्मर्षि बनना, व्याध वाल्मीकि का ऋषि में परिवर्तन होना आदि आदि। वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में ऊपर कही गयी बातें तो लौकिक व्यवहार को दृष्टि में रख कर कही गयी थीं। भक्ति के क्षेत्र में कभी भी कोई भेद-भाव नहीं माना गया था।[1]

'रामचन्द्रिका' में चित्रित समाज में वर्ण-व्यवस्था—केशव ने अपनी 'रामचन्द्रिका' में वर्ण-व्यवस्था की दृष्टि से आदर्श समाज का ही चित्रण किया। ग्रन्थ के अन्त में 'रामचरित माहात्म्य' बताते हुए चार वर्णों का उल्लेख करके भक्ति के क्षेत्र में उनमें कोई अन्तर नहीं स्वीकार किया है।[2] भरत के मुख से जीव की शाश्वतता एवं पवित्रता स्पष्ट कराते हुए कवि ने जीव के विप्र, क्षत्रिय आदि के रूप में भेद किये जाने का खण्डन कराया है।[3] वर्ण-परिवर्तन के भी अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। वाल्मीकि अपने को 'द्विजाति'[4] का बताते हैं, यद्यपि पहले व्याध थे। विश्वामित्र पहले क्षत्रिय थे, बाद में ब्रह्मर्षि बन गये।[5]

अयोध्या वर्णन के प्रसङ्ग में चारों वर्णों के कर्तव्य इस प्रकार बताये गये हैं—

पंडित गण मंडित गुण दंडित मति देखिये।
क्षत्रिय वर धर्म प्रवर, क्रुद्ध-समर लेखिये।
वैश्य सहित सत्य, रहित पाप प्रकट मानिये।
शूद्र सकति विप्र भगति जीव जगत जानिये॥[6]

केशव की इस उक्ति की तुलना मनु के निम्नलिखित श्लोक से की जा सकती है—

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः॥[1]

चारों वर्णों के सौहार्द्रपूर्ण अस्तित्व को स्पष्ट करते हुए केशव ने कहा है कि राम-राज्य में वर्ण-संकर का अभाव था।[2] यह सौहार्द्र भावना रामायण-काल में भी थी। डा० शान्तिकुमार नानूराम व्यास के शब्दों में, "चारों वर्णों के पारस्परिक सम्बन्ध सद्भावनापूर्ण थे। सभी वर्ण 'स्वकर्मनिरत' थे। अतः वर्ण-विद्वेष नाम को भी नहीं था।"[3]

'रामचन्द्रिका' में वर्णित चारों वर्णों के कर्तव्य आदि पर नीचे विचार किया जाता है।

'रामचन्द्रिका' में ब्राह्मण—इस प्रथम वर्ण की चर्चा निम्नलिखित दो उपशीर्षकों में करना उचित जान पड़ता है। 'ब्राह्मणों की श्रेष्ठता एवं महानता' तथा 'ब्राह्मणों के कर्तव्य'।

ब्राह्मणों की श्रेष्ठता एवं महानता—'रामचन्द्रिका' में ब्राह्मणों के लिए कुदेव[5], भुवदेव[5]; भूदेव[6]; भूमिदेव[7], ब्राह्मण[8], विप्र[9], आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। उक्त शब्दों से ही स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण में देवत्व का होना स्वीकृत किया गया है। केशव ने स्पष्ट रूप से कहा है कि विष्णु का ही स्वरूप है[10] ब्राह्मण का धनहरण करना[11] तथा उससे विरोध रखना[12] राजा के लिए पूर्ण रूप से त्याज्य थे।

---

[1] मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ 'गीता' ९—३२,

[2] 'रामचन्द्रिका', ३९—३८

[3] राम ३७—११

[4] पुत्रिके सुनि मोहि जानहि वाल्मीकि द्विजाति—राम ३३—५५

[5] कीन्हों उत्तम वर्ण, तेई विश्वामित्र ये—राम ५—२०

[6] राम, १—४३।

---

[1] राम १—४३। [2] मनुस्मृति, २—१५५।

[3] राम, २७—५।

[4] 'कल्याण', हिन्दू, संस्कृति-अंक, पृ० ३०७।

[5] राम, ३९—३१।

[6] वही, ३४—१३।

[7] वही, २१—१८।

[8] वही, ३०—१८।

[9] वही, ३२—२९।

[10] वही, १६—२७।

[11] विप्रन जानहु ये नर रूपै। जानहु ये सब विष्णु स्वरूपै॥—राम २१—५,

[12] राम—३९—३१।

आततायी[1] होने के अतिरिक्त अन्य किसी भी परिस्थिति में ब्राह्मण का वध नहीं किया जा सकता था।[2] उनसे युद्ध करना भी वर्जित था, अतएव ब्राह्मण जाति को 'अजेय'[3] कहा गया है। आर्त ब्राह्मण की रक्षा न करने वाला तो घोर नरक का अधिकारी बताया गया है।[4] विप्र-पूजा से राजा के दोष नष्ट हो जाने के कारण राम ने 'साधु' तथा 'असाधु' ब्राह्मणों का सम्मान करना श्रेयस्कर समझा था।[5]

ब्राह्मणों के कर्तव्य—मनु ने ब्राह्मणों के निम्नलिखित पाँच कर्तव्य बताये हैं—अध्ययन, अध्यापन, यजन (यज्ञ करना), याजन (यज्ञ कराना) तथा दान या प्रतिग्रह लेना।[6] 'रामचन्द्रिका' में भी आदर्श समाज के प्रस्तुत किये जाने के कारण ब्राह्मणों के उपर्युक्त पाँच आदर्श कर्तव्यों का पालन दिखाया गया है।

अयोध्या-वर्णन में ब्राह्मणों के लिये 'पंडित-गण'[7] शब्द के प्रयोग से तथा नगर में अनेक स्थानों पर वेदपाठ[8] किये जाने के उल्लेख से उनके अध्ययन प्रेमी होने का; विश्वामित्र के अनेक शिष्य होने के उल्लेख से उनके अध्यापन-कर्तव्य का; अपने यज्ञ को राक्षसों से बचाने के लिए विश्वामित्र के द्वारा दशरथ से राम-लक्ष्मण को माँगने के प्रसङ्ग से यज्ञ करने का, वशिष्ठ के द्वारा राम से अश्वमेध यज्ञ कराये जाने से यज्ञ कराने का; तथा अनेक प्रसङ्गों में ब्राह्मणों को दान दिये जाने का अनुमान किया जा सकता है।

[1] राम—३६–३१।
[2] राम—१८–१६।
[3] राम—३६–२०।
[4] राम २८—१६।
[5] गाय द्विजराज तिय काज न पुकार लागै,
भोगवै नरक घोर चोर को अभय दानि।
—राम १३—३६।
[6] राम २७—११।
[7] अध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥
—'मुनुस्मृति', १—८८।
[8] राम १—४३।

उक्त कर्तव्यों के अतिरिक्त पुरोहित के रूप में राजनीति में भाग लेना भी ब्राह्मण का एक अधिकार था। वशिष्ठजी दशरथ के तथा बाद में राम के पुरोहित एवं मन्त्री थे। मन्त्री होने के कारण प्रधान राजकीय विषयों में उनकी मन्त्रणा ली जाती थी। राम के राजतिलक के विषय में भी दशरथ ने वशिष्ठजी से मन्त्रणा ली थी।[1]

रामचन्द्रिका में क्षत्रिय—'रामचन्द्रिका' में क्षत्रियों के निम्नलिखित कर्तव्य माने गये हैं—रक्षा करना, युद्ध करना, दान देना तथा यज्ञ करना।

रक्षा करना—प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है। अतः इसके सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों एवं वस्तुओं की रक्षा तथा अन्य कार्यों की चर्चा की जाती है।

ब्राह्मणों एवं गायों की रक्षा—भारतीय जीवन में सदा से गौ तथा ब्राह्मणों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। 'रामचन्द्रिका' में अनेक स्थानों पर क्षत्रियों को गायों तथा ब्राह्मणों के दास के रूप में प्रस्तुत किया गया है। राम-लक्ष्मण का परिचय देते हुए विश्वामित्रजी उनको समस्त अवनीपतियों के अवनीपति बताकर अन्त में ब्राह्मणों और गायों के दास बताते हैं।[2] अन्य अनेक स्थानों पर इस प्रकार के उल्लेख देखकर यह भी कहा जा सकता है कि केशव ने इसको रूढ़ि के रूप में ही कहा है।

शरणागत की रक्षा—सदा से क्षत्रिय अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। 'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार संसार से आर्त शब्द को नष्ट करने के लिए ही क्षत्रिय लोग धनुष धारण करते है।[3] 'रामचन्द्रिका' में राम के द्वारा शरणागत विभीषण की रक्षा रामकथा के अनुरूप ही है। एक स्थान पर यह भी कहा गया है कि शरणागत विभीषण को 'शक्ति' से बचाने के लिए ही लक्ष्मण ने उसका घात सह लिया था[4]।

[1] राम १—४१।
[2] राम ६—२।
[3] राम० ५—३१।
[4] क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्त शब्दो भवेदिति—
'वाल्मीकि रामायण', अरण्यकांड, सर्ग १० श्लोक ३

युद्ध करना—क्षत्रिय का सम्बन्ध रक्षा से होने के कारण युद्ध करना भी उसका कर्तव्य हो जाता है। अयोध्या वर्णन के प्रसङ्ग में क्षत्रियों को 'क्रुद्ध-समर'[1] कहा गया है। योद्धा होने के कारण 'वीरता' भी क्षत्रिय का जन्मजात गुण है। इसी को ध्यान में रखकर "विश्वामित्र क्षत्रिय बालक एवं सिंह-बालक को कभी 'छोटा' न समझने का उपदेश देते हैं[2]।

दान देना—क्षत्रियों के इस कर्त्तव्य का उल्लेख केशव ने एक रूढ़ि के रूप में ही किया है। प्रत्येक छोटे-से छोटे अवसर पर भी क्षत्रियों के द्वारा गायों अथवा वस्त्राभूषणों तथा स्वर्ण का दान दिया जाता था। राम के 'प्रातःकालीन कृत्यों' में सुन्दर अलंकृत गायों का दान देना भी एक था[3]। इक्कीसवें प्रकाश में दान-विधान का ही विस्तृत विवेचन हुआ है।

यज्ञ करना—ब्राह्मणों के समान क्षत्रियों को भी यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त था। दशरथ की प्रशंसा में उनको 'सुदक्षिणा-बल'[4] प्राप्त राजा बनाया गया है। जिससे उनके द्वारा अनेक यज्ञों के किये जाने का भी संकेत प्राप्त होता है। पैंतीसवें प्रकाश में राम के द्वारा अश्वमेध यज्ञ किये जाने का उल्लेख हुआ है।

'रामचन्द्रिका' में वैश्य—'रामचन्द्रिका' में वैश्यों के सम्बन्ध में अधिक नहीं कहा गया है। अयोध्या-वर्णन के प्रसंग में उस नगरी के वैश्यों को 'सत्य-निरत' तथा 'पापरहित' बताया गया है[5]। वैश्यों के द्वारा करों का वहन किया जाना, राज्यसभा में प्रधान अवसरों पर उपस्थित होकर चर्चाओं में भाग लेना आदि के विषय में कुछ नहीं कहा गया है।

'रामचन्द्रिका' में शूद्र—'रामचन्द्रिका में शूद्रों के के सम्बन्ध में भी विशेष नहीं कहा गया है: अयोध्या-वर्णन में उनको 'विप्रभगति' के कारण शक्तिमान बताया गया है[6]। शूद्र को तप करने का अधिकार नहीं था। तेंतीसवें प्रकाश में द्र की तपस्या को शिशु-मृत्यु का कारण बतलाया गया है[7]।

[1] राम० १७—४० [2] राम० १—४३
[3] राम० २—१८ [4] राम० ३०—२७
[5] राम० २—१० [6] राम० १—४३।
[7] राम० १—४३।

अन्य जातियाँ—उपर्युक्त चार वर्णों के अतिरिक्त 'रामचन्द्रिका' में अंत्यज[1], चाण्डाल[2], यमन[3], के उल्लेख मात्र हुए हैं। चाण्डाल को वेदाध्ययन का अनधिकारी बताया गया है[4]।

उपसंहार—कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'रामचन्द्रिका' में आदर्श समाज का ही चित्रण किया गया है। परन्तु केशवकालीन समाज अनेक दृष्टियों से ह्रासोन्मुख हो गया था। केशव ने इस ओर कुछ ही स्थानों पर संकेत किया है। केशव-काल में ब्राह्मण अपने ब्राह्मण होने का तो अभिमान करते ही थे, परन्तु अपनी उपशाखाओं के आधार पर भी झगड़ते थे और अपनी ही शाखा को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करना चाहते थे। केशव ने सभी रचनाओं में अपने सनाढ्य ब्राह्मण होने की बात बड़े गर्व से कही है। सनाढ्य ब्राह्मण ब्रह्मा के पुत्र सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार आदि के मायस-पुत्र थे।[5] औरों की बातें छोड़िये, स्वयं श्रीराम मानते थे कि सनाढ्य ब्राह्मणों के भक्त को शिवजी का त्रिशूल भी नहीं लगेगा।[6] अतएव वे प्रतिदिन उनको गायों का दान दिया करते थे।[7]

'मानस' में भी रामराज्य के वर्णन में आदर्श-समाज[8] का चित्रण हुआ है, पर साथ ही कलियुग के वर्णन में स्पष्ट बताया गया है कि वर्णाश्रम धर्म, वेद आदि का कोई पालन नहीं करता—

बरन धरम नहिं आश्रम चारी।
श्रुति विरोध रत सब नरनारी॥
द्विज स्रुति बंचक भूप प्रजासन।
कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥[9]

(शेष पृष्ठ ४६६ पर)

[1] राम० ३३—१४। [2] राम० ६—६।
[3] राम० ५२—२०। [4] राम० ३३—३२।
[5] राम० १२—२०।
[6] राम० २१—१७ से १६ तक।
[7] राम० ३४—४५। [8] तीसवां प्रकाश।
[9] बरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग॥
—'मानस' उत्तरकांड, दोहा २०

यथार्थप्रिय नए उपन्यास

डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

प्रेमचन्द की यथार्थवादी रचनाओं के बाद हिन्दी में मनोविश्लेषण के आधार पर अज्ञेय, इलाचन्द जोशी, जैनेन्द्र आदि के जो उपन्यास प्रकाशित हुए, वे अब पुराने घोषित हो चुके हैं क्योंकि 'नया मानव' अब नए लेखकों की नजर में फ्रायड को पीछे छोड़कर कामू, सार्त्र, काफ्का जैसे लेखकों की रचनाओं में ही उभर कर आ सका है। इधर की खोजों ने फ्रायड, युंग, एडलर आदि की खोजों के आगे प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। मनोविश्लेषणवादियों में इलाचन्द जोशी, अभी-अभी धर्मयुग के दो अङ्कों में फ्रायड को कस कर गालियाँ दे चुके हैं और उन्हें ध्यान से पढ़ने पर ऐसा लगता है कि जोशीजी की बात में सत्य है। जीवन में अनुभव की बुनियाद से जब कोई दर्शन अलग-थलग पड़ जाता है तो जीवन और उस एकांगी दर्शन का द्वन्द्व किसी अन्य 'नए दर्शन' में पुन: सामञ्जस्य पाता है और जिन्दगी की कसौटी पर जब पुनः इस नए दर्शन की जाँच होती है तब पुन: उस 'दर्शन' की असङ्गतियाँ स्पष्ट होने लगती हैं; और फिर नए दर्शन की खोज होती है। फ्रायडवाद के साथ भी यही हुआ। कामवासनापरक आज सारी व्याख्याएँ अधूरी और पंगु लगती हैं। मानवी सभ्यता का सारा विकास मनुष्य की 'इच्छाशक्ति' का प्रमाण है। यह 'स्वतन्त्र इच्छाशक्ति' मनुष्य ने धीरे-धीरे विकसित की है— 'निर्णय लेने की शक्ति' भी इसी इच्छाशक्ति का ही एक रूप है। घोर संकुल परिस्थिति में भी मनुष्य रास्ता निकालने का उपाय करता है। यह जो मनुष्य की अजेय शक्ति है, उसी के बल पर मानवता अब तक सामाजिक व्यवस्था, विज्ञान, ज्ञान, कला, धर्म आदि विभिन्न क्षेत्रों में विकास करती जा रही है। इस स्वतन्त्र इच्छाशक्ति को निरपेक्ष मानने की आवश्यकता नहीं है (भारतीय दार्शनिक इसे 'ब्रह्म' की सङ्कल्प-शक्ति कह कर इसका गौरववर्धन करते आए हैं)। यह वस्तुतः मनुष्य और परिस्थिति के द्वन्द्व के कारण मनुष्य द्वारा परिस्थिति पर विजय का सङ्कल्प ही है, अतः इसे 'सङ्कल्प शक्ति' भी कहा जा सकता है। यह शक्ति मनुष्य की सुप्त शक्तियों को जाग्रत कर देती है, नए विचारों और आविष्कारों के लिए हमें सक्षम बनाती है और समाज की असङ्गतियाँ दूर करने के लिए यह आन्दोलनों, क्रान्तियों के रूप में फूट पड़ती है। कवियों के स्वप्नों, आशाओं और दार्शनिकों द्वारा 'नए दर्शनों' और 'नए मानव मूल्यों' के अनुसन्धान में भी मनुष्य की यही सङ्कल्पशक्ति प्रकट होती है। फ्रायड ने मनुष्य की इसी शक्ति पर आक्रमण किया था और प्रत्येक प्रकार के सङ्कल्प को, प्रत्येक सदिच्छा के मूल में कामवासना की प्रतिक्रिया खोजकर मनुष्य की ऐतिहासिक यात्रा के सबसे बड़े सम्बल को ही काट डाला था। फ्रायड के अन्ध-अनुयायी इस 'ऐतिहासिक हानि' को तब नहीं देख पाए थे, अब इलाचन्द जोशी इसे अनुभव कर रहे हैं। अन्य लोग भी अब सोच-समझ कर ही फ्रायड की धारणाओं को अपना सकेंगे।

फिर भी फ्रायड में जीवन प्रेम बहुत अधिक था। उसका दर्शन जीवन से विरक्ति नहीं जगाता। सम्पूर्ण फ्रायडवादी साहित्य में भी यही प्रवृत्ति है। अब इसे पुराना कहा जा रहा है क्योंकि काफ्का, सार्त्र जैसे लेखकों का मुख्य बल जीवन के प्रति अनिर्णय और अनास्था पर आधारित है और आजकल यही 'नवीन' की संज्ञा प्राप्त कर रहा है। इस नवीनतम प्रवृत्ति को हम 'स्वप्नभङ्गवाद' कह सकते हैं।

रोमाण्टिक साहित्य स्वप्नों और भावुकता का साहित्य था, प्रगतिवादी या यथार्थवादी साहित्य उन स्वप्नों को पूर्ण करने वाला साहित्यिक प्रयत्न। किन्तु काफ्का, सार्त्र आदि से प्रभावित साहित्य सभी

प्रकार के राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक स्वप्नों और विश्वासों का परीक्षण कर मनुष्य को यह बताना चाहता है कि इतिहास, विकास, सभ्यता आदि धारणाएँ मिथ्या ही नहीं, भ्रामक भी हैं, जीवन में कोई अभिप्राय ही नजर नहीं आता। यदि प्रत्येक पक्ष पर विचार किया जाए तो किसी एक बात का निर्णय असम्भव है और जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप यही है कि इस निर्णय का उत्तरदायित्व हमीं पर है। प्रकृति और मानवसमाज का यह अनादि प्रवाह, सृजन-संहार, उत्थान-पतन, विकास-ह्रास, प्रयत्न-निराशा इत्यादि विचार करते ही बेमानी प्रतीत होता है। मनुष्य की स्वतन्त्र सङ्कल्प-शक्ति बच्चों के खेल जैसी लगने लगती है। हमारे सारे निर्णय गलत हुए हैं, हम एक शून्य में जीने के लिए विवश हैं। हमारा अस्तित्व इसलिए सार्थकता बोध से रहित है। स्वप्नभङ्गवाद का यही सारांश है।

इस सङ्कल्पशक्ति विरोधी विचारधारा को फ्रायड से भी बहुत बल मिला है पर जैसा कि कहा जा चुका है कि फ्रायड युङ्ग-एडलर मानसिक विकृतियों को दूर करने के अतिवादी उपाय खोजने पर भी जीवन के सहज या नार्मल रूप को पहचानते हैं, उनमें जीवनमात्र से ही वितृष्णा उत्पन्न कर देने की प्रवृत्ति नहीं है बल्कि सच तो यह है कि फ्रायडवाद वस्तुत: जीवन के प्रति कामासक्तिवाद ही है। उक्त नवीन 'स्वप्न भङ्गवाद' अज्ञेय के 'अपने-अपने अजनबी' में ही नहीं मिलता अपितु राजेन्द्र यादव जैसे प्रगतिशील माने जाने वाले लेखक की 'एक इञ्च मुस्कान' में भी मिलता है। प्रगतिवाद की दृष्टि से यह स्वप्नभङ्गवाद पश्चिमी योरोप में पूँजीवादी सभ्यता के ह्रास और एशिया-अफ्रीका, लैटिन अमरीका के नव-स्वतन्त्रता प्राप्त देशों में प्रगतिशील शक्तियों की कमजोरी के कारण बढ़ रहा है। 'एक इञ्च मुस्कान' का हीरो अन्त समय तक अनिर्णय का शिकार रहता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज की परस्पर विरोधी विचारधाराओं में राजनैतिक दलों के सङ्घर्षों और सामाजिक जीवन के कष्टोंसे पीड़ित नवयुवक 'किसे चुनें, किसे छोड़ें' की दुविधा से परेशान हैं और नई पीढ़ी की इस अनिर्णीय मानसिक स्थिति के चित्रण की दृष्टि से इस प्रकार के सभी उपन्यास एक 'पूरी पीढ़ी के ह्रास' के प्रतिबिम्ब जैसे दिखाई पड़ेंगे और इस सीमा तक उन्हें 'यथार्थवाद' की सीमा में भी समेटा जा सकता है किन्तु सार्त्र के 'एज आफ रीजन' के नायक की तरह कभी किसी निर्णय पर न पहुँचना 'नवीन-मानव' के मानसिक स्वास्थ्य का लक्षण नहीं है और न निगेटिव नायकों द्वारा आप उक्त अस्वास्थ्य के विरुद्ध सङ्घर्ष ही कर सकते हैं। प्लेग में कामू ने एक पूरी सभ्यता की आत्मजर्जरता और संक्रामकता का चित्रण किया है, कहीं कोई समाधान कहीं कोई आशा की किरण नहीं दिखाई पड़ती। किन्तु मनुष्य की महत्ता ही इस बात में है कि वह इस परिस्थिति पर भी विजयी होगा, कम से कम इस प्रकार की आशा से विजय के अवसर बढ़ तो सकते ही हैं, अतः आशा में मनुष्य में प्रकृति द्वारा प्रदत्त जिजीविषा का ही परिणाम नहीं है, बल्कि जीवन संग्राम में वह एक अनिवार्य नीति (स्ट्रैटैजी) भी है। आशावाद के बिना कोई सेना नहीं जीतती, कोई कार्य ही आशा के बिना पूरा नहीं हो सकता अतः आशा कार्य विधि का एक आवश्यक अङ्ग है। आश्चर्य है इस बहुत स्थूल तथ्य पर भी लेखकों ने ध्यान नहीं दिया। 'अँधेरे बन्द कमरे' मोहन राकेश ने दिल्ली के समाज का ह्रास दिखाते हुए भी अन्त में इसी आशा के सूत्र पर उपन्यास समाप्त किया है, यह शुभ हुआ है। 'यह पथ बन्धु था' में नरेश मेहता ने नायक 'श्रीधर' द्वारा भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के विषय में यह कहलवाया है—"सब व्यर्थ गया श्रीधर ! सब व्यर्थ गया"। किन्तु उपन्यास का अन्त श्रीधर की टूटन और स्वप्नभङ्ग के बावजूद उसके द्वारा मानव सभ्यता के इतिहास लेखन में समाप्त होता है। इतिहास लेखन का तात्पर्य ही यह है कि अभी भी आशा की किरण शेष है। सिडनी फिंकलिस्टेन ने 'कला में यथार्थवाद' नामक पुस्तक में एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि लेखक प्रत्येक सामाजिक और मानवीय समस्या पर वैज्ञानिक दृष्टि से सोचने को विवश होगया है। वस्तुतः

विज्ञान नकारात्मक और निराशावादी दृष्टिकोण का शत्रु होता है। इसी प्रकार उसके प्रभाव से यदि 'विनाश' की पृष्ठभूमि बनती भी है तो उसके दूरी करण के लिए 'निर्माण' और विश्वशान्ति के तत्त्व प्रबल होने लगते हैं क्योंकि जीवन शक्ति मृत्यु से, आशा, निराशा से और प्रवाह में रखकर इस सारे 'स्वप्नभङ्गवाद" को मनुष्य की सङ्घर्ष के पूर्व की किंकर्त्तव्यविमूढ़ता मानना चाहिए यह मानवता रूपी अर्जुन का क्षणिक मोह है 'किं कर्म किं कर्मेति कवयो अप्यत्र मोहिता।'

यह प्रसन्नता का विषय है कि इस किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता या संकुल परिस्थिति के सम्मुख हतप्रभ होजाने की प्रवृत्ति का तीव्र विरोध भी हो उठा है। "चुटकी भर चांदनी" के लेखक श्री चौरसिया ने एन रैण्ड से एक महत्त्वपूर्ण उद्धरण दिया है जिससे उक्त स्वप्नभङ्गवाद से सम्भावित हानि पर प्रकाश पड़ता है। आज जो लोग यह कहते हैं कि कला में प्रयोजन का अथवा जगत की गति का विचार नहीं होना चाहिए, उन्हें न भोला माना जा सकता है और न विवेकशून्य, वस्तुतः ऐसे लोग जानबूझ कर मनुष्य की उक्त सङ्कल्पशक्ति के विरुद्ध इसलिए प्रचार करते हैं ताकि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था कायम रहे—

"मैं नहीं, किन्तु कुछ लोगों का विचार है कि दुनिया 'किस दिशा में जा रही है'—यह जानना नौ-दस वर्ष पहले बहुत आवश्यक नहीं था, जो इस बारे में सचेत नहीं थे, उन्हें क्षमा किया जा सकता था किन्तु आज यह तथ्य इतना अधिक महत्त्वपूर्ण होगया है कि ऐसे लोगों को कभी क्षमा नहीं किया जा सकता जो आज दुनिया को देखने से इन्कार करते हैं, वे तो अन्धे हैं और एकदम भोले।"[1]

इस उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि हिन्दी में उक्त स्वप्न भङ्गवाद, निराशावाद के प्रचारक लेखक भोले नहीं हैं, उनका हिन्दी भाषा-भाषी अजेय जनता को किंकर्त्तव्यविमूढ़ करना एक विशेष उद्देश्य से प्रेरित है कि यहाँ की सामाजिक व्यवस्था में शुभ परिवर्त्तन न हो, यहाँ पूंजीवाद हमेशा कायम रहे। इस सूक्ष्म षड्यन्त्र के कारण ही इस देश का सम्पूर्ण पूंजीवादी प्रेस ऐसी रचनाओं के गुण गाता है और यथार्थवाद को मृत घोषित करता है।

हिन्दी में आञ्चलिक उपन्यासों को प्रेमचन्द की यथार्थवादी धारा का पुनरुद्धार माना जाता है। आञ्चलिक उपन्यासों के श्रेष्ठ लेखक श्री फणीश्वरनाथ रेणु के नवीनतम उपन्यास 'दीर्घ तपा'[1] में मैलाआंचल के यथार्थवाद का ही विकास दिखाई पड़ता है। हमारा जीवन धीरे-धीरे 'संस्थागत होता जा रहा है। दीर्घतपा में जीवन का दार्शनिक विवेचन न होकर जीवन का यथा-वत् चित्रण है। सन् ४७ के बाद इस देश में अनेक नयी संस्थाओं का निर्माण हुआ है, नए सङ्गठन बने हैं किन्तु उनमें "नए आदमी' बहुत कम हैं, जिनके मानव मूल्य इन संस्थाओं को आदर्श संस्था बना सकें। इसका यह अर्थ है कि नवीन परिस्थिति के अनुकूल नवीन सङ्कल्प शक्ति का अभीतक अभाव है अतः पग-पग पर बुराइयों से समझौते की प्रवृत्ति हमारे राष्ट्रीय जीवन को खोखला करती जा रही है। आज का मनुष्य दीर्घतप और नारी 'दीर्घतपा' होकर ही आज के भ्रष्ट समाज की चुनौती को स्वीकार कर सकती है। 'दीर्घतपा' की नायिका बेला ऐसी ही दीर्घतपा' नारी है। क्रान्ति-कारियों द्वारा उसका सतीत्त्व लूट लिए जाने पर भी वह एक अन्य 'दीर्घतपा' रमला मौसी के समर्पित जीवन से शिक्षा लेकर समाज सेवा के कार्य में जुट जाती है और भ्रष्ट अधिकारियों और नारी को भोग का साधन मात्र मानने वाले समाज से सङ्घर्ष करती है, यहाँ तक कि जेल भी जाती है पर उफ नहीं करती। उसका स्वप्नभङ्ग नहीं होता न उसे निराशा तोड़ पाती है। यह कहना असत्य है कि समाज में सभी भ्रष्ट हैं, सब कामचोर और कायर हैं। बेला गुप्ता जैसे व्यक्ति आज भी हमारे मध्य हैं पर उनकी उपेक्षा हो रही है, उन्हें भ्रष्ट लोग सफल नहीं होने देते अतः आज के सन्दर्भ में, नए मानव मूल्यशोधी लेखक का

[1] 'चुटकीभर चांदनी'—केशनीप्रसाद चौरसिया, अमिताभ प्रकाशन, प्रयाग; भूमिका १९६३।

[1] बिहार ग्रन्थ कुटीर पटना, १९६३।

कर्त्तव्य यही है कि ऐसे 'पाजिटिव' पात्रों को सामने लाएँ। इससे आदर्श और आशा कायम रहेंगे। 'दीर्घ-तपा' एक लघु उपन्यास है। रेणु ने इसमें बहुत बारीक कला का प्रयोग नहीं किया है, भावनाओं का भी तल-स्पर्शी विश्लेषण नहीं है, मनमंथक प्रश्न नहीं उठाए गए हैं फिर भी यह उपन्यास अपनी 'भावात्मक नायिका' के कारण स्वप्नभङ्गवादी कथासाहित्य के विरुद्ध यथार्थप्रिय प्रवृत्ति को दृढ़ करने वाला है।'

चौरसिया की 'चुटकी भर चाँदनी' में यथार्थ का 'क्लासीकल' रूप मिलता है। बम्बई के फिल्मी जीवन के वास्तविक रूप पर इस उपन्यास से रोमाञ्चक प्रकाश पड़ता है। कृष्णचन्दर के उपन्यासों से भी यह उपन्यास अधिक तीव्रता दंशन और त्वेष के साथ समाज के कई वर्गों—साधू, महन्तों, धनपतियों, जमीदारों, सम्पादकों आदि की असङ्गतियों को बड़ी आकर्षक शैली में प्रस्तुत कर सका है। जो लोग 'रूप' को स्वतन्त्र मानते हैं उन्हें चुटकी भर चाँदनी अवश्य पढ़नी चाहिए। यदि लेखक के मन में सामाजिक असङ्गतियों के विरुद्ध इतनी घृणा न होती तो उसकी शैली में ऐसा अनुपम आकर्षण असम्भव हो जाता। हिन्दी का यह एक श्रेष्ठ व्यंग्यात्मक उपन्यास है और आज की जड़ता के विरुद्ध व्यंग्य ही सबसे पैना हथियार है।

हिन्दी में यथार्थवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध मनो-विश्लेषणवाद और 'स्वप्नभङ्गवाद के प्रति आकर्षण का एक बहुत बड़ा आधार इन आन्दोलनों की नई शैली भी थी किन्तु इस नवीन शैली का प्रयोग यथार्थपरक उपन्यासों में भी सफलता के साथ प्रयुक्त किया जा सकता है, इसका प्रमाण है, 'चुटकीभर चाँदनी। यह प्रसन्नता का विषय है कि यशपाल, अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा जैसे 'क्लासीकल' यथार्थवादियों के सामने ही कन्हैयालाल ओझा, ठाकुरप्रसादसिंह 'कुब्जा-सुन्दरी', रेणु और केशनी प्रसाद चौरसिया के यथार्थ-प्रिय उपन्यास उक्त स्वप्नभङ्गवाद के विरुद्ध अपने सङ्घर्ष में सफलता प्राप्त कर रहे हैं। इस 'नवीन' प्रवृत्ति का स्वागत करना चाहिए।

—गवर्नमेन्ट कालेज, नैनीताल।

(पृष्ठ ४६६ का शेषांश)

रिक एकता के दर्शन होते हैं। उन्होंने किसी 'वाद' में फँसना असमीचीन समझा है। सारी मान्यताओं को उन्होंने अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसा और जो कुछ उन्होंने व्यावहारिक एवं निजी अनुभव में सत्य प्रतीत हुआ उसी को निस्सङ्कोच भाव से स्वीकार किया। आचार्य शुक्ल ने अपने समय में विज्ञान पर आधारित दार्शनिक मान्यता मार्क्सवाद का भी मूल्यां-कन किया है। विज्ञान की दुहाई देने वाले इस विचार को उन्होंने एकदम स्वीकार नहीं किया वरन् उसकी सीमाओं का विवेचन करके अपने पूर्वाग्रह मुक्त रूप का स्पष्ट दिग्दर्शन करा दिया है। शुक्लजी परलोक के चक्कर में नहीं पड़े यह उनकी वैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक है। उन्होंने लोक को किसी चश्मे विशेष से देखने का आग्रह नहीं रखा है। जिस प्रकार वे कविता का 'वाद' में फँसना अनुचित समझते थे उसी प्रकार समालोचना को भी नित्य परिवर्तित होते हुये जीवन के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जोड़कर देखना ही उन्हें इष्ट था। जीवन उनका लक्ष्य भी था और माध्यम भी। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उन्होंने अपने दृष्टिकोण को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया था। अतः शुक्लजी को विज्ञानवादी विचारक कहना सर्वथा उपयुक्त है।

—सम्पादक

'स्मृति की रेखाएँ' और प्रगतिशीलता

डा० नत्थनसिंह

छायावाद के चार स्तम्भों में केवल महादेवीजी ही एक मात्र ऐसी काव्यकार हैं, जिनके काव्य में प्रगतिशील तत्वों का समावेश अपेक्षाकृत कम हो पाया है। इस अभाव की पूर्ति उनके रेखा-चित्र और संस्मरणों में हुई है। काव्य के क्षेत्र में महादेवीजी अधिक व्यक्तोन्मुखी हैं और गद्य में अधिक समाजोन्मुखी। काव्य में उनकी अनुभूति अधिक परोक्ष तथा आध्यात्मिकता परक है और गद्य में शुद्ध भौतिक तथा मानवता परक। इस प्रकार उनके समस्त साहित्य में उनके व्यक्तित्व के ऐसे दो पक्षों की व्यञ्जना हुई है, जो कहीं-कहीं तो परस्पर विरोधी दीख पड़ते हैं।

मानव जीवन में जो कुछ सुन्दर और असुन्दर है, वह महादेवीजी के रेखा-चित्र और संस्मरणों में मूर्तिमान हो उठा है। उनके गद्य-साहित्य में एक विशेष भावना की अनुभूति सर्वत्र होती है, जिसका मूल स्वर है मानव-जीवन को सुन्दर बनाना।

प्रगतिशीलता का सर्व प्रथम तत्व है—शोषित, उपेक्षित, तिरस्कृत और क्रूरता-प्रताड़ित जन-समाज के प्रति मानवीय प्रेम तथा सहानुभूति का प्रदर्शन। इस दृष्टि से देखा जाय तो महादेवीजी के रेखाचित्र प्रगति-शीलता के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। 'स्मृति की रेखाएँ' नामक रचना का प्रथम रेखा-चित्र एक ऐसी अहीर बाला का चित्र प्रस्तुत करता है, जिस पर पहले तो विमाता के अनेक जुल्म हुए, फिर सास-ससुर ने क्रूरता और अमानवीयता की वर्षा की और तीसरे जाति-बिरादरी वालों ने अपनी कुत्सित मनोवृत्ति का परिचय देते हुए उसकी तथा बेटी की इच्छा के विरुद्ध एक निठल्ले व्यक्ति को जमाता के रूप में उस पर थोप दिया। 'भक्ति' नामक रेखा-चित्र में लेखिका की सहानुभूति उपेक्षित और उत्पीड़ितों के साथ है। समाज के भ्रष्ट और अत्याचारी तत्वों का पर्दाफाश करते हुए महादेवीजी ने मानवीय दुराचारिता तथा कुत्सित भावना के प्रति विरागमूलक ही नहीं, वरन् विरोधात्मक दृष्टिकोण अपनाया है।

प्रस्तुत रचना का दूसरा रेखा-चित्र विमाता के व्यवहार-स्वरूप वेश्यावृत्ति का शिकार बनी एक चीनी बालिका के शोषण का चित्र प्रस्तुत करता है। तीसरे, रेखाचित्र में धनवान और साधन सम्पन्न पर्वत-यात्रियों की मनोवृत्ति और कुलियों के साथ किए गए उनके क्रूर और अमानवीय व्यवहारों का दिग्दर्शन कराया गया है। कुलियों की सत्यता और धनिकों की स्वार्थरता के दो विरोधी दृश्य अङ्कित करके लेखिका ने पूँजीगत बुराइयों से पाठकों को अवगत कराया है। इस रेखाचित्र से प्रकट हो जाता है कि पूँजी का लालच मनुष्य को मनुष्य बना नहीं रहने देता। चौथे रेखाचित्र में अरैल के एक ब्राह्मण परिवार का चित्र उपस्थित करते हुए देश के ग्रामीण जीवन की गरीबी और साधुओं की नीचता भरी चालों का ज्ञान कराया है। कथा वाचक ब्राह्मण मित्र द्वारा धरोहर रूप में सौंपी गई 'बूटा' (नौ-दस वर्ष की अबोध बालिका) को बेचने के लिए ले जाने वाले भ्रमणशील काका की नीचता को कौशलपूर्वक अङ्कित किया गया है। पाँचवाँ रेखाचित्र महादेवीजी के माघ के मेले के अवसर पर किए गए कल्पवास के समय 'ठकुरी बाबा' और उसकी अभावग्रस्त ग्रामीण मण्डली के साथ किये गये सद्व्यवहार और मानवीय सहानुभूति का चित्र प्रस्तुत करता है। इस ग्रामीण मण्डली की दरिद्रता का चित्र बड़ी सहानुभूति के साथ प्रस्तुत किया गया है—"टाट का एक खूँट दबाकर ठंडी बालू में बैठने का कष्ट भूलने का प्रयत्न करते हुए दो किशोर बालक, अनेक छेदों से चित्रित एक काली कमली में सिकुड़े बैठे थे।" छटवाँ रेखाचित्र मानवीय कुटिलता, स्वार्थपरता और

वासना के भीषण प्रकोप की शिकार बनी। 'बिबिया' का चित्र प्रस्तुत करता है। यद्यपि जुआरी और पर-नारीरत पति द्वारा एक सती-साध्वी नारी पर किए गये अत्याचार, बाप की कमाई खाने वाले निठल्ले तथा युवती सौतेली माँ को अपनी वासनापूर्ति का साधन बनाने के लिए आतुर, तीतरबाज 'भीकम' के नारी पर किए गए अत्याचार और जाति-बिरादरी के अमानवीय, स्वार्थपूर्ण तथा अन्याय युक्त कार्यों के दुष्परिणामों को सहानुभूति के साथ प्रस्तुत किया गया है। सातवें रेखाचित्र में पति, पुत्र, जाति-बिरादरी और सगे संबंधियों द्वारा, अन्याय प्रताड़ित और मृत्यु के मुख में पहुँचाने वाली नारी 'गुगिया' का चित्र है। साथ ही माता द्वारा जन्म देकर दूसरों की कृपा पर पलने के लिये छोड़े जाने वाले नवजात शिशु की उपेक्षामय स्थिति का चित्रण तथा स्वार्थी पिता की नीचता एवं स्वार्थपरता का उल्लेख है। एक ओर जहाँ मानव की नीचता और क्रूरता के चित्र हैं; तो दूसरी ओर 'गुगिया' जैसी परिश्रमी और नारी-गुण-सम्पन्न माता तथा एक दुखी माँ का दिल रखने के लिए, निरन्तर दस रुपया भेजने वाले कल्पित पुत्र के मानवतापरक चित्र भी हैं। इस प्रकार मानव के 'कु' और 'सु' के अनेक चित्र इन रेखा-चित्रों में वर्तमान है।

श्रम के महत्व का प्रतिपादन या परिश्रम प्रियता प्रगतिशीलता की दूसरी अनिवार्य विशेषता है। द्वितीय रेखा-चित्र का चीनी भारत में आकर कपड़े बेचता और पेट पालता है। वह अनेक भारतीयों की भाँति भिक्षावृत्ति को जीविकोपार्जन का साधन नहीं बनाता। 'जंग बहादुर' और 'धनिया' श्रम को जीवन का अनिवार्य अंग मानते हैं। 'धनिया' के बीमार होने पर 'जंग बहादुर' महादेवी जी के लिये दो नये कुली लाकर खड़ा कर देता है, क्योंकि बिना श्रम किए वह उनके अठारह रुपए कैसे ले सकता है ? कथा वाचक पण्डितजी की बेटी 'बूटा' और अरैल के मुन्नू की मां परिश्रम की साक्षात प्रतिमाएँ हैं। वह चिलचिलाती धूप में माघ-मेला के लिए हमवार की जाने वाली जमीन पर मिट्टी ढोती है और उसके पारिश्रमिक से सारे कुटुम्ब का पालन करती है। छठवें, रेखाचित्र का 'बरेठा' और 'बिबिया' श्रम के प्रतीक हैं। कपड़े धोना उनका काम है। वे अधिक मजदूरी पाने के लिए लेखिका के साफ कपड़ों को धोने ले जाते हैं, पर बिना काम किये उनका एक पैसा लेने की बात भी नहीं सोचते। सातवें, रेखाचित्र की 'गुगिया' तो इस देश की उन दुर्भाग्यशाली नारियों की प्रतिनिधि है, जो केवल काम करने के लिए पैदा होती हैं।

ईमानदारी और सत्यता को प्रोत्साहित करना प्रगतिशील साहित्य का तीसरा अङ्ग है। महादेवीजी के रेखाचित्रों में निठल्ले और निष्क्रिय व्यक्तियों पर व्यंग्य किया गया है और सच्चे व्यक्तियों के चित्र सहानुभूति के साथ अंकित किए गए हैं। दूसरे रेखाचित्र का चीनी, तीसरे का जंग बहादुर, पाँचवें का ठकुरी बाबा, छठवें की बिबिया और सातवें की गुगिया आदि ऐसे पात्र हैं।

प्रगतिशील का चौथा गुण है, देशभक्ति की भावना। यद्यपि सच्चा मनुष्य देशभक्ति के संकीर्ण दायरों में बँधा नहीं रहता। उसके लिए समस्त विश्व एक परिवार होता है। अतः यह सम्पूर्ण परिवार के हितों का संरक्षक, विश्वबन्धुत्व का हामी और मानवता का समर्थक होता है, पर देश रक्षा का भाव उसमें सदैव बना रहता है। लेखिका द्वारा यह पूछे जाने पर 'तुम्हारे तो कोई है ही नहीं, फिर बुलाया किसने है ? वह उत्तर देता है—"हम कब बोला, हमारा चाहना नहीं है ? हम कब ऐसा बोला सिस्टर।" इन शब्दों में एक पात्र की भावना की व्यंजना द्वारा लेखिका ने अपने पात्रों की देशभक्ति को वाणी दी है और अप्रत्यक्ष रूप से भारतीयों को ऐसा ही देशभक्त बनने की प्रेरणा।

प्रगतिशील चिंतन का खण्डनात्मक पक्ष है—सामंती परिवारों की नीचता, साम्राज्यवादी तत्वों की अमानवीयता, धनिक और साधन सम्पन्नों की दुष्प्रवृत्तियों तथा मानवीय दुर्बलताओं का स्पष्ट चित्रण। इसके अन्तर्गत मानव-मन की पतन शीलता का सर्वाङ्ग चित्रण आता है। महादेवी ने अपने रेखाचित्रों में सामन्तों की पतनशील तथा ह्रासोन्मुख संस्कृति का

चित्रण तो किया नहीं है, पर मानव-मन की हीनता और क्षुद्रता के अनेक चित्र उपस्थित किए हैं। इनके रेखाचित्रों में ऐसी विमाताएँ वर्तमान हैं; जो धन कमाने के लिए छोटी-सी बालिका को अपने हाथों से सजाकर वेश्यावृत्ति के लिए भेज देती हैं, 'रमई' जैसे पति वर्तमान हैं, जो स्वयं जुआ खेलते, शराब पीते और पर-स्त्री के तलवे चाटते हैं, पर सती एवं साध्वी नारी को लात मार कर घर से बाहर कर देते हैं, 'लहना' अहीर और 'मंहगू' काछी जैसे निम्न चरित्र व्यक्ति वर्तमान हैं, जो भली स्त्रियों पर दुश्चरित्र होने का आरोप लगाकर घर से बहिष्कृत करा देने में सहायक बनते हैं; 'झनकू' जैसे शंकालु, दुश्चरित्र, 'मद्यप और जुआरी मौजूद हैं, जो अपनी सती नारी पर अपने ही पुत्र के साथ अवैधानिक यौनि-सम्बन्धों में संलग्न होने की शङ्का करके गार्हस्थिक स्वर्ग का सर्वनाश कर डालते हैं; 'भीकम' जैसे निष्क्रिय, कामचोर, तीतरबाज और बाप की कमाई पर हाथ साफ करने वाले व्यक्ति वर्तमान हैं, जो अपनी माता को ही वासना तृप्ति का साधन बनाना चाहते हैं और अपने नीच उद्देश्य में असफल होने पर स्वयं को निर्दोष और यथार्थ में निर्दोष माता को दोषी प्रमाणित करा देने में जरा भी सङ्कोच नहीं करते; ऐसे पिता वर्तमान हैं जो पहली पत्नी को घर से बाहर ढकेल कर दूसरा विवाह कर लेते हैं, पर नव-विवाहिता पत्नी की मृत्यु के बाद उसकी सन्तान को पालनार्थ पहली पत्नी के सिर पर थोप तीसरा विवाह कर लेते हैं; ऐसे पिता वर्तमान हैं, जो पहली पत्नी की सन्तान के कष्टों की चिन्ता न करके, दूसरी पत्नी और उसकी सन्तान के मोह में डूब जाते हैं और पहली पत्नी की सन्तान के समीप आने पर पनाह देने की अपेक्षा, उसके कपड़ों और खिलौनों को वर्तमान पत्नी की सन्तान के लिए छीनकर, उसे जीवन में अरक्षित छोड़ देते हैं और ऐसे साधु-सन्यासी वर्तमान हैं, जो मित्र द्वारा धरोहर रूप में सौंपी गई कन्या को बेच कर चल देते हैं और इस तरह मित्र के विश्वास का बदला क्षुद्रता, विश्वासघात और मानवीय कृत्यों द्वारा देते हैं। इस तरह महादेवीजी ने रेखा-चित्रों में मानव की दुर्बलता, चारित्रिक छुद्रता, स्वभावगत नीचता और व्यवहार की हीनता के साथ-साथ कार्य की दानवीयता के अनेक चित्र प्रस्तुत किये हैं। ये चित्र यथार्थ की नग्नता और नीचता की ओर पाठक के मन में राग उत्पन्न नहीं करते, वरन् उस भावना को जन्म देते हैं, जो कालान्तर में पाठकों को ऐसी परिस्थितियों के निवारण या उन्मूलन की प्रेरणा देती है, जिनमें नीचता और छुद्रता के कार्य किए जाते हैं।

मानव जीवन में जो कुछ छुद्र, अमानवीय और नीचतामूलक है, उसी पर महादेवीजी ने अपने रेखा-चित्रों में व्यंग्य किया है। लेखिका की सहानुभूति उन गुणों तथा चरित्रों के साथ सर्वत्र रही है, जो मानवीय आदर्शों के लिए सब कुछ सहन करते हैं और प्राण देकर भी उनकी रक्षा करते हैं। रेखाचित्रों में महादेवीजी का दृष्टिकोण सर्वत्र मानवतावादी रहा है। अतः उनके रेखाचित्र और संस्मरण प्रगतिशीलता के गुणों से सम्पन्न हैं।

वर्ग सङ्घर्ष का चित्रण प्रगतिवादी साहित्य का गुण है। प्रगतिशील लेखक साधन हीन वर्ग का समर्थक और साधन-सम्पन्न वर्ग का विरोधी होता है। महादेवीजी ने वर्ग सङ्घर्ष के चित्रण की ओर कोई रुचि प्रदर्शित नहीं की। इसका कारण कुछ भी हो, पर महादेवीजी में उपेक्षित और प्रताड़ित मानवता के लिये असीम प्रेम है। वर्ग-शोषण का चित्रण करना आपका विषय नहीं रहा है, मानव-हृदय की दो विरोधी प्रवृत्तियों के चित्रण में आपने अवश्य कुशलता प्रदर्शित की है। सद्-असद, ऊँच-नीच और कु-स, के सङ्घर्ष का चित्रण उनके रेखाचित्रों की विशेषता है। उनकी यही विशेषता महादेवीजी को प्रगतिशीलता के समीप ले जाने के लिए पर्याप्त है।

—ज़ाट वैदिक कालेज, बड़ौत (मेरठ)

हिन्दी तथा बँगला नाटकों पर एक तुलनात्मक दृष्टि

श्री माहेश्वर दत्त

यद्यपि आधुनिक हिन्दी तथा बङ्गला नाटकों का जन्म पाश्चात्य नाट्य-साहित्य तथा रंगमंच के प्रभाव-स्वरूप ही हुआ किन्तु उक्त भाषाओं के प्रारम्भिक नाटकों पर संस्कृत नाटकों और नाट्य-सिद्धान्तों, लोक-नाट्य-साहित्य एवं लोक-रङ्गमंच का प्रचुर प्रभाव रहा है। वस्तुतः, हिन्दी तथा बङ्गला के आधुनिक-नाटकों का प्रारम्भिक रूप संस्कृत तथा लोक-नाट्य-परम्परा के साथ पाश्चात्य-नाट्य-विधान तथा नाट्य सिद्धान्तों के सामञ्जस्य का ही प्रतिफल है। यद्यपि, हिन्दी तथा बङ्गला दोनों ही भाषाओं के नाटककार संस्कृत नाट्य-परम्परा तथा नाट्य-सिद्धान्तों के विरुद्ध सङ्घर्ष करते दीखते हैं और क्रमशः हिन्दी तथा बङ्गला नाटकों के प्रतिष्ठाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा माइकेल मधुसूदन दत्त इस दिशा में प्रयास करते दीख पड़ते हैं, फिर भी इन दोनों नाटककारों की कृतियों में पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों का पूर्ण पालन तथा संस्कृत नाट्य-सिद्धान्तों की पूर्ण अवहेलना सम्भव हो पायी है, ऐसा नहीं दीख पड़ता है। भाषा, भाव, कथावस्तु, दृश्य-विभाजन, गठन, आदर्श, जीवन-दर्शन सभी दृष्टियों से हिन्दी तथा बङ्गला नाट्य-साहित्य संस्कृत नाटकों का ऋणी है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है, प्रारम्भ में संस्कृत के नाटकों के अनुवादों की भरमार। दोनों ही भाषाओं के नाट्य-साहित्य में ऐसे अनुवादों की संख्या प्रचुर है और आज भी इस परम्परा का लोप नहीं हुआ है।

हिन्दी और बङ्गला के नाट्य-साहित्य पर जन-नाटकों का प्रभाव भी नगण्य नहीं है। संस्कृत के नाटकों के अतिरिक्त, हमारे प्रारम्भिक नाटककारों के समक्ष जन-नाटकों की समृद्ध परम्परा रही है और उसने हमारे नाटककारों की रचना-शक्ति तथा कल्पना को प्रभावित भी किया है। हिन्दी की अपेक्षा बङ्गला-नाटकों पर लोक-नाट्य-परम्परा का प्रभाव अधिक है। लोक-नाट्य-परम्परा के प्रभाव को अस्वीकार करके बङ्गला नाटकों के आधुनिक रूप की कल्पना करना कठिन है। बँगला नाटकों की यथार्थपरता, उनकी सङ्गीतात्मकता तथा नृत्य प्रधानता का श्रेय 'जात्रा' नाटकों को ही है। पाश्चात्य सभ्यता तथा सिद्धान्तों के इतने निकट-प्रभाव में रहकर, औद्योगिक विकास के साथ उत्पन्न होने वाले आर्थिक शोषण के बावजूद भी यदि बङ्गाली दर्शक का नृत्य तथा सङ्गीत के प्रति आकर्षण जीवित है, तो यह लोकनृत्य और लोकनाट्य का ही प्रभाव है। हिन्दी के नाटकों पर भी लोकनाट्य परम्परा का प्रभाव दृष्टिगोचर है। हिन्दी के जननाटकों के रूप विभिन्न प्रान्तों तथा स्थानों पर भिन्न-भिन्न नामों से प्रचलित हैं, जैसे 'रामलीला', 'रासलीला', 'नौटङ्की', 'माच' और 'ख्याल", 'कीर्तनिया' तथा 'अङ्किया' आदि। उसी प्रकार बँगला के जननाटकों को 'जात्रा' नाम से पुकारते हैं, किन्तु 'जात्रा' के अतिरिक्त 'नाटगीत', 'गीताभिनय', 'पौराणिक जात्रा', 'स्वदेशी जात्रा' तथा 'पाञ्चाली' आदि अन्य लोकनाट्य परम्परायें भी जीवित हैं।

हिन्दी तथा बँगला की आधुनिक नाट्य-परम्परा के क्रमशः सन् १८६८ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'विद्या-सुन्दर' के लेखन द्वारा तथा सन् १८५२ में ताराचरण सिकदार के 'भद्रार्जुन' तथा जी० सी० गुप्त के 'कीर्ति-विलास' के लेखन द्वारा) प्रारम्भ के पूर्व इन दोनों भाषाओं में लोकनाट्य तथा संस्कृत नाट्य-परम्परा के अतिरिक्त एक पाश्चात्य शैली की रङ्गमञ्च परम्परा विद्यमान थी, जो एक ओर हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में 'इन्दरसभा' शैली के चलतू नाटकों को अस्थायी रङ्गमञ्चों पर प्रस्तुत कर रही थी (जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप भारतेन्दुजी ने स्वस्थ तथा साहित्यिक नाटकों के प्रणयन का बीड़ा उठाया), तो दूसरी ओर बङ्गाल

के उच्च वर्ग से व्यक्तिगत मनोरञ्जन गृहों के स्थायी रङ्ग-मञ्चों पर अंग्रेजी नाटकों के अनुवादों तथा विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर धन देकर लिखवाये गये नाटकों के प्रदर्शन कर रही थी। हिन्दी तथा बँगला नाटकों के भावी विकासक्रम की जड़ें इसी में निहित थीं। यही कारण है कि हिन्दी का प्रारम्भिक नाट्य-साहित्य तत्कालीन रङ्गमञ्च के विरोध में खड़ा हुआ जबकि बँगला का नाट्य-साहित्य प्रारम्भ से भी 'रङ्ग-मञ्च' के साथ पूर्णतया संश्लिष्ट रहा। अतएव प्रवृत्तियों तथा प्रभावों की समानता के होते हुए भी हिन्दी तथा बँगला नाटकों के रूप तधा गठन में अन्तर बना रहा।

प्रारम्भ से ही बँगला तथा हिन्दी नाटकों की सामाजिक, ऐतिहासिक तथा राजनैतिक पृष्ठभूमि समान रही है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रथम तीन दशकों के अन्दर ही—पहले बँगला, फिर हिन्दी का आधुनिक नाट्य साहित्य जन्म लेता है। सन् १८५७ के सामन्ती नेतृत्व में होने वाली राज क्रान्ति की असफलता ने भारतीयों के स्वतन्त्र होने के हौसले समाप्त कर दिये। छोटे-बड़े सामन्त तथा जमींदार अँग्रेजों के पृष्ठपोषक बन गये। धीरे-धीरे पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति की जड़ें यहाँ गहरी होती गयीं और उनकी भाषा, साहित्य, संस्कृति, विचारधारा तथा रहन-सहन ने भारतीय भाषा, साहित्य संस्कृति, विचारधारा तथा रहन-सहन को शनैः-शनैः प्रभावित करना प्रारम्भ किया इसकी दो प्रतिक्रिया हुईं। एक ओर तो भारतीय, पश्चिम का अनुकरण करने लगे और दूसरी ओर उनमें नवीन जागृति का उन्मेष हुआ और अपनी रूढ़ियों तथा कुरीतियों को समाप्त करके, जातीय भावना का निर्माण हुआ और पश्चिम का अनुकरण करने वालों के प्रति वितृष्णा भी जाग्रत हुई। इसी कारण हमें हिन्दी तथा बँगला के प्रारम्भिक नाटकों में यही दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ दीख पड़ती हैं। सामाजिक प्रहसनों के माध्यम से दोनों ही भाषाओं में समाज की रूढ़ियों तथा कुरीतियों के विरुद्ध व्यङ्ग-विद्रूप-पूर्ण आन्दोलन का सूत्रपात किया गया। दूसरी ओर पौराणिक, ऐतिहासिक तथा राजनैतिक नाटकों के माध्यम से जातीय गौरव, राष्ट्रीयता तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान के उद्गीथ प्रस्तुत किये गये।

हिन्दी तथा बँगला नाट्यसाहित्य के आदि काल में क्रमशः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा माइकेल मधुसूदनदत्त का योगदान असाधारण है। वास्तव में ये दोनों नाटककार युग-निर्माता तथा पथ-प्रदर्शक हैं। ये दोनों एक दूसरे से काफी साम्य रखते हैं। अपनी भाषा के नाट्य-साहित्य को दिशा देने के साथ ही व्यक्तित्व की महानता, कृतित्व की मौलिकता तथा जीवन की अल्हड़ रोमांटिकता में भी ये एक दूसरे के पर्याय लगते हैं।

हिन्दी में तो हरिश्चन्द्रजी के वाद प्रथम श्रेणी का नाटककार तथा युग-निर्माता साहित्यकार केवल 'प्रसाद' है। बीसवीं शताब्दी के दो दशकों तक हिन्दी में भारतेन्दु द्वारा प्रदर्शित पथ पर नाटककार चलते रहे किन्तु बङ्गला ने इस बीच एक महान् अभिनेता तथा युग-प्रवर्तक नाटककार के रूप में गिरीशचन्द्र घोष को जन्म दिया। गिरीश घोष ने पूरी एक शताब्दी के चतुर्थांश से भी अधिक समय तक अपनी नाट्य-कला तथा अप्रतिम अभिनय-कुशलता से बङ्गाली-जनता का मनोरञ्जन एवं परिष्कार किया। वास्तव में, गिरीश घोष बङ्गाल की माटी के सच्चे प्रतिनिधि नाटककार तथा अभिनेता हैं। गिरीशचन्द्र के नाटकों को बङ्गाल के बाहर वह लोकप्रियता नहीं प्राप्त हुई जो रवीन्द्र, डी० एल० राय, क्षीरोद प्रसाद आदि अन्य नाटककारों को सुलभ हुई। मेरी समझ से इसका कारण यही हो सकता है कि गिरीश घोष के नाटकों से अधिक उनकी लोकप्रियता का श्रेय उनके अभिनय को रहा है, अतएव हिन्दी पर उनके नाटकों के प्रभाव की आशा करना व्यर्थ है। दूसरे, गिरीश के नाटकों की भावाकुल-करुणा-विगलित-उच्छ्वासमयता बङ्गाल की अपनी विशिष्टता है और सम्भवतः इस विशिष्टता से अन्य भाषाभाषी दर्शक (अथवा पाठक) उतना प्रभावित नहीं होता। गिरीश युग अथवा बङ्गला नाटकों का मध्य-युग धार्मिक तथा आध्यात्मिक पुनर्जागरण का युग था।

उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटककारों में भारतेन्दु

जी की समता करने वाला सर्वतोमुखी प्रतिभा का अन्य कोई नाटककार नहीं हुआ। शेष नाटककार भारतेन्दुजी द्वारा निर्देशित पथ पर ही चलते रहे। इनमें से किसी के पास नवोन्वेष प्रतिभा का चमत्कार नहीं दीख पड़ता। इनमें कुछ प्रसिद्ध नाटककार लाला श्रीनिवासदास, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास, बद्रीनारायण चौधरी, राधाचरण गोस्वामी शालिग्राम आदि हैं। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के बङ्गला नाटक-साहित्य ने एक के बाद एक अपूर्व प्रतिभा सम्पन्न नाटककारों को जन्म देकर नाट्याकाश को जाज्वल्यमान नक्षत्रों से आलोकित कर दिया। इनमें से कइयों को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति और अनेक अविस्मरणीय प्रभावशालिनी नाट्य-कृतियों का प्रणयन करने का श्रेय प्राप्त है। माइकेल मधुसूदन दत्त के पश्चात् प्रथम श्रेणी के बङ्गला नाट्यकारों में दीनबन्धु मित्र, मनोमोहन वसु, ज्योतिरीन्द्र नाथ ठाकुर, गिरीशचन्द्र घोष, अमृतलाल बसु तथा राजकृष्ण राय का नाम आता है। अन्य साधारण नाट्यकारों की संख्या बड़ी है। उन्नीसवीं शताब्दी के नवम् दशक से रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने नाट्यलेखन प्रारम्भ किया था। सन् १८८५ में उनका प्रथम गीति-नाट्य 'वाल्मीकि प्रतिभा' लिखा गया और तब से मृत्यु-पर्यन्त (१९३९) वे निरन्तर नाटक प्रणयन करते रहे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाट्य-साहित्य बङ्गला नाट्य-साहित्य की परम्परागत विकास-धारा से विच्छिन्न, एक विशिष्ट भावभूमि एवं चिन्तन स्तर पर स्थित है। रवीन्द्र का नाट्य-साहित्य, कालक्रम से बङ्गला नाट्य-साहित्य के मध्य-युग से सम्बन्धित होते हुये भी आधुनिक युग का प्रतिनिधि है, क्योंकि उसका बाह्य-गठन अत्यन्त मौलिक तथा काव्यमय और भाव-धारा तथा चिन्तन-शैली आधुनिक है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से 'प्रसाद' के आविर्भाव तक हिन्दी नाट्य-साहित्य में चरम निष्क्रियता तथा गतानुगतिकता के दर्शन होते हैं। इस काल में मौलिक हिन्दी नाटकों का प्रणयन शून्य के बराबर पहुँच गया था। केवल बंगला, अंग्रेजी तथा संस्कृत से अनुवाद कार्य तीव्र गति से चल रहा था। यह युग 'प्रसाद' कालीन नाट्य-साहित्य के लिए उपयुक्त भूमिका प्रस्तुत कर रहा था। बंगला से द्विजेन्द्रलाल राय, क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद, गिरीशचन्द्र घोष तथा रवीन्द्र नाथ ठाकुर के अनेक अनुवादित नाटकों से प्रभाव ग्रहण करके अपनी मौलिकता तथा प्रतिभा से जयशंकर 'प्रसाद' ने हिन्दी नाटकों के 'स्वर्ण युग' की नींव डाली। यद्यपि 'प्रसाद' पर अनुकरण का आरोप नहीं लगाया जा सकता; अत: कतिपय सन्दर्भों में उनकी प्रतिभा, रवीन्द्र को छोड़ कर अपने समकालीन तथा पूर्ववर्ती बंगला नाटककारों को लाँघ जाती है तथापि 'प्रसादजी' पर द्विजेन्द्रलाल के प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जितेन्द्र के नाटकों की भाषा उनकी भावाकुल रसमयता, 'रोमान्टिकता' पात्रों तथा चरित्रों की निर्माण पद्धति तथा उनके द्वारा प्रकाशित अनेक मान्यताएँ एवं विचारधाराएँ, राष्ट्रीयता तथा आत्म-गौरव, अन्तर्द्वन्द्व तथा आत्मविश्लेषण आदि विविध उपादानों का उपयोग करते हुए भी प्रसादजी ने अपनी मौलिकता को कुण्ठित नहीं होने दिया। यही कारण है उन्होंने राय से बहुत कुछ स्वीकार करके भी अपने नाटकों को एक नया परिवेश, एक नवीन दर्शन तथा एक नूतन अर्थ दिया।

द्विजेन्द्रलाल राय के प्रभाव को हिन्दी नाट्य-साहित्य में दो भागों में विभक्त करके स्वीकार किया गया। 'प्रसाद' के बाद 'प्रेमी' दूसरे प्रसिद्ध नाटककार हैं जिनके नाटकों पर 'राय' का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। 'प्रसाद' तथा 'प्रेमी' दोनों नाटककारों की कृतियों का मूल स्वर 'राष्ट्रीयता' है, किन्तु उनकी व्याख्याओं में अन्तर है। इस दृष्टि से 'प्रेमी' डी० एल० राय के अधिक निकट हैं। इसके अतिरिक्त इनमें भाषा 'तकनीक', 'चिन्तन धारा' दृश्य-विभाजन आदि से सम्बन्धित अनेक स्पष्ट अन्तर हैं। 'प्रसाद' तथा 'प्रेमी' की नाट्य-कृतियों का अपना वैशिष्ट्य है, जो डी० एल० राय में नहीं प्राप्त होता किन्तु राय के नाटकों की विशेषताएँ जैसे राष्ट्रीयता, हिन्दू-मुस्लिम एकता, मानवतावाद, गांधीवाद, पश्चिमी शैली का दृश्य अङ्क विभाजन, यथार्थपरक चरित्र-चित्रण, अन्तर्द्वन्द्व, रङ्ग-

मञ्च निर्देशन, हत्या, मरण, युद्ध आदि रोमांचकर दृश्यों की अवतारणा, स्वगत कथन की मनोविश्लेषणात्मक पद्धति आदि इनमें भी प्राप्त होती हैं।

हिन्दी तथा बंगला ऐतिहासिक नाटकों का यह स्वर्ण युग माना जाता है और क्रमशः द्विजेन्द्रलाल राय एवं 'प्रसाद' हिन्दी तथा बंगला के सर्वोत्कृष्ट ऐतिहासिक नाट्यकार सिद्ध होते हैं। यद्यपि सामाजिक, पौराणिक तथा 'रोमान्टिक' श्रेणी के नाटक भी हिन्दी तथा बंगला दोनों ही भाषाओं में लिखे गये किन्तु इनकी संख्या तथा नाट्य-गुण नगण्य है। प्रसादयुगीन हिन्दी नाट्यकारों में जयशङ्कर प्रसाद के अतिरिक्त सेठ गोविन्ददास, वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्दवल्लभ पन्त, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, पं० बद्रीनाथ भट्ट, सुदर्शन, प्रेमचन्द, उदयशङ्कर भट्ट, जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' 'जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, जी० पी० श्रीवास्तव और लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि हैं। जी० पी० श्रीवास्तव ने फ्रेञ्च भाषा के प्रहसन लेखक मोलियर के नाटकों के अनुकरण पर प्रहसन लिखना प्रारम्भ किया। 'प्रसाद युग' के अन्तिम वर्षों में अपने सामाजिक समस्या-नाटकों के द्वारा लक्ष्मीनारायण मिश्र ने हिन्दी नाटकों के एक सर्वथा नवीन युग की भूमिका प्रस्तुत करदी। इस युग के बंगला नाटककारों में द्विजेन्द्रलाल राय के अतिरिक्त क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा अपरेशचन्द्र मुखोपाध्याय, योगेशचन्द्र चौधरी आदि अन्य नाटककार हैं।

रवीन्द्र का नाट्य-लेखन-काल उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों से प्रारम्भ होकर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चार दशकों तक विस्तृत है। रवीन्द्र की प्रतिभा तथा जीवन दृष्टि कुछ ऐसे उपादानों से निर्मित है कि उनका नाट्य-साहित्य एकान्तरूपेण उनकी वैयक्तिक उपलब्धि प्रतीत होती है। उनके नाटक भी रोमांटिक श्रेणी के हैं किन्तु उनमें व्याप्त संदेशों की सर्वजनीनता तथा सर्वकालिकता, चिन्तन की विशिष्ट भारतीय शैली भावों की निष्कपट आकुलता के मूल में बहती हुई दर्शन की स्रोतस्विनी इन्हें एक विशिष्ट गौरव तथा इनके नाट्य-साहित्य को एक विशिष्ट भाव भूमि प्रदान करती है, जहाँ बंगला तथा हिन्दी का अन्य कोई नाटककार नहीं पहुँच पाता। 'प्रसाद' के गीतों पर तथा बाद में उदयशङ्कर भट्ट के भाव नाट्यों पर रवीन्द्र का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

प्रसादोत्तर हिन्दी तथा रवीन्द्रोत्तर बंगला नाट्य-साहित्य को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। द्वितीय विश्व महायुद्ध का भारत के साथ अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होते हुए भी उसके भविष्य के निर्माण में बड़ा हाथ है। क्योंकि एक तो, भारत विश्वयुद्ध की विभीषिकाओं का निकटस्थ प्रत्यक्षदर्शी था, दूसरे भारत की पराधीनता की अवधि को विश्वयुद्ध ने काफी छोटा कर दिया। विश्वयुद्ध के तुरन्त बाद ही हमें स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। अतएव निश्चयतः युद्ध पूर्व और युद्धोत्तर हिन्दी-बँगला नाटक साहित्य की प्रवृत्तियों में स्पष्ट अन्तर है। युद्ध पूर्व-काल को अत्याधुनिक काल तथा युद्धोत्तर काल को नवनाट्य-आन्दोलन-काल नाम से भी अभिहित किया जा सकता है।

अति आधुनिक युग के हिन्दी नाटकों में हम 'प्रसाद' की रोमांटिकता तथा द्विजेन्द्रलाल द्वारा प्राप्त बँगला प्रभाव के विरुद्ध पनपते हुए विद्रोह का दर्शन करते हैं। पाश्चात्य नाटकों के यथार्थवादी आदर्शों से प्रभावित लक्ष्मी नारायण मिश्र, पृथ्वीनाथ शर्मा आदि नाटककारों ने हिन्दी में एक सर्वथा नवीन सामाजिक नाट्यधारा को जन्म दिया। यद्यपि हिन्दी तथा बँगला दोनों ही भाषाओं में ऐतिहासिकता तथा पौराणिक नाटकों का प्रणयन इस काल में समाप्त नहीं हुआ, तथापि उसकी धार कुण्ठित हो गई। बँगला में भी इस युग में सामाजिक नाटकों की रचना अधिक हुई। ऐतिहासिक नाटकों की रचना भी यथेष्ट हुई फिर भी हिन्दी की अपेक्षा बँगला में ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटकों की संख्या न्यून है। इस युग में बँगला के पौराणिक नाटकों का एकदम ह्रास देखा गया। दोनों ही भाषाओं में एकाङ्की नाटकों का प्रचुर प्रणयन हुआ। इस युग के प्रसिद्ध हिन्दी नाटककारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा पृथ्वीनाथ शर्मा के अतिरिक्त उदयशङ्कर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, वृन्दावनलाल

वर्मा, गोविन्दवल्लभ पन्त, चतुरसेन शास्त्री, डा० रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वरप्रसाद, भगवतीचरण वर्मा आदि हैं। डा० रामकुमार वर्मा और मन्मथराय को क्रमशः हिन्दी तथा बँगला नाट्य-साहित्य के प्रथम महान् एकाङ्कीकार होने का गौरव प्राप्त है। इस युग के प्रसिद्ध बँगला नाट्यकारों में मन्मथराय, विधायक भट्टाचार्य, जलधर चट्टोपाध्याय, अयस्कान्त बक्सी, नीहाररञ्जन गुप्त, मनोज बसु, शचीन्द्रनाथ सेनगुप्त, प्रमथनाथ विशि, महेन्द्र गुप्त आदि का नाम आता है।

नवनाट्य आन्दोलन काल में भारत की राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति विक्षुब्ध हो उठती है। द्वितीय विश्वमहायुद्ध की विभीषिका के साथ ही भारतीयों के राष्ट्र-व्यापी मुक्ति आन्दोलन ने जोर पकड़ा। साथ ही, विश्वयुद्ध के फलस्वरूप, समाज में उत्पन्न आर्थिक खाई ने पूँजीवाद तथा शोषण को जन्म दिया। मुक्ति के प्रथम चरण में ही भारत का बँटवारा, हिन्दू-मुस्लिम दंगे तथा शरणार्थी समस्या आदि विभिन्न सामाजिक समस्याओं की ओर हिन्दी तथा बँगला नाटककारों का ध्यान आकर्षित हुआ। गान्धीवाद ने एक जीवन्त दर्शन के रूप में सबको आकर्षित किया। हिन्दी में, इस युग में पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों की ही अधिकता दृष्टिगोचर होती है। सामाजिक नाटकों में बुद्धिवाद तथा यथार्थवाद एक ज्वार की भाँति लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि की प्रारम्भिक रचनाओं के साथ आकर भाटे के रूप में परिवर्तित हो गया। उधार के यथार्थवाद का खोखलापन स्थायी कैसे होता? समस्या-नाटकों के बाद मिश्रजी ने संस्कृतिप्रधान-ऐतिहासिक नाटकों की रचना प्रारम्भ की। बँगला में इस काल में ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटकों का पूर्ण ह्रास हुआ और प्रायः सभी बँगला नाटककारों का ध्यान सामाजिक समस्याओं की ओर केन्द्रित रहा। हिन्दी और बँगला दोनों ही भाषाओं में एक नवीन शैली के 'जीवनी नाटकों' ने जन्म लिया, जिनका ध्येय है, नायक के जीवन का क्रमिक तथा यथार्थ पूर्ण चित्रण।

इसके अतिरिक्त हिन्दी तथा बंगला दोनों ही भाषाओं में विभिन्न प्रकार के सामाजिक नाटकों की प्रचुर रचना हुई जैसे, समस्या नाटक, मनोवैज्ञानिक-नाटक, वर्गसङ्घर्ष पर आधारित अर्थनीतिक नाटक, चरित्रप्रधान राजनैतिक नाटक आदि। दोनों ही भाषाओं में इस काल में एकाङ्की नाटकों का अभूतपूर्व विस्तार एवं विकास हुआ। दोनों ही भाषाओं में अनेक नाटकों का पाश्चात्य साहित्य, संस्कृत तथा प्रादेशिक साहित्य से अनुवाद हुआ। दोनों ही भाषाओं में प्रतीक नाटक तथा काव्य नाटक लिखे गये।

प्रवृत्तियों का साम्य होते हुये भी हिन्दी तथा बँगला नाट्यकारों के दृष्टिकोण में अन्तर बना रहा। इसका प्रधान कारण यह है कि यन्त्रयुग, युद्ध, देश-विभाजन, शरणार्थी समस्या, आर्थिक शोषण आदि का प्रत्यक्ष अनुभव बंगला के नाटककारों को अधिक हुआ है, फलस्वरूप उनकी कृतियों में दृष्टि की परिपक्वता, यथार्थपरता, अनुभूतिप्रवणता तथा चित्रण की व्यापकता का जो दर्शन होता है वह हिन्दी में दुष्प्राप्य है। बँगला नाटकों का वैचारिक तथा दार्शनिक आधार भी आज के प्रत्यक्ष जीवन पर आधारित है, जबकि हिन्दी के नाटककारों की दृष्टियाँ आज भी अतीत के रोमानी पृष्ठों पर ही भटक रही हैं। सामाजिक नाटकों में भी हिन्दी का नाटककार समन्वय एवं आदर्शपरता के पीछे चल रहा है। युग की समस्याओं के प्रति सजग अन्तर्दृष्टि की स्पष्टता के स्थान पर रोमांस तथा आदर्श की धुन्ध उसकी आँखों पर छायी हुई है। फिर भी हिन्दी नाटकों के भविष्य के प्रति हम आशावान है। नई उपलब्धियों तथा वैचारिक क्रान्तियों के अंकुर हिन्दी नाट्य-साहित्य में फूट रहे हैं, जो इसे नयी दिशा देंगे।

हिन्दी तथा बँगला आधुनिक रङ्गमञ्च का जन्म भी नाटकों की भांति पाश्चात्य प्रभाव के कारण ही हुआ किन्तु नाट्यसाहित्य के विकास के विपरीत हिन्दी तथा बँगला रङ्गमञ्च के विकासक्रम में भारी अन्तर है। हिन्दी तथा बँगला में, आधुनिक नाटकों के जन्म के बहुत पूर्व ही, पाश्चात्य रङ्गमञ्च के अनुकरण पर गठित रंगमंचों का जन्म उत्तर प्रदेश तथा बंगाल में होगया था। यद्यपि ये जन रंगमञ्च नहीं थे, तथापि सामन्तवर्ग तथा शिक्षित उच्च वर्ग की, पाश्चात्य श्रेणी

के रंगमञ्च के प्रति उत्कट आकर्षण के प्रतीक हैं। हिन्दी में आधुनिक रंगमञ्च का जन्म 'इन्द्रसभा' के प्रदर्शन के साथ सन् १८५३ से होता है। 'इन्द्रसभा' शैली के नाटकों की व्यापारिक सम्भावनाओं का बम्बई की पारसी कम्पनियों ने खूब लाभ उठाया और हिन्दी रंगमञ्च को निम्नतम स्तर तक खींच ले गये। इसके विपरीत बँगला रंगमञ्च शिक्षित तथा सपन्न उच्चवर्ग के नियन्त्रण में रहा, जो अपनी कलात्मक रुचि की परितृप्ति के लिए, अपार धन का व्यय करके पाश्चात्य शैली के रंगमञ्चों का निर्माण कराते रहे। इतना ही नहीं, विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर नाटक लिखने के लिए, पुरस्कार देकर, नाटककारों को प्रोत्साहित भी करते रहे। इस प्रकार प्रारम्भ से ही, जहाँ हिन्दी रंगमञ्च कुछ कुत्सित रुचि व्यवसायियों के हाथ में पड़ गया, बँगला रंगमञ्च नाट्यकला की सेवा में लगा रहा। हिन्दी में कुछ शौकीन नाट्यसंस्थायें भी उत्पन्न हुईं परन्तु चलचित्रों के प्रचलन के पूर्व ही वे भी समाप्तप्राय हो गयीं। कुछ लोग हिन्दी रंगमञ्च के पतन का कारण चलचित्रों के साथ उनकी प्रतिद्वन्दिता बताते हैं, किन्तु यह तर्क भ्रमपूर्ण है क्योंकि यदि बँगला रंगमञ्च चलचित्रों की प्रतिद्वन्द्विता के बावजूद भी उन्नति कर सकता है, तो हिन्दी रंगमञ्च के ही विषय में उस तर्क को क्यों स्वीकार किया जाय?

इस प्रकार जनरंगमञ्च (पारसी रंगमञ्च) की समाप्ति के साथ हिन्दी का प्रथम उत्थान समाप्त होता है, जबकि बँगला नाटक प्रथम उत्थान के अन्त में जनरंगमञ्च के स्तर तक उन्नति कर लेता है। प्रारम्भ से ही हिन्दी का नाटककार जन रंगमञ्च के प्रति वितृष्णा लेकर चलता है, जबकि बँगला रंगमञ्च का नेतृत्व नाटककारों और अभिनेताओं के हाथ में रहता है।

बङ्गला रङ्गमञ्च का प्रथम उत्थान जनरङ्गमञ्च की स्थापना से लेकर सन् १६२० तक चलता है। इस बीच बङ्गला रङ्गमञ्च का अभूतपूर्व प्रसार एवं विकास हुआ। बङ्गाली जनता ने इस बीच बङ्गला रङ्गमञ्च को कई करवटें लेते देखा। बङ्गला रङ्गमञ्च की श्रेष्ठ-विभूतियों ने इस युग में जन्म लिया। गिरीशचन्द्र घोष, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, ज्योतिरीन्द्रनाथ ठाकुर, अमृतलाल वसु, महेन्द्रलाल वसु आदि अभिनेता-नाट्यकार तथा विनोदिनी, तारा सुन्दरी, अर्थेन्दुशेखर आदि उच्च श्रेणी के अभिनेताओं ने बँगला रङ्गमञ्च को सुशोभित किया।

हिन्दी रङ्गमञ्च का द्वितीय उत्थान-काल १६३१ के बाद प्रारम्भ होता है और स्वतन्त्रता प्राप्ति तक चलता है। इस काल में अनेक शौकीन (अव्यवसायी) नाट्य-संस्थाओं ने जन्म लिया। इस काल में हिन्दी रङ्गमञ्च को पुनर्जीवित करने के कुछ छिटपुट प्रयास हुये किन्तु चिरस्थायी न हो सके। पृथ्वीराज कपूर द्वारा स्थापित 'पृथ्वी-थियेटर्स' भी इन्हीं असफल प्रयासों में से एक है, किन्तु हिन्दी रङ्गमञ्च के इतिहास के इस अन्धकाराच्छन्न युग को प्रकाशित करने का श्रेय उसे प्राप्त है।

बंगला रङ्गमञ्च का द्वितीय उत्थान काल सन् १६२५ से स्वतन्त्रता प्राप्ति-पर्यन्त चलता है। इस बीच बँगला रङ्गमञ्च मञ्चसज्जा, प्रकाश व्यवस्था, वेश-भूषा, अभिनय; रङ्गमञ्च निर्माण, दृश्य विधान आदि के अभिनव 'टेकनीक' से सुसज्जित हो गया। इसी बीच भारतीय गणनाट्य-संघ की स्थापना से बँगला रङ्गमञ्च को नया जीवन दिया। उक्त संस्था ने, बँगला ही नहीं, हिन्दी रङ्गमञ्च को भी नवीन सम्भावनाओं तथा उपलब्धियों से समृद्ध किया।

हिन्दी तथा बँगला रङ्गमञ्च का तृतीय एवं अन्तिम उत्थान-काल स्वतन्त्रता-प्राप्ति से प्रारम्भ होता है। इस काल में नवीन नाट्य-आन्दोलन से सम्पूर्ण राष्ट्र को उद्वेलित कर दिया। स्वतन्त्र राष्ट्र में जनता नाट्य-कला तथा रङ्गमञ्च के प्रति नवीन आकर्षण से भर उठी। भारतीय सरकार ने भी इस दिशा में प्रोत्साहन देना प्रारम्भ किया है। नृत्य-नाट्य अकादमी, भारतीय गणनाट्य-संघ की विभिन्न शाखाओं, तथा अनेक सरकारी-गैरसरकारी, व्यवसायी-अव्यवसायी नाट्य-सस्थाओं ने जन्म लिया और हिन्दी रंगमंच भी शनैः शनैः प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा है। बँगला रंगमंच विकास के सर्वोच्चि स्तर तक पहुँच गया है। भारत में किसी भाषा का रंगमंच इतना समृद्ध नहीं है।

दूतकाव्य और उनके प्रेरणा-स्रोत

श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव

यद्यपि यह निर्विवाद है कि दूतकाव्य की सर्वप्रथम अवतारणा महाकवि कालिदास की प्रथित काव्यकृति मेघदूत से हुई है, तथापि दूतकाव्य के प्रेरणा स्रोत के सम्बन्ध में अन्वेषण-गवेषण की पर्याप्तता के बावजूद कोई एक सैद्धान्तिक मान्यता स्थिर होती नहीं दीखती। फिर भी, विद्वान् गवेषकों ने, इस दोलाचल स्थिति में भी, दूतकाव्य के प्रेरणास्रोत की वास्तविकता तक पहुँचने का बहुलांशतः प्रामाणिक प्रयास किया है।

साहित्य-क्षेत्र में दूतकाव्यों या सन्देशरूपात्मक पद्यों की प्रमुखता सर्वस्वीकृत है। दूत-काव्य अधिकांशतः गीतिप्रधान होते हैं। दूतकाव्यों की मुख्य वर्ण्य वस्तु है—"उच्चादर्श प्रेमियों की सरस, मार्मिक और अभिव्यञ्जक विरह-व्यथा।" दूसरे शब्दों में हम कहें, एक प्रेमी का अपनी प्रेमिका के प्रति प्रेम सन्देश भिजवाना ही दूत-काव्य का मुख्य विषय है। प्रेम सन्देश के वाहक चेतन अचेतन दोनों प्रकार के होते हैं।

किन्तु, ध्यातव्य है कि जैन कवियों ने इस प्रकार के विरह-प्रणयाख्यानपरक काव्य को एक धार्मिक परिवेश या गत्यन्तर प्रदान किया। अपने गुरुओं अथवा उपदेशकों को सूचनाएँ पहुँचाने के माध्यम द्वारा उन्होंने अपनी दार्शनिक मान्यताएँ स्थापित कीं और उनका विश्लेषण-विवेचन किया। सन्देशवाहक द्वारा प्रयुक्त वैसी दार्शनिक भावना के अनुरूप 'चेतोदूत', 'मानसदूत' तथा इसी प्रकार की अन्य अनेक रचनाएँ प्रस्तुत हुईं।

पन्द्रहवीं शती के जैनकवि चरित्रसुन्दरगति ने 'शीलदूत' की रचना की, जिसमें स्थूलभद्र नामक एक जैन राजकुमार अपने पिता के निधनोपरान्त किस प्रकार संसार का परित्याग कर महान् जैन महात्मा भद्रभानु का शिष्य बन गया; अपने गुरु के आदेशानुसार अपने नगर में वापस आने पर, अपनी पत्नी द्वारा दीक्षा लेने के व्याज से प्रस्तुत हृदयग्राही तर्कों से किस प्रकार वह द्रवित हुआ और बाद में किस प्रकार उसने अपने निर्मल शील के सबल प्रभाव से अपनी पत्नी को प्रभावित किया तथा एक तपस्विनी का जीवन व्यतीत करने के निमित्त उसे प्रवृत्त कर किस प्रकार उसने सांसारिक व्यथा और क्लेशों का अन्त किया इत्यादि बातों का वैदुष्यपूर्ण वर्णन है।

पन्द्रहवीं शती के ही महेन्द्रप्रभसूरि के शिष्य अञ्चल गच्छीय सम्प्रदाय के आचार्य मेरुतुङ्ग सूरि ने तीर्थङ्कर नेमिनाथ के जीवन पर चार सर्गों में 'जैन मेघदूत' की रचना की। इसी प्रकार, कुछ परवर्त्ती कवियों ने भी उपदेश, नीतिशास्त्र तथा दर्शनपरक रचनाओं में इस दौत्य-शैली का प्रयोग किया। कहना न होगा कि इस प्रकार शताधिक दूतकाव्य लिखे गये और दूतकाव्यों की एक अनवरुद्ध परम्परा ही चल पड़ी।[1]

दूत काव्य की परम्परा के सम्बन्ध में सूचनात्मक या विवरण-व्याख्यात्मक या क्रमबद्ध पारस्परिक साहित्य का अद्यावधि अप्राचुर्य है। इसलिए, इस काव्य-परम्परा का आदिस्रोत निश्चित करना कठिन है। ज्ञातव्य है कि गहन पर्वत से कोई नदी निकलती है, किन्तु उद्गम काल में वह प्रत्यक्ष नहीं होती। फिर, जब स्रोत का बाहुल्य लेकर जिस स्थान से (जैसे हरद्वार से गङ्गा) चलती है, तब उस स्थान से वह लोचन-गोचर होने लगती है। इससे ऐसा कहना सम्भव नहीं कि जिस स्थान से नदी का प्रवाह दृष्टिगत हुआ, वहीं से उसका उद्गम भी हुआ। इसी प्रकार, दूतकाव्य-साहित्य के सम्बन्ध में भी मानना उचित है।

प्राचीन वैदिक काल से ही चलें, तो ऋग्वेद में इन्द्र

[1] दूत काव्यों की तालिका और तत्सम्बन्धी विशेष विवृत्ति के लिए द्रष्टव्य—लेखक कृत, 'मेघदूत : एक अनुचिन्तन', प्र० नागरी प्रकाशन प्रा० लि०, पटना-४ पृ० ३११।

के द्वारा इन्द्राणी के प्रति सरमा (श्वाजाति) को दूत बनाकर भेजने का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में ही श्यावाश्व-रथवीति का संवाद[१] भी प्राप्त होता है। कथा संक्षेप में इस प्रकार है - मन्त्रद्रष्टा अत्रि मुनि के पुत्र महर्षि अर्चनाना अत्रेय राजर्षि रथवीति दाल्भ्य की पुत्री मनोरमा को पुत्रवधू बनाना चाहते हैं। किन्तु, उनके पुत्र श्यावाश्व आत्रेय ने ऋषित्व नहीं प्राप्त किया था, इसलिए महारानी ने उसे जामाता बनाना अस्वीकार कर दिया। तब आहत श्यावाश्व ने अपनी उग्र तपस्या से मरुद्गणों को प्रसन्न किया और उनसे उसे ऋषित्व की प्राप्ति हुई।

श्यावाश्व के सफल मनोरथ होने पर उसके पितामह महर्षि अत्रि आनन्द से पुलकित हो उठे। उन्होंने श्यावाश्व से कहा—"वत्स ! तुम्हारे ऋषित्व-लाभ करने से आज मेरा जीवन वस्तुतः सफल हुआ। मेरा कुल तुम्हारे इस महार्घ आचरण से सदा उज्ज्वल रहेगा। अब तुम्हारे पिता अर्चनाना आत्रेय की मध्यस्थता की आवश्यकता नहीं रह गई। तुम स्वयं जाकर राजर्षि रथवीति दाल्भ्य की पुत्री मनोरमा का पाणिग्रहण करो।

पितामह की आज्ञा शिरोधार्य कर श्यावाश्व रथ-रथवीति से मिलने के लिए चल पड़ा। परन्तु अपने मुँह अपनी प्रशंसा उसे हास्यास्पद प्रतीत हुई, इसलिए उसने भगवती रात्रि को अपनी दूती बनाकर राजर्षि रथवीति के निकट यह सन्देश देने को भेजा—

"भगवती रात्रि ! तुम स्वयं विज्ञ हो। मेरे हित को हानि न पहुँचे, इस बात का ध्यान रखना। रथी जिस प्रकार रमणीय वस्तुओं को रथ में रखकर गन्तव्य स्थान को ले जाता है, उसी प्रकार तुम भी मरुद्गणों की मेरी यह स्तुति राजर्षि रथवीति दाल्भ्य के पास ले जाओ और मेरे ऋषित्व-लाभ की कथा उसके कानों में सुना आओ।" रात्रि ने ऋषि के मनोरथ की पूर्ति के लिए श्यावाश्व का दौत्य स्वीकार किया।

पौराणिक काल में भी, रामायण में राम के द्वारा सीता के प्रति हनुमान को दूत बनाकर भेजने की चर्चा पाई जाती है। महाभारत में भी देखा जाता है कि युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को दूत बनाकर हस्तिनापुर, कौरवों की सभा में भेजा था। यम-यमी का संवाद भी इस प्रसङ्ग में उद्धृत किया जाता है। अनुरक्ता दमयन्ती ने भी नल के प्रति हंसदूत को भेजा था।

जो भी हो, किन्तु इससे एक बात तो अवश्य स्पष्ट होती है कि दूतकाव्य का वक्ता दूत और सन्देश का विषयीभूत नायक या नायिका कुल इन्हीं तीनों पात्रों का अवलम्बन कर दूतकाव्य की रचना-शैली प्रचलित हुई। इसके अतिरिक्त साहित्यिक दूतकाव्यों का बहुत बड़ा महत्व इसलिए भी है कि उनमें प्रायः प्राचीन या मध्यकालीन भारत के किसी भाग के भौगोलिक वर्णन की पूर्णता रहती है, यद्यपि यह भौगोलिकता काव्यात्मकता का अतिक्रमण न कर उसे प्रमुखता देती हुई स्वयं गौण बनी रहती है। दूतकाव्यों के छन्दों में विशेषतः 'मन्दाक्रान्ता' ही प्रयुक्त दीखती है। मन्दाक्रान्ता छन्द में विषाद की शान्त अभिव्यञ्जना की प्रभूत क्षमता है। अतएव वह दूतकाव्य के वर्ण्य विषय के अनुरूप होता है। फिर भी, कतिपय ऐसे भी दूतकाव्य हैं जिनमें प्रहर्षिणी, शिखरिणी आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं : जैसे महामहोपाध्याय अजितनाथ न्यायरत्न विरचित 'वाक्-दूत', त्रिलोचनकृत 'तुलसीदास' आदि।

ऊपर जो तीन पात्रों को ही आलम्बन बनाने की बात कही गई है, वह न केवल साहित्यिक या प्रेम-विषयक दूतकाव्यों का वैशिष्ट्य है, अपितु यह बात दार्शनिक, आध्यात्मिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक व्यापारपरक दूतकाव्यों में भी देखी जाती है। वैयक्तिक व्यापारपरक दूतकाव्यों में 'वाङ्मण्डनगुणदूतकाव्य' का नाम आता है। इसमें किसी कवि ने अपनी कवित्व-शक्ति को अपने पृष्ठपोषक के प्रति दूती बनाकर भेजा है। इसी प्रकार वेदान्ताचार्य वेङ्कटनाथ ने वेदान्त-प्रतिपाद्य विषयों के प्रतिपादन के लिए 'हंसदूतकाव्य' की रचना की है। आध्यात्मिक विषयों के विश्लेषण के लिए 'मेघदूत' जैसे काव्य की गणना की जा सकती है। 'काकदूत' काव्य में सुरापान से भ्रष्ट ब्राह्मण का तिर-

[१] द्रष्टव्य : आचार्य बलदेव उपाध्याय लिखित 'वैदिक कहानियाँ' (वि० सं०), प्रका०—शारदा मन्दिर, काशी, पृ० ८५।

स्कार किया गया है, जिससे इस काव्य की सामाजिक विषयता सिद्ध होती है। इस प्रकार दूतकाव्य की गति अकुतोमय दीखती है।

जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया गया है, दूतकाव्यों में मेघदूत आदिम है। हालाँकि घट-खर्पर काव्य को आदिम कहने वालों की शृङ्खला कोई छोटी नहीं है। घटखर्पर और कालिदास विक्रमादित्य की सभा के रत्न थे।[1] इससे स्पष्ट है कि ये दोनों समसामयिक थे। परन्तु इन दोनों में पहले किसने दूतकाव्य की रचना की, कहना कठिन है। घटखर्पर काव्य में कोई विरहिणी अपने प्रियतम के पास मेघ को दूत बनाकर भेजती है और मेघदूत में ठीक इसके विपरीत कोई विरही यक्ष अपनी प्रियतमा के पास मेघ को दूत के रूप में भेजता है। इतना होते हुए भी दोनों काव्यों के दूत और इतिवृत्त में साम्य है। परन्तु काव्योत्कर्ष का जहाँ तक प्रश्न है, स्वर्ग और मर्त्य का अन्तर है। इसके अतिरिक्त घटखर्पर काव्य पर महाभारत का प्रभाव है और मेघदूत रामायण से प्रभावित है। एक बात और भी है कि घटखर्पर कवि कालिदास के प्रतिपक्षी थे। यह बात 'नीतिसार' में घटखर्पर रचित एक श्लोक[2] से ज्ञात होता है। इसलिए बहुत सम्भव है, घटखर्पर ने मेघदूत की व्यंग्यानुकृति के लिए घटखर्पर काव्य की रचना की है। इस तरह न केवल घटखर्पर ने ही अपितु शताधिक परवर्ती कवियों ने मेघदूत की अनुकृति पर दूतकाव्य रचे, जिनमें अनेक रूप प्रपञ्चों का विस्तार किया गया है।

परवर्त्ती दूतकाव्यों में रामायण का नहीं, वरन् भागवत महापुराण का महान् प्रभाव परिलक्षित होता है, विशेषकर भक्तिरस प्रधान वैष्णवीय दूतकाव्यों में। भागवत में दौत्य-व्यापार तीन-चार स्थलों में है। एक तो जरासन्ध के बन्दी राजाओं द्वारा कृष्ण के पास नृपविशेष का भेजा जाना (१० । ०० । १२), दूसरा शिशुपाल के साथ विवाह न करने की रुक्मिणी का, अपने अपहरण के निमित्त, कृष्ण के समीप ब्रह्मदूत का भेजना (१० । ५२ । २१) और तीसरा मथुरा-प्रवासी कृष्ण के द्वारा नन्द, यशोदा तथा गोपियों की सान्त्वना के निमित्त उद्धव का प्रेषित किया जाना (१० । ४६ । ४७)। इस प्रकार, सन्देश पहुँचाने की कल्पना वेद से भागवत तक मिलती है। इसके अतिरिक्त सन्देशात्मक कथा-गाथाएँ पौराणिक ग्रन्थों से लोक कथा-साहित्य तक बहुपरिचित बनी हुई हैं, किन्तु मेघदूत के पूर्व दूतकाव्य के रूप में सम्पूर्ण और सर्वाङ्ग-सुन्दर कोई भी रचना उपलब्ध नहीं है, भले ही दूतत्व की प्रेरणा देने वाले काव्यस्रोत अवश्य ही कालिदास के पूर्व प्राप्य हैं।

—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना—४

[1] धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकु
बेतालभट्टघटखर्पर कालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

[2] एको हि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दोरिति यो बभाषे।
ध्रुवं न दृष्टं कविनापि तेन
दारिद्र्यदोषो गुणराशि नाशी ॥

हिन्दी में लिङ्ग की पहिचान

श्री श्रीराम शर्मा

व्यक्ति के सम्पर्क का क्षेत्र दिनोंदिन विकसित होता जा रहा है। निकट के परिजनों से चलकर, परिवार, ग्राम, नगर एवं राष्ट्र की देहलियाँ लाँघता हुआ यह सम्पर्क विश्व सम्पर्क हो गया है। सम्पर्क का मूल साधन भाषा है। विश्व में अनेक भाषायें हैं। प्रत्येक की अपनी लिपि, विशिष्ट ध्वनि सम्प्रदाय, व्याकरण एवं विशेषता है। आज प्रमुखतया विश्व की सम्पर्क भाषाओं में अँग्रेजी का स्थान प्रमुख माना जाता है। आंग्ल भाषा में बहुत सी भ्रान्त बातें हैं। कहीं ध्वनि साम्य तो वर्ण भिन्नता एवं वर्ण भिन्नता के स्थान पर ध्वनि साम्य। व्याकरण भी कोई निर्विवाद नहीं। इस कारण दुनिया के कई राष्ट्र रूसी, फ्रांसिस, जर्मनी, जापानी अपनी-अपनी भाषाओं का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचार कर रहे हैं। एक पाश्चात्य विद्वान के अनुसार—

"हिन्दी एक वैज्ञानिक भाषा है, इसमें भ्रान्तियाँ कम हैं"। ऐसी स्थिति में हमारी भाषा स्वयं अपने घर में अपमानित क्यों है? इसके कई कारण हो सकते हैं! अपनी सन्तति के अपने ही इतर-भाषा-भाषी राष्ट्र-बान्धवों द्वारा हिन्दी थोपी जाने की चर्चा बड़ी विलक्षण एवं कष्टदायी लगती है। भारतीय एवं अन्य विदेशी लोग हिन्दी सीखते समय कई कठिनाइयों का अनुभव करते हैं। इसमें एक कठिनाई लिंग सम्बन्धी भी है।

हिन्दी में कर्ता के लिङ्ग का प्रभाव क्रिया के स्वरूप पर पड़ता है। अँग्रेजी में Ram goes & Sita goes. में राम एवं सीता की लिङ्ग भिन्नता का 'go' क्रिया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

लिङ्ग के साथ क्रिया के स्वरूप निर्धारण का अभी हमें कोई निश्चित नियम नहीं मिल पाया है। इकारन्त शब्द भी पुल्लिंग होते हैं यथा 'हाथी' और आकारान्त शब्द भी स्त्रीलिंग होते हैं यथा 'चिड़िया'। हिन्दी भाषी पर्यावरण में पला व्यक्ति तो यही कहेगा कि 'हाथी जाता है, नदी बहती है और चिड़िया उड़ती है। परन्तु हिन्दीतर भाषी हाथी, नदी एवं चिड़िया के लिङ्ग का निर्धारण कैसे करें। अपवाद मिलना सम्भव है, परन्तु इसके लिए एक विनम्र सुझाव प्रस्तुत करता हूँ जिस पर सभी विद्वानों से विचार का मेरा आग्रह है।

हिन्दी में लिंग सम्बन्धी तीन कल्पनायें हैं। पुरुष, स्त्री, एवं बालक। जिन चीजों एवं जीवों का लिंग उनकी शारीरिक भिन्नता से जाना जा सकता है उनको छोड़कर शेष के बारे में हम ये तीन कल्पनायें लेते हैं। पुरुष बड़ा, दृढ़, धीर एवं तेज होता है। इन गुणों से सम्पन्न पदार्थ को हम पुल्लिङ्ग संज्ञा में लेते हैं। स्त्री छोटी, कोमल, अधीर एवं शनैः गामिनी होती है। इन गुणों वाले पदार्थ को हम स्त्रीलिङ्ग मानते हैं। बालक में भी उपरोक्त गुणों के आधार पर लिङ्ग भिन्नता होती है।

एक आवश्यक बात और है अर्थात् उपरोक्त गुणों का ध्यान एक के बजाय हम अपेक्षाकृत दृष्टि से ज्यादा देते हैं। यथा टेबिल स्टूल से बड़ी है अतः हमें इसे पुल्लिङ्ग लेना चाहिए पर टेबिल की तुलना तख्ते से की जाती है और वह तख्ते की अपेक्षा छोटी होती है अत: हम इसे स्त्रीलिङ्ग में लेते हैं।

पुल्लिङ्ग में हम बड़ी चीजों को लेते हैं यथा बड़, पीपल पेड़ों में, कड़ाह, भगवाना बर्तनों में, पैन, सूर्य, समुद्र, कुआ आदि नपुंसक लिङ्ग पदार्थों को हम पुल्लिंग मानते हैं। साथ ही बेरी, अंगूर की बेल, कड़ाही, देगजी, कलम, पृथ्वी, नदी, बावड़ी आदि को स्त्रीलिङ्ग। मेरी दृष्टि से इस अन्तर दर्शन का मूलकारण इनका छोटा होना है। दरवाजा और खिड़की, मकान और दीवाल, पत्ता और पत्ती आदि बातों में यही भावना काम करती है।

यदि इस अन्तर का समुचित प्रचार किया जावे तो सम्भव है हिन्दी सीखने के इच्छुक अन्य लोगों की कठिनाइयाँ दूर हो सकें।

क्या भैया भगवतीदास बनारसीदास के पाँच मित्रों में से थे ?

श्री अगरचन्द नाहटा

हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का कार्य ६५ वर्षों से नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा निरन्तर हो रहा है। और खोज विवरण के १८ भाग प्रकाशित भी हो चुके हैं, इनके द्वारा सैकड़ों कवियों की हजारों रचनाओं की जानकारी प्रकाश में आई है। बीच में कुछ वर्षों तक इन खोज रिपोर्टों का प्रकाशन बंद सा था क्योंकि पहले विवरण गवर्नमेन्ट प्रेस, प्रयाग से छपते थे, फिर उसने छापे नहीं तो सभा ने प्रयत्न करके सरकारी सहायता प्राप्त की और भाग १३ से १८ तक के विवरण गत १० वर्षों में प्रकाशित हुए हैं। बहुत सावधानी रखने पर भी जानकारी की कमी, सामग्री का अभाव और विवरणों की अशुद्धता व अपूर्णता आदि के कारण बहुत सी भूल भ्रान्तियाँ इन विवरण ग्रन्थों में रह गई हैं। जो आगे चलकर इन ग्रन्थों के आधार से शोधकार्य करने वालों के लिए भ्रान्त परम्परा को जन्म देने वाली है। इसलिए अधिकारी विद्वानों द्वारा इन विवरणों का जितना भी संशोधन करवाकर प्रकाशित किया जाय उतना ही अच्छा है। सभा के द्वारा १९५५ तक की खोज के आधार से १ सूची ग्रन्थ तैयार हो रहा है, उससे पहले यही विद्वान लोग विवरणों की भूल भ्रान्तियों सम्बन्धी अपने-अपने विचार प्रकाशित करदें तो उस संक्षिप्त विवरण में वे भूल भ्रान्तियाँ नहीं आवेंगी। ३, ४ वर्ष पूर्व मैंने सभा को सूचित किया था कि यदि भा० १३ से १८ तक के प्रकाशित विवरणों की प्रतियाँ मुझे संशोधन के लिए भेज दें तो में पचासों भूल भ्रातियों का संशोधन सूचित कर सकता हूँ पर सभा ने विवरण नहीं भिजवाये और मैंने भी वह श्रम नहीं किया।

अभी-अभी मुनि कान्तिसागरजी से बात-चीत हुई, तो उन्होंने कहा कि सभा के प्रकाशित विवरण ग्रन्थों का संशोधन कार्य वे कर रहे हैं और नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६७ अङ्क ४ में उनका वह संशोधन प्रकाशित भी हो चुका है। वास्तव में उन्होंने परिश्रम और खोज से इसका कार्य तो किया है, पर किसी एक ही कवि को सारी बातों का समुचित एवं आवश्यकीय पूर्ण ज्ञान होना सम्भव नहीं इसलिए "खोज विवरण आपेक्षित संशोधन" में वे भी कई भूलभ्रान्तियों के शिकार हो गये हैं। इसके सम्बन्ध में मुझे कुछ लेख लिखने होंगे। प्रस्तुत लेख द्वारा उस लेख माला का श्रीगणेश किया जा रहा है।

१६ वें विवरण के बनारसीदासजी की बतलाई जाने वाली रचना सम्बन्धी संशोधन करते हुए उन्होंने वैराग्य पचीसी को भैया भगवतीदास की बतलाया है। वह तो ठीक ही है यह रचना ब्रह्मविलास के पृष्ठ २२५ में छप भी चुकी है, पर मुनि कान्तिसागरजी का यह लिखना कि भैया भगवतीप्रसाद कविवर बनारसी के साथी सतसंगी थे। ५ मित्रों में इनका स्थान तीसरा था, गद्यकार थे। इनका साहित्य रचनाकाल १६८७ से १७५५ तक रहा है। नाटक समयसार के अतिरिक्त सं० १७११ में पं० हीराचन्द प्रणीत पंचास्तिकाय में इनका उल्लेख है।"

वास्तव में भैया भगवतीदास बनारसीदासजी के ५ मित्रों में तीसरे नहीं थे। नाम साम्य के कारण ही मुनि कान्तिसागरजी को भ्रम हो गया है। बनारसीदासजी के मित्र भगवतीदास, भैया भगवतीदास से भिन्न थे। भगवतीदास वैसे एक और भी भैया भगवतीदास से पहले हो गये हैं। वे बूढ़िया जिला अम्बाला) के निवासी थे। फिर दिल्ली में आकर रहने लगे थे। उनकी रचनाएं सं० १६८४ से १७१५ तक की मिलती हैं। उनकी २३ रचनाओं का विवरण पं० परमानन्द जैन शास्त्री ने 'अनेकान्त' वर्ष ११ के किरण ४—५ के पृष्ठ २०५ से ८ तक में प्रकाशित किया है। भैया

भगवतीदास का रचना काल १६८७ से नहीं है, १६८७ बतलाया वह ठीक नहीं है। ब्रह्म विलास में उनकी सबसे पहली रचना सं० १७३१ की है। सम्भव है उन का जन्म भी कविवर बनारसीदासजी की मृत्यु के बाद हुआ हो, नहीं तो भी उनका बनारसीदासजी के साथी, सतसंगी या मित्र होना सम्भव ही नहीं है। भैया भगवतीदास गद्यकार लिखा है पर उनकी कोई ऐसी विशिष्ट रचना प्राप्त नहीं है, जिससे वे गद्यकार कहे जा सकें।

सन् १७११ में हीराचन्द रचित पंचास्तिकाय में भैया भगवतीदास का उल्लेख बतलाया है। पंचास्तिकाय की जगह पंचास्तिकाय भाषा लिखना चाहिए था और रचियता का नाम भी हीराचन्द नहीं, हीरानन्द है। इसी तरह रचना काल भी सं० १७११ शायद ठीक नहीं है, राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची भा० २ के पृष्ठ १४४ में स० १७०१ और भा० ४ के पृष्ठ ४१ में स० १७०० जेठ सुदी सातम छपा है। स० १७०० या १७०१ में रचित इस ग्रन्थ में उल्लेखित भगवती भैइया भगवतीदास नहीं है। बनारसीदास के मित्र भगवतीदास होंगे। बनारसीदासजी के सहयोगी पंच पुरुषों में से तीसरे भगवतीदास थे। अर्ध कथानक में वासुशाह ओसवाल के पुत्र भगवतीदास का उल्लेख मिलता है। स्वर्गीय नाथूरामजी प्रेमी ने अर्ध कथानक के नवीन संस्करण के पृष्ठ ९९ में पहले तो यह विचार प्रकट किया था कि अर्ध कथानक वाले भगवतीदास ही समयसार में उल्लेखित भगवतीदास होंगे। फिर समय का अधिक व्यवधान देखकर उन्होंने यह मन्तव्य प्रकाशित किया कि सं० १६५५ के फतेपुर निवासी वासुशाह के पुत्र भगवतीदास दूसरे ही हैं और इनके पहले के ही हैं। उन्होंने भगवतीदास के रचित एक पद और राजुल वीनति का अन्तिम पद्य उद्धृत करते हुए लिखा है कि इन रचनाओं के कर्ता भगवतीदास मेणिनीपुर या दिल्ली की मोतीहाट में रहते थे और कोई तीसरे ही भगवतीदास थे, अध्यात्मी नहीं।

भगवतीदास का उल्लेख हीराचन्द रचित पद्य बद्ध पंचास्तिकाय में ही नहीं पर सं० १७०१ के सावन सुदी सातम बुधवार को रचित पत्र हीराचन्दकृत समवशरण विधान नामक रचना में भी पाया जाता है। इस संबंध में प्रेमजी ने उक्त ग्रन्थ का उद्धरण देते हुए लिखा है कि सं० १७०१ में आगरे में ज्ञाताओं की एक मण्डली या आध्यात्मियों की शैली थी, जिसमें संघवी जगजीवन पत्र हेमराज, रामचन्द्र संघी मथुरादास, मंगलदास और भगवतीदास थे। भगवतीदास को "स्वपर प्रकाश" विशेषण दिया है। यह भगवतीदास वे ही जान पड़ते हैं, जिनका उल्लेख बनारसीदासजी के नाटक समय-सार में निरन्तर परमार्थ चर्चा करने वाले पाँच पुरुषों में हुआ है। हीरानन्दजी ने अपने दूसरे छन्दोबद्ध ग्रन्थ पंचास्तिकाय (१७११) में भी धनमल और मुरारी के साथ इन्हीं का ज्ञाता रूप से उल्लेख किया है।

ब्रह्म विलास के कर्ता भैया भगवतीदास भी आगरे के रहने वाले कटारीया गोत्र के ओसवाल थे परन्तु वे कोई और ही मालूम होते हैं, क्योंकि ब्रह्मविलास में उनकी जितनी रचनाएँ संग्रहीत हैं वे सं० १७३१ से १७५५ तक की हैं और नाटक समयसार की रचना सं० १६९३ में हुई है जिसमें बनारसीदास के साथ परमार्थ की चर्चा करने वाले भगवतीदास का नाम गिनाया है। उस समय उनकी उम्र बनारसीदास के बराबर या आसपास की हो तो स० १७३१ से १७५५ तक की ही रचनाए उनकी नहीं हो सकतीं।

वास्तव में एक ही नाम वाले कई व्यक्ति एक ही समय या थोड़े आगे पीछे के समय में हो जाते हैं, तो समान नाम से भ्रम हो जाता है और एक से सम्बन्धित घटना को दूसरे के साथ जोड़ने की भूल प्रायः हो जाती है। मुनि कान्तिसागरजी ने भी इसीलिए बनारसीदासजी के मित्र को भैया भगवतीदास मान लेने की भूल कर दी है।

—नाहटों की गवाड़, बीकानेर।

आलोचना

हिन्दी आलोचना स्वरूप और विकास—लेखक—डा० रामदरस मिश्र, प्रका०—भारती भवन, पटना—४। पृ० १०४, मूल्य १.५०

विद्यार्थियों के लिए छोटी-छोटी पुस्तकों की आवश्यकता का अनुभव करके यह पुस्तक लिखी गई है। पुस्तक में विवेचन के स्थान पर चलते रिमार्क तथा कुछ खास आदमियों को ऊपर उठाने तथा बारबार उनका नाम पाठकों के सामने लाने, का एक अच्छा उदाहरण यह छात्रोपयोगी पुस्तक भी है। हिन्दी आलोचना में आचार्य शुक्ल और पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के बाद के समीक्षकों में अज्ञेय, नामवरसिंह, नेमिचन्द्र जैन और लक्ष्मीकान्त वर्मा को गद्दी पर बिठाकर लेखक ने वही भूलें की हैं जिसके विरुद्ध अपनी लेखनी द्वारा वह जिहाद बोलता चला है। अच्छा हो कि मिश्रजी जैसे गम्भीर व्यक्ति भविष्य में इस प्रकार के फतवे न दें। इन फतवों से हिन्दी आलोचना को कोई लाभ न पहुँच कर हानि ही अधिक होती है।

हिन्दी कहानी प्रक्रिया और पाठ—ले०—सुरेन्द्र चौधरी, प्रकाशक—भारती भवन पटना—४। पृ० १८४, मू० २.००

हिन्दी कहानी पर काफी लिखा गया है कुछ शोध-प्रबन्ध निकले हैं तथा कुछ अन्य विद्वानों की पुस्तकें। विद्यार्थियों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर लिखी गई इस पुस्तक में अँग्रेजी के उद्धरण अधिकाधिक दिए गए हैं। यह उचित है कि हिन्दी कहानी पर पाश्चात्य प्रभाव है और हिन्दी कहानी में आनेवाले मोड़ों पर भी पाश्चात्य प्रभाव पड़ा है किन्तु अब हिन्दी कहानी ने अपनी कुछ मौलिक परम्पराएँ भी विकसित करदी हैं और आज आवश्यकता है कि इन मौलिक विशेषताओं के पीछे छिपे दृष्टिकोण को काव्यशास्त्र के स्तर पर लाकर उद्घाटित किया जाय।

हिन्दी कहानी का शास्त्र बनाया जाय। पाश्चात्य कसौटी पर कहानी को कसने की परम्परा अब समाप्त होनी चाहिए। इस पुस्तक की प्रेरणा भी नामवरसिंह की प्रयोगवादी कहानी समीक्षा से मिली है। नामवरसिंह ने इधर कहानी के क्षेत्र में भी प्रयोगवादी मान्यताएँ लाने का असफल प्रयास किया है और अब छुट भइए उनका अनुकरण कर रहे हैं, यह स्वाभाविक ही है। पुस्तक में कुछ ऐसे नवीन आयाम उभरे हैं जिन्हें हम हिन्दी कहानी की समीक्षा के लिए उपयोगी पाते हैं। पुस्तक का पाठ भाग कहानी प्रेमियों के आस्वादन को सहायक सिद्ध होता है।

हिन्दी के स्वीकृत प्रबन्ध – सम्पा.—श्री कृष्णाचार्य, प्रकाशक—आर्यावर्त प्रकाशन गृह, कलकत्ता-१२। पृ० १३६, मू० ३.५०

जैसा नाम से ही विदित होता है, इस पुस्तक में हिन्दी के अब तक हुए शोध कार्य का विवरण दिया गया है।

यह विवरण कई रूपों में होने से बहुत उपयोगी होगया है और शोध कराने वालों के लिए एक कोश ग्रन्थ बन गया है। इसमें पहले साहित्य के विभिन्न वर्गों—काव्य, नाटक, निबन्ध, प्रभावों का अध्ययन, पाठ संशोधन, तुलनात्मक अध्ययन, वादों का अध्ययन, व्यक्ति विशेष साहित्यकार, समुदाय विशेष साहित्यकार, साहित्य का इतिहास, हिन्दी-सेवा कार्य आदि—के अनुसार हुए शोध ग्रन्थों का विवरण है, जिसमें ग्रन्थ का नाम, ग्रन्थ-कार का नाम, प्रकाशक, प्रकाशन संवत्, पृष्ठ, मूल्य और किस विश्वविद्यालय से किस सन् में शोध ग्रन्थ स्वीकृत हुआ—यह सारी बातें दी गई हैं। दूसरा विवरण विश्वविद्यालयों के क्रम से है। किस विद्यालय में हिन्दी शोध कार्य किस सन् में किस विषय पर किस व्यक्ति ने किया। अन्त में दो अनुक्रमणी दी गई हैं—पहली प्रबन्धकारों की, दूसरी प्रबन्ध ग्रन्थों की। इस प्रकार यह एक बहुत ही उपयोगी सन्दर्भ ग्रन्थ बन गया है। प्रारम्भ में २५ पृष्ठ का 'आमुख' है जिसमें हिन्दी में प्रबन्ध लेखन का किस प्रकार विकास हुआ, इस कार्य में क्या समस्याएँ उपस्थित होती हैं, क्या साहित्य इसके लिए उपयोगी हो सकता है, वर्गीकरण में क्या समस्याएँ आती हैं—इन सब पर प्रकाश डाला गया है। प्रबन्ध लेखन का विकास यूरोप में किस प्रकार हुआ और हिन्दी विषयों पर क्या-क्या कार्य कहाँ-कहाँ हुआ—यह सब जानकारी भी इस पुस्तक से मिलती है। इस प्रकार यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी बन गया है। हम ऐसे सुन्दर प्रकाशन के लिए लेखक और प्रका-शक को बधाई देते हैं।

हिन्दी काव्य को नारी की देन—लेखक–शकुन्तला सिरोठिया, प्रकाशक–प्रेमदत्त पालीवाल, पृ० १६६, मूल्य ३.००।

हिन्दी काव्य में नारी का योगदान अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। प्रारम्भ काल से लेकर आज तक न केवल नारी काव्य की प्रेरिका रही है, वरन् उसने काव्य-रचना भी की है। आधुनिक युग की कुछ कवयित्रियों की कविताओं की यथेष्ट प्रशंसा हुई है। प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी की कवयित्रियों के आधुनिक काल को लेकर चली है किन्तु इसमें अनेक अच्छी-अच्छी कवयित्रियाँ छूट गई हैं और कई अति सामान्य तथा दो-एक ऐसी जिसे स्थान नहीं मिलना चाहिए था, आगई हैं। आजकल की समीक्षा-पुस्तकें प्रतिनिधि न होकर एकाङ्गी बन जाती हैं। इस पुस्तक में महादेवी वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान, तोरनदेवी शुक्ल, तारा पाण्डे, होमवती, रामे-श्वरीदेवी गोयल, विद्यावती कोकिला, सुमित्राकुमारी सिन्हा, शकुन्तला सिरोठिया, शान्ति मेहरोत्रा, रमासिंह, चन्द्रमुखी ओझा, हीरादेवी चतुर्वेदी, विद्यावती मिश्र तथा शान्ति अग्रवाल की आलोचना दी गई है। समी-क्षिका ने स्वयं अपने को उनमें सम्मिलित किया और अपनी प्रशंसात्मक समीक्षा स्वयं लिखी—यह समीक्षा क्षेत्र की शालीनता की दृष्टि से अनुपयुक्त है। इससे अच्छे तो प्रयोगवादी ही हैं जो अपना वक्तव्य दे देते हैं किन्तु अपने बारे में यह नहीं लिखते कि गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास के समकक्ष हैं। सिरोठियाजी स्वयं अपने गीतों की समीक्षा करती हुई लिखती हैं—

'खलील जिब्रान—बचन और महादेवी सा-विचार, प्रकृति-प्रेम सब-कुछ उनके गीतों में है।'

सिरोठियाजी को छोड़ कर हिन्दी में इतना साहस और किसी के वश का नहीं हो सकता है।

काव्यचिन्ता—लेखक–रमाशंकर तिवारी, प्रका०–चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी १। पृ० २४२, मू. ६.००

काव्यशास्त्र के परम्परागत विचार को हिन्दी पाठकों के सामने प्रस्तुत करना इस दृष्टि से उपादेय था कि हिन्दी पाठक उसे समझ सकें। इस सम्बन्ध में कुछ काम अब तक हो चुका है, किन्तु इस पुस्तक में संस्कृत और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के स्वरूप का जो वर्णन किया गया है वह चर्वित चर्वण मात्र है। लेखक से आशा की जा सकती है कि वह इस सम्बन्ध में कोई नयी बात कहता, किन्तु उसने ऐसा न करके पहले लिखे हुए ग्रन्थों को ही आधार बना लिया है। काव्य और जीवन तथा काव्य और व्यक्तित्व में कुछ मौलिकता प्रतीत होती है, किन्तु 'काव्य का प्रयो-जन' में कोई नवीनता न होकर पिष्टपेषण मात्र है। इस पिष्ट पेषण में भी कहीं-कहीं गलतियाँ हैं। विद्या-

र्थियों की दृष्टि से पुस्तक का महत्व स्वीकार किया जाता है। इस पुस्तक को पढ़कर विद्यार्थियों को भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रारम्भिक परिचय मिल जायगा।

विद्यापति और उनकी पदावली—लेखक-श्री देवराजसिंह भाटी, प्रका०-हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली। पृ० ६६०, मू० १८.००

विद्यापति की पदावली एक नहीं कई विश्वविद्यालयों में पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकृत है। इसलिए इसकी काफी मांग रहती है। मूल पुस्तक कठिन और भाषा मैथिली होने से सभी विद्यार्थी टीका चाहते हैं। भाटीजी ने उन्हीं के लाभार्थ यह पुस्तक तैयार की है और उसे उपयोगी बनाने की भरसक चेष्टा की है। पुस्तक मूल्यवान होने पर भी अधिक मूल्य होने से साधारण विद्यार्थी की पहुँच से बाहर है। इसका मूल्य १२.०० होता तो ठीक रहता।

निराला—लेखक-डा० रामविलास शर्मा, प्रका.-शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा। पृ० २३५, मूल्य ५.००

यह इस पुस्तक का तीसरा संस्करण है। पुस्तक की उपादेयता और लोकप्रियता इसी से सिद्ध है कि इस पुस्तक का तीसरा संस्करण निकालने की आवश्यकता हुई। इस संस्करण की विशेषता यह है कि इसमें लेखक ने अपने तीन निबन्ध बढ़ा दिए हैं—उनमें पहला उनके काव्य सम्बन्धी है, दूसरा निरालाजी की मृत्यु के पश्चात् लिखे हुए लेखक के लेखों का संग्रह है। तीसरे लेख में बच्चनजी के लेखों का उत्तर है। इन लेखों से पुस्तक का मूल्य और बढ़ गया है।

निबन्ध

युगवीर निबन्धावली—ले.-जुगलकिशोर मुख्त्यार, प्रका०-वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, दरियागञ्ज, दिल्ली। पृ० ४८४, मूल्य ५.००

इस निबन्धावली में युगवीरजी के धार्मिक और सामाजिक निबन्ध सङ्कलित किए गए हैं। इस संग्रह में ४१ निबन्ध हैं जो सन् १६३० और १६५२ के बीच भिन्न-भिन्न समयों पर लिखे गये हैं। इन लेखों में सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं पर भी विचार किया गया है। इन की सर्वमान्य विशेषता अन्ध विश्वासों और अज्ञानपूर्ण मान्यताओं की कठोर आलोचना के साथ-साथ शास्त्रीय आधार और स्थिर आदर्शों का पक्षपात रहित तथा नव निर्माण का सावधानी पूर्ण प्रयत्न है। सिद्धान्तों का विश्लेषण प्रमाणों, तर्कों और दृष्टान्तों के द्वारा किया गया है। उनकी भाषा में सरलता और प्रवाह सर्वत्र मिलता है। उनकी शैली तर्कपूर्ण और ओजस्विनी है। पुस्तक की भूमिका जबलपुर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डा० हीरालाल जैन ने लिखी है। जिसमें इन निबन्धों का महत्व दिखाया गया है। जैन समाज जिनको लक्ष्य कर अधिकांश लेख लिखे गये हैं—इस पुस्तक का आदर करेगी—ऐसी आशा है। वैसे पुस्तक सभी पुस्तकालयों में रखने योग्य है।

चन्द्रभानु गुप्त : व्यक्ति और विचार—प्रकाशक-एस० चांद एण्ड कं०, दिल्ली। पृ० २२७, मू० ४.५०

यह पुस्तक उत्तर प्रदेश के पूर्व मुख्य मन्त्री और वर्तमान कांग्रेस अध्यक्ष श्री चन्द्रभानु गुप्त के कुछ लेखों और व्याख्यानों का संग्रह है। गुप्तजी जाने माने राजनीतिज्ञ हैं। उनके विचारों को और जानने समझने में यह पुस्तक बहुत सहायता देगी।

कविता

भारत वाणी—प्रकाशक-सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार। पृ० २०४, मू० १.५०

आकाशवाणी से जो कविताएँ अनेक भारतीय भाषाओं में प्रसारित होती हैं उन्हें हिन्दी में रूपान्तरित करके इस संग्रह में दिया गया है। कुछ हिन्दी कविताएँ अन्त में दी गई हैं। जहाँ तक हिन्दी कविताओं का सम्बन्ध है वे अच्छे कवियों की तो हैं लेकिन सभी अच्छी कोटि की नहीं हैं। हिन्दी के अतिरिक्त जो अन्य-अन्य भाषाओं में हैं उनमें कुछ कविताएं निस्सन्देह अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। हिन्दी भाषा-भाषियों को अन्य भारतीय भाषाओं से परिचित कराने का यह प्रयास बहुत सुन्दर है। पुस्तक का मुद्रण सुन्दर और मूल्य बहुत कम है।

जागरण—श्री शिवशरण शर्मणा। प्रका०-निकेतन अमरजयी, फतेहपुर उ० प्र०। पृ. ६३, मू. १.२५

विद्वान् लेखक ने अपने भाव संस्कृत भाषा के माध्यम से पद्यबद्ध किये हैं। उनका काव्य गहरे भावों से भरा हुआ है। भाषा अलङ्कार युक्त है। इन कविताओं में कल्पनाओं का प्राधान्य है। ये कवितायें सरस और मधुर भावों से युक्त हैं। आज के समय में जबकि संस्कृत की ओर सामान्यतः ध्यान नहीं जा रहा है। इस प्रकार के प्रयास प्रशंसनीय माने जायेंगे। पुस्तक की विशेषता यह है कि एक ओर संस्कृत की कविता और उसके सामने उसका हिन्दी रूपान्तर है।

हिमालय नहीं झुकेगा—ले०—पुरुषोत्तमदास राठी, प्रका० 'निराला परिषद्', राज महाविद्यालय, अमरावती। पृष्ठ ९९, मूल्य ३.००

जैसा कि इस कविता संग्रह के शीर्षक से पता चलता है इस पुस्तक की कविताएँ हिमालय या भारत और चीन के आक्रमण से सम्बन्धित नहीं हैं। इसमें कवि की निजी मान्यताएँ खुशी और गम साकार हुए हैं। कवि का दृष्टिकोण प्रगतिशील है। वह निर्माण को भगवान के रूप में देखता है। उसकी मान्यताएँ हैं कि जिस श्रम को अब तक महत्व नहीं मिल सका है उसे अब प्रतिष्ठित होना चाहिए—अरे जग मैं तुझे निर्माण का भगवान देता हूँ।

वही भगवान जिसकी आज तक अवहेलना की है।
वही भगवान जिसने प्राण को नव-चेतना दी है।
वही भगवान जिसने ये कठिन पाषाण खोदे हैं।
वही भगवान जिसने रेत को नव-भावना दी है।
उसी भगवान के दर्शन करो वरदान देता हूँ!!

उपन्यास

जूडी और लक्ष्मी—ले०—तारावाडाडदेव, प्रका.—सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार। पृ० १३९, मूल्य १.५०

इस अँग्रेज उपन्यास लेखिका ने नवीन भारत के नए बच्चों के मन में उत्पन्न होने वाली नवीन भावनाओं का मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है। वे अँग्रेज और भारतीय दोनों की मित्रता और समानता के अवसरों की खोज करती हैं। लेखिका ने भारतीय जीवन में उत्पन्न होने वाले अनेक नवीन प्रश्नों को इस पुस्तक में उठाया है। उदाहरण के लिए उत्तर और दक्षिण का प्रश्न तथा राष्ट्रीय पर्वों और त्योहारों के पीछे की भावना आदि।

जूडी और लक्ष्मी की मित्रता पर आधारित यह उपन्यास अँग्रेज और भारतीय लड़कियों की मित्रता की कहानी भर नहीं है वरन् इसमें हमारा आज का दृष्टिकोण तथा भारतीय परिवेश मूर्तिमान हुआ है। उपन्यास की वर्णन शक्ति तथा सजीवता अत्यन्त आकर्षक है। कोई भी पात्र लेखिका की सहानुभूति नहीं खो पाया है।

उग्रतारा—ले०—नागार्जुन, प्रका० राजपाल एण्ड संस, दिल्ली। पृष्ठ १२१, मू० २.५०

नागार्जुन का यह नया उपन्यास यथार्थवादी भावभूमि को स्वीकार करके चलता है। इस उपन्यास की नायिका उगनी अपनी शक्ति का परिचय देती है, तथा समाज के सामने सङ्घर्ष करती हुई आगे बढ़ती चली जाती है। आज की नारी को इसी प्रकार आगे आना पड़ेगा। जब तक वह आगे नहीं आती है समाज उसे दबोचता रहेगा।

जीवनी

अकबर—अनु०—राजेन्द्र यादव, प्रकाशक—सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार। पृ० १०९, मूल्य १.५०

लॉरेन्स विन्यन की अंग्रेजी पुस्तक का यह हिन्दी अनुवाद है। अकबर जैसे महान मुगल सम्राट् के सम्बन्ध में जितनी पुस्तकें अब तक निकली हैं उनसे यह सिद्ध हो जाता है कि काफी सामग्री सामने आ जाने पर भी बहुत सी सामग्री बच गई है जिसके सामने आने की आवश्यकता है। वर्तमान पुस्तक अनेक ऐसी सूचनाओं से युक्त है जो अभी तक ऐतिहासिक क्षेत्र में अज्ञात थीं। नेशनल बुक ट्रस्ट ने इस पुस्तक को छाप कर अपनी सूझ-बूझ का परिचय दिया है।

अमिट रेखाएँ—लेखक—अक्षयकुमार जैन, प्रका०—कमल कुञ्ज प्रकाशन, दिल्ली। पृ० १३९, मू० ३.५०

इस पुस्तक में भारत के १८ महान योद्धाओं का वर्णन है। इनमें से कुछ आधुनिक हैं और कुछ प्राचीन। कुछ पुरुष हैं कुछ स्त्रियाँ हैं। कुछ हिन्दू हैं कुछ मुसलमान हैं। कुछ पौराणिक हैं और कुछ ऐतिहासिक।

इन सभी व्यक्तियों में एक समानता है, वे सभी अपने उद्देश्य के लिए कोशिश करके वीर हुए हैं। प्राचीन वीरों के इतिहास तो सभी को ज्ञात हैं। किन्तु भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम तथा चीन द्वारा भारतीय सीमाओं पर आक्रमण को रोकने की कोशिश करते हुए जिन लोगों ने वीरता दिखाई उनके चित्रण विशेष रूप से पाठकों को पसन्द आयेंगे।

चन्द्रभानु गुप्त के जीवन की एक झाँकी—ले०–श्री व्यथित हृदय, श्री नारायण शास्त्री, प्रका०–एस० चाँद एण्ड कम्पनी, दिल्ली, जालन्धर, लखनऊ, बम्बई। पृ० ८२, मू० १.००

चन्द्रभानु गुप्त के जीवन की एक झाँकी इस पुस्तक में प्रस्तुत की गई है। इसमें एक ओर यह बताया गया है कि गुप्तजी का स्वभाव कैसा है। और दूसरी ओर यह स्पष्ट किया गया है कि उनके माता-पिता से लेकर उनके वर्तमान जीवन तक का विकास किस प्रकार हुआ है। गुप्तजी कांग्रेस के एक प्रारम्भिक कार्यकर्ता से लेकर उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री तक का उत्तरदादित्व स्वीकार कर चुके हैं। अतः उनके बारे में बहुत कुछ जानने की इच्छा यदि हमारे बच्चों के मन में हो तो वह स्वाभाविक ही है। इस आवश्यकता की पूर्ति इस पुस्तक से हो जाती है।

मेरे जीवन के अनुभव—लेखक–सन्तराम बी० ए०, प्रकाशक–हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी। पृ० २८६, मूल्य ४.५०

सन्तरामजी हिन्दी के अच्छे लेखक हैं। इन्होंने कई अँग्रेज़ी पुस्तकों का अनुवाद किया है और अब अपनी आत्मकथा प्रस्तुत ग्रन्थ के रूप में पेश कर रहे हैं। ७६ वर्ष के सन्तरामजी ने अपने जीवन में जो कुछ देखा और भोगा है—उस सबको ईमानदारी के साथ इस ग्रन्थ में दूसरों के लाभ के लिए लिख दिया है। पुस्तक में कई चित्र भी हैं।

शिक्षा व मनोविज्ञान

नवजीवन ज्योति प्रवेशिका—ले०–गयाप्रसाद पाण्डेय, प्रका०–देहाती पुस्तक भण्डार, चावड़ी बाजार, दिल्ली–६। पृष्ठ ८०, मूल्य १०.५०

मानसिक दृष्टि से अविकसित बच्चों के लिए लिखी गई यह बालमनोविज्ञान की पुस्तक अपने विषय की अच्छी कृति है। पुस्तक की भाषा सरल है और टाइप मोटा है जिससे उसे बच्चे और उनके कम लिखे-पढ़े माँ-बाप भी पढ़कर लाभ उठा सकेंगे। लेखक ने ऐसे बच्चों के बीच में अनेक वर्षों तक काम किया है इसलिए उसे इस विषय का अच्छा ज्ञान है। अपने ज्ञान को अधिकाधिक सरस और उपयोगी बनाकर यहाँ दिया गया है। पुस्तक में अनेक चित्र हैं जिनसे यह प्रकट हो जाता है कि लेखक का दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक है। जिस विषय पर यह पुस्तक लिखी गई है उस पर अभी हिन्दी का बहुत कम साहित्य उपलब्ध हैं। अतः पुस्तक की उपादेयता निर्विवाद है।

विश्व के महान शिक्षाशास्त्री—लेखक–जय-जयराम शाक्य, प्रकाशक–राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली। पृ० २०४, मू० ३.५०

अब तक की दुनिया तलवार, बन्दूक और बम के इशारे पर चली है लेकिन आगे ऐसा होने वाला नहीं है। आगे की समाज-रचना प्रेम, करुणा, मैत्री, सत्य और अहिंसा को आधार बनाकर चलेगी। ऐसा समाज बनाने के लिए भय का स्थान लोकशिक्षण को देना होगा। प्राचीन काल से लेकर आज तक शिक्षण के द्वारा समाज-विकास का उद्देश्य माना गया है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वर्तमान युग के विचारक महात्मा गांधी और विनोबा माने जाते हैं। इस पुस्तक में रूसो से लेकर विनोबा तक के विचारों को एकत्रित किया गया है। आशा है पुस्तक अध्यापकों एवं समाजशास्त्रियों के लिए विशेष रूप से उपयोगी होगी।

धर्म और दर्शन

श्री सहजानन्द गीता का प्रवचन—ले०–श्री सहजानन्दजी वर्णी, प्रका०–सहजानन्द चातुर्मास समिति, कानपुर। पृ० १२३।

श्री सहजानन्दजी वर्णीजी गत चातुर्मास में कानपुर में रहे थे। अपने उस प्रवास में उन्होंने जो भाषण दिये वे इस ग्रन्थ में संग्रहीत हैं। जिज्ञासु पाठकों और सुधी विद्वान दोनों के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी है।

तत्त्वानुशासन (ध्यान शास्त्र)— लेखक–श्री जुगलकिशोर मुख्तार, प्रकाशक–वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दरियागञ्ज, दिल्ली। पृ० ३६४, मूल्य ध्यानाभ्यास।

तत्त्वानुशासन एक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ है जिसके रचयिता श्री रामसेनाचार्य हैं। प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान डा० मङ्गलदेव शास्त्री ने इस पुस्तक की भूमिका में आचार्य रामसेन का समय सन् १२२८ से पूर्व का बताया है क्योंकि १२२८ में कविवर आशाधर ने इष्टोपदेश की जो टीका लिखी है उसमें तत्त्वानुशासन की विशेष रूप से चर्चा है। यह ग्रन्थ ध्यान शास्त्र विषयक है जिसमें सिद्धि, सुख और सम्पदा प्राप्त करने का मार्ग सुझाया गया है। मूल ग्रन्थ संस्कृत श्लोकों में है। मुख्तार साहब ने इसका अर्थ और विशद व्याख्या करके इसे बहुत बोधगम्य और उपयोगी बना दिया है। इसके प्रारम्भ में मुख्तार साहब ने जो भूमिका दी है वह बड़ी लम्बी और बहुत विद्वत्तापूर्ण है। ऐसी सुन्दर कृति के लिए मुख्तार साहब सचमुच बधाई के पात्र हैं। नजीबाबाद के जिस साहू परिवार के द्रव्य-दान से यह पुस्तक प्रकाशित हुई है और ध्यानाभ्यासियों को बिना मूल्य दी जाती है—उनको भी हम बधाई देते हैं।

स्फुट

हिन्दी में सरकारी कामकाज करने की विधि—लेखक–रायविनायकसिंह, प्रका०–हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय। पृ० २३५, मू० ३.००

इस पुस्तक में हिन्दी में सरकारी एवं कार्यालय सम्बन्धी कार्यों के करने का ज्ञान कराने वाली सामग्री दी गई है। सरकारी पत्रों के विविध प्रचलित उदाहरण देकर विषय का व्यावहारिक रूप प्रकट किया गया है जिससे इस ओर रुचि रखने वाले लोग लाभान्वित हो सकें। इस पुस्तक में भारतीय शासन प्रणाली और उसके सञ्चालन की विधि का समुचित उल्लेख करते हुए, इसमें सार-लेखन और अनुवाद की कला, सिद्धान्त एवं प्रक्रिया के साथ सरकारी कार्यालयों में बहुधा प्रयुक्त होने वाले विशिष्ट और तकनीकी शब्दों और वाक्यांशों के मान्य हिन्दी पर्याय दिये गए हैं। पुस्तक के अन्त में जो हिन्दी-अँग्रेजी पर्यायवाची शब्दों की सूची दी गई है, वह अत्यन्त उपयोगी है। हिन्दी में ऐसी पुस्तक की भारी आवश्यकता थी—अतः इसका स्वागत होगा।

धर्म का स्वरूप : आधुनिक अमेरिका में—लेखक–हर्बर्ट डब्ल्यू० श्नेडर, प्रकाशक–भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद। पृ० २१६, मू० ५.००

आज अमेरिका में धर्म की क्या स्थिति है, इस पर हर्वर्ड विश्वविद्यालय में शोध कराई गई और उस सामग्री के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा गया है। इस पुस्तक में सात अध्याय हैं। जिनमें क्रान्तिकारी युग में धर्म, संस्थागत पुनर्निर्माण, नैतिक पुनर्निर्माण, प्रदर्शन सामग्री, बौद्धिक पुनर्निमाण, सार्वजनिक पूजा तथा धार्मिकता की प्रवृत्तियाँ एवं विलियम जेम्स के बाद के धार्मिक अनुभव आदि विषयों का विस्तृत विवेचन अनेक प्रकार के आँकड़े और अध्ययन सारणियों के द्वारा किया गया है। धर्म प्रेमी जन तथा धर्मों की स्थिति का अध्ययन करने वालों के लिए पुस्तक की उपादेयता असन्दिग्ध है।

प्रकाश की कहानी—लेखक–त्रिलोकचन्द्र गोयल, प्रका०–राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली। पृ० १८५ मूल्य ३.००।

विज्ञान आज के युग की सबसे बड़ी देन है। आज कल विज्ञान के विषय में सामान्य जानकारी देने वाले ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो चित्रों द्वारा व्यावहारिक ज्ञान दे सके। प्रस्तुत पुस्तक प्रकाश सम्बन्धी बहुत सी बातें समझाती है। इसमें अनेक चित्र भी दिये गये हैं जिससे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। पुस्तक की भाषा सरल और टाइप मोटा है। इससे विद्यार्थी को इस पुस्तक से लाभ उठाने में आसानी होगी। आशा है वे इसका उपयोग करेंगे।

स्कूल के पूर्व बच्चों का लालन-पालन—लेखक–क्रास्नोगोर्स्काया, अनु०–पूरन आचार्य, प्रका०–राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ १६२, मूल्य ३.००।

पुस्तक के लेखक कोई रूसी विद्वान् हैं और इसमें जो बातें दी गई हैं वे वहाँ व्यवहार में आने वाली बातें ही हैं जो उपयोग सिद्ध हैं। लिखने का ढंग बहुत ही बढ़िया है। पुस्तक निस्सन्देह उपयोगी है पर हमें इसका मूल्य देखकर आश्चर्य हुआ। रूस वाले अपनी पुस्तकें

बहुत सस्ती—लागत से भी कम मूल्य पर बेचते हैं, पर इस पुस्तक का मूल्य कम नहीं है, कागज छपाई अच्छी होने पर भी अधिक है।

हिन्द पाकेट बुक्स की पुस्तकें

उपन्यास

१. याद—अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक पर्लबक की पुस्तक का अनुवाद हिन्दी में इस संक्षिप्त रूप में अवश्य पसन्द किया जायगा।

२. **एक मछुआ एक मोती**—विदेशी उपन्यासकार जान स्टेलबेक, जिन्हें १६६२ में नोबल पुरस्कार मिला था, के प्रसिद्ध उपन्यास 'पर्ल' का यह हिन्दी अनुवाद है।

३. **देश नहीं भूलेगा**—भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम से प्रारम्भ कर चीन के आक्रमण तक की घटनाएँ एक उपन्यास के रूप में इस पुस्तक में बड़े अच्छे ढङ्ग से प्रकट की गई हैं। लेखक श्री उमाशङ्करजी को इस उपन्यास में काफी सफलता मिली है।

४. **लौटे हुए मुसाफिर**—लेखक श्री कमलेश्वर; इसका कथानक भारत विभाजन के समय एक गाँव से सम्बन्ध रखता है जो बड़ा मार्मिक बन पड़ा है।

५. **एक घिसा हुआ चेहरा**- ले० रमेश बक्षी। इसमें एक मध्यम श्रेणी के परिवार की कहानी है।

६ **मरने से पहले**—श्री मुलकराज आनन्द के इस उपन्यास में मध्यम श्रेणी परिवार के एक युवक की कहानी है जो बेकारी से पीड़ित है। यह युवक भारत के बेकारों का प्रतिनिधित्व करता है। उपन्यास सुन्दर है।

७ **विनाश के बादल**—लेखक-श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव।

८. **दिशाहीन**—लेखक श्री प्रकाश पण्डित।

६. **इन्दुमती**—सेठ गोविन्ददास के प्रसिद्ध उपन्यास का यह संक्षिप्त रूपान्तर है।

१०. **सूखा पत्ता**—लेखक अमरकान्त।

११. **प्यास**—लेखक कृष्णचन्दर।

अन्तिम पाँचों उपन्यास भी प्रसिद्ध लेखकों के पठनीय उपन्यास हैं। सभी का मूल्य एक-एक रुपया है। पृष्ठ संख्या सभी की १२० के लगभग है।

१ **सपनों के कैदी**—ले०-कृष्णचन्दर, २ मञ्जिल-ले०-भैरवप्रसाद गुप्त, ३ दिल ही तो है—ले०-जी० पी० श्रीवास्तव।

यह पुस्तकें कहानियों की हैं। इनके लेखक हिन्दी के जाने माने व्यक्ति हैं। सबका मूल्य एक-एक रुपया है।

मशीनों की दुनिया—ले० जगनराय साहनी। इस पुस्तक में छोटी-छोटी मशीनों से लेकर स्पूतनिक तक के विकास की रोचक कहानियाँ हैं। साधारण ज्ञान देने के लिए पुस्तक बड़ी उपयोगी है।

विश्व ज्ञान कोश—ले०-अवनीन्द्रकुमार। विश्व की छोटी बड़ी सैंकड़ों तरह की जानकारी देने वाली इस पुस्तक का हम स्वागत करते हैं। यह ज्ञानकोश वास्तव में विश्वज्ञान कोश है। मूल्य केवल दो रुपया।

१ **इकबाल की शायरी, २ लोकप्रिय उर्दू गजलें**—सम्पा० प्रकाशक पण्डित। पहली पुस्तक में उर्दू के मशहूर शायर इकबाल साहब की चुनी हुई कविताएं हैं। दूसरी में उर्दू के १०० शायरों की गजलें संग्रह की गई हैं। दोनों पुस्तकें दिलचस्प हैं। हिन्दी पाठक दोनों को पसन्द करेंगे। मूल्य दोनों का एक-एक रुपया है।

३ **हिन्दी के श्रृंगार गीत**—सम्पा०-नीरज। इस संग्रह के सर्व श्री माखनलाल चतुर्वेदी बच्चन, बलवीरसिंह रंग, नरेन्द्र शर्मा दिनकर, गोपालसिंह नेपाली, धर्मवीर भारती, अञ्चल, नवीन, नीरज, आदि कवियों की श्रृङ्गारपरक हिन्दी कविताओं का संग्रह है।

उपर्युक्त सभी पुस्तकें हिन्द पॉकेट बुक्स प्रा० लि० दिल्ली से प्रकाशित हैं और वहीं से मिलेंगी।

प्राप्ति स्वीकार

पश्चिम निमाड़दर्शन—(कविता)—लेखक श्री गजाननसिंह चौहान, प्रका०-प्रेमी प्रकाशन मन्दिर, मण्डलेश्वर (म० प्र०)। पृ० १७, मूल्य ·४०

अनावरण—(उपन्यास)—लेखक-वीरेन्द्र पांडे, प्रका० हिन्दिया प्रकाशन, १८६२ चांदनी चौक, दिल्ली। पृष्ठ ११६, मू० २.७५

मांझी, पतवार और किनारा—(उपन्यास)—ले०-कमल शुक्ल, प्रका० उपर्युक्त। पृष्ठ ११७, मू० ३.००

मेरा बाप मेरा दुश्मन ?—(कहानी)—लेखक-शम्भूप्रसाद शाह, प्रका०-राष्ट्र भाषा प्रचार मण्डल,

१८९२ चांदनी चौक, दिल्ली। पृ० १६३, मू० ३.००

गोली मनोज—(नाटक)—लेखक–माधवसिंह 'दीपक', प्रका०–उपर्युक्त, पृ० १११, मू० २.७५।

बरफ की समाधि—(कहानी) ले०–यादवेन्द्र चन्द्र शर्मा 'चन्द्र' प्रका०–हिन्दिया प्रकाशन, दिल्ली। पृ० ११२, मू० २.७५

डेढ़ अरब—(नाटक)—लेखक–हरिकृष्ण, प्रका०–उपर्युक्त। पृ० ९८, मू० १.७५। रेडियो प्रसारित एकाङ्की संग्रह।

ग्रहों का निर्णय—लेखक–अनिलकुमार, प्रका०–उपर्युक्त। पृ० १३५, मू० २.७५

प्रथम किरण—लेखक–कृष्ण कल्याणकारी, प्रका०–दक्षिणायन, देवकुञ्ज, ९२/९२ डाल्टन रोड, बोलाराय (आंध्र)। पृष्ठ ५७, मूल्य १.००

नदी तट से (पाकेट बुक)—लेखक–लालजीसिंह, प्रकाशक हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी। पृष्ठ १३१; मूल्य १.००

भारत की ललकार (राष्ट्रीय कविता संग्रह)—सम्पादक–श्री गणेशलाल मश्कूर, प्रकाशक–हिमालय प्रकाशन, गांधीनगर, आगरा। पृष्ठ ९६, मू. १.५०

अलङ्कार—लेखक-श्री तेजनारायण कुशवाहा, प्रका०–एम० एन० बुक डिपो, उरवरा (पश्चिम-बङ्गाल) पृष्ठ ५८, मूल्य १.५०

रंगभूमि में दो राम—लेखक–रामवृक्ष राय 'विधुर' प्रका०–साहित्य वाणी, इलाहाबाद। मू० १.००

शृंगवाद (कविता)—लेखक–चक्रवर्ती, प्रकाशक दक्षिणायन, बोलाराम (आंध्र)। पृष्ठ ३६, मू० १.२५

अर्घी (कविता) - ले०–सेवक वात्स्यायन, प्रका० डॉ० हरिशङ्कर सांख्यधर, हुसेनीगली बदायूं। पृष्ठ ४९; मू० १.००

उठो जवान हिन्द के (राष्ट्रीय कविता संग्रह)—सम्पादक–सन्तकुमार मीतल 'संत', प्रका०–भारतीय सत्साहित्य प्रकाशन मन्दिर, आगरा। पृष्ठ २२।

इन्द्राणी अभिनन्दन ग्रन्थ—सं०–प्रा० पुरुषोत्तमदास शर्मा, हरिराम इन्द्राणी अभिनन्दन ग्रन्थ समिति, जलगाँव (महाराष्ट्र)। पृष्ठ ८६, अमूल्य।

अनुशासन की शव परीक्षा—ले०–प्रो० शिवचन्द्र अमर, प्र० अनामिका प्रकाशन, बेतिया (चम्पारन)। पृष्ठ ४६, मूल्य १.००

सिंह गर्जना (कविता)—लेखक–दिनेशमित्र, प्रकाशक साहित्य मण्डल गोंदिया। पृष्ठ ८७, मूल्य १.२५

जागरण के स्वर (कविता)—ले०–सूर्यनारायण मिश्र, प्रकाशक सतीशकुमार मिश्र एन्ड ब्रादर्स जौनपुर। पृष्ठ ८०, मूल्य २.००

दलिता (उपन्यास)—लेखक व प्रकाशक–जगदीश चन्द्र मिश्र, 'सगुण' बेगमगञ्ज, भोपाल। पृष्ठ ९१, मूल्य १.५०

ईसप की कहानी (बालोपयोगी कहानियाँ)—लेखक–जहूरबख्श, प्रकाशक–शिक्षा भारती, जी० टी० रोड, शहादरा। पृष्ठ १०४, मूल्य १.००

भारत के महान् इञ्जीनियर (जीवनी)—डा० विश्वेश्वरैया, प्रका० शिक्षा भारती, जी. टी. रोड, शाहदरा। पृष्ठ ३६, मूल्य १.५०

सीमा के प्रहरी और परमवीर मेजर शैतानसिंह—लेखक–आचार्य सीताराम पारीक, प्र०–अजमेर बुक कम्पनी, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर। पृष्ठ ५५, ४८ मूल्य ०.४५

साधना अङ्क (अमर भारती)—सं० मुनिसमदर्शी प्रभाकर, प्रकाशक सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा। पृष्ठ १२०, मूल्य १.००

फूल और कलियाँ (कविता)—लेखक–कुमुदकुमार तथा बच्चनलाल, प्रकाशक–पराग प्रकाशन, जमशेदपुर। पृष्ठ ४८, मूल्य १.००

महापुरुषों के बीच (कविता)—लेखक–जगदेव पाण्डेय, प्रकाशक-साहित्य भारती, इलाहाबाद। पृष्ठ ३२, मूल्य १.५०

सावधान रे चीन!—लेखक–युगलकिशोर (कविता) प्रकाशक–किशोर कुटीर, शहीद नगर मैथोल (मुंगेर)। पृष्ठ ६४, मूल्य ०.७०

———

- आचार्य चतुरसेन – के सबसे लोकप्रिय उपन्यास का संक्षिप्त रूप— "वैशाली की नगर वधू" (केवल इसका मूल्य २.००)
- कवि बच्चन—का लोकप्रिय एवं श्रेष्ठ कविता संग्रह अब एक रुपये में— "मधुबाला"
- गुरुदत्त—लिखित नया सामाजिक उपन्यास पहली बार पाकेट बुक में— "परिवर्तन"
- अमृता प्रीतम—की १२ नई एवं उत्कृष्ट कहानियाँ— "हीरे की कनी"
- अखिलन—प्रसिद्ध तमिल उपन्यासकार का बहुचर्चित उपन्यास— "नारी"
- रामकुमार भ्रमर—द्वारा लिखित कुख्यात डाकुओं की सच्ची कहानियाँ— "डाकुओं के बीच"
- देवराज दिनेश—के शिष्ट हास्य-व्यंग्य लेख— "दुनिया रंग बिरंगी"
- बच्चन श्रीवास्तव—ने प्रस्तुत की है— "भारतीय फिल्मों की कहानी"
- डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा—की महत्वपूर्ण भेंट— "सेक्स की समस्याएँ"

प्रत्येक का मूल्य एक रुपया

१०० रुपये के १७५ रुपये !

१२—वर्षीय राष्ट्रीय सुरक्षा प्रमाणपत्र पर
ये प्रमाणपत्र

५, १०, ५०, १००, ५००, १००० और ५००० रुपये के हैं और

बचत बैंक का काम करने वाले किसी डाकखाने से
खरीदे जा सकते हैं।

खरीदने की तारीख से १२ वर्ष बाद इन पर ७५ प्रतिशत ब्याज मिलता है
जो इन्कम टैक्स से एकदम मुक्त है।

याद रखिए

राष्ट्रीय सुरक्षा प्रमाणपत्र में लगाया जाने वाला धन
देश की सुरक्षा और विकास के काम आता है।
पूर्ण विवरण के लिए कृपया राष्ट्रीय सङ्गठनकर्ता, अल्प बचत से
कलक्टरी में सम्पर्क स्थापित कीजिए।

सूचना निदेशालय, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रसारित

अभिमत और लोकमत

● "साहित्य-सन्देश ने हिन्दी की बड़ी सेवा की है। विशेष कर उच्च श्रेणी के छात्रों का इससे बड़ा उपकार हुआ है।" —**राष्ट्रकवि डॉ. मैथिलीशरण गुप्त।**

● "साहित्य सन्देश ने आलोचनात्मक अध्ययन की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया है। इसकी सेवा-पद्धति अब सर्वमान्य हो चुकी है।"

—**डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, काशी विश्वविद्यालय, काशी।**

● "साहित्य-सन्देश पिछले अनेक वर्षों से हिन्दी साहित्य की सेवा कर रहा है। उसकी उपयोगिता इतने से ही सिद्ध है कि समस्त हिन्दी-जगत में इसकी माँग है।"

—**आ. श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, सागर विश्वविद्यालय, सागर।**

● "सैकड़ों विद्यार्थियों ने इसकी सहायता से हिन्दी की उच्चतम परीक्षायें उत्तीर्ण कीं और बहुत से नवोदित लेखकों को हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में कार्य करने का प्रोत्साहन भी प्राप्त हुआ है। —**डॉ. विनयमोहन शर्मा, एम. ए., पी-एच. डी.।**

● "सहित्य-सन्देश लगभग दो दशकों से हिन्दी साहित्य की बड़ी सेवा कर रहा है। अब तक उसके अनेक विशेषाङ्क प्रकाशित हो चुके हैं जो हिन्दी-आलोचना-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं।" —**डॉ. नगेन्द्र एम. ए., डी. लिट्., दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।**

REGD. No. L. 263.
Sahitya-Sandesh, Agra.

June 1964
Licensed to post without prepayment.

License No. 16

साहित्य-सन्देश आगरा का इस अंक के साथ १९६३–६४ का वर्ष समाप्त होता है। अतः हम पूरे वर्ष की विषय-सूची छपवा रहे हैं। जो सज्जन अपनी फाइल बनाने के लिये विषय-सूची चाहें वह डाक-व्यय के लिये दस पैसे के टिकट भेजकर हमसे मुफ्त मँगालें।

—व्यवस्थापक

साहित्य-सन्देश-कार्यालय, आगरा।

रामचरनलाल द्वारा साहित्य-प्रेस में मुद्रित तथा साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा से प्रकाशित।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग

की

प्रथमा, विशारद और साहित्य रत्न

परीक्षाओं की संक्षिप्त विवरण पत्रिका

मुफ्त मँगायें

सन् १९६४ की संक्षिप्त विवरण पत्रिकाएं जो सज्जन मँगाना चाहें वे पत्र भेजकर मँगालें। अपने पत्र में परीक्षा का नाम स्पष्ट लिखें कि आप किस परीक्षा में बैठना चाहते हैं जिससे हम उसी परीक्षा की विवरण पत्रिका आपकी सेवा में प्रेषित कर सकें।

●●●

उक्त सम्पूर्ण परीक्षाओं की सम्पूर्ण विवरण पत्रिका मँगाने के लिए रजिस्ट्री डाक व्यय सहित 1.90 (एक रुपया नब्बे पैसे) मनीआर्डर द्वारा पूर्व ही भेजने की कृपा करें। सम्पूर्ण विवरण पत्रिका रजिस्ट्री से आपकी सेवा में भेजदी जावेगी।

प्राप्ति स्थान :—

साहित्य-रत्न-भण्डार, साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

REGD. No. L, 263.
Sahitya-Sandesh, Agra.

June 1964
Licensed to post without prepayment.

License No. 16

साहित्य-सन्देश आगरा का इस अंक के साथ १९६३–६४ का वर्ष समाप्त होता है। अतः हम पूरे वर्ष की विषय-सूची छपवा रहे हैं। जो सज्जन अपनी फाइल बनाने के लिये विषय-सूची चाहें वह डाक-व्यय के लिये दस पैसे के टिकट भेजकर हमसे मुफ्त मँगालें।

—व्यवस्थापक

साहित्य-सन्देश-कार्यालय, आगरा।

रामचरनलाल द्वारा साहित्य-प्रेस में मुद्रित तथा साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा से प्रकाशित।